ॐ

कल्याण

गीता-तत्त्वांक

प्रथम खण्ड



भगवती गीता

वर्ष १५

वक्त्राणि पञ्चजानीहि पञ्चाध्यायाननुक्रमात्।
दशाध्यायाः भुजाश्चैकमुदरं द्वे पदाम्बुजे॥
एवमष्टादशाध्यायी वाङ्मयी मूर्तिरीश्वरी।
जानीहि ज्ञानमात्रेण महापातकनाशिनी॥

अङ्क १

गीताप्रेस गोरखपुर

दुर्गतिनाशिनि दुर्गा जय जय, कालविनाशिनि काली जय जय।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तमहर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥

[प्रथम संस्करण ५०६००]

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces, Bihar, Orissa, Assam, Bombay Presidency and Central Provinces.

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें।
कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें।
कल्याणमें समालोचनाका स्तम्भ नहीं है।

Foreign subscription: Annual 10 Shillings.
Gita-Tattvanka 9 Sh. Bound 10 Sh.
Ordinary Issues 7 As. or 8 d.

वार्षिक मूल्य भारतमें ४≡) विदेशमें ६॥=) (१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

गीतातत्त्वांकका मूल्य तीनों खण्डोंका ४) विदेशमें ६) साधारण प्रति।) विदेशमें।≡)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U.P. (India)

ॐ

कल्याण



कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

वर्ष १४

अङ्क १



दुर्गतिनाशिनि दुर्गा जय जय, कालविनाशिनि काली जय जय।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तमहर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियराम। ब्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥

[प्रथम संस्करण ५०६००]

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces, Bihar, Orissa, Assam, Bombay Presidency and Central Provinces.

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें।
कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें।
कल्याणमें समालोचनाका स्तम्भ नहीं है।

Foreign subscription: Annual 10 Shillings.
Gita-Tattvanka 9 Sh. Bound 10 Sh.
Ordinary Issues 7 As. or 8 d.

वार्षिक मूल्य भारतमें ४=) विदेशमें ६।=) (१० शिलिङ्ग)

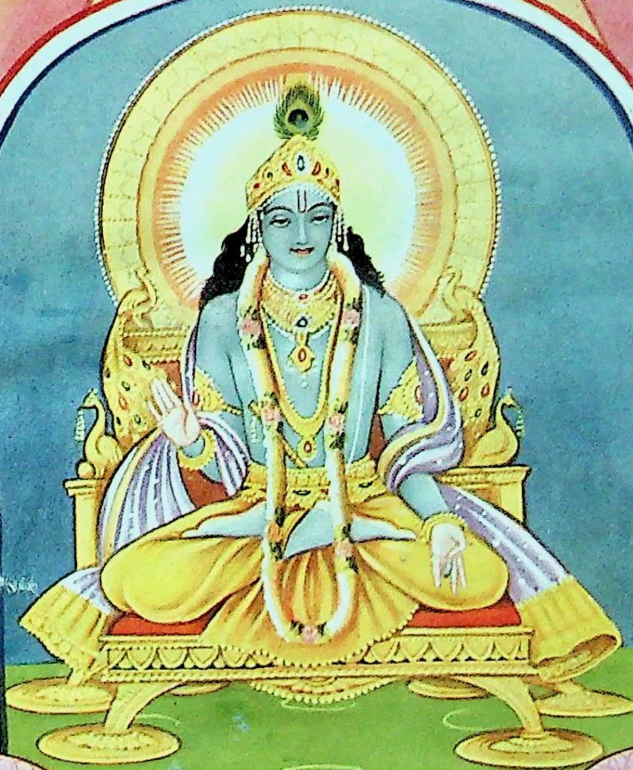
जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

गीतातत्त्वांकका मूल्य तीनों खण्डोंका ४) विदेशमें ६) साधारण प्रति ।) विदेशमें ।=)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by [illegible] Gita Press, Gorakhpur, U.P. (India)

ॐ

कल्याण



कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

वर्ष
१४

अङ्क
१



कल्याणप्रेमियों और ग्राहकोंसे निवेदन

(१) 'गीतातत्त्वांक' इस बार पहलेके सब विशेषांकोंसे बड़ा हो गया है और इसमें चित्र तथा लेख भी संख्यामें और महत्त्वमें अपनी विशेषता रखते हैं। तीनों खण्डोंमें सब मिलकर १२३२ पृष्ठ होंगे। प्रथम खण्डमें ही १०७२ पृष्ठ हैं। गतवर्ष लगभग ५३३०० ग्राहक थे। यह सोचकर, कि शायद ग्राहक घट जायँ गीतातत्त्वांक ५०६०० ही छापा गया है परन्तु ग्राहकोंके रुपये और नयी माँगें जिस परिमाणमें आ रही हैं, उसे देखते यह अनुमान होता है कि सम्भवतः माँग बहुत ज्यादा रहेगी। ऐसी अवस्थामें पुराने और नये ग्राहकोंको तुरन्त रुपये भेजकर 'गीता-तत्त्वांक' मँगवा लेना चाहिये।

(२) ध्यान रहे कि विषय, सरल भाषा, कलेवर और चित्रोंकी दृष्टिसे 'गीतातत्त्वांक' धर्मार्थ बाँटने, इनाममें देने, उपहार देने और संग्रहालय-पुस्तकालय आदिमें रखनेके लिये बहुत ही उपयोगी है। इसमें आये हुए भगवान्‌के दिव्य वचनोंके अनुसार भगवच्चिन्तन, तत्त्वविचार और तदनुकूल अपना जीवन बनानेवाले भाग्यवान् नर-नारी तो शान्तिमय जीवन बिताते हुए मनुष्यजन्मके परम लाभ भगवत्साक्षात्कारको सहज ही प्राप्त कर सकते हैं।

(३) इतना बड़ा और बहुमूल्य 'गीतातत्त्वांक', जो हजार-दो हजार प्रति अलग छापनेपर दस रुपयेसे कममें नहीं पड़ सकता, वही चार रुपयेमें दिया जा रहा है। जो सज्जन ४≡) चार रुपये तीन आने भेजकर ग्राहक बन जायँगे, उन्हें 'गीतातत्त्वांक' तीनों खण्डोंके अलावा सिर्फ ≡) तीन आनेमें ही नौ महीनेतक प्रतिमास अस्सी पृष्ठका रंगीन चित्रसहित 'कल्याण' और मिलता रहेगा। इसलिये 'गीतातत्त्वांक' अलग न लेकर ग्राहक ही बनना चाहिये।

(४) पोस्टआफिस एक दिनमें १००० रजिस्टर्ड पैकेटसे अधिक प्रायः नहीं लेता। इसलिये जिन ग्राहकोंके रुपये हमें मिल चुके हैं, उन सबको हम एक साथ 'गीतातत्त्वांक' नहीं भेज सकते। ग्राहक महानुभाव हमारी इस लाचारीके लिये कृपापूर्वक क्षमा करें।

(५) जिन महानुभावोंने ४≡) मनीआर्डरसे नहीं भेजे हैं, उनकी सेवामें 'गीतातत्त्वांक' शीघ्र ही वी० पी०से भेजा जानेवाला है परन्तु वी० पी० जानेमें कई सप्ताहोंकी देर हो सकती है। अतएव इस सूचनाको पढ़ते ही जो सज्जन ४≡) मनीआर्डरसे तुरन्त भेज देंगे, उन्हें 'गीतातत्त्वांक' जल्दी मिल सकेगा।

(६) किसी भी कारणवश जिन सज्जनको ग्राहक न रहना हो वे कृपा करके एक कार्ड लिखकर डाल दें ताकि वी० पी० न भेजी जाय। तीन पैसेके खर्च और थोड़े-से परिश्रमसे 'कल्याण-कार्यालय' आठ आने डाक-खर्चके नुकसानसे बच जायगा।

(७) जिन सज्जनोंके नाम वी० पी० जायगी, हो सकता है उनमेंसे कुछ सज्जन इधरसे वी० पी० जानेके समय ही उधरसे रुपये मनीआर्डरसे भेज दें। ऐसी हालतमें उन सज्जनोंसे प्रार्थना है कि वे वी० पी० लौटावें नहीं, वहीं रोक रक्खें और हमें तुरन्त कार्ड लिखकर सूचना दें। रुपये आ गये होंगे तो हम उन्हें फ्री-डिलेवरी देनेके लिये वहाँके पोस्टमास्टरको लिख देंगे। यदि 'गीतातत्त्वांक' रजिष्टरीसे चला जाय और वी० पी०से भी अंक पहुँचे तो भी कृपया वी० पी० लौटावें नहीं। चेष्टा करके कृपया दूसरा नया ग्राहक वहीं बनाकर वी० पी० छुड़ानेकी कृपा करें और नये ग्राहकका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। कई महानुभाव ऐसा करते भी हैं। हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

ग्राहकोंको आवश्यक सूचना

(१) कल्याणके ग्राहकोंमें ऐसे अनेक सज्जन हैं जिन्हें समय-समयपर कार्यवश एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना पड़ता है। ऐसी हालतमें वे जिस स्थानपर 'कल्याण' मँगाते हैं, नये वर्षकी वी० पी० पहुँचनेके समय कदाचित् वे वहाँ नहां रहते और इससे वह वी० पी० उनके नये स्थानसे छूटकर आती है। हमें यह तो मालूम हो जाता है, कि वी० पी० किस पोस्ट-आफिससे छूटी है, परन्तु वे ग्राहक उस नये स्थानमें कबतक रहेंगे, वहाँका मकान-नम्बर, मुहल्ला आदि पूरा पता क्या है, अगले अङ्क किस पतेपर भेजे जायँ, इन बातोंका कोई पता नहीं लगता। ऐसी अवस्थामें खो जानेके डरसे अगले महीनेके अङ्कोंको हम रोक रखते हैं और पीछे उनका पत्र मिलनेपर भेजते हैं। इसलिये निवेदन है कि वी० पी० छुड़ाते ही वे सज्जन तुरन्त सूचना भेज दें कि आगेसे उनका 'कल्याण' किस पतेपर और कहाँ भेजा जाय।

(२) कई बार ऐसा होता है कि 'कल्याण' मँगवाते समय ग्राहक जो नाम लिखते हैं, बीचमें कभी कोई शिकायत वगैरह करते समय भूलसे उसमें कुछ परिवर्त्तन हो जाता है। जैसे—पहले पूरा नाम लिखा वह याद नहीं रहा, इससे सरनाम अर्थात् 'रामचन्द्र'की जगह 'आर० सी०' लिख दिया; पहले एक अपना ही नाम लिखा गया, पीछेसे दो भाइयोंका या फर्मका नाम लिख दिया। यद्यपि बहुत काम रहनेसे इस तरहकी भूल हो ही जाती है, परन्तु हमारे यहाँ अक्षरोंके क्रमसे ग्राहकोंके नामोंकी सूची रहनेके कारण हमें ढूँढ़नेमें बड़ी दिक्कत होती है, इसीलिये तुरन्त हम उनकी शिकायतको दूर नहीं कर पाते। अतएव 'नाम' सदा वही लिखना चाहिये जो सबसे पहले लिखा गया था।

(३) गाँवोंमें पोस्ट-आफिस नहीं होती, ऐसी हालतमें नजदीकके डाकघरके पतेसे डाक मँगवानी पड़ती है और उसी पोस्ट-आफिसका नाम ग्राहक सज्जन हमको लिखते हैं। लेकिन जरा-सा भी फर्क रह जानेपर उसीसे मिलते-जुलते नामवाली दूसरी पोस्ट-आफिसके पतेपर 'कल्याण' चला जाता है। इसलिये पोस्ट-आफिसका नाम अंग्रेजीमें सावधानीसे अक्षरोंको देखकर लिख दिया जाय तो ऐसी भूल प्रायः नहीं होगी। पोस्ट-आफिसके नामके साथ जिला जरूर लिखना चाहिये क्योंकि एक ही नामकी पोस्ट-आफिस कई जिलोंमें होती हैं।

नयी पोस्ट-आफिस खुली हो तो उसका नाम तो जरूर ही अंग्रेजी अक्षरोंमें लिख देना चाहिये, क्योंकि नयी पोस्ट-आफिसका नाम पोस्टल गाइडमें नये संस्करणसे पहले नहीं छपता।

(४) थोड़े दिनोंके लिये दूसरी जगह जाना हो और कोई अड़चन न हो तो पता नहीं बदलवाना चाहिये। अङ्क न मिलनेकी सम्भावना हो अथवा पता निश्चित न हो तो हमें सूचना देकर आवश्यकतानुसार एक-दो महीनेके लिये अङ्क रोकवा देना चाहिये और निश्चित स्थानपर पहुँचते ही सूचना दे देनी चाहिये, जिससे अङ्क भेज दिये जायँ। विना सूचनाके रुके हुए अङ्क नहीं जा सकेंगे।

पता बदलवाना आवश्यक ही हो तो ठीक समयपर सूचना दे देनी चाहिये। सूचनामें अपना पुराना नाम-पता और नया पूरा पता (घरनम्बर, मुहल्ला, गाँव, पोस्ट-आफिस, जिला और प्रान्त) अंग्रेजी या हिन्दीमें साफ-साफ और शुद्ध लिख देना चाहिये।

(५) पत्र-व्यवहारके समय अपना पूरा सही नाम (जिस नामसे 'कल्याण' जाता है) पता और ग्राहक-नम्बर जरूर-जरूर लिखना चाहिये और किसी पहले भेजे हुए पत्रकी कोई बात दोहरानी हो तो उसे फिरसे खुलासा लिख देनी चाहिये ।

(६) रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें नाम, पूरा पता, पोस्ट-आफिस और जिला तथा रुपये किसलिये भेजते हैं वह बात अवश्य-अवश्य लिख देनी चाहिये । यदि पुराने ग्राहक हैं तो ग्राहक-नम्बर जरूर लिखना चाहिये । ग्राहक-नम्बर कदाचित् न याद हो तो कम-से-कम 'पुराने ग्राहक' इतना वाक्य तो अवश्य लिख देना चाहिये । जो पहले-पहल नये ग्राहक बनते हैं, वे 'नया ग्राहक' वाक्य कूपनमें जरूर लिख दें ।

(७) 'कल्याण'के साधारण अङ्क हर महीने प्रायः ५-६ तारीखतक सबको भेज दिये जाते हैं; यदि १५ तारीखतक न मिले तो तुरन्त सूचना देनी चाहिये ।

कभी-कभी ग्राहक महोदयके न मिलनेपर पोस्ट-आफिसवाले उनका अंक लौटा देते हैं और वैसी अवस्थामें अंक खो जानेके डरसे उनके नाम जानेवाले 'कल्याण' को हम रोक लेते हैं, इसलिये १५ तारीखके बाद उस महीनेका अंक न मिलनेपर अवश्य ही सूचना देनी चाहिये ।

(८) सारी शिकायतें अधिकांशमें नाम-पता आदि ठीक याद न रहने और हमारे यहाँ उसीके अनुसार गड़बड़ी हो जानेसे ही प्रायः होती हैं । इसलिये नीचे हम एक नक्शा छाप रहे हैं । 'कल्याण' पहुँचते ही लिफाफेपर छपा हुआ नाम, पता और ग्राहक-नम्बर पढ़कर उसीके अनुसार नक्शेके खानोंको भर लें । नाम-पते आदिमें कोई भूल हो तो उसे सुधार कर खानें भरें, परन्तु उसकी सूचना तुरंत हमें दे दें । इसीके साथ-साथ नक्शेके दूसरे सब खानें भी यथायोग्य यथासमय भरकर रक्खें । यदि इस प्रकार 'गीतातत्त्वांक' में सब बातें लिखी रहेंगी, तो समयपर हमें पत्र लिखते समय बड़ा सुभीता होगा और शिकायत बहुत जल्दी दूर हो सकेगी ।

ग्राहक-नम्बर.................................नाम...

पता...गाँव.......................................

पो० आ०..............................जिला.................................प्रान्त...........................

रुपये भेजनेकी तारीख.....................................मनीआर्डर-रसीद नं०.......................

वापसी रसीदकी डिलेवरीकी तारीख....................................रजिष्टर्ड पैकेट नं०.................

रजिष्ट्रीद्वारा विशेषाङ्क मिलनेकी तारीख...

अथवा

वी० पी० नम्बर..और वी० पी० छुड़ानेकी तारीख.........................

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

श्रीहरिः

लेख, सन्देश, उद्गार और टीकाकी सूची

७६–श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय

तेरहवाँ अध्याय

चौदहवाँ अध्याय

पन्द्रहवाँ अध्याय

सोलहवाँ अध्याय

पृष्ठ-संख्या

सतरहवाँ अध्याय

अठारहवाँ अध्याय

श्रीमद्भगवद्गीता समाप्त

पृष्ठ-संख्या

पद्य-सूची

चित्र-सूची

श्रीहरिः

गीता-प्रचार

श्रीगीतातत्त्वाङ्कके पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि पिछले पन्द्रह वर्षके अल्प समयमें ही गीताप्रेसमें लगभग तेरह लाख गीताएँ छप चुकी हैं। अलग-अलग विवरण इस प्रकार है—

१२, २५० **श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य हिन्दी-अनुवादसहित**—सचित्र; मूल्य साधारण जिल्द २॥), कपड़ेकी जिल्द २॥।); चतुर्थ संस्करण; साइज २२×२९, ८ पेजी, पृष्ठ ५१९; चिकना मोटा कागज, शुद्ध छपाई, विशेष बात—भाष्यमें आये हुए उद्धरणोंके अंक परिश्रमपूर्वक खोजकर दिये गये हैं। अन्तमें गीताके समस्त पदोंकी सूची भी जोड़ दी गयी है। अनुवादक हैं—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका।

६६, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता मूल, पदच्छेद, अन्वय और सरल भाषाटीकासहित**—सचित्र, मूल्य सजिल्द १।) नवाँ संस्करण; सा० १८×२२, आठ पेजी, पृष्ठ ५७०, चिकना मोटा कागज, साफ-शुद्ध छपाई। इसमें गीताके प्रधान विषयोंकी सूची, प्रत्येक श्लोकके विषयकी सूची एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिनामक निबन्ध भी लगाया गया है। अर्थ बहुत ही सरल ढंगसे सजाकर सबके समझने योग्य किया गया है। इतनी सस्ती गीता शायद ही और मिलेगी।

५, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—गुजराती अनुवादसहित; सब बातें १।) वाली हिन्दी गीताकी तरह। गुजराती भाइयोंके बड़े ही कामकी है। मूल्य १।) इसका संस्करण समाप्त हो चुका है, पुनर्मुद्रण होनेपर ही प्राप्त हो सकेगी।

२, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—मराठी अनुवादसहित; इसमें भी सभी विषय १।) वाली हिन्दी गीताकी तरह हैं। अनेक विद्वानोंने इसकी प्रशंसा की है। मूल्य १।)

२७, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—सभी विषय १।) वाली गीताकी तरह। कागज पतला और साइज छोटा एवं अक्षर महीन हैं। मू० ॥≡), सजिल्द ॥।=), चतुर्थ संस्करण, साइज २२×२९, १६ पेजी, पृष्ठ ४६८, इसमें गीताके प्रधान विषय प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भमें एवं प्रत्येक श्लोकका विषय उसी श्लोकके पास ही छापा गया है। कम दामके खयालसे यह बड़ी अच्छी है।

४, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—बंगला अनुवादसहित। सभी बातें ॥≡) वाली हिन्दी गीताकी तरह। कागज अच्छा, छपाई साफ, बंगला जाननेवालोंके कामकी है। मूल्य ॥।) सजिल्द १)

१५, २५० **श्रीमद्भगवद्गीता गुटका**—(पाकेट साइज), हमारी १।) वाली गीताकी ठीक नकल, साइज २२×२९, ३२ पेजी, पृष्ठ-संख्या ५८८, दूसरा संस्करण। सजिल्द, मू० ॥)

१५, २५० **श्रीमद्भगवद्गीता**—मूल श्लोक और सरल अर्थसहित, सचित्र, मोटे अक्षर, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≡), चतुर्थ संस्करण आकार २०×३०, १६ पेजी, पृष्ठ ३१६, चिकना कागज, विशेषता—गीताजीके प्रधान विषयोंकी अनुक्रमणिका और त्यागसे भगवत्प्राप्तिनामक निबन्धसहित।

३०, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—मूल श्लोकमात्र, मोटे अक्षर, पाठ करनेवालोंके लिये बड़े कामकी है। मूल्य।-) सजिल्द।≡), छठा संस्करण, आकार २२×२९, १६ पेजी, गुटकेकी तरह खुलनेवाले ९६ पृष्ठ।

१, ७६, ७५०

१, ७६, ७५०

३४, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—केवल भाषा, साधारण मोटे अक्षर, संस्कृत न पढ़ सकनेवालोंके लिये । मूल्य ।) मात्र, सजिल्द ।=), आकार २०×३०, १६ पेजी, पृष्ठ २००, छठा संस्करण, अन्तमें गीताकी श्लोक-सूची भी दी गयी है ।

५, २५० **श्रीमद्भगवद्गीता भाषा**—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित (गुटका), साइज २२×२९.—३२ पेजी साइज, पृष्ठ ४००, प्रथम संस्करण, मूल्य ।) सजिल्द ।-)

१०, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—(**पञ्चरत्न**)—अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्यादिसहित, श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीभीष्मस्तवराज, श्रीअनुस्मृति और श्रीगजेन्द्रमोक्ष मूल, सचित्र, पृष्ठ ३२८, सजिल्द मूल्य ।)

५, ६०, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—मूल श्लोक और साधारण भाषाटीकासहित, आकार छोटा २२×२९, ३२ पेजी, पृष्ठ ३५२, मूल्य =)॥ सजिल्द ≡)॥, ऊपर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका चित्र भी है । गीता-महिमा, गीताके प्रधान विषयोंकी सूची, त्यागसे भगवत्प्राप्तिनामक लेखसहित । संस्करण सोलहवाँ, पाठ करने, बाँटने, दान देने, पढ़ानेके लिये बड़ी उत्तम है ।

९०, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता**—मूल श्लोकमात्र, बहुत छोटा २×२॥ इञ्च साइज, छठा संस्करण, पृष्ठ २९६, सजिल्द, सचित्र, इतनी छोटी होते हुए भी छपाई साफ, सुन्दर और पढ़नेयोग्य है । मूल्य =) मात्र । गीता-माहात्म्य, करन्यास, ध्यान आदि भी छापे गये हैं ।

१, ६८, ००० **श्रीमद्भगवद्गीता** और **श्रीविष्णुसहस्रनाम**—मूल श्लोकमात्र, चार सादे चित्र, साइज ३२ पेजी, पृष्ठ १३२, चिकना कागज, सजिल्द, मूल्य -)॥ मात्र, पन्द्रहवाँ संस्करण । केवल पाठके लिये बहुत अच्छी है ।

५, २५० **श्रीमद्भगवद्गीता**—**श्रीकृष्ण-विज्ञान** अर्थात् मूल श्लोक और हिन्दी-पद्यानुवाद, सचित्र, मूल्य ॥।) सजिल्द १), पृष्ठ २५०, इस पद्यानुवादकी प्रशंसा बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानोंने की है ।

१, ६५, ००० **गीता-डायरी**—इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, पंजाबी तारीख और पञ्चाङ्गके साथ ही संक्षेपसे त्योहार भी छापे जाते हैं । गीता १८ अध्याय सम्पूर्ण तो रहती ही है । सन् १९२७से१९३९ तक इसकी एक लाख पैंसठ हजार प्रतियाँ छप चुकी हैं ।

१२, १४, २५०

इनके अतिरिक्त एक २) की गीता और एक ॥) की गीता एवं एक मूल गीता जिनके संस्करण अब बन्द हो गये हैं और एक दो पेजी गीता -) वाली इन सबको मिलानेसे यह संख्या और भी बढ़ जाती है। गीतामें भक्तियोग, गीतानिबन्धावलि, गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग, गीताका दूसरा अध्याय, सूक्ष्म विषय, प्रधान विषय, गजल गीता, सप्तश्लोकी गीता आदि गीतासम्बन्धी साहित्यका अलग प्रचार होता रहा है ।



आपको इनमेंसे कोई पुस्तक चाहिये तो लिखनेकी कृपा करें । और भी अनेक प्रकारकी धार्मिक पुस्तकें छपी हैं । सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये ।

पता—**गीताप्रेस, (विक्रयविभाग)**

पो० आ० गीताप्रेस, गोरखपुर ।

श्रीगीता-परीक्षा

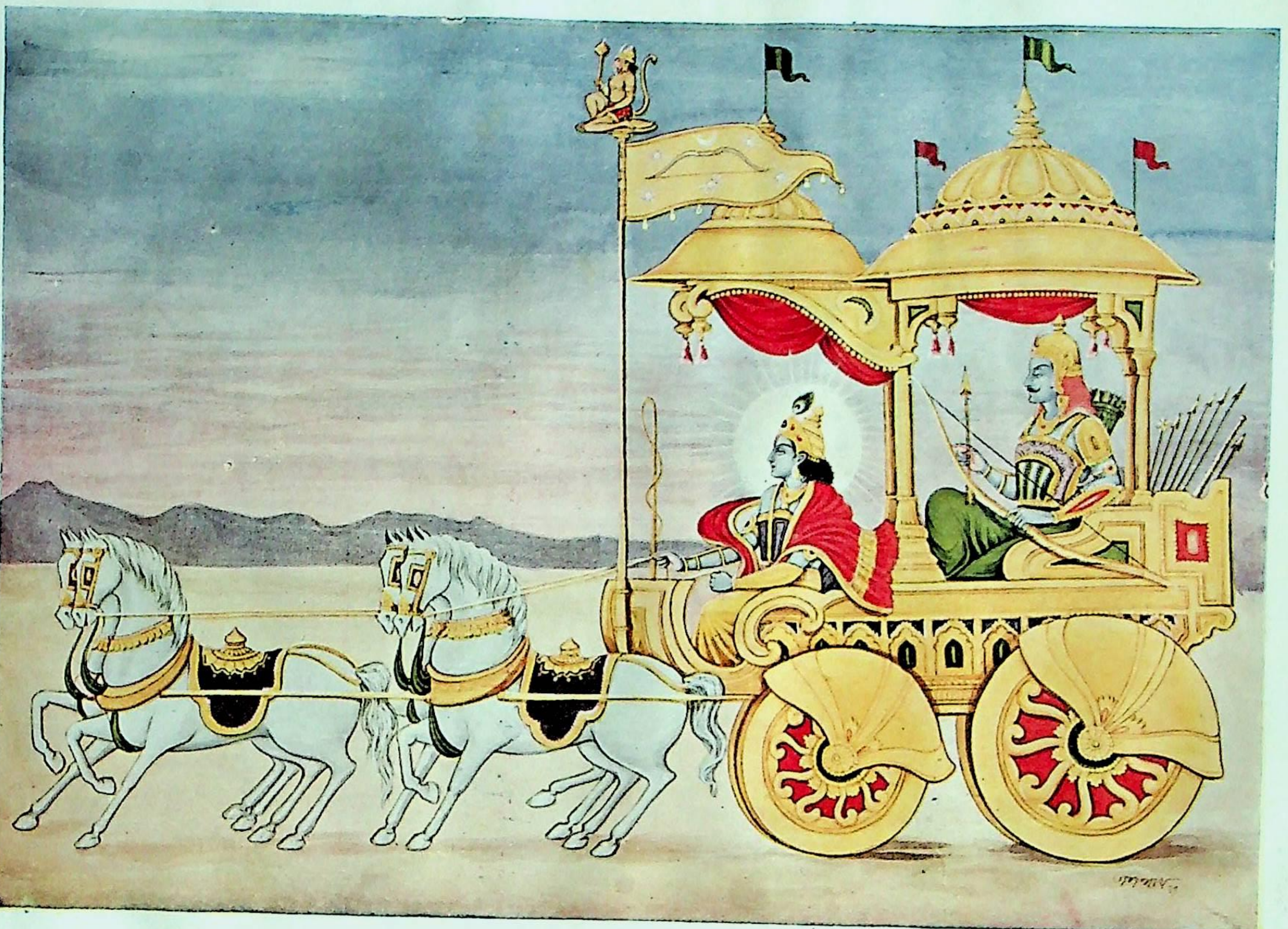
हमारे देशमें इन दिनों हलके साहित्यका प्रचार बड़े जोरोंसे हो रहा है और उससे जो बुरा फल मिल रहा है, वह किसीसे छिपा नहीं है। इस दुरवस्थाका कारण यही है कि हम जन-समाजमें सुविचारणीय एवं सुसंस्कृत ग्रन्थोंका प्रचार करनेकी ओरसे उदासीन हैं। फलतः जन-समाजमें जैसा साहित्य प्रचलित हो रहा है, वैसी ही उसकी मनोवृत्ति हो रही है। आजकलके अधिकांश लोगोंमें विद्यमान निराशाभाव, अधैर्य, अनुत्साह, आलस्य तथा मानवीय उन्नतिकी जड़ सात्त्विकताको छिन्न-भिन्न करनेवाले अन्यान्य अवगुणोंका प्राधान्य जन-समाजकी वर्तमान अधोगतिका प्रमाण है। इसी परिस्थितिको सुधारनेके उद्देश्यसे कई वर्षों पूर्व श्रीगीता-परीक्षा-समितिकी स्थापना की गयी थी। हमने सोचा था कि श्रीगीता-परीक्षाके द्वारा श्रीगीता-जैसा अलौकिक ग्रन्थ विशेषकर नवयुवकोंके हाथोंमें पहुँच सकेगा और वे उससे शिक्षा प्राप्त करके अपना तथा समाजका कल्याण करेंगे। परन्तु खेद है कि अपने इस प्रयत्नमें हमें जैसी सफलता मिलनी चाहिये, वैसी अभी नहीं मिली है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि हमें इस कार्यमें देशके सभी बड़े-बड़े विद्वान् एवं धार्मिक पुरुषोंका आशीर्वाद और सहयोग उचितमात्रामें प्राप्त नहीं है। अवश्य ही इसमें हमारी त्रुटियाँ भी कारण होंगी। अतएव हम अपनी त्रुटियोंके लिये सबसे क्षमा माँगते हैं और यह प्रार्थना करते हैं कि हमारी त्रुटियोंकी ओर ध्यान न दिया जाय। श्रीगीताके प्रचारका कार्य ऐसा है, जिनमें सभी विद्वान् महानुभावोंकी कृपापूर्ण सहायताकी बड़ी आवश्यकता है। यदि सभी धर्मप्रेमी विद्वान् महानुभाव अपने-अपने यहाँकी सभा-संस्थाओंमें श्रीगीता-जैसे उपयोगी ग्रन्थ-रत्नको प्रचलित करके इसे छात्रों और अन्य पुरुषोंके हाथोंतक पहुँचानेके कार्यमें हमारी सहायता करेंगे तो सचमुच देशका बड़ा उपकार होगा। गीताका अध्ययन और तदनुसार आचरण तो महान् लाभकारक है ही, उसका कण्ठाग्र करना भी बहुत उपकारी है।

आजसे कुछ समय पहले श्रीगीता-परीक्षाके सम्बन्धमें श्रीगीताके प्रख्यात प्रेमी महात्मा गांधीजीसे सम्मति ली गयी थी। उस समय जिन सज्जनने महात्माजीसे पूछा था उन्होंने हमें इस प्रकार लिखा था—

'बापूजीका (महात्माजीका) दृढ़ मत है कि पाठ्यक्रममें गीताके कुछ अध्यायों या अधिकांश अध्यायोंको कण्ठाग्र करने-करानेपर जोर देना, उसे अनिवार्य बनाना अत्यन्त आवश्यक है। विकल्प रखनेकी कल्पना तो उन्हें जरा भी पसन्द नहीं। विकल्प बनाना गीताको ही विकल्प बनाने-जैसा है।·········हरेक धर्म और सम्प्रदायमें उस-उस धर्मके धर्म-ग्रन्थोंके कुछ या अधिक भागको कण्ठाग्र करनेकी परम्परा चली आयी है और मूलतः यह परम्परा बड़ी उपयोगी तथा संस्कारदायिनी है, अतः गीता-परीक्षा-समितिके लिये यह आवश्यक है कि वह संशोधित नियमावलीमें गीताको कण्ठस्थ करना अनिवार्य ही रक्खे।'

श्रीगीताको अनिवार्यरूपसे कण्ठाग्र करानेके सम्बन्धमें भी पूज्य महात्माजीका यह मत है। तब उसकी शिक्षाके प्रचारके लिये तो कहना ही क्या है? क्या ही अच्छा हो कि भारतका उपकार चाहनेवाले सभी प्रभावशाली एवं विद्वान् पुरुषोंकी ओरसे हमें ऐसा ही क्रियात्मक प्रोत्साहन मिले। श्रीगीताकी शिक्षाओंद्वारा ही जन-समाजके वर्तमान निराशापूर्ण एवं निष्क्रिय जीवनको सहारा मिल सकता है। गीता और रामायण-परीक्षाओंकी नियमावली पत्र लिखकर मँगवानेकी कृपा करें।

राघवदास
संयोजक, श्रीगीता-परीक्षा-समिति,
बरहज, (गोरखपुर)



भक्तवर अर्जुन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



कल्याण

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये । ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

वर्ष १४ | गोरखपुर, अगस्त १९३९ | संख्या १, पूर्ण संख्या १५७

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥

'देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा गाया हुआ भगवद्गीताशास्त्र ही एकमात्र शास्त्र है, देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र आराध्यदेव हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके नाम ही एकमात्र मन्त्र है और उन भगवान्‌की सेवा ही एकमात्र कर्तव्य-कर्म है ।'

आचार्यों, भाष्यकारों और टीकाकारोंद्वारा स्तवन

ॐ नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥ १ ॥

ॐकारपदवाच्य श्रीनारायण अव्यक्त (मूल प्रकृति) से परे विराजमान हैं, यह विराट् ब्रह्माण्ड अव्यक्तसे उत्पन्न हुआ है और ये सम्पूर्ण लोक तथा सातों द्वीपोंसे युक्त पृथ्वी –सब कुछ इस ब्रह्माण्डके ही भीतर है ॥१॥

—श्रीशङ्कराचार्य

स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः ।
नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः ॥ १ ॥

अपने [वर्ण तथा आश्रम-सम्बन्धी] धर्म, ज्ञान और वैराग्य आदिसे साध्य होनेवाली जो परा भक्ति है–एकमात्र उसीके विषय होनेवाले परब्रह्म भगवान् नारायणका ही गीताशास्त्रमें प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

—श्रीयामुनाचार्य

यत्पादाम्भोरुहध्यानविध्वस्ताशेषकल्मषः ।
वस्तुतामुपयातोऽहं यामुनेयं नमामि तम् ॥ १ ॥

जिनके चरण-कमलोंका ध्यान करनेसे अपने समस्त पाप नष्ट हो जानेके कारण मैंने परमार्थतत्त्व प्राप्त किया, उन यमुनाके पुत्र श्रीयामुनाचार्यको अथवा यमुनाके निकट आविर्भूत हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

—श्रीरामानुजाचार्य

भगवन्नामसम्प्राप्तिमात्राव् सर्वमवाप्यते ।
फलिताः शालयः सम्यग् वृष्टिमात्रेऽवलोकिते ॥ १ ॥

भगवान्के नामकी भी प्राप्ति हो जानेमात्रसे सब कुछ मिल जाता है [फिर साक्षात् भगवान्की प्राप्ति होनेपर तो कहना ही क्या है !]–जैसे वृष्टिके दर्शनमात्रसे भी धानकी खेतीमें भलीभाँति फल लग जाते हैं [फिर साक्षात् वृष्टिका जल पड़नेपर तो बात ही क्या है !] ॥१॥

—श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य

देवं नारायणं नत्वा सर्वदोषविवर्जितम् ।
परिपूर्णं गुरूंश्चान् गीतार्थं वक्ष्यामि लेशतः ॥ १ ॥

सब दोषोंसे रहित और सब ओरसे पूर्ण भगवान् श्रीनारायण देव तथा गुरुवर वेदव्यासजीको नमस्कार करके मैं अत्यन्त संक्षेपसे गीताके अर्थका प्रतिपादन करूँगा ॥१॥

—श्रीआनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य)

यदङ्घ्रिपोतशरणस्तीर्त्वा मोहाम्बुधिं नरः ।
स्वात्मधर्ममुपैत्याशु तं वन्दे पुरुषोत्तमम् ॥ १ ॥

जिनके चरणरूपी जहाजके सहारे मनुष्य मोह-महासागरको पारकर शीघ्र ही अपने आत्मधर्मको प्राप्त कर लेता है, उन भगवान् पुरुषोत्तमको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

यदीक्षणसुधाधाराऽऽप्यायितः सुकृती नरः ।
कृशोऽपि लभते पुष्टिं तं श्रीवल्लभमाश्रये ॥ २ ॥

जिनकी कृपादृष्टिकी सुधाधारासे तृप्त हुआ पुण्यवान् मनुष्य दुर्बल होकर भी पुष्टि (भगवान्के अनुग्रह) को पा जाता है, उन रमावल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण (अथवा श्रीवल्लभाचार्य) की मैं शरण लेता हूँ ॥ २ ॥

यत्करुणारसवृष्ट्या हृदि हरिभक्त्यङ्कुरः समुल्लसति ।
तं विट्ठलविभुमनिशं पूर्णानन्दात्मकं वन्दे ॥ ३ ॥

जिनके करुणारसकी वृष्टिसे हृदयमें भगवान् विष्णुकी भक्तिका अङ्कुर पूर्णरूपसे पल्लवित होने लगता है, उन पूर्णानन्दमय श्रीविट्ठलनाथजीको मैं सदा प्रणाम करता हूँ ॥३॥

—श्रीवल्लभाचार्य*

अकृत्यमपि कुर्वाणो भुञ्जानोऽपि यथा तथा ।
कदाचिन्नारकं दुःखं गीताध्यायी न पश्यति ॥ १ ॥

न करनेयोग्य कर्म करता हुआ और जैसा-तैसा भोग भोगता हुआ भी मनुष्य यदि गीताका स्वाध्याय करता है तो उसे कभी नरकका दुःख नहीं देखना पड़ता ॥ १ ॥

वेदोदधिप्रमथितं वासुदेवसमुद्धृतम् ।
सन्तः पिबन्ति सततं गीतामृतरसायनम् ॥ २ ॥

वेदरूपी समुद्रका मन्थन करके भगवान् वासुदेवद्वारा बाहर प्रकट किये हुए इस गीताशास्त्ररूपी अमृतमय रसायनका संत लोग सदा ही पान किया करते हैं ॥ २ ॥

—श्रीमान् हनूमान्

* शुद्धाद्वैतसम्प्रदायके एक परवर्ती आचार्य।

यतिपरिवृढो यद्गीतानामदर्शयदञ्जसा
निगमपरिषन्नेदीयांसं निरामयमाशयम्।
जननपदवीयातायातश्रमापहरां धियं
जनयतु स मे देवः श्रीमान् धनञ्जयसारथिः ॥ १ ॥

यतियोंके स्वामी (श्रीरामानुजाचार्यजी) ने जिनकी गीताका वेद और उपनिषदोंके अत्यन्त अनुकूल एवं निर्दोष भाव स्पष्टरूपसे दिखाया है, वे अर्जुनके सारथि श्रीमान् भगवान् कृष्ण मुझे संसारमें आवागमनके कष्टको दूर करनेवाली सुन्दर बुद्धि दें ॥ १ ॥

—वेदान्तदेशिकाचार्य श्रीवेङ्कटनाथ

असंस्पृश्यैव प्रकृतिं विकृतिं च गुणैः सह ।
यः सदा भाति मेऽन्तःस्थस्तं सेवे कृष्णमीश्वरम् ॥ १ ॥

जो प्रकृति और गुणोंके सहित उसके विकारोंका स्पर्श किये विना ही सदा मेरे अन्तःकरणमें स्थित रहते हैं, उन परमेश्वर श्रीकृष्णका मैं सेवन करता हूँ ॥ १ ॥

—श्रीशङ्करानन्द

तेनैव दत्तया मत्या तद्गीताविवृतिः कृता ।
स एव परमानन्दस्तया प्रीणातु माधवः ॥ १ ॥

उन भगवान्‌की ही दी हुई बुद्धिके अनुसार मैंने उनके गीताशास्त्रकी विवृति (व्याख्या) की है, उस (विवृति) से वे ही परमानन्दस्वरूप भगवान् लक्ष्मीपति प्रसन्न हों ॥ १ ॥

स्वप्रागल्भ्यबलाद् विलोड्य भगवद्गीतां तदन्तर्गतं
तत्त्वं प्रेप्सुरुपैति किं गुरुकृपापीयूषदृष्टिं विना ।
अम्बु स्वाञ्जलिना निरस्य जलधेरादित्सुरन्तर्मणी-
नावर्तेषु न किं निमज्जति जनः सत्कर्णधारं विना ॥ २ ॥

अपने ऊपर गुरुदेवकी करुणामयी सुधावर्षिणी दृष्टि हुए विना ही अपनी प्रौढता या धृष्टताके बलसे भगवद्गीताका आलोडन करके यदि कोई इसके भीतर विद्यमान गूढ तत्त्वको प्राप्त कर लेना चाहता है तो क्या वह उसे पा लेता है ? कदापि नहीं । साथमें किसी अच्छे नाविकको लिये विना ही जो मनुष्य अपनी अञ्जलिसे समुद्रके जलको उलीचकर उसके भीतरकी मणियोंको लेना चाहता है, क्या वह भँवरोंमें डूब नहीं जाता ? अवश्य डूब जाता है ॥ २ ॥

स्वधर्मेण यमाराध्य भक्त्या मुक्तिमिता नराः ।
तं कृष्णं परमात्मानं तोषयेत्सर्वकर्मभिः ॥ ३ ॥

[कितने ही] मनुष्य अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार भक्तिपूर्वक जिनकी आराधना करके मुक्त हो गये, उन परमात्मा श्रीकृष्णको अपने समस्त शुभ कर्मोंद्वारा सन्तुष्ट करना चाहिये ॥ ३ ॥

विविक्तौ येन तत्त्वेन मिश्रौ प्रकृतिपूरुषौ ।
तं वन्दे परमानन्दं नन्दनन्दनमीश्वरम् ॥ ४ ॥

परस्पर मिले हुए प्रकृति और पुरुषको जिन्होंने तत्त्वतः पृथक् किया है, उन परमानन्दमय परमेश्वर श्रीनन्दनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥

शेषाशेषमुखव्याख्याचातुर्यं त्वेकवक्त्रतः ।
दधानमद्भुतं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ ५ ॥

भगवान् शेषके हजारों मुखोंद्वारा की जानेवाली व्याख्याकी चतुरताको जो एक ही मुखमें अद्भुत प्रकारसे धारण किये हुए हैं, उन परमानन्दमय भगवान् लक्ष्मीपतिकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ५ ॥

शोकपङ्कनिमग्नं यः सांख्ययोगोपदेशतः ।
उज्जहारार्जुनं भक्तं स कृष्णः शरणं मम ॥ ६ ॥

जिन्होंने शोक-पङ्कमें डूबे हुए अपने भक्त अर्जुनको सांख्य और योगका उपदेश देकर उनका उद्धार किया, वे भगवान् श्रीकृष्ण मेरे शरणदाता हों ॥ ६ ॥

—श्रीधरस्वामी

भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थश्च कृत्स्नशः ।
गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता ॥ १ ॥

महाभारतमें सम्पूर्ण वेदोंका अर्थ भरा है और महाभारतका सारा अर्थ गीतामें विद्यमान है, इसलिये यह गीता सर्वशास्त्रमयी मानी गयी है ॥ १ ॥ —श्रीनीलकण्ठ

यद्वक्त्रपङ्केरुहसम्प्रसूतं
निष्ठामृतं विश्वविभागनिष्ठम् ।
साध्येतराभ्यां परिनिष्ठितान्तं
तं वासुदेवं सततं नतोऽस्मि ॥ १ ॥

जिनके मुख-कमलसे निकला हुआ गीता-निष्ठारूप अमृत विश्वके विभिन्न भागोंमें बँटा हुआ है तथा साध्य और साधन दोनोंके ही द्वारा जिनका सिद्धान्त निश्चित किया गया है—उन भगवान् वासुदेवको मैं सदा ही प्रणाम करता हूँ ॥१॥

—आनन्दगिरि

गुणगणनिलयं पतिं रमाया
जगदघदहनं च वासवीसूनुम् ।
मुनिकुलतिलकं च पूर्णबोधं
गुरुमपि परमगुरुं च मे वन्दे ॥ १ ॥

अनन्त गुणोंके धाम भगवान् लक्ष्मीपतिको, संसारके पाप-समूहको दग्ध करनेवाले सत्यवतीनन्दन महर्षि व्यासको, मुनि-समुदायके तिलकरूप पूर्ण बोधवान् श्रीशुकदेवजी [अथवा शङ्कराचार्यजी] को एवं अपने गुरु तथा परम गुरुको भी मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

—जयतीर्थ मुनि

सर्वेश्वरं हरिं कृष्णं भक्तिगम्यं परात्परम् ।
वन्दे भक्तिप्रदं नित्यं मायाध्वान्तनिवारकम् ॥ १ ॥

मायामय अज्ञानान्धकारका निवारण करनेवाले, भक्ति-गम्य, भक्तिदाता, परात्पर, सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी मैं नित्य वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

भक्त्यान्वितं निजं ज्ञानं भक्तिवैभवमेव च ।
गुह्यमत्राह कृपया भगवांस्तं समाश्रये ॥ २ ॥

जिन भगवान्‌ने कृपापरवश हो इस गीतामें भक्तिसे युक्त परम गोपनीय अपने स्वरूपके ज्ञान और भक्ति-वैभवका ही प्रतिपादन किया है, उनकी मैं शरण लेता हूँ ॥ २ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यो वै विवेकं कृपयादिशत् ।
सर्वज्ञस्तं हरिं नित्यं व्रजामि शरणं गुरुम् ॥ ३ ॥

जिन सर्वज्ञ प्रभुने कृपा करके क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विवेकका उपदेश दिया, मैं सदा ही उन गुरुदेव श्रीहरिकी शरण लेता हूँ ॥ ३ ॥

सत्त्वादिगुणवृत्तिस्थो जीवः संसृतिमृच्छति ।
हरेरनन्यया भक्त्या मुच्यते गुणसंसृतेः ॥ ४ ॥

सत्त्व आदि गुणोंकी वृत्तियोंमें स्थित होनेपर जीव संसारबन्धनको प्राप्त होता है और श्रीहरिकी अनन्यभक्तिके द्वारा वह इस त्रिगुणात्मक संसारसे मुक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

य एव वेदवेद्यश्च शास्त्रतत्त्वोपदेशकः ।
क्षराक्षरपदार्थाभ्यां चिदचिद्भ्यां विलक्षणः ॥ ५ ॥
सर्वगः परमात्मा च भास्करादिविभूतिमान् ।
पुरुषोत्तमसंज्ञो हि तं श्रीकृष्णं समाश्रये ॥ ६ ॥

जो स्वयं ही वेदोंद्वारा जाननेयोग्य तत्त्व हैं, स्वयं ही गुरुरूपसे शास्त्र-तत्त्वका उपदेश करनेवाले हैं तथा क्षर-अक्षर पदोंके अर्थभूत जड-चेतनसे विलक्षण हैं और अपनी सूर्य आदि विभूतियोंसे युक्त सर्वव्यापी पुरुषोत्तमसंज्ञक परमात्मा हैं—उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ५-६ ॥

यो मायागुणदोषलेशरहितः स्वाभाविकैः सद्गुणैः
स्वातन्त्र्याखिलविज्ञताद्यगणितैर्युक्तोऽब्जजादिस्तुतः ।
भक्ताभीष्टप्रदो रमैकरमणो वेदैकगम्यो हि य-
स्तं वन्दे मनसा गिरा च शिरसा गोपीप्रियं श्रीहरिम् ॥ ७ ॥

जिनमें मायामय गुणोंसे होनेवाले दोषका लेश भी नहीं है; जो स्वतन्त्रता, सर्वज्ञता आदि असंख्य स्वाभाविक सद्गुणोंसे युक्त हैं; ब्रह्मा आदि देवता जिनकी स्तुति किया करते हैं; जो भक्तोंका अभीष्ट पूर्ण करनेवाले, वेदोंके द्वारा एकमात्र जानने-योग्य और लक्ष्मीके साथ एकमात्र रमण करनेवाले हैं—उन गोपीवल्लभ श्रीहरिको मैं मन, वाणी और सिरसे प्रणाम करता हूँ ॥ ७ ॥

यस्य श्रीकरुणार्णवस्य करुणालेशेन बालो ध्रुवः
स्वेष्टं प्राप्य समार्यधाम समगाद्रङ्कोऽप्यविन्दच्छ्रियम् ।
याता मुक्तिमजामिलादिपतिताः शैलोऽपि पूज्योऽभवत्
तं श्रीमाधवमाश्रितेष्टदमहं नित्यं शरण्यं भजे ॥ ८ ॥

जिन दयासागर भगवान्‌की लेशमात्र दया हो जानेसे छोटे-से बालक ध्रुवने अपना अभीष्ट पाकर सर्वोत्तम वैकुण्ठ-धामको प्राप्त कर लिया, दरिद्र सुदामा भी बहुत बड़ी समृद्धि पा गये, अजामिल आदि पतितोंने भी मुक्ति पा ली और गोवर्धन पर्वत भी पूज्य हो गया—अपने आश्रितोंको अभीष्ट वस्तु देनेवाले उन शरणागतरक्षक भगवान् लक्ष्मीपतिको मैं नित्य भजता हूँ ॥ ८ ॥

—श्रीकेशव काश्मीरी भट्टाचार्य

काण्डत्रयात्मकं शास्त्रं गीताख्यं येन निर्मितम् ।
आदिमध्यान्तषट्केषु तस्मै भगवते नमः ॥ १ ॥

जिन्होंने क्रमशः आदि, मध्य और अन्तके छः-छः अध्यायोंमें कर्म, उपासना तथा ज्ञानरूप तीन काण्डोंसे युक्त इस 'गीता' नामक शास्त्रका निर्माण किया है—उन भगवान् वासुदेवको नमस्कार है ॥ १ ॥

श्रीगोविन्दमुखारविन्दमधुना मिष्टं महाभारते
गीताख्यं परमं रहस्यमृषिणा व्यासेन विख्यापितम्।
व्याख्यातं भगवत्पदैः प्रतिपदं श्रीशङ्कराख्यैः पुनर्-
विस्पष्टं मधुसूदनेन मुनिना स्वज्ञानशुद्ध्यै कृतम् ॥२॥

महर्षि व्यासने महाभारतमें गीतानामक परम उत्तम गूढ़ रहस्य व्यक्त किया है, जो भगवान् गोविन्दके मुखारविन्दके मधु (मकरन्द) से मिश्रित होनेके कारण बहुत ही मधुर है। यद्यपि भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यजीने इस गीताशास्त्रके प्रत्येक पदकी व्याख्या की है—अतः अब इसकी दूसरी व्याख्या आवश्यक नहीं है, तो भी इसके तत्त्वका मनन करनेवाले मधुसूदनने अपने ज्ञान की शुद्धिके लिये पुनः इसे विशेषरूपसे स्पष्ट किया है ॥ २ ॥

इह योऽस्ति विमोहयन्मनः परमानन्दघनः सनातनः।
गुणदोषभृदेष एव नस्तृणतुल्यो यदयं स्वयं जनः ॥३॥

जो परमानन्दघन सनातन परमेश्वर [श्रीकृष्णरूपमें] इस हृदयके भीतर रहकर [अपनी दिव्य झाँकीसे] मनको मोहित करता रहता है, यही [मुझसे होनेवाले समस्त कार्योंमें] गुण-दोषका भागी है; क्योंकि यह मनुष्य स्वयं तो एक तिनकेके तुल्य है। [जैसे तिनकेको वायु जहाँ चाहे उड़ाकर रख देती है, वैसे ही अन्तर्यामी कृष्ण मुझसे जैसा चाहे कार्य करा सकता है] ॥ ३ ॥

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥४॥

यदि योगी लोग ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनके द्वारा उस निर्गुण, निष्क्रिय एवं किसी विलक्षण ज्योतिका साक्षात्कार करते हैं तो वे वैसा करते रहें। हमारे लिये तो यमुनाके कूल-किनारोंपर जो कोई अद्भुत नील तेज दौड़ता रहता है, वही नेत्रोंमें चिरकालतक चकाचौंध पैदा करता रहे ॥ ४ ॥

प्रणतभवबन्धच्छेदि परं ब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ॥५॥

जिसने प्रणतजनोंके भव-बन्धनको दूर कर दिया है तथा जो मनुष्यके आकारमें साक्षात् परब्रह्म है—नन्दके पुत्रभावको प्राप्त हुए उस सौन्दर्यराशिके सर्वस्व सारभूत दिव्य तेजको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥ ६ ॥

जिनके कोमल हाथ मुरलीसे सुशोभित हो रहे हैं, दिव्य अङ्गोंकी आभा नूतन जलधरके समान साँवली है; तथा जिनके पीले वस्त्र, बिम्बफलके समान लाल-लाल ओठ, पूर्ण चन्द्रमाके सदृश सुन्दर मुख और कमल-जैसे खिले हुए बड़े-बड़े नेत्र हैं—उन श्रीकृष्णसे बढ़कर मैं दूसरे किसी तत्त्वको नहीं जानता ॥ ६ ॥

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः ॥ ७ ॥

प्रमाणोंसे भी भलीभाँति निश्चित किये हुए श्रीकृष्णचन्द्रके अद्भुत माहात्म्यको जो लोग नहीं सह सकते, वे मूर्ख मानो नरकमें गिर चुके हैं ॥ ७ ॥

यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम्।
तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम् ॥ ८ ॥

जिनकी भक्तिके बिना मुक्ति नहीं मिलती तथा जो सभी योगियोंके सेव्य हैं उन परमानन्दघन श्रीनन्दनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ८ ॥

—श्रीमधुसूदन सरस्वती

पार्थस्येवात्मगीताहृदयमुपदिशन् यो ममापार्थभावं
प्रच्याव्याहन्धनित्वं वितनु कृतिमिहाभीप्सितं प्राप्स्यसीति।
सानन्दं सन्दिदेश स्फुरतु स पुरतः सान्द्रजीमूतधामा
श्रीमानद्वैतभूमा मम परमगुरुः श्रीयशोदाकिशोरः ॥ १ ॥

जिन्होंने पार्थ (अर्जुन) की भाँति मुझे भी अपनी गीताके तत्त्वका उपदेश देते हुए मेरे अपार्थभाव (व्यर्थ भावनाओं) को दूरकर मुझे धन-दौलतसे अलग रक्खा; तथा 'तुम इस जगत्‌में अपनी कृति (रचना) का विस्तार करो, इससे अपने अभीष्ट भावको प्राप्त कर लोगे' इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक अपना सन्देश सुनाया—वे सजल जलधरके समान श्यामसुन्दर अद्वैतभावपूर्ण परमगुरु श्रीयशोदानन्दन मेरे सामने प्रकट हों ॥ १ ॥

जातासि त्वं मुरहरमुखाज्जाह्नवी तस्य पादात्
सर्वानभ्युद्धरति भवती सा तु मज्जान् विधत्ते।
प्रत्यग्ब्रह्मामृतरसनिधिं प्राप्य विश्राम्यसि त्वं
मातर्गीते जडनिधिमियं माति न त्वत्प्रभावः ॥२॥

हे मातः! गीते! तुम भगवान् विष्णुके मुखसे प्रकट हुई हो और गङ्गा उनके पैरसे। तुम सबका उद्धार करती हो किन्तु वह सबको डुबो देती है (उसके जलमें सभी लोग डुबकी लगाते हैं)। तुम अन्तर्यामी चेतनरूप अमृत रसके सागरको प्राप्त करके विश्राम लेती हो, परन्तु वह केवल जड-निधि (जलकी राशि) में जाकर मिलती है। माँ! तुम्हारा यह व्यापक प्रभाव कहीं भी एकदेशमें नहीं समा सकता ॥ २ ॥ —श्रीवेङ्कटनाथ

हृत्खे रूढमनाविलं रसपदं हासप्रकाशोज्ज्वलं
कारुण्यादिगुणौघशैत्यशरणं शान्त्यान्वितं छायया।
अज्ञानार्कजतापघर्मशमनं सद्व्रातकैरर्थितं
ब्रह्मानन्दसुवर्षणोन्मुखमहं कृष्णाख्यमेघं श्रये ॥ १ ॥

जो हृदयरूपी आकाशमें विराजमान है, निर्मल है, रस (आनन्द अथवा जल) का आधार है, जो हासरूपी विद्युत्प्रकाशसे देदीप्यमान हो रहा है, जिसमें करुणा आदि सद्गुणरूप शीतलता भरी है, जो अपनी शान्तिमयी कान्तिसे सुशोभित है, अज्ञानमय सूर्यसे उत्पन्न त्रिविध तापरूपी घामको शान्त करनेवाला है, संतरूपी चातक जिससे आनन्दमय रसकी याचना किया करते हैं, जो ब्रह्मानन्दमय जलकी वर्षा करनेको उद्यत है—उस श्रीकृष्णनामक मेघ (घनश्याम) की हम शरण लेते हैं ॥ १ ॥

क्व शास्त्रं गीताख्यं हरिमुखसरोजाद्विगलितं
क्व चास्माकं बुद्धिर्विषयविषपङ्के निपतिता।
तथापि श्रीकान्तप्रचुरगुणलक्ष्मीविरचितं
कटाक्षं स्वच्छाच्छं ह्यनुसृतवतां किं न सुलभम् ॥ २ ॥

कहाँ तो भगवान् श्रीकृष्णके मुख-कमलसे निकला हुआ यह गीताशास्त्र! और कहाँ विषयरूप विषके कीचड़में फँसी हुई हमलोगोंकी बुद्धि! [ऐसी बुद्धिसे हम गीताशास्त्रकी व्याख्या क्या कर सकते हैं! फिर भी हम हताश नहीं हैं, भगवान्की कृपाके ही बलपर इस शुभ कार्यमें प्रवृत्त हो रहे हैं;] भला, जो भगवान् लक्ष्मीपतिके अनन्त गुणयुक्त और अमित शोभासम्पन्न परम उज्ज्वल कृपाकटाक्षका अनुसरण करनेवाले हैं, उन्हें इस जगत्में क्या नहीं सुलभ है? [वे भगवान् ही सद्बुद्धि देकर इस कार्यको पूर्ण करेंगे] ॥ २ ॥

इदं गीताशास्त्रं परमपुरुषार्थैकनिलयं
त्रिकाण्डं वेदार्थं सकलमिह सङ्गृह्य कथितम्।
स्वयं श्रीकृष्णेन श्रुतिविशदतत्त्वेन विभुना
जपाद् ध्यानाज्ज्ञानाच्छ्रुतमपि फलत्येव सुधियाम्॥३॥

यह गीताशास्त्र परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का एकमात्र आश्रय है—एकमात्र गीताके ही सेवनसे परमपुरुष परमेश्वरकी प्राप्ति हो सकती है। जो वेदोंके विशद तत्त्व—परम प्रतिपाद्य विषय परब्रह्मस्वरूप हैं, उन सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही इस गीताशास्त्रमें कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों काण्डोंसे युक्त समस्त वेदोंके अर्थका संग्रह करके प्रतिपादन किया है। इसका पाठ करने, इसके अर्थका चिन्तन करने, अध्ययनके द्वारा इसको जानने अथवा श्रवणमात्र करनेपर भी यह गीताशास्त्र सुबुद्धिमान् पुरुषोंको अवश्य ही अभीष्ट फल देनेवाला होता है ॥ ३ ॥

रताः केचिद्योगे विजितकरणाः संयतधियः
क्रियाजाले केचित् सुखलवरसास्वादनपराः।
रताः शास्त्राभ्यासे विशदमतयः केचिदजडा
वयं तु श्रीकान्ताननवचनमास्वाद्य कृतिनः ॥ ४ ॥

कुछ लोग अपनी समस्त इन्द्रियोंको जीतकर मन-बुद्धिका संयम करके योगाभ्यासमें लगे हुए हैं, कोई-कोई लोक-परलोकके लेशमात्र सुख-भोगोंका रसास्वादन करनेमें आसक्त होकर कर्म-जालमें फँसे हुए हैं तथा कुछ निर्मल बुद्धिवाले सचेत पुरुष अनेकों शास्त्रोंके अभ्यासमें प्रवृत्त हैं; किन्तु हम तो भगवान् श्रीपतिके मुखसे प्रकट हुए वचनामृत (गीताशास्त्र) का ही आस्वादन करके कृतार्थ हो रहे हैं ॥ ४ ॥

न विद्या येषां श्रीर्न शरणमपीषन्न च गुणाः
परित्यक्ता लोकैरपि वृजिनयुक्ताः श्रुतिजडाः।
शरण्यं यं तेऽपि प्रसृतगुणमाश्रित्य सुजना
विमुक्तास्तं वन्दे यदुपतिमहं कृष्णममलम् ॥ ५ ॥

जिनके पास न विद्या है, न धन, जिन्हें कोई सहारा देनेवाला नहीं है, जिनमें थोड़े भी सद्गुण नहीं हैं, जो वेद-शास्त्रोंके विषयमें कोरे जड हैं—कुछ भी पढ़े-लिखे नहीं हैं, संसारके लोगोंने भी जिन्हें अघी समझकर त्याग दिया है—वे असहाय

प्राणी भी जिन शरणागतपालक प्रभुकी शरण लेकर संत बन जाते और मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, उन विश्वविख्यात गुणोंवाले अमलात्मा यदुनाथ श्रीकृष्ण भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥

महीभारोद्धारं सुजनपरिवारं सुरगुरुं
गुणाधारं सारं निरवधिविहारं रसरसम् ।
परप्रेमागारं व्रजभुवि सुचारं कलपदं
हरिं वारं वारं हृदि गतमुदारं सुकलये ॥ ६ ॥

जो पृथ्वीका भार उतारनेवाले हैं; साधु पुरुष ही जिनके परिवार हैं अथवा साधु पुरुषोंकी जो सब ओरसे रक्षा करते हैं; जो देवताओंके गुरु, समस्त सद्गुणोंके धाम और नित्य हैं; जिनकी लीलाका कभी अन्त नहीं होता; जो रसके भी रस, परम प्रेमके आस्पद और व्रजभूमिमें विचरनेवाले हैं; जिनके पद (वचन अथवा चरण) कोमल हैं—अपने हृदयमें स्थित उन उदार श्रीहरिका मैं बारंबार चिन्तन करता हूँ ॥ ६ ॥

अविद्याकामाद्यैर्दृढतरसुमूलैरुपचितं
फलैर्दुःखाकारैर्निबिडमजरं भ्रान्तिबहुलम् ।
द्रुमं संसाराख्यं विषमगतिमुच्छेत्तुमचिरात्
क्षमा यत्पादाब्जे रतिरनुदिनं नौमि तमजम् ॥ ७ ॥

जो अविद्या, कामना आदि दृढमूल दोषोंसे बढ़ा हुआ है, दुःखरूप फलोंसे व्याप्त और अजर है—पुराना नहीं हुआ है तथा जहाँ भ्रम (अज्ञान) की ही अधिकता है, उस विषम अवस्थावाले संसार-वृक्षका शीघ्र ही समूलोच्छेद करनेके लिये जिनके चरण-कमलोंमें बढ़ी हुई भक्ति ही समर्थ है—उन अजन्मा भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रतिदिन प्रणाम करता हूँ ॥ ७ ॥

यं न प्रकाशयति भानुरपीन्दुरग्निः
स्वज्योतिषा सकलभासकमप्रमेयम् ।
यं प्राप्य संसृतिनिधौ न पतन्ति धीरा-
स्तं सर्वभूतहृदयं हरिमाश्रयेऽहम् ॥ ८ ॥

अपने प्रकाशसे सबको प्रकाशित करनेवाले जिन अप्रमेय परमात्माको सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकते तथा जिन्हें पाकर धीर पुरुष संसारसमुद्रमें नहीं गिरते—उन समस्त भूतोंके अन्तर्यामी श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ८ ॥

कृष्णाकृष्टा सभायां सपदि कुरुपतेर्यं शरण्यं श्रितासीन्-
मुक्ता दुःखाद्गजेन्द्रो जलचरविवशो यं [illegible] ।
कारागारे निरुद्धाः शरणमुपगता यं नृपा मुक्तबन्धा
आसंस्तं श्रीमुकुन्दं सततमहमजं नौमि मुक्तेर्निदानम् ॥ ९ ॥

कुरुराज दुर्योधनकी सभामें जिस समय द्रौपदी हठात् खींचकर लायी गयी और उसका वस्त्र उतारा जाने लगा, उस समय वह जिन शरणागतरक्षक प्रभुकी शरणमें जाकर तत्काल उस कष्टसे छुटकारा पा गयी; तथा जलचर ग्राहके चंगुलमें फँसा हुआ गजराज जिनका स्मरण करके बन्धनसे मुक्त हो गया और जरासन्धकी कैदमें पड़े हुए राजालोग जिनकी शरणमें आकर बन्धनसे छूट गये—मुक्तिके आदि कारण उन अजन्मा भगवान् मुकुन्दको मैं सदा प्रणाम करता हूँ ॥ ९ ॥

अद्वैतबोधाब्जसहस्ररश्मिः शान्तेर्लतायाः किल कल्पवृक्षः ।
संसारसन्तापविनाशचन्द्रः कृष्णः सदाह्लादकरो ममास्तु ॥ १० ॥

जो अद्वैत-ज्ञानरूपी कमलको विकसित करनेके लिये सूर्यके समान हैं, शान्तिमयी लताको आश्रय देनेके लिये साक्षात् कल्पवृक्षरूप हैं और सांसारिक तापको नष्ट करनेके लिये चन्द्रमाके समान हैं—वे भगवान् श्रीकृष्ण सदा ही मेरे आनन्दको बढ़ावें ॥ १० ॥

मेघश्यामोऽवदातस्मितमधुरमुखस्तोत्रवेत्रैकपाणि-
र्बीभत्सोः सम्मुखेऽजः श्रुतिसुरभिपयोदोहनार्थं प्रवृत्तः ।
लोकानुद्धर्तुकामः श्रुतिविशदयशा भक्तिवश्योऽमलात्मा
स्वामी सर्वस्य कृष्णो वसतु मम मतौ ब्रह्मविद्याश्रितोऽसौ ॥

जो मेघके समान सुन्दर श्यामवर्ण हैं, जिनका मुख धवल मुसकानसे सुशोभित एवं अत्यन्त मनोहर है, जो अपने एक हाथमें बेंतका चाबुक लिये हुए हैं तथा समस्त लोकोंका उद्धार करनेकी इच्छासे मन-ही-मन खिन्न हुए अर्जुनके समक्ष श्रुतिरूपिणी कामधेनुका दूध दुहनेमें प्रवृत्त हैं, वेदोंमें जिनकी उज्ज्वल यशोराशिका वर्णन किया गया है तथा जो भक्ति करनेसे वशीभूत हो जाते हैं—वे ब्रह्मविद्याके आश्रित अमलात्मा, अजन्मा एवं सबके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण मेरी बुद्धिमें निवास करें ॥ ११ ॥

पीतं वासो दधानं विजयरथगतं ब्रह्मरुद्रादिवन्द्यं
भूमेर्भारं जिहीर्षुं नवजलदरुचं शङ्खचक्राब्जहस्तम् ।
पार्थव्याजेन लोकं निगममतसृतौ योजयन्तं महेशं
ध्यायेन्नित्यं [illegible] सुजनमतिगृहं कृष्णमानन्दकन्दम् ॥

जो पीतवस्त्र धारण किये हुए हैं, ब्रह्मा एवं रुद्र आदिके वन्दनीय होते हुए भी अर्जुनके रथपर सारथिके रूपमें विराजमान हैं तथा जो पृथ्वीका भार उतारना चाहते हैं, जिनकी नवीन मेघमण्डलीके समान श्यामल कान्ति है, जिनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और कमल सुशोभित हैं, जो अर्जुनके बहाने समस्त लोकको वेदसम्मत मार्गपर ला रहे हैं, संतोंकी बुद्धिमें जिनका निवास है, जो परम महेश्वर एवं सम्यक् प्रकारसे सेवन करनेयोग्य हैं—उन आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णका सदा ही चिन्तन करना चाहिये ॥ १२ ॥

श्रियो वासं वृन्दावनकृतनिवासं श्रुतिपदं
कलावासावासं सुरनरसुखावासजलधिम् ।
महोल्लासोल्लासं सुजनहृदि वासं गुणनिधिं
प्रतिश्वासं वन्दे निरवधिविलासं मधुरिपुम् ॥ १३ ॥

जिनके वक्षःस्थलमें लक्ष्मीजीका निवास है, जिन्होंने वृन्दावनमें वास किया है, जो श्रुतियोंके आधार हैं, समस्त कलाओंके निवासके लिये जो आवास (घर) के समान हैं—अर्थात् जिनमें सम्पूर्ण कलाएँ वास करती हैं, जो देवता और मनुष्योंको सुख देनेके लिये समुद्रमें (द्वारकापुरीके भीतर) निवास करते हैं, जो महान् उल्लाससे उल्लसित हो रहे हैं, जिनका लीलाविलास अनन्तकालतक चलता रहता है—संतोंके हृदयमें निवास करनेवाले उन गुणसागर भगवान् मधुसूदनको मैं अपने प्रत्येक श्वासके साथ नमस्कार करता हूँ ॥ १३ ॥

यत्पादपद्ममकरन्दरसानुभूति-
प्राप्ताखिलामृतसुखानुभवेन तृप्ताः ।
पौरन्दरीं श्रियमथोऽवगणय्य धीरा-
स्तिष्ठन्ति यत्र स हरिः शरणं ममास्तु ॥ १४ ॥

जिनके चरण-कमलोंके मकरन्द-रसके आस्वादनसे प्राप्त अखण्ड मोक्षसुखका अनुभव करके तृप्त हुए धीर पुरुष इन्द्रकी राज्यलक्ष्मीका भी अनादर करके जिनमें रमे रहते हैं, वे भगवान् श्रीहरि मुझे शरण दें ॥ १४ ॥

मन्दस्मितं रुचिरकान्तिविलासशोभि-
स्वाभाविकामृतरसाकरमप्रमेयम् ।
ध्याने स्वयं श्रितवतां रमयाञ्चितं श्री-
कृष्णाननं व्रजति नाशमयं कुदोषः ॥ १५ ॥

जहाँ मन्द-मन्द मुसकानकी छटा छा रही है, जो कमनीय कान्तिके विलाससे सुशोभित स्वाभाविक सुधारसका आगार है, जिसकी कहीं भी उपमा नहीं है, भगवती लक्ष्मीजी भी जिसकी पूजा (प्रशंसा) करती हैं—भगवान् श्रीकृष्णके उस मनोहर मुखका ध्यानमें साक्षात्कार करनेवाले पुरुषोंके ये समस्त कुत्सित दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ १५ ॥

योगी योगबलेन संसृतिमिमां त्यक्त्वाऽऽत्मसौख्ये स्थितः
कर्मी कर्मजलोकभोगरसिकस्तस्मिन्नुपाये रतः ।
अस्माकं तु नवीनवारिदरुचिर्मन्दस्मितेनाञ्चितो
गोगोपीजनवत्सलः सुखनिधिः कृष्णः शरण्यो गतिः ॥

योगी अपने योगबलसे इस संसारको त्यागकर आत्मानन्दमें निमग्न है और कर्मी अपने कर्मोंद्वारा प्राप्त हुए दिव्य लोकोंके भोग भोगनेमें आसक्त हो उसी (दिव्य लोकोंको प्राप्त करानेवाले) उपायमें लगा हुआ है । परन्तु हमारे लिये तो गौओं और गोपियोंपर स्नेह करनेवाले नवीन मेघमालाके समान श्यामसुन्दर, मन्द मुसकानसे सुशोभित सुखसागर भगवान् श्रीकृष्ण ही शरण देनेवाले और सहारे हैं ॥ १६ ॥

परब्रह्मानन्दे सकलसुरवन्द्ये स्वरसतः
क्षतद्वन्द्वे मन्दाकृतिदनुजकन्दाङ्कुरहरे ।
श्रियः कन्दे नन्दात्मज उदितचन्द्रस्मितमुखे
मुकुन्दे स्पन्दो मे भवतु मनसो द्वन्द्वविरतेः ॥ १७ ॥

जो समस्त देवताओंके वन्दनीय, अपने रससे सम्पूर्ण द्वन्द्वोंके क्षयकारक, दुष्ट दानवरूपी कन्दके अङ्कुरका उच्छेद करनेवाले और शोभाके मूल हैं; जिनका मधुर मुसकानसे विभूषित मुख नवोदित चन्द्रमाके समान कान्तिमान् है—उन परब्रह्मानन्दमय नन्दनन्दन भगवान् मुकुन्दमें ही द्वन्द्वोंसे विरक्त हुए मेरे मनकी सारी चेष्टाएँ हों ॥ १७ ॥

—सदानन्द

यन्नामस्मृतिमात्रेण निःशेषक्लेशसंक्षयः ।
जायते तत्क्षणादेव तं श्रीकृष्णं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

जिनके नामका स्मरणमात्र करनेसे तत्काल ही समस्त क्लेशोंका नाश हो जाता है, उन भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

—पुरुषोत्तमजी

गौरांशुकः सत्कुमुदप्रमोदी
स्वाभिख्यया गोस्तमसो निहन्ता ।

श्रीकृष्णचैतन्यसुधानिधिर्मे
मनोऽधितिष्ठन् स्वरतिं करोतु ॥ १ ॥

जिनके वस्त्र या किरणें श्वेत हैं, जो संतरूपी कुमुदोंको आनन्दित करनेवाले और अपनी दिव्य कीर्तिरूप कान्तिसे मन, इन्द्रिय, वाणी तथा दिशाओंके तम (अज्ञान या अन्धकार) का नाश करनेवाले हैं—वे श्रीकृष्णचैतन्यरूपी चन्द्रमा मेरे हृदयाकाशमें विराजमान होकर मुझे अपना प्रेम प्रदान करें ॥ १ ॥

प्राचीनवाचः सुविचार्य सोऽह-
मज्ञोऽपि गीतामृतलेशलिप्सुः ।
यतेः प्रभोरेव मते तदत्र
सन्तः क्षमध्वं शरणागतस्य ॥ २ ॥

हे संतजनो ! मैं अज्ञानी होकर भी संन्यासवेषधारी महाप्रभु भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यकी ही प्रेरणाके अनुसार प्राचीन विद्वानोंकी वाणीको भलीभाँति विचारकर गीताके अमृतसागरका लेशमात्र प्राप्त करना चाहता हूँ, इसलिये इस कार्यमें मुझ शरणागतके अपराधोंको आप क्षमा करें ॥ २ ॥

—श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती

सत्यानन्ताचिन्त्यशक्त्येकपक्षे
सर्वाध्यक्षे भक्तरक्षातिदक्षे ।
श्रीगोविन्दे विश्वसर्गादिकन्दे
पूर्णानन्दे नित्यमास्तां मतिर्मे ॥ १ ॥

सत्य, अनन्त और अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न होना—यही एक पक्ष जिनमें सम्भव है, जो सबके अध्यक्ष (साक्षी) और अपने भक्तोंकी रक्षा करनेमें अत्यन्त दक्ष हैं; तथा जो विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहारके कारण हैं—उन पूर्णानन्दमय भगवान गोविन्दमें हमारी मनोवृत्ति सदा ही लगी रहे ॥ १ ॥

यदिच्छातरिं प्राप्य गीतापयोधौ
न्यमज्जं गृहीतातिचित्रार्थरत्नम् ।
न चोत्थातुमस्मि प्रभुर्हर्षयोगात्
स मे कौतुकी नन्दसूनुः प्रियः स्तात् ॥ २ ॥

जिनकी इच्छारूपिणी नौकाका सहारा पाकर मैं गीता-समुद्रमें अत्यन्त विचित्र अर्थरूपी रत्नका संग्रह करते-करते डूब गया हूँ और अत्यन्त आनन्दकी प्राप्ति होनेके कारण अब यहाँसे ऊपर उठनेकी शक्ति मुझमें नहीं रह गयी है, वे परम कौतुकी भगवान् नन्दनन्दन मेरे प्रिय हों ।

—श्रीबलदेव विद्याभूषण

यो मायां जगदेकमोहनकरीमाश्रित्य सृष्ट्वाऽऽलयं
देहं जीवतयानुविश्य मतिभिः संयाति नानात्मताम् ।
वन्दे तं परमार्थतः सुखघनं ब्रह्माद्वयं केवलं
कृष्णं वेदशिरोभिरेव विदितं श्रीशङ्करं शाश्वतम् ॥ १ ॥

जो समस्त जगत्को एकमात्र मोहनेवाली मायाका आश्रय ले, शरीररूपी गृहकी रचना कर, पश्चात् उसमें जीव-रूपसे प्रविष्ट हो विभिन्न बुद्धियोंके द्वारा नाना भावको प्राप्त हो रहे हैं तथा जो वस्तुतः आनन्दघन एवं असङ्ग अद्वितीय ब्रह्म हैं, और वेदोंके शीर्षस्थानीय (उपनिषदोंके) मन्त्रोंद्वारा ही जिनका ज्ञान होता है उन शङ्करस्वरूप—कल्याणकारी सनातनदेव श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ* ॥ १ ॥

आकाशस्य यथा घटादिभिरसौ भेदो न चास्त्यर्थतः
एवं ब्रह्मणि निर्गुणेऽतिविमले बुद्ध्यादिभिः कल्पितः ।
यस्मिन्नेकरसे विमायममितं तं वासुदेवं भजे
सत्यानन्दचिदात्मकं गुरुगुरुं शर्वं तमोनाशकम् ॥ २ ॥

जिस प्रकार घट आदि उपाधियोंके द्वारा होनेवाला आकाशका वह (घटाकाश, पटाकाश आदि) भेद वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार उपाधिकृत दोषोंसे रहित जिन अत्यन्त शुद्ध, एकरस, निर्गुण ब्रह्ममें बुद्धि आदिके द्वारा कल्पित भेद सत्य नहीं है तथा जो मायासे अतीत, प्रमाणोंके अविषय और सत्यानन्दज्ञानस्वरूप हैं—उन अज्ञाननाशक, गुरुओंके भी गुरु, शर्वरूप भगवान् वासुदेवको मैं भजता हूँ ॥ २ ॥

सृष्ट्वेदं श्रुतिगं प्रवृत्तिजनकं धर्मं मरीच्यादिकान्
विश्वस्थापनहेतवेऽब्जजतनुः संग्राहयामास यः ।
सर्वानर्थनिबर्हणं च सनकाद्यान् पूर्वसृष्टानृषीन्
वैराग्यादिकलक्षणं शिवमहं तं वासुदेवं भजे ॥ ३ ॥

जिन्होंने पद्मयोनि ब्रह्माजीके रूपमें प्रकट होकर इस विश्वकी रचना करके इसकी स्थिति कायम रखनेके लिये मरीचि आदि प्रजापतियोंको प्रवृत्तिजनक वैदिक धर्मका उपदेश दिया तथा सबसे प्रथम उत्पन्न हुए सनकादि ऋषियोंके प्रति सम्पूर्ण अनर्थोंका नाश करनेवाले वैराग्यादि-रूप निवृत्तिमार्गकी शिक्षा दी, उन शिवस्वरूप भगवान् वासुदेवको मैं भजता हूँ ॥ ३ ॥

* इन श्लोकोंमें भगवान् शिव और कृष्णको अभिन्न मानकर दोनोंका ही स्तवन किया गया है ।

अजन्मा सर्वेषामधिपतिरमेयोऽपि जगता-
मधिष्ठाय स्वीयां प्रकृतिमिव देही स्फुरति यः ।
विनष्टं कालेन द्विविधममृतं धर्ममनघं
पुनः प्राहेशं तं विमलशुभदं नौमि परमम् ॥४॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अविषय, सम्पूर्ण जगत्के अधीश्वर और अजन्मा होकर भी जो अपनी प्रकृति (माया) का आश्रय लेकर देहधारीके समान प्रतीत होते हैं; तथा जिन्होंने काल-क्रमसे नष्ट हुए दोषरहित [सांख्ययोग और कर्मयोग नामक] दो भेदोंवाले अमृत (मोक्षसाधक) धर्मका पुनः अर्जुनके प्रति उपदेश किया—उस निर्मल कल्याणमय ज्ञानका उपदेश देनेवाले परमेश्वर श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ ॥४॥

यतो जातं येन स्थितमिदमशेषं प्रविलयं
प्रयात्याद्ये यस्मिन् श्रुतिभिरुदिते जन्तव इमे ।
भवन्त्येकं ब्रह्मामलममृतमाराध्य यमहं
शिवं रामं कृष्णं तमजमजरं नौम्यखिलगम् ॥५॥

यह जगत् जिनसे प्रकट हुआ है, जिनके ही द्वारा इसका पालन हो रहा है तथा जिन वेदप्रतिपादित आदि-देवमें ही इस अखिल विश्वका लय होता है; जिनकी आराधना करके सम्पूर्ण जीव एकमात्र अविनाशी विमल ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं—उन सर्वव्यापी, जरा आदि अवस्थाओंसे रहित, अजन्मा एवं शिव, राम और कृष्ण आदि नामोंसे कहे जानेवाले परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

चिदानन्दे यत्रादितिजनरयक्षासुरयुतं
विभातं त्रैलोक्यं सति भवति नाश्चर्यजनकम् ।
अनन्ताण्डाधारे तमजमजरात्मानममृतं
शिवं कृष्णं वन्दे निखिलहृदिगं द्रष्टुमभयम् ॥६॥

अनन्त ब्रह्माण्डोंके आधारभूत जिन चिदानन्दमय परमेश्वरकी सनातन सत्ता होनेके कारण ही उनमें प्रतीत होनेवाला यह देवता, मनुष्य, यक्ष और असुर आदिसे युक्त त्रिभुवन आश्चर्यजनक नहीं जान पड़ता—उन अजन्मा, अजर, अमर, निर्भय एवं सर्वान्तर्यामी शिवस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको मैं उनका दर्शन पानेके लिये प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥

श्रीवासुदेवो भगवान् स एव भक्ताय पार्थाय तु भारते वै ।
मोहापहं शास्त्रमुवाच गीतां सर्वेश्वरं तं शरणं प्रपद्ये ॥७॥

[ऊपर जिनकी महिमाका वर्णन किया गया है] उन भगवान् श्रीवासुदेवने ही महाभारत-युद्धमें अपने भक्त अर्जुनके प्रति इस मोहनाशक गीताशास्त्रका उपदेश किया। मैं सम्पूर्ण जगत्के स्वामी उन प्रभुकी शरण लेता हूँ ॥ ७ ॥

—धनपति सूरि

संविदानन्दसन्दोहसान्द्रमिन्दीवरेक्षणम् ।
इन्दिरामन्दिरं देवं वन्दे तं नन्दनन्दनम् ॥ १ ॥

जो ज्ञानानन्दसन्दोहसे घनीभूत हैं, नीलकमलके समान खिले हुए जिनके सुन्दर नेत्र हैं—उन लक्ष्मीनिवास भगवान् नन्दनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

अज्ञः सुज्ञत्वसीमामनुभवति भवान्नैति रङ्कोऽपि शङ्कां
स्यान्मूको वावदूको व्रजति शिखरिणां पङ्गुरुलङ्घ्य सङ्घम् ।
दुःखाब्धेर्नोपलब्धिः स खलु विजयते यत्कृपापाङ्गसङ्गा-
दन्तर्यामी समीपे मम परमगुरुः श्रीयशोदाकिशोरः ॥ २ ॥

जिनके कृपा-कटाक्षका संसर्ग होनेसे अज्ञानी भी ज्ञानकी पराकाष्ठाका अनुभव करने लगता है, दरिद्र भी सांसारिक कष्टसे भय नहीं मानता, गूँगा भी बहुत बड़ा वक्ता हो जाता है, पैरोंसे हीन मनुष्य भी पर्वत-समूहको लाँघ जाता है और दुःखके समुद्रका कभी दर्शन भी नहीं होता—वे मेरे परम गुरु अन्तर्यामी यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्ण मेरे समीपमें ही विजयी एवं विराजमान हो रहे हैं ॥ २ ॥

अम्भोधिं कुम्भडिम्भश्चुलुकितमकरोन्मूर्ध्नि धत्तेऽतिगुर्वी-
मुर्वीं दर्वीकरोति प्रदहति दहनो वर्षति प्रावृषेण्यः ।
मेघौघो वाति वातः प्रतपति तपनो रत्नसूर्भूमिरेभि-
र्लोका तीतोऽभिनीतो यदुकुलतिलकानुग्रहो निग्रहो वा ॥ ३ ॥

कुम्भज ऋषि समुद्रको अपने चुल्लूमें लेकर पी गये, शेषनाग इस अत्यन्त भारी पृथ्वीको सिरपर धारण करते और दर्वी (करछुल) के समान हलकी मानते हैं, अग्नि सदा जलाता है, वर्षाकालमें मेघसमूह पानी बरसाता है, हवा चलती है, सूर्य तपता है, पृथ्वी रत्न पैदा करती है—इस प्रकार इन सबने यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक अनुग्रह या निग्रहका ही अभिनय (प्रदर्शन) किया है ॥ ३ ॥

वार्ष्णेयब्रह्मशैलादृजुशतपथगा ज्ञानविज्ञानकूला
पार्थस्य प्रार्थनातश्चिरममृतवहा प्रत्यगानन्दसिन्धुम् ।
सम्प्राप्तार्थप्रवाहप्रपतितविततावत्थमुन्मूलयन्ती
गीता स्फीता निमङ्क्तुः सकलकलिमलं स्वर्धुनीयं धुनीते ॥४॥

यह गीतारूपिणी उज्ज्वल गङ्गा अपनेमें डुबकी लगानेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कलिमलोंको धो डालती है, यह पार्थकी प्रार्थनापर श्रीकृष्णरूपी ब्रह्मगिरिसे निकलकर सैकड़ों सरल मार्गोंसे होती हुई ज्ञान-विज्ञानरूप दो तटोंके बीचसे होकर चिरकालके लिये अमृतरसको बहाती हुई आत्मानन्द-समुद्रमें जाकर मिली है और अपने अर्थ-प्रवाहमें पड़े हुए विस्तृत जगत्‌रूप अश्वत्थवृक्षका मूलोच्छेद करती जा रही है !* ॥ ४ ॥

आचार्याः सन्ति कुत्राप्यतिविमलधियो वेदशास्त्रागमानां
दुष्प्रापस्तावदास्ते त्रिजगति नितरामात्मतत्त्वोपदेष्टा ।
एवं सत्यर्जुनस्याद्भुतविकलवतो वर्ण्यते किन्नु भाग्यं
यस्याचार्यस्य हेतोः स्वयमुपनिषदामर्थ आविर्बभूव ॥ ५ ॥

वेद, शास्त्र और तन्त्रोंके विद्वान् अत्यन्त निर्मल बुद्धिवाले आचार्य कहीं-कहीं ही हैं (सर्वत्र नहीं); उनमें भी आत्मतत्त्वका उपदेश करनेवाला तो तीनों लोकोंमें अत्यन्त दुर्लभ है । ऐसी परिस्थितिमें भी अद्भुत विकलतासे युक्त हुए अर्जुनके भाग्यका क्योंकर वर्णन किया जाय ? जिनका आचार्य होनेके लिये उपनिषदोंका अर्थभूत साक्षात् परब्रह्म ही देह धारण करके प्रत्यक्ष प्रकट हो गया ॥ ५ ॥

साक्षाद् वैकुण्ठवाचो निजभजनवतां मुक्तिहेतोः प्रवृत्ताः
सर्वाम्नायाश्च गीताः सततमथ मिथो या वियुक्ता बभूवुः ।
ता एकत्रानुयोक्तुं सुरसरित इवान्तर्नियुक्तो विनेत्रा ।
देवेनान्तःप्रवृत्तोऽस्म्यहमिह भविता तावताहं कृतार्थः ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण वेद और गीता—ये साक्षात् विष्णुभगवान्‌की वाणी हैं और ये सभी गङ्गाजीकी भाँति सदा भगवान्‌का भजन करनेवाले मनुष्योंकी मुक्तिके लिये ही प्रवृत्त हुए हैं । किन्तु इनमें जो-जो वचन परस्पर वियुक्त (विरुद्ध) से प्रतीत होते हैं, उन सबका एकत्र समन्वय करनेके लिये सर्वनियन्ता परमात्माने अन्तःकरणमें प्रेरणा करके जो मुझे इस कार्यमें प्रवृत्त किया है, इतनेहीसे मैं कृतार्थ हो जाऊँगा ॥६॥

एतस्मिन् भगवच्छास्त्रे न यौक्तिकमताग्रहः ।
सर्वोपनिषदध्यात्ममेतदात्मानुभूतिकृत् ॥ ७ ॥

भगवान्‌के इस गीताशास्त्रमें युक्तिवादियोंका मताग्रह नहीं है, यह तो आत्मतत्त्वका अनुभव करानेवाला सम्पूर्ण उपनिषदोंका सारभूत अध्यात्मशास्त्र है ।

—दैवज्ञ पण्डित सूर्य

अशेषगुणपूर्णाय दोषदूराय विष्णवे ।
नमः श्रीप्राणनाथाय भक्ताभीष्टप्रदायिने ॥ १ ॥

जो समस्त कल्याणमय गुणोंसे परिपूर्ण और सब प्रकारके दोषोंसे दूर हैं—भक्तोंको अभीष्ट फल देनेवाले उन लक्ष्मीके प्राणनाथ भगवान् विष्णुको प्रणाम है ॥ १ ॥

—श्रीराघवेन्द्र

यस्यामानि गले पयोधिमथनप्रोद्भूतहालाहल-
ज्वालादुःस्थजगत्त्रयीभयभरध्वान्तं निपीतं सुरैः ।
विघ्नै राशुनिगीर्णभक्तजनतादुःखानलप्रोद्भव-
धूमोत्पादितकज्जलं भगवते तस्मै नमः सर्वदा ॥ १ ॥

जिस समय समुद्रका मन्थन करनेपर उससे हालाहल विष प्रकट हुआ और उसकी भयङ्कर ज्वालासे तीनों लोक दग्ध होने लगे, उस समय शङ्करजीने उस विषको—जो मानो दुःखमें पड़ी हुई त्रिलोकीका महान् भयरूपी अन्धकार ही था—दयावश पी लिया; इससे उनके कण्ठमें काला दाग पड़

* इस श्लोकमें वाच्य रूपक अलङ्कारके द्वारा व्यतिरेक अलङ्कार अभिव्यञ्जित हुआ है और इसके द्वारा गीताके महत्त्वको गङ्गासे बढ़कर बताया गया है । गङ्गा केवल त्रिपथगा है और यह 'शतपथगा' है, उसके मार्ग टेढ़े हैं और इसके ऋजु (सीधे) । उसके कूल पार्थिव एवं जड हैं और इसके ज्ञान-विज्ञान हैं । वह केवल जल (जड) को बहाती है और यह चेतन अमृतरस बहाती है । वह जलराशि (या जडराशि) में मिलती है और यह आत्मानन्द-समुद्रमें । उसका जल कभी-कभी बाढ़के अवसरपर मैला भी होता है, पर यह सदा ही स्फीत––उज्ज्वल रहती है । वह भगीरथकी कठोर तपस्यापर प्रकट हुई और यह केवल पार्थकी प्रार्थना सुनकर ही प्रकट हो गयी । इससे इसकी अधिक दयालुता सूचित होती है । वह सारे मलोंको—अज्ञानादिको नहीं दूर करती; किन्तु यह सम्पूर्ण मलोंको धो डालती है । इस प्रकार यह श्लोक ध्वनिकाव्यके अन्यतम भेद––'स्वतःसम्भवी अलङ्कार-व्यङ्ग्य अलङ्कार' नामक काव्यका नमूना है ।

गया, उसे देखकर चतुर देवताओंने यों उत्प्रेक्षा की कि 'भगवान् शिवने अपने भक्तजनोंके दुःखरूपी अनलको जल्दी-जल्दी निगल लिया है, उसीसे निकले हुए धूएँने इनके कण्ठमें यह कालिमा उत्पन्न कर दी है।' इस प्रकार जिनके गलेमें विद्यमान नील चिह्नको देवताओंने उपर्युक्तरूपसे माना, उन भगवान् शिवको सदा ही नमस्कार है ॥ १ ॥

आनन्दैकरसे चिदात्मनि परे ब्रह्मण्युमाश्लेषतो
यत्रैश्वर्यवतीश्वरेत्यभिधयैकान्तिक्युपेता स्थितिः।
तस्यैकस्य शिवस्य मायिकगुणप्रोद्भासिभेदां परां
विश्वोत्पत्त्यवनक्षयक्षमतमां मूर्तित्रयीं तां नुमः ॥ २ ॥

जो आनन्दमय, एकरस, ज्ञानस्वरूप एवं परब्रह्म हैं तथा परमेश्वरी उमाके सम्पर्कसे जो ऐश्वर्यवान् हो रहे हैं; अतएव जिनमें 'ईश्वर' यह नाम एकान्ततः स्थित हुआ है—जो अकेले ही 'ईश्वर' नामसे कहे जाने योग्य हैं—उन एकमात्र कल्याणकारी भगवान् शिवकी त्रिदेवमयी दूसरी मूर्तिको, जो मायिक गुणोंके कारण भिन्न-सी प्रतीत होती है और जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश करनेमें पूर्णतया समर्थ है, हम सदा नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

श्रीगोविन्दसविभ्रमेक्षणघनप्रस्यन्दमानै रसै-
र्नाभीचारुतरालवालवलयात्पूर्णादिव प्रोद्गताम्।
तारुण्यस्य मठद्वयीं सुललितामारोढुमुज्जृम्भितां
राधाया रुचिरोदराम्बरगतां शृङ्गारवल्लीं भजे ॥ ३ ॥

मैं श्रीराधिकाजीके उदर-प्रान्तमें स्थित सुन्दर साड़ीके ऊपर (नीवीभाग) तक लटकी हुई शृङ्गारलता (पारिजात-पुष्पकी माला) का चिन्तन करता हूँ, जो भगवान् श्रीकृष्णकी भावभरी चितवनरूपी घनसे बरसते हुए स्नेहरसकी धारासे पूर्ण नाभिरूप मनोहर थाल्हेसे ही मानो पौदेके रूपमें प्रकट हुई है और (वक्षःस्थलमें विराजमान) यौवनके दो मठोंपर चढ़नेके लिये ही मानो ऊपरकी ओर फैली जा रही है ॥ ३ ॥

—श्रीवच्चा झा

विवेकवृक्षोंका बगीचा

गीता विवेकरूपी वृक्षोंका एक अपूर्व बगीचा है। यह सब सुखोंकी नींव है। सिद्धान्त-रत्नोंका भण्डार है। नवरसरूपी अमृतसे भरा हुआ समुद्र है। खुला हुआ परमधाम है। सब विद्याओंकी मूल भूमि है। अशेष शास्त्रोंका आश्रय है। सब धर्मोंकी मातृ-भूमि है, सज्जनोंका प्रेमास्पद मित्र है। सरस्वतीके लावण्य-रत्नोंका भाण्डार है।...यह गीता ज्ञानामृतसे भरी हुई गंगाजी है, विवेकरूपी क्षीरसागरकी नव-लक्ष्मी है।

—महात्मा ज्ञानेश्वर महाराज

गीतानुसारि भगवत्स्तोत्रम्

(श्रीकिशोरलाल घ० मश्रूवालाद्वारा गीताके श्लोकोंके आधारपर सम्पादित)

सर्वधर्मान् परित्यज्य त्वामेकं शरणं गतः ।
त्वमेव सर्वपापेभ्यो मोक्षयस्व हि मां प्रभो ॥ १ ॥

प्रभो ! मैं सारे धर्मोंको छोड़कर केवल तुम्हारी शरणमें आया हूँ, अतः अब तुम्हीं मुझे सब पापोंसे छुटकारा दिलाओ ॥ १ ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां त्वमेव हृदये स्थितः ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥२॥

तुम्हीं सम्पूर्ण प्राणियोंको यन्त्रारूढकी भाँति अपनी मायासे नाना योनियोंमें भटकाते हुए उनके हृदयमें अन्तर्यामी ईश्वररूपसे सदा विराजमान रहते हो ॥ २ ॥

त्वामेव शरणं यामि सर्वभावेन केशव ।
त्वत्प्रसादादवाप्स्येऽहं शाश्वतं पदमव्ययम् ॥३॥

हे केशव ! मैं सब प्रकारसे अब तुम्हारी ही शरण ग्रहण करता हूँ । तुम्हारे ही प्रसादसे मैं सनातन अविनाशी पद (मोक्ष) को पा जाऊँगा ॥ ३ ॥

पिता त्वमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ॥ ४ ॥

तुम्हीं इस जगत्के माता-पिता हो, धारण-पोषण करनेवाले धाता हो, पिताके भी पिता हो और जानने योग्य तत्त्व, परम पवित्र, ॐकार तथा ऋक्, साम एवं यजुरूप वेदत्रयी हो ॥ ४ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ ५ ॥

तुम्हीं सबकी गति, सबका भरण-पोषण करनेवाले, सबके प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृद् हो । तुमसे ही सबकी उत्पत्ति होती है, तुम्हींमें सबका लय होता है और तुम्हारे ही आधारपर सबकी स्थिति है । तुम्हीं सबके अधिष्ठान और अविनाशी बीज हो ॥ ५ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तस्त्वां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमवहोऽसि वै ॥६॥

जो लोग अनन्यभावसे तुम्हारा चिन्तन करते हुए सदा ही तुम्हारी उपासना करते रहते हैं, अपनेमें नित्ययुक्त रहनेवाले उन भक्तोंका तुम अवश्य ही योग-क्षेम वहन करनेवाले हो ॥ ६ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यस्ते भक्त्या प्रयच्छति ।
तस्य त्वं भक्त्युपहृतमश्नासि प्रयतात्मनः ॥७॥

करुणामय ! जो कोई भक्तिभावसे तुम्हें पत्र-पुष्प, फल अथवा जल अर्पण करता है, उस पवित्रात्मा भक्तके प्रेमपूर्वक दिये हुए उपहारको तुम बड़े आनन्दसे भोग लगाते हो ॥७॥

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत् ।
यत्तपस्यामि हे देव तत्करोमि त्वदर्पणम् ॥८॥

हे देव ! मैं जो कुछ करता हूँ, जो खाता-पीता हूँ, जो भी हवन या दान करता हूँ तथा जो तपस्या करता हूँ—वह अपना सम्पूर्ण कर्म तुम्हें अर्पण करता हूँ ॥ ८ ॥

समस्त्वं सर्वभूतेषु न ते द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु त्वां भक्त्या त्वयि ते त्वं च तेष्वसि९

तुम समस्त प्राणियोंके प्रति समान भाव रखनेवाले हो, न तो कोई तुम्हारे द्वेषका पात्र है और न कोई बड़ा प्यारा ही है; जो तुम्हें प्रेमसे भजते हैं, वे तुममें हैं और तुम उनमें हो ॥ ९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते त्वामनन्यभाक् ।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति१०

नाथ ! अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी यदि अनन्यभावसे तुम्हारा भजन करने लगता है, तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

त्वां हि देव व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्११

हे देव ! तुम्हारा आश्रय ग्रहण करके पापयोनिमें उत्पन्न चाण्डालादि मनुष्य तथा स्त्री, शूद्र और वैश्य भी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

त्वन्मना असि ते भक्तो त्वां यजेऽहं नमामि च ।
यत्प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं दिश ॥१२॥

हे भक्तवत्सल ! मैं तुममें ही अपना मन लगा चुका हूँ,

तुम्हारा ही भक्त हूँ, तुम्हारा ही पूजन और तुम्हें ही प्रणाम करता हूँ। अतः जहाँ पहुँचकर जीव फिर इस संसारमें लौटकर नहीं आते, वह अपना परम धाम मुझे दो—मुझे भी अपने परम धाममें आश्रय प्रदान करो ॥ १२ ॥

त्वया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
त्वत्स्थानि सर्वभूतानि न च त्वं तेष्ववस्थितः १३

तुम्हींने अव्यक्तरूपसे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है। समस्त भूत तुम्हारे ही भीतर स्थित हैं, तुम उनमें स्थित नहीं हो ॥ १३ ॥

न च त्वत्स्थानि भूतानि हन्त ते योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थस्त्वदात्मा भूतभावनः ॥१४॥

तथा वे सम्पूर्ण भूत भी वास्तवमें तुममें स्थित नहीं हैं [क्योंकि तुम सर्वथा असङ्ग हो]। अहो ! तुम्हारा यह ईश्वरीय योग—अचिन्त्य प्रभाव अद्भुत है ! जिससे तुम सम्पूर्ण भूतोंके धारण-पोषण करनेवाले होकर भी उनमें स्थित नहीं हो; तुम्हारा संकल्परूप मन ही इन समस्त भूतोंको उत्पत्ति करनेवाला है ॥ १४ ॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि त्वत्स्थानीत्युपधारये ॥१५॥

मैं तो यह समझता हूँ—ऐसी निश्चित धारणा रखता हूँ कि जिस प्रकार सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूत [कहीं भी रहकर] तुममें ही विद्यमान हैं ॥ १५ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सृजसि त्वं पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥१६॥

तुम्हीं अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको [दृष्टिपातके द्वारा] क्षुब्ध करके [प्राचीन कर्मजनित] स्वभावके बलसे विवश हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उत्पन्न करते रहते हो ॥ १६ ॥

न च त्वां तानि कर्माणि निबध्नन्ति जनार्दन ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥१७॥

हे जनार्दन ! तुम अपने द्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें आसक्त न होकर उदासीन (साक्षी) की भाँति स्थित रहते हो, इसलिये वे कर्म तुम्हें बन्धनमें नहीं डालते ॥ १७ ॥

त्वयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन देवेश जगद्विपरिवर्तते ॥१८॥

सबके अधिष्ठाता और सर्वनियन्ता तुम परमेश्वरसे ही प्रेरित होकर (तुम्हारे ही ईक्षणसे क्षोभको प्राप्त होकर) प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) इस समस्त चराचर जगत्को उत्पन्न करती है, इसी कारणसे यह जगत् बार-बार उत्पन्न होता है—संसार-चक्र सदा चलता रहता है ॥ १८ ॥

अवजानन्ति त्वां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तस्तव भूतमहेश्वरम् ॥१९॥

सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप तुम्हारे परम भावको न जाननेवाले मूढ लोग मानव-देहका आश्रय लिये हुए तुम्हें साधारण मनुष्य मानकर तुम्हारी अवहेलना करते हैं ॥१९॥

महात्मानो हि त्वां नाथ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।२०।

किन्तु हे नाथ ! जिन्होंने दैवी प्रकृतिको अपनाया है, वे महात्मा पुरुष तुम्हें समस्त भूतोंका आदि कारण और अविनाशी जानकर अनन्य चित्तसे तुम्हारा ही भजन करते हैं ॥ २० ॥

सततं कीर्तयन्तस्त्वां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च त्वां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते २१

वे हृदयमें तुम्हारे भजनका दृढ संकल्प लिये सदा प्रयत्नशील रहकर तुम्हारा ही कीर्तन और तुम्हें ही भक्तिभावसे प्रणाम करते हुए नित्ययुक्त होकर तुम्हारी उपासना करते रहते हैं ॥ २१ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तस्त्वामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥२२॥

तथा कुछ अन्य उपासकगण ज्ञानयज्ञके द्वारा तुम्हारा पूजन करते हुए एकत्वभावसे अर्थात् 'सारा जगत् एकमात्र भगवान् वासुदेवका ही स्वरूप है'—ऐसा समझकर तुझ विराट्-स्वरूप परमात्माकी उपासना करते हैं तथा दूसरे लोग भेद-भावसे (सेव्य-सेवक भाव आदि सम्बन्ध मानकर) नाना प्रकारसे उपासना करते हैं ॥ २२ ॥

जन्म कर्म च ते दिव्यं जनो यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति त्वामेत्यसंशयम् २३

जो मनुष्य तुम्हारे दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य ठीक-ठीक

जानता है, वह देहत्यागके पश्चात् फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता, तुम्हें ही प्राप्त हो जाता है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ २३ ॥

वीतरागभयक्रोधास्त्वन्मयास्त्वामुपाश्रिताः।
बहवा ज्ञानतपसा पूतास्त्वद्भावमागताः ॥२४॥

जो राग, भय और क्रोधसे रहित हो चुके हैं, अपनी अनन्य भावनाके द्वारा तुममें एकाकार हो रहे हैं और जो सब प्रकारसे तुम्हारी ही शरणमें हैं—ऐसे बहुत-से साधु पुरुष ज्ञानरूप तपसे पवित्र हो तुम्हारे स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं ॥ २४ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवस्यात्ममायया ॥२५॥

तुम सब भूतोंके अधीश्वर, अविनाशी स्वरूपवाले और अजन्मा होकर भी अपनी प्रकृतिका आश्रय ले योगमायासे प्रकट होते हो ॥ २५ ॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहे त्वं पुरुषः परः ॥२६॥

तुम इस शरीरके भीतर पुरुष (आत्मा) रूपसे शयन करनेवाले होकर भी इससे सर्वथा अतीत हो। तुम्हीं साक्षी होनेके कारण 'उपद्रष्टा', यथार्थ अनुमति देनेवाले होनेसे 'अनुमन्ता', सबका भरण-पोषण करनेसे 'भर्ता', प्रकृतिस्थ होनेपर 'भोक्ता', सबसे महान् ईश्वर होनेके कारण 'महेश्वर' और शुद्ध सच्चिदानन्दमय होनेसे 'परमात्मा' इस नामसे कहे गये हो ॥ २६ ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मा त्वमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि देवेश न करोषि न लिप्यसे ॥२७॥

हे देवेश! अनादि और गुणातीत होनेके कारण अविनाशी परमात्मा तुम शरीरमें स्थित होकर भी न कुछ करते हो और न (इसके द्वारा घटित होनेवाले कर्मोंसे) लिप्त ही होते हो ॥ २७ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथा त्वं नोपलिप्यसे ॥२८॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र देहमें स्थित होकर भी तुम (गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे) लिप्त नहीं होते हो ॥ २८ ॥

यस्मात्क्षरमतीतस्त्वमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽसि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥२९॥

चूँकि तुम क्षर (भूतसमुदाय) से अतीत और अक्षर (कूटस्थ जीवात्मा) से भी उत्तम हो, इसलिये लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे विख्यात हो ॥ २९ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥३०॥

तुम्हीं जाननेयोग्य परम अक्षर (अविनाशी परब्रह्म) हो और तुम्हीं इस विश्वके परम आधार हो। अब मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि तुम्हीं सनातनधर्मके रक्षक और तुम्हीं अविनाशी सनातन पुरुष हो ॥ ३० ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३१॥

तुम्हीं आदिदेव पुराणपुरुष हो और सत्, असत् एवं उससे परे जो अक्षर (अविनाशी) परब्रह्म है—वह भी तुम ही हो। तुम्हीं ज्ञाता हो, तुम्हीं ज्ञेय हो और तुम ही परम धाम हो। हे अनन्तरूप परमेश्वर! तुमसे ही यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है ॥ ३१ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
तत्त्वमेवासि देवेश परं ब्रह्म सनातनम् ॥३२॥

हे देवेश्वर! जिससे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिसने इस सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त कर रक्खा है—वह सनातन परब्रह्म तुम्हीं हो ॥ ३२ ॥

सर्वस्य च त्वं हृदि सन्निविष्ट-
स्त्वत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरसि वेदनीयो
वेदान्तकृद्वेदविदेव च त्वम् ॥३३॥

तुम्हीं सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे निवास करते हो; तुमसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होते हैं। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा तुम्हीं जाननेयोग्य हो और वेदान्तके कर्ता तथा वेदोंके ज्ञाता भी तुम्हीं हो ॥ ३३ ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तदोमिति ब्रह्म परं त्वमेव ॥३४॥

वेदके जाननेवाले विद्वान् जिसे अक्षर (अविनाशी अथवा प्रणवरूप) बतलाते हैं, विरक्त त्यागी महात्मा जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसकी अभिलाषा रखते हुए साधक ब्रह्मचर्य-का पालन करते हैं, वह 'ॐकार' वाच्य परब्रह्म परमात्मा तुम ही हो ॥ ३४ ॥

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषः शाश्वतो दिव्य आदिदेवो ह्यजो विभुः ॥३५॥

हे देव ! तुम परब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हो; सर्वत्र व्यापक, अजन्मा, आदिदेव तथा दिव्य सनातन पुरुष भी तुम्हीं हो ॥ ३५ ॥

न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ।
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ॥३६॥

हे भगवन् ! तुम्हारे लीलामय अवतारके रहस्यको न तो देवता जानते हैं और न दानव ही; हे पुरुषोत्तम ! तुम स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हो ॥ ३६ ॥

त्वमेवात्मा हृषीकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
त्वमेवादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥३७॥

हे हृषीकेश ! सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित सबके आत्मा तुम्हीं हो; तथा तुम्हीं समस्त भूतोंके आदि, मध्य और अन्त हो ॥ ३७ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तत्त्वमसि प्रभो ।
न तदस्ति विना यत्स्यात्त्वया भूतं चराचरम् ॥३८॥

हे प्रभो ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी तुम्हीं हो । चर और अचर कोई भी ऐसा भूत नहीं है जो तुमसे व्याप्त न हो ॥ ३८ ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छामि तव तेजोंऽशसम्भवम् ॥३९॥

भगवन् ! इस जगत्में जो-जो ऐश्वर्ययुक्त, शोभासम्पन्न और विशेष प्रभावशाली वस्तु है, मैं वह सब तुम्हारे ही अंशसे उत्पन्न हुई समझता हूँ ॥ ३९ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन मया प्रभो ।
विष्टभ्य त्वमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४०॥

अथवा हे प्रभो ! मेरे द्वारा तुम्हारी विभूतिरूपसे जानी हुई इन बहुत-सी वस्तुओंको गिनानेसे क्या लाभ ? (थोड़ेमें इतना ही कह देना चाहता हूँ कि) तुम इस सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हो ॥ ४० ॥

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।
योगेश्वर नतोऽस्मि त्वां त्वच्चित्तं सततं कुरु ॥४१॥

हे समस्त भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतेश्वर ! हे देवदेव ! हे जगत्पते ! हे योगेश्वर ! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ । प्रभो ! कृपा करके ऐसा कर दो, जिससे मेरा चित्त सदा तुममें ही लगा रहे ॥ ४१ ॥

अनन्यचेताः सततं यस्त्वां स्मरति नित्यशः ।
तस्य त्वं सुलभो देव नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥४२॥

क्योंकि हे देव ! जो अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर तुम्हारा स्मरण किया करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये तुम्हारा मिलना सहज हो जाता है ॥ ४२ ॥

त्वामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥४३॥

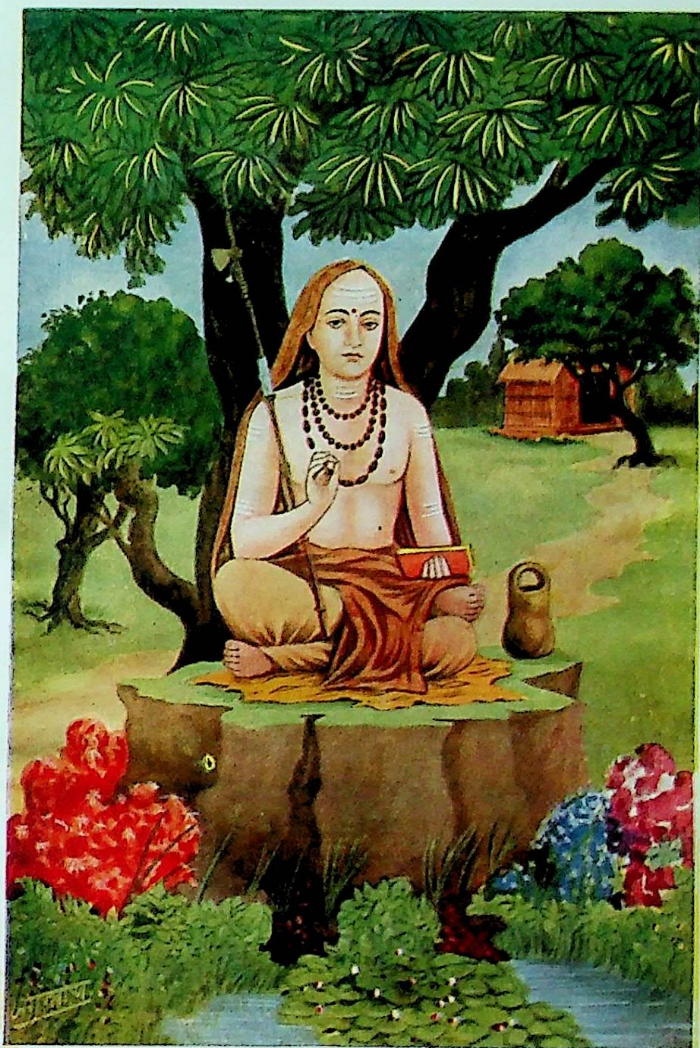
परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन तुम्हें पाकर फिर दुःखोंके स्थानभूत क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ॥ ४३ ॥

मम ह्येवानुकम्पार्थं बुद्धेरज्ञानजं तमः ।
नाशयस्वात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥४४॥

प्रभो ! अब मुझपर ही अनुग्रह करनेके लिये तुम मेरे अन्तःकरणमें स्थित होकर प्रकाशमय ज्ञानरूप दीपकसे मेरी बुद्धिके अज्ञानजनित अन्धकारको नष्ट कर दो ॥ ४४ ॥

मह्यं सततयुक्ताय भजते प्रीतिपूर्वकम् ।
प्रयच्छ बुद्धियोगं तं येन त्वामुपयाम्यहम् ॥४५॥

सदा तुम्हारे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक तुम्हारा ही भजन करनेवाले मुझ दासको तुम वही तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग दो, जिससे मैं तुम्हें प्राप्त हो जाऊँ ॥ ४५ ॥



श्रीशङ्कराचार्य

श्रीमद्भगवद्गीताकथित मानवजीवनका लक्ष्य

(श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्री११०८ श्रीशङ्कराचार्य श्रीभारतीकृष्ण तीर्थ स्वामीजी महाराज)

अध्यात्म, मनोविज्ञान और आचारसम्बन्धी असंख्यों ग्रन्थ लाखों वर्षोंसे ईश्वरके स्वरूप, जीवात्माके स्वरूप तथा ऐसे ही अन्य गहन विषयोंका विवेचन करते आये हैं और आज भी कर रहे हैं—जो अशिक्षित मनुष्योंके लिये क्लिष्ट और दुरूह हैं तथा जिन्हें असाध्य समझकर वे छोड़ देते हैं, किन्तु जिन्हें समझने और हल करनेकी उत्कट चेष्टा शिक्षित पुरुष सदैव करते रहते हैं उन महान् मनीषियों और दार्शनिकोंके वे समस्त ग्रन्थ वास्तवमें हम सबके मस्तिष्क और हृदयमें स्वभावतः उठनेवाले मानव-जीवनके लक्ष्य और जीव-जगत्‌की मुख्य समस्याओंसम्बन्धी भावोंकी ही पुष्टि और समर्थन करते हैं। अतः हम इस छोटे-से निबन्धमें पाठकोंका ध्यान विषयके इस पक्षकी ओर आकर्षित करते हैं, दूसरे शब्दोंमें यहाँ हम मनुष्यकी स्वाभाविक अन्तर्वृत्तियोंकी परीक्षाकी शैलीसे विषयका प्रतिपादन करना चाहते हैं।

पाँच लक्ष्य

जिस व्यक्तिने इन प्रश्नोंपर दार्शनिक या अन्य विवेचनात्मक ग्रन्थ नहीं पढ़े हैं, वह भी अपने हृदयसे कुछ एक सीधे प्रश्न करके जान सकता है कि तफसीलमें साधारण भेदोंके रहते हुए भी (जिन भेदोंके कारण सत्यान्वेषी साधक और जिज्ञासुके मनमें भ्रम उत्पन्न हो जाया करता है) हममेंसे प्रत्येकके मन, वचन और कर्मकी सारी चेष्टा हमारे हृदयकी पाँच स्थायी प्रेरणाओंका ही परिणाम है, जो पाँच सुस्पष्ट और सुनिश्चित दिशाओंमें प्रकट होती हैं और जो इतनी सार्वभौम हैं कि विस्तृत व्याख्याकी आवश्यकता नहीं रखतीं। अतः यहाँ उनका उल्लेख कर देनेके साथ इतना ही और कह देना पर्याप्त होगा कि वे हम सबके हृदयकी नीचे लिखी पाँच अन्तरङ्ग और स्वाभाविक इच्छाएँ हैं—१-सदा जीवित रहें, २-सब कुछ जान लें, ३-सीमारहित और दुःखलेशरहित आनन्दको प्राप्त हों, ४-सब बन्धनोंसे मुक्त हो जायँ और ५-सब हमारे विचार और इच्छानुसार कार्य करें, हमारी बात मानें।

उनका संस्थान

थोड़ा-सा विचार करनेपर ही यह दिखायी देगा कि इन पाँचों स्थितियोंमेंसे, जिन्हें प्राप्त करनेके लिये हम सब-के-सब (बिना एक भी अपवादके) उत्सुक और सचेष्ट रहते हैं, कोई भी किसी एक मनुष्यमें—चाहे वह जितना भी महान् हो—नहीं देख पड़ती। वास्तवमें ये सब विशेषण उसके हैं जिन्हें संसारके सब धर्म 'ईश्वर' नामसे पुकारते हैं। दूसरे शब्दोंमें अपने ही हृदयके भावों, इच्छाओं और आकाङ्क्षाओंकी इस सीधी परीक्षासे हमें यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि जो ईश्वरके अस्तित्वपर विश्वास नहीं रखते—यही नहीं, जो उसे अस्वीकार भी करते हैं वे भी अज्ञातरूपसे सदैव उन्हीं गुणोंकी प्राप्तिका प्रयत्न करते रहते हैं जो संसारके समस्त धर्मग्रन्थोंमें 'ईश्वर'के गुण कहे गये हैं। अनन्त सत्ता, असीम ज्ञान, अपार और विशुद्ध आनन्द, परम स्वातन्त्र्य और सबपर एकच्छत्र आधिपत्य—ये वस्तुएँ प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। छोटे-छोटे बच्चे भी इनकी इच्छा रखते हैं। इससे स्पष्ट है कि 'नरो नारायणो बुभूषति' (मनुष्य नारायण बनना चाहता है) यह शास्त्रवाक्य एक अत्यन्त वास्तविक मनोवैज्ञानिक सत्य है और मानसिक परीक्षासे प्राप्त यह सत्य हमारी अपनी मन-बुद्धिके द्वारा भी अनुमोदित होता है।

हमारी वर्तमान स्थिति

स्वभावतः इसके आगे हमारे लिये विचार करनेका विषय है—उक्त लक्ष्यको प्राप्त करनेके साधन और उपाय क्या हैं। किन्तु वहाँ पहुँचनेके पहले यह जान लेना आवश्यक है कि हम यात्रारम्भ कहाँसे कर रहे हैं—हमारी वास्तविक वर्तमान स्थिति क्या है ? साधारणतः लोगोंकी यह धारणा रहती है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी स्थितियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं, क्योंकि हम नित्यप्रति देखते ही हैं कि कोई गरीब मजदूर तो अपना दैनिक जीवन-निर्वाह भी कठिनाईसे कर पाता है और साथ ही यह भी देखते हैं कि राजे-महाराजे, लखपती और करोड़पती लोग बड़े आनन्द और मौजसे, भोग-विलाससे भरा आरामतलब जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु यह धारणा वास्तवमें छिछली है—केवल बाहरी वस्तुओंका विचार करके बनायी गयी है—गम्भीर और स्पष्ट परीक्षाका यह परिणाम नहीं है। यदि निर्धन मनुष्यको यह अवसर मिले कि वह उन धनिकोंसे जिनसे वह ईर्ष्या करता है इस विषयपर बातें कर सके अथवा अन्य किसी उपायसे उनके अन्तस्तलका हाल

जान सके तो वह यह जानकर स्तब्ध हो जायगा कि वे धनिक पुरुष भी निर्धनोंका-सा सुख पानेके लिये उनकी उतनी ही ईर्ष्या करते हैं (निर्धनोंका सुख यह है कि वे उन सहस्रों चिन्ताओं, दुःखों और आशंकाओंसे मुक्त होते हैं जो धनिकोंके भाग्यमें विशेषरूपसे पड़ी रहती हैं)। इस प्रकार निर्धन धनिकों और धनी निर्धनोंसे ईर्ष्या करते हैं, जब कि दोनों ही सदैव किसी-न-किसी रूप या परिमाणमें दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करते होते हैं। इसीलिये स्काटलेण्डके कवि राबर्ट बर्न्स इस स्थितिकी स्पष्ट आलोचना इन शब्दोंमें करते हैं—

'The best-laid plans of men and mice oft gang agley'

'मनुष्यों और चूहोंके अच्छे-से-अच्छे उद्योग क्षणभरमें ध्वस्त हो जाते हैं।' वे पुनः-पुनः कहते हैं—'Man was made to mourn' 'मनुष्य रोनेके लिये ही उत्पन्न हुआ था।'

आशावादी लोग तो इसे निराशाकी वाणी कहकर लाञ्छित करेंगे और राबर्ट बर्न्सको (उसकी इस उक्तिको) टाल ही देना चाहेंगे, किन्तु कविके वास्तविक तात्पर्यका अतिक्रमण करना—उसे न मानना—किसीके लिये सम्भव नहीं है। सबको यह स्वीकार करना ही होगा कि कोई मनुष्य चाहे जितने ऊँचे पदपर हो और कुछ दृष्टियोंसे अपेक्षाकृत सुखी भी क्यों न हो, उसके भी हिस्सेमें कुछ-न-कुछ दुःख, कष्ट और चिन्ताओंकी मात्रा अवश्य होती है। संसारमें कोई ऐसा नहीं है जो सर्वांशमें सुखी हो। इसलिये हम सारांशके रूपमें कह सकते हैं कि प्रत्येक जीव किसी-न-किसी दुःखमें रहता ही है और अविच्छिन्न और विशुद्ध आनन्दकी स्थिति शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त करनेकी अभिलाषा भी उसे रहती ही है।

पथमें प्रकाश

इस प्रकार यह निश्चय कर चुकनेपर कि हम कहाँ हैं और कहाँ जाना चाहते हैं (क्या बनना चाहते हैं) अब हम दूसरी बातपर विचार कर सकते हैं और अपने लिये वह मार्ग ढूँढ़ निकालनेका प्रयत्न कर सकते हैं जो हमें यहाँ (वर्तमान स्थिति) से वहाँ (ईप्सित स्थिति) तक ले जाय। यहाँ हमें सर्वप्रथम यह निर्णय करना होगा कि सच्चे रास्तेका ठीक-ठीक पता किससे प्राप्त हो—हम किसे अपना मन्त्री, मार्गदर्शक और सारथी बनावें ? सारथीको चाहे हम ताँगा-वाला कहें, या कोचवान अथवा मोटर-ड्राइवर ही कहें, हमें किसी-न-किसी ऐसे व्यक्तिकी आवश्यकता है जिसपर हम विश्वास कर सकें कि वह हमें मार्ग दिखा सकेगा और गन्तव्य स्थानतक पहुँचा सकेगा। किससे मार्गका परिचय प्राप्त हो—कौन इच्छित स्थानतक ले जाय—यही करुण-पुकार प्रत्येक हृदयसे निकलती है और इसका यथार्थ उत्तर हम तब पा सकेंगे जब हम यह समझ लें कि वे 'नारायण' हैं जिन्हें नर (प्रत्येक मनुष्य) ढूँढ़ रहा है और नारायण ही एकमात्र वह मार्ग जानते हैं। अकेले वे ही हमें उसके विषयमें बतला सकते हैं और लक्ष्यतक—अपने पासतक—पहुँचा सकते हैं।

यह सिद्ध करनेके लिये किसी विशेष तर्ककी आवश्यकता नहीं है कि यदि कभी कोई सारथी जो रास्ता नहीं जानता रथपर ऐसे ही सवारियोंको, जो रास्ता नहीं जानते, बैठाकर ले जाय तो वही गति होती है जिसे उपनिषद्‌के शब्दोंमें—

'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' (अन्धेके द्वारा अन्धोंका ले जाया जाना और दोनोंका गड्ढेमें गिरना) कहा गया है।

ईश्वर ही मार्गदर्शक हैं

इसी प्रकार यह भी विचारणीय है कि हम जो सदा-सर्वदा, प्रत्येक स्थिति और अवस्थामें शान्ति और आनन्द चाहते हैं—उस शान्ति और आनन्दके मार्गका रहस्य किसी ऐसे व्यक्तिसे कैसे पा सकते हैं जिसे स्वयं ही उक्त शान्ति और आनन्द प्राप्त नहीं हैं ? निश्चय ही वहाँका रास्ता तो वही बतला सकता है जो उसपर चला है और चलकर जिसने सफलता प्राप्त की है। इसी दृष्टिसे धार्मिक विवेचकोंने इस आवश्यकताका अनिवार्यरूपसे अनुभव किया है और तदनुकूल यह निरूपण भी किया है कि ईश्वर ही मनुष्य-रूपमें अवतार लेकर मानवताके शिक्षक होते हैं और सन्मार्गसे ले जाकर उसे अभीष्ट लक्ष्यतक पहुँचा देते हैं। भगवदवतारका सिद्धान्त इसी विचारधारापर स्थित है।

सनातनधर्मकी विशिष्टता

इस दृष्टिसे स्थितिकी परीक्षा की जाय तो सबको यह स्वीकार करना होगा कि संसारके अन्य सभी धर्मोंके संस्थापक—

उन्हींके कथनानुसार ईश्वरके भेजे हुए दूत या मसीहा थे अथवा अधिक-से-अधिक (जैसा कि खीष्टीय धर्ममें कहा गया है) ईश्वरके पुत्र थे, किन्तु सनातनधर्मकी यह विशिष्टता है कि यह धर्म स्वयं ईश्वरद्वारा संस्थापित है, और सो भी सृष्टिके आदि-कालसे । अतः यह बुद्धिसम्मत है और यही उचित भी है कि सत्य और सत्यपर प्रकाशका सच्चा जिज्ञासु और अन्वेषक सनातनधर्मके शास्त्रोंमें ही उनका अन्वेषण करे।

सनातनधर्मका सार-गीता

किन्तु यहाँ यह बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है कि सनातनधर्मके शास्त्र एक महान् सीमाहीन और कभी न रीतनेवाले समुद्रके समान हैं । यदि उनके कुछ थोड़े-से खण्डांशोंका भी सन्तोषजनक अध्ययन किया जाय तो एक जन्म तो दूर, हजारों जन्म भी थोड़े होंगे । इसलिये आरम्भमें ही यह आवश्यक है कि हम किसी ऐसे ग्रन्थका आश्रय लें जो हमें थोड़ेमें सम्पूर्ण सनातनी शास्त्रोंका सार बतला दे और जीवनके उद्देश्यसम्बन्धी सरल और प्राथमिक शिक्षासे लेकर उसके उच्चतम उद्देश्यकी पूर्तितक क्रमशः पहुँचा दे । वह ग्रन्थ ऐसा होना चाहिये जो केवल हमारी जातीय भावना या भावुकतावश ही हमें प्रिय न हो वरं जो स्वभावतः उसके विरोधी स्थान कहे जा सकते हैं, उन स्थानोंसे भी उसके पक्षमें स्वतन्त्र और अकाट्य प्रमाण प्राप्त होते हों ।

पाश्चात्य संसारके दार्शनिक साहित्यका—गेटे, कार्लाइल इमर्सन, डायसन, प्रोफेसर मैकेंजी तथा आधुनिक पाश्चात्य देशोंके अन्य महान् दार्शनिकोंकी कृतियोंका साधारण और सरसरी परिचय होनेपर भी हमें यह निश्चय हो जायगा कि भगवद्गीता (भगवान्के वचन अर्जुनके प्रति) ऐसा ही एक सार-ग्रन्थ है । हमारे शास्त्र भी गीताको सनातनधर्मका निष्कर्ष बतलाते हैं—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

उपनिषदों—वेदोंकी दार्शनिक मीमांसाओं—की उपमा गायोंसे दी गयी है और श्रीकृष्ण (जो बाल्यकालमें गोप-जीवन व्यतीत कर चुके हैं और चतुर दुहनेवाले हैं) उन उपनिषद्रूपी गायोंके दोग्धा कहे गये हैं । अर्जुन—जो नर-रूपमें हम सब मनुष्योंके प्रतिनिधि और पक्षसमर्थक हैं, जो 'नर' स्थानीय हैं, वे बछड़े हैं । उन्होंने ही सबसे पहले श्रीकृष्णद्वारा दुही गयी उपनिषद्-गौके दुग्धका आस्वादन किया था । वह दूध उस दिव्य गोप (श्रीकृष्ण) के द्वारा सर्वप्रथम अर्जुनके लिये, किन्तु अर्जुनके उपरान्त मनुष्यमात्रके लिये दुहा गया था; उस अमृतोपम दुग्धका नाम ही भगवद्गीता है । भगवद्गीता कृतयुगमें, त्रेतामें और द्वापरके अन्ततक संसारके सामने प्रस्तुत नहीं की गयी थी । अतः स्पष्ट ही वह विशेषरूपसे कलियुगके हम-जैसे आर्त और त्राणकामी जीवोंके लिये ही रची गयी थी ।

दोनों अमृतोंकी तुलना

श्रीमद्भगवद्गीताको महत् अमृत (अमृतं महत्) इसलिये कहा गया है कि उसे हम उस तुच्छ अमृतसे पृथक् कर सकें जिसे देवता स्वर्गमें पान करते हैं । जिस प्रकार बैंकमें जमा किया हुआ रुपया समय-समयपर उससे निकाला जाता रहे तो कुछ कालमें रिक्त हो जाता है और फिर चेक भेजनेपर रुपये नहीं मिलते (चेक रद्द कर दिया जाता है, सकारा नहीं जाता), ठीक उसी तरह भोगके द्वारा स्वर्गके सुख जो पुण्यात्माओंको मिलते हैं क्षीण होते जाते हैं और अन्तमें—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

(जीवको पृथिवीपर पुनः आना और जन्म लेना पड़ता है ।) किन्तु स्वयं भगवान्के गीतामृतका पान करनेपर हम उन्हें ही प्राप्त हो जाते हैं और फिर वहाँसे कोई आवागमन नहीं होता । इसीलिये भगवद्गीताको 'महत् अमृत' कहा गया है ।

गीताके सार-निर्देशकी आवश्यकता

गीताके इस अति सुस्वादु अमृतका अब हम किञ्चित् पान करनेकी चेष्टा करें । इसके सात सौ श्लोकोंमें इतने विस्तृत विषयोंका संक्षिप्त और सघनरूपसे समावेश किया गया है कि आरम्भसे लेकर अन्ततक उसका पूर्ण अध्ययन करनेमें अनेकों जन्म लग जायँगे । इसलिये इस छोटे-से निबन्धमें उसका विस्तृत अध्ययन कर सकना असम्भव है । तथापि यह तो सम्भव है कि सीधे और सरल उपायसे श्रीगीताजीके हृदयतक हम पहुँच जायँ, उसे समझ लें और इस प्रकार अपनेको इस योग्य बना लें कि हम भविष्यमें अपने सुविधानुसार, जब-जब अवकाश और अवसर मिले तब-तब

अधिक-अधिक विस्तृत और व्यापक अध्ययनद्वारा उसे समझ और आत्मसात् कर सकें।

लक्ष्यपर प्रकाश

प्रारम्भमें ही हमने यह कहा था कि हमारे पाँच लक्ष्य अनन्त सत्ता, असीम ज्ञान, अविच्छिन्न आनन्द, परम स्वातन्त्र्य और सबपर अखण्ड एकाधिपत्य है। भगवत्ताके ये पाँचों उपकरण और भी अधिक संश्लिष्ट और समाहित करके एकमें प्रकट किये जायँ तो हम उसे 'आनन्द' शब्दद्वारा अभिहित कर सकते हैं (क्योंकि शेष चारों उपकरण विश्लेषण करनेपर आनन्दके ही अन्तर्गत हो जाते हैं)। हम यह निर्देश कर सकते हैं कि गीताजीके मूल विषयका अध्ययन आरम्भ करनेके पूर्व ही 'भगवद्गीता' यह शब्द ही हमें ईप्सित लक्ष्य और उसके अधिष्ठानकी ओर सङ्केत करता है। संस्कृतमें 'गीता' शब्दका अर्थ गान है। संस्कृतकी 'अजहल्लक्षणा' के अनुसार गायनका अर्थ केवल गानेकी क्रिया ही नहीं है, उससे आनन्द भी लक्षित होता है। गीत नरकृत नहीं है किन्तु भगवान्कृत है, इससे पुनः-पुनः सूचना मिलती है कि वह आनन्द (जो भगवान्के गीतका है) स्वयं भगवान्के समीप ही प्राप्त होगा, अन्यत्र नहीं।

यात्रारम्भपर प्रकाश

इसी प्रकार हम यह भी देख चुके हैं कि मनुष्यके जीवनमें (वह चाहे जितने उच्च गौरवपूर्ण अथवा ऐश्वर्य-बहुल पदपर स्थित हो) दुःखका अंश रहता ही है। जबतक दुःखका लेशमात्र भी बच रहेगा तबतक मनुष्य पूर्ण आनन्दकी उपलब्धि नहीं कर सकता। यही भाव गीताके प्रथम अध्याय 'अर्जुनविषादयोग'में ही प्रदर्शित किया गया है। दुःखमें होनेके कारण ही मनुष्य ईश्वरसे एकीभूत होना चाहता है, जो पूर्ण आनन्दस्वरूप है।

इस प्रकार यह देखकर कि श्रीगीताजीमें उसी विषयकी चर्चा है जिसके लिये हमारा हृदय तरस रहा है—अर्थात् अनन्त और ऐकान्तिक सुखकी प्राप्ति; और यह जानकर कि वह हमारी दुःखमय स्थितिके ठीक अनुरूप स्थितिका विचार रखती हुई (विषादयोगसे) आरम्भ हुई है, हम गीताजीकी सहायता लें जिससे हमारे मार्गपर प्रकाश पड़ सके और हम वर्तमान दुःखकी स्थितिसे छूटकर शान्ति और आनन्दके लक्ष्यतक पहुँच जायँ।

सम्बन्ध-निर्देश

सारी स्थितिका सारांश संक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि हम 'नर' अपने ध्येय 'नारायण' पदको प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें ठीक वही कार्य करना चाहिये जो गीताके नर (अर्जुन) ने नारायण (श्रीकृष्ण) के प्रति उसी उद्देश्य-सिद्धिके लिये किया था। श्रीकृष्ण और अर्जुनके पारस्परिक सम्बन्ध अनेक और बहुविध थे, किन्तु यहाँ उन सबसे हमारा प्रयोजन नहीं है। हमारा एकमात्र प्रयोजन यहाँ उस सम्बन्धसे है जो अर्जुनके प्रति गीताजीका उपदेश करते समय श्रीकृष्ण और अर्जुनका था। वह सम्बन्ध यह था कि अर्जुन रथी (रथके स्वामी) और श्रीकृष्ण सारथी (रथको निर्दिष्ट दिशामें ले जानेवाले) थे।

दुर्योधनद्वारा भगवान्का अस्वीकार

जब अर्जुन और दुर्योधन दोनों महाभारतके महान् युद्धमें श्रीकृष्णकी सहायता माँगने गये तब श्रीकृष्णने अपनेको दो भागोंमें बाँटकर एक-एकसे उन दोनोंकी सहायता करनेका वचन दिया। एक ओर श्रीकृष्णके शस्त्रास्त्र और सारी सेना थी और दूसरी ओर श्रीकृष्ण अकेले, निरस्त्र और सेनारहित। इन दोनोंमें एकको चुननेके लिये कहे जानेपर दुर्योधन—जैसा कि हम भी प्रायः करते हैं—संख्या और दलकी अधिकताकी ओर विचार करने लगा। गुण और योग्यताका ध्यान उसने नहीं रक्खा। अतः उसने श्रीकृष्णकी महती सेना ही लेना पसंद किया तथा उन अस्त्रोंको लेना स्वीकार किया जिनसे वह पाण्डवोंके विरुद्ध लड़ सके। और अर्जुन (जो दुर्योधन-की अस्वीकृत वस्तुको ही स्वीकार करनेका इच्छुक था) इस बातको अपना अहोभाग्य मानने लगा कि दुर्योधनकी परीक्षामें श्रीकृष्ण (जो समस्त संसारके सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं) अयोग्य सिद्ध हुए और उनको अपेक्षा दुर्योधनने उनकी सेना और शस्त्रोंको ही अपने लिये चुना।

अर्जुनका भगवान्को आत्मसमर्पण

इस प्रकार श्रीकृष्णको अपना सारथी बनाकर अर्जुनने उनसे कहा—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

'मैं आपका शिष्य हूँ (आपकी आज्ञाका पालन करूँगा), आपके चरणोंमें पड़ा हूँ। आप ही यह निर्णय करें कि मेरे लिये क्या श्रेयस्कर होगा और वैसी ही आज्ञा करें।'

सारथीके गुण

उसने नारायणको केवल नाममात्रका सारथी नहीं बनाया किन्तु वास्तवमें अपने रथकी लगाम उनके हाथोंमें सौंप दी कि वे (विना किसीके हस्तक्षेपके) जो चाहें करें। यही सच्ची भक्ति और शरणागति है। हम यह स्मरण रक्खें कि जिस प्रकार मानवीय राजसत्ता नकली मुद्रा बनाने और चलानेवालोंको दण्ड देती है, उसी प्रकार भगवान्के राज्यविधानमें झूठी भक्ति और शरणागति भी दण्डनीय होती है।

हमारा कर्तव्य

अतः हम भगवान् श्रीकृष्णको अपना सारथी बना लें और अपनेको उनके हाथोंमें सौंप दें—न्यौछावर कर दें। वे सर्वज्ञ हैं, हमारे लिये उपयुक्त मार्ग जानते हैं; सर्वशक्तिमान् हैं, वे हमारा रथ वहाँतक पहुँचा सकते हैं; परम दयालु हैं और हमपर दया करनेकी मनमें इच्छा भी रखते हैं। वे केवल भक्तवत्सल नहीं हैं, भक्त-पराधीन भी हैं। यहाँतक कि यह कहना भी अधिक न होगा कि भगवान् तो महान् हैं ही किन्तु भक्त उनसे भी महान् हैं क्योंकि भक्तोंकी इच्छाका उल्लङ्घन भगवान् नहीं कर सकते। जब ऐसी स्थिति है, ऐसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न, भक्त-पराधीन भगवान् हमारे सारथी बन सकते हैं तब चिन्ताकी बात ही क्या रही ? जिस प्रकार द्रौपदी, प्रह्लाद, मीराबाई आदि उनका अटल अवलम्बन कर चुके हैं, उसी प्रकार हम भी करें। और हम उनकी आज्ञाओंका, जो सनातनधर्मके शास्त्रोंके रूपमें हमारे सामने हैं, अनुसरण करें। एक साँसमें (क्षणभरको) उनका भक्त बनना और दूसरी साँसमें (दूसरे ही क्षण) उनकी आज्ञाओंका अपालन करना, दोनों बातें नहीं बन सकतीं। हमें चाहिये कि अविचल विश्वास, श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक उनका पल्ला पकड़ लें।

परिणाम

इसका परिणाम ठीक वही होगा जो अर्जुनको हुआ था, जिसका वर्णन स्वयं गीताजीके अन्तिम श्लोकमें किया गया है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

'जहाँ समस्त योगोंके अधिपति श्रीकृष्ण सारथी हैं और नररूप अर्जुन रथी हैं—वहीं श्री, विजय, भूति और मोक्ष हैं।' किन्तु इस श्लोकमें वर्णित अर्जुन वे नहीं हैं जिन्होंने (देखिये गीता अध्याय १ और २) अपने धनुष-बाण रख दिये थे और आँसू बहा रहे थे और जो भीष्म, द्रोण आदिसे लड़नेकी सम्भावनासे रो रहे थे। यहाँ वे 'धनुर्धर' अर्जुन हैं जो स्वधर्मके अनुष्ठानके लिये (नारायणके आदेशानुसार) धनुष-बाण हाथमें ले चुके हैं।

सारांश

हमें चाहिये कि हम अपने सम्पूर्ण क्षुद्र हृदय-दौर्बल्यको त्यागकर भगवान्के सैनिक बन जायँ और उनके बतलाये हुए अपने स्वधर्मका अनुसरण करें। हम उपनिषदोंकी इस आज्ञाका स्मरण रक्खें—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (दुर्बल और क्षीण हृदयवालोंके लिये आत्मसाक्षात्कार असम्भव है)। हमें संख्याके न्यूनाधिक्यका विचार नहीं करना है, न स्वार्थकी भावनासे कोई कार्य करना है। हमारे हृदयोंमें यह प्रश्न न हो कि 'ऐसा करनेसे हमें क्या मिलेगा ?' प्रश्न तो यह होना चाहिये कि 'भगवान्की भक्ति और प्रेमके लिये हम क्या अर्पण करें ?' यदि हम केवल आदान-प्रदानके भावसे ही काम करेंगे तब तो व्यापारी लेन-देनसे अधिककी आशा नहीं रख सकते। इस प्रकार तो स्वर्गमें भी हमें उतना ही मिलेगा जितना हमने यहाँ परिश्रम करके कमाया है। किन्तु यदि हम श्रीभगवान्के प्रेमवश विश्वास और श्रद्धापूर्वक ही सब कार्य करें तो हमें उनका अपरिसीम प्रेम प्राप्त होगा। लाभ या लेन-देनकी दृष्टिसे भी यह इतना अधिक होगा कि मनुष्यकी बुद्धि ऊँची-से-ऊँची और सुन्दर-से-सुन्दर लोभकी कल्पना करके भी वहाँतक नहीं पहुँच सकती। अतः हमें उचित है कि भगवान्के उस अमूल्य प्रेमकी प्राप्तिके लिये अपनी शक्तिभर शत-प्रति-शत (पूर्ण मात्रामें) उनकी प्रेमपूर्ण सेवा और उनका आज्ञानुसरण करनेकी चेष्टा करें। इसका परिणाम यह होगा कि अपने नियमके अनुसार वे (भगवान्) अपनी शक्तिभर (उनकी शक्ति असीम और अपार है) सौ फीसदी बदलेमें अपना प्रेम देंगे। दूसरे शब्दोंमें वे हमें अपने प्रति एकीभाव प्रदान करेंगे (पूर्णतः अपनेमें मिला लेंगे)। जिसको हमने इस निबन्धके प्रारम्भमें मनुष्यजीवनका लक्ष्य (जिसके पाँच पहलू बतलाये हैं) कहा है, यह उसीकी प्राप्ति है। किसीको इससे अधिककी आवश्यकता ही क्या हो सकती है ?

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय

(लेखक—पूज्यपाद श्री १००८ श्रीरामानुजाचार्यजी शास्त्री, वेदान्तशिरोमणि)

स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः ।
नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः ॥

सब उपनिषदोंके सार-सङ्कलनरूप भगवद्गीतामें तिपाद्य तत्त्व क्या है—इसका विवेचन तथा श्रीमन्नारायणप्रवर्तित श्रीसम्प्रदायके प्रचारक एवं संरक्षक श्री १०८ श्रीरामानुजाचार्य-के भाष्यानुसार गीतारहस्यका दिग्दर्शन कराना इस लेखका उद्देश्य है। ऊपरके श्लोकमें स्वधर्मका अर्थ स्ववर्णाश्रमनियत, शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिकादि कर्म अर्थात्—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

—के अनुसार वर्णाश्रमोचित कर्मयोग है। ज्ञानका अर्थ है भक्तिका अङ्गभूत आत्मविषयक यथार्थ ज्ञान। और वैराग्यका अर्थ है परमात्माके अतिरिक्त सम्पूर्ण विषयोंसे विरक्ति, जो 'परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि' इस प्रमाणानुसार मुमुक्षुओंका स्वभावविशेष है। योगसूत्रमें भी कहा है—'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।' अर्थात् इहलौकिक एवं पारलौकिक विषयोंमें तृष्णारहित होकर चित्तको वशमें कर लेनेका नाम वैराग्य है। भक्तियोग उपर्युक्त अर्थवाले स्वधर्म, ज्ञान और वैराग्यके द्वारा साध्य है। अभिप्राय यह है कि पहले कर्मयोग, ज्ञानयोगके द्वारा आत्मसाक्षात्कार होनेपर ही भक्तियोगका अधिकार प्राप्त होता है; इसी अर्थमें स्वधर्म, ज्ञान और वैराग्य भक्तियोगके साधक हैं। श्रीरामानुजाचार्यके परमगुरु श्रीयामुनाचार्यपाद अपने 'आत्मसिद्धि'नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—

उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकभक्तियोगलभ्य इति। उत्पन्न-भक्तियोगानामपि विशदतमप्रत्यक्षसमानाकारस्य तैलधारावद-विच्छिन्नस्मृतिसन्ततिरूपस्य आप्रयाणादनुवर्तनीयस्य अहरहरभ्या-साधेयातिशयस्य भक्तियोगस्य सत्त्वविवृद्धिसाध्यतया तद्विरोधिरज-स्तमोमूलभूतपापनिबर्हणद्वारेण सत्त्वोपचयहेतुतयोपकारकत्वादात्म-याथात्म्यज्ञानपूर्वकैः परित्यक्तफलसङ्गकर्तृत्वादिभिः परमपुरुषा-राधनैकवेषैर्नित्यनैमित्तिककर्मभिर्भक्तेरुपचीयमानत्वरूपेण साध्य-त्वम्।

सारांश यह है कि कर्मयोग-ज्ञानयोगसे संस्कृत (विशुद्ध) अन्तःकरणमें परिनिष्पन्न अनन्य भक्तियोगके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति होती है। जिनके हृदयमें भक्तियोग उत्पन्न हो गया है, उनके भक्तियोगका स्वरूप है अत्यन्त प्रत्यक्षवत् तथा मरणपर्यन्त तैलधाराके समान अविच्छिन्नरूपसे चलनेवाला तथा प्रतिदिनके अभ्याससे वृद्धिको प्राप्त होनेवाला भगवत्स्मृतिका प्रवाह। यह भक्तियोग सत्त्वगुणकी वृद्धिसे साध्य है तथा आत्माके यथार्थ ज्ञानके साथ-साथ फलासक्ति एवं कर्तृत्वाभिमान आदिके त्यागपूर्वक एक परम पुरुषके आराधनके लिये ही किये जानेवाले नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे सत्त्वके विरोधी रज और तमके मूलभूत पापोंके नाशके द्वारा सत्त्वकी वृद्धि होती है, अतएव ये भक्तिको बढ़ानेवाले हैं और इसी अर्थमें इन्हें भक्तियोगके साधक तथा भक्तियोगको इनका साध्य कहा जाता है।

'महनीयविषये प्रीतिर्भक्तिः' (किसी पूज्य पुरुषके प्रति प्रेम करना भक्ति है) तथा 'प्रीतिपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभि-धीयते' (प्रीतिपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तनको भक्ति कहते हैं)—इत्यादि व्युत्पत्तियोंसे सिद्ध भक्तियोग ही वेदन, उपासन, ध्यानादि शब्दोंद्वारा वेदान्तशास्त्रोंमें सामान्य तथा विशेष रीतिसे मोक्षोपायभूत विधिरूपमें प्रतिपादित किया गया है। तभी तो निखिल वेदके द्वारा वेद्य, गीताके आचार्य भगवान् श्रीकृष्णने भी श्रीमुखसे अपनी प्राप्तिका मुख्य साधन भक्ति-योगको ही बारंबार बतलाया है। यथा—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

'अनन्यभक्तिके द्वारा ही मैं इस रूपमें तत्त्वसे जानने, देखने तथा प्रवेश करनेमें आता हूँ।'

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

'वह परात्पर पुरुष अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होता है।'

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ॥

'मैं जितना हूँ और जो हूँ—यह बात तत्त्वसे भक्तिके द्वारा ही जाननेमें आती है।'

भक्त्येकगोचरः—भक्तेरेव गोचरो नान्यस्येत्यर्थः ।

भक्तिसे ही जाना जाता है, अन्य किसी उपायसे नहीं।

किसी आचार्यपादका सिद्धान्त है कि कर्मसमुचित वाक्यार्थ-ज्ञानके द्वारा आत्मा-परमात्माका साक्षात्कार होता है। परन्तु 'भक्त्यैकलभ्ये पुरुषे पुराणे' इस प्रमाणके अनुसार भक्तियोगके द्वारा ही परमात्मसाक्षात्कार श्रीरामानुजका सिद्धान्त है। अपने गीताभाष्यके उपोद्घातमें स्वयं श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं—

परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगृहीतभक्तियोगमवतारयामास।

'वेदान्तमें जिसको परम पुरुषार्थरूप मोक्षका साधन बताया गया है, ज्ञान और कर्मके फलरूप उस भक्तियोगको ही श्रीभगवान्‌ने गीतामें अपनी प्राप्तिका मुख्य साधन बतलाया है।' अतएव नारायण परब्रह्म श्रीकृष्ण ही गीताशास्त्रमें अज्ञान-संशय-विपर्ययसे रहित परम गति, परम साधन, सबके कारण, सबके रक्षक, सबके संहर्त्ता, सर्वातिशायी, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सब वेदोंके द्वारा वेद्य, सब प्रकारके हेयसे रहित, सर्व पापोंके नाशक तथा सबके एकमात्र शरण इत्यादि स्वभावोंके कारण समस्त वस्तुओंसे विलक्षण पुरुषोत्तम-रूपमें प्रतिपादित हुए हैं। यही सम्पूर्ण गीताशास्त्रका तत्त्वार्थ है। अब गीताके प्रत्येक षट्क एवं प्रत्येक अध्यायके अर्थकी विवेचना की जाती है।

प्रथमाध्यायसे लेकर षष्ठ अध्यायपर्यन्त प्रथम षट्कमें विवेकादि साधनसप्तकके साथ-साथ यम-नियमादि अष्टाङ्गयोगके द्वारा साध्य आत्मसाक्षात्कारके लिये ज्ञानयोग-निष्ठा और कर्मयोग-निष्ठाका वर्णन किया गया है। यथा—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

'संख्या बुद्धिः तयावधारणीयमात्मतत्त्वं सांख्यम्' (बुद्धिके द्वारा निश्चित किया जानेवाला आत्मतत्त्व ही 'सांख्य' है) इस व्युत्पत्तिके अनुसार ज्ञानयोग-निष्ठाका नाम ही 'सांख्य' समझना चाहिये। 'नि+तिष्ठत्यस्मिन्नर्थेऽधिकर्त्तव्ये-ऽधिकारीति निष्ठा।' अधिकारी पुरुष अधिकार करनेके योग्य वस्तुमें स्थिर हो जाय, उसीका नाम निष्ठा है। अथवा 'नियता स्थितिरेव वा निष्ठा'—अर्थात् फलप्राप्तिपर्यन्त स्थिरतापूर्वक उपायके अनुष्ठानको ग्रहण किये रहना निष्ठा है। सारांश यह है कि 'सुखमात्यन्तिकं यत्तत्' इत्यादि प्रमाणोंके अनुसार वैषयिक आनन्दसे विलक्षण तथा इतर समस्त पदार्थोंसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाले सुखस्वभाव प्रत्यगात्म-साक्षात्काररूप सिद्धिके लिये ज्ञानयोग-निष्ठा और कर्मयोग-निष्ठा प्रथम षट्कमें कही गयी हैं।

तदनन्तर सप्तमाध्यायसे द्वादशाध्यायपर्यन्त मध्यम षट्कमें भगवत्तत्त्व-याथात्म्यकी प्राप्ति अर्थात् अनवच्छिन्न (एकरस) आनन्दकी अनुभूतिरूप परम सिद्धि, जिसमें पुरुषार्थकी पराकाष्ठारूप परम सुखकी प्राप्ति होती है, उसके साधनस्वरूप ज्ञानयोग और कर्मयोगसे निष्पन्न भक्तियोगका विस्तारपूर्वक वर्णन है। सप्तमाध्यायके गीताभाष्यमें श्रीरामानुजस्वामी लिखते हैं—

प्रथमेनाध्यायषट्केन परमप्राप्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो निरवद्यस्य निखिलजगदेककारणस्य सर्वज्ञस्य सर्वभूतात्मभूतस्य सत्यसङ्कल्पस्य महाविभूतेः श्रीमन्नारायणस्य प्राप्त्युपायभूतं तदुपासनं वक्तुं तदङ्गभूतमात्मज्ञानपूर्वककर्मानुष्ठानसाध्यं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनमुक्तम्। इदानीं मध्यमेन षट्केन परब्रह्मभूतं परमपुरुषस्वरूपं तदुपासनं च भक्तिशब्दवाच्यमुच्यते तदेतदुत्तरत्र 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' इत्यारभ्य 'मद्भक्तिं लभते पराम्' इति संक्षिप्य वक्ष्यति।

सारांश यह है कि प्रथम छः अध्यायोंमें परम प्राप्तव्यभूत, परब्रह्म, सम्पूर्ण जगत्‌के एकमात्र कारण, निर्दोष, सर्वज्ञ, सर्वभूतोंके आत्मा, सत्यसङ्कल्प, महान् ऐश्वर्यशाली श्रीमन्नारायणकी प्राप्तिकी उपायभूत उनकी उपासनाका कथन करनेके लिये उस उपासनाके अङ्गभूत आत्मज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठानके द्वारा साध्य परमात्माको प्राप्त करनेवाले जीवात्माके यथार्थ स्वरूप और उसको साक्षात् करनेके उपायोंका वर्णन किया गया। अब मध्यम षट्कके द्वारा परब्रह्मभूत परमपुरुष परमात्माके स्वरूप और भक्तिशब्दवाच्य उनकी उपासनाका प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों षट्कोंका सार आगे अष्टादश अध्यायमें 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' से आरम्भ करके 'मद्भक्तिं लभते पराम्' पर्यन्त संक्षेपमें कहेंगे।

तीसरे षट्कमें प्रधान (कारणावस्थामें स्थित) अचिद् वस्तु), पुरुष (बद्ध एवं मुक्त जीवात्मा), व्यक्त (महदादिसे प्रारम्भ कर देव-तिर्यक्-मनुष्यादि प्राणी तथा उनके कार्यसमूह) और सर्वेश्वर—'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' इस प्रमाणके अनुसार पुरुषोत्तम—इन सबका विवेचन अर्थात् परस्परव्यावर्तक धर्मोंका निरूपण तथा ज्ञान, कर्म, भक्ति-प्रभृति जिनका गत दो षट्कोंमें वर्णन किया गया है। सबके

स्वरूपका संशोधन किया गया है। यही त्रयोदश अध्यायके गीताभाष्यके आरम्भमें श्रीरामानुजस्वामीने प्रतिपादन किया है—

पूर्वस्मिन् षट्के परमप्राप्यस्य परस्य ब्रह्मणो भगवतो वासुदेवस्य प्राप्त्युपायभूतभक्तिरूपभगवदुपासनाङ्गभूतं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनं ज्ञानयोगकर्मयोगलक्षणनिष्ठाद्वयसाध्यमुक्तम्। मध्यमे च परमप्राप्यभूतभगवत्तत्त्वयाथात्म्यतन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगनिष्ठा प्रतिपादिता। अतिशयितैश्वर्यापेक्षाणामात्मकैवल्यमात्रापेक्षाणां च भक्तियोगस्तत्तदपेक्षितसाधनमिति चोक्तम्। इदानीमुपरितनषट्के प्रकृतिपुरुषतत्संसर्गरूपप्रपञ्चेश्वरयाथात्म्यकर्मज्ञानभक्तिस्वरूपतदुपादानप्रकाराश्च षट्कद्वयोदिता विशोध्यन्ते।

अर्थात् पहले षट्कमें परमप्राप्य परब्रह्मभगवान् वासुदेवकी प्राप्तिके साधनभूत, भक्तिरूप भगवदुपासनाके अङ्गभूत, प्रापक जीवात्माके साक्षात्कारको ज्ञानयोग और कर्मयोगनामक द्विविध निष्ठाओंके द्वारा साध्य बतलाया गया है। मध्यम षट्कमें परमप्राप्यभूत भगवान्‌के स्वरूपके यथार्थ ज्ञान तथा भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वक अनन्य एवं आत्यन्तिक भक्तियोग-निष्ठाका प्रतिपादन किया गया है। अत्यन्त ऐश्वर्य चाहनेवालों तथा कैवल्य (आत्मस्वरूपप्राप्ति) मात्रकी इच्छा रखनेवालोंके लिये भक्तियोग ही उन-उन अभीष्ट फलोंकी सिद्धिका साधन है, यह बतलाया गया है। अब तृतीय षट्कमें प्रकृति (माया), पुरुष (जीव) और दोनोंके संसर्गरूप प्रपञ्च तथा ईश्वरके यथार्थस्वरूपका ज्ञान और कर्म, ज्ञान तथा भक्तिके स्वरूप और उनके उपादानके प्रकार—जिनका प्रतिपादन प्रथम दो षट्कोंमें किया गया है—इन सबका संशोधन किया जाता है।

अब अध्यायोंके पृथक्-पृथक् सार संग्रहकर पाठकोंके ज्ञानार्थ दिये जाते हैं। बन्धुस्नेहके कारण अत्यन्त कातर तथा धर्माधर्म-विवेकसे मूढ होनेके कारण अत्यन्त व्याकुल-चित्त अतएव शरणागत अर्जुनके उद्देश्यसे गीताशास्त्रका अवतरण प्रथमाध्यायमें किया गया है। द्वितीयाध्यायमें अर्जुनकी मोह-शान्तिके लिये आत्मसाक्षात्कारके उपाय-भूत फलासक्तिरहित कर्मयोग-निष्ठा तथा 'शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते' इस व्यासस्मृतिवचनके अनुसार शुद्धात्म-तत्त्वके ज्ञानरूप सांख्ययोगनिष्ठा एवं स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धि-वाले ज्ञानी) का लक्षण वर्णन किया गया है। परमपुरुषकी प्रीतिके अतिरिक्त स्वर्गादि फलमें आसक्तिका त्यागकर, लोक-संग्रहके लिये प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंमें कर्तृत्वका आरोप कर अथवा—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।

—इस प्रमाणके अनुसार सर्वेश्वरमें समर्पण करके कर्म करनेकी रीतिका वर्णन तृतीय अध्यायमें किया गया है।

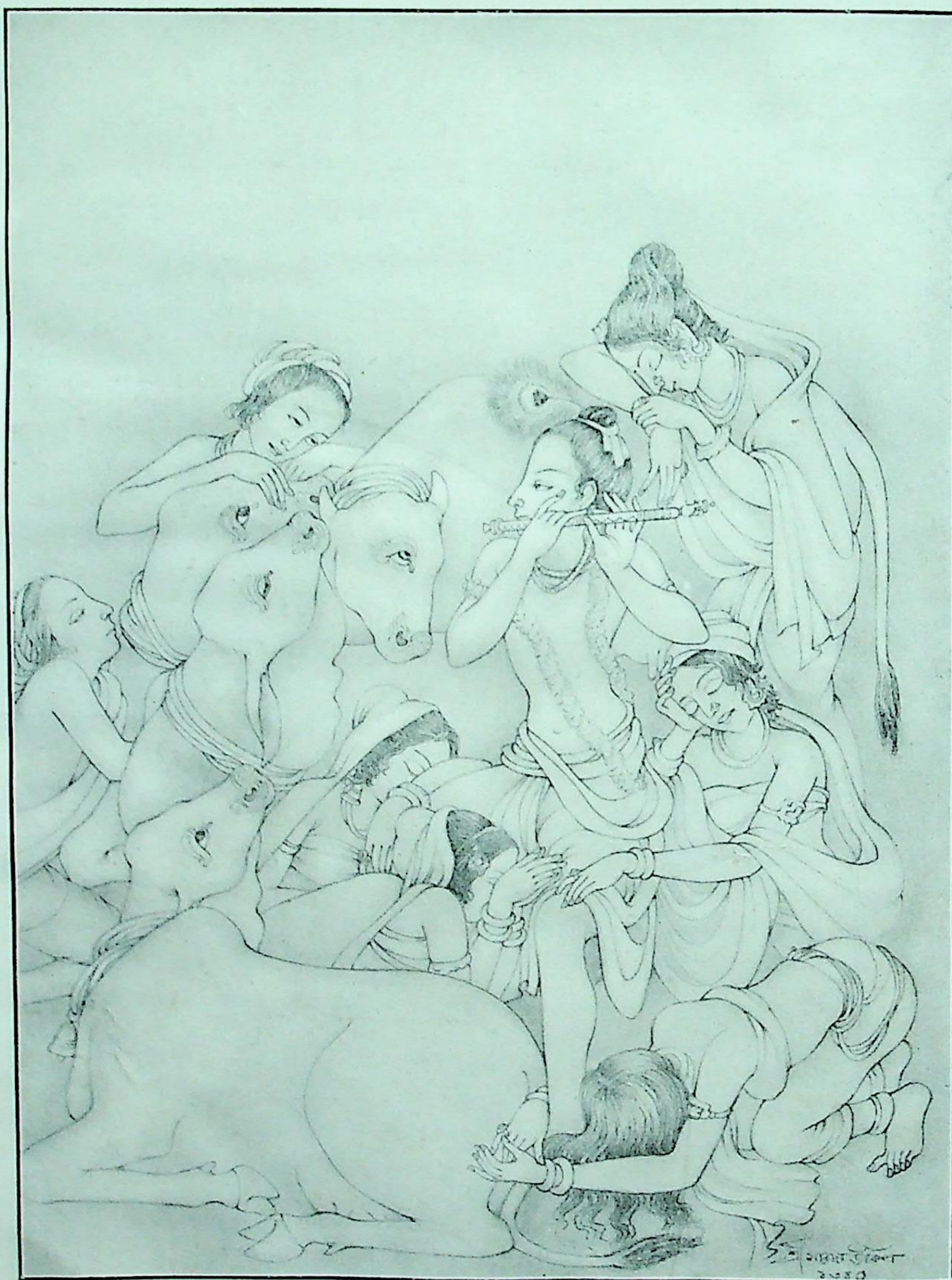
गीताके आचार्य भगवान् श्रीकृष्णने प्रसङ्गतः आश्रित-रक्षण, धर्मसंस्थापन आदि अपना स्वभाव तथा कर्म और अकर्म (आत्मज्ञान) का भेद तथा 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात्' इस प्रमाणके अनुसार ज्ञानके माहात्म्यका वर्णन चतुर्थ अध्यायमें किया है। इसीलिये श्रीरामानुजस्वामीने चतुर्थाध्यायके भाष्यके प्रारम्भमें लिखा है—

तृतीयेऽध्याये प्रकृतिसंसृष्टस्य मुमुक्षोः सहसा ज्ञानयोगेऽनधिकारात् कर्मयोग एव कार्यः, ज्ञानयोगाधिकारिणोऽप्यकर्तृत्वानुसन्धानपूर्वककर्मयोग एव श्रेयानिति सहेतुकमुक्तम्। शिष्टतया व्यपदेश्यस्य तु विशेषतः कर्मयोग एव कार्य इति चोक्तम्। चतुर्थेनेदानीमस्यैव कर्मयोगस्य निखिलजगदुद्धरणाय मन्वन्तरादावेवोपदिष्टतया कर्तव्यतां द्रढयित्वा अन्तर्गतज्ञानतयास्यैव ज्ञानयोगाकारतां प्रदर्श्य कर्मयोगस्वरूपं तद्भेदाः कर्मयोगे ज्ञानांशस्यैव प्राधान्यं चोच्यते, प्रसङ्गाच्च भगवदवतारयाथात्म्यमुच्यते।

अर्थात् तीसरे अध्यायमें, प्रकृतिसे सम्बद्ध (देहाभिमानी) मुमुक्षुको सहसा ज्ञानयोगका अधिकार न होनेसे कर्मयोगका ही साधन करना चाहिये; ज्ञानयोगके अधिकारीके लिये भी कर्तापनका अभिमान न रखते हुए कर्मयोगका साधन ही कल्याणकर है—यह बात हेतुपूर्वक कही गयी है; तथा शिष्ट कहलानेवालेको तो विशेषतः कर्मयोगका ही अभ्यास करना चाहिये, यह भी बतलाया गया है। अब चौथे अध्यायमें, कर्मयोगका जगत्‌के उद्धारके लिये मन्वन्तरके आदिमें ही उपदेश हुआ है—यह कहकर उसके अनुष्ठानके औचित्यका समर्थन करते हुए, ज्ञान उसके अन्तर्गत होनेसे वही ज्ञान-योगके आकारवाला बन जाता है, यह बतलाया जायगा। साथ ही कर्मयोगका स्वरूप और उसके भेद तथा कर्मयोगमें ज्ञानांशकी ही प्रधानता है—यह बात बतलाकर प्रसङ्गवश भगवान्‌के अवतारका तत्त्व समझाया जायगा।

पञ्चमाध्यायमें, आत्मप्राप्तिके साधनोंमें ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाला है—यह बात सिद्ध की गयी है तथा कर्मयोगके अन्तर्गत कर्तापनके अभिमानके त्यागका प्रकार बतलाकर उसके मूलभूत ज्ञानका स्पष्टीकरण किया गया है। 'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते', 'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म

मुरलीकी मोहिनी



मुरली गजब ठगौरी डारी।
गोपी गोप गाय सब मोहे तन-मन दसा बिसारी ॥

नचिरेणाधिगच्छति' तथा 'नैव किञ्चित् करोमीति'— इत्यादि इसके प्रमाण हैं।

षष्ठाध्यायमें, पञ्चमाध्यायगत 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इत्यादि योगविधिका विस्तार तथा 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' इत्यादिके द्वारा योगियोंके चार भेदोंका वर्णन किया गया है। यहीं श्रीरामानुजस्वामी लिखते हैं—

'अथयोगविपाकदशा चतुष्प्रकारोच्यते, एवं तत्र समदर्शनविपाकोऽभिप्रेतः,आत्मनां ज्ञानत्वानन्दत्वादिभिरन्योऽन्यसाम्यदर्शनम्, शुद्धावस्थायामपहतपाप्मत्वादिभिरीश्वरेण साम्यदर्शनम्, परित्यक्ताप्राकृतभेदानामसङ्कुचितज्ञानैकाकारतया ईश्वरेण तदपृथक्सिद्धविशेषणत्वादिभिरन्योन्यं च साम्यदर्शनम्, औपाधिकैः पुत्रादिभिरसम्बन्धसाम्यदर्शनं चेति।'

इसके अतिरिक्त अभ्यास-वैराग्यादि योगसाधन तथा योगसिद्धि अर्थात् योगभ्रष्टको भी प्रत्यवायरहित होकर पुण्यलोककी प्राप्ति, एवं गीताके वक्ता स्वयं वासुदेव भगवान् श्रीकृष्णका भजनरूप स्वयोग—यही विषय षष्ठाध्यायमें प्रतिपादित हैं।

सप्तमाध्यायमें उपास्यभूत परमपुरुष श्री भगवान् गोविन्दके स्वरूपका याथात्म्य और 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य' इस वचनके अनुसार प्रकृतिके द्वारा उनका आवरण, तथा प्रकृतिके बन्धनसे निवृत्तिके लिये भगवत्-शरणागतिकी आवश्यकता, उपासकोंके भेद और ज्ञानीकी श्रेष्ठताका वर्णन किया गया है।

अष्टमाध्यायमें भगवान्के ऐश्वर्य अर्थात् इन्द्र, प्रजापति, पशुपति आदिके भोगोंसे भी उत्कृष्ट भोग, अक्षर ब्रह्मका स्वरूप, अर्थात् विविक्त (शुद्ध) आत्मस्वरूप, 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' इत्यादि वाक्योंके अनुसार शुद्ध आत्मासे लेकर समस्त वेद्यवर्गका निरूपण, उपदेय इष्टफलके अनुरूप परमपुरुषका चिन्तन, अन्तिम प्रत्यय तथा गतिका चिन्तन तथा अधिकारानुसार इनके भेदोंका निरूपण किया गया है।

नवम अध्यायमें उपास्य परमपुरुषका माहात्म्य तथा 'अवजानन्ति मां मूढाः' इत्यादि वचनोंसे मनुष्यावतारमें भी श्रीभगवान्का परत्व, महात्मा ज्ञानियोंकी विशेषता तथा भक्तिरूप उपासनाका स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।

दशम अध्यायमें भक्तिकी उत्पत्ति तथा वृद्धिके लिये भगवान्के निरङ्कुश ऐश्वर्यादि कल्याण-गुणोंकी अनन्तताके वर्णनके उद्देश्यसे सम्पूर्ण जगत्को भगवान्के शरीररूपमें, भगवान्की आत्माके रूपमें, भगवान्के अधीन भगवत्सङ्कल्पसे ही प्रकटित बतलाते हुए उनकी विभूतियोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

एकादश अध्यायमें भक्तियोगनिष्ठावालोंके प्राप्यभूत परब्रह्म भगवान् नारायणके निरङ्कुश ऐश्वर्यका साक्षात्कार करनेकी इच्छा रखनेवाले अर्जुनको अतिशय कारुण्य, औदार्य और सौशील्यादि गुणोंके सागर सत्यसङ्कल्प भगवान्का दिव्यदृष्टि प्रदानकर अपने ऐश्वर्यको यथावस्थित प्रदर्शित करना तथा भगवद्-ज्ञान एवं भगवद्दर्शनकी प्राप्तिके लिये एकमात्र उपाय आत्यन्तिक भगवद्भक्ति ही है, अर्थात् एकमात्र भक्तिके द्वारा ही परमपुरुषकी प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं--इत्यादि विषयोंका निरूपण किया गया है।

द्वादश अध्यायमें, आत्मप्राप्तिके साधनभूत आत्मोपासनाकी अपेक्षा भगवद्भक्तिरूप उपासना ही उपासकोंको यथाभिमत आत्म-परमात्मसाक्षात्कार करानेमें अतिशीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाला एवं सुखसाध्य उपाय है—यह बतलाया गया है, तथा इस उपासनाके प्रकार एवं भगवदुपासनामें असमर्थ साधकके लिये आत्मनिष्ठा तथा अन्य साधनोंका 'अथ चित्तं समाधातुम्' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। अर्थात् भगवान्में चित्तको समाहित करनेमें असमर्थ साधकके लिये श्रीभगवान्ने भगवद्गुणानुवादके अभ्यासका निर्देश किया है, उसमें भी असमर्थ साधकके लिये प्रीतिपूर्वक भगवदर्थ कर्म करनेकी आज्ञा दी है, उसमें भी जो असमर्थ हैं उनके लिये आत्मनिष्ठाका उपदेश दिया है और 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि श्लोकोंमें उसका प्रकार बतलाया है। अन्तमें 'ये तु धर्म्यामृतमिदम्' इत्यादि श्लोकमें भक्तिको ही प्रभुकी अत्यन्त प्रीतिका कारण बतलाया है।

त्रयोदश अध्यायमें देही आत्माका स्वरूप तथा देहका स्वरूप-शोधन, देहातिरिक्त आत्माकी प्राप्तिका उपाय, विविक्त (शुद्ध) आत्मस्वरूप-शोधन तथा स्वाभाविक शुद्ध आत्माका अचित् (माया) के साथ सम्बन्धका हेतु तथा प्रकृतिसे विवेक (पार्थक्य) का अनुसन्धान आदि विषय निरूपित किये गये हैं। इसमें 'अमानित्वमदम्भित्वम्' इत्यादिसे आत्मप्राप्तिका हेतु, 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि'से आत्मस्वरूप-शोधन, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' से बन्धनका हेतु तथा 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' से विवेकानुसन्धानका प्रकार कहा गया है।

चतुर्दश अध्यायमें गुणोंकी बन्धनहेतुताका प्रकार, गुणोंकी निवृत्तिके उपाय, 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्' से गुणोंमें कर्तृत्व, 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते' इत्यादिसे गुण-निवृत्तिके प्रकार तथा 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' से त्रिविध गतिके मूल श्रीभगवान् हैं, इस बातका कथन किया गया है।

पञ्चदश अध्यायमें भजनीय श्रीभगवान्‌को मायायुक्त बद्धचेतन और विशुद्ध, मुक्त, नित्य चेतनसे विलक्षण पुरुषोत्तम, सम्पूर्ण चेतनाचेतनमें व्याप्त तथा भरण-पोषण करनेके कारण और सबका स्वामी होनेके कारण चेतन और अचेतनसे परतत्त्वके रूपमें प्रतिपादन किया गया है।

षोडश अध्यायमें देवासुर-सम्पद्विभागका कथन करते हुए 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' इत्यादिसे शास्त्राधीनिता तथा 'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि' इस वचनसे तत्त्वानुष्ठानका ज्ञान वेदमूलक वर्णन किया गया है।

सप्तदश अध्यायमें अशास्त्रविहित कर्म करनेवालोंको आसुरभावापन्न तथा निष्फल कर्मकारी बतलाया गया है और 'ॐ तत्सदिति' इत्यादि वचनसे शास्त्रविहित कर्मोंके गुणानुसार तीन प्रकार तथा शास्त्रसिद्धके लक्षणोंका वर्णन किया गया है।

अष्टादश अध्यायमें मोक्षके साधनरूपमें निर्दिष्ट संन्यास और त्यागकी एकता, त्यागका स्वरूप, सर्वेश्वर श्रीभगवान्‌में सम्पूर्ण कर्मोंके कर्तृत्वका अनुसन्धान तथा त्रिगुणोंके कार्योंका वर्णन कर सत्त्वगुणकी उपादेयता तथा स्ववर्णोचित कर्मोंके द्वारा परमपुरुषकी आराधना, परमपुरुषकी प्राप्तिके भेद, एवं सम्पूर्ण गीताशास्त्रके साररूपमें भक्तियोगका ही प्रतिपादन किया गया है।

तप, तीर्थ, दान, यज्ञादिके सेवनका नाम कर्मयोग है। शुद्धान्तःकरण पुरुषकी परिशुद्ध आत्मामें स्थितिका नाम ज्ञानयोग है। एकमात्र परब्रह्म परमात्मामें अत्यन्त प्रीतिपूर्वक ध्यानादिद्वारा स्थितिका नाम भक्तियोग है। इन तीनों योगोंका परस्पर सम्बन्ध है। परमात्माके आराधनरूप नित्य-नैमित्तिकादि कर्मोंके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। शुद्ध अन्तःकरण भी आत्मसाक्षात्कारके लिये उपयोगी होता है। आत्मसाक्षात्कार होनेपर उपायविरोधी सम्पूर्ण अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है और तब—

नायं देवो न मर्त्यो वा न तिर्यक् स्थावरोऽपि वा।
ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः॥

—इस प्रकार भगवद्दास्यरूपा एवं आत्मसाक्षात्कारके अनन्तर उदय होनेवाली परमात्माकी परा भक्ति प्राप्त होती है, जिससे जीवात्मा परमात्मपदको प्राप्त हो जाता है। 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो ज्योतिष्टोमः' इत्यादि प्रमाणोंके अनुसार अधिकारियोंको कर्मयोगके द्वारा तत्तत्फलमें राग होनेसे विविध फलोंकी प्राप्ति होती है, वैसे ही अधिकारानुसार भक्तियोग भी सम्पूर्ण फल प्रदान करता है—ऐश्वर्य चाहनेवालेको समग्र ऐश्वर्य, आत्मसाक्षात्कारकी कामना करनेवालेको कैवल्य तथा भगवत्प्राप्तिकी इच्छा रखनेवालेको सर्वदेश, सर्वकाल एवं सर्वावस्थाके अनुरूप भगवत्-कैङ्कर्य प्रदानकर अनन्त सुखकी अनुभूति कराता है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'के अनुसार ज्ञानी तो परम ऐकान्तिक (अनन्य) होते हैं। भगवदधीन ही उनकी आत्मसत्ता (जीवन) होती है; भगवत्-संश्लेष और वियोग ही उनका एकमात्र सुख-दुःख होता है; केवल भगवान्‌में ही उनकी बुद्धि स्थिर है; भगवान्‌का ध्यान, गुणानुवाद, वन्दन, स्तुति और कीर्तनादि ही उनकी आत्मा है तथा भगवान्‌में ही प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियादिको अर्पणकर स्ववर्णाश्रमके आचारसे लेकर भक्तिपर्यन्त समस्त कर्मोंको वे भगवत्प्रीतिसे प्रेरित होकर ही करते हैं। सम्पूर्ण कर्मोंमें उपायबुद्धिका त्याग कर भगवच्चरणारविन्दमें अपने-आपको अर्पणकर वे निर्भर और निर्भय हो जाते हैं—जिसके फलस्वरूप उन्हें भगवद्दास्यमें एकान्त एवं आत्यन्तिक रति, भगवद्धाम तथा नित्य भगवत्सेवाकी प्राप्ति होती है। अतः गीताशास्त्र भगवद्भक्तिप्रधान ही है। यही श्रीवैष्णव-सम्प्रदायके अनुसार गीतार्थ-संग्रह है। अब भगवती गीतादेवीका ध्यान करते हुए विस्तारभयसे इस लेखको समाप्त किया जाता है।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥

'भगवान् नारायणने स्वयं लीला-पुरुषोत्तमावतार धारण करके जिसका भक्तिप्रधान प्रपन्न (शरणागत) अर्जुनको बोध कराया और उन्हीं शब्दोंको आवेशावतार व्यासरूप नारायणने महाभारतरूप पञ्चम वेदके सन्दर्भमें ग्रथित किया—

हे भवबन्धनविनाशकारिणी मातर्गीते ! मैं सदा अद्वैतामृतकी वर्षा करनेवाली तुम्हारा अनुसन्धान करता हूँ।' यहाँ अद्वैतामृतका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये। 'द्वयोर्भावः द्विता द्वितैव द्वैतः, अश्च द्वैतश्च अद्वैतः'—अर्थात् 'प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इस प्रमाणके अनुसार प्रकृति (माया) और पुरुष (जीव), ये दोनों तत्त्व ही द्वैत हैं; तीसरा 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'के अनुसार तथा 'अ इति ब्रह्म', 'अ इति भगवतो नारायणस्य प्रथमाभिधानम्', 'अकारो वासुदेवः स्यात्' इत्यादि श्रुति-प्रमाणोंके अनुसार 'अ'-शब्दवाच्य ईश्वर अर्थात् चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही अद्वैतामृततत्त्व है। उसकी निरन्तर वर्षा करनेवाली भव-भयरूप निदाघसे अभितप्त जनोंकी भागधेयरूपा, चिदाकाश-क्रोडमें क्रीडा करनेवाली प्रेमामृतकादम्बिनी माता गीताका मैं अनुसन्धान करता हूँ।

श्रीभगवद्गीताकी अनुबन्ध-चर्चा

(लेखक—श्रीमाध्वसम्प्रदायाचार्य, दार्शनिकसार्वभौम साहित्य-दर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न, गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)

बहुभिरपि श्रुतिनिकरैर्विमृग्यते यत्परं वस्तु।
स्वामिसुहृत्सुतकान्तीभावं भावयति तद्भावात्॥

इस लेखमें प्रधानतया श्रीभगवद्गीतासम्बद्ध विषयपर कुछ लिखना है; परन्तु सामान्य ज्ञान विना विशेष विषयकी जिज्ञासा नहीं हो सकती, अतएव सामान्य जिज्ञासामें गीताशास्त्रका क्या प्रयोजन है, उसमें क्या विषय है और उसे कौन चाहता है ?—ये तीन प्रश्न उठते हैं। इनका उत्तर क्रमसे यह है—गीताशास्त्रका मोक्ष फल है, मोक्षलाभके उपाय इसका विषय है और प्राणीमात्र इसको चाहते हैं।

इन सब कारणोंसे मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। पुरुष अर्थात् जीव जिसको चाहता है, वही पुरुषार्थ है। जीव प्रधानतया सुख चाहता है, अतः सुख ही मुख्य पुरुषार्थ है। सुख दो प्रकारके हैं, अनित्य और नित्य। अनित्य सुखका नाम काम है और नित्य सुखको मोक्ष कहते हैं। इन दोनों सुखोंके उपाय भी चाहे जाते हैं। अर्थ और धर्म उपाय हैं, इसलिये उनको गौण पुरुषार्थ कहते हैं। इन दोनोंमें धर्म अदृष्ट है और अर्थ दृष्ट है। यही चार अर्थ, धर्म, काम और मोक्षनामक पुरुषार्थ हैं। इन चारोंमें धर्म और अर्थकी अपेक्षा मुख्य होनेके कारण एवं अनित्य कामकी अपेक्षा नित्य होनेके कारण मोक्ष ही उत्कृष्ट है, इसीसे मोक्षको परम पुरुषार्थ कहते हैं।

मोक्षके स्वरूपमें अनेक अवान्तरभेद रहनेपर भी मुख्य दो भेद हैं—कुछ दार्शनिक दुःखके अत्यन्त अभावको मोक्ष कहते हैं और कुछके मतमें नित्यसुखावाप्ति ही मोक्ष है। इसमें फिर दो भेद हैं—(१) नित्यसुख-स्वरूपलाभ और (२) नित्यसुख-स्वरूपानुभव !

इसमें सर्वसमन्वयके सिद्धान्तकी रीतिसे प्रथमसे तो विरोध नहीं रहता। अप्रासंगिक होनेके कारण इसका विवेचन यहाँ नहीं किया जाता। द्वितीयमें रुचिभेदसे दो भेद व्यवस्थित हैं।

इस फलकी प्राप्तिके उपाय भी अवान्तररूपोंसे बहुत प्रकारके हैं, परन्तु इनमें प्रधान उपाय तीन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। अष्टाङ्गयोग भी उपाय है; पर वह स्वतन्त्र नहीं है, व्यञ्जनमें लवणकी भाँति वह तो सर्वानुगत ही है।

इन तीनोंमें कर्मयोगका अनुष्ठान सबसे पहले करना चाहिये, इसी कारणसे कर्मप्रधानवाद भी मूलयुक्त है। तथा कर्मके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ज्ञानप्रकाशोदय तथा प्रेम-प्रभा-विकास होता है, अतएव फलसे व्यवहित कारण होनेसे कर्मका अप्राधान्यवाद भी निर्मूल नहीं है।

ज्ञान और भक्तिमें भी प्रधानाप्रधानभावको लेकर परस्पर सगोत्र कलह है। परन्तु विवेक-दृष्टिसे देखनेपर इस कलहका बीज अज्ञान, दुराग्रह या दुर्वासना ही प्रतीत होते हैं।

वस्तुतः 'ज्ञान' शब्दसे दो प्रकारके ज्ञान समझे जाते हैं—प्रथम तत्त्वज्ञान और दूसरा तत्त्वज्ञानके उपायोंका ज्ञान। इसी प्रकार 'भक्ति' शब्दसे भी दो प्रकारकी भक्ति समझनी चाहिये—एक तो फल-भक्ति, जो प्रेमके नामसे प्रसिद्ध है और दूसरी साधन-भक्ति, जिसके श्रवण-कीर्तनादि अनेक भेद हैं। कार्यकारिता-क्षेत्रमें इन चारोंका क्रम इस प्रकार है—पहली श्रेणीमें उपायज्ञान, दूसरीमें साधनभक्ति, तीसरीमें तत्त्वज्ञान और चौथीमें फलरूप प्रेम-सम्पत्ति। इस अवस्थामें

भक्तिको अङ्ग कहना 'साधनभक्ति' से सम्बन्ध रखता है और ज्ञानको अङ्ग कहना प्रेम-पथिकोंकी दृष्टिसे है ।

यहाँ इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि साधन-अवस्थामें साधक जिस वासनासे साधनानुष्ठानमें प्रवृत्त होगा, उसे तदनुसार ही फलकी प्राप्ति होगी । क्योंकि **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**—यह भगवान्‌के वचन हैं । इस सिद्धान्तके अनुसार ही अन्तिम निर्णय होगा ।

अब रहा वासनाभेद, सो रुचिभेदमूलक है । रुचि-भेद भी अनादि संसारप्रवाहमें अनादि संस्कारोंके अधीन है, इस विषयपर शास्त्रोंने प्रकारान्तरसे विवेचन किया है । जगत्‌में दो तरहकी पकड़ प्रसिद्ध है, 'वानरी धृति' और 'वैडाली धृति' । इनमें अन्तर यह है कि पहलीमें (बंदरीका) बच्चा माताको पकड़े रहता है । और दूसरीमें (बिल्ली) माता बच्चेको पकड़े रहती है । अवश्य ही इन साधनोंसे फल चाहनेवाले सभी प्राणी नहीं होते । ऊपर जो प्राणीमात्रको चाहनेवाला कहा गया है, सो केवल सुख चाहनेके भावसे कहा गया है । कीट-पतङ्गादि प्राणियोंको तो साध्य-साधनका ही ज्ञान नहीं है, अतएव वे कैसे साधनसे सुख चाहेंगे ? जिन प्राणियोंके लिये शास्त्रोपदेश सार्थक है, वही प्राणी इसके अधिकारी हैं; ऐसे प्राणी देवता, असुर और मनुष्यादि समझे जाते हैं । इनमें भी सर्वथा अधिकारी तो मनुष्य ही है ।

इन मनुष्योंमें वासनाके अनुसार दो प्रकार हैं—संसारमें प्रवृत्ति-परायण और संसारसे निवृत्ति-परायण । निवृत्तिपरा-यण मनुष्योंके तीन भेद हैं—१ जो प्रवृत्त हैं किन्तु निवृत्ति चाहते हैं । २ जो निवृत्त हो रहे हैं और ३ जो निवृत्त हो चुके हैं । इन निवृत्तोंमें भी दो भेद हैं—'जीवन्मुक्त' और निवृत्त-अशेष-कर्मफल । विदेहमुक्त भी इन्हींमेंसे कहलाते हैं ।

निवृत्ति-परायणोंमें पहले और दूसरे मुमुक्षु कहलाते हैं तथा प्रवृत्ति-परायण मनुष्यको विषयी या संसारी कहा जाता है । इस प्रकार विषयी, मुमुक्षु और मुक्त—तीनों ही इस गीता-शास्त्रके अधिकारी हैं, इसी भावसे श्रीभगवान्‌ने **'चतुर्विधा भजन्ते माम्'** इत्यादि कहा है । यहाँ दुःख-निवृत्तिकी इच्छा-वालोंको आर्त्त और सुख-प्राप्ति चाहनेवालोंको अर्थार्थी कहा है, प्रकारान्तरसे ये दोनों ही विषयी कहे जा सकते हैं । ये सभी अधिकारी अपने-अपने अधिकारके अनुसार श्रीमद्भग-वद्गीतासे अपने चरम अभीष्टकी प्राप्ति कर सकते हैं । इस अभीष्टकी प्राप्तिमें मनुष्यको परतत्त्वके साथ अनिवार्यरूपसे साक्षात् सम्बन्ध होता है और वह सम्बन्ध इस विषयमें उप-जीव्य-उपजीवकका होता है । जाननेयोग्य सभी विषयोंको श्रुति-स्मृति-सदाचार अनादि कालसे निरन्तर बतलाते आ रहे हैं । श्रुति भगवती वक्तृनिरपेक्ष स्वतन्त्र शब्द होनेके कारण सहजसिद्ध प्रकीर्णरूपसे इसका वर्णन करती है, ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) श्रुतियोंमें बिखरे हुए ज्ञानको एकत्रकर वैसे ही सुशृङ्खलित कर देता है जैसे भिन्न-भिन्न पुष्पोंमें निलीन मकरन्दको बड़ी ही निपुणतासे मधुमक्षिका एकत्र कर लेती है और गीता-शास्त्र उस दुग्धसदृश समुदित दर्शनसे नवनीतवत् सिद्धान्तका प्रकाश कर देता है । अब अधिकारियोंका कर्तव्य इतना ही रह गया कि जैसे रोगी, दुर्बल और स्वस्थ मनुष्योंको अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार समुचित रीतिसे नवनीत सेवन करनेपर ही लाभ होता है, अन्यथा नहीं होता, वैसे ही यथायोग्य अधिकारानुसार श्रीमद्भगवद्गीताका आश्रय ग्रहण करें ।

यद्यपि वेदोंमें परतत्त्व-मार्गके पाँच प्रकार पाये जाते हैं, यथा—१ अद्वैत, २ विशिष्टाद्वैत, ३ शुद्धाद्वैत, ४ द्वैताद्वैत, और ५ द्वैत । इन पाँचों ही प्रकारोंको श्रीमच्छङ्कराचार्यपाद, श्रीमद्रामानुजाचार्यपाद, श्रीमद्वल्लभाचार्यपाद, श्रीमन्निम्बा-र्काचार्यपाद और श्रीमदाचार्य मध्वाचार्य श्रीमदानन्दतीर्था-चार्यपादने अपने-अपने भाष्योंमें तर्कयुक्तियोंके साथ पुष्ट प्रमाणोंसे क्रमसे पल्लवित किया है । जिसे अल्पज्ञ मनुष्य परस्पर विरुद्ध मानते हैं, दुराग्रही जन इनमेंसे एकको मुख्य और दूसरेको गौण कहते हैं; परन्तु वस्तुतः सर्वसामञ्जस्यकी सरणिमें सभीका पर्यवसान एकमें ही होता है ।

अब चौथा अनुबन्ध-सम्बन्ध रह गया—जो शास्त्रीय व्यवहारमें तो अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु साधारणरूपसे जिज्ञासुकी उसके विना कोई क्षति नहीं होती । इससे उसके सम्बन्धमें तटस्थ ही रहना उचित है । यह लेख उस विशेष वक्तव्यकी भूमिकास्वरूप है, जिसका श्रीमद्भगवद्गीताके चरम प्रतिपाद्यसे साक्षात् एवं शाश्वतिक सम्पर्क रहता है । भग-वत्कृपासे कभी अवसर मिलेगा और पाठकोंका उत्साह प्रतीत होगा तो किसी अन्य उपहारको लेकर पुनः रङ्गमञ्च-पर उपस्थित होना सम्भव है ।

आशा है, मार्मिक विज्ञजन इस लेखकी निरपेक्षभावसे आलोचना कर उचितानुचित दिखानेका श्रम स्वीकार करेंगे ।

गीतामें मुक्तिका मुख्य साधन

(लेखक—निम्बार्कसम्प्रदायाचार्य पं० श्रीबालकृष्णशरण देवाचार्यजी महाराज)

योऽन्तर्गतो निखिलजीवधियां नियन्ता
सम्बोधयत्यखिलवेदशिरोऽभिगीतः ।
सुप्तानि विश्वकरणानि च विश्वहेतु-
स्तस्मै नमो भगवते करुणार्णवाय ॥ १ ॥

परम पिता परमेश्वर अपनी इच्छासे क्रीडार्थ अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डमयी इस चित्र-विचित्र विस्मयावह सृष्टिकी रचना करके स्वयं अन्तर्यामिरूपसे प्रत्येक वस्तुमें निगूढ हुए। उन जगन्नियन्ताने वर्षाकी भाँति समानभावसे समस्त प्राणियोंके लिये साधन-सम्पत्तियोंको प्रदान किया। उन्हींकी असीम अनुकम्पासे कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों काण्डोंकी विस्तृत और स्फुट समालोचनासे परिपूर्ण वेद भी प्रकाशित हुआ। तदनन्तर उसी विस्तृत वेद-महोदधिका संक्षिप्तरूपमें बोध करानेवाली इस सप्तशती भगवती श्रीगीताका प्रादुर्भाव हुआ।

इसमें उन-उन साध्योंकी सिद्धिके लिये यद्यपि अनेकों ही साधन-प्रणालियोंका वर्णन है, तथापि भक्तिमिश्रित कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीन इसमें स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं। इन तीनोंमें भी शीघ्रतासे और सुगमतासे भगवद्भावापत्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला साधन प्रधानतया भक्ति ही माना गया है, इसीलिये गीताके तीनों ही षट्कोंमें भगवद्भक्तिकी महिमा अविच्छिन्नरूपसे वर्णित है।

शास्त्रोंमें अङ्गाङ्गिभावसे एवं साध्य-साधनभावसे भक्तिके अनेकों प्रकार मिलते हैं; किन्तु उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गोंसे प्रतीत होता है कि गीतामें मुक्तिका मूल साधन शरणागतिरूप भक्ति ही निश्चित हुआ है। क्योंकि शास्त्र अथवा ग्रन्थोंके तात्पर्यके निर्णायक—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफले ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

१. उपक्रम और उपसंहार, २. अभ्यास, ३. अपूर्वता, ४. फल, ५. अर्थवाद और ६. उपपत्ति—

—ये छः हेतु माने गये हैं। इनमेंसे विशेषतया उपक्रम-उपसंहार और अभ्याससे ही निर्णय हो जाता है।

जबतक अर्जुनने शरणागतिका आश्रय नहीं लिया, तबतक जगदाधारने भी कुछ उपदेश नहीं दिया। किन्तु जब अर्जुनने आर्तस्वरसे पुकारा—

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'

'हे जगदीश्वर! मैं आपका शिष्य हूँ और आपके ही शरण हूँ, मुझको हितप्रद उपदेश कीजिये।

—तब इस प्रार्थनाके साथ-ही-साथ भगवान्ने उपदेश आरम्भ कर दिया। इससे यह सिद्ध होता है कि उपदेश प्रपन्न (शरणागत) को ही किया जाता है।

इसी प्रकार उपसंहारमें भी अन्तिम उपदेश—

'मामेकं शरणं व्रज'

—से शरणागतिका ही किया। अतएव उपसंहार भी शरणागतिमें ही हुआ। एवञ्च मध्य-मध्यमें—

'निवासः शरणं सुहृत्'

—इत्यादि वचनोंसे अभ्यास भी शरणागतिका ही हुआ है। अथ च—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥

१. भगवान्के अनुकूल कर्मोंका संकल्प, २. भगवत्प्रतिकूल कर्मोंका त्याग, ३. प्रभु अवश्य मेरी रक्षा करेंगे ही—यह विश्वास, एवञ्च ४. 'हे कृपासिन्धो! मेरे आप ही रक्षक हैं' यह स्वीकृति, ५. मैं असमर्थ हूँ, इस प्रकारकी दीनता रखना तथा ६. अपनेको प्रभुके चरणोंमें अर्पण कर देना—ये शरणागतिके छहों अंग श्रीगीतामें व्यक्त हुए हैं। जैसे कि छठे अध्यायमें—

'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।'

—यहाँपर भगवद्भजनरूप अनुकूलता शरणागतिका प्रथम अङ्ग प्रदर्शित किया गया।

सोलहवें अध्यायमें आसुरीसम्पत्तिके गुणोंका दिग्दर्शन

कराकर भगवत्प्रतिकूल अहङ्कारादिका त्यागरूप दूसरा अङ्ग बतलाया।

'योगक्षेमं वहाम्यहम्'

—इत्यादिसे विश्वासनामक तीसरा अङ्ग बतलाया—कि मैं मेरे शरणागतोंको यथोचित साधन-सम्पत्ति प्रदान करता हूँ और उनकी रक्षा भी मैं ही करता हूँ।

फिर एकादशाध्यायमें—

'पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य'

—यहाँसे 'प्रसीद देवेश जगन्निवास' तक गोप्तृत्ववरण-रूप चौथा अङ्ग और वहाँ ही 'नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्' इससे दीनतारूप पाँचवाँ अङ्ग निर्दिष्ट हुआ।

अन्तमें—

'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये', 'मामेकं शरणं व्रज'

—इत्यादि कथनोंसे आत्मा और आत्मीय समस्त पदार्थोंका विधि और श्रद्धापूर्वक समर्पण कर देना, यह शरणागतिका षष्ठ अङ्ग व्यक्त हुआ।

अतएव गीतामें भगवद्भावकी प्राप्ति एवञ्च समस्त दुःखोंकी आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्तिका मुख्य साधन भगवच्छरणागति ही निश्चितरूपसे उल्लिखित हुआ है। भगवान्के वाक्योंमें सर्वत्र शरणागति ही ध्वनित होती है। यथा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

'हे अर्जुन! परमश्रद्धासे मुझमें मनको लगाकर जो मेरी निरन्तर उपासना करते हैं—बस, समस्त साधकोंमें वे ही उत्तम साधक हैं।' इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नका समाधान करके प्रभुने प्रतिज्ञा की है कि—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

'जो भक्त अपने किये हुए सभी कर्मोंको मेरे अर्पण करके अनन्यचित्त हो मेरी उपासना करते हैं, उन मेरे अनन्य भक्तोंका मैं इस मृत्युरूपी संसारसे शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ।'

इसके अनन्तर फलात्मक उपदेश करते हैं कि—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

'मन और बुद्धिको निश्चलरूपसे मुझमें लगा दो, फिर निःसन्देह मुझ आनन्दसिन्धुमें ही निवास करोगे; अर्थात् फिर किसी भी क्लेशका तुम्हें अनुभव नहीं होगा।'

अत्यन्त तेजस्वी निर्मल हीरा

'श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रन्थोंमें एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिंड-ब्रह्माण्ड-ज्ञान-सहित आत्मविद्याके गूढ़ और पवित्र तत्त्वोंको थोड़ेमें और स्पष्टरीतिसे समझा देनेवाला, उन्हीं तत्त्वोंके आधारपर मनुष्यमात्रके पुरुषार्थकी अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्थाकी पहचान करा देनेवाला, भक्ति और ज्ञानका मेल कराके इन दोनोंका शास्त्रोक्त व्यवहारके साथ संयोग करा देनेवाला और इसके द्वारा संसारसे दुःखित मनुष्यको शान्ति देकर उसे निष्काम कर्तव्यके आचरणमें लगानेवाला गीताके समान बालबोध-ग्रन्थ, संस्कृतकी तो बात ही क्या, समस्त संसारके साहित्यमें नहीं मिल सकता।······इसमें आत्मज्ञानके अनेक गूढ़ सिद्धान्त ऐसी प्रासादिक भाषामें लिखे गये हैं कि वे बूढ़ों और बच्चोंको एक समान सुगम हैं और इसमें ज्ञानयुक्त भक्तिरस भी भरा पड़ा है। जिस ग्रन्थमें समस्त वैदिक धर्मका सार स्वयं श्रीकृष्ण भगवान्की वाणीसे संगृहीत किया गया है उसकी योग्यताका वर्णन कैसे किया जाय?······

—लोकमान्य तिलक

गीता-तात्पर्य

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

कितने ही विद्वानोंकी भी यह धारणा है कि 'गीता ज्ञानशास्त्र' है। और हमें भी इस साधारण धारणाकी उपेक्षा करनेकी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि गीतामें ज्ञानका निषेध कौन कर सकता है? परन्तु ज्ञानका कौन-सा वस्तुस्वरूप गीतामें कहा है, इतना ही कहना है। इस बातको जानकर प्रकाशित कर देना, यह कोई अशक्य विषय नहीं है। गीता ही कह रही है कि मैं क्या हूँ।

इसपर कितने ही कहते हैं कि गीता कर्मयोगशास्त्र है। और इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि अर्जुनने युद्ध किया है, लँगोटी लगाकर संन्यास नहीं लिया। इतनेपर भी किसी-किसीको सन्तोष नहीं होता, अतएव वे लोग कहते हैं कि गीता न कर्मयोग है और न यह ज्ञानयोग है, गीता तो भक्तिशास्त्र है।

आजकी सुधरी हुई श्रेणी कुछ और ही कहती है। उनका कहना है कि गीता साम्यवाद है। यदि ऐसा न होता तो 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः', 'समत्वं योग उच्यते', 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः' इत्यादि वाक्य क्यों कहे जाते? इनका अर्थ स्पष्ट ही साम्यवाद है।

क्या मैं उक्त वचनोंके विषयमें कह सकता हूँ कि इनमें साम्यवाद नहीं है? इसी प्रकार न मैं ज्ञानका, न कर्मका और न भक्तिका ही निषेध कर सकता हूँ। भगवद्गीतामें सब कुछ है। सब कुछ रहते हुए भी तात्पर्य किसी एकपर ही है। प्रायः यह देखा गया है कि वक्ता लोग सब कुछ कहते हैं, किन्तु उनका तात्पर्य—स्फुट न कहते हुए भी किसी एक विषयपर ही होता है। हृदयकी विशेष प्रीति किसी एकपर ही होती है, अनेकपर नहीं। और वाणीपरसे हृदयको खोज निकालना इतना कठिन नहीं है। नेत्र और वाणी दोनों हृदयको बाहर प्रकट कर देते हैं; अतएव शास्त्रकारोंने वाणीपरसे वक्ताके तात्पर्यको खोज निकालनेके लिये कितने ही उपाय गिनाये हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफले।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये छः ग्रन्थके तात्पर्य जान लेनेके उपाय हैं।

उपक्रमोपसंहार–ग्रन्थका प्रारम्भ और समाप्ति जिस विषयपर हों, प्रायः ग्रन्थका वही तात्पर्य होता है।

अभ्यास–ग्रन्थकार जिस विषयको पुनः-पुनः कहता हो, समझ लेना चाहिये कि ग्रन्थका तात्पर्य भी उसी विषयपर है।

अपूर्वता–वक्ताने जो बात ग्रन्थमें नवीन कही हो, प्रायः उसी विषयपर ग्रन्थका तात्पर्य है।

फल–ग्रन्थके जिस विषयपर फल भी आया हो, तो समझ लेना चाहिये कि ग्रन्थका तात्पर्य भी यही है।

अर्थवाद-इतिहासादि–इतिहासके दृष्टान्त भी जिस विषयको सहारा दें, वही तात्पर्य ग्रन्थका होता है।

उपपत्ति–ग्रन्थकारने जिस विषयपर विशेष समन्वित युक्तियाँ दी हों, प्रायः वही विषय ग्रन्थका तात्पर्य भी होता है।

इस निर्णयके अनुसार यदि कहा जाय तो कह सकते हैं कि गीताका तात्पर्य 'श्रीकृष्णभक्ति'पर है। वास्तव रीतिसे गीताका प्रारम्भ द्वितीयाध्यायके सातवें—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

—इस श्लोकसे होता है। क्योंकि विधियुक्त कर्तव्यका निर्देश इसी श्लोकमें है। अर्जुन कहता है कि 'मैं अपने मनसे अपने कर्तव्यका निर्णय नहीं कर सका हूँ, अतएव आपके शरण आया हूँ; अब आप मुझे अपने कल्याणकारक कर्तव्यका उपदेश दीजिये।' गुरुके किंवा उपास्यदेवके शरण जाना—यह भक्तिमार्गका प्रारम्भ है। वह इस श्लोकसे स्पष्ट हो रहा है; अतएव कहना होगा कि गीताका तात्पर्य भक्तिमार्गपर है।

उपसंहार–गीताकी समाप्ति १८वें अध्यायके ६६वें—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—इस श्लोकमें की गयी है। क्योंकि यह वचन भी विधियुक्त कर्तव्यका निर्णय कर देनेवाला है। इसमें भी भगवान् श्रीकृष्णने अपने शरण आनेके लिये कहा है, इसलिये उपसंहारसे भी स्पष्ट होता है कि गीताका तात्पर्य श्रीकृष्णभक्तिमें है।

अभ्यास—गीताके प्रत्येक अध्यायमें शब्दोंसे किंवा तात्पर्यसे पुनः-पुनः भक्तिमार्गका ही निरूपण स्पष्ट होता है। यदि इसका सङ्कलन किया जाय तो द्वितीयाध्यायके ४५, ५५, ६१, ६४, ७०, ७२वें श्लोकोंसे, तृतीयाध्यायके ३, ९, १३, १५, १७, ३०वें श्लोकोंसे, चतुर्थाध्यायके १०, ११, २३वें श्लोकोंसे, पञ्चमाध्यायके १०, १७, २०, २४, २९वें श्लोकोंसे, षष्ठाध्यायके ६, १४, १८, २०, ३०, ३१वें श्लोकोंसे, सम्पूर्ण सप्तमाध्यायसे, अष्टमाध्यायके ९, १०, ११वें श्लोकोंसे अथवा सारे ही अध्यायसे, सम्पूर्ण नवमाध्यायसे, सम्पूर्ण दशमाध्यायसे, सम्पूर्ण एकादशाध्यायसे, सम्पूर्ण द्वादशाध्यायसे, त्रयोदशाध्यायके १से १८वें श्लोकपर्यन्त, चतुर्दशाध्यायके २६, २७वें श्लोकोंसे, सम्पूर्ण पञ्चदशाध्यायसे, षोडशाध्यायके १से ३तक, सप्तदशाध्यायके ४ और १४वें श्लोकोंसे, अष्टादशाध्यायके १८, २०, ५२वें और ५४वेंसे समाप्तिपर्यन्तके श्लोकोंसे भक्तिमार्गकी सूचना हो रही है। इसलिये अभ्याससे भी गीताका तात्पर्य भक्तिमार्गपर प्रकट होता है।

अपूर्वता—विद्यमान समयमें जिस कर्तव्यकी जनसमाजको अपेक्षा हो और जो शास्त्रानुकूल तथा कल्याणकारक हो, वह विषय 'अपूर्व' कहा जाता है। गीतानिर्माणके पूर्व भी कर्म, ज्ञान और उपासनाके शास्त्र विद्यमान थे; किन्तु उसके बाद लोगोंके अधिकार बदले, शक्तियाँ बदलीं, अतएव रुचि भी बदली। केवल कर्मसे, केवल ज्ञानसे और केवल उपासनासे लोकहित होना असम्भव-सा हो गया। अतएव लोकहित विचारनेके लिये वेदव्यासके रूपमें भगवान्का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान् व्यासजीने 'दध्यौ हितममोघदृक्'के अनुसार खूब विचार किया और वेदके परोक्ष तात्पर्यको प्रकाशित किया। जिस बातकी लोगोंको अड़चन आती थी उसका निराकरण गीताके द्वारा कर दिया। योगका प्रादुर्भाव किया। केवल कर्म, केवल ज्ञान और केवल भक्ति या प्रेम भगवद्धर्म होनेसे मर्यादाके हिसाबसे जीव-धर्म नहीं हो सकते। सत्का रूपान्तर क्रियाकर्म है, यह भगवद्धर्म (अंश) होनेसे जीवका कर्तव्य नहीं होता। ज्ञान भी चिद्रूप होनेसे भगवद्धर्म है, अतएव वह भी जीवधर्म नहीं हो सकता; और प्रेम भी आनन्दका रूपान्तर होनेसे भगवद्धर्म है, अतः जीव-कर्तव्य नहीं हो सकता। कर्मका ज्ञान और प्रेमके विना कार्य नहीं चलता, ज्ञानका कर्म और प्रेम विना फल नहीं मिलता और भक्तिकी भी कर्म और ज्ञान विना फलसिद्धि हो, यह असम्भव है।

मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचित्॥

चकारद्वय देकर यह स्फुट किया है कि तीनों परस्पर सम्मिलित होकर मार्ग किंवा योग होते हैं। कर्ममें ज्ञान और प्रेमका सहारा हो, तब कर्ममार्ग किंवा कर्मयोग कहा जाता है। इसी प्रकार एक दूसरेका सहायक होकर ज्ञानयोग और भक्तियोग होते हैं। यद्यपि वेदादि प्राचीन शास्त्रोंका भी यही आशय था, पर परोक्षरीतिसे था। अनन्तरभव जनता उसको उस रीतिसे न समझ सकी। इसीको स्पष्ट करनेके लिये व्यासभगवान्का अवतार हुआ। अतएव उन्होंने श्रीमद्भागवतमें इसको स्फुट कर दिया। ज्ञान-भक्तिसहित वैदिककर्मकी व्यवस्था कर दी।

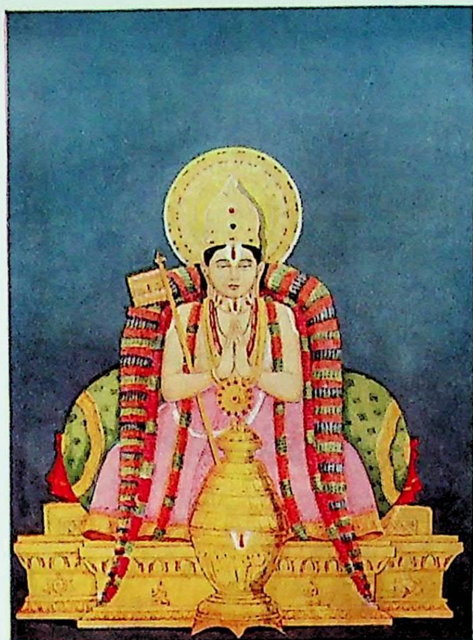
चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।
व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै[1] वेदमेकं चतुर्विधम्॥
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिति॥
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्धृदयं ततः॥

होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—चारों मिलकर एक कर्मका सम्पादन करते हैं। होता, अध्वर्युका काम क्रियासम्बन्धी है। उद्गाताका काम देवभक्तिसे सम्बन्ध रखता है और ब्रह्माका कर्म विचार (ज्ञान) सम्बन्धी है। अर्थात् यज्ञादिरूप कर्म ज्ञान और भक्तिके द्वारा सम्पत्तिवाला होता है। किन्तु पहले इस विषयके मन्त्र अव्यवस्थित—खिचड़ी हो रहे थे, व्यासजीने उस अवस्थाके मन्त्रोंसे फलसम्पन्न कर्मका होना असम्भव देखकर यज्ञकी सम्पन्नपरम्परा चली न जाय, इसलिये उस मिले हुए वेदके चार विभाग व्यवस्थित कर दिये। अब वह कर्मयोग हो गया। तथापि दुर्भग प्रजाकी

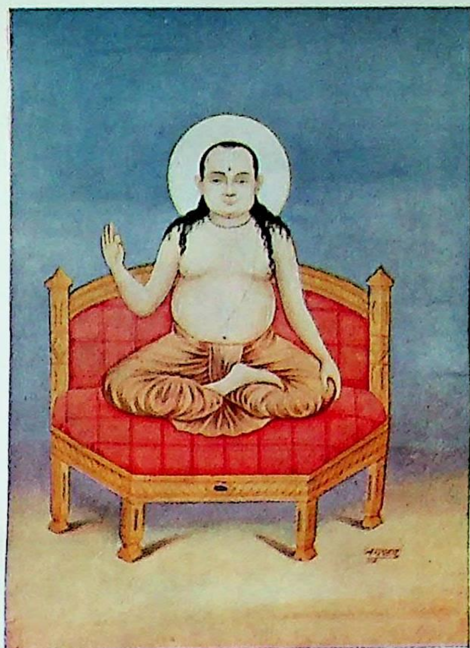
१—भौतिककालकृतदोषदूरीकरणसमर्थः। अकुशरतया निरूपणाद्बुद्धिसौकर्येण यज्ञसन्ततिः॥ तेषामपेक्षितधर्मप्रतिपादकः पञ्चमो वेद इतिहासपुराणाख्यः। भागवता धर्मास्तु स्वतन्त्राः। ते ह्यन्यशेषेण निरूपिता न निरूपिता एव। आनुशासनिके हि कालादिशेषत्वेन निरूपिताः॥

(भाग० १ स्क० ४ अ० तत्र सुबोधिनी)।

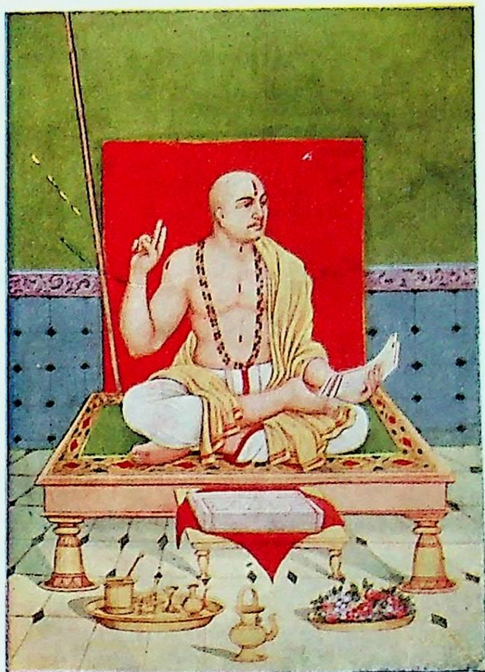
गीताप्रचारक आचार्य



श्रीरामानुजाचार्य



श्रीनिम्बार्काचार्य



श्रीमध्वाचार्य



श्रीवल्लभाचार्य

ओर देखकर उसी बातका स्पष्ट निर्देश करनेके लिये भारत-आख्यान और कतिपय पुराणोंका भी निर्माण किया। कर्मसे किस प्रकार फलसिद्धि मिल सकती है, इस बातको हृदयमें रखकर भारतस्थ गीतारूप भगवद्वचनका अनुवाद हुआ।

यह हुआ सही, पर फिर भी दुर्मेधा प्रजा मेरे गीतोक्त सूक्ष्म आशयको समझ सकेगी या नहीं ? यह सन्देह बना ही रहा। हृदयको सन्तोष न हुआ तब श्रीमद्भागवतमें दृष्टान्तोंके द्वारा इस बातको विस्तारपूर्वक समझाया कि कर्म, ज्ञान, भक्ति परस्पर एक दूसरेसे मिलकर फलसमर्पक मार्ग, उपाय या योग होते हैं। यही बात गीतामें सूत्ररूपसे कही गयी है। गीता सूत्र है तो श्रीमद्भागवत उसका भाष्य है। गीताके ही तत्त्वको श्रीमद्भागवतमें विस्तारपूर्वक कहा गया है। भगवद्गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों हैं सही, पर तीनों परस्पर मिलकर तीन उपाय हुए हैं। एक अङ्गी, दूसरे उसके ही अङ्ग। और इस तरह माननेसे ही गीताकी सङ्गति लग सकती है। कोई ऐसा अध्याय नहीं जिसमें तीनोंका प्रतिपादन न आया हो और तीनोंका परस्पर समन्वय भी न आया हो। वास्तवमें देखा जाय और किसी बातको हृदयमें न रखकर विचार किया जाय तो श्रीकृष्णभक्तिपर ही गीतामें विशेष भार दिया गया है। अर्थात् गीतामें ज्ञान-कर्मसहिता भगवद्भक्तिका प्रतिपादन है और यही यहाँ अपूर्वता है। अतएव अपूर्वताके सिद्धान्तसे भी गीतामें श्रीकृष्णभक्तिका ही निरूपण है।

फल—फलकी ओर यदि दृष्टि डाली जाय तो गीतोपदेशका फल हुआ है—भगवान्‌की आज्ञाका पालन। भगवान्‌की बारंबार आज्ञा यही है कि 'युद्ध कर'। तदनुसार अर्जुनने युद्ध किया ही। अन्तमें कहा भी है कि 'करिष्ये वचनं तव' आपकी आज्ञानुसार करूँगा। भगवदिच्छानुसार और भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही भक्तको करना चाहिये, यह भक्तिमार्गका सिद्धान्त है। अतएव फलसे भी गीताका तात्पर्य भक्तिमार्ग है।

अर्थवाद-इतिहास—जनकादिका दृष्टान्त देकर भी यही समझाया है कि भगवान्‌में समर्पण करके ही सब काम करे। इसलिये अर्थवादके द्वारा भी गीताका तात्पर्य भक्तिमार्ग ही है।

उपपत्ति-युक्ति—युक्तियोंसे भी यही सिद्ध है कि भक्तिके द्वारा ही फलसिद्धि शीघ्र और सरल रीतिसे होती है। प्रत्युत १२वें अध्यायमें तो ऐसा प्रश्न ही किया है और भगवान्‌ने उसपर अपना सिद्धान्त कहा है।

अर्जुन प्रश्न करता है कि 'भगवन्! जो लोग इस तरह सर्वदा रूपसेवा और नामसेवामें लगे रहनेवाले हैं वे, और जो कितने ही किसीके समझमें न आनेवाले अक्षरब्रह्मके विचारमें सर्वदा लगे रहनेवाले हैं वे—इन दोनोंमें कौन-से साधक उपाय-चतुर—साधन-कुशल कहे जा सकते हैं?'

इसके उत्तरमें श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं कि 'हे अर्जुन! जो लोग अपने मनको मुझमें फँसाकर पूर्ण श्रद्धासे सर्वदा मेरी सेवा करते रहते हैं, मुझे तो वे ही उपाय-कुशल मालूम होते हैं।'

इस प्रश्नोत्तरसे स्पष्ट ही भगवान्‌का क्या तात्पर्य है, यह प्रकाशित हो जाता है। सबसे बड़ी युक्ति तो यह है कि जो सर्वेश्वर हैं, स्वतन्त्र हैं, सर्वज्ञ हैं तथा उत्कृष्ट करुणाकर होकर फलदाता भी स्वयं ही हैं—उनकी भक्ति करनेसे ही फलसिद्धि शीघ्र और सहज हो सकती है। और प्रायः सारी गीतामें यही समझाया गया है।

हमें यह मान्य है कि गीता सब तरहकी समझोंसे भरा हुआ शास्त्र है, अतएव ज्ञानशास्त्र भी है; पर वह ज्ञान भक्तिके लिये है, यह मानना ही होगा। सारी गीतामें प्रायः भगवान्‌ने अपना स्वरूप समझाया है—'मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा हूँ' इत्यादि-इत्यादि कहकर। पर वह भी अपनी भक्ति करानेके लिये।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
'ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।' 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'

—इत्यादि वचनोंसे भगवन्माहात्म्य और स्वरूपज्ञानको परमोत्तम कहा है। पर साथ-साथ गीताहीमें यह भी कहा है कि—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्॥
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

ज्ञान और भक्ति—इन दोनों साधनोंपर यदि तुलनात्मक विचार किया जाय तो कहना होगा कि भगवान्‌को भगवद्भक्ति ही विशेष अभीष्ट है ।

कितने ही कहते हैं कि कर्म, ज्ञान और भक्ति तथा भगवत्स्वरूप-ज्ञान—इन सभी विषयोंको कहनेवाली गीता है, यह माननेसे तो वाक्यभेद-दोष आवेगा; इसलिये गीताका विषय तो एक ही मानना उचित है । इसके उत्तरमें हमें कहना है कि गीतामें एक ही विषय अनेक प्रकारसे कहा गया है । विषय एक ही है, अतएव वाक्यभेद नहीं होता । भक्ति-मार्गमें विषयको पूर्णतया जान लेनेकी बड़ी अपेक्षा है । अतएव विषयको ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फलकी दृष्टिसे जानना है ।

परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण ही गीताका विषय है । और भक्तिका विषय भी यही है । अपने आपके कहने और समझानेमें आप ही प्रमाण है, अतएव भगवान्‌ने अपना स्वरूप निर्देश करनेमें वेदादि प्रमाण न देकर अपने वचन ही प्रमाण रक्खे हैं । 'अहं सर्वस्य प्रभवः', 'मत्तः परतरं नान्यत्' 'भजस्व माम्' इत्यादि प्रमाण-दृष्टिसे भी गीताका विषय श्रीकृष्ण है । अब यदि प्रमेयकी दृष्टिका विचार किया जाय तो भी यही बात सिद्ध होती है ।

दशमाध्यायमें जब सब कुछ प्रमेय अपना ही स्वरूप-अंश कहा, तब यह बात केवल अपने वचन-प्रमाणद्वारा समझायी गयी । कदाचित् इसमें किसीको सन्देह हो, इसलिये फिर प्रमेयका दर्शन कराना पड़ा । यह विश्वरूपदर्शन है । विश्व-का असङ्कुचित अर्थ है सम्पूर्ण । अर्थात् गीतामें अर्जुनके वचनोंद्वारा जो वर्णन किया गया है उतना ही नहीं, किन्तु जितना अपरिमेयस्वरूप श्रीकृष्णने वर्णन किया था वह सभी अर्जुनको दिखाया । जो अप्रमेय है, वह प्रमेय नहीं हो सकता । अतएव भगवान्‌ने दिव्य (अपनी) दृष्टि अर्जुनको दी । विरुद्धधर्माश्रय भगवान्‌को देखनेका या समझ लेनेका अधिकार जीवका नहीं है । उस स्वरूपके लिये भगवद्दृष्टिकी अपेक्षा है । वही भगवान्‌ने अर्जुनको दी । और यह बात गीतामें कह भी दी है ।

> मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
> रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।

'प्रत्यक्षसे पर जो यह मेरा स्वरूप है, वह तुझको मैंने अपने सामर्थ्यसे किंवा आत्मीय उपायसे ही दिखाया है, त्वत्कृतिसाध्य उपायसे नहीं दिखलाया है ।' और इसीलिये इस रूपके लिये कई बार 'अद्भुत' शब्द आया है । विरुद्ध धर्मोंसे भरा हुआ स्वरूप अद्भुत है । और 'अद्भुत' शब्द भी जीवदृष्टिकी अपेक्षासे कहा है । वास्तवमें भगवान्‌के स्वरूपमें कोई बात अद्भुत नहीं है । वहाँ सब कुछ साधारण है । अतएव अप्रमेय कहा जाता है । इसलिये गीतामें प्रमेयकी दृष्टिसे भी भगवान् श्रीकृष्ण ही विषय है ।

कितने ही कहते हैं कि साधनकी दृष्टिसे तो द्वैत मानना ही पड़ेगा । भगवत्प्राप्ति साध्य है और ज्ञान, भक्ति तथा कर्म साधन हैं । यदि गीतामें ये हैं तो अवश्य द्वैत मानना होगा । और त्रिविध साधनोंका वर्णन गीतामें है, इसलिये वाक्यभेद भी हो जायगा । इसके उत्तरमें कहना है कि साधन (उपाय) साध्य (फल) की दृष्टिसे भी पदार्थान्तर नहीं होता । प्रकारभेद मात्र है । विषयभेद नहीं है । अनेक प्रकारसे भगवान् ही विषय रहता है । साधन भी भगवान् है और साध्य (फल) भी भगवान् है । साध्य भगवान् है, वह यदि पदार्थान्तररूप साधनसे प्राप्त है तो असमर्थ है । श्रीकृष्ण असमर्थ नहीं हैं, वे स्वप्रकाश ही हैं । उनकी प्राप्ति उन्हींसे होती है; उनका ज्ञान उन्हींसे होता है, अन्यसे नहीं ।

यह श्रौत सिद्धान्त सबने स्वीकार कर लिया है कि भगवान् 'अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप' हैं । 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस श्रौत सिद्धान्तके अनुसार यह भी सबको स्वीकार करना होगा कि उसी स्वरूपमें उसके सच्चिदानन्दधर्म भी विद्यमान हैं । तेज सूर्य है, यह भी ठीक है और 'तेजस्वी सूर्यः' यह भी ठीक है । वह वस्तु ही ऐसी है । जहाँ वस्तु ही विरोधका परिहार कर देती हो, वहाँ विरुद्ध धर्मोंका दर्शन रहते भी उसे वैसा ही मानना पड़ता है । वे भगवान् सच्चिदानन्द-स्वरूप भी हैं और सत्, चित्, आनन्द—ये उनके धर्म भी हैं । धर्म और धर्मीका ऐक्य रहते भी समझने-समझानेके लिये उनको भिन्न भी मानना पड़ता है । सत् स्वरूप है तो क्रिया उसका धर्म है, चित् स्वरूप है तो ज्ञान उसका धर्म है और आनन्द स्वरूप है तो प्रेम या प्रीति उसका धर्म है । जहाँतक ये तीनों भगवद्धर्म रहते हैं वहाँतक जीवकृतिसाध्य नहीं होते । सारे जगत्‌के पैदा करनेकी क्रिया जीवकृतिसाध्य नहीं, पर भगवद्धर्म होनेसे भगवत्कृतिसाध्य होती हैं । अतएव श्रुति कहती है—'स सर्वं भवति', 'सर्वे आत्मानो व्युच्चरन्ति', 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' । ये सब क्रियाएँ भगवद्धर्म हैं । इसी तरह

चित् और आनन्दके विषयमें भी समझ लेना उचित है। विस्तारके भयसे इस विषयको मैं यहाँ ही छोड़ देता हूँ।

पर 'बुद्धिसंयोगं लभते', 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः', 'इदं तु ते गुह्यतमम्', 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' इत्यादि भगवद्वचनोंके अनुसार भगवान् अपने धर्मोंका दान जीवके लिये करते भी हैं—क्रीडाके लिये कुछ दिनके लिये आत्मीय सेवकोंको अपने क्रिया, ज्ञान आनन्दादि धर्म उधार दिये जाते हैं। यह भगवान्का अनुग्रह है। उस समय वे धर्म, कर्म, ज्ञान और प्रेम या भक्ति कहे जाते हैं। और वे जीवधर्म कहे जाते हैं, जीवके उद्धार करनेवाले उपाय हो जाते हैं। इस तरह साधन भी वही हैं और फल भी वही हैं। वे सर्वसमर्थ हैं—'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः'। साधन भी सच्चिदानन्द हैं और फल भी सच्चिदानन्द हैं। अतएव गीताका विषय भी एक ही है।

ऐसी अवस्थामें अब यहाँ कई एक विचार होते हैं कि जब भगवान् स्वयं अपने तत्त्व या स्वरूपका उपदेश कर रहे हैं, तब ऐसे सर्वोत्तम उपदेशके आदिमें अभक्त और भक्त-द्वेषी धृतराष्ट्रकी वाणीसे ग्रन्थका प्रारम्भ करना उचित नहीं मालूम पड़ता। और उसके पुत्र दुष्ट दुर्योधनादिकी चर्चा भी प्रारम्भमें ठीक नहीं लगती। अर्जुन क्षत्रिय है, उसका इस तरह समयपर घबरा जाना भी आदिमें कहना उचित नहीं है। कदाचित् उपदेश देनेमें अर्जुनका विषाद ही कारण हुआ है, यह समझकर इसका समाधान करें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उपदेशके पूर्व ही विषाद हो जानेसे उपदेश श्रवण करनेमें अर्जुनको चित्तविक्षेप होना सम्भव है। क्योंकि उपदेश-श्रवणके समय शान्तिकी अपेक्षा है और विषाद तो शान्तिका भङ्ग करनेवाला है।

इससे यह भी विदित होता है कि जिसको श्रवणके समय विषाद और अशान्ति है, उस अर्जुनको उपदेश सुननेका अधिकार ही नहीं रहता। इसलिये उस विषादको दूर करनेके प्रारम्भमें भगवान्को कोई अनुरूप लौकिक आख्यायिका कहनी थी—न कि शान्त, दान्त अधिकारीके योग्य आत्मतत्त्वका निरूपण! जिस प्रकार उपक्रमपर सन्देह-तर्क होते हैं, उसी तरह उपसंहारपर भी अनेक तर्क होते हैं। उपदेश सुन लेनेके बाद अर्जुनको भी ब्रह्मविद्याका श्रवण कर लेनेसे वैराग्य उत्पन्न हो जाना चाहिये था। और उस वैराग्यसे राज्य आदि सब अनात्मवस्तुओंका परित्याग कर देना योग्य था। किन्तु यह कुछ न करके अर्जुनने तो अपने गुरु आदि पूज्य और भीष्म आदि आत्मीय वर्गोंका नाश किया, यह तो विद्याश्रवण-के सर्वथा अनुचित हुआ। असल तो यही विरुद्ध-सा जँचता है कि सर्वरक्षक धर्मसंस्थापक सर्वेश्वर भगवान्ने अर्जुनको पूज्य गुर्वादिहननका उपदेश ही क्यों और कैसे दिया? इस तरह पूर्वापरका विचार करनेसे बुद्धि सन्दिग्ध हो जाती है।

इसके उत्तरमें कहना पड़ता है कि भक्तिमार्ग और अनुग्रहका मार्ग मर्यादामार्गसे कुछ पृथक् ही है। 'तेषामहं समुद्धर्ता', 'अपि चेत् सुदुराचारः', 'मत्प्रसादात्', 'मत्प्रसादात् तरिष्यसि', 'इष्टोऽसि मे', 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इत्यादि अनेक भगवद्वचन इस बातको स्पष्ट कर रहे हैं कि वेद-शास्त्रकी मर्यादासे भक्ति-स्नेहकी मर्यादा कुछ पृथक् ही है। यह बात लोकमें भी विद्यमान है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि 'पार्थास्तु देवो भगवान् मुकुन्दो गृहीतवान्'—क्रीडारसिक श्रीमुकुन्दभगवान्ने पाण्डवोंको 'ये अपने हैं' इस तरह स्वीयभावसे ग्रहण किया है। युद्धके समय भ्राता भी भ्राताको मारे, इस न्यायसे यदि अब अर्जुनादि भगवद्भक्त भी इतर जनकी तरह अपने वैरियोंको मारकर राज्यका उपभोग करें तो ऐसे राज्यमें भगवत्सम्बन्ध न होनेसे उसके भगवदीयत्वका निर्वाह नहीं होता। क्षत्रिय और वीर रहते भी जो अर्जुनके हृदयमें उसी समय सहसा वैराग्यकी उत्पत्ति हुई, उससे यह सूचित होता है कि उस वैराग्यके होनेमें कोई लौकिक भाव कारण नहीं है, किन्तु भगवदीयत्वसम्बन्धी अलौकिक भाव ही है। 'भ्रातापि भ्रातरं हन्यात्', 'क्षत्रियाणामयं धर्मः' इत्यादि वचनोंसे यह स्पष्ट है कि क्षत्रियश्रेष्ठ वीराग्रणी अर्जुनको युद्धके समय वीररसका ही प्रादुर्भाव होना उचित था, किन्तु वैराग्यका होना तो सर्वथा अननुरूप ही था। स्वभाव किसी अवस्थामें भी नष्ट नहीं होता। अतएव वीरस्वभाव क्षत्रिय अर्जुनको युद्धमें वैराग्य होना ही स्पष्ट कहे देता है कि यह वैराग्य किसी लौकिक भावसे नहीं, किन्तु भगवद्भक्त होनेसे भगवत्प्रेरणासे ही हुआ। यदि किसी लौकिक भावसे यह वैराग्य होता तो जैसे अर्जुनके दुर्योधनादि प्रिय बान्धव थे, उसी तरह दुर्योधनादिके भी अर्जुनादि प्रिय बान्धव थे ही; फिर समान न्यायसे दुर्योधनादिके हृदयमें भी वैराग्य होना चाहिये था। परन्तु ऐसा न होनेसे यह सिद्ध होता है कि अर्जुनको भगवदीय होनेसे ही वैराग्य उत्पन्न हुआ और अभक्त होनेसे दुर्योधनादिके

हृदयमें न हुआ। अर्जुनका यह उत्तमाधिकार स्पष्ट करा देनेके लिये ही गीताके प्रारम्भमें धृतराष्ट्र और उसके पुत्रोंकी चर्चा की गयी है। भक्तिमार्गकी रीति लोकसे जुदी है, यह यहाँतकके वक्तव्यसे स्पष्ट हुआ। अब यह भक्तिमार्ग वैदिकमर्यादासे भी जुदा है, यह दिखानेके लिये 'गुरु आदिके मारनेमें अर्जुनकी प्रवृत्ति क्यों हुई' इसका उत्तर देते हैं।

'विनाशाय च दुष्कृताम्' इत्यादि वचनोंसे यह विदित होता है कि 'भगवान्‌का प्रादुर्भाव असुरोंका संहार करनेके लिये है। असुर-संहार करना भगवान्‌का लीला-कर्तव्य है।' इस भगवान्‌के कार्यके अनुसार कार्य करना, किंवा तदनुकूल बुद्धि रखना—यह भगवद्भक्तका धर्म है; भगवत्कार्यके विरुद्ध बुद्धिका होना भगवद्भक्तके योग्य नहीं। यदि भगवत्कार्यसे विरुद्ध मति भगवदीयकी हो तो वह कुमति कही जायगी। दुर्योधनादि सभी असुरावेशी होनेसे असुर थे, अतः उनका संहार कराना भगवान्‌का कर्तव्य था। किन्तु इस प्रभुके अभीष्टसे विरुद्ध अर्जुनकी जो वैराग्यबुद्धि हुई, वह वास्तवमें कुमति थी। भगवत्कार्यसे विरुद्ध जो अर्जुनकी मति हुई उसको दूर करनेके लिये श्रीहरिने अठारह अध्यायोंके द्वारा अपने परमतत्त्वका उपदेश किया और कुमतिका नाश करके सुमतिका दान किया।

भगवदिच्छाके अनुकूल बुद्धि सुमति और जो बुद्धि भगवदभीष्टके विरुद्ध हो, वह कुमति है। यदि यह न होता तो श्रीमद्भागवतादिमें गुरु आदिको न मारनेकी इच्छाको कुमति न कहते। मर्यादामार्गमें वेद-शास्त्रोक्त विधिके अनुसार चलना धर्म है और भक्तिमार्गमें प्रभुकी इच्छाके अनुकूल चलना धर्म है। यद्यपि गुरु आदिका मारना धर्मशास्त्रादिमें निषिद्ध है—अतएव वैदिकमार्गके अनुसार, वैसा करना अधर्म है, तथापि उस समय भगवान्‌की इच्छा उन्हें मारनेकी ही थी; पर उससे विरुद्ध अर्जुनको युद्धसे वैराग्य हुआ, यह भगवदिच्छाविरुद्ध होनेसे कुमति ही थी। इस कुमतिका भगवान्‌ने गीतातत्त्वके द्वारा नाश किया। इस बातको श्रीमद्भागवतमें भगवद्भक्त श्रीभीष्मपितामहने कहा है—

व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य
स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या।
कुमतिमहरदात्मविद्यया यः
स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः॥

'विरुद्ध पक्षकी सेनाको युद्धके लिये तैयार देखकर और उस युद्धको दुष्कर्म जानकर निज बान्धवोंको मारनेसे विमुख हुए अर्जुनकी उस कुमतिको जिसने आत्मविद्याके उपदेशसे दूर किया, वे भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरी गति हों।'

इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि भक्तिमार्गकी मर्यादा वेद-शास्त्रसे भी अतीत है। इसीसे लोक और वेदके अनुसार ही भक्तिमार्गका भी विचार करना युक्त नहीं। कारण कि भगवद्भक्त लोक-वेदातीत होते हैं। इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त यही है कि ब्रह्मविद्याका उपदेश हो जानेपर भी तत्क्षण ही अर्जुनकी असुर-हननमें प्रवृत्ति हुई और किया भी। जो लोग यह तर्क करते हैं कि ब्रह्मविद्या-श्रवणानन्तर अर्जुनको सर्वत्याग करना युक्त था—गुर्वादिहनन अयुक्त था, इस सिद्धान्तसे उनके इस तर्कका समाधान भी हो जाता है।

वास्तवमें तो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस सिद्धान्तके अनुसार लौकिक-वैदिक सर्वकर्तव्योंका त्याग करके केवल श्रीकृष्णमात्रका ग्रहण ही सर्वत्याग है। और इसीलिये 'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ' इस भगवान्‌के प्रश्नके उत्तरमें—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

—यह उत्तर दिया कि अब मैं आपकी आज्ञाके अनुसार करूँगा। इत्यादि सिद्धान्तोंसे यह स्पष्ट होता है कि भगवती गीताका तत्त्व या तात्पर्य भगवद्भक्ति है। भगवद्गीताका तत्त्व यदि भगवान् श्रीकृष्ण है तो वह भी भजनके लिये है और गीताका तात्पर्य यदि भगवद्भक्तिपर है तो वह भी श्रीकृष्ण-भक्तिका प्रचार करनेके लिये है!

गीतामें ईश्वरवाद

भगवद्गीता यथार्थमें हिन्दुओंके ब्रह्मवादका नहीं, अपितु प्राधान्यतः उनके ईश्वरवादका ग्रन्थ है। इस बातको प्रायः न तो हमारे ही देशके लोगोंने और न गीताके गहन तत्त्व और उसके व्यापक सार्वभौम सिद्धान्तपर मुग्ध होनेवाले विदेशियोंने ही हृदयङ्गम किया है, ऐसा प्रतीत होता है। —श्रीविपिनचन्द्र पाल

गीतामें वेदों और दर्शनादिके सिद्धान्त

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री १०८ युक्त स्वामी भागवतानन्दजी महाराज मण्डलेश्वर, काव्यसांख्ययोगन्याय-वेदवेदान्ततीर्थ, वेदान्तवागीश, मीमांसाभूषण, वेदरत्न, दर्शनाचार्य)

जातासि त्वं मुरहरमुखाज्जाह्नवी तस्य पादात्
सर्वानभ्युद्धरति भवती सा तु मज्जान् विधत्ते ।
प्रत्यग्ब्रह्मामृतरसनिधिं प्राप्य विश्राम्यसि त्वं
मातर्गीते जडनिधिमियं माति न त्वत्प्रभावः ॥१॥

जब मनुष्य निरतिशय शाश्वत सुखकी खोजमें आगे बढ़ता है तब उसके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सर्वोत्तम साधन कौन है । जिसके द्वारा स्थायी सुख प्राप्त हो सके । मनुष्यका मनुष्यत्व भी तो तभी सफल माना जाता है जब वह सोच-विचार कर कार्यारम्भ करे ।

निरुक्तमें लिखा है—

'मनुष्याः कस्मान्मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति, मनस्यमानेन सृष्टाः' (३ । ७ । १)

'मनुष्य नाम क्यों पड़ा ? परिणामादिका विचार करके कर्मारम्भ करनेके कारण 'मनुष्य' यह नाम प्रसिद्ध हुआ है ।' जैसे किसी राजा, महाराजाको उपहार देनेके लिये कारीगर बड़े ही मनोयोगके साथ उस देय वस्तुके निर्माणमें अपना सारा बुद्धि-वैभव खर्च कर डालता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माजीने भी सार्वभौम परमात्माकी संसाररूपी आश्चर्यशाला (अजायबघर) में रखनेके लिये निर्माताके कौशलके प्रदर्शनके लिये 'मनुष्य' को बड़े ध्यानसे बनाया है । इस मनुष्य-पदके निर्वचनसे विचार्य-कार्यकारी ही 'मनुष्य' उपाधिके योग्य सिद्ध होता है । सूक्ष्म विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि मनुष्यके लिये गीतागत धर्म ही परमानुष्ठेय है । एक तो महाभारत ही अनुपम ग्रन्थ है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥
(महाभारत १ । ६२ । ५३)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्बन्धमें जितना विशद विचार महाभारतमें है, उतना अन्यत्र नहीं है । प्रायः सब ग्रन्थ इसका ही आश्रय लेकर अपने-अपने प्रतिपाद्य विषयका प्रतिपादन करते हैं । 'यन्न भारते तन्न भारते' विज्ञोंकी यह उक्ति भी उक्त कथनकी समर्थिका है । जिसके प्रणेता विश्व-विश्रुत महर्षि व्यास हैं, लेखक विश्ववन्द्य गणेश हैं—उस महाभारतरूपी दुग्ध-सिन्धुसे उद्धृत गीता नवनीतस्वरूप है । उसकी महिमा व्यासजीने स्वयं निज मुखसे यों गायी है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥
गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते ।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥
षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु सञ्जयः ।
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ॥
भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥
(महाभारत, भीष्मपर्व ४३ । १–५)

गीताका ही भलीभाँति विचार करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि भगवान् विष्णुके मुख-कमलसे मकरन्दस्वरूप 'गीता' उद्भूत हुई है । सब शास्त्रस्वरूप गीता है, गीतामें निखिल शास्त्रोंके सिद्धान्त वर्तमान हैं; गीता, गङ्गा, गायत्री, गोविन्द—ये चार गकार अर्थात् चारों नाम यदि हृदय-मन्दिरमें स्थापित कर लिये जायँ तो पुनः सदाके लिये जन्म-मरणका बखेड़ा समाप्त हो जाता है । इन चार गकारोंमें भी प्रथम श्रेणीमें 'गीता' का नाम आया है । इसका अभिप्राय यह है कि 'गीता' के विचारसे अग्रिम तीनों गकार सुलभ और गतार्थ हो जाते हैं । गीताके ६२० श्लोक भगवान् श्रीकृष्णने, ५७ श्लोक अर्जुनने, ६७ श्लोक सञ्जयने और १ श्लोक धृतराष्ट्रने कहा है; इस संख्यामें कुछ मतभेद भी है, परन्तु सामान्यतः यह गीताके श्लोकोंकी संख्या है ।

महाभारतरूपी अमृतका सर्वस्वस्वरूप गीताका मथितार्थ-सार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें होम (उपदेश) किया ।

'होम' कहनेसे अर्जुनका मुख कुण्डरूप है, गीताका उपदेश होतव्य द्रव्य है, होता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, फल परम मुक्ति है—यह तात्पर्य होमके रूपकसे प्रतीत होता है। उक्त व्यासजीके वचनोंसे गीताका महत्त्व स्पष्ट झलकता है।

युद्धके अनन्तर अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा कि आपने जो युद्धके आरम्भमें मुझे गीताका उपदेश किया था, वह मैं युद्धादिमें व्यग्रचित्त होनेके कारण भूल गया हूँ। इसके उत्तरमें श्रीकृष्णजीने कहा कि—

हे अर्जुन! तूने बड़ी ही भूल की है जो गीताको भूल गया है, वह गीताका उपदेश तो मैंने बड़े ही योगयुक्त मनसे किया था। वह उपदेश ब्रह्मके स्वरूपबोधनमें पर्याप्त था, अब वह सारा गीताका उपदेश मेरे स्मृतिपथमें नहीं आ सकता; अतः मैं अब पुनः गीताका उपदेश नहीं कर सकूँगा।

उस प्रसङ्गके कुछ श्लोक ये हैं—

अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे सम्भविष्यति॥
नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय॥
स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
(महाभारत आश्वमेध० । १६ । १०—१२)

वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्णके लिये गीताका पुनः उपदेश करना अशक्य या असम्भाव्य नहीं था, किन्तु भगवान्ने इस उक्तिके मिससे गीताकी सर्वश्रेष्ठता स्पष्टरूपसे बतलायी है।

अब यह सर्वमान्य सिद्धान्त सुस्थिर हो गया है कि केवल संस्कृत साहित्यमें ही नहीं किन्तु संसारकी सम्पूर्ण भाषाओंके साहित्योंमें गीताका सर्वोच्च विशिष्ट स्थान है। अनेक ऋषि, मुनि, महात्मा, विभिन्न सम्प्रदायोंके प्राचीन-अर्वाचीन आचार्यगण तथा पाश्चात्त्य और प्राच्य विद्वान्—सभीने इसका अत्युत्तम अध्ययन और परिशीलन कर एतद्विषयक अनेक व्याख्या-निबन्ध आदिकी रचना की है। बिना मनोहारी सौरभके कहीं भ्रमरगण पुष्पपर ऐसे ही मुग्ध हो सकते हैं? कभी नहीं। संसारके सब विद्वानोंको आकृष्ट करना ही गीताकी सर्वोत्कृष्टताका अकाट्य प्रमाण है।

गीतामें यह एक सर्वातिशायी वैशिष्ट्य है कि सब शास्त्रोंके सिद्धान्त इसमें विस्तार, संक्षेप, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूपसे निहित हैं।

इसी कारणसे—'सर्वशास्त्रमयी गीता' (महा० भीष्म० ४३। २, नरसिंहपुराण ६६। ४१) यह प्रसिद्धि है।

उक्त वचनमें आये हुए 'शास्त्र' शब्दका सङ्कुचित अर्थ न लेकर वेद, षड्दर्शन, निरुक्त, व्याकरण, इतिहास, पुराण, स्मृति, तन्त्र आदि अर्थ लेना उचित है[1]। इस लघुकाय लेखमें 'गीतामें सब शास्त्रोंका सिद्धान्त अन्तर्भूत है' इसका दिग्दर्शन कराया जायगा।

वेद, वेदान्त, साङ्ख्य, योगदर्शन

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' (गीता ४। ३९)

श्रद्धावान् ज्ञानको पाता है।

'श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी' (तै० ब्रा० ३। १२। ३)

श्रद्धासे देवता देवत्वको प्राप्त होता है, श्रद्धादेवी सब लोकोंकी प्रतिष्ठा (स्थितिका कारण) है।

'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुर्वेद १९। ३०)

श्रद्धासे सत्यरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है।

ऋग्वेद (१०। १५१) में तो एक 'श्रद्धासूक्त' ही है, जिसमें श्रद्धाका महत्त्व विशदरूपसे वर्णित है।

१—यद्यपि 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग बहुधा षड्दर्शनोंके लिये ही होता है, परन्तु 'शास्त्रयोनित्वात्' (वेदान्तदर्शन १। १। ३), 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' (मीमांसादर्शन ७। ८। १८), 'शिष्याणां शासनाच्छास्त्रमृग्वेदादि' (भामती १। १। ३), 'न हि वेदात्परं शास्त्रम्' (अत्रिसंहिता १। १४८, महा० अनु० १०६। ६५), 'वेदाच्छास्त्रं परं नास्ति' (नरसिंहपुराण १८। ३३) इत्यादि स्थलोंमें 'वेद' अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। और 'शास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः' (वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड १४८)—यहाँ आयुर्वेद, व्याकरण, वेदान्त अर्थमें 'शास्त्र' शब्द आया है। 'तच्छास्त्रं हि प्रवर्तते', 'स्वशास्त्रे लघुबोधार्थम्' (श्लोकवार्तिक क्रमशः २०३, ३०६), 'व्याकरणस्य शास्त्रत्वनिराकरणानुपपत्तिः' (मीमांसादर्शनका कुमारिलभट्टकृत तन्त्रवार्तिक १। ३। ८। २७)—यहाँ व्याकरण आदि अङ्गोंको भी 'शास्त्र' कहा है। 'शासनाच्छंसनाच्छास्त्रम्' (पराशर उपपुराण १८ अ०) के अनुसार हिततम कर्त्तव्यके उपदेश करनेवालेको 'शास्त्र' कहते हैं। —लेखक

'श्रद्धा श्रद्धानात्' (निरुक्त ९ । ३ । ३१)

सत्य (परमात्मा) का स्थापन (प्रादुर्भाव) जिससे हो, वह श्रद्धा है ।

'श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृह० उ० ४। ४)

श्रद्धारूपी धनको प्राप्त कर अन्तःकरणमें आत्माको देखे।

'सापि जननीव कल्याणी योगिनं पाति'

(योगभाष्य १ । २०)

वह कल्याणकारिणी श्रद्धा माताके सदृश योगीकी रक्षा करती है ।

'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा'

(गीता १५ । १३)

मैं पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपने बलसे चराचरको धारण करता हूँ ।

'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (तैत्तिरीयसंहिता ४।१।८; ऋग्वेद १० । २१ । ५)

'स दाधार पृथिवीम्' (तै० सं० ४ । १ । ८; ऋग्वेद १० । २१ । १)

उस परमात्माने ही पृथ्वी और आकाशको धारण कर रक्खा है ।

'सर्वतःपाणिपादं तत्' (गीता १३ । १३)

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'

(ऋ० १० । ९० । १)

यह परमात्माके विराट् स्वरूपका वर्णन करनेवाला 'पुरुषसूक्त' चारों वेदोंमें है ।

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्'

(यजु० १७ । १९; ऋ० ८ । ३ । १६)

'भुञ्जते ते त्वघं पापाः' (गीता ३ । १३)

'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋ० १० । ११८ । ६)

केवल अपने लिये भोजन बनानेवालेका अन्न व्यर्थ है, अकेले खाना पाप है ।

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥'

(गीता ५ । २२)

हे अर्जुन ! विषयेन्द्रियसम्बन्धजन्य सुखदुःखानुभवरूप भोग दुःखोंके ही कारण हैं और उत्पत्ति-विनाशवाले हैं, बुद्धिमान् उन भोगोंमें मन नहीं लगाते ।

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'

(माण्डूक्यकारिका २ । ६)

संसार और उसके भोग आदि और अन्तमें नहीं रहते, अतः वर्तमानमें भी नहीं हैं ।

'न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्'

(योगभाष्य २ । १५)

भोगोंके भोगनेसे इन्द्रियोंको निरीह–संतुष्ट नहीं किया जा सकता ।

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥'

(विष्णुपुराण ४ । १० । २३; यह श्लोक महाभारत, मनुस्मृति आदिमें भी है)

भोगोंके भोगनेसे विषय-लालसा शान्त नहीं होती, किन्तु घृत आदिकी आहुति डालनेसे अग्निके सदृश अधिक बढ़ती है।

'सर्वं दुःखेनानुविद्धम्' (न्यायभाष्य १ । १ । २)

'सर्वं दुःखमेव विवेकिनः' (योगदर्शन २ । १५)

विवेकीको सब संसार दुःखरूप ही भासता है ।

'तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ति विवेचकाः'

(साङ्ख्यदर्शन ६ । ८)

विषमिश्रित मिष्टान्नके सदृश सांसारिक सुखको भी विवेकीजन दुःख ही समझते हैं ।

'यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० उ० ७ । २४ । १)

जो परिच्छिन्न पदार्थ है, वह विनाशी है ।

'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गी० १५ । ६)

मेरा वह धाम (प्रकाशस्वरूप) है, जहाँ जाकर फिर संसारमें नहीं आते—अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ।

'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्'

(वेदान्तदर्शन ४ । ४ । ७ । १७)

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८ । ६ । ६; कठ० ६ । १६)

'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृह० उ० ६ । २ । १५)

'आवर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४ । १५ । ५)

'न च पुनरावर्तते' (छा० ८ । १५ । १)

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गीता १५।६)

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (कठ० २।२।१५; श्वेता० उ० ६।१४; मुण्डक० २।२।१०)

उस परमात्माको सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत्, अग्नि आदि प्रकाशित नहीं कर सकते।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५।१५)

सब वेदोंका वेद्य (ज्ञेय) मैं ही हूँ।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ० १।२।१५)

'कृत्स्न एव च वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः' (उदयनाचार्य-कृत कुसुमाञ्जलि ५।१५)

'वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयते' (महा० शान्ति० ३३४।२६)

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' (गीता ६।३५)

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (योगदर्शन १।१२)

'वैराग्यादभ्यासाच्च' (साङ्ख्यदर्शन ३।३६)

अभ्यास और वैराग्यसे मनका निग्रह होता है।

'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गीता ६।११)

योगी एकान्त पवित्र स्थानमें आसन जमाकर मनको वशमें करे।

वे स्थान नदीतट, गिरिगुहा आदि हैं। वेदमें भी कहा है—

'उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत' (ऋ० ८।६।२८; सामवेद २।२।२।९)

पर्वतोंके गुहादि रम्य स्थानोंमें और नदियोंके सङ्गमपर ध्यान, योग, प्रार्थना आदिसे प्रसन्न हुए भगवान् बुद्धिमान् उपासकोंको दर्शन देनेके लिये प्रकट होते हैं।

'वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च' (गीता ११।३९)

हे भगवन्! वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति आदि आप ही हो।

वेदोंमें भी यही कहा है—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।' (ऋग्वेद १।१६४।४६)

उस एक ही परमात्माको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और दिव्यस्वरूप सुन्दर पंखवाला गरुत्मान् (गरुड़) कहते हैं। वस्तुतः परमात्मा एक ही है; परन्तु विप्र[1] (मेधावी) उस परमात्माको वृष्टि करनेवाली बिजलीरूप अग्नि, यम और मातरिश्वा (वायु) कहते हैं।

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः' (यजु० ३२।१)

वही परमात्मा अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्र, प्रजापति और शुद्ध ब्रह्म है।

'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' (ऋ० १०।११४।५)

बुद्धिमान् उस एक परमात्माके अनेक नामोंकी कल्पना करते हैं।

'एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति' (अथर्ववेद १३।३।१७)

वह परमात्मरूप ज्योति नाना प्रकारसे प्रकाश करती है।

परमात्मा नाना देवरूप ही क्यों, सर्वरूप है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१)

ब्रह्म सर्वस्वरूप है।

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातोऽसि विश्वतोमुखः' (अथर्ववेद १०।८।२७)

हे भगवन्! तुम ही स्त्री, पुरुष, कुमार और कुमारी हो; तुम ही बूढ़े हो, दण्ड लेकर चलते हो; तुम ही सर्वव्यापी प्रकट होते हो।

'विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' (गीता १५।१०)

'पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः' (ऋ० १०।१२९।२)

उस परमात्माको आँखोंवाला (ज्ञानदृष्टिवाला) देखता है, अन्धा (अज्ञानी) नहीं देख सकता।

१–'विप्र' शब्दका अर्थ विशेष स्मरणशक्तिसम्पन्न बुद्धिमान् है, देखिये 'निरुक्तनिघण्टुकाण्ड ३।१९।'

माखनकी चाह



माखन तनक दै री माय।

'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः तोऽन्यः' (गीता ११ । ४३)

आपके सदृश भी कोई नहीं है, अधिक कहाँसे हो सकता है ?

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वे० उ० ६ । ८)

'नकिरन्यस्त्वावान्' (ऋ० १ । ५२ । १३)

आप-जैसा कोई है ही नहीं ।

'न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः' (यजु० ३२।३)

उस परमात्माके सदृश और कोई नहीं है, जिसका बड़ा यश है ।

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' (गीता ३।९)

निष्कामभावसे परमेश्वरके आराधनार्थ कर्मसे भिन्न कर्म मनुष्यके बन्धनका कारण है । (यज्ञ) परमेश्वरका नाम है—

'यज्ञो वै विष्णुः' (यजु० २२ । २०; कौषीतकी ४ । २ । १८ । ८ । १४; ताण्ड्यब्राह्मण ९ । ६ । १०; शतपथब्राह्मण १३ । १ । ८ । ८; गोपथब्रा० उत्तर भाग ४ । ६; तैत्तिरीयब्रा० १ । २ । ५ । १; तैत्तिरीयसंहिता १ । ७ । ४)।

वैशेषिकदर्शन

'शब्दः खे' (गीता ७ । ८)

मैं आकाशमें शब्द हूँ ।

'परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य' (वैशेषिकदर्शन २।१।२७)

शब्द अन्यका गुण सिद्ध नहीं हो सकता, अतः परिशेषात् आकाशका गुण होनेसे आकाशका अनुमापक है । परिशेषका विशेष विचार 'कन्दली', 'किरणावली' आदि बड़े ग्रन्थोंमें देखिये ।

न्यायदर्शन

'वादः प्रवदतामहम्' (गीता १० । ३२)

वादियोंकी कथाओंमें मैं वादरूप कथा हूँ ।

'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः' (न्यायदर्शन १।२।१)

जिसमें प्रमाण और तर्कसे ही स्वपक्षका स्थापन (मण्डन) और परपक्षका खण्डन हो और सिद्धान्तके अनुकूल हो तथा प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयवोंसे युक्त हो, ऐसा जो पक्ष-प्रतिपक्षका स्वीकार है वह वाद है ।

मीमांसादर्शन

'त्रिविधा कर्मचोदना ।' (गीता १८।१८) ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता—ये तीन कर्मके प्रवर्तक हैं ।

'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः'
(मीमांसादर्शन, शाबरभाष्य १।१।२ । २)

'तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिन् चोदनोच्यते'
(कुमारिलभट्टकृत श्लोकवार्तिक १ । १ । २ । ३)

'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः ।'
(श्लोकवार्तिक १ । १ । ५ । ११)

व्याकरण

'द्वन्द्वः सामासिकस्य च' (गीता १० । ३३)

समाससमुदायमें मैं द्वन्द्वसमासरूप हूँ । द्वन्द्वसमासमें समस्यमान पदोंके अर्थ प्रधान होते हैं । गीताका रचनाकाल ईस्वी सन्से २००० वर्ष और १५०० वर्ष पूर्वके बीचका निश्चित है । पाणिनि ईस्वी सन्से लगभग ८००-९०० वर्ष पूर्व हुए हैं, यह ऐतिहासिक पण्डितोंका मत है; परन्तु 'व्याकरण' पाणिनिसे पहले भी था, अतः गीतामें उस 'व्याकरण' के अनुसार उक्त वचनकी सङ्गति हो सकती है ।

मन्त्रशास्त्र

'स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या' (गीता ११ । ३६)

इस श्लोकको मन्त्रशास्त्रमें रक्षोघ्न मन्त्र कहा है—अर्थात् इसका जप करनेसे भूत, प्रेत, राक्षसोंकी बाधा दूर होती है । उक्त श्लोककी व्याख्यामें मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं—'अयं श्लोको रक्षोघ्नमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः' ।

साहित्य (अलङ्कार)

'दिवि सूर्यसहस्रस्य' (गीता ११ । १२)

यदि हजारों सूर्योंका एक ही समय आकाशमें उदय हो तो शायद कहीं विराट्रूप भगवान्के तेजकी सदृशता (उपमा) हो सके ।

इस गीता-श्लोकमें 'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्' (कुमारसम्भव १ । ४४), 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ' (माघकाव्य ३ । ८) के सदृश आकाशमें एक समय हजारों सूर्योंका असम्बन्ध रहनेपर भी हजारों सूर्योंके सम्बन्ध-कथनसे यहाँ 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार है ।

उपसंहार

उक्त उद्धरणोंसे 'स्थालीपुलाकन्याय'से यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतामें सब शास्त्रोंका मौलिक सिद्धान्त स्थित है।

गीताके सम्बन्धमें चुप रहना मानो वाणीको निष्फल करना है, नैषधकार श्रीहर्षकी 'वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्' (नैषध ८। ३२) यह उक्ति यहाँ लागू होती है।

रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथकी यह अन्योक्ति यहाँ ठीक घटती है—

गाहितमखिलं गहनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे ।
सहकार ! न प्रपेदे मधुपेन भवत्समं जगति ॥

(भामिनीविलास १। २०)

भ्रमरने सब वनको खूब टटोला, सब वृक्षोंको खूब अच्छी तरह देखा; परन्तु भ्रमरको आम्रवृक्षके तुल्य और कोई भी वृक्ष नहीं मिला। ठीक इसी प्रकार विद्वज्जन-भ्रमरगणको सर्वसाहित्य-वनको खूब देखनेपर भी गीता-वृक्षकी तुलनामें दरिद्रता (अभाव) ही नजर आती है।

किसी पहुँचे हुए कविने ठीक ही एक दोहेमें कहा है—

जोगी ताहि न जानिये जो गीताहि न जान।
जोगी ताही जानिये जो गीता ही जान॥

वह योगी नहीं है जो गीताको नहीं जानता, वही योगी है जो गीताको जानता है।

इतिशम्, श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

गीताकी व्यापक दृष्टि

(लेखक—श्रीयुत चार्ल्स जॉन्स्टन महोदय)

श्रीमद्भगवद्गीता भारतवर्षके उदात्त तथा संसारके गम्भीर धर्मशास्त्रोंमें मुकुटमणि है। काव्यकी सुषमा और शक्तिका यह एक अक्षय भण्डार है। इसके पात्र समराङ्गणकी शौर्यपूर्ण अत्यन्त प्रभावशाली योजनामें अपने वीरोचित दर्प तथा प्रतापके कारण सबका ध्यान आकृष्ट करते हैं। निराशा, सन्देह और अवसादके कारण अर्जुन हमें कितना 'मानव' प्रतीत हो रहा है और वहीं अपने गौरवपूर्ण, सुदृढ़, प्रभावशाली व्यक्तित्वके कारण श्रीकृष्ण कितने अलौकिक लगते हैं! और ये दोनों ही प्रकारके व्यक्तित्व कितने सुस्पष्ट, सजीव और विश्वके सनातन सत्यके अमर प्रतीक हैं। इतना ही क्यों, गीता ईश्वरीय प्रेरणा, भावभरी भक्ति और मानव-हृदयको परखनेवाली सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिसे परितः सम्पन्न है, ओतप्रोत है। हमारे कर्मसम्पादनमें नाना प्रकारकी परस्परविरोधी भावनाएँ आ-आकर जो हमें विचलित कर देती हैं, स्वार्थकी वे बेड़ियाँ जो हमें परमात्मपथमें बढ़ने नहीं देतीं, हृदयकी सूक्ष्म प्रेरणाओं और सूचनाओंकी अवहेलना कर मनमाना चलनेका जो हमारा स्वभाव बन गया है—गीतामें इन सारी बातोंका बहुत ही विशद विवेचन हुआ है और इनका अत्यन्त स्पष्ट दर्शन भी हमें होता है। फिर भी, गम्भीर आत्मचिन्तनकी आवश्यकताकी गीता अवहेलना नहीं करती, उसे स्वीकार करती है और इसी कारण, भारतीय दर्शनके क्रम-विकासकी एक-एक अवस्थाका, तर्क और अध्यात्मशास्त्रकी एक-एक सूक्ष्म बारीकीका गीतामें समुचित समावेश है और साथ ही भारतीय राजनीति तथा भारतीय इतिहाससे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक समस्याओं तथा प्रश्नोंपर गीताने बड़े ही सुन्दर ढंगसे प्रकाश डाला है तथा सुलझावका व्यावहारिक मार्ग दिखलाया है—गीताका वह मार्ग-निदर्शन, वह सङ्केत आज भी हमारे लिये उतना ही उपयोगी और कामका है जितना दो हजार वर्ष पूर्व था।

गीताका हृदय

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास श्री १०८ स्वामी श्रीविद्यानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर)

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

यह वचन सर्वविश्रुत है। एक ही वस्तुके दो विरुद्ध फल होना बड़ी विस्मयजनक बात है, इसमें सन्देह नहीं; तथापि केवल आपातदृष्टिसे ही इसमें आश्चर्य प्रतीत होता है। नहीं तो वास्तवमें इस कथनमें विसंगति कुछ भी नहीं है। यों तो सारी सृष्टिकी बुनियाद ही द्वन्द्वमयी है। इस संसारमें जिधर ही नजर फेंकिये, सर्वत्र द्वन्द्व-ही-द्वन्द्व दीख पड़ेगा। द्वन्द्वोंकी संख्या अनन्त है। क्योंकि जीवमात्रका ज्ञान आपेक्षिक होता है। सब द्वन्द्वोंका शीर्षस्थानीय, राजा, किं बहुना प्रेरक अथवा प्रसवस्थान सुख और दुःख हैं। गीताकी उक्ति भी है—

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः।
(१५ । ५)

और इनके विषयमें गीताका सिद्धान्त है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
(२ । १४)

अर्थात् सुख ही दुःखमें परिणत होता है और दुःख सुखमें। इस अद्भुत मालूम होनेवाली घटनाका कारण भी सबको सहजहीमें बोधगम्य है। वह है बाह्य वा आन्तर उपाधि। इसका निदर्शन देना अनावश्यक है, क्योंकि यह जीवोंका दैनन्दिन—नित्यप्रतिका—अनुभव है।

यही सिद्धान्त धर्मके विषयमें भी लागू है और उपर्युक्त वचनमें स्वयं उसके अभियुक्त वक्ताने उपाधिनिर्देश भी स्पष्ट शब्दोंमें कर दिया है—जो उसकी हत्या करेगा उसकी हत्या धर्म भी करेगा; जो उसकी रक्षा करेगा, उसकी रक्षा धर्म भी करेगा। अस्तु,

मनमें आज इन विचारोंके उदय होनेका निमित्त यह हुआ कि गोरखपुरसे प्रकाशित होनेवाले, समस्त संसारके आबालवृद्ध आम्लेच्छब्राह्मण पाठकवृन्दोंके द्वारा सादर प्रशंसित 'कल्याण' पत्रके मेरे श्रद्धाभाजन विद्वान् सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजीने, उक्त मासिकके आगामी विशेषाङ्कके लिये एक छोटा-सा लेख भेजनेके लिये अनुरोध किया है। तदनुसार 'गीतातत्त्वाङ्क'में प्रकाशनार्थ कुछ मामूली विचार आगे लिपिबद्ध करके भेजता हूँ।

गीताका प्रतिपाद्य विषय स्वयं भगवान्के कथनानुसार ही योग है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
(४ । १)

गीताकारकी भी इसमें सम्मति है—

'इति श्रीमद्भगवद्गीतासु ········योगशास्त्रे।'
—पुष्पिकावाक्य

और सञ्जय भी इस बातकी पुष्टि करते हैं—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥
(१८ । ७५)

'त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः' इस न्यायसे यह बात संशयातीत हुई। लेकिन प्रस्तुत निबन्धके लिये, इस योगका स्वरूप क्या है—यह जाननेका मुझे विशेष प्रयोजन है। इसके लिये भगवान्को छोड़कर और किसके वचनको अधिक प्रमाण माना जा सकता है?

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
(१८ । ७०)

अर्थात् योगका अर्थ हुआ—धर्म।

अभियुक्तोंका वचन भी है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

इस प्रकार यही प्रमाणित हुआ कि धर्म ही गीतातत्त्व है। कोई यदि जानना चाहे कि धर्म क्या है, तो इसका उत्तर यही है कि गीताप्रतिपादित योग ही धर्म है।

'धारणाद्धर्ममित्याहुः'—'धर्म' शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

भी ऐसा ही है। लेकिन धारण किसका ? गीतामाहात्म्यकार ऋषि कहते हैं—

गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्।

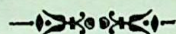
और पालन माने क्या ? इसका उत्तर भगवान्के मुखसे ही सुनिये—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
(३। २२, २३, २४)

अर्थात् संसारमें वस्तुमात्रका साङ्कर्यनिवारण ही भगवान्का कर्म है और इसीका नाम धर्म है; और (गीताकारकी परिभाषामें) इसीका नाम लोकसंग्रह, पालन, धारण है। आजकल तर्कपटु, स्थूलदृष्टि, प्रत्यक्षवादी लोग धर्मका क्षोदक्षम लक्षण न पानेसे उसका अपलाप करना ही पण्डितम्मन्यता समझते हैं। मैं आशा करता हूँ, धर्मकी यह व्याख्या ऐसे वावदूकोंको भी स्वीकृत होगी। धर्मका लक्षण स्थिर करना सर्वोपरि आवश्यक है, नहीं तो उसका अनुष्ठान कैसे हो सकेगा ? और अगत्या कहना पड़ेगा—

गीता ह्येव हता हन्ति गीता रक्षति रक्षिता।

स्वधर्मका आचरण ही गीताकी रक्षा है।



'धर्म' एवं 'शरण' शब्दके तात्त्विक अर्थ

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य दार्शनिकसार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्दजी महाराज मण्डलेश्वर)

श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्दास्वादशुद्धाशयाः
संसाराम्बुधिमुत्तरन्ति सहसा पश्यन्ति पूर्णं महः।
वेदान्तैरवधारयन्ति परमं श्रेयस्त्यजन्ति भ्रमं
द्वैतं स्वप्नसमं विदन्ति विमलां विन्दन्ति चानन्दताम्॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

यह गीताका प्रसिद्ध श्लोक है। विद्वानोंकी सम्मति है कि इस श्लोकमें समस्त गीताके तात्पर्यका संग्रह है। अतएव इसका रहस्य गूढ है। भगवान्ने 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः', 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' इत्यादि वचनोंसे स्वधर्मके पालनका महत्त्व एवं विशिष्ट फल बतलाया है और 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि' इस वचनसे यह सिद्ध किया है कि उनका अवतार धर्मकी स्थापनाके लिये होता है, फिर वही भगवान् पूर्वोक्त श्लोकमें धर्म-परित्यागका उपदेश क्यों करते हैं ? धर्म-परित्यागका क्या रहस्य है ? इत्यादि शङ्काएँ गीतास्वाध्यायीके हृदयमें हो सकती हैं। अतएव उन शङ्काओं-का समाधान करनेके उद्देश्यसे धर्म-परित्याग एवं शरणागति-का अनेकार्थरहस्य 'गीतातत्त्वाङ्क' प्रेमियोंके समक्ष प्रकट किया जाता है—

'धर्म' शब्दके अर्थ

'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस श्लोकमें 'धर्म' शब्दके अनेक अर्थ हो सकते हैं। सिद्धान्तसे अविरुद्ध अर्थ सभीको माननीय होता है, अतएव कुछ अर्थ यहाँ यथासम्भव क्रमशः दिखाये जा रहे हैं—

(१)

'धर्म' शब्दसे लोकमें प्रसिद्ध स्मार्त-धर्म, वैष्णव-धर्म, शैव-धर्म, हिन्दू-धर्म, यवन-धर्म, ईसाई-धर्म आदि सम्पूर्ण धर्मोंका ग्रहण होता है। भगवान् कहते हैं कि हे भारत ! इन सब धर्मोंके झंझट (अवान्तर विभाग) को छोड़कर तू मुझ एक, अद्वय परमात्माके ही शरणमें आ जा। अर्थात् जबतक मनुष्य अपने धर्ममें अविवेकपूर्वक राग-अभिनिवेश और अन्य धर्मोंसे द्वेष-घृणा करता है, तबतक उसको परमतत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती। एक, अद्वय प्रभुके वह शरण नहीं हो पाता। इसलिये मुमुक्षु साधकोंको चाहिये कि वे किसी भी सङ्कुचित धर्मविशेष या सम्प्रदायविशेषमें अभिनिवेश न करें। 'यत्सत्यं तदुपासितव्यम्'—जो सत्य-तत्त्व है, उसीकी उपासना करनी चाहिये। किसी एक धर्मविशेषकी अन्ध-श्रद्धा-से दुम पकड़ लेनेसे तत्त्व-दृष्टिका लोप हो जाता है। साधक

उदार भावनाके विशुद्ध प्रदेशमें प्रविष्ट नहीं हो पाता; उलटे घृणा, द्वेष एवं क्रोधसे उसका हृदय विवेकशून्य हो जाता है। अतः 'सब धर्मोंको छोड़कर एक ही परमात्माके शरण हो जाना' इसका यह तात्पर्य है कि एक ही लक्ष्यको सिद्ध करनेके लिये अनेक साधक मुमुक्षु अपनी-अपनी सुविधा एवं रुचिके अनुसार अपने-अपने सुगम मार्गसे चलें और गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाय। जिस मार्गसे हम जाते हैं, उस मार्गसे यदि कोई दूसरा न जाय तो उससे द्वेष या घृणा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः तत्त्व एक ही है, हमारा आत्मा ही भगवान् है; हम, तुम एवं यह समस्त जगत् उससे भिन्न नहीं है। विष्णुपुराणमें कहा है—

एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित्
तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत-
दात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्॥
(२।१६।२३)

समस्त चराचर प्राणियोंका हृदय ही उसका पवित्र मन्दिर है। उस सर्वगत घट-घटनिवासी पूर्णात्मा परमेश्वरसे हमें अनन्य निष्कपट प्रेम करना चाहिये। सब धर्मोंमें एक ही तत्त्व गुप्तरूपसे छिपा हुआ है। इसी तात्त्विक दृष्टिमें निमग्न होना सब धर्मोंका समन्वय है। यह तात्त्विक दृष्टि किसी भी धर्मसे विरुद्ध नहीं पड़ती, इसमें लेशमात्र भी विवादकी कोई बात नहीं है। अतएव पूज्यवर गौडपादाचार्यजीने कहा है—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुद्ध्यते॥
(मा० का० अद्वै० ३।१७)

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम्॥
(मा० का० अला० ४।२)

भेददर्शी द्वैतवादी लोग अपने भिन्न-भिन्न सङ्कुचित सिद्धान्तोंकी व्यवस्था करनेके लिये दृढ अभिनिवेशपूर्वक एक दूसरेके मतका खण्डन करके राग-द्वेष आदिके कीचड़में फँसकर परस्परविरोधी बन जाते हैं। परन्तु यह तात्त्विक अद्वैतसिद्धान्त किसीके भी विरुद्ध नहीं पड़ता; क्योंकि इसका सर्वाभिन्न, सर्वात्म, एक, अद्वय, विशाल तत्त्व ही लक्ष्य है। इसमें भेद-भावका नाम-निशान भी नहीं है, परायेपनका विचार ही नहीं है, तेरे-मेरेका अत्यन्ताभाव है। यह अद्वैत-सिद्धान्त अस्पर्शयोग है। इसमें राग-द्वेषका स्पर्श नहीं है। यह समस्त प्राणियोंके लिये सुखकारक एवं हितप्रद है। यह किसीसे भी विवाद एवं विरोध नहीं करता। ऐसा तात्त्विक सिद्धान्त जिस शास्त्रने या जिस गुरुने उपदेश किया है, उसको मैं श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

इसी उदार भावनाके विशाल प्रदेशमें प्रवेश करनेसे साधकको तत्त्व-दृष्टि प्राप्त होती है। तब सङ्कुचित क्षेत्रवाले धर्मोंसे उसकी आस्था उठ जाती है। वह एक ही आत्म-स्वरूपकी प्रेममयी दृष्टिसे सबको देखता है। यही गीताके कथनानुसार सब धर्मोंको छोड़ देना है।

(२)

'धर्म' शब्दसे निषिद्ध धर्मोंका ही ग्रहण होता है, विहित धर्मोंका ग्रहण नहीं होता। गीतामें भगवान्ने कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(१८।५)

यज्ञ, दान और तपरूप विहित कर्म त्याज्य नहीं हैं, किन्तु कर्त्तव्य हैं। क्योंकि यज्ञ, दान और तप महान् विद्वानोंको भी पवित्र करते हैं।

इसलिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'का दूसरा अर्थ यह हुआ कि निषिद्ध धर्मोंका मन, वाणी एवं शरीरसे परित्याग करके एकमात्र भगवान्की शरणमें हो जाना चाहिये। शास्त्रमें मानसिक, वाचिक और कायिक निषिद्ध कर्म संक्षेपमें दस प्रकारके कहे गये हैं। मानसिक निषिद्ध कर्म तीन प्रकारके होते हैं—

(१) बुरी नीयतसे दूसरेके धनको ले लेनेका चिन्तन करना, (२) मनसे दूसरोंका अनिष्ट-चिन्तन करना, (३) मिथ्या—तुच्छ वस्तुओंमें अत्यन्त आसक्ति करना।

वाचिक निषिद्ध कर्म चार प्रकारके हैं—

(१) कठोर भाषण करना, (२) झूठ बोलना, (३) चुगली करना, (४) पागलकी तरह व्यर्थ अंड-बंड बकना।

कायिक निषिद्ध कर्म तीन प्रकारके हैं—

(१) दूसरेके पदार्थको अन्यायसे ले लेना, (२) स्वादके लिये निर्दोष प्राणियोंका अशास्त्रीय रीतिसे वध करना, (३) परदारा (स्त्री) का उपभोग करना इत्यादि।

जबतक मनुष्य इन निषिद्ध कर्मोंका परित्याग न करेगा, तबतक वह भगवच्छरणागतिका अधिकारी नहीं हो सकता। निषिद्ध कर्मोंके त्यागसे ही मनुष्य शुद्ध बनकर भगवान्की शरणमें जानेका अधिकारी होता है।

(३)

'धर्म' शब्दसे वर्णधर्म, आश्रम धर्म, साधारण धर्म और असाधारण धर्म इत्यादि नित्य-नैमित्तिक काम्य-प्रायश्चित्तरूप विहित धर्मोंका भी ग्रहण होता है। 'त्यज धर्ममधर्मञ्च' इस स्मृतिवचनके अनुसार अधर्मके साथ धर्मका भी ग्रहण है। अस्तु, इससे यह तात्पर्य निकला कि विहित-अविहित सब धर्मोंको छोड़कर, सब धर्मोंके अधिष्ठाता एकमात्र शुद्धानन्दाद्वय परमात्माकी शरणमें जाना चाहिये। 'इन सब विहित धर्मोंका अनुष्ठान ईश्वरेच्छासे हो अथवा न हो, इसकी चिन्ता नहीं; भगवान्के एकमात्र अनुग्रहसे ही मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। 'सर्वतोभावेन' मन, वचन एवं कर्म (देह) से ईश्वरकी शरणमें होना ही मेरा परम कर्त्तव्य है; ईश्वर-शरण ही सब धर्मोंका मूल है। प्रतिक्षण परमानन्दघन भगवान्का चिन्तन करना ही परम धर्म है, इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है।'—ऐसा दृढ निश्चय कर संसारके सब वर्णादि धर्मोंकी चिन्ता या वर्णादि धर्मोंके अभिमानसे मुक्त होना ही सब धर्मोंका त्याग करना है, यह आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन स्वामीका सिद्धान्त है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भगवच्छरणार्थी यदि विहित धर्मोंका परित्याग करेगा तो उसको महान् प्रत्यवाय होगा। शास्त्रोंमें भी कहा है—

नानुतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥
अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितञ्च समाचरन्।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति॥ मनु०॥

अर्थात् जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) प्रातः एवं सायंसन्ध्याकी उपासना नहीं करता, वह शूद्रके तुल्य होता है। द्विजातिके कर्मोंमें उसका अधिकार नहीं रहता। जो विहित कर्मोंको नहीं करता, इन्द्रियोंके विषयोंमें अत्यन्त आसक्त होकर निषिद्ध कर्मोंको करता है, वह पापकी पोटली बाँधकर नरकादि निम्न स्थानोंमें गिरता है। अतः विहित कर्मोंका त्याग श्रेयस्कर नहीं है।

इसका उत्तर यह है कि सन्ध्या आदि नित्य-नैमित्तिक विहित धर्मोंके त्यागमात्रसे प्रत्यवाय नहीं लगता; क्योंकि विहित कर्मोंका न करना अभाव है। अभावसे भावरूप पापकी उत्पत्ति नहीं होती, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। किन्तु बहिर्मुख मनुष्य विहित कर्मोंका परित्याग कर अवश्य कुछ-न-कुछ करेगा ही, भगवच्चिन्तन तो बहिर्मुख व्यक्तिसे हो ही नहीं सकता। जैसे गीतामें कहा है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

'कर्मको न करके भी कोई एक क्षणभर बेकार नहीं रह सकता' यह प्राणिमात्रका प्राकृतिक नियम है। अर्थात् विहित कर्मोंको छोड़ देनेपर बहिर्मुख मनुष्य निषिद्ध कर्मोंको अवश्य करेगा। फलतः निषिद्ध कर्मोंके सेवनसे पापकी उत्पत्ति अवश्य होगी, अतएव कहा जाता है कि विहित कर्मोंके न करनेसे पाप होता है। इसका मतलब यह है कि विहित कर्मोंका न करना निषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठानद्वारा पापका ज्ञापक है। अतएव पूर्वश्लोकघटक 'अकुर्वन्' इस पदमें शतृप्रत्यय 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इस पाणिनीय सूत्रसे ज्ञापकत्वरूप लक्षणके अर्थमें समझना चाहिये।

प्रकृतमें भगवच्छरणार्थी विहित धर्मोंका त्याग कर एकाग्रता एवं अनन्यभक्तिसे सकलधर्मशिरोमणिरूप भगवान्के चिन्तनमें तत्पर होता है। निषिद्ध कर्म कभी करता ही नहीं, उनको तो वह पहलेसे ही छोड़ देता है। इसलिये उसके द्वारा पापकी उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि भगवच्चिन्तनसे महान् पुण्यकी ही उत्पत्ति होती है। यदि वह भगवच्चिन्तनको भी छोड़ देगा तो भगवच्छरणार्थी ही न रहेगा, बहिर्मुख हो जायगा, उभयभ्रष्ट कहलायगा। अतः विहित कर्मोंका त्याग कर उसके स्थानमें भगवच्चिन्तन करनेवाला पुरुष प्रत्यवायी नहीं होता। यद्यपि भगवत्प्रेमीके लिये उचित है कि वह जहाँतक बने वहाँतक लोकसंग्रहार्थ विहित कर्मोंको अवश्य करता रहे, परन्तु भगवच्चिन्तनमें विशेष प्रेमोद्रेक होनेपर परवशताकी अवस्थामें विहित कर्म आप-से-आप छूट जाया करते हैं। कहा है—

न कर्माणि त्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।

योगी कर्मोंको न त्यागे; यदि कर्म उसको त्याग दें तो उसमें कोई चिन्ताकी बात नहीं ।

(४)

'धर्म' शब्दसे धर्मके कारणभूत कर्मका भी ग्रहण होता है । अर्थात् अनन्य भक्तको लौकिक, वैदिक सर्वकर्मोंका त्याग कर देना चाहिये । सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग हुए विना मनुष्य निवृत्तिपरायण कभी नहीं होता । वह ईश्वर-चिन्तनमें अहर्निश नहीं लगा रह सकता । अतः लौकिक और वैदिक यावत् कर्मोंके संन्यासकी आवश्यकता है । सम्पूर्ण कर्मोंको त्यागकर—विरक्त, निःस्पृह संन्यासी बनकर 'सर्वात्मा अद्वय अच्युत भगवान् ही मैं हूँ । मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ।' इस प्रकार सदा-सर्वदा दृढ़ धारणा करना ही सर्वधर्मोंका परित्याग है । यह भाष्यकार आचार्य श्रीशङ्कर-भगवत्पादका सिद्धान्त है ।

(५)

'धर्म' पदसे देहधर्म, इन्द्रियधर्म, प्राणधर्म, मनोधर्म, बुद्धिधर्म आदि धर्मोंका भी ग्रहण होता है; इन सब धर्मोंका परित्याग कर भगवान्‌रूप आत्माकी शरणमें होना चाहिये । ब्राह्मणत्वादि जाति, देवदत्तादि नाम, पितृत्व-पुत्रत्वादि सम्बन्ध, शुक्लत्वादि रूप एवं जन्म लेना, मरना, चलना, फिरना, बैठना आदि देहके धर्म हैं । देखना, सूँघना, सुनना, स्वाद लेना, स्पर्श करना, लेना-देना आदि इन्द्रियोंके धर्म हैं । क्षुधा, पिपासा आदि प्राणोंके धर्म हैं । सुख-दुःख, सङ्कल्प-विकल्प आदि मनके धर्म हैं । कर्तृत्व, भोक्तृत्व, निश्चय करना बुद्धिके धर्म हैं । 'ये सब-के-सब धर्म देहादिके हैं । देहादिसे अतिरिक्त साक्षी चिदात्मारूप मुझमें ये धर्म नहीं हो सकते । मैं चिदात्मा इन सब धर्मोंसे रहित हूँ, असङ्ग हूँ, निर्लेप हूँ, निर्विकार हूँ ।' ऐसा दृढ निश्चय करके देहादिके धर्मोंकी उपेक्षा करना ही सब धर्मोंका परित्याग है । आचार्य श्रीशङ्करभगवत्पादने कहा है—

न त्वं देहो नेन्द्रियाणि न प्राणो न मनो न धीः ।
विकारित्वाद्विनाशित्वाद् दृश्यत्वाच्च घटो यथा ॥
विशुद्धं केवलं ज्ञानं निर्विशेषं निरञ्जनम् ।
यदेकं परमानन्दं तत्त्वमस्यद्वयं परम् ॥
(सदाचारानुसन्धानम्)

हे मुमुक्षो ! जैसे विकारी, विनाशी एवं दृश्य होनेसे घटरूप तू नहीं है; वैसे विकारी, विनाशी एवं दृश्य होनेसे तू देह, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धिरूप भी नहीं हो सकता । तू अविकारी, अविनाशी एवं द्रष्टा है । जो विशुद्ध, केवल, निर्विशेष, निरञ्जन, परमानन्दस्वरूप, एक, अद्वय, विज्ञानघन परतत्त्व है, वही तू है । ऐसा निश्चयकर इन देहादिकोंके तुच्छ धर्मोंको अपनेमें मत मान ।

(६)

अथवा 'ध्रियते आश्रितो भवतीति धर्मः' इस व्युत्पत्तिसे 'धर्म' शब्द दृश्य, परिच्छिन्न, जडरूप अज्ञान और अज्ञानकार्य समस्त संसाररूप अनात्मवर्गको बतलाता है । भगवान्‌रूप आत्माके अतिरिक्त यावत् कल्पित पदार्थोंका ग्रहण करनेसे इस पक्षमें 'सर्वधर्मान्' इस वाक्यका 'सर्व' शब्द असङ्कुचितवृत्ति होकर चरितार्थ होता है । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
(१० । २०)
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
(१३ । २)

'वासुदेवः सर्वमिति'

अर्थात् हे गुडाकेश अर्जुन ! सर्वचराचर भूतोंके हृदयमें साक्षीरूपसे वर्तमान आत्मा मैं ही हूँ । हे भारत ! शरीररूपी सब क्षेत्रोंमें स्थित रहनेवाला क्षेत्रज्ञ, आत्मा मैं ही हूँ । वासुदेव ही सब है, अन्य कुछ नहीं है । ऐसा तुम निश्चय करो ।

आत्माके अतिरिक्त सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक वस्तुओंको मिथ्या—कल्पितरूपसे निश्चय करना ही सर्वधर्मोंको छोड़ना है । आचार्य श्रीशङ्कर स्वामीने भी कहा है —

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम् ।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ॥
(विवेकचूडामणि)

अर्थात् तमाम दुःखोंके कारण महान् पापमय अनात्मचिन्तनका त्याग करो और मुक्तिके कारण आनन्दस्वरूप आत्माका ही सर्वदा चिन्तन करो ।

इस प्रकार 'धर्म' शब्दके और भी अनेक अर्थ हो सकते हैं । गीताकी संस्कृतटीकाओंमें तथा महात्माओंके अनुभवमें इन अर्थोंका संग्रह है । विस्तारभयसे उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं करता हूँ ।

'शरण' शब्दके अर्थ

आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन स्वामीने गीतोक्त 'शरण' शब्दके तीन अर्थ किये हैं। जैसे—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः॥

अधिकारि-भेद एवं साधनाभ्यासके तारतम्यसे भगवच्छरणागति तीन प्रकारकी सिद्ध होती है।

(१) 'तस्यैवाहम्' उस प्रभुका ही मैं हूँ।

(२) 'ममैवासौ' वह प्रभु मेरा ही है।

(३) 'स एवाहम्' वह प्रभु मैं ही हूँ।

प्रथम शरणागति मृदु है। आचार्यपाद भगवान् श्रीशङ्कर स्वामीने उसका स्वरूप इस प्रकार बताया है।

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥
(षट्पदीस्तोत्रम्)

जैसे जलरूपसे समुद्र और तरङ्ग दोनों एक हैं, जल-दृष्टिसे दोनोंमें भेद नहीं है; परन्तु समुद्र एवं तरङ्गकी दृष्टिसे दोनोंका कल्पित भेद है—वैसे ही सच्चिदानन्दरूप-दृष्टिसे जीव और ईश्वर एक ही हैं। दोनोंमें लेशमात्र भी भेद नहीं है। परन्तु समष्टि एवं व्यष्टिरूप उपाधिसे अर्थात् जीवत्व-ईश्वरत्व-दृष्टिसे दोनोंमें भेद है। जैसे समुद्रकी तरङ्गें कही जाती हैं परन्तु तरङ्गोंका समुद्र नहीं कहा जाता। समुद्रके अधीन तरङ्गें होती हैं। तरङ्गके अधीन समुद्र नहीं होता। समुद्रके गुण, कर्म, शक्ति अनन्त हैं। तरङ्गके गुण आदि अनन्त नहीं, अपितु स्वल्प हैं। इसी प्रकार ईश्वरके जीव कहे जाते हैं, जीवोंका ईश्वर नहीं कहा जाता। ईश्वरके अधीन जीव हैं, जीवके वशमें ईश्वर नहीं। ईश्वरके गुण, कर्म, शक्ति, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि अनन्त हैं; जीवके गुण आदि अनन्त नहीं, अपितु स्वल्प हैं। अतएव 'मैं ईश्वरका ही हूँ, परमेश्वरका दास हूँ या मित्र हूँ अथवा पुत्र हूँ, ईश्वरके ही शरण हूँ।' इस प्रकारके भावका नाम मृदु भगवत्-शरणागति है।

द्वितीय शरणागति मध्यम है। उसका स्वरूप भक्तप्रवर बिल्वमंगलजीके आदर्श चरित्रसे स्पष्ट होता है। किसी समय बिल्वमंगलजी वृन्दावन जा रहे थे। मार्गमें बड़े-बड़े खड्डे एवं टूटे-फूटे कूप पड़ते थे। परन्तु बिल्वमंगलजी पक्के भक्त थे। एकमात्र प्रभुपर ही उनको विश्वास था। वे निरन्तर अपने-प्यारे प्रभुका ही स्मरण करते चले जा रहे थे। यकायक एक कूप सामने आ गया। वे चक्षु-विहीन थे ही, एक कदम भी और आगे बढ़ते तो उस कूपमें गिर जाते; परन्तु अन्तर्यामी प्रभु जिनके रक्षक हों, वे भला कूपमें कैसे गिर सकते थे? शीघ्र ही भक्तवत्सल प्रभु एक बालकका रूप धारण करके प्रकट हो गये, उन्होंने मधुर वाणीसे कुछ कहकर बिल्वमंगलका हाथ पकड़ा और इस प्रकार उन्हें कूपमें गिरनेसे बचा लिया। इतना ही नहीं, भगवान् मीठी-मीठी बातें करते हुए बिल्वमंगलजीको वृन्दावनकी ओर ले जाने लगे। इधर बिल्वमंगलजीको निश्चय हो गया कि यह बालक साधारण नहीं है, मनुष्यका ऐसा दिव्य भाषण एवं दिव्य स्पर्श कदापि नहीं हो सकता; यह साक्षात् भगवान् ही है। थोड़ी देर बाद जब कठिन मार्ग समाप्त हो गया, तब बालकरूप भगवान् जानेके लिये कहने लगे। बिल्वमंगलजी उनको रोकनेके लिये अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय करने लगे। परन्तु जब बालकरूप भगवान् जबर्दस्तीसे हाथ छुड़ाकर चल दिये, तब बिल्वमंगलजीने कहा—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हे प्यारे कृष्ण! आप बलपूर्वक मेरा हाथ छुड़ाकर चल दिये हैं। यह आपका अद्भुत पराक्रम नहीं माना जा सकता। आपका पराक्रम तो मैं तब मान सकता हूँ, जब आप मेरे हृदयसे निकलकर अलग हो जावें। अर्थात् 'आप तो सर्वदा मेरे ही हैं। आपकी श्यामसुन्दर मुनि-मनोहारिणी मनोहर साकार मूर्ति मेरे हृदयसे कभी भी नहीं निकल सकती।' यह बिल्वमंगलजीका दृढ अभिनिवेश था।

इसी प्रकार न्यायाचार्य श्रीउदयनाचार्यजीने भी प्रेमावेश-में 'प्रभु मेरा है' ऐसा भाव प्रदर्शित किया था। एक समय उदयनाचार्यजी जगन्नाथ भगवान्‌का दर्शन करनेके लिये पुरी गये थे। परन्तु वहाँ मन्दिरके फाटक बन्द थे, अतएव वे भगवान्‌को उलाहना देने लगे। उन्होंने कहा—

गायके बड़े भाग्य



गायके भाग्य सराहै कौन ?
मुँह लै थन चूँसत नँदनंदन मैया चकित रही धरि मौन।

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे ।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

'हे भगवन्! इस समय तुम ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो रहे हो, मेरी अवहेलना कर मुझे दर्शन नहीं देते। परन्तु ख्याल रखना कि जब नास्तिक बौद्धलोग आपका खण्डन करने आयँगे, तब मेरे ही अधीन आपकी स्थिति होगी। क्योंकि इस समय इन नास्तिकोंका शास्त्रार्थके द्वारा मुखमर्दन कर आपकी सिद्धि करनेवाला एकमात्र मैं ही हूँ।'

उदयनाचार्यके इस प्रकारके प्रेमभरे वचनोंको सुनकर भगवान्‌के मन्दिरके द्वार आप-ही-आप खुल गये। भगवान्‌ने मनोहर दर्शन देकर आचार्यजीको कृतार्थ किया। श्रीउदयनाचार्यजीकी प्रेमभक्तिका परिचय उनके इन श्लोकोंसे मिलता है—

अस्माकं तु निसर्गसुन्दर चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधे तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते।
तन्नाथ त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकात्मतां
याते चेतसि नाप्नवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥
कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात्संहरन्
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवं
विश्वासैकभुवं शिवं प्रतिनमन् भूयासमन्तेष्वपि ॥
(न्यायकुसुमाञ्जलि)

'हे निसर्गसुन्दर! हे आनन्दनिधे परमात्मन्! मेरा चित्त आपमें दीर्घकालसे आसक्त हो रहा है; परन्तु वह चञ्चल चित्त आपके दर्शन विना सन्तृप्त नहीं होता। इसलिये हे नाथ! आप ऐसी करुणा कीजिये कि आपमें यह चित्त तन्मय हो जाय, जिससे शतशः यमयातनाओंको मैं न प्राप्त होऊँ। जो भगवान् आकाशादि कार्य द्रव्यसमुदायको बना-बनाकर संहार करते हैं, पुनः अपनी मायाके द्वारा इन्द्रजालकी तरह इस जगत्‌की रचना करके क्रीडा करते हैं—उन विश्वसनीय, संसारके कारण, प्रतिबन्धरहित इच्छाप्रभाववाले कल्याणमय परमात्माको मैं शरीरान्तके समय भी प्रणाम करूँ।'

तृतीय भगवच्छरणागति विष्णुपुराणमें कही है—

सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान् परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात् ॥
(३।७।३२)

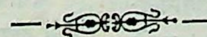
यमराज अपने भटोंसे कहते हैं कि 'हे भटो! यह विश्व वासुदेवरूप ही है। 'मैं वासुदेव हूँ' ऐसी जिसकी भावना दृढ हो गयी है, उसको तुम लोग दूरसे ही छोड़ देना। वहाँ तुम लोगोंका जाना ठीक न होगा।' अस्तु, 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकारकी अचल भावना उत्तम भगवच्छरणागति है।

भागवतमें भी कहा है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
(११।२।४५)

'सर्वचराचर भूतोंमें जो एकमात्र भगवान्‌रूप अधिष्ठान अपनी आत्माको ही देखता है और आत्मारूप भगवान्‌में सम्पूर्ण भूतोंको कल्पित देखता है, वही सर्वोत्तम भागवत है। यानी उसीकी शरणागति सर्वोत्तम है।'

भगवच्छरणागति एक महान् धर्म है, जो वेदादि सकल शास्त्रमें प्रतिपादित है; उसके लिये गौणधर्मोंके परित्यागकी आवश्यकता है। अतएव 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' इत्यादि वचनोंके साथ इस प्रकारके धर्मपरित्यागका कुछ विरोध नहीं हो सकता।



साहित्य-भण्डारका अमूल्य रत्न

भूमण्डलके साहित्य-भण्डारमें श्रीमद्भगवद्गीता एक अमूल्य, अद्वितीय एवं अनुपम रत्न है। हिन्दू-धर्मके मुख्य-मुख्य दार्शनिक विचार, वैज्ञानिक सिद्धान्त, धार्मिक तत्त्व, नैतिक उपदेश एवं ज्ञान-योग-भक्तिमार्गोंके साधन आदि सभीका प्रतिपादन इस अमूल्य ग्रन्थमें है। —लाला कन्नोमल, एम्० ए०

गीता-ज्ञातव्य

(लेखक—पं० श्रीव्रजवल्लभशरणजी विद्याभूषण, सांख्यतीर्थ)

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

श्रीगीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र—इन तीनोंकी प्रस्थानत्रयीके नामसे प्रसिद्धि है। अनन्त श्रीश्रीनिम्बार्कभगवान् एवं उनके पश्चात् होनेवाले सभी आचार्यपादोंने अपने-अपने भाष्योंके द्वारा इन्हीं तीनोंसे मुमुक्षुजनोंकी जिज्ञासाओंकी पूर्ति की है। इनमेंसे प्रत्येक प्रस्थान तत्त्वत्रयके प्रतिपादनमें ही पर्यवसित होता है। यद्यपि तीनोंका मुख्य विषय एक ही है, तथापि प्रतिपादनशैलीमें अवश्य तारतम्य है—जैसे कि उपनिषदोंकी अपेक्षा गीतामें और गीताकी अपेक्षा ब्रह्मसूत्रोंमें तत्त्वत्रयका प्रतिपादन संक्षिप्तरूपसे हुआ है। परन्तु प्रस्थान-त्रयीकी भाँति पदार्थत्रयी भी इनके प्रतिस्थलमें भासित हो रही है।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

—इस प्रथम वेदान्तसूत्रसे ही जिज्ञासा, जिज्ञास्य और जिज्ञासु—इन तीनोंकी प्रतिपत्ति हो जाती है। एवञ्च उपनिषदोंके भी—

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा'

—इत्यादि वाक्योंसे भोक्ता (जीव), भोग्य (प्रकृति) और प्रेरिता (परमात्मा)—ये तीन ही पदार्थ सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार गीता भी तत्त्वत्रयके प्रतिपादनमें ही चरितार्थ हुई है।

गीताके प्रथम षट्कमें प्रधानतया कर्म और द्वितीय षट्कमें उपासना एवं तृतीय षट्कमें प्रधानतया भक्तवत्सल आनन्द-कन्द श्रीगोपालकृष्णके स्वरूपका ज्ञान वर्णित हुआ है। उसमें भी तृतीय षट्कके मध्यमें ही—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

—इन वाक्योंमें जडात्मक सर्वभूतोंको 'क्षर' कहकर निर्देश किया और उसमें रहनेवाले कूटस्थ जीव-चैतन्यको अक्षर कहा है। इन दोनों क्षर और अक्षरसे उत्कृष्ट अन्तर्यामी परमात्मा तृतीय तत्त्व है।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

—जो कि समस्त ब्रह्माण्डोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट होकर चराचर जगत्का धारण एवं पोषण करता हुआ अपने अद्भुत शासनसे इसको मर्यादितरूपमें रखता है, किन्तु स्वयं सर्वथा निर्विकारी ही बना रहता है।

यद्यपि इन तीनों तत्त्वोंके अवान्तरभेद बहुत-से हैं, तथापि उन सभी भेदोंका उद्गम और तिरोभाव इन्हींमें होता है; एवं इन दोनों तत्त्वोंकी स्थिति एवं प्रवृत्ति केवल एक उत्तम पुरुष श्रीनन्दनन्दनके ही अधीन है—इस रहस्यको स्वयं श्रीमुखसे ही प्रकट किया है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

'हे अर्जुन! क्षर और अक्षर, इन दोनोंसे पर होनेके कारण वेद और लोकमें मैं पुरुषोत्तम कहा गया हूँ।' क्योंकि—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

'मुझसे पर और कोई वस्तु है ही नहीं; यह सम्पूर्ण जगत् जैसे डोरेमें मनिये गुँथे हुए रहते हैं, वैसे ही मुझमें पिरोया हुआ है।' उपर्युक्त वाक्योंसे परमात्मामें जगदाधारता एवं निर्विकारता दोनों सिद्ध होती हैं।

यद्यपि ये दोनों बातें विरुद्ध प्रतीत होती हैं क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि जो प्राणी किसी गुरुवस्तुको धारण करता है, वह भारसे दबनेपर कुछ पीडित होता है और पीडित होते ही उसकी आकृतिमें विकृति उत्पन्न हो जाती है; इसी प्रकार पालक भी पाल्यवस्तुमें ममत्व-बुद्धिके कारण उस वस्तुके उपचयापचयके अनुसार हर्ष-शोकादियुक्त होकर विकृत बन ही जाता है—तथापि परमात्माके स्वरूपमें किसी भी प्रकारका विकार नहीं होता, क्योंकि वह अव्यय है। यहाँपर

'बिभर्ति' और 'अव्यय'—इन दोनों पदोंसे परमात्मा और चराचररूपी जगत्का स्वाभाविक 'भेदाभेद' सम्बन्ध सिद्ध होता है, जिसका कि 'तादात्म्य' शब्दसे भी अन्यत्र सङ्केत हुआ है। कारण कि सर्वथा भिन्न होनेसे, त्रिगुणात्मक जगत्का धारण-पोषण नहीं हो सकता, और जगत्से सर्वथा अभिन्न माननेसे निर्विकारता सिद्ध नहीं होती। अतः इसी सम्बन्धको नवम अध्यायमें भगवान्ने स्वयं स्वीकार किया है। यथा हि—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

हे अर्जुन! तुम मेरे ऐश्वर्ययोगको अर्थात् विचित्र सम्बन्धको देखो, इसमें कैसी विचित्रता है! मेरा कोई अन्य आधार नहीं, किन्तु मैं समस्त जगत्का उत्पादक और आधार हूँ। तथापि जैसी जल आदि वस्तुओंकी घटादि पात्रोंमें आधारता है, वैसी आधारता मुझमें नहीं है। अन्तर यह है कि घट आदि पात्र अपने आधेय जलादि वस्तुओंके गुण-दोषोंसे लिप्त हो जाते हैं, परन्तु मैं आधार होकर भी आधेय वस्तुओंके गुण-दोषोंसे लिप्त नहीं होता; कारण कि मैं असङ्ग हूँ। अतएव समस्त चराचर जगत् स्वरूपेण मुझसे भिन्न है और स्थिति-प्रवृत्ति मेरे अधीन होनेके कारण मुझसे अभिन्न भी है। बस, इसी प्रकार भिन्नाभिन्नरूपसे जो मुझको जानता है—वही सब प्रकारसे मेरा भक्त है। इसी भावको गीता अ० १५ श्लो० १९ में—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

—भगवान्ने श्रीमुखसे व्यक्त किया है। और भी कहा है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

'हे अर्जुन! इसी तत्त्वत्रय और इनके भेदाभेदसम्बन्धको जानकर ही ज्ञाता कृतकृत्य हो सकता है, अन्यथा नहीं।'

वस्तुतः इस समस्त जगत्की स्फूर्ति, वृद्धि, तिरोभाव—सब कुछ उसी अखिल ब्रह्माण्डनायक, नटवर नन्दकिशोर, गोलोकाधिपति, सर्वेश्वर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रसे ही होता है और वह जगत्से बाहर है; तथापि जगत् उसके बाहर नहीं है, किन्तु उसीकी शक्तिपर निर्भर है। वह अत्यन्त समीप होते हुए भी भक्तिके विना व्यक्त नहीं होता। मायिक गुणोंसे रहित होनेपर भी वह समस्त सद्गुणोंका समुद्र ही है। उनसे अधिक तो क्या, समान भी दूसरा कोई नहीं है। अतएव वही एक शरण्य है, उसीकी शरण लेनी चाहिये; कोई दूसरी गति नहीं है। बस, यही समस्त शास्त्रोंका रहस्य है और इसी रहस्यको भगवती गीता व्यक्त करती है। भगवान् श्रीआद्याचार्य श्रीनिम्बार्काचार्य प्रभुने भी यही व्यक्त किया है कि—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा-
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्॥

'ब्रह्मा, शिव आदिसे वन्दनीय तथा भक्तोंके इच्छानुसार ध्यान करने योग्य मनोहर विग्रह धारण करनेवाले, अचिन्त्य शक्ति और अमित प्रभाववाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके पदारविन्दोंके अतिरिक्त कोई दूसरी गति (शरण) नहीं दिखायी देती।'

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

भगवान्का भी अन्तिम उपदेश और प्रतिज्ञा बस, यही है कि सभी आशाओंको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जाओ, मैं ही तुमको सब दुःखोंसे छुड़ा दूँगा। बस, यही गुह्यतम शास्त्र और गीताका ज्ञातव्य विषय है; इसीको जानकर भगवत्-शरणापन्न जीव मुक्त हो सकता है।

गीतामें अवतार-सिद्धान्त

भगवद्गीता महाभारतका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश है।……यह एक नाट्य-पद्य-काव्य है और इसकी शैली कुछ-कुछ प्लेटोके संवाद (Dialogue of Plato) से मिलती है। विष्णुके अवतार श्रीकृष्ण और महाभारतके चरित्रनायक वीर अर्जुनका संवाद इसका विषय है। भगवद्गीताका सर्वत्र ही महान् आदर है और हिन्दू-जातिके विचार तथा विज्ञानपर इसके सिद्धान्तोंका गहरा प्रभाव है। इन्हीं सिद्धान्तोंमें ईश्वरके अवतारका सिद्धान्त भी पाया जाता है, जिसपर हिन्दू-जातिका अटल विश्वास है।

—रेवेरेंड ई॰ डी॰ प्राइस

गीता-तत्त्वार्थ

(लेखक—पं० श्रीअमोलकरामजी तर्कतीर्थ, वेदान्तवागीश, द्वैताद्वैतमार्तण्ड)

हार्दध्वान्तनिरासवासरमणिर्विज्ञानवारांनिधिः
भक्ताभीष्टसहस्रपूरणविधौ चैतन्यचिन्तामणिः ।
सद्भृङ्गेप्सितविष्णुभक्तिनलिनीव्याकोशहेतूदयः
सोऽस्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं निम्बार्कनामा मुनिः ॥

श्रीसर्वेश्वर प्रभुकी अनन्त और अचिन्त्य शक्तिसे समुत्पन्न इस संसाररूपी वृक्षके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों फल शास्त्रमें पुरुषार्थके नामसे कहे गये हैं । उन चतुर्विध पुरुषार्थोंसे प्रेम एक सर्वोत्तम और विलक्षण पुरुषार्थ है, यह कहना अनुचित न होगा । कारण कि जिस प्रेमरूप दृढतर डोरीसे आनन्दकन्द व्रजचन्द श्रीनन्दनन्दनके मनोहर, सन्तापहारी, दिव्य, परम मङ्गलकारी, सुभग, परम सुशीतल, अरुणवर्ण श्रीचरणकमलोंको जिस रसिक भक्तने अपने भक्ति-संशोधित हृदयकमलमें बाँध लिया है—उस भक्तके हृदयागारसे भगवान् कदापि दूर नहीं हो सकते । प्रेमके वशीभूत होकर ही परमपुनीत भक्ताग्रगण्य श्रीपाण्डुपुत्रोंकी प्रभुने रक्षा की और उनके अनुचर बनकर पार्थके सारथि बने, एवं भारतके भीषण युद्धमें कर्णप्रभृति महान् बलशाली योद्धाओंके असह्य बाणोंसे अपने प्रेमी भक्त अर्जुनको अपनी भुजाओंमें रखकर बचाया ।

उसी सङ्कट-दशामें अखिलब्रह्माण्डनायक सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वायु, अग्नि, मृत्युप्रभृति चेतनाचेतनके नियन्ता, जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण और उसकी वृद्धि और लय करनेवाले, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, चेतनाचेतनमात्रके भिन्नाभिन्नसम्बन्धी, परात्पर, परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी शक्ति और गुणविषयक विद्याका उपदेश किया—जो कि मूर्तिमती होकर आज गीताके रूपमें समस्त जगत्को कल्याणकी ओर आकर्षित कर रही है । इस अनुपमोपकारकारिणी श्रीभगवती गीताका मूलतत्त्वार्थ निम्नोक्त प्रकारसे है ।

प्रथम अध्याय

श्रीअर्जुनको आत्मतत्त्वके उपदेश करनेका कारण—शोक और मोहका प्रदर्शन । बस, यही गीताशास्त्रकी उपोद्घातसङ्गति है ।

द्वितीय अध्याय

श्रीअर्जुनके शोक-मोहकी निवृत्तिके लिये देहसे आत्माका पार्थक्यरूप विवेक ।

विवेकका साधन निष्कामकर्मयोग । कर्मयोगसे अन्तःकरण-शुद्धिपूर्वक भगवान्का आश्रयण । भगवान्के आश्रयसे इन्द्रियोंका संयम । इन्द्रियसंयमसे स्थितप्रज्ञता और उसका फल सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वक परम शान्तिकी प्राप्ति । वस्तुतः उपर्युक्त द्वितीयाध्यायके भावार्थको ही विस्तृतरूपसे भगवान्ने शेष सोलह अध्यायोंमें दिखाया है ।

तृतीय अध्याय

अमृदितकषाय मुमुक्षु मोक्षके लिये सहसा ज्ञानयोगका अधिकारी नहीं हो सकता, अतः उसको ज्ञानकी तरह निःसन्देह कर्तव्य-कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये । एवं ज्ञानयोगाधिकारीके लिये भी फलकी आकांक्षा छोड़कर लोकसंग्रहके लिये कर्मयोगका पालन करना आवश्यक है ।

चतुर्थ अध्याय

कर्मयोगका फल ज्ञानयोग है । ज्ञानके अनुसन्धानका प्रकार और कर्मोंका स्वरूप तथा भेद ।

पञ्चम अध्याय

माहात्म्यपूर्वक कर्मयोग और ज्ञानयोग । ज्ञानका अन्तरङ्ग उपाय ध्यानयोग ।

षष्ठ अध्याय

विस्तारपूर्वक ध्यानयोग । इस प्रकार अनन्य भक्तियोग अर्थात् परम प्रेमका साधन 'त्वं' पदार्थ प्रत्यगात्माके स्वरूपका ज्ञान है । एवं निष्कामकर्मयोग, उपशम, वैराग्य और योगादि भी अनन्य भक्तियोगके ही साधन हैं । यह प्रथम षट्कका संक्षिप्त सार है ।

सप्तम अध्याय

भजनीय प्रभुके स्वरूपका वर्णन और भक्तोंके भेद ।

अष्टम अध्याय

भक्तिद्वारा ही संसारनिवृत्तिपूर्वक भगवान्की प्राप्ति ।

भगवत्प्राप्तिके प्रकार । ज्ञानयोग और ध्यानयोग भगवत्प्राप्तिके असाधारण साधन हैं ।

कारण, ज्ञानयोग और ध्यानयोगका अभ्यास करनेवाले मुमुक्षुजनोंको ही अर्चिरादि मार्गके द्वारा परमपदकी प्राप्ति होती है । अन्यथा ज्ञान-ध्यानरहित जनोंको तो जन्म-मरणादि संसारचक्रमें ही भटकना पड़ता है ।

नवम अध्याय

ज्ञान-माहात्म्य । अभक्तोंकी निन्दा । भक्तोंको परमफलकी प्राप्ति और भक्तिका माहात्म्य ।

दशम अध्याय

भक्तिकी उपपत्तिके लिये भगवान्की विभूतियोंका वर्णन ।

एकादश अध्याय

अर्जुनको दिव्य चक्षु देकर विराट् स्वरूप दिखाना।

द्वादश अध्याय

भक्तिका स्वरूप, सगुणोपासना और उसकी विशेषता एवं प्रिय भक्तोंके लक्षण ।

त्रयोदश अध्याय

परमात्माकी परा और अपरा प्रकृतिका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञरूपसे वर्णन । और उन दोनोंका परमात्माके साथ भेदाभेदसम्बन्ध । आत्माको उत्तम या अधम योनिकी प्राप्तिमें प्रकृतिके गुणोंका सङ्ग ही कारण है । आत्मज्ञानके अमानित्वादि २० साधन । आत्माका अणुपरिमाण होते हुए भी धर्मभूत अपने व्यापक ज्ञानसे समस्त शरीरको प्रकाशित करना इत्यादि विषयोंके प्रतिपादनसे ये सन्देह मिटाये गये हैं कि प्रकृति-पुरुषका परमात्माके साथ केवल भेद है अथवा अभेद-सम्बन्ध है ? पुरुषका वास्तविक स्वरूप कैसा है और वह संसारी कैसे बनता है ? और संसारी जीवकी मुक्ति कैसे होती है ? मुक्तिका स्वरूप क्या है ?

चतुर्दश अध्याय

आत्माके बाँधनेवाले गुणोंका कारण भी परमात्मा ही है । बन्धनोंके लक्षण और प्रकार, बाँधनेवाले गुणोंके कार्योंके भेद, गुणातीत पुरुषोंके लक्षण, गुणोंके अतिक्रमण करनेकी रीति । गुणातीतोंको ब्रह्मभावकी प्राप्ति ।

पञ्चदश अध्याय

ब्रह्मभावकी प्राप्तिके योग्य पुरुषके बन्धन हटानेके लिये वैराग्य उत्पन्न करनेके निमित्त संसारको पीपलका वृक्ष कहकर ज्ञानरूप तलवारसे उसको छेदन करनेके लिये कहना । शरणागतिका भाव ग्रहण करनेसे मान-मोहादिके त्यागपूर्वक परमपदकी प्राप्ति होती है । शरण्य और प्राप्तव्य परमात्मा सम्पूर्ण चेतनाचेतनका आत्मा और प्रकाशक, सब जीवोंका अंशी, वेदोंसे जाननेयोग्य और वेदोंका प्रकाश करनेवाल तथा वेदोंके अर्थका यथार्थ ज्ञाता एवं प्रकृति और जीवसे पृथक् है ।

इस प्रकारसे जो परमात्माको जानता है, वह सर्वज्ञ एवं कृतकृत्य हो जाता है ।

षोडश अध्याय

अधिकारी और अनधिकारियोंके निर्णयके लिये हेय और उपादेय दैवासुरसम्पत्तिके भेद । दैवीसम्पदा मोक्षका कारण और आसुरीसम्पदा अधम गतिको देनेवाली है ।

सप्तदश अध्याय

आसुरीसम्पत्ति त्याज्य और दैवीसम्पत्ति ग्राह्य है— एतदर्थ तीनों गुणोंके भेदसे श्रद्धा, आहार, तप, यज्ञ और दानके गुणानुसार विभाग ।

अष्टादश अध्याय

समस्त अध्यायोंको एकत्र ही ग्रहण करनेके लिये अठारहवें अध्यायमें यह बतलाया है कि पराभक्तिके अनधिकारियोंको, जिनकी बुद्धि विशुद्ध नहीं है, श्रद्धापूर्वक यज्ञ, दान, तप आदिमें निष्ठा रखनी चाहिये । जिनकी बुद्धि विशुद्ध और काम-क्रोधादिसे रहित है, ऐसे ब्रह्मभूत ज्ञानियोंको ही पराभक्ति प्राप्त होती है और पराभक्तिसे ही भगवान्के स्वरूप, गुण, ऐश्वर्यके यथार्थ ज्ञानका लाभ करके भक्तजन जनार्दनकी प्राप्ति करते हैं ।

सब जीवोंके नियन्ता, स्वतन्त्र और निरङ्कुश ऐश्वर्यवाले प्रभुकी आज्ञामें रहनेवाला अनन्य शरणागत और निरतिशय प्रेमसे प्रभुका भजन करनेवाला निष्कामी भक्त चाहे अपनी इच्छासे कुछ भी कर्म करे या न करे, उसको कोई भी पाप नहीं छू सकता । इतना ही नहीं, अपितु उसको भगवत्प्राप्ति होनेमें भी कुछ सन्देह नहीं रह जाता ।

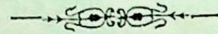
समस्त निगमागमसारस्वरूप इस गीताशास्त्रका सच्चा और प्रमुख अधिकारी वही है जो कि प्रेमार्द्र अपने मानस-सरोवरको अगाध प्रेमपयोधि बनाना चाहता हो और उसके लिये तन-मन-धनसे शुश्रूषा एवं तपःकर्मोंमें निरत हो। अतएव श्रीसर्वेश्वर प्रभुने प्रेम और प्रेमके साधनोंसे रहित पुरुषोंको गीतातत्त्वार्थ कहनेका निषेध किया है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

हे अर्जुन! यह गीतातत्त्व मेरे निन्दक, अभक्त और तप एवं सेवाशून्यको न देना; अपितु मेरे प्रेमी भक्तोंको, जो कि इसके अधिकारी हैं, देना। कारण—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

भक्तों और प्रेमियोंको गीतातत्त्व देनेवालेके अतिरिक्त जगत्‌में मेरा कोई प्रिय नहीं है और न होगा ही। इसलिये परमप्रेम ही गीताका तत्त्व और विलक्षण पुरुषार्थ है।



गीताका तात्पर्य

(लेखक—पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराज)

मेरे विचारसे गीताका मुख्य तात्पर्य ज्ञानमें है, कर्म या भक्तिमें नहीं। गीतामें इनका जो वर्णन किया गया है वह गौणरूपसे है, मुख्यतः नहीं। वस्तुतः तो भगवान्‌ने अर्जुनको तत्त्वज्ञान देनेके लिये ही गीताका उपदेश किया था। अर्जुनको मोह हुआ था। मोहकी निवृत्ति ज्ञानसे ही होती है। अतः भगवान्‌ने गीताके द्वारा अर्जुनको ज्ञानका ही उपदेश किया है। वे कहते हैं—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।

इस श्लोकमें जो उत्तम रहस्य बताया गया है, वह ज्ञान ही हो सकता है। 'रहस्य' शब्दका प्रयोग प्रायः ज्ञानके लिये ही किया जाता है। इसके सिवा वे अर्जुनको भक्त और सखा तो स्वयं ही कह रहे हैं; इसलिये भी उसे कर्म या भक्तिका उपदेश करना तो अनावश्यक ही होगा।

ज्ञानसे निवृत्ति या प्रवृत्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानीके लिये निवृत्ति अवश्य ज्ञानका परम्परागत साधन है, किन्तु ज्ञान होनेके पश्चात् तो वह प्रारब्धाधीन है। अर्जुन तो गीतोक्त ज्ञान प्राप्त करके युद्ध-जैसी दुष्कर प्रवृत्तिमें तत्पर हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानके पश्चात् निवृत्ति अनिवार्य नहीं है। ज्ञान अज्ञानका विरोधी है, प्रवृत्तिका नहीं; और न वह निवृत्तिका उत्पादक ही है। ज्ञानके पश्चात् जीवन्मुक्तिसुखके लिये निवृत्तिपरायण होना निष्कामकर्म और भक्तिका फल है। इसलिये यद्यपि गीताका प्रधान विषय तो आदिसे अन्ततक ज्ञान ही है, तथापि ज्ञानकी दृढ़ताके लिये उसमें जगह-जगह ध्यानादिपर भी बहुत जोर दिया गया है तथा ज्ञानके साधन होनेसे निष्काम कर्म और भक्तिका भी पर्याप्त वर्णन किया गया है; क्योंकि जबतक इनके द्वारा दृढ़ वैराग्यकी प्राप्ति नहीं होती तबतक ज्ञानमार्गमें प्रवृत्त होना गजस्नानके समान निरर्थक ही है।

गीतासार

(लेखक—पूज्यपाद स्वामी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

गीताका तत्त्व समझना तो बहुत ही कठिन है, करोड़ोंमें कोई एक विरला माईका लाल ही समझता होगा। मैं तो गीताका आशय इतना ही समझा हूँ कि मनकी दुर्बलता त्यागनेसे सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त होती है, इसलिये कल्याणकाङ्क्षीको हृदयकी क्षुद्रता त्यागनी चाहिये—जैसा कि भगवान्‌ने गीताके दूसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा है।

भोगोंकी आसक्तिसे मन दुर्बल होता है, भोगोंकी आसक्ति त्यागनेसे मन बलिष्ठ होता है। आत्मानुसन्धान करनेसे भोगोंकी आसक्ति छूटती है, भोगोंकी आसक्ति त्यागनेसे आत्मज्ञान होता है, इसलिये मुमुक्षुको नित्य-निरन्तर भोगासक्ति त्यागनेका प्रयत्न करना चाहिये। आत्माका अनुसन्धान करना चाहिये। आत्माका स्वरूप भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक बताया है। जिनके अन्तःकरण शुद्ध हैं, उनको उन श्लोकोंके श्रवण-मनन करनेसे आत्माका ज्ञान हो सकता है। जिनके अन्तःकरण शुद्ध नहीं हैं, उनको भगवान्‌ने कर्मयोग बतलाया है। ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करनेका नाम कर्मयोग है। कर्मयोगका अनुष्ठान करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, अन्तःकरण शुद्ध होनेसे आत्माका ज्ञान हो जाता है, आत्माका ज्ञान होनेसे भोगोंकी आसक्ति निवृत्त हो जाती है, भोगोंकी आसक्ति निवृत्त होनेसे वासनाओंकी निवृत्ति हो जाती है, वासनाओंकी निवृत्ति होनेसे अधिकारीका संसार निवृत्त हो जाता है, संसार निवृत्त होनेसे अधिकारी एक ईश्वरकी शरण लेता है, ईश्वरकी शरण लेनेसे सब धर्म छूट जाते हैं; क्योंकि समस्त धर्म देहके हैं, देही—आत्माका कोई धर्म नहीं है। सब धर्म छूट जानेसे जैसे आँख सर्वत्र रूपको देखती है, उसी प्रकार अधिकारीकी बुद्धिकी वृत्ति सर्वत्र ब्रह्म—आत्माको ही विषय करती है। ऐसा पुरुष जीता हुआ ही निरन्तर जीवन्मुक्तिके सुखका अनुभव करता है और शरीर त्यागनेके पीछे विदेहमुक्तिके सुखका अनुभव करता है।

ऐसे पुरुषका ही नर-जन्म सफल है; साँस तो धौंकनी भी लेती है, जीते तो वृक्ष भी हैं, पशु-पक्षी भी खाते-पीते और सन्तान उत्पन्न करते हैं। इनका जीना जीना नहीं है, क्योंकि उनके जीवनसे उनका अथवा अन्य किसीका लाभ नहीं है।

रे मन! चेत जा! भोगोंकी आसक्ति छोड़ दे! भोगतत्पर मत हो! भोगोंकी आसक्तिने तुझे दीन, दुःखी, छोटा, रोगी बना रक्खा है; नहीं तो तू न तो दीन है न दुःखी है, न छोटा है और न रोगी है किन्तु स्वतन्त्र, सुखी, महान् और नीरोगी है; न तू जन्मता है, न तू मरता है, न तू वृद्ध होता है किन्तु सर्वथा अज, अजर और अमर है। गीता पढ़ना सफल कर ले; गीताका पठन-पाठन नर-जन्ममें ही मिल सकता है, अन्य योनिमें नहीं मिल सकता। यदि इस जन्ममें गीताका तत्त्व न समझा, तो फिर समझनेकी आशा नहीं है! गीतातत्त्व न समझा तो बार-बार जन्मता, मरता और दुःख पाता ही रहेगा। कभी संसारचक्रसे छूटेगा नहीं! समझ जा! समझ जा!! अब भी समझ जा!!!

कुं०—गीता पढ़ रे! नित्य ही, अन्य धर्म दे त्याग। अपने आत्मा कृष्णमें कर केवल अनुराग॥
कर केवल अनुराग एक अद्वय शिव माहीं। सबमें उसे निहार, स्वप्न भी दूजा नाहीं॥
भोला! चित्त मलीन, शान्तिसे रहता रीता। पढ़ गीता हो शान्त, यही कहती है गीता॥

गीता धर्मकी निधि है

मेरा विश्वास है कि मनुष्य-जातिके इतिहासमें सबसे उत्कृष्ट ज्ञान और अलौकिक शक्तिसम्पन्न पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण हुए हैं। मेरा दूसरा विश्वास यह है कि पृथ्वीमण्डलकी प्रचलित भाषाओंमें उन भगवान् श्रीकृष्णकी कही हुई भगवद्गीताके समान छोटे वपुमें इतना विपुल ज्ञानपूर्ण कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

वेद और उपनिषदोंका सार, इस लोक और परलोक दोनोंमें मङ्गलमय मार्गका दिखानेवाला, कर्म, ज्ञान और भक्ति—तीनों मार्गोंद्वारा मनुष्यको परमश्रेयके साधनका उपदेश करनेवाला, सबसे ऊँचे ज्ञान, सबसे विमल भक्ति, सबसे उज्ज्वल कर्म, यम, नियम, त्रिविध तप, अहिंसा, सत्य और दयाके उपदेशके साथ-साथ धर्मके लिये धर्मका अवलम्बन कर, अधर्मको त्याग कर युद्ध करनेका उपदेश करनेवाला यह अद्भुत ग्रन्थ है—जिसमें १८ छोटी अध्यायोंमें इतना सत्य, इतना ज्ञान, इतने ऊँचे गम्भीर सात्त्विक उपदेश भरे हैं, जो मनुष्य-मात्रको नीची-से-नीची दशासे उठाकर देवताओंके स्थानमें बैठा देनेकी शक्ति रखते हैं। मेरे ज्ञानमें पृथ्वीमण्डलपर ऐसा कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है जैसा भगवद्गीता है। गीता धर्मकी निधि है। केवल हिन्दुओंकी ही नहीं, किन्तु सारे जगत्के मनुष्योंकी निधि है। जगत्के अनेक देशोंके विद्वानोंने इसको पढ़कर लोककी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले परमपुरुषका शुद्ध सर्वोत्कृष्ट ज्ञान और उनके चरणोंमें निर्मल निष्काम परमा भक्ति प्राप्त की है। वे पुरुष और स्त्री बड़े भाग्यवान् हैं, जिनको इस संसारके अन्धकारसे भरे घने मार्गोंमें प्रकाश दिखानेवाला यह छोटा किन्तु अक्षय स्नेहसे पूर्ण धर्म-प्रदीप प्राप्त हुआ है। जिनको यह धर्म-प्रदीप (धर्मकी लालटेन) प्राप्त है, उनका यह भी धर्म है कि वे मनुष्यमात्रको इस परम पवित्र ग्रन्थका लाभ पहुँचानेका प्रयत्न करें।

मेरी यह अभिलाषा और जगदाधार जगदीशसे प्रार्थना है कि मैं अपने जीवनमें यह समाचार सुन लूँ कि बड़े-से-बड़ेसे लेकर छोटे-से-छोटेतक प्रत्येक हिन्दू-सन्तानके घरमें एक भगवद्गीताकी पोथी भगवान्की मूर्तिके समान भक्ति और भावनाके साथ रक्खी जाती है। और मैं यह भी सुनूँ कि और-और धर्मोंके माननेवाले इस देशके तथा पृथ्वीमण्डलके और सब देशोंके निवासियोंमें भी भगवद्गीताके प्रचारका इस कार्यके महत्त्वके उपयुक्त सुविचारित और भक्ति, ज्ञान और धनसे सुसमर्थित प्रबन्ध हो गया है।

॥ श्रीकृष्णः प्रीणातु ॥

मदन मोहन मालवीय

गीताका महत्त्व

(महात्मा गांधीजी)

गीताकी शिक्षा

मैं तो चाहता हूँ कि गीता न केवल राष्ट्रीय शालाओंमें ही बल्कि प्रत्येक शिक्षा-संस्थाओंमें पढ़ायी जाय। एक हिन्दू बालक या बालिकाके लिये गीताका न जानना शर्मकी बात होनी चाहिये। यह सच है कि गीता विश्वधर्मकी एक पुस्तक है। बाहरी दबावसे गीता कभी विश्वव्यापिनी नहीं होगी। वह विश्वव्यापिनी तो तभी होगी जब उसके प्रशंसक उसे जबर्दस्ती दूसरोंके गले न उतारकर स्वयं अपने जीवनद्वारा उसकी शिक्षाओंको मूर्त रूप देंगे।

गीतामें श्रद्धा

जो वस्तु बुद्धिसे भी अधिक है, परे है—वह श्रद्धा है। बुद्धिका उत्पत्ति-स्थान मस्तिष्क है, श्रद्धाका हृदय। और यह तो जगत्‌का अविच्छिन्न अनुभव है कि बुद्धि-बलसे हृदयबल सहस्रशः अधिक है। श्रद्धासे जहाज चल रहे हैं, श्रद्धासे मनुष्य पुरुषार्थ करता है, श्रद्धासे वह पहाड़ों-अचलोंको चला सकता है। श्रद्धावान्‌को कोई परास्त नहीं कर सकता। बुद्धिमान्‌को हमेशा पराजयका डर रहता है। इसी कारण भगवान्‌ने गीताके सतरहवें अध्यायमें कहा है—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः', जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बनता है। मनुष्य यह श्रद्धा कैसे प्राप्त करे? इसका उत्तर गीतामें है, रामचरितमानसमें है। भक्तिसे, सत्सङ्गसे श्रद्धा प्राप्त होती है।

गीतामें अनासक्ति

अपने-परायेके बीच भेद न रखनेकी बात तो गीताके पन्ने-पन्नेमें है। पर यह कैसे हो सकता है? यों सोचते-सोचते हम इस निश्चयपर पहुँचेंगे कि अनासक्तिपूर्वक सब काम करना ही गीताकी प्रधान ध्वनि है।

गीतासे सब समस्याओंका हल

'……जब-जब सङ्कट पड़ते हैं, तब-तब सङ्कट टालनेके लिये हम गीताके पास दौड़ जाते हैं और उससे आश्वासन पाते हैं। हमें गीताको इस दृष्टिसे पढ़ना है। वह हमारे लिये सद्‌गुरु-रूप है, मातारूप है और हमें विश्वास रखना चाहिये कि उसकी गोदमें सिर रखनेसे हम सही-सलामत रहेंगे। गीताके द्वारा हम अपनी तमाम धार्मिक उलझनें सुलझावेंगे। इस विधिसे जो रोज गीताका मनन करेगा, उसे उसमेंसे नित्य नया आनन्द मिलेगा—नये अर्थ प्राप्त होते रहेंगे। ऐसी एक भी धार्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके।' (संकलित)

गीता-तत्त्व

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी झा, एम्० ए०, एल्-एल्० डी०, डी० लिट्०)

इन पंक्तियोंका लेखक सच्चे जिज्ञासुओंको यह चेतावनी देना अपना कर्तव्य समझता है कि वे गीताके टीकाकारों तथा व्याख्याकारोंसे सावधान रहें। गीताके उपदेशोंको सुनकर अर्जुनने क्या किया, उसीसे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णने उसे क्या उपदेश दिया था। और भगवान् अन्ततक अर्जुनके पथप्रदर्शक, सलाहकार और सखा बने रहे—इससे यह स्पष्ट है कि उसने जो कुछ किया उससे उनको सन्तोष था।

तब यह प्रश्न होता है कि अर्जुनने गीताका उपदेश सुनकर क्या किया।

उसने अपने क्षात्रधर्मका पालन किया। उसने जङ्गलकी राह नहीं ली, न उसने गृहस्थ-धर्मका परित्याग ही किया। अतः गीताका उपदेश स्पष्ट ही यह था कि मनुष्यको अपनी सामाजिक स्थिति एवं अवस्थाके अनुकूल कर्तव्योंका पालन करना चाहिये।

यदि किसी-किसी श्लोकमें इससे भी ऊँचे सिद्धान्तोंकी ओर सङ्केत पाया जाता है तो इससे यही द्योतित होता है कि मानवी आकाङ्क्षाके ऐसे क्षेत्र भी हैं जो सामान्य मनुष्यके मन और बुद्धिसे परे हैं। परन्तु ये आकाङ्क्षाएँ कुछ गिने-चुने मनुष्यों-के लिये ही हैं, जनसाधारणके लिये नहीं।

अतः इन आकाङ्क्षाओंके कारण हमें अपने गन्तव्य मार्गपर रुकनेकी आवश्यकता नहीं है, न इनके कारण हमें अपने निश्चित कर्तव्योंके पालनमें ही किसी प्रकारकी बाधा होनी चाहिये। बल्कि भगवान् तो हमें चेतावनी देते हैं कि हम अपनी प्रकृति अर्थात् अपनी योग्यता और परिस्थितिका अतिक्रमण नहीं कर सकते—

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

(गीता १८। ५९)

'यदि तू अहङ्कारका आश्रय लेकर ऐसा मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो तेरा यह निश्चय झूठा है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे युद्धमें लगा ही देगा।'

गीताके साथ उसके दार्शनिक व्याख्याताओंने न्याय नहीं किया है; विकट परिस्थितिमें पड़े हुए एक मित्रको राह बतलानेके अभिप्रायसे जो एक सर्वथा व्यावहारिक सलाह दी गयी थी, उसमेंसे इन लोगोंने एक सर्वाङ्गपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तको मथकर निकालनेकी चेष्टा की है। भगवान्‌का आशय यह न था कि ऐसे समयमें जब कि उनका अनुगत सखा उनसे कर्तव्य पूछ रहा था वे उसके सामने एक दार्शनिक वक्तृता झाड़ते।

अतः गीता हमें यही सिखाती है कि हम वही करें जो अर्जुनने किया था; हम ईमानदारीके साथ अपने कर्तव्यका, अपने निःशेष कर्तव्यका पालन करें—'कर्मण्येवाधिकारस्ते।'

गीताका निष्कर्ष

(लेखक—डाक्टर भगवानदास, एम्० ए०, डी० लिट्०)

निष्कर्ष यह है कि अध्यात्मशास्त्र ही गुह्यतम श्रेष्ठ शास्त्र है। उसीके आदेश-उपदेशके अनुसार कर्तव्यका निर्णय करना और कार्य करना चाहिये। जिसका प्रत्यक्ष तात्कालिक उदाहरण भी स्वयं गीतारूपी अध्यात्मशास्त्रका सार और तदनुसार अर्जुनके युद्धरूपी कृत्यका निर्णय और युद्ध है। 'मामनुस्मर युध्य च'—'माम्'=आत्मानम्; अनुस्मर= बुद्धौ धारय, युध्य=युध्यस्व, सर्वपापैः सह युद्धं कुरु। यही गीताका निष्कर्ष है।

गीताका सन्देश

(लेखक—साधु टी० एल्० वास्वानी)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके विचार भरे हैं। यह ग्रन्थ इतना अमूल्य और आध्यात्मिक भावोंसे पूर्ण है कि मैं समय-समयपर परमात्मासे यह प्रार्थना करता आया हूँ कि वे मुझपर इतनी दया करें और शक्ति प्रदान करें जिससे मैं मृत्युकालपर्यन्त इस सन्देशको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचा सकूँ।

मनुष्य-जातिके कल्याणके लिये गीता ही सबसे अधिक उपयोगी ग्रन्थ है

(लेखक--प्रिंसिपल श्रीयुत श्यामाचरण दे, एम्० ए०)

मुख्य प्रश्न जो अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा और सो भी कई बार, वह यह था—'मेरा निश्चित कल्याण किसमें है? मुझे एक निश्चित राय बताओ जिससे मैं कल्याण प्राप्त कर सकूँ।' अतः मालूम होता है कि गीताका मुख्य विषय यह है—मानव-जातिका सबसे अधिक कल्याण किस बातमें है और वह किस तरह प्राप्त हो सकता है? संक्षेपमें भगवान् श्रीकृष्ण हमें बतलाते हैं कि मोक्ष (अर्थात् जीवात्माका जन्म-मृत्युके बन्धनसे छूट जाना) ही मनुष्यके लिये सबसे बड़ा कल्याण है और वह निष्काम (फलकी इच्छासे रहित) कर्मके अनुष्ठानसे प्राप्त हो सकता है; क्योंकि इस संसारमें हम अपने ही कर्मोंका फल भोगनेके लिये बार-बार जन्म लेते हैं। भगवद्गीता हमें निष्काम कर्मके योग्य बननेके साधन और उपाय बतलाती है और निष्काम कर्मकी पहली सीढ़ी है—जिस तरहसे भी हो स्वधर्मका पालन करना। कोई भी समाज, यदि उसके अङ्गभूत व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते, जीवित नहीं रह सकता और न कोई व्यक्ति ही उन्नति कर सकता है, फल-फूल सकता है और सुखी हो सकता है यदि वह अपने विहित कर्मका त्याग कर देता है। अतः मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये भगवद्गीताके समान उपयोगी ग्रन्थ कोई भी नहीं है। इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि लोग उसके आशयको भलीभाँति समझें और उसका जगत्में अधिकाधिक प्रचार हो। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'कल्याण' ने इस महान् कार्यको हाथमें लिया है। मैं भगवान्से प्रार्थना करता हूँ कि वे इस कार्यमें पूर्ण सफलता प्रदान करें।

गीताका विश्वव्यापी प्रचार

(लेखक—रेवरेंड सी० एफ्० एंड्रूज़ महोदय)

भारतवर्षके पिछले डेढ़ सौ वर्षके इतिहासमें एक बात सबसे अधिक उल्लेखयोग्य यह हुई है कि धार्मिक विषयके सरल एवं छोटे ग्रन्थोंमें गीताके प्रति लोगोंकी रुचि खूब बढ़ गयी है। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके प्रारम्भिक कालमें बंगालमें वारेन हेस्टिंग्ज़्-को उन्हींके साथ आये हुए एक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान्‌ने जब गीताकी एक मूल प्रति अंग्रेजी-अनुवाद-सहित दी तो उन्होंने इसका संस्कृत-साहित्यकी एक बहुत बड़ी खोजके रूपमें अभिनन्दन किया। उनका एक पत्र अबतक सुरक्षित है, जिसमें उन्होंने यह लिखा है कि प्रशंसा एवं पुरस्कारकी इच्छासे रहित जीवनके सम्बन्धमें जो गीताका उपदेश है, उससे मेरी आत्माको बड़ी शान्ति मिली। उन्होंने उस पत्रमें गीताके निम्नलिखित श्लोकका उल्लेख किया है—

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

इसके बाद फ्रांसकी क्रान्तिके दिनोंमें एक विशेष उल्लेखयोग्य बात हुई। हैमिल्टन नामका एक विशिष्ट व्यक्ति बंदी बनाकर पैरिस लाया गया। वह भारतवर्षमें रह चुका था और वहाँसे अपने साथ कुछ संस्कृतके ग्रन्थ ले आया था, जिनमें कुछ उपनिषद् तथा गीताकी भी एक प्रति थी। उसे पैरिसमें नजरबंद कर दिया गया और उस हालतमें वहाँ रहकर उसने कई प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वानोंको उपर्युक्त ग्रन्थोंमें वर्णित सिद्धान्तोंकी शिक्षा दी। इस प्रकार मोक्षमूलर तथा पॉल डायसनके बहुत पहले भारतवर्षकी प्राचीन संस्कृत-विद्याकी ओर लोगोंकी अभिरुचि धीरे-धीरे बहुत दूरतक फैल गयी थी।

भारतवर्षमें भी गीताकी ओर लोगोंकी अभिरुचि बहुत बढ़ गयी है। पैंतीस वर्षसे ऊपर हुआ जब मैं भारतवर्षमें आया था, उस समय विश्वविद्यालयोंके कालिजोंमें गीताकी ओर विद्यार्थियोंकी इतनी अभिरुचि नहीं थी जितनी आजकल पायी जाती है। स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीअरविन्द तथा बीसियों अन्य विद्वानोंने गीतापर टीकाएँ लिखकर उसके प्रचारमें बहुत सहायता की है। सभीने अपने-अपने ढंगसे देशी भाषाओंमें अथवा अंग्रेजीमें उसका तात्पर्य बतलानेकी चेष्टा की है। परन्तु सबसे अधिक प्रभाव इस दिशामें महात्मा गांधीका पड़ा है। उनकी गीतापर टीका तथा उनका दैनिक गीतापाठ और सर्वोपरि गीतोक्त आदर्शके अनुकूल उनके दैनिक जीवनका समस्त भारतवासियोंके जीवनपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है।

दक्षिणके प्रधान मन्त्री श्रीयुत सी० राजगोपालाचार्यने भी अपने ढंगसे गीताका प्रचार करनेमें मदद की है और इस प्रकार जो कार्य दक्षिणमें श्रीमती एनी बेसेंटने अपने अनुवादके द्वारा प्रारम्भ किया था उसको चालू रक्खा है।

उपर्युक्त थोड़ी-सी पंक्तियोंसे अधिक लिखना मेरे लिये असम्भव है, क्योंकि इस समय मैं अस्पतालमें हूँ और डाक्टरोंने मुझे अधिक परिश्रम करनेके लिये मना कर रक्खा है; परन्तु जब कल्याण-सम्पादककी गीता-तत्त्वाङ्कके लिये लेख लिखनेकी प्रार्थना मेरे पास पहुँची तो मुझसे ऊपरकी पंक्तियाँ लिखे विना न रहा गया, यद्यपि उतने समयके लिये मुझे डाक्टरकी आज्ञाकी अवहेलना करनी पड़ी।

भगवद्गीताका प्रभाव

(लेखक—श्रीमेहरबाबाजी)

आध्यात्मिक दृष्टिसे सारी मानव-जातिपर भगवद्गीताका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। भगवान् श्रीकृष्णका हिन्दू-जातिमें जन्म होनेके कारण, गीताको लोग प्रायः हिन्दुओंका ही धर्म-ग्रन्थ समझते हैं; परन्तु वास्तवमें यह ग्रन्थ केवल हिन्दुओंका ही नहीं, अपितु समस्त मानव-जातिका है। इसके अंदर जो उपदेश दिया गया है, वह केवल भारतवर्षके ही लिये नहीं अपितु सारे जगत्के लिये है। मनुष्य-जाति इसके उपदेशोंके अनुसार आचरण करे, केवल इतनी ही देर है; फिर तो सारे मानव-समाजमें बन्धुत्व (प्रेम) की स्थापना अवश्य और अपने-आप हो जायगी। जो श्रीकृष्णके पूर्ण पुरुष होनेमें सन्देह करते हैं, वे जान-बूझकर ऐसा नहीं करते। श्रीकृष्ण अवश्य ही ईश्वरके अवतार थे और स्वयं सद्गुरु (पूर्ण पुरुष) होनेके कारण उन्होंने आध्यात्मिक भाव और उच्च आध्यात्मिक उपदेशोंकी पीयूष-वर्षासे जगत्को प्लावित कर दिया !

गीताकी महिमा अवर्णनीय है

(लेखक—श्री एस्० सत्यमूर्ति)

एक विस्तृत निबन्धमें भी गीताकी महिमाका वर्णन करना असम्भव है; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता हमारे धर्मका प्राण है। मेरा निजका मत यह है कि गीताका अध्ययन सभी हिन्दू विद्यार्थियोंके लिये अनिवार्य कर देना चाहिये। गीतामें जिन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है, वे त्रिकालमें सत्य हैं और सभी युगोंके लिये उपयोगी हैं।

गीतासे परम कल्याण

(लेखक—श्रीबाबू सम्पूर्णानन्दजी, शिक्षा-सचिव, युक्तप्रान्त)

सचमुच दुःखकी बात है कि जिस देश और समाजमें गीताका रव पहले-पहल सुन पड़ा वहीं इसका समादर नहीं है। गीताके अध्ययन और उसकी व्याख्याके तो अनेक प्रकार हैं और सम्भवतः सबमें ही कुछ तथ्य है; पर यदि हम सचमुच निष्कामभावसे कर्म करनेके मार्गपर आरूढ़ हों और उस अद्वैतभावनासे यत्किञ्चित् भी प्रेरित हो सकें जो निष्काम कर्मके तहमें होती है, तो व्यष्टि और समष्टि—दोनों दृष्टियोंसे हमारा परम कल्याण होगा। मैं आशा करता हूँ कि यह विशेषाङ्क इस सदुद्देश्यमें सहायक होगा।

गीतासेवन साक्षात् हरिसेवन है

(लेखक—श्रीयुत बाबू रामदयालुसिंहजी, स्पीकर, बिहार एसेम्बली)

श्रीहरिके शीतल, सुखद, त्रिविध-तापनाशक श्रीचरणकमलोंसे बिछुड़ा हुआ मायामोहित जीव, विषय-बयारके झकोरोंसे इतस्ततः प्रेरित, राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे आच्छन्नविवेक और चञ्चलमति होकर क्लेश-शोकसागरमें ऊबता-डूबता नितान्त दुखी रहता है। उसकी जीवन-नौका विना पतवार और विना दिग्दर्शनयन्त्रके उद्देश्य और निश्चयसे रहित यों ही बहती जाती है और वह कब किस घाटपर जा लगेगी या किस सङ्कटमें जा पड़ेगी, इसका कुछ ठिकाना नहीं। ऐसा जीव एकदम गुमराह और किंकर्तव्यविमूढ होकर सदा संशय और दुविधाका शिकार बना रहता है। कुरुक्षेत्रके मैदानमें महावीर अर्जुनकी भी कुछ ऐसी ही दशा हो गयी थी। वैसे महान् पुरुषका वह हाल तो साधारण, अल्पज्ञ और दुर्बल जीवोंका क्या कहना है! अर्जुनकी वह विषादमय अवस्था मानो दुखिया सांसारिक जीवोंका नमूना या फोटो है। ऐसे शोक-सन्तप्त जीवोंके उद्धारके लिये भगवान्ने गीतोपदेश-रूपी महान् अनुग्रह किया है। भटकते हुए जीवोंके यथार्थ कल्याणके लिये गीता-तत्त्व अचूक पथप्रदर्शक है; और विवश बहती हुई जीवन-तरणीके लिये पतवार और दिग्दर्शनयन्त्र है। गीता उच्चतम दर्शनोंको मथकर निकाला हुआ माखन है, जीवन-यापनका सर्वश्रेष्ठ नियम है, अन्धोंके लिये आँख और पङ्गुओंके लिये पाँव है, असहायोंका सहाय और निर्बलोंका बल है। गीता-ज्ञान अज्ञानको ज्ञानी, कायरको शेर और क्षण-क्षणमें मरनेवालोंको अमर बनानेवाला है; परम सुख, परम प्रकाश और परम शान्ति देनेवाला है; विषयदावाग्निके लिये वर्षा है और मानव-समाजकी सर्वोत्तम सम्पत्ति है। गीता-तत्त्व भवरोगके लिये रामबाण महौषध है। साधारणतः भिन्न-भिन्न रोगियोंके भिन्न-भिन्न रोगोंमें जुदा-जुदा औषधोंका प्रयोग होता है, पर गीता-तत्त्व-रूपी महौषध सभी रोगियोंके सभी रोगोंपर अव्यर्थ-रूपसे चलता है। प्रत्येक प्राणीकी रुचि, प्रकृति, प्रवृत्ति और संस्कार भिन्न-भिन्न होते हैं। भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न कालकी आवश्यकताएँ अलग-अलग होती हैं और उन्हें पूरा करनेके उपाय भी भिन्न-भिन्न होते हैं; किन्तु गीता-तत्त्वमें यह विलक्षण खूबी है कि वह हर एक समयके, हर एक देशके, हर एक जीवके उद्धार और कल्याणके लिये सीधी राह दिखलानेवाला है। कोई भी जिज्ञासु प्राणी थोड़ा-सा भी अनुशीलन और अभ्यास करने-पर गीताके अंदर अवश्य ही अपनी दशाका चित्र, अपने रोगका निदान और उसके लिये तैयार लासानी नुसखा पाता है। गीता-तत्त्व देश, काल आदिसे अबाधित नित्य सत्य है।

छोटे-बड़े, पण्डित-मूर्ख, सभीके लिये गीताका सहारा प्राप्य है। गीता सभीके लिये सरल और सुलभ है, उससे हर एक खोजी जीव हर एक दर्जे और विकासके प्रत्येक स्तरका अनमोल लाभ उठा सकता है। यों तो अति गहन-गम्भीर गीता-ज्ञान बड़े-बड़े पण्डितोंके लिये भी अथाह और दुरूह है, फिर भी अल्पज्ञ-से-अल्पज्ञ जीव भी गीताका आश्रय लेनेपर अपनी आवश्यकता, शक्ति और योग्यताके अनुसार यथार्थ सुख और शान्तिका मार्ग अवश्य पा लेता है। गीता-ज्ञानके अमृत-सागरके पास जो कोई जायगा, वह अपनी तृप्ति और

शान्तिके लायक अपने पात्रभर जल अवश्य ले आवेगा। कोई प्यासा वहाँसे निराश नहीं लौट सकता। खूबी यह है कि जो सम्पूर्ण गीताका विधिवत् अध्ययन नहीं कर सकते वा जिन्हें गीता-रहस्यका सिलसिलेवार अनुशीलन-मनन कर पानेका सुपास नहीं है, वे भी गीताके एक श्लोक वा श्लोकखण्डसे ही अपना काम पूरा कर सकते हैं। दयामयकी कैसी अलौकिक दया है! मेरे-सरीखे अजान जीवोंके हितार्थ एक-एक श्लोक वा श्लोक-खण्डमें गीतातत्त्व गागरमें सागरकी तरह भरकर रख छोड़ा है। ज़रूरत है कि हम उसे अपनावें और अमलमें लावें।

पारमार्थिक कल्याण चाहनेवाले तथा सांसारिक सुख-सफलताके इच्छुक—दोनोंहीके लिये गीता अचूक मार्गप्रदर्शक है। गीता-ज्ञानके सहारे दोनों ही अपने-अपने मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं, लोक-परलोक बना सकते हैं तथा प्रेय और श्रेय पा सकते हैं। दुनियादारीके लिये भी गीता सर्वोत्तम गुरु है। गीताके बारेमें यह बिल्कुल सही है कि 'एकै साधे सब सधै'। गीताकी शाहराह जिसने पकड़ ली, वह बेखटके सब घाटियोंको लाँघता हुआ, सब विघ्न-बाधाओंसे बचता हुआ, सर्वाङ्गीण सफलता और आनन्द पाता हुआ अपने गन्तव्य स्थान—मंज़िले मक़सूद—को जरूर पहुँचेगा।

गीता श्रीप्रभुका वचनामृत है, प्रत्यक्ष भगवत्-स्वरूप है। गीतासेवन साक्षात् हरिसेवा है। गीताके एक-एक शब्दका पाठ उनके अमियमय मधुर मङ्गलमय नामका जप है। वही अनन्त कल्याणका कारण हो सकता है। अपार दुःख और सङ्कटसे भरे संसारके प्रत्येक व्यक्ति, जाति, समाज और राष्ट्रके लिये कल्याणका दूसरा मार्ग नहीं है। उसीके द्वारा वर्तमान शोक-सन्तापका नाश हो सकता है और व्यापक सुख, समृद्धि, शान्ति और एकताका रामराज्य आ सकता है। आवश्यकता है गीता-ज्ञानके व्यापक प्रचारकी। इस विषयमें 'कल्याण' और 'गीताप्रेस'के अति प्रशंसनीय उद्योग यथार्थतः कल्याणकर हैं। हर आदमीको उसमें यथाशक्ति हाथ बँटाना चाहिये। गीतागायक दयामय दीनानाथसे प्रार्थना है कि वह ऐसी अनुकम्पा करें कि संसारमें घर-घरमें गीताका प्रचार हो, हर मनुष्यकी जिह्वापर गीताका वास हो और हर दिलमें मनमोहनकी गीता-वंशी अनवरत बजा करे!

भगवद्गीता किञ्चिदधीता गङ्गाजललवकणिका पीता।
सकृदपि येन मुरारिसमर्चा क्रियते तस्य यमेन न चर्चा॥
गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम्॥

—भगवान् शङ्कराचार्य

गीताका सिद्धान्त संसारके लिये महान् आदर्श है

(लेखक—श्री बी० पट्टाभि सीतारामय्या)

गीतातत्त्वाङ्कके लिये कोई सन्देश भेजना मेरे लिये बहुत कठिन है। ...... क्योंकि गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञका आदर्श सुगम नहीं है। अनासक्ति कदाचित् उसका सबसे दुर्गम पहलू है तथा अपरिग्रह तो उससे भी कठिन है। हाँ, गीताका यह सरल सिद्धान्त कि यदि हम जय-पराजय, लाभ-हानि तथा सुख-दुःखका विचार छोड़कर केवल अपना कर्तव्य पालन करते रहें तो पापके भागी नहीं होंगे, अलबत्ता उतना कठिन नहीं है और इसका पालन करनेसे हमारे आदर्शके ऊपर कहे हुए दोनों पहलू सुगम हो जायँगे। भगवान् करें आपका उद्योग भारतके इस महान् आदर्शका प्रचार करनेमें सहायक हो।

गीता—ईश्वरोंके ईश्वरका गीत

(लेखक—श्रीयुत जॉर्ज सिडनी अरंडेल, प्रधान, थियासॉफिकल सोसाइटी)

जो संसारकी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है, उसके सम्बन्धमें भला, मैं क्या लिखूँ! यों तो गीताके अतिरिक्त और भी कई महान् धर्म-ग्रन्थ हैं, परन्तु भगवद्गीताकी तो बात ही निराली है। वह तो ईश्वरोंके भी ईश्वर—परम महेश्वरका दिव्य सङ्गीत है।

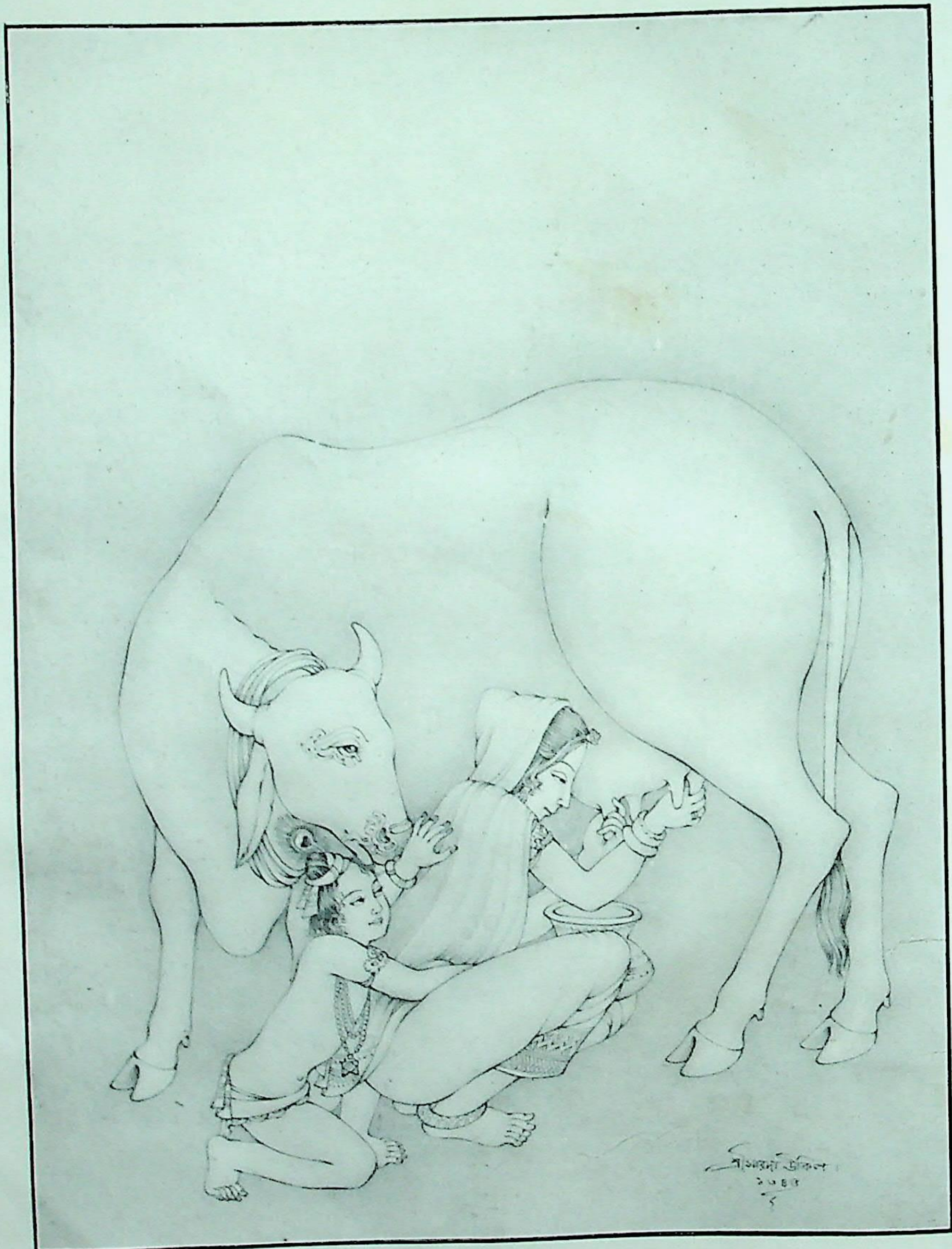
कोई मनुष्य किसी भी धर्मको माननेवाला हो, उसे इस ग्रन्थसे प्रगाढ़ ईश्वरीय भाव मिले विना नहीं रह सकते। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे कुछ लोग हिन्दुओंकी सम्पत्ति कह सकते हैं, परन्तु उदार मनोवृत्तिके लोग निश्चय ही इसे समस्त धर्मोंके बाह्य स्वरूपसे परे समझते हैं।

भगवद्गीता परमेश्वरकी वाणी है। वे इसमें जीवात्मा एवं परमात्माकी पूर्ण एकताकी बात कहते हैं और उस सनातन कर्ममार्गका उपदेश देते हैं जो मोह-निशामें सोनेवाले अज्ञानी जीव और पूर्णताको प्राप्त हुए ज्ञानी महात्माओंके बीचमें होकर जानेवाला दिव्य मार्ग है।

देववाणी संस्कृतमें लिखे जानेसे ग्रन्थका मूल्य और भी बढ़ गया है। क्योंकि उसका उपदेश तो सर्वाङ्गसुन्दर है ही, साथ ही वह सर्वाङ्गसुन्दर भाषामें भी ग्रथित हुआ है। गीताका एक अक्षर, एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा नहीं है जिसमें सङ्गीत न हो। भगवद्गीताका पाठ अथवा उसे ऊँचे स्वरसे गाना भी एक योग ही है—खासकर जब उसे ऐसे लोग पढ़ते हैं जो पाठ करनेकी शैलीसे परिचित हैं।

इस प्रकार गीताको चाहे हम बहिरङ्ग दृष्टिसे देखें या अन्तरङ्ग दृष्टिसे, वह ईश्वरीय प्रकाशको साक्षात्‌रूपसे हमारे सामने प्रतिबिम्बित करती है। उस वाणीके प्रति, जो थोड़े-से शब्दोंमें हमारे ईश्वरत्वकी अपरिमेय विभूतिको प्रकट करती है, अपना श्रद्धायुक्त सम्मानका भाव व्यक्त करनेके लिये इससे अधिक हम क्या कह सकते हैं?

दूधकी माँग



गैया दूहति महतारी ।
ललन कहै मोहि नेंक दूध दै भूँख लगी भारी ॥

गीताके उपदेशका सार—ईश्वरभक्त सभी भाई हैं

(लेखक—श्रीविनायक नन्दशङ्कर मेहता, आई० सी० एस्०)

जो देश आपसके सत्यानाशी कलहोंसे छिन्न-भिन्न हो रहा है, उसके लिये गीताके उपदेशका सार यही सन्देश है—ईश्वरभक्त सभी आपसमें भाई हैं। आपके अंदर जितना ही अधिक सच्चा धार्मिक भाव होगा, आपके और आपके पड़ोसीके बीचमें कृत्रिम भेदभाव उतना ही कम होगा। हम जगत्‌में चारों ओर झूठे धर्मका झंडा फहराता हुआ देखते हैं, यह झूठा धर्म भाई-भाईमें अन्तर डालकर जो स्थान मनुष्य-जातिको उदात्त बनानेवाले और उसमें एकताका भाव उत्पन्न करनेवाले सच्चे धार्मिक भावके लिये सुरक्षित हैं, वहाँ धर्मके बाह्यरूपको प्रतिष्ठित करता है। गीताका प्रत्येक भारतवासीके लिये एक सन्देश है, चाहे वह किसी सम्प्रदाय या वर्गका हो। वह सन्देश यह है कि 'यदि आपने परमात्माके साथ अपने यथार्थ सम्बन्धको समझ लिया है, तो आप अपने पड़ोसीके साथ भी अपना यथार्थ सम्बन्ध समझ सकेंगे।' संक्षेपमें गीता हमें सामाजिक सङ्गठनकी शिक्षा देती है और केन्द्रसे दूर हटानेवाली उन सभी बातोंका खुल्लमखुल्ला विरोध करती है, जो सर्वत्र विरोध एवं कलहके बीज बो रही हैं। मैं चाहता हूँ—इस पवित्र धर्मग्रन्थकी शिक्षा हमें सच्चे गुरुओंसे प्राप्त हो और लोग इसके वास्तविक अभिप्रायको हृदयङ्गम करके उसे अपने दैनिक व्यवहारमें उतारनेकी चेष्टा करें।

गीता वेदमाता

(लेखक—श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

गीता वेदोंकी माता है। ऐसा तुकारामजी महाराज कहते हैं। वेदोंने केवल तीन ही वर्णोंको अपने घरमें आश्रय दिया है, परन्तु गीतामाताकी उदारता वेदोंसे कहीं बढ़ी हुई है। वह स्त्री, शूद्र और पतित चाण्डाल—सभीको समानभावसे अपने अंदर स्थान देती है। सब प्रकारके मनुष्योंको, भिन्न-भिन्न प्रकारके अधिकारी जीवोंको गीताने भगवत्प्राप्तिका सुन्दर, सुगम, प्रशस्त पथ दिखला दिया है और वह है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—यही गीताकी शक्ति है। इसी शक्तिका आश्रय करनेसे समस्त पापोंसे (स्वर्ग-नरक-प्रद पुण्य-पापरूप कर्मोंसे) छूटनेकी चाभी मिल जाती है।

गीता गीता गाय, जन्मसो बीता जाय है।
रीता मत रह जाय, दुख पावेगा 'राजिया'॥

—राजिया

गीता-गौरव

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

गीता समस्त शास्त्रोंका सार है, इससे यह श्रद्धालु और आस्तिकबुद्धिसम्पन्न पुरुषोंके लिये सर्वथा आदरणीय और ग्रहणीय है। इसमें विषयोंकी अवतारणा अत्यन्त गम्भीर और बड़े ही ऊँचे ढंगकी है। शास्त्रके गम्भीरतम मर्मस्थलको स्पर्शकर उसके अन्तरतम लक्ष्यको सुस्पष्ट भाषामें प्रकट किया गया है; इसीसे इसने साधक और प्रवीण ज्ञानियोंकी उच्चतम श्रद्धाको अपनी ओर खींच लिया है। यदि इसमें सुन्दर-से-सुन्दर तीक्ष्ण युक्तियोंद्वारा शास्त्रका यथार्थ रहस्य खोलनेकी शक्ति न दीखती, तो केवल भगवत्-वाक्यके नामपर सम्भवतः अधिकांश लोगोंका इतना आकर्षण नहीं किया जा सकता। इसके दार्शनिक विश्लेषण ऐसे युक्तियुक्त हैं कि जिससे आस्तिक-नास्तिक दोनों प्रकारके मनीषियोंकी श्रद्धा इसकी ओर खिंच गयी है। इसमें आलोच्य विषय हैं—योग, ज्ञान, कर्म और भक्ति। सभी वेद-विज्ञानसम्मत और अखण्डनीय युक्तियोंके आधारपर सुप्रतिष्ठित हैं। गीतामें साम्प्रदायिकता-को स्थान नहीं है, साथ ही इसमें एकदेशदर्शिताका भी पूर्णरूपसे अभाव ही दिखायी देता है। जिस समय देशाचार, धर्मानुष्ठान और उनके अनुकूल-प्रतिकूल मत क्रमशः विद्रोही होने लगे थे, ठीक उसी समय गीताने प्रकट होकर जगत्की बहुत-सी जटिल समस्याओंकी मीमांसा कर दी। प्राचीन और नवीन तन्त्रोंके मतोंकी भलीभाँति आलोचना कर गीताने यह निर्भ्रान्तरूपसे बतला दिया कि उनमें कौन-सा कहाँतक ग्राह्य और त्याज्य है। सनातन वेद-शास्त्रोंके प्रति अनास्था न हो और उनके अन्तरतम भावोंके प्रति लोगोंका लक्ष्य च्युत न हो, उनके प्रति लोगोंकी अटूट श्रद्धा बनी रहे, इसके लिये भगवान्ने अपने वक्तव्यका वेद-वाणीसे समर्थन किया। जिन साधन-तत्त्वोंकी इससे पहले, उन्हें कठोर श्रमसाध्य समझकर उपेक्षा की जाती थी और 'वह सबको मिलनेकी वस्तु नहीं है' ऐसा समझकर प्रवीण साधकमण्डलीने एक प्रकारसे हताशाके कठोर तप्त श्वाससे मनुष्यके चित्त-क्षेत्रको उत्तप्त और विषादयुक्त बना दिया था, गीताने प्राचीन तन्त्रकी उस अन्ध और विषादमयी चिन्ताको चूर्णकर साधनाकी निर्जन अरण्यस्थलीको पारिजात-गन्ध-मोदित नन्दनका ननकी अपूर्व सुरभिसे पूर्ण कर उत्सुक जनसमुदायको अध्यात्मचिन्तनका एक नवीन मार्ग दिखला दिया तथा भीत, विषादग्रस्त और हताश जीवनको आशाका आलोक दिखलाकर उसके प्राणोंमें पुनः नवीन बल और उत्साहका सञ्चार कर दिया। हम उस सर्वजनवन्दित गीताको साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं और प्राचीन कवियोंके सुरमें सुर मिलाकर फिरसे कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

—यही गीताका विशेषत्व है।

वृन्दावनके कोकिल-काकलि-मुखरित, घनवृक्ष-छायामण्डित, मधुर-निकर-गुञ्जित निकुञ्ज-काननमें एक दिन जिस मुरलीकी ध्वनिने बजकर गृह-कर्म-संलग्न गोप-ललनाओंका मन हरणकर उन्हें सदाके लिये श्रीकृष्णाभिसारिणी बना दिया था, वही सुमधुर वंशी बजानेवाला ही पार्थ-सारथिके वेशमें इस गीतार्थसंगीत-तत्त्वका गायक और उपदेष्टा है। कुरुक्षेत्रके भीषण समराङ्गणमें अर्जुन और श्रीकृष्णका अत्यद्भुत कथोपकथन ही गीताशास्त्रके नामसे प्रसिद्ध है।

गीताका सन्देश

(लेखक—त्या० गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी)

गीताका सन्देश सारे विश्वके लिये है। किसी भी देश, जाति या समाजमें कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसके लिये गीतामें कोई लाभप्रद सन्देश न हो। सकल वेद-शास्त्र-पारङ्गत पण्डितसे लेकर निपट निरक्षर मूर्खतक; चक्रवर्ती सम्राट्से लेकर घास-फूँसकी झोंपड़ीमें रहकर दिन काटनेवाले अकिञ्चन-तक; तथा इस मायामय संसारसे पूर्णतः विरक्त रहनेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे लेकर इसीमें आमूल-चूल अनुरक्त कामुकों-तक—बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष—सभीके लिये गीतामें अमूल्य सन्देश भरे पड़े हैं।

चाहे कोई वैदिक धर्मावलम्बी हो या पौराणिक, न्याय-का प्रतिपादक हो या सांख्यका, योगका अभ्यासी हो या वेदान्तवादी, दक्षिणमार्गी हो या वामाचारी—वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर—सभी श्रद्धालु हिन्दुओंके लिये गीताजीमें उन्हींके सम्प्रदायानुकूल अमूल्य सन्देश भरे पड़े हैं।

केवल श्रद्धालु हिन्दुओंके लिये ही नहीं—विश्वके समस्त धर्म और मत-मतान्तरानुयायियोंके लिये गीताकी अमृतमयी वाणी दिव्य सन्देशसे भरी पड़ी है।

श्रद्धालु भक्त ही क्यों, मानवमात्रके लिये—चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक—गीता अनुपम लाभपूर्ण सन्देशसे भरी है।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'—भगवान् श्रीकृष्णका यह महावाक्य भगवान्‌की ओर जितना चरितार्थ होता है, उतना ही गीताजीकी ओर भी। नन्द और यशोदा-ने भगवान्‌की पुत्ररूपमें भावना की तो भगवान्‌ने लौकिक पुत्ररूपमें उनकी गोदमें क्रीडा की और अपने मनोहर बाल-चरित्रोंसे उन्हें रिझाया। प्रेमावताररूपमें भजनेवाली गोपियोंको वे प्रेमाम्बुधिके रूपमें दिखलायी दिये। द्रौपदीने उन्हें दीनार्तिहर और परित्राणपरायणके रूपमें देखना चाहा और भगवान् उसके सम्मुख उसी रूपमें प्रकट हुए। अर्जुनने भगवान्‌की सच्चे सुहृद्‌के रूपमें भावना की और भगवान्‌ने उसके अड़े समयमें सारथि बनकर सुहृदताका परिचय दिया। कंस और शिशुपालादिकी भावना भगवान्‌को शत्रुरूपमें देखती थी, अतएव भगवान् उनके लिये सर्वसंहारक महाकालके रूपमें प्रकट हुए। यही बात गीताजीके सम्बन्धमें भी है।

गीताजीको जो जिस रूपमें देखता है, उसे गीता उसी रूपमें दिखायी देती है। और यह एक ऐसा तथ्य है जिसे देखकर नास्तिकोंको भी आश्चर्यपूर्वक गीताका दैवी उद्गम (Divine Source) मानना पड़ता है।

माया-मोहके पाशसे मुक्त योगीके लिये गीताजीमें जीव-न्मुक्तिका सन्देश है। उसे पढ़कर वेदान्तीकी धारणा विरक्तिकी ओर और भी अधिक दृढ़ होती है। पर कर्मयोगी उसीके महावाक्योंको कर्मक्षेत्रमें उतरनेके लिये आह्वान करते हुए पाता है। गीताका उपदेश मोहग्रस्त अर्जुनको वीरत्वका सन्देश सुनाकर उन्हें युद्धके लिये प्रेरित करता हुआ भगवान्‌को द्रोण, भीष्म, दुर्योधनादि आततायी और आसुरीसम्पदाओं-के संहारकके रूपमें देखनेका मार्ग बतलाता है; वही सम्राट् गोपीचन्दको पूर्ण विरक्तिका सन्देश सुनाकर, क्षणभङ्गुर राज्यलिप्साको त्यागकर हिमालयकी शान्त कन्दराओंमें भगवान्‌को ढूँढ़नेकी युक्ति बतलाता है।

भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग—कौन-सा ऐसा मार्ग है जिसका पथिक गीताको अपने सिद्धान्तोंकी पुष्टि करते नहीं देखता? गीताके सन्देशको सुनकर दुर्बल आत्मा अज्ञानके पाशको तोड़कर प्रकाशमें आ खड़ा होता है; उसकी भीति, भ्रम और संशय नष्ट होकर उसमें अभयता, स्पष्टता और अमरत्वका प्रादुर्भाव होता है और उस समय यदि त्रिपुण्ड्र और तुलसीकंठी धारण करनेवाला भक्त खड्ग लेकर आततायीका संहार करनेके लिये प्रस्तुत हो जाता है, तो यह न तो आश्चर्यमय है और न अनुचित; कर्मक्षेत्रमें कमर कसकर कार्यमें संलग्न पुरुष भी भगवद्भक्तिमें ही लीन है। उसकी तन्मयता और कर्मद्वारा पूजाका महत्त्व कीर्तन या आरतीमें मस्त भक्तकी तन्मयता और पूजासे कम नहीं। यह तथ्य गीताजीसे प्राप्त होता है, जिसका पालन करते हुए पूज्य मालवीयजी-जैसे भक्त संगठनका बिगुल बजाते दिखायी देते हैं।

गीताका सन्देश दक्षिणके एक भक्त ज्ञानेश्वरको करताल लेकर 'हरे कृष्ण', 'हरे कृष्ण' पुकारनेकी सुझाता है तो उसीके पड़ोसी प्रान्तके दूसरे भक्त गांधीजीको गीता पढ़कर चरखेकी घर-घरमें देश-जाति और मानव-समाजके कल्याणके रागकी झनकार सुनायी देती है।

आत्माकी उन्नति और परमात्माकी प्राप्तिके अर्थ उत्सुक ज्ञानी हृदयके लिये, देशकी स्वतन्त्रता और जातिके उत्थानके अर्थ व्यग्र कर्मयोगीके लिये, मानवमात्रके हित और प्राणिमात्रके अधिकारोंकी रक्षाके अर्थ छटपटानेवाले साम्यवादीके लिये गीता अमृतमय सन्देशसे पूर्ण है।

इस विकट परिस्थितिमें, जब कि मानव-समाज अत्यन्त सङ्कटमय अवस्थामें पड़ा है, गीताके वास्तविक तत्त्वको समाजके सम्मुख रखनेकी अत्यधिक आवश्यकता है। 'गीताप्रेस' ने 'कल्याण' का 'गीतातत्त्वाङ्क' प्रकाशित करनेका आयोजन करके इस आवश्यकताकी पूर्ति करनेका प्रयत्न किया है। हमें आशा है कि 'कल्याण' के अन्य विशेषाङ्कोंकी भाँति यह विशेषाङ्क भी अनुपम एवं संग्रहणीय ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित होगा, मैं इसके लिये पूर्ण सफलताकी तथा 'कल्याण'के उत्तरोत्तर प्रचारकी कामना करता हूँ।

गीताका सर्वगुह्यतम चरम मन्त्र

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६४—६६)

श्रीभगवान्‌के सार-तत्त्वपूर्ण अन्तिम वचन गीताके इन्हीं उपर्युक्त ६५ और ६६वें श्लोकोंमें हैं, इनके पश्चात् और कोई उपदेश नहीं है। इन श्लोकोंके वाक्य वैसे ही हैं, जैसे कोई प्रवक्ता अपना मुख्य एवं अन्तिम सिद्धान्त संक्षेपमें कहकर चुप हो जाता है कि बस, यही मेरा अटल, अपेल और अकाट्य निश्चय है। भगवान्‌ने ऊपरके ६४वें श्लोकमें इन वचनोंको परम गोपनीय (सर्वगुह्यतम) और सब वचनोंसे परे (परमं वचः) बतलाया है तथा अर्जुनजीको परम अधिकारी और प्रियतम (इष्टोऽसि मे दृढमिति) बतलाकर यह कहा है कि मैं इन वचनोंको तुम्हारे हितके लिये ही कथन करता हूँ (वक्ष्यामि ते हितम्)। अस्तु,

जब इन दो ही श्लोकोंमें गीताभरका समस्त सार-तत्त्व दे दिया गया है और जब देखता हूँ कि न जाने कितने ही मीमांसकों, विद्वानों, श्रोत्रियों, ब्रह्मनिष्ठों एवं आचार्योंद्वारा साधारण सरल टीकाग्रन्थोंसे लेकर शाङ्करभाष्य और श्रीभाष्य-तकमें इन श्लोकोंके शब्दार्थ, भावार्थ, गूढार्थ, रहस्यार्थ आदि लिखे गये हैं; तब मुझ बुद्धिहीन 'दीन' की सामर्थ्य ही क्या है कि मैं इनके सम्बन्धमें कुछ लिखनेका साहस करूँ! रही पाठकोंके समझनेकी बात, सो उनके लिये तो 'गीतातत्त्वाङ्क' में सम्पूर्ण मूलका अनुवाद और उसकी विस्तृत टीका छप ही रही है। यहाँ श्रीभगवान्‌की निर्हेतुकी कृपा-प्रेरणासे मनमें अपनी वाणीको पावन करनेकी जो लालसा उत्पन्न हो रही है, उसकी पूर्तिके लिये समस्त गीताप्रेमी पाठकोंकी सन्निधिमें बालवचनवत् केवल कुछ शब्द समर्पित किये जा रहे हैं।

श्रीभगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे गीताके अन्तमें अपना परम गोपनीय मत 'भक्ति' और 'शरणागति' के ही पक्षमें देते हैं और अर्जुनजीके मनमें उन्हींका निश्चय कराते हुए जो अपर समस्त लौकिक-वैदिक धर्मोंका परित्याग करनेकी आज्ञा देते हैं, इस प्रकारकी बात केवल यहाँ ही पायी जाती है। यहाँ सर्वधर्मोंके परित्यागके साथ-साथ निर्विवादरूपसे यह भी स्पष्ट किया जा रहा है कि उन सर्वधर्मोंका परित्याग करनेके कारण पापभागी भी अवश्य होना पड़ेगा। यदि ऐसा न होता तो यहाँ 'सर्वपापेभ्यः' पद ही न दिया जाता अर्थात् यह नहीं कहा जाता कि 'उन धर्मोंका परित्याग करनेसे जो पाप लगेंगे, उन सम्पूर्ण पापोंसे

मैं तुम्हारा उद्धार करूँगा, तुम उनका सोच मत करो।' अतएव यहाँ विचार करनेसे यह एक बड़े मर्मकी बात समझमें आती है कि कृपानिधान श्रीभगवान्‌ने अपने इस परम वचनद्वारा बड़े भारी धर्म-संकटका निर्णय करके धार्मिक जगत्‌को अपूर्व एवं अनुपम अवलम्बन दे दिया है--अर्थात् यह स्पष्टरूपेण बतला दिया है कि यदि किसी समय ऐसी परिस्थिति सामने आ जाय, जब हम अपना वैदिक धर्म पालन करना चाहें तो श्रीभगवान्‌की शरणागतिसे विमुख होना पड़ता हो और जब हम भगवान्‌की शरण लेना चाहें तो वैदिक धर्मोंसे च्युत होनेकी सम्भावना हो, तब ऐसी दुतरफी हानिकी दशामें हमें क्या करना चाहिये। श्रीप्रह्लादजीके सामने ऐसी ही परिस्थिति तो आयी थी! उनके लिये पिताका वचन मानना धर्म था, परन्तु पिता आज्ञा करता था कि 'भगवद्भजन मत करो—उनका नामतक मत लो!' ऐसे अवसरके लिये यदि श्रीभगवान्‌का यह स्पष्ट निर्णयपूर्ण वचन न होता कि 'मेरी शरणागतिके लिये सभी धर्मोंका परित्याग कर दो; उनके त्यागनेमें जो पाप लगेगा, उससे मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा' तो भक्तराज श्रीप्रह्लाद किस आधारपर पिताकी आज्ञा न मानकर श्रीभगवान्‌की शरणागति प्राप्त करनेका सुयोग पाते ? केवल इसी परम वाक्यने तो विभीषण, भरत, बलि तथा व्रजगोपिकाओंको महान् वैदिक धर्मोंका परित्याग कर देनेपर भी कल्याणका मूल बना दिया! यथा—

'पिता तज्यो प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितन भये जग मंगलकारी॥'

—विनयपत्रिका

केवल ऐसे ही अवसरपर भगवान्‌की ओरसे धर्मके त्यागकी विधि कही गयी है। जब धर्म भगवत्-शरणागतिमें बाधक हो जायँ और उनके त्यागका प्रयोजन आ पड़े, तब उन्हें निर्भयतापूर्वक छोड़कर श्रीहरिकी शरण ले लेनी चाहिये। परन्तु जहाँ धर्म बाधक न हों, बल्कि भगवद्भजनके ही साधक हों, तब उन्हें कभी भी त्यागनेकी आज्ञा नहीं है। श्रीलक्ष्मणजीकी माता सुमित्राजीका उदाहरण लीजिये। वे स्वयं आज्ञा दे रही थीं कि—

भूरि भाग भाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाँड़ि छलु कीन्ह रामपद ठाउँ॥

ऐसी दशामें श्रीलक्ष्मणजीके लिये श्रीभरतजीकी भाँति मातृधर्मके परित्यागका प्रयोजन क्यों उपस्थित होता ? अतः 'पापेभ्यः' पर ध्यान देकर यह निश्चय करना चाहिये कि शरणागतिके प्रयोजनके अतिरिक्त किसी भी अवस्थामें धर्मका त्याग करना अवश्य ही पापका भागी बना देगा; उस पापसे कोई छुड़ा नहीं सकेगा, उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। उपर्युक्त ६६वें श्लोकका 'मा शुचः' पद केवल भगवच्छरणापन्न जीवोंके निमित्त ही है, जो गीताके अध्याय २ श्लोक ११के श्रीमुखवाक्यारम्भ-पदका ठीक सम्पुट (उपक्रम) है।

गीतावक्ता साक्षात् भगवान्

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

भगवद्भक्त हिन्दूकी दृष्टिमें इस पद्यका उत्तरार्द्ध बहुत महत्त्वपूर्ण है। गीताकी उपादेयतामें यह एक मुख्य हेतु है कि वह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे निकली है। 'महाभारत', जिसका कि गीता एक अंश है, 'पञ्चम वेद' माना गया है। महाभारतका युद्ध एक ऐतिहासिक घटना है, हिन्दुओंका सदासे यही विश्वास है।

आस्तिक हिन्दूकी दृष्टिमें गीताका महत्त्व इसीलिये सर्वाधिक है कि उसकी अवतारणा महाभारतके ऐतिहासिक युद्धके अवसरपर कुरुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें षोडशकला-सम्पूर्ण अवतार साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा हुई है। इतिहासमूलक इसी धार्मिक धारणाने गीताको उस उच्च पदपर पहुँचाया है, जो उसे प्राप्त है। किसी काल्पनिक उपन्यासको यह पद कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।

—साहित्याचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा

गीता-दर्शन और शाक्तवाद

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीपञ्चानन तर्करत्न भट्टाचार्य)

श्रीमद्भगवद्गीता कैसा अपूर्व ग्रन्थ है, यह वाणीके द्वारा नहीं बतलाया जा सकता। साक्षात् श्रीभगवान्‌के मुखकमलसे निकला हुआ होनेके कारण यह महाग्रन्थ भी श्रीभगवान्‌के ही समान है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(गीता ४। ११)

'हे अर्जुन! जो जिस भावसे मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, उन्हें उसी भावसे मैं भी भजता हूँ; इसलिये विज्ञ मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं।'

ठीक यही युक्ति श्रीमद्भगवद्गीताके लिये भी प्रयुक्त होती है। भगवान्‌की भाँति श्रीगीताजीके भी जो पुरुष जिस भावसे शरण होता है, गीता उसके सामने उसी भावसे अपनेको प्रकट करती है।

इसीलिये सभी सम्प्रदायोंके पूर्वतन आचार्योंने गीताकी व्याख्या करके उसमें अपने-अपने सिद्धान्तका ही उज्ज्वल प्रकाश प्राप्त किया है।

गीताकी ऐसी असाधारण महिमा होनेपर भी उसका एक अपना रूप है, उसी रूपको मैंने 'गीतादर्शन' कहा है। शाक्तवाद उसीपर प्रतिष्ठित है।

विपरीत शिक्षाके कारण शाक्तवादका नाम सुनते ही लोगोंके मानस चक्षुओंके सामने शराबका प्याला, कामिनी और मांसादि खाद्य वस्तुओंसे युक्त रात्रि-विहारका स्थल आ जाता है; मैं ऐसे शाक्तवादकी बात नहीं कहता। जिस शाक्तवादमें ज्ञान और कर्मका समन्वय हुआ है—सप्तशतीने जिस शाक्तवादको दृष्टान्तोंके द्वारा समझाया है, मैं उसी शाक्तवादकी बात कह रहा हूँ।

गीताका रूप क्या है ?

प्रचलित षड्दर्शनसे गीताका रूप पृथक् है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसाके साथ तो कोई मेल ही नहीं है; कारण इन तीनों दर्शनोंमें अव्यक्त, बुद्धि, अहङ्कार और एकात्मवाद नहीं हैं। ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यके पदार्थोंमें पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत भूत हैं, वे गीतामें नहीं हैं; शाङ्करभाष्यमें अविद्याका नाम है, गीतामें कहीं अविद्याका नामतक नहीं है; पञ्चकोषका विचार भी नहीं है; अधिक क्या, असलमें जो विवर्तवाद है वही नहीं है। ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्यमें मोक्षके विषयमें 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' जिस अर्थमें आया है, वह गीतामें नहीं है। गीतामें स्पष्ट ही कहा गया है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(३। ३)

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
(५। ४)

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
(५। ५)

'हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मैंने पहले कही है—ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे।' 'सांख्य और कर्मयोगको मूर्ख लोग ही भिन्न-भिन्न फलवाले बतलाते हैं, पण्डित नहीं; क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनोंके ही प्राप्तव्य फल (परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है।' 'सांख्ययोगी जिस स्थानको प्राप्त करते हैं, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है।'

केवल ज्ञानमार्ग ही नहीं, कर्ममार्ग भी है अतएव 'अन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' दूसरा पथ भी है।

तो क्या गीता उपनिषद्-सिद्धान्तके विरुद्ध है? नहीं, ऐसा हो ही नहीं सकता। तो फिर दो मार्ग किस तरह बतलाये गये? हाँ, यह समस्या अवश्य है किन्तु निरुत्तर समस्या नहीं है। अद्वैतमतसे 'तं विदित्वैव मृत्युम् अत्येति' इस तरहका अर्थ किये जानेसे ही उसका गीताके साथ मेल नहीं खाता; उपनिषद्‌में जो पाठ है, अन्वयमें उसके विपरीत न करनेपर गीता और उपनिषद्‌का सिद्धान्त एक ही ठहरता है। उपनिषद्‌में स्पष्ट कहा गया है—उनको ही, परमेश्वरको

ही जाननेपर मृत्युको अतिक्रमण किया जा सकता है, दूसरा मार्ग नहीं है—अर्थात् परमेश्वरके अतिरिक्त और कुछ जाननेसे मृत्युको अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्गोंसे ही उनको जाना जा सकता है, उनका साक्षात्कार किया जा सकता है—इस अर्थमें 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' कहनेपर उसके विरुद्ध गीता कुछ नहीं कहती; परन्तु यदि कहा जाय कि जाननेसे ही मुक्ति है अर्थात् एकमात्र ज्ञानयोग ही मुक्तिका कारण है, तो यह अद्वैतवादीका सिद्धान्त है—गीताका नहीं। इसीलिये गीताने साफ कहा है—

'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा·········इत्यादि'

शाङ्करभाष्य और श्रीभाष्यके मतसे 'प्राण' जीवका एक पृथक् उपकरण है। ब्रह्मसूत्रके सिद्धान्तसे भी यही बात है। परन्तु गीतामें प्राणके पृथक् रूपका निर्देश नहीं है। ब्रह्मसूत्र-में 'न वायुक्रिये' [२।४]* से जो प्राणका स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है, वह गीतासम्मत नहीं है। क्योंकि क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और पुरुषोत्तम यही—त्रितत्त्व गीतोक्त हैं; इन तीन तत्त्वोंमें प्राणके नामसे किसीका परिचय नहीं है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि प्राणको तो उपनिषद्में भी पृथक् रूपसे माना गया है। जैसे—

'स[1] प्राणमसृजत।'

'एतस्माज्जायते[2] प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि।'

'खं[3] वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्।'

गीतामें यदि यह बात नहीं है तो फिर उपनिषद्के साथ उसकी एकता कैसे रह सकती है? इसका उत्तर 'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्' में है।

'इस वाक्यद्वारा अवस्थाविशेषको प्राप्त प्रज्ञाको (बुद्धि-को) प्राण कहा गया है। बुद्धि गीताका स्वीकृत तत्त्व होनेके कारण प्राणका अलग उल्लेख न होनेपर भी उप-निषद्के साथ कोई मतभेद नहीं रह जाता।

गीतामें क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और पुरुषोत्तम—ये तीन तत्त्व स्वीकृत हैं; इसका प्रमाण—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ (१३।५,६)
क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। (१३।२)

'पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त (मूलप्रकृति), दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (स्थूल शरीर), चेतना और धृति—यह विकारोंसहित क्षेत्र संक्षेपसे बताया गया है।' 'हे अर्जुन सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) भी मुझे ही जान।'

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

'हे गुडाकेश (अर्जुन)! मैं सम्पूर्ण भूतोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित आत्मा हूँ।'

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ (१५।१६)
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। (१५।१७)

'इस संसारमें क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी) —ये दो प्रकारके पुरुष हैं, उनमें सम्पूर्ण भूत-समुदाय [के शरीर] क्षर हैं और कूटस्थ—जीवात्मा अक्षर कहा जाता है। उत्तम पुरुष तो इन दोनोंसे भिन्न ही है, जो 'परमात्मा' कहा गया है।'

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (१५।१८)

'चूँकि मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोक और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

क्षेत्रमें भी प्राणका समावेश नहीं है। यदि कहा जाय कि संघातमें प्राण भी है, तो उसका उत्तर यह है कि—ऐसा होता तो 'चेतना', 'धृति' आदिका भी पृथक् उल्लेख न होता; क्योंकि संघातमें तो ये सभी हैं।

सांख्य और योगदर्शनके जो सब पदार्थ और सिद्धान्त हैं, गीताके वैसे नहीं हैं। सांख्य और योगमें नानात्मवाद है, गीतामें एकात्मवाद है। प्रश्न हो सकता है कि जब तीन तत्त्व

---

* शाङ्करभाष्यके मतानुसार नवम और श्रीभाष्यके मतानुसार अष्टम सूत्र।

१. उसने प्राणकी सृष्टि की। २. इससे प्राण, मन और समस्त इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। ३. आकाश, वायु (प्राण), तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय।

हैं, तब एकात्मवाद कहाँ रहा । इसका उत्तर है—अंश और अंशीके अथवा प्रतिविम्ब और विम्बके लोकव्यवहारमें गृहीत भेदको लेकर ही क्षेत्रज्ञ और परमात्मामें भेदकी कल्पना की गयी है; इसीलिये तीन तत्त्व हैं, नहीं तो दो ही तत्त्व रह जाते हैं । इस पुरुषोत्तम या परमात्माके लिये गीता कहती है—अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ (१३ । १२) वह अनादिमत् है—दो अनादिका अविच्छेद्य सम्बन्ध जिसमें वर्तमान है, वह परब्रह्म है । दो अनादि हैं–प्रकृति और पुरुष।

'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । (१३।१९)

'प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको अनादि जान ।'

इन दोके सम्मेलनके कारण उसको केवल सत् नहीं कह सकते; इसी प्रकार केवल असत् भी नहीं कह सकते । प्रकृति परिणामिनी है, इसलिये उसका नाम 'असत्' होनेपर भी पुरुष अपरिणामी होनेसे 'सत्' है । यह सम्मिलित तत्त्व है, इसीलिये 'न सत्तन्नासदुच्यते'—उसे सत् भी नहीं कह सकते और असत् भी नहीं कह सकते । यही गीतादर्शन सप्तशती-में अभिव्यक्त है—

अव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या । (मा०पु०८४।६)

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत् ।

(मा० पु० ८५।३४)

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ।

(मा० पु० ८१ । ६३)

'क्योंकि तुम आदिभूत अव्यक्त परा प्रकृति हो ।' 'जो भगवती चेतनारूपसे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित है ।' 'हे सर्वस्वरूपे ! जो कोई भी कहीं 'सत्' या 'असत्' वस्तु है (उस सबकी शक्ति तुम्हीं हो) ।'

इस सिद्धान्तको सप्तशतीमें भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने गीतासे ही ग्रहण किया है ।

ज्ञानयोग और कर्मयोगके उदाहरण हैं—समाधि और सुरथ । ज्ञानयोगी समाधिकी साधनाका प्रथमारम्भ कर्मयोगसे होता है, सुरथकी तो कर्मयोग ही निष्ठा है । पहले सकामभाव होनेपर भी वह सकाम कर्म महामाया-की कृपासे निष्काम हो जायगा और कर्मयोगी सुरथ दूसरे मन्वन्तरमें मनु होकर मुक्ति प्राप्त करेंगे ।

यह उपाख्यान ज्ञानयोगनिष्ठा और कर्मयोगनिष्ठाके उदाहरणरूपमें ही दिया गया है ।

गीतादर्शनमें यही शाक्तवाद दर्शनके रूपमें उपदिष्ट है।

भगवान्का हृदय

अहा ! गीता भगवान्का हृदय है ! उसी भगवत्-हृदयको स्पर्श करना चाहते हो ? जैसे-तैसे ही उसका स्पर्श न करना, भीतर-बाहरसे कुछ पवित्र होकर उसे स्पर्श करनेकी चेष्टा करो । स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनो, इससे बाहरकी पवित्रता होगी; परन्तु इसीसे काम नहीं चलेगा, भीतरकी पवित्रता चाहिये । मनमें विचार करो, श्रीकृष्णको स्पर्श करने जा रहे हो । वे कितने पवित्र हैं, और तुम कैसे हो? दूसरे लोग तुम्हें नहीं जानते, परन्तु तुम तो अपनेको जानते हो और श्रीकृष्ण भी तुम्हें जानते हैं । कितने दोष हैं, कितने अपराध बन चुके हैं, कितना पाप कर चुके हो, कितनी अपवित्रताओंने हृदयमें आश्रय ले रक्खा है ! बताओ, इस हालतमें श्रीकृष्णके हृदयरूप इस गीताको कैसे स्पर्श करोगे ?

अहा ! कातर होकर एक बार श्रीकृष्णके स्वभावको याद करो । वे बड़े ही क्षमा-सागर हैं, वे किसीका अपराध नहीं देखते, उनकी ओर मुख फिराते ही वे हाथ फैलाकर हृदयसे लगा लेते हैं । वे हरि कंगालके सर्वस्व हैं, वे पापी-तापीके आश्रय हैं, वे दीनबन्धु हैं, वे अगतिके गति हैं । वे अपने जीवोंको निर्मल बनाकर गोदमें उठानेके लिये निरन्तर पुकार रहे हैं, वे सभीको भरोसा दे रहे हैं । आओ ! आओ ! इस गीताको नित्य सङ्गिनी बनाओ, गीताका नित्य पाठ करो, पाठ करते-करते जितना हो सके इसका प्रवाह हृदयके अंदर बहानेकी चेष्टा करो, बड़ा कल्याण होगा ।

—पं०श्रीरामदयाल मजूमदार, एम्० ए०

गीताका कर्मयोग

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण)

महाभारतके महायुद्धके प्रारम्भमें पाण्डवसेनाके सर्वप्रधान नेता अर्जुन युद्धारम्भके पहले जब शोक-मोहसे ग्रस्त होकर युद्ध करनेसे इन्कार कर गये तब उनको युद्धमें प्रवृत्त करानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने जो अत्यावश्यक उपदेश दिया, उसे ही हम गीता कहते हैं। इसी उपदेशको प्रणिधान और श्रद्धाके साथ सुननेका ही फल हुआ था—अर्जुनका मोह-नाश, स्मृतिकी प्राप्ति तथा भगवान्‌के उपदेशके अनुसार कर्म करनेका दृढ़ सङ्कल्प। यही बात गीतामें भी लिखी गयी है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥
(१८। ७३)

अर्जुनने कहा 'मेरी विपरीत बुद्धि नष्ट हो गयी है, पूर्व-स्मृति जाग्रत् हो आयी है। हे अच्युत! तुम्हारे ही अनुग्रहसे मुझे यह लाभ हुआ है; अब कर्त्तव्यके विषयमें मेरे सब सन्देह निवृत्त हो गये हैं, मैं दृढचित्त हो गया हूँ। तदनुसार (मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि) अबसे तुम्हारे उपदेशानुसार ही कर्त्तव्य-कर्म करूँगा।'

गीताका यह श्लोक स्पष्ट निर्देश कर रहा है कि गीता सुननेसे अर्जुनकी कर्त्तव्य-कर्ममें दृढ़ प्रवृत्ति हुई थी। जो लोग अर्जुनके समान श्रद्धान्वित होकर गीता-श्रवण करेंगे, उनके भी शास्त्रविहित अपने कर्त्तव्य-कर्मोंमें सब प्रकारके संशय निवृत्त हो जायँगे तथा उनमें दृढ़ प्रवृत्ति होगी। यही था भगवान् वेदव्यासके गीताप्रणयनका मुख्य उद्देश्य; इस विषयमें मैं समझता हूँ किसीके भी मतभेदकी सम्भावना नहीं है। अतएव गीता प्रवृत्तिपर ग्रन्थ है, निवृत्तिपर नहीं—यह सभीको मानना पड़ेगा। परन्तु गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका दी गयी है, उसके देखनेसे मनमें संशय उठता है कि गीता केवल प्रवृत्तिपर ग्रन्थ है—यह कैसे सम्भव है? क्योंकि प्रत्येक अध्यायके मुख्य प्रतिपाद्य विषयके निर्देशके साथ इन सब पुष्पिकाओंमें गीताका यही विशेषण सन्निहित रहता है, जैसे—'श्रीमद्भगवद्गीतासु-उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि श्रीमद्भगवद्गीता 'उपनिषद्' है, 'योगशास्त्र' है और 'ब्रह्मविद्या' है।

ब्रह्मविद्या और उपनिषद्—इन दो विशेषणोंके द्वारा यह अनायास ही समझा जा सकता है कि गीता प्रवर्त्तक शास्त्र नहीं है, बल्कि निवर्त्तक शास्त्र है; उपनिषदोंका तात्पर्य निष्प्रपञ्च अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्ममें ही है—इसे आचार्य शङ्कर प्रभृति सभी अद्वैतवादी, ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार एक वाक्यमें स्वीकार करते हैं। 'ब्रह्मविद्या' यह विशेषण और भी स्पष्टभावसे इसको व्यक्त करता है और 'योगशास्त्र' यह तीसरा विशेषण भी स्पष्ट कह रहा है कि गीता प्रवृत्तिपर ग्रन्थ नहीं, निवृत्तिपर ग्रन्थ है; क्योंकि योगशास्त्र कहनेसे निवृत्तिपर शास्त्रका ही बोध होता है, इसे सभी अध्यात्मविद् पण्डित स्वीकार करते हैं। हिन्दू-योगशास्त्रके परम आचार्य भगवान् पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें योगका जो लक्षण किया है, वह है 'चित्तवृत्तिका निरोध'। यदि चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है, तो वह प्रवृत्तिके अनुकूल नहीं बल्कि प्रतिकूल ही हो सकता है—इसे सभी शास्त्रीय तत्त्वोंके ज्ञाता पण्डित जानते हैं।

ये पुष्पिकाएँ किसने लिखीं, इसका निर्णय करना भी अत्यन्त कठिन है; यदि यह महर्षि वेदव्यासद्वारा लिखित है, तो गीताके उपसंहारका जो श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है उसके साथ इन विशेषणोंका विरोध अनिवार्य हो जाता है।

गीताके उपक्रम और उपसंहारकी एकरूपताकी रक्षा करके आपाततः प्रतीयमान इस विरोधका समाधान करनेके लिये जिस मार्गका अवलम्बन करना ठीक जान पड़ता है, उससे तो यह गीता सचमुच उपनिषद् प्रतीत होती है। क्योंकि समस्त प्रामाणिक उपनिषदोंका जो सार अर्थात् भगवत्तत्त्व है—वह गीतामें जिस प्रकार सरल रीतिसे विवृत हुआ है, वैसा अध्यात्मशास्त्रके किसी अन्य ग्रन्थमें प्रतिपादित नहीं हुआ; इसी कारण गीता ब्रह्मविद्या है। इसके अतिरिक्त जिसके द्वारा इस ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार किया जा सकता है वह उपाय अर्थात् योग भी इस गीतामें प्रतिपादित हुआ है। इसी कारण यह गीता योगशास्त्र है। गीताका यह योग तीन भागोंमें विभक्त है—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। गीताके अतिरिक्त अन्य अध्यात्मशास्त्रोंमें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग पृथक्-पृथक् साधनरूपमें

निर्दिष्ट हैं—ऐसा आपाततः प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः ज्ञान, भक्ति और कर्म परस्पर निरपेक्ष साधन नहीं हैं; बल्कि वास्तवमें वे भगवत्तत्त्व-साक्षात्कारके असाधारण और अभिन्न साधन हैं—यही बात गीतामें स्पष्टरूपसे प्रतिपादित हुई है। भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिये जो कर्म करने पड़ते हैं वे यदि ज्ञान और भक्तिनिरपेक्ष हों तो फलप्रद नहीं होते, कर्मनिरपेक्ष ज्ञान और भक्ति भगवत्तत्त्वके साक्षात्कारमें पर्यवसित नहीं हो सकते—यही महर्षिसम्मत सिद्धान्त साधनतत्त्वके विषयमें गीताका असाधारण वैशिष्ट्य है; इसी कारण गीता उपनिषद् है, गीता ब्रह्मविद्या है और गीता ही योगशास्त्र है। अतएव गीता निवृत्तिपर होते हुए भी प्रवृत्ति-पर शास्त्र है। गीताके निवृत्तिमार्गमें कर्मका परित्याग नहीं है, उसमें है फलके सङ्कल्पका पूर्णतः त्याग करते हुए कर्तव्य-कर्मका आचरण करना। इस प्रकारका कर्मानुष्ठान क्या ज्ञानी, क्या भक्त, क्या कर्मिष्ठ—सभीको करना पड़ेगा। जबतक मनुष्यका देहाध्यास विद्यमान है, तबतक उसे सङ्कल्पका परित्याग करके यह कर्मानुष्ठान करना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त न तो भगवत्तत्त्वके साक्षात्कारका कोई दूसरा उपाय है और न हो ही सकता है। यही है गीताका एकमात्र प्रतिपाद्य विषय।

इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(२। ३८)

'हे अर्जुन! युद्ध करनेसे गुरु-स्वजन आदि आत्मीयोंकी हिंसा करनी पड़ेगी और उससे पाप होगा—इस भयसे धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होनेमें तुम्हें जो सङ्कोच हो रहा है, यह ठीक नहीं। क्योंकि सुख और दुःख, लाभ और अलाभ, जय और पराजयको समान करके तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ेगा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तुम पापके भागी नहीं होओगे।' यही है गीताका कर्मयोग—इस कर्मयोगका स्वरूप प्रथम अध्यायसे अन्तिम अध्यायपर्यन्त गीतामें भगवान्‌ने अनेकों स्थानोंमें नाना प्रकारसे विस्तार करके समझाया है। इस कर्मयोगके कर्म विहित कर्म ही हों, ऐसी बात नहीं है—ये विहित भी हो सकते हैं और प्रतिषिद्ध भी; क्योंकि अठारहवें अध्यायमें श्रीभगवान् ही कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(१८। ५६)

'प्रतिषिद्ध हो, काम्य हो अथवा विहित (अर्थात् नित्य) हो—सब कर्मोंको जो सर्वदा एकमात्र मेरे (भगवान्‌के) आश्रय होकर करता है, वह मेरी कृपासे शाश्वत और अव्यय पदको प्राप्त होता है।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२। ६-७)

'सब कर्मोंका फल मुझमें संन्यस्त करके अनन्ययोगसे मेरा ही ध्यान करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ! मुझमें आवेशितचित्त उन भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ।'

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(५। ८—१०)

'कर्मयोगपरायण तत्त्वविद् कर्म करनेमें प्रवृत्त होकर मैं कुछ भी नहीं करता, (अर्थात् भगवदिच्छानुसार प्रकृति ही सब कार्य करती है) इस प्रकार विचार करे। देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, भोजन करना, गमन करना, सोना, श्वास लेना, बातें करना, परित्याग करना, ग्रहण करना, आँखें खोलना, आँखें मूँदना इत्यादि सारी क्रियाओंके होते समय चिन्तन करे कि इन सारे विषयोंके साथ प्रकृतिवश ही इन्द्रियोंका सम्बन्ध हो रहा है (मैं कुछ भी नहीं करता)। इस प्रकार ब्रह्मके ऊपर सब कर्मोंको आरोपित कर कर्मफलकी भोगासक्तिका त्याग कर जो मनुष्य कार्य करता है, वह जलके साथ कमलकी भाँति किसी भी पापसे लिप्त नहीं होता।'

इस प्रकार सब अवस्थाओंमें सब प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करनेका नाम ही गीतोक्त कर्मयोग है-इस कर्मयोगका प्रत्येक मनुष्य अधिकारी हो सकता है। ज्ञानी या भक्तका भी इसी कर्मयोगके साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है; यह ज्ञान या भक्तिके प्रतिकूल नहीं, बल्कि ऐकान्तिक भावसे अनुकूल ही है। अतएव यह गीतोक्त कर्मयोग सब अवस्थामें सब मनुष्योंके लिये अनुष्ठेय है।

अर्जुनको भगवान्‌ने जिस युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये इस कर्मयोगका उपदेश दिया है, उसका प्रकृत स्वरूप क्या है—इसकी भी यहाँ विशेषरूपसे विवेचना की जायगी।

गीतामें ही भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

हे अर्जुन! इस कारण सर्वदा मेरा अनुसरण करो और युद्ध करो।

महाभारतका ऐतिहासिक युद्ध अठारह दिनोंमें ही समाप्त हो गया था, परन्तु इस गीतावाक्यमें श्रीभगवान्‌ने अर्जुनके प्रति आदेश किया है कि मेरा स्मरण करते हुए सब समय अर्थात् मृत्युकालपर्यन्त युद्ध करो। अतएव यह युद्ध केवल महाभारतका ही युद्ध नहीं है, यह जीवनव्यापी युद्ध है। इस संसारमें मनुष्य युद्ध करनेके लिये ही जन्म लेता है। जबतक जीवित रहता है, युद्ध करता रहता है, अन्तिम श्वास निकलनेके पहलेतक इस युद्धसे हट जाना सम्भव ही नहीं है—यह ऐसा ही युद्ध है। इस युद्धके विषयमें उपनिषद्-युगमें इस भारतवर्षमें बहुत ही विस्तृतभावसे आलोचना और विवृतियाँ हुई हैं।

इस युद्धका नाम है आध्यात्मिक देवासुर-संग्राम। प्रत्येक मनुष्यके शरीरके भीतर ये दो प्रकारके विवदमान या कलह-प्रवण भाव अनादिकालसे युद्ध करते आ रहे हैं—एकका नाम है आसुरभाव और दूसरेका दैवभाव। इस संग्राममें अधिक स्थलोंमें आसुरभाव ही विजयी होता है, दैवभावके विजयके लिये जन-साधारणमें अलौकिक शक्तिसम्पन्न महापुरुषका या भगवदवतारका आविर्भाव हुआ करता है। इस देवासुर-संग्रामके दैवभाव और आसुरभावोंका प्रकृष्ट परिचय श्रीगीताशास्त्रमें देखा जाता है।

दैवभाव या दैवीसम्पद् किसे कहते हैं? इस प्रसङ्गमें श्रीभगवान् कहते हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६। १-३)

निर्भीकता, विशुद्धचित्तता, ज्ञानयोगपरता, दान, बाह्य इन्द्रियोंका संयम, यज्ञ (अर्थात् देवताके उद्देश्यसे त्याग), अध्ययन, विहितक्लेशशीलता, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, वञ्चना-त्याग, जीवदया, अलोभ, मृदुता, लज्जा, अचापल्य, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शुचिता, अद्रोह और नातिमानिता—ये भाव उनके होते हैं जो दैवी-सम्पद्‌के अधिकारी होकर जन्म लेते हैं।

इसके आगे ही आसुरभाव या आसुरीसम्पद् किसे कहते हैं, इसके समझानेके लिये श्रीभगवान् कहते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
(गीता १६। ७—१६)

आसुरभावसे युक्त मनुष्य सत् कार्यमें प्रवृत्ति और असत् कार्यमें निवृत्तिके स्वरूपको नहीं समझता। उसमें शौच, आचार और सत्य नहीं होता। यह जगत् असत् है, यह किसी परमार्थ सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित नहीं, इसकी उत्पत्ति सुनियन्त्रित पूर्वापर भावकी अपेक्षा नहीं करती, मनुष्यका जन्म स्त्री और पुरुषके परस्पर कामरूप हेतुके अतिरिक्त अन्य किसी हेतुके ऊपर निर्भर नहीं करता। इस जगत्का उत्पादन करनेवाला कोई सर्वशक्तिमान् ईश्वर नहीं है। इस प्रकारकी बुद्धिके ऊपर निर्भर कर वे अल्पबुद्धि और हतभाग्य अपने हिंसात्मक कर्मोंके द्वारा जगत्का क्षय करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं। ये समस्त आसुरी प्रकृतिसे युक्त मनुष्य अपवित्र कार्यको ही व्रतरूपसे ग्रहण करते हैं। अतएव ये लोग प्राणियोंके शत्रु ही होते हैं। इनकी विषयभोगकी स्पृहाकी पूर्त्ति होनेकी सम्भावना नहीं, ये लोग भोगकी आकाङ्क्षाके द्वारा ही परिचालित होते हैं। ये दाम्भिक होते हैं, पागल होते हैं, अभिमानी होते हैं। मोहके वश होकर असद् उपायोंका ही ये लोग अवलम्बन करते हैं। इनके विचारसे भोगाकाङ्क्षाकी चरितार्थता ही मनुष्यका उद्देश्य है। इनकी चिन्ता अपरिमेय होती है और जीवनके अवसानतक इस चिन्ताकी विरति नहीं होती। ये लोग सर्वदा विचारते हैं कि 'मैंने जो समझा है उसके अतिरिक्त समझनेके लिये और कोई वस्तु बाकी नहीं है।' ये आशारूपी सैकड़ों पाशोंके द्वारा सर्वदा बद्ध रहते हैं और काम-क्रोध इनमें सर्वदा ही विद्यमान रहते हैं, कामभोगके लिये ये लोग न्यायविगर्हित पथसे अर्थ-सञ्चय करनेके लिये प्रस्तुत होते हैं, ये सोचते हैं—'आज मैंने यह प्राप्त किया, कल इससे भी अधिक प्राप्त करूँगा, मेरे पास इतना धन है, भविष्यमें और भी अर्थकी प्राप्ति करूँगा, मैंने इस शत्रुका नाश कर दिया है, भविष्यमें इसी प्रकार अनेकों शत्रुओंका मैं अवश्य ही नाश करूँगा। मैं ऐश्वर्यसम्पन्न हूँ, मैं भोगी हूँ, मैंने साधनामें सिद्धि प्राप्त की है, मैं बलवान् हूँ, अतएव मैं सुखी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं कुलीन हूँ; इस संसारमें मेरे समान दूसरा कौन हो सकता है? मैं यज्ञ करूँगा, मैं सुख भोग करूँगा'—इस प्रकार अज्ञानद्वारा जो सर्वदा विमोहित रहते हैं, वे ही आसुरभावापन्न पुरुष हैं। ये आसुरभावोंसे युक्त मनुष्य अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधके वशमें होकर अपने शरीर तथा दूसरोंके शरीरमें अपने ही समान जीवभावमें अवस्थित परमेश्वरके प्रति विद्वेष-परायण होकर सबके प्रति असूयासे युक्त रहते हैं, इस प्रकार-के विद्वेषपरायण क्रूर प्रकृतिके नराधमोंको मैं (अर्थात् श्रीभगवान्) बारम्बार आसुरी योनिमें ही निक्षेप करता हूँ (क्योंकि आसुरभावका यही अवश्यम्भावी फल है)।

इस दैव और आसुर, दो प्रकारके परस्पर विरुद्ध भावोंके पारस्परिक संघर्षसे अध्यात्मराज्यके जागरण और स्वप्न—इन दो प्रदेशोंमें जो अविराम संग्राम दिन-रात चल रहा है उसीका नाम देवासुरसंग्राम है। अध्यात्मराज्यमें व्यक्तिगत भावसे इस संग्रामका आभ्यन्तरिक वेग जब प्रबल होता है, बाहरके आधिभौतिक जगत्में उस वेगसे उत्पन्न हुई प्रबल बाढ़ जब समष्टिगत मानवजीवनको दिग्दिगन्त प्लावित कर समाज-परिस्थितिरूप सुख और शान्तिके नन्दनकाननको उन्मूलन करनेके लिये प्रवृत्त होती है, तब उसीका परिणाम होता है पृथ्वीव्यापी महासंग्राम। इसी महासंग्रामके धारावाहिक इतिहासका नाम है मानवजातिका इतिहास; यह भीषण संग्राम अनादिकालसे होता चला आ रहा है, कब इसकी आत्यन्तिक विरति होगी—यह कौन कह सकता है? भारतीय अध्यात्मशास्त्र, मानव-सभ्यताके उषाकालसे लेकर आजतक मानवजन्मको विफल बनानेवाले इस महा-संग्रामकी निवृत्तिके लिये मार्ग प्रदर्शन करता आ रहा है। भारतीय सभ्यताके ऐतिहासिक युगमें इस महासंग्रामके आरम्भके समय पाण्डव-सेनाके सर्वप्रधान नेता अर्जुन जब आसुरभावोंकी प्रबलतासे विक्षिप्तचित्त होकर किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बन गये थे, तब अधर्मका निराकरण और धर्मकी संस्थापनाके लिये अवतीर्ण करुणामय स्वयं श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको धर्मयुद्धमें प्रवर्तित कर चिरकालके लिये पृथ्वीपर धर्मराज्यकी संस्थापना करके इस महासंग्रामके मूलोच्छेदके लिये जो दिव्य उपदेश प्रदान किया था, उसीका नाम है श्रीमद्भगवद्गीता। यही भगवद्गीताका एकमात्र प्रतिपाद्य कर्मयोग है। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिके साथ-साथ प्रत्येक मनुष्यकी ब्राह्मी स्थिति इस कर्मयोगका मुख्य प्रयोजन है। इस मुख्य प्रयोजनको प्राप्त करनेका एकमात्र साधन है—कर्तृत्वाभिमानको दूर करते हुए सर्व कर्मोंके अनुष्ठानके समय सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्रीभगवान्‌की शरणा-गति। यही बात अष्टादश अध्यायके अन्तमें उपसंहारके समय श्रीभगवान्‌ने दैवीसम्पद्-अधिरूढ़ परम भक्त श्रीअर्जुन-को बतलायी है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

हे अर्जुन ! सब प्राणियोंके हृदयदेशमें ईश्वर अपनी मायाशक्तिके प्रभावसे विनिर्मित देहाभिमानरूपी यन्त्रके ऊपर नियतरूपसे आरूढ़ जीवमात्रको भ्रमाते हुए विराजमान रहते हैं। हे भारत ! उन्हीं ही सर्वतोभावसे शरण अर्थात् आश्रय और रक्षकरूपमें स्वीकार करो, उन्हींकी करुणासे तुम परम शान्ति और शाश्वत पदको प्राप्त करोगे ।

यही है गीतोक्त कर्मयोगका प्रकृत स्वरूप । इसीका फल है भुवनव्यापी धर्मराज्यकी संस्थापना, इसीका नाम है देवासुर-संग्रामका आत्यन्तिक समुच्छेद !

श्रीमद्भगवद्गीताका चरम तात्पर्य

(लेखक—वैष्णवाचार्य श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण)

गीताशास्त्रके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय करनेके लिये प्रयास करना मेरे-जैसे मनुष्यके लिये एकदम असम्भव है। गीताके भाष्यकार और टीकाकारोंने कर्म, भक्ति और ज्ञान—इन तीन मार्गोंका अवलम्बन कर अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार गीताके उद्देश्यका निर्णय किया है। प्राचीन भाष्यकारों और टीकाकारोंमें ज्ञान-सम्प्रदायके अग्रगण्य श्रीमच्छङ्कराचार्य तथा भक्ति-सम्प्रदायके अग्रगण्य श्रीपाद रामानुजाचार्य ही प्रधान माने जाते हैं। कर्मयोगकी प्रधानताको प्रदर्शित करनेवाले मीमांसकोंमें बहुतोंने कर्मयोगके उत्कर्षकी स्थापना की है। परन्तु वे सुप्रसिद्ध नहीं हैं। आधुनिक गीताशास्त्रकी पर्यालोचना करनेवालोंमें लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलकने अपने 'गीतारहस्य' में कर्मयोगकी प्रधानताका प्रदर्शन कर गीताशास्त्रकी नाना प्रकारसे सुविस्तृत आलोचना की है। उन्होंने पाश्चात्य विद्वान् दार्शनिकोंके सिद्धान्तोंके साथ तुलना करके गीताशास्त्रको कर्मयोगप्रधान शास्त्रके रूपमें स्वीकार किया है। हम स्थूलभावसे पहले यही देखते हैं कि गीतामें पहले ही वेदान्तशास्त्रकी पद्धतिके अनुसार नित्यानित्य वस्तुका विचार किया गया है। देह जड और नश्वर तथा अनित्य है; परन्तु आत्मा चिन्मय, शाश्वत और नित्य है। अनित्य शरीरका परिणाम मृत्यु है; परन्तु आत्मा नित्य और शाश्वत है, अतएव जीवके लिये आत्मतत्त्वकी प्राप्ति ही अवश्य कर्त्तव्य है। परन्तु इसके लिये सबसे पहले चित्तशुद्धिके निमित्त कर्मयोगके साधनकी आवश्यकता है। कर्मयोगका अनुष्ठान किये विना चित्तशुद्धिका उपाय सहज ही प्राप्त नहीं होता। श्रीधरस्वामीने लिखा है—

'अतः सम्यक् चित्तशुद्धया ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं वर्णाश्रमोचितानि कर्माणि कर्त्तव्यानि। अन्यथा चित्तशुद्धयभावेन ज्ञानानुत्पत्तिरित्याह, न कर्मणामिति।.......न च चित्तशुद्धिं विना कृतात् संन्यसनाद् एव ज्ञानशून्यात् सिद्धिं मोक्षं समधिगच्छति प्राप्नोति।'

अर्थात् सम्यक् चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त वर्णाश्रमोचित कर्मोंको अवश्य करना चाहिये। चित्तशुद्धिके विना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। ज्ञानके विना मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं होती।

'ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्यत्वं च हि तत्फलम्। तत्फलं ज्ञाननिष्ठैव'

कर्मयोगका यही प्रधान उद्देश्य है। श्रीमच्छङ्कराचार्य ज्ञानकर्मसमुच्चयको नहीं मानते; कुछ आचार्योंने इससे विपरीत माना है। हम भी समझते हैं कि हमलोग देहधारी संसारी जीव हैं। व्यावहारिक रूपमें ही हमारी संसारमें स्थिति है। कर्मके विना जब शरीरयात्राका निर्वाह ही नहीं होता, तब कर्मत्याग करके जीवनके निर्वाहका कोई उपाय नहीं। ऐसी अवस्थामें वेदविहित कर्मोंका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये अवश्यकर्त्तव्य है और इसी कर्मके द्वारा चित्तशुद्धि होती है। अतएव ज्ञान और भक्तिकी प्राप्तिके लिये कर्मयोग साक्षात् कारण न होते हुए भी गौण कारणके रूपमें अवश्य ही स्वीकार किया जा सकता है, यही वेदका अभिप्राय है। श्रौतधर्मप्रवक्ता स्वयं भगवान् वासुदेवने भी गीता-उपनिषद्में यह उपदेश प्रदान किया है।

परन्तु एकमात्र कर्मयोगका आश्रय लेकर ही सारे जीवनको बिता देना वेदका उद्देश्य नहीं है। वेदान्तशास्त्रने मोक्ष या भगवत्प्राप्तिका भी उपदेश दिया है तथा भगवत्प्राप्तिको ही जीवका वास्तविक उद्देश्य निश्चय किया है।

गीताशास्त्रमें इन तीनों मार्गोंका अति सुन्दर सामञ्जस्य किया गया है और अन्तमें पराभक्तिकी प्रशंसा की है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८। ५४-५५)

अर्थात् ब्रह्मभावमें स्थित प्रसन्नात्मा पुरुष किसी विषयके लिये शोक नहीं करता तथा किसी विषयकी आकाङ्क्षा भी नहीं करता। सब प्राणियोंमें वह एक भाव (समदर्शी) रहता है, तत्पश्चात् वह मत्सम्बन्धिनी पराभक्ति प्राप्त करता है। मैं किस प्रकारका हूँ तथा मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है, इस विषयमें तत्त्वपूर्वक पराभक्तिके द्वारा मुझे पूर्णरूपसे जान लेता है। इस प्रकार तत्त्वतः मुझको जानकर तत्पश्चात् मुझमें ही प्रविष्ट होता है।

पराभक्तिकी प्राप्तिके पहले सब प्रकारकी विषय-वासनासे चित्तको विशुद्ध करना होगा। पातञ्जलदर्शनमें जो प्रकृतिसे पुरुषकी पूर्णरूपेण असङ्गताकी प्राप्तिका उपदेश दिया गया है, भगवद्गीतामें वही सांख्यज्ञानके उपदेशके रूपमें कहा गया है। इसके द्वारा चित्त जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे विच्छिन्न हो जाता है। इस अवस्थाके पश्चात् जो आनन्दकी प्राप्ति होती है, वही वेदान्तका मोक्ष है। इसी अवस्थाको हम ब्रह्मभूत-अवस्था कह सकते हैं। ज्ञानयोगकी साधनाकी यह चरमावस्था है। परन्तु भक्तोंकी साधनाका अन्त यहाँ नहीं होता। इस समदर्शन और ब्रह्मदर्शनके बाद उनकी श्रीभगवान्‌में पराभक्तिका आरम्भ होता है। इस पराभक्तिकी प्राप्तिका फल होता है—साक्षात् भगवत्प्राप्ति। श्रीभगवान् जो आनन्दमय, प्रेममय और रसमय हैं, इसकी अनुभूति पराभक्तिके साधकको ही प्राप्त होती है। तैत्तिरीय उपनिषद्‌में लिखा है—'ज्ञानं ब्रह्म'। 'आनन्दं ब्रह्म'। सबके अन्तमें लिखा है 'रसो वै सः'। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति।' अतएव रसब्रह्मकी अनुभूति ही मनुष्यकी साधनाका चरम लक्ष्य है। पराभक्तिकी साधनामें साधक इस चरम लक्ष्यको प्राप्त होता है। 'विशते तदनन्तरम्' इस वाक्यांशका यही अभिप्राय है। अतएव हम गीताके कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगके बीच पृथक् साधनाका उपक्रम नहीं देखते। यहाँ त्रिविध साधनाके द्वारा एक ही लक्ष्यमें पर्यवसित होनेका उपदेश दिया गया है। कर्मयोगसे प्रारम्भ करके पराभक्तिकी प्राप्तिके द्वारा रसब्रह्मके साक्षात्कार-पर्यन्त इस साधनाका पर्यवसान होता है। कर्मयोग इसका प्रथम प्रधान स्तर है, ज्ञानयोग द्वितीय स्तर है और पराभक्तिकी प्राप्तिमें ही जीवकी साधनाकी सिद्धि होती है। गीतामें भक्तियोगके द्वारा जिस रसब्रह्मकी साधनाका सङ्केत किया गया है, श्रीमद्भागवतमें इसीको सुस्पष्ट कर दिया गया है। श्रीगीताशास्त्रके इसी अभिप्रायको श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके पार्षद गोस्वामिगणने स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त किया है। श्रीमान् जीवगोस्वामीने अपने भागवत-व्याख्याके क्रमसन्दर्भमें तथा षट्सन्दर्भान्तर्गत भागवतसन्दर्भमें, परमात्मसन्दर्भमें और अन्तमें प्रीतिसन्दर्भमें इसी तथ्यको विवृत किया है। हमारा विश्वास है कि यही श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्रका चरम तात्पर्य है।

गीताकी उपयोगिता

त्याग मनुष्यका अनन्त कर्तव्य है। जिनके साथ हमारा रक्त-सम्बन्ध है, अबतक हम उन्हींके लिये त्याग करते आये हैं। किन्तु अब हमें इससे अधिक एवं उत्कृष्ट कोटिके त्यागकी आवश्यकता है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें जो कुछ उपदेश दिया है, यदि हम उसे अपना पथप्रदर्शक मानते तो ऐसा त्याग हो गया होता। श्रीमद्भगवद्गीता वर्तमान समयमें शिक्षित भारतीय समुदायके लिये उपयुक्त ग्रन्थ है। फलकी कामनासे रहित होकर कर्तव्यका कर्तव्यकी दृष्टिसे पालन करना ही गीताकी शिक्षा है।

—जस्टिस पी० आर० सुन्दरम् अय्यर

कुरुक्षेत्रमें अर्जुनका मोहभङ्ग

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमि संसारक्षेत्रकी एक समुज्ज्वल प्रतिच्छवि है। देश और कालकी दृष्टिसे निःसीम, अनन्त प्रकारके जड-चेतनसे समन्वित यह विशाल संसार वस्तुतः एक युद्धक्षेत्र है। प्रत्येक जीव युद्ध करता हुआ ही अपना अस्तित्व रखता है, युद्ध करते हुए ही जीवनको विकसित किया जाता है। युद्ध करना अनिवार्य होनेके कारण ही जीवोंके शरीर, इन्द्रिय और मनमें विचित्र शक्तिकी अभिव्यक्ति होती है। युद्धक्षेत्रमें विजय-प्राप्ति और आत्म-प्रतिष्ठाकी चेष्टासे ही उनमें विचारशक्ति और कर्मशक्तिका विकास होता है, नाना प्रकारके दोषों और गुणोंकी भी स्फूर्ति होती है। जगत्में जन्मग्रहण करते ही नाना प्रकारकी प्रतिकूल शक्तियाँ जीवको जीवन-संग्राममें आह्वान करती हैं। इस संग्राममें विजय प्राप्त कर संसारमें आत्मप्रतिष्ठा करनेके लिये ही सब जीवोंको संघबद्ध होना पड़ता है और उसी सिलसिलेमें समानजातीय जीवोंमें आत्मीयताका बन्धन क्रमशः दृढ़ हो जाता है। इसी प्रकार उन्नत जीवोंमें परिवार, समाज और जातीयताकी सृष्टि होती है। इस युद्धमें जो व्यक्ति, जाति या संघ दुर्बल होते हैं, जिनकी जीवनीशक्ति—आत्मरक्षा और आत्मप्रतिष्ठाकी शक्ति—इस संसारमें युद्धकी योग्यताको खो बैठती है, वे पिसने लगते हैं और समय पाकर संसारक्षेत्रमें उनका विनाश हो जाता है। यहाँ यह समझना चाहिये कि मानो सृष्टि-प्रवाहमें उनका कार्य समाप्त हो गया है, इसलिये अब उनका अस्तित्व अनावश्यक है। यह युद्ध अखिल विश्वका एक प्रधान धर्म है।

इस जीव-जगत्का विधान ही ऐसा है कि एक जीव दूसरेका आहार है। एक जातिके जीवोंके विनाशके ऊपर दूसरी जातिके जीवोंका जीवन निर्भर करता है। स्थावर जीव जङ्गम जीवोंके आहार हैं, छोटे जीव बड़े जीवोंके आहार हैं, दुर्बल प्राणी अपेक्षाकृत सबल प्राणियोंके आहार हैं। इसी कारण जीव-जगत्में विभिन्न श्रेणीके जीवोंमें नित्यप्रति संग्राम चल रहा है। इस संग्रामके द्वारा ही व्यष्टि और समष्टिभावसे जीव-जगत्में क्रमविकास होता रहता है। दुर्बलतर जीवोंका नाश करके बलवान् प्राणियोंका उद्भव होता है और इसी चेष्टामें उनकी शक्ति और कौशल-की अधिकाधिक वृद्धि होती है। बलवान् प्राणियोंमें भी युद्धका अभाव नहीं होता। एक वनमें दो सिंहोंका रहना कठिन होता है।

बुद्धिशक्तिसम्पन्न मनुष्यजातिने अन्यान्य प्राणियोंको अपनी बुद्धिशक्तिके प्रभावसे संग्राममें जीतकर पृथ्वीपर अपना राज्य स्थापित किया है। मनुष्यके भयसे दाढ़, नख और पूँछोंसे प्रहार करनेवाले भयङ्कर प्राणी भी बीहड़ वन, जङ्गल और पर्वतोंकी गुफाओंमें जा छिपे हैं। मनुष्य अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर उन निर्जन स्थानोंमें भी उनपर आक्रमण करके अपनी युद्धप्रियता और विजय-वासनाको चरितार्थ करता है। पुनः मानव-जगत्में भी प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक परिवार, प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति अपने-अपने जीवनकी रक्षा, प्रभावकी वृद्धि और गौरवकी स्थापनाके लिये दूसरोंके साथ युद्धमें प्रवृत्त होता है। इस युद्धमें विजय-वैजयन्ती फहरानेके लिये जो जाति जितने ही अधिक साधन और सामग्रीके सञ्चयमें समर्थ होती है, वह जाति उतनी ही प्रभावसम्पन्न समझी जाती है। इस आत्मप्रतिष्ठा और दूसरोंके पराजयकी चेष्टामें जगत्में जो ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति होती है, प्राकृतिक शक्तियाँ मनुष्यके हस्तगत हो जाती हैं, यन्त्र आदि आविष्कृत होते हैं और शिल्प-वाणिज्यका विस्तार होता है—इन सबका मूल मनुष्यका जीवन-संग्राम ही तो है।

इस प्रकार प्राणिवर्गके संग्रामके अतिरिक्त मनुष्यके बुद्धिराज्यमें और भी नाना प्रकारके युद्ध चलते रहते हैं—आदर्शके साथ आदर्शका युद्ध, विचार-विचारमें युद्ध, मत-मतान्तरके युद्ध आदि। मनुष्यजातिके जीवनप्रवाहके ऊपर इन आदर्शों, विचारों और मतोंके संघर्ष और संग्राम अत्यधिक प्रभाव डालते हैं। मानव-जगत्में एक-एक आदर्श, विचार-प्रवाह तथा मत-मतान्तरका प्रतिष्ठाके लिये भी बहुधा अनेका प्रकारके संघर्षोंकी सृष्टि होती है, बहुत जन-संहार होता है और बहुतेरी दुर्बल जातियोंका नाश हो जाता है। मानवसभ्यताके क्रम-विकासके इतिहासमें संस्कृतिकी जितनी उन्नति हुई है, मनुष्यकी चिन्ताधारा, विचारधारा और कर्मधारामें जितना उत्कर्ष हुआ है, मनुष्यके भीतर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'का जितना विकास हुआ है और मनुष्य पूर्णताकी ओर जितना अग्रसर हुआ है—प्रायः

सब कुछ इस संग्रामके द्वारा ही हुआ है। युद्ध ही संसार-प्रवाहका सनातन नियम है, सृष्टिके अंदर भगवान्‌का अटल विधान है और जीव-जगत्‌के क्रमिक विकासके लिये भगवान्‌का अचिन्तनीय कौशल है।

इसके सिवा, संसारमें प्राकृतिक नियमोंके अनुसार कितने उल्कापात, वज्रपात, भूकम्प, बाढ़, अग्निकाण्ड, आँधी-तूफान, विप्लव और विध्वंसलीलाएँ नित्यप्रति होती रहती हैं! ये सभी इस जगत्‌के नित्यके व्यापार हैं। इस जगत्‌में उत्पत्ति और विनाश, जन्म और मृत्यु, स्वास्थ्य और रोग, जवानी और बुढ़ापा, सुख और दुःख, संयोग और वियोग, प्रेम और हिंसा, दया और घृणा, सम्पत्ति और विपत्ति, लाभ और हानि तथा जय और पराजय–सभी एक सूत्रमें ग्रथित हैं। इस प्रकारके द्वन्द्वोंके द्वारा ही यह संसार रचा हुआ है। इन द्वन्द्वोंके साथ हमारा नित्य परिचय है। इस द्वन्द्व और संग्रामके द्वारा ही विश्वसृष्टिमें भगवान्‌का गूढ उद्देश्य सिद्ध होता है।

इन द्वन्द्वोंमें हम एकको चाहते हैं, दूसरेको नहीं चाहते। हम जय चाहते हैं, पराजय नहीं चाहते; सुख चाहते हैं, दुःख नहीं चाहते; लाभ चाहते हैं, हानि नहीं चाहते; मिलन चाहते हैं, वियोग नहीं चाहते; उत्पत्ति चाहते हैं, विनाश नहीं चाहते। परन्तु निरपेक्षभावसे विचार करनेपर हम सहज ही समझ सकते हैं कि एक पक्षके जयमें दूसरे पक्षका पराजय निहित है, एक पक्षके लाभान्वित होनेपर दूसरे पक्षकी हानि अवश्यम्भावी है, नूतनकी उन्नतिके साथ-साथ पुरातनका विध्वंस अनिवार्य है, वियोगकी व्यथाके बिना मिलनका आनन्द असम्भव है। इनमें एकको छोड़कर दूसरेका उपभोग सम्भव नहीं। इतना होनेपर भी एकके त्याग और दूसरेकी प्राप्तिके लिये प्राणियोंकी आकांक्षा स्वभावतः ही होती है और इस आकांक्षाकी पूर्त्तिकी चेष्टामें युद्धका होना भी अनिवार्य है।

यह द्वन्द्व और युद्ध ही संसारकी चिरन्तन नीति है; इसे हम सर्वदा देखते हैं, सर्वदा इस युद्धमें लिप्त रहते हैं; तथापि हम इसका गम्भीरतापूर्वक अनुभव नहीं करते, व्यापकरूपसे इसकी पर्यालोचना नहीं करते। परन्तु जब इस युद्धकी विकराल नग्न मूर्त्ति हमारे स्वार्थके क्षेत्रमें भयङ्कर रूपमें प्रकट होती है, इसका अनिच्छित अनिष्टकारक परिणाम जब हमको या हमारे प्रिय स्वजनोंको खा डालनेके लिये तैयार होता है, तब हमारा हृदय भय, वेदना और दुःखसे व्याकुल हो उठता है। तब यह युद्ध हमें मानो एक अचानक मिली हुई नयी-सी चीज मालूम होती है, हमारी विचारशक्ति मोहग्रस्त हो जाती है, कर्तव्यबुद्धि अपना स्थान छोड़ देती है, धीरता और स्थिरता नष्ट हो जाती है, हम अपने-आपको खो देते हैं। यह हमारी क्लीवताका परिचायक है।

कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये तैयार दो आत्मीय पक्षोंके बीच स्थित महावीर अर्जुनकी यही अवस्था हुई थी। अर्जुन युद्धविद्याविशारद थे और दीर्घकालतक युद्ध करके उन्होंने असाधारण महावीरकी ख्याति प्राप्त की थी। उनके इस विशिष्ट गौरवके साथ कितनी वेदनाओंकी कथाएँ सम्बन्धित हैं, उनका, इतने दिनोंतक उन्होंने विशेष गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन नहीं किया था। उनके असाधारण कीर्ति-मन्दिरकी नींवमें कितने कुलोंका ध्वंस और जातियोंका विनाश, कितने नर-नारियोंके आत्मीय स्वजनोंके विरहका करुण क्रन्दन, कितनी रमणियोंके पति-शोक और पुत्रशोकका दारुण आर्त्तनाद, कितने वंशोंका उच्छेद और वर्णसंकरोंकी उत्पत्ति और परम्परागत कितने सामाजिक और साम्प्रदायिक साधनोंका अन्त भरा हुआ है–विजयोन्मत्त अर्जुनके हृदयमें इतने दिनोंतक इसके लिये किसी गम्भीर वेदनाकी सृष्टि नहीं हुई थी, उधर ध्यान देनेका उन्हें अवसर ही कहाँ था? उन्होंने इन सब काण्डोंको एक विजयी वीर तथा कीर्तिमान् पुरुषकी दृष्टिसे ही देखा था। जो लोग उनके विजयसे पराभूत थे, उनकी वीरतासे पीसे गये थे, उनके लाभसे हानिग्रस्त थे और उनकी कीर्तिसे ध्वस्त हो गये थे–उनकी दृष्टिसे अर्जुनने इनको नहीं देखा था। उनकी मर्मभेदी यातनाएँ अर्जुनके हृदयको विक्षुब्ध नहीं कर सकी थीं।

आज युद्धके लिये तैयार दोनों पक्षोंमें आत्मीय–स्वजनोंके मुखोंको देखकर युद्धके भयङ्कर परिणामके विषयमें वे सजग हो उठे। आज उन्होंने गम्भीरतापूर्वक अनुभव किया कि चाहे किसी भी पक्षकी विजय हो, दूसरा पक्ष पराजित और नष्ट हो जायगा और उस विजित पक्षमें भी अपने ही आत्मीय हैं। इस युद्धके परिणामसे जो लोक-संहार, कुल-नाश, कुल-धर्म और जाति-धर्मका लोप, वर्णसङ्करकी उत्पत्ति और पितरोंका पिण्डलोप हो जायगा–उसकी आशङ्कासे ही वे व्याकुल हो उठे। उन्हें अपना चिरकालसे आचरित स्वधर्म आज नितान्त अधर्मके रूपमें दीखने लगा। वे धर्मसम्मूढचेता और किंकर्तव्यविमूढ होकर भयानक यन्त्रणाका अनुभव करने लगे।

जिस युद्धका अवलम्बन कर मनुष्यकी जीवन-धारा

प्रवाहित होती है, उसी युद्धकी यह कठोरता और भीषणता जब उसके चित्तदर्पणमें स्पष्टतया दिखलायी पड़ती है तब युद्धमें लगनेका उसका उत्साह ठंडा पड़ जाता है, वह इस अत्यन्त दारुण युद्धक्षेत्रका त्याग कर संन्यास ग्रहण करनेके लिये तैयार हो जाता है अथवा युद्धक्षेत्रमें ही निश्चेष्ट होकर आत्मबलि देनेको प्रस्तुत हो जाता है। अर्जुनकी भी यही दशा हुई। परन्तु युद्धक्षेत्रसे भागनेका स्थान ही कहाँ है? सारा संसार ही तो युद्धक्षेत्र है, सभी जगह तो यह दारुण युद्ध चल रहा है। विभिन्न स्थानोंमें, विभिन्न अवस्थाओंमें और विभिन्न प्रकारके वातावरणमें युद्धका केवल आकारमात्र बदलता है। केवल शरीररक्षाके लिये ही जीवको अनेकों विरुद्ध शक्तियोंके साथ सतत युद्ध करना पड़ता है। एक विशाल देशकी शान्ति-शृङ्खलाकी रक्षाके लिये जो लोग युद्ध करते हैं उनके युद्धसे इस युद्धका आकार-प्रकार भिन्न है अवश्य, परन्तु हैं दोनों ही युद्ध। जो व्यक्ति जिस देशमें, जिस कालमें, जिस प्रकारकी शक्ति-सामर्थ्यको लेकर, जिस प्रकारकी अवस्थामें पड़ा होता है, उसे तदनुसार युद्ध करना ही पड़ता है। इच्छापूर्वक और विचारपूर्वक नहीं करता तो प्रकृति या भगवान्‌का विधान उसको बलपूर्वक युद्धमें लगा देता है। मृत्युके उपस्थित होनेपर भी जीवको स्वभाववश मृत्युके साथ युद्ध करके बचनेकी चेष्टा करनी पड़ती है तथा अन्तमें मृत्युसे पराजित होकर अपनी हार मानकर मरना पड़ता है। संसारमें रहते हुए कोई भी प्रकृतिको पूर्णतया अतिक्रम या अग्राह्य नहीं कर सकता।

संसारक्षेत्रमें युद्धकी भीषणता और अनिष्टकारिताका तीव्र अनुभव करते हुए भी युद्धसे पूर्णतया हट जानेका कोई उपाय ही नहीं है। जबतक जीते रहना है, तबतक प्रकृतिकी तीव्र प्रेरणासे, भगवान्‌के सृष्टिविधानसे युद्ध करना ही पड़ेगा;—चाहे वह विचारपूर्वक हो या अविचारपूर्वक, इच्छासे हो या अनिच्छासे, तेजके भावसे हो या निस्तेजभावसे। ऐसी अवस्थामें, जिस प्रकारके युद्धमें, जिस प्रकार अपनेको लगानेपर मनुष्योचित आदर्शका अनुसरण होता है, मानव-जीवनके चरम लक्ष्यकी सिद्धिमें सहायता मिलती है, समाजमें शान्ति-व्यवस्था प्रतिष्ठित होती है, उन्नततर आदर्शके प्रभावकी वृद्धि होती है और मानवजाति आध्यात्मिक सभ्यताके उच्चतर सोपानपर आरोहण करती है, उसी प्रकारके युद्धमें, उसी प्रकारसे यथाशक्ति अपनेको लगा देना ही उचित है। मनुष्य युद्धसे भाग तो नहीं सकता। परन्तु वह आदर्शकी उन्नति और तदनुसार युद्धका सुनियन्त्रण अवश्य कर सकता है।

परन्तु मनुष्यका चित्त जितना ही विशुद्ध होता जाता है, बुद्धि जितनी ही उन्नत होती है, वासना और कामनाका वेग जितना ही कम हो जाता है, हृदयमें प्रेम, मैत्री और करुणाका जितना ही विकास होता है, शरीर, इन्द्रिय तथा मनकी चञ्चलता जितनी ही नष्ट होती है, युद्धके प्रति स्वभावतः उतना ही वैराग्य उत्पन्न होता है, हिंसादि व्यापारोंमें अरुचि उत्पन्न होती है, जितने भी कर्म वासनामूलक हैं, सब बन्धन-जनक जान पड़ते हैं और संसारके कोलाहलसे भागकर शान्तिकी प्राप्तिके लिये प्राण व्याकुल हो उठते हैं। संसारमें जब चारों ओर द्वन्द्व, सङ्घर्ष और संग्राम दिखलायी देता है, तब सारा ही संसार दुःखमय जान पड़ता है। और संसारसे मुक्ति प्राप्त करना ही परम पुरुषार्थ है, ऐसा ज्ञात होता है।

तब फिर मनुष्यके अन्तःकरणमें एक नवीन युद्धकी आयोजना होती है। एक ओर संसार अपने स्वाभाविक नियमके अनुसार युद्धके लिये आह्वान करता रहता है और दूसरी ओर युद्धके प्रति वैराग्य उसको त्यागके लिये युद्ध-क्षेत्रसे भागनेके लिये उत्साहित करता है। तब अन्तःकरणमें कर्मप्रवृत्तिके साथ संन्यासप्रवृत्तिका, युद्ध-प्रवृत्तिके साथ युद्ध-त्यागकी प्रवृत्तिका एक तुमुल युद्ध आरम्भ हो जाता है। युद्धत्याग करनेका भी कोई उपाय नहीं दिखलायी देता और युद्धके नाना प्रकारके दोष स्पष्ट दीखनेके कारण उसमें रुचि भी नहीं होती। तब एक प्रकारकी कष्टप्रद किंकर्त्तव्यविमूढ अवस्था हो जाती है। संसारक्षेत्रमें सभी विचारशील पुरुषोंके सामने यह समस्या उपस्थित होती है। सभी युगोंके सभी विचारशील पुरुषोंकी यह समस्या, आभ्यन्तरिक युद्ध—कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें खड़े हुए पुरुषरत्न अर्जुनके चित्तमें बड़े ही विकटरूपमें जाग उठा। इसी समस्याके समाधानके लिये अर्जुन अपने सारथी श्रीकृष्णके शरणागत हुए।

जो इस संसाररूपी युद्धक्षेत्रके स्रष्टा हैं, जो जीवके स्वभावमें विचित्र भाव, विचित्र प्रवृत्ति, विचित्र रुचि तथा विचित्र अभाव और उद्देश्यकी सृष्टि करके युद्धक्षेत्रमें प्रेरित करते हैं तथा स्वयं छिपे रहकर उनके विचित्र कर्म-फलका नियन्त्रण करते हैं, जो सारी कर्मप्रवृत्ति और भोगप्रवृत्तिके प्रेरक और नियन्ताके रूपमें प्रत्येक जीवके अंदर विद्यमान

रहते हुए भी उनके सामने अपने अस्तित्वतकको छिपाये रखते हैं, विश्वनाटकके वे ही अद्वितीय अभिनेता अर्जुनके सारथीके रूपमें विद्यमान हैं। सभी मनुष्योंके देहरूपी रथपर वे सारथीके रूपमें नित्य विराजमान रहते हैं। वे सबके ही नित्य सुहृद्, नित्य सखा और नित्य सञ्चालक हैं। परन्तु जबतक मनुष्य अपनेको ही कर्त्ता, भोक्ता, स्वेच्छाचारी और अपना भाग्यविधाता समझकर अभिमानमें मतवाला रहता है, तबतक उसको वे अन्तर्यामी विश्वनाट्यकार सखाके रूपमें नहीं दिखायी देते। उनकी सत्ताका ज्ञान हो जानेपर भी मनुष्य कभी उन्हें केवल अपना सहायक और कामनाकी पूर्त्ति करनेवाला समझता है, कभी कर्मफल प्रदान करनेवाला, अथवा कभी उदासीन निष्क्रिय सर्वसम्बन्धरहित ही देखता है, अभिमानवश उन्हें सखारूपमें देखनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त करता!

विषम सङ्कटमें पड़कर जब अभिमान चूर्ण-चूर्ण हो जाता है, प्रवृत्ति सङ्कुचित होती है, चाञ्चल्य दूर हो जाता है और बुद्धि अपनी शक्तिका विश्वास खोकर प्रकाशकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठती है, तब भगवान् कृपा करके अपनेको प्रकट करते हैं, संसार-संग्रामके तात्पर्यको समझाते हैं और उनको परम कल्याणका पथ दिखलाते हैं। अर्जुनके हृदयमें वही विषम सङ्कट उपस्थित है। वे दूसरे लोगोंकी भाँति भगवान्‌की दैवी मायासे विमोहित होकर राज्य, ऐश्वर्य, कीर्त्ति, सुख और ऐहिक तथा पारलौकिक धर्मोंका अनुसरण करते हुए अभिमानपूर्वक अपनी विद्या और बुद्धि-शक्तिका जिस पथमें प्रयोग करते चले आ रहे थे, कुरुक्षेत्रमें दोनों ओर आत्मीय स्वजनोंको देखकर और उनके परिणामका विचार करके उसी पथके स्वरूपको एक नये ही आकार-प्रकारमें देखने लगे। क्या यही स्वधर्म है? क्या इसी स्वधर्मके अनुष्ठानमें सारा जीवन लगाया गया है? क्या इस भयानक परिणाममें ही वीरधर्मका पर्यवसान है? यह तो अत्यन्त घोर अधर्म है! मनुष्यत्वहीनता है! पितरोंको भी नरकमें डुबानेकी व्यवस्था है। अर्जुनकी अन्तरात्मा 'त्राहि-त्राहि' पुकार उठी। उनकी बुद्धि किंकर्त्तव्यविमूढ होकर चिरसुहृद् स्थितप्रज्ञ सारथी श्रीकृष्णके शरणापन्न हुई। धर्म-सङ्कटमें पड़े हुए इस पुरुष-प्रवरके सामने भगवान्‌ने अपनेको प्रकट किया—उनके सखा और सारथीके अंदर स्वयं विश्वनियन्ता प्रकट होकर उनकी सारी समस्याओंका समाधान करने लगे।

तत्त्वज्ञानविहीन मनुष्योंकी भाँति अर्जुनके विचारविभ्रमके मूलमें यही मिथ्या ज्ञान था कि 'मैं ही सब कर्मोंका कर्ता हूँ, मैं किसी कर्ममें प्रवृत्त होने या न होनेमें स्वयं पूर्णतया स्वाधीन हूँ, मेरी स्वतन्त्र विचारशक्ति और इच्छाशक्ति ही मेरे सारे कर्मोंका नियमन करती है।' वे अबतक युद्धमें अपनी शक्तिका प्रयोग कर स्ववंश, स्वजाति, स्वदेश, स्वकीय स्नेहास्पद, प्रेमास्पद और सेवकोंकी तथा उसीके साथ-साथ अपनी भोग-सम्पत्ति, यश-मान और प्रभावशीलताको बढ़ानेमें लगे थे; उन्होंने यही समझ रक्खा था कि 'मैं स्वाधीन हूँ और अपनी इच्छासे पूर्णरूपसे विचार करके ही प्रत्येक कार्य करता हूँ। युद्ध मेरा धर्मसङ्गत कर्तव्य है।' अन्यान्य अनेकों वंश, जाति और देशकी सम्पत्तिके नाश, कीर्तिनाश और ध्वंसपर उन्होंने कुछ भी विचार नहीं किया था। आज जब युद्धका विषमय फल अपने ही वंश, जाति और देशके ऊपर पड़ते देखा, तब वे इसे अधर्म समझकर भयभीत और विचलित हो उठे। उनका कर्तव्यज्ञान और पूर्वसङ्कल्प बह चला!

क्या मैं अबतक अधर्म ही करता आ रहा था? शास्त्रोंने जिसे क्षत्रियोंका स्वधर्म बतलाया है, क्या वह वस्तुतः अधर्म है? यदि अधर्म ही है, तो इस अधर्मको अधर्म समझनेके साथ ही, उसी क्षण त्याग देना चाहिये। अर्जुनने खूब विचार करके यह समझ लिया कि यह युद्ध अत्यन्त घोरतर अधर्म है; अतएव इसका तुरंत त्याग करके या तो मुझे संन्यासव्रतका अवलम्बन करना चाहिये अथवा अपने पापोंके प्रायश्चित्तस्वरूप निश्चेष्ट होकर विपक्षियोंके शस्त्राघातसे प्राणत्याग कर देना चाहिये। अर्जुनने सोचा कि 'मैंने स्वतन्त्रतापूर्वक ही युद्ध स्वीकार किया था तथा अब उसका त्याग करनेमें भी मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूँ।' यह संसार भगवान्‌का है, भगवान् ही संसारके समस्त व्यापारोंके विधाता और नियन्ता हैं; सारे मनुष्य—सभी जीव उनके हाथकी कठपुतलीमात्र हैं, उनके सङ्कल्पोंको मूर्त्तिमान् करनेके लिये 'निमित्तमात्र' हैं—यह महान् तत्त्व उनके हृदयदर्पणमें प्रतिभासित नहीं हुआ। इस संसार-स्रोतमें बहता हुआ, संसार-तरङ्गोंमें नाचता हुआ प्रत्येक माया-मुग्ध मनुष्य इसी भ्रममें पड़ा हुआ है।

इस भ्रमको दूरकर अर्जुनको स्वभावस्थ करनेके उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको प्रकट करके उन्हें यह दिखला दिया कि इस संसारका कर्ता मनुष्य नहीं, भगवान् हैं; संसारके

कार्य-कलाप मनुष्यकी इच्छासे संघटित नहीं होते, भगवान्के विधानसे संघटित होते हैं। संसारक्षेत्रमें सर्वत्र ही जो युद्ध चल रहा है, वह भगवान्का ही विधान है। जिस जीवको उन्होंने जिस प्रकारकी शक्ति-सामर्थ्य देकर जिस प्रकारकी अवस्थामें स्थापित किया है, उसीके अनुसार उसके कर्तव्य निरूपित होते हैं, उसका स्वधर्म निर्धारित होता है और उसीके अनुसार संसार-संग्राममें प्रवृत्त होनेके लिये वह बाध्य है। जिसके जीवनमें भगवान्का जो अभिप्राय या उद्देश्य निहित रहता है, उसे उसका सम्पादन करना ही पड़ेगा। मानव-प्रकृतिके भीतर भगवान्ने जिस विचारशक्ति और इच्छा-शक्तिको अनुस्यूत कर रक्खा है, उसीसे मनुष्यकी स्वाधीनताका बोध होता है। यह स्वाधीनताकी प्रतीति मनुष्यकी भगवान्के द्वारा निर्दिष्ट प्रकृतिका ही अङ्ग है तथा भगवान्के द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्रमें ही मनुष्यके लिये यह स्वाधीनताकी प्रतीति सार्थक हो सकती है। भगवान्के द्वारा निर्धारित साधनक्षेत्रसे भागनेकी स्वाधीनता उसको नहीं है।

मनुष्य यदि अपनी विचारशक्तिका सम्यक् विकास करके इस तत्त्वज्ञानमें प्रतिष्ठित होकर, भगवान्के द्वारा निर्दिष्ट साधन-संग्राममें, भगवान्के द्वारा प्रदान की हुई शक्ति और सामर्थ्यको लगाता है, कर्तृत्वाभिमान और फल-कामनाकी निरर्थकताको समझकर केवल भगवत्-कर्मसम्पादनकी बुद्धिसे अपनी प्रकृति और अवस्थाके अनुसार कर्तव्य-साधनमें लग जाता है, तो इससे उसकी स्वाधीनताका यथार्थ सद्व्यवहार होता है और मानवजीवन सार्थक हो जाता है, ऐसा करनेपर शोक और मोहका कोई कारण ही नहीं रह जाता, चित्तमें विषाद नहीं होता।

प्रत्येक मनुष्य भगवद्विधानमें विश्वप्रकृति और अपनी प्रकृतिके द्वारा परिचालित होकर क्षेत्रानुसार कर्ममें प्रवृत्त होता है; परन्तु विचारशक्तिके विकासके तारतम्यसे नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिके उत्कर्षापकर्षके अनुसार वह उन सब कर्मोंका बहुत ऊँचा या अत्यन्त नीचा आदर्श लक्ष्यमें रखकर उनका सम्पादन कर सकता है। जो मनुष्य अपने शरीर-इन्द्रियोंकी तृप्ति, लौकिक सम्पदा या मान-बड़ाईकी वृद्धिको लक्ष्यमें रखकर अथवा आत्मीय स्वजन या जाति-बन्धुओंके इहलौकिक भोग, सुख, प्रभाव या प्रतिष्ठाकी प्राप्तिको लक्ष्य बनाकर कर्मक्षेत्रमें अपनी शक्तिका प्रयोग करता है, वह कर्मोंको सुचारुरूपसे सम्पादन करनेपर भी अपनेको क्षुद्र सीमाके अंदर बाँध रखता है और उसको अपने उन कर्मोंके पाप और पुण्यके फलको विशेषरूपसे भोगना पड़ता है। यदि वह उन्हीं स्वभावोचित कर्मोंको सारे देश, जाति या समाजके कल्याणको लक्ष्यमें रखकर सम्पादन करता है, तो वह उनके द्वारा दैहिक और पारिवारिक क्षुद्र सीमासे मुक्त हो जाता है, उसका नैतिक और आध्यात्मिक जीवन उन्नत स्तरमें आरोहण करता है, उसकी देह, मन और बुद्धि निर्मलतर हो जाती है तथा परमार्थप्राप्तिके मार्गमें वह बहुत दूर अग्रसर हो सकता है। और यदि भगवान्की सेवारूपी सर्वोच्च आदर्शको लक्ष्यकर स्वधर्मका आचरण करता है तो वह कर्मोंद्वारा ही संसार-बन्धनसे सर्वथा छूटकर भगवत्प्राप्तिमें समर्थ होता है। फिर इन कर्मोंके आनुषङ्गिक दोष-गुण उसे स्पर्श नहीं करते।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

भगवदाराधनबुद्धिसे किये हुए स्वधर्मानुमोदित कर्मोंमें यदि आपाततः हिंसादि व्यापार भी हो जाते हैं तो वे भी अहिंसामें परिणत हो जाते हैं; उन कर्मोंके बाह्य रूपोंमें रुद्रभावका ताण्डव नृत्य होनेपर भी भीतर शान्तभाव और प्रेमका प्रवाह विद्यमान रहता है। ऐसी अवस्थामें संग्रामकी भीषणता भी आध्यात्मिक साधनाके माधुर्यद्वारा परिपूर्ण रहती है।

संसारमें जन्म लेकर प्राकृतिक नियमोंके द्वारा समुपस्थित संग्रामसे भागकर कोई भी छुटकारा नहीं पा सकता। जो मनुष्य जिस प्रकारकी अवस्थाओंसे घिरा है, तदनुसार उसको संग्राममें लगना ही पड़ेगा। इस संग्रामसे मुक्ति पानेका उपाय है—भगवान्को अपने अंदर सारथी और सञ्चालकके रूपमें प्रतिष्ठित करके सम्पूर्ण चेष्टाओंमें एकमात्र उन्हींको समझना और उनके चरणोंमें सम्यक्रूपसे आत्मसमर्पण करके उनके द्वारा निर्दिष्ट संग्रामक्षेत्रमें उन्हींकी दी हुई शक्ति-सामर्थ्यको उन्हींकी सेवाके लिये सुनियन्त्रितरूपसे लगा देना। उनके विधानके अनुसार संग्राम-क्षेत्रका तथा संग्रामके बाहरी रूपका जब जिस प्रकार परिवर्तन हो उसे सिर झुकाकर स्वीकार करना पड़ेगा; तथा उसीके अंदर आदर्शको उज्ज्वल रखते हुए मनुष्यत्वकी साधना करनी पड़ेगी। भगवान्के उपदेशसे अर्जुनकी यह बुद्धि जब सम्यक्रूपसे जाग्रत हो गयी, तब 'राज्यं भोगाः सुखानि च' उनके कर्मके नियामक न रहे, कुलक्षय, वर्णसंकर और धर्महानिकी बात न जाने कहाँ विलीन हो गयी, वे भगवान्के हाथके यन्त्ररूपमें अपनेको—'निमित्तमात्रम्'—समझने लगे तथा 'करिष्ये वचनं तव'—कहकर भगवान्के आदेशानुसार स्वधर्म-सम्पादनके व्रती हो गये।

गीताका सन्देश

(श्रीअरविन्द)

'कर्मका रहस्य वही है जो सारे जीवन और जगत्का रहस्य है।' यही श्रीमद्भगवद्गीताका, गीताके वक्ता श्रीभगवान्के सन्देशका सार-मर्म कहा जा सकता है। जगत् प्रकृतिका केवल कोई यन्त्र या नियमचक्र नहीं है, जिसमें जीव क्षणभरके लिये या युग-युग जीने-मरनेके लिये जा फँसा हो; यह है परमात्माकी निरन्तर अभिव्यक्ति। जीवन केवल जीनेके लिये नहीं बल्कि परमेश्वरके लिये है और मनुष्यका अन्तरात्मा उन्हीं परमेश्वरका सनातन अंश है। कर्मका प्रयोजन है आत्मानुसन्धान, आत्मपूरण और आत्मसिद्धि, कोई तात्कालिक या भविष्यकालीन भासमात्र बाह्य फल नहीं। पदार्थमात्रके भीतर एक ऐसा आन्तरिक कर्मविधान और उसका हेतु है जो आत्माकी अव्यक्त परमा प्रकृतिको और साथ ही व्यक्त प्रकृतिको आश्रय किये रहता है। वही कर्ममात्रका सत्तत्त्व है और वह सत्तत्त्व ही देशकालपात्रानुसार अपूर्णतया और अज्ञानसे आच्छादित रूपमें मन, बुद्धि और उसके कर्मोंके बाह्य रूपोंमें प्रकट हुआ करता है। इसलिये कर्मका प्रमादरहित महत्तम परम विधान अपनी ही उच्चतम और अन्तस्तम सत्ताका अनुसन्धान करना और उसीमें रहना है, अन्य किसी मान या धर्मका अनुसरण नहीं। जबतक यह नहीं होता, जीवन अपूर्ण रहता है और एक सङ्कट, एक संग्राम और एक समस्या ही बना रहता है। अपने आत्माको ढूँढ़ पाना और उसकी यथार्थ यथार्थता, वास्तविक वास्तविकताके अनुसार अपने जीवनको बना लेना ही वह उपाय है जिससे जीवनकी पहेली बूझी जा सकती है, सङ्कट और संग्रामको पार किया जा सकता है, अपने कर्मोंको साक्षात् आत्माके ही निरापद आश्रयमें पूर्ण करके दिव्य कर्मके रूपमें ढाला जा सकता है। 'इसलिये अपने-आपको जानो, अपने सदात्माको ईश्वर समझो और सबके अन्तरात्माओंके साथ उसे एक जानो; अपने आत्माको ईश्वरका अंश जानो। जो जानते हो उसीमें रहो, अपने आत्मामें स्थित हो, अपनी परा आत्मप्रकृतिमें रहो, ईश्वरके साथ एक हो और ईश्वर-सदृश बनो। उत्सर्ग कर दो पहले अपने सब कर्मोंको उनके चरणोंमें जो तुम्हारे अंदर सर्वोत्तम और एकमेव हैं, जो जगत्के अंदर सर्वोत्तम और एकमेव हैं; दे दो अन्तमें अपने-आपको-जो कुछ तुम हो और जो कुछ करते हो—उन्हींके हाथोंमें जिसमें परम जगदीश्वर जगदात्मा तुम्हारे द्वारा जगत्में अपना सङ्कल्प पूर्ण करें, तुमसे अपना कर्म करावें। यही तुम्हारे सारे प्रश्नका उत्तर है और तुम अन्तमें यह देखोगे कि यही समाधान है, दूसरा कोई नहीं।'

प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धमें जो मूलगत विरोध है जिसकी बुनियादपर ही समस्त भारतीय वेदान्तकी शिक्षाके समान ही गीताकी शिक्षा भी आरम्भ होती है, उसके सम्बन्धमें गीताका क्या सिद्धान्त है—यह यहाँ बतलाना आवश्यक है। अपने सदात्माको पाना, अपने और सबके अंदर रहनेवाले इस ईश्वरको जानना कोई सुगम बात नहीं है; न यही कोई हँसी-खेल है कि आत्मविषयक इस ज्ञानको बुद्धिसे जान लेनेपर भी हम अपनी चेतना और व्यवहारकालीन अपनी अवस्थामें ला सकें। कर्ममात्र नियत होता है हमारी व्यावहारिक स्थितिसे और हमारी व्यावहारिक स्थिति बनती है हम अपने मन-बुद्धिसे अपने-आपको जो कुछ समझते हैं उससे, हमारी चेतनासे और कर्ममें हमारी प्रवृत्तिके मूल हेतुसे। अर्थात् हम अपनी सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रकृतिसे जो कुछ समझते हैं कि हम अमुक हैं और जगत्के साथ हमारे अमुक-अमुक सम्बन्ध हैं—बस वही हमारी व्यावहारिक अवस्था है, यही श्रद्धा है जो हमें वही बनाये हुई है जो कुछ हम समझते हैं कि हम हैं। परन्तु मनुष्यकी चेतना द्विविध है, जो द्विविध आत्मसत्तासे सम्बद्ध है; एक अन्तःसत्ता है और दूसरी बाह्यसत्ता। इनमेंसे जिस सत्तामें मनुष्य स्थित होता है उसीके अनुसार वह होता है—बहिःसत्तामें वह मानव अज्ञानमें रहनेवाला मन होता है, अन्तःसत्तामें आत्मज्ञानमें स्थित जीवात्मा।

बाह्य रूपमें सत्ताका सत्तत्त्व वही है जिसे हम प्रकृति कहते हैं; यह वह शक्ति है, जो प्राणिजगत्का सम्पूर्ण विधान और कर्मचक्र बनी हुई है; यही उस जगत्का निर्माण करती है जो हमारी बुद्धि, मन और इन्द्रियोंका विषय है और यही उन बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको भी उत्पन्न करती है जिनसे प्राणियोंका जगत्के साथ सम्बन्ध होता है। इस बाह्य रूपमें मानव जीव अपनी मन-बुद्धि, प्राण और शरीरके साथ प्रकृतिका ही निर्माण किया हुआ एक प्राणी

मालूम होता है, जो अपने शरीर, प्राण, मन-बुद्धि और विशेष कर अहंकारके पार्थक्यसे अन्य सब प्राणियोंसे विलक्षण और विशिष्ट जाना जाता है। मानव अहङ्कारका सूक्ष्म यन्त्र रचा ही इसलिये गया है कि मनुष्य इस विलक्षण पार्थक्य और वैशिष्ट्यको दृढ़ और केन्द्रीभूत करे। मनुष्यमें जो कुछ है, उसका अन्तःकरण और उसका धर्म, उसके प्राण और शरीर और उनके धर्म, सब उसकी प्रकृतिके द्वारा ही विहित होते हैं और मनुष्य उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। मनुष्य अपनी वैयक्तिक इच्छा, अपने अहङ्कारकी इच्छाको कुछ स्वतन्त्र मानता है; पर यह स्वातन्त्र्य यथार्थमें कुछ भी नहीं है; क्योंकि उसका अहङ्कार एक करण ही है जिससे प्रकृतिने उसे जो कुछ बनाया है उसके साथ--प्रकृतिने उसके लिये जैसे मन, बुद्धि, प्राण और शरीर निर्माण किये हैं उनके साथ वह तदाकार हो जाता है। उसका अहङ्कार स्वयं ही प्रकृतिके कर्मका एक कार्य है; और यह अहङ्कार जिसका जैसा होता है वैसी ही उसकी इच्छा होती है और वैसा ही कर्म उसे करना पड़ता है, और कुछ वह कर ही नहीं सकता।

तात्पर्य, मनुष्यकी सामान्यतः अपने सम्बन्धमें यही चेतना, अपने स्वरूपके विषयमें यही श्रद्धा होती है कि मनुष्य प्रकृतिका निर्माण किया हुआ एक प्राणी है, एक पृथक् अहंभाव है जो दूसरोंके साथ और जगत्के साथ अपने वही सम्बन्ध स्थापित करता है, अपना वही उत्कर्ष साधन करता है, अपने मनका वही सङ्कल्प, इच्छा और बुद्धिकी कल्पना परितृप्त करता है जो प्रकृति उसे अपने दायरेके अंदर करने देती है और जो उसके स्वभावमें प्रकृतिका ही हेतु या धर्म होता है।

परन्तु मनुष्यकी चेतनामें और भी एक बात है जो इस नियमकी चौखटमें नहीं कसी जा सकती; आत्मसत्ताका जो दूसरा और आन्तरिक सत्तत्त्व है उसमें उसकी एक ऐसी श्रद्धा होती है जो जीवभावके उत्कर्षके साथ बढ़ती जाती है। इस आन्तरिक सत्तामें सत्ताका सत्तत्त्व प्रकृति नहीं बल्कि पुरुष है। प्रकृति स्वयं पुरुषकी एक शक्ति है। एक आत्मा है, एक पुरुष है, एक आत्मस्वरूप है जो सबके अंदर एक है, वही इस जगत्का स्वामी है और जगत् उसका केवल एकांश है। वही आत्मा प्रकृति और उसके कर्मका धारक है, वही अनुमन्ता है—उसकी अनुमतिसे ही प्रकृतिका कानून चलता है और प्रकृतिकी शक्ति इन विविध मार्गोंमें काम करती है। प्रकृतिके अंदर जो पुरुष है, वह ज्ञेय है जो प्रकृतिको प्रकाश देता और हमारे अंदर उसे चेतन बनाता है; उसीका अन्तःस्थ और परम चित्स्वरूप सङ्कल्पबल प्रकृतिको स्फूर्ति देता और उसकी सब क्रियाओंको सङ्कल्पान्वित करता है। मानुषी तनुमें जो पुरुष है वह इन्हीं भगवान्का अंश है और वह उन्हींका स्वभाववाला है। हमारी प्रकृति हमारे आत्माकी अभिव्यक्ति है, आत्माकी ही अनुमतिसे वह कार्य करती और आत्मपुरुषके ही गुह्य आत्मज्ञान, आत्मचैतन्य और प्रकृतिकी घटनावलि और परिवर्तनोंमें होनेकी इच्छाको वह स्थूल रूप दिया करती है।

हमारा सच्चा अन्तरात्मा, हमारा आत्मपुरुष हमारी बुद्धिसे छिपा रहता है, क्योंकि हमारी बुद्धिको अन्तर्जगत्का ज्ञान नहीं है, वह मिथ्या ज्ञानके साथ तदाकार हो गयी है, मन, प्राण, शरीरके बाह्य यान्त्रिक जीवनके साथ घुल-मिल गयी है। परन्तु मनुष्यका यह व्यवहारी देही पुरुष यदि अपने इन प्राकृत करणों या यन्त्रोंके साथकी तदाकारतासे अपने-आपको कहीं एक बार पीछे खींच सके, यदि अपनी वास्तविक अन्तःसत्ताको समझकर उसीकी पूर्ण श्रद्धामें रह सके तो सब कुछ बदलकर वैसा ही बन जाय, जीवन और जगत्का कोई दूसरा ही रूप सामने नजर आने लगे, कर्मका कोई दूसरा ही अर्थ और स्वरूप सिद्ध हो। तब हम प्रकृतिकी निर्माण की हुई यह छोटी-सी अहंभावावृत व्यष्टि नहीं रहेंगे बल्कि एक दिव्य, अमर और आध्यात्मिक शक्तिका विशाल स्वरूप हमें प्राप्त होगा। हमारी चेतना तब ऐसी बद्ध, दीन, दुखी, मनोमय, प्राणमय प्राणीकी चेतना नहीं रहेगी; वह होगी अनन्त, दिव्य और ब्रह्ममय। हमारे सङ्कल्प और कर्म भी तब व्यष्टिबद्ध अङ्कारविमूढ न होंगे बल्कि दिव्य और ब्रह्ममय होंगे; विश्वात्मा, परमात्मा, अखिलान्तरात्मा ही मानुषी तनुमें आकर अपना मुक्त कर्म करेंगे।

'यही वह महान् परिवर्त्तन और दिव्यीकरण है जिसे साधन करनेके लिये,' नरमें रहनेवाले नारायण, भगवदवतार, श्रीगुरुरूप हरि कहते हैं कि, 'मैं अधिकारियोंको बुला रहा हूँ और अधिकारी वे सब लोग हैं जो अपने मनको प्राकृत इन्द्रियोंके अज्ञानसे हटाकर अपने आत्मविषयक गम्भीरतम अनुभव, अपने अन्तरात्मविषयक ज्ञान, ईश्वरके साथ अपने सम्पर्क और भगवान्में प्रवेश करनेकी अपनी शक्तिमें श्रद्धा रख सकते हों। अधिकारी वे सब हैं जो इस श्रद्धा

और इस महान् धर्मको ग्रहण कर सकते हों। मनुष्यकी बुद्धि सदा अपने अज्ञानके बादलों और धुँधले प्रकाशोंमें आसक्त रहती और मन, प्राण, शरीरकी और भी अधिक तामसी आदतोंमें रमा करती है, इस कारण ऐसी बुद्धिके लिये इस श्रद्धा और इस महान् धर्मको ग्रहण करना निश्चय ही कठिन होता है; परन्तु यदि यह ग्रहण हो जाय तो यह उद्धारका सच्चा रास्ता बन जाय, क्योंकि यह रास्ता वही है जो मनुष्यके वास्तविक स्वरूपसे मिला हुआ है और यही उसकी अन्तस्तमा और परमा प्रकृतिकी सच्ची स्वाभाविक गति है।

'परन्तु यह परिवर्तन सामान्य नहीं है, बहुत बड़ा रूपान्तर है; इसका होना तबतक असम्भव है जबतक तुम जो कुछ हो और जो कुछ तुम्हारी प्रकृति है उसके साथ तुम पूरे तौरपर भगवान्‌की ओर मुड़कर भगवान्‌के न हो जाओ। इसके लिये आवश्यक होगा कि तुम अपने जीको, अपनी सारी प्रकृतिको और जीवनको भगवान्‌पर उत्सर्ग कर दो और भगवान्‌हीपर और किसीपर नहीं; क्योंकि सब कुछ रखना होगा भगवान्‌के लिये ही; जो भी वस्तु ग्रहण की जायगी वह उसी रूपमें जिस रूपमें वह भगवान्‌में है, भगवान्‌के ही एक रूपके तौरपर और भगवान्‌के निमित्त ही अदृष्टपूर्ण नवीन सत्यको ही ग्रहण करना होगा; अपने सम्बन्धमें, दूसरोंके सम्बन्धमें, जगत् और ईश्वरके सम्बन्धमें, प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धमें नवीन ज्ञानकी ओर, एकत्वके ज्ञानकी ओर, विश्वात्मा जगदीश्वरके ज्ञानकी ओर अपनी सारी बुद्धिको मोड़कर लगा देना होगा। आरम्भमें ज्ञानको इस प्रकार ग्रहण करना बुद्धिके द्वारा ही ग्रहण करना है, परन्तु अन्तमें यही दर्शन बन जायगा, अपनी चेतना बन जायगी, यही स्वभाव होगा और इसीमें ढलकर सारा कर्म प्रवाहित होगा।'

'इसके लिये आवश्यक होगा सङ्कल्प करनेवाला वह मन जो इस नवीन ज्ञान, दर्शन, चैतन्यको कर्मका चालक एकमात्र भाव बना दे। और कर्मका यह चालक भाव कोई लाचारीका भाव नहीं, कोई परिच्छिन्न भाव नहीं, ऐसा भाव नहीं कि प्रकृतिके जो अत्यन्त आवश्यक कर्म हैं जिन्हें करना ही पड़ता है उन्हें किया जाय, ऐसा भाव भी नहीं कि सिद्धिके बाह्य स्वरूपमें जो कर्म साधक हैं उन्हींको किया जाय अथवा जो कर्म अपनी धार्मिक प्रवृत्तिके अनुकूल या अपने वैयक्तिक मोक्षके साधक हों, केवल उन्हींको किया जाय, बल्कि यह भाव होना चाहिये सम ब्रह्मकी स्थितिमें अखिल मानव-कर्म करनेका और सो भी भगवान्‌के लिये और सर्वभूतहितके लिये। इसके लिये आवश्यक होगी हृदयकी वह अनन्य अभीप्सा जो भगवान्‌की ओर प्रधावित हो—आवश्यक होगा भगवान्‌का अनन्य प्रेम, अनन्य समर्थन और फिर आवश्यक होगी स्थिरीभूत और प्रबुद्ध हृदयकी वह विशालता जो घट-घटमें भगवान्‌का आलिङ्गन करे। मनुष्यकी जो सामान्यतः अभ्यस्त प्रकृति होती है उसका ऐसा परिवर्त्तन होना होगा कि वह परा भागवती ब्रह्मप्रकृति हो जाय। संक्षेपमें तात्पर्य यह है कि ऐसा योग आवश्यक होगा जो एक साथ पूर्ण ज्ञानका योग, पूर्ण सङ्कल्प और उसके कर्मोंका योग, पूर्ण प्रेम, पूजा और भक्तिका योग होनेके साथ-साथ मनुष्यके अन्तर्बाह्य सब अङ्गों, सब अवस्थाओं, सब शक्तियों और सब गतियोंका पूर्ण योग हो।'

'वह ज्ञान तब क्या है जिसे बुद्धि ग्रहण करे, जीवकी श्रद्धा जिसे आश्रय दे और जो अन्तःकरण, हृदय और प्राणके लिये सच्चा और जीता-जागता प्रत्यक्षरूपसे अनुभूत हो? वह ज्ञान है परमेश्वर और परब्रह्मके एकत्व और उसके समग्रत्वका ज्ञान। वह उन एकमेवाद्वितीयका ज्ञान है जो चिरकाल ही दिक्‌काल, नामरूप और जगत्‌के परे, अपने ही व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपोंके परे रहते हैं और फिर भी जिनसे यह सारा विश्व प्रवर्त्तित होता है, जिन्हें ही यह विश्व नानाविध प्रकृति और उसके असंख्यरूपोंमें प्रकट करता है। इस ज्ञानमें भगवान् एक साथ ही ब्रह्म भी हैं और शक्ति भी, प्रकृतिमें सदा उनका क्षरभाव ही प्रतीत होता है, वे ही घट-घटवासी हैं जो अपनी शक्तिके रूपके अनुरूप अपने-आपको बना लेते और उसके प्रत्येक स्तर और तरतमभाव और कर्मके अनुसार अपना रूप बदलते रहते हैं, वे ही ब्रह्म हैं जो यह सारा जो कुछ है वह बने हुए हैं और फिर भी यह जो कुछ है उससे अपार अनन्त हैं, वे ही मनुष्यमें, पशुमें और प्रत्येक पदार्थमें, अहंमें और इदंमें, अन्तरात्मामें, अन्तःकरणमें, प्राणमें और जडविषयमें, प्रत्येक सत्ता और प्रत्येक शक्ति और प्रत्येक प्राणीमें विराजते हैं।'

'इस योगका साधन सत्यके किसी एक पहलूको ही सारा सत्य मान लेनेसे नहीं हो सकता। जिन भगवान्‌को तुम ढूँढ़ना चाहते हो, जिस आत्माकी तुम खोजमें हो, जिस परमात्माका सनातन अंश ही तुम्हारा अन्तरात्मा है—वे भगवान्, वह आत्मा और वे परमात्मा एक ही हैं और उन्हें इन सब स्वरूपोंके एकत्वमें एक साथ तुम्हें जानना होगा, एक साथ उनमें प्रवेश करना होगा और सब अवस्थाओं और सब

पदार्थोंमें केवल उन्हीं एकको देखना होगा। यदि वे केवल प्रकृतिस्थ क्षर ब्रह्म ही होते तो यह पञ्चमहाभूतात्मक जगत् ही सब कुछ होता और वही सनातन होता। यदि इसी एक पहलूमें तुम अपनी सारी श्रद्धा और ज्ञानको आबद्ध कर रक्खो तो तुम अपने व्यष्टिरूपसे और उसके निरन्तर परिवर्तनशील आकारोंसे कभी आगे नहीं बढ़ सकोगे; इस प्रकारकी निष्ठा तुम्हें सदा सब तरफसे प्रकृतिकी क्रान्तियोंमें ही भटकाये रहेगी। पर तुम इस कालके केवल पुनरावर्त्ती आत्मरूप क्षण ही नहीं हो। तुम्हारे अंदर एक अमूर्त्त पुरुष भी है जो तुम्हारे व्यष्टि जीवनप्रवाहका आश्रय है और जो भगवान्के विशाल अव्यक्त ब्रह्मस्वरूपसे अभिन्न है। और फिर इस अव्यक्त मूर्त्ति और मूर्त्त व्यष्टि पुरुषके परे, इतने परे कि जिसका कोई हिसाब नहीं, तुम अपने स्वरूपके इन दो चिरन्तन ध्रुवोंका प्रभुत्व करनेवाले सनातन और परम स्वरूप हो और सदा सनातन परम स्वरूपमें स्थित रहते हो।'

फिर, यदि वह सनातन अव्यक्त आत्मपद ही एकमात्र सत्य होता जो कोई कर्म नहीं करता, सृष्टि-स्थिति-संहारसे जिसका कोई मतलब नहीं तो यह जगत् और तुम्हारा जीवात्मा दोनों ही एक भ्रम होते जिनकी सत्यमें कोई स्थिति नहीं। यदि इसी एक स्वरूपमें तुम्हारी निष्ठा और ज्ञान आबद्ध हों तो जीवन और कर्मका संन्यास ही एकमात्र उद्धारका उपाय होता। पर जगत्में जगन्निवास जगदीश्वरका होना और जगत्में तुम्हारा होना, दोनों ही बातें वस्तुगत्या सच हैं; जगत् और तुम परमेश्वरकी कार्यशक्ति और अभिव्यक्ति हो। इसलिये जीवन और कर्मका ग्रहण करो, उनका त्याग नहीं। अपने अव्यक्त स्वरूप और सत्सत्तासे भगवान्के साथ एक होकर, उन्हींके हम सनातन अंश हैं— यह जानकर, अपने व्यष्टीभूत आत्मस्वरूपसे उसीकी अनन्त सत्ताके लिये प्रेम और भक्तिसे उनकी ओर मुड़ो और अपने प्रकृतिस्थ पुरुषको बना लो वह चीज जो चीज बननेके लिये वह व्यष्टिभूत हुआ है अर्थात् कर्म करनेवाले करण बनो, भगवत्कर्मप्रवाहके विशुद्ध साधन बनो, भगवान्की एक शक्ति बनो। यथार्थमें यही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है जो, अभी जडता और अपूर्णताके कारण निम्नगा प्रकृतिके प्रभावसे तुम्हारे अहङ्कारके द्वारा उस ईश्वरभावके आच्छादित हो जानेसे, कुछ-का-कुछ बन गया है। उसे अपने अहङ्कारसे विकृत न होने दो और अपने चैतन्य को जगाकर पूरे तौरपर अपनी परा ब्राह्मी प्रकृतिके साथ रहनेवाले भगवान्की एक शक्ति और उनके सङ्कल्प और कर्मका एक साधक अङ्ग बना दो। इस तरह तुम अपने ही आत्मस्वरूपकी पूर्ण सत्तामें रहोगे और पूर्ण भगवत्सायुज्य, विशुद्ध सम्पूर्ण योगको प्राप्त होओगे।

'परमतत्त्व पुरुषोत्तम हैं जो सारे व्यक्त जगत्के परे हैं, काल या दिक् या कार्यकारण या अपने असंख्य गुणों और रूपोंमेंसे किसी भी गुण या रूपके परे हैं। पर इसका यह मतलब नहीं कि अपने इस परम सनातन पदपर रहते हुए भगवान् जगत्में जो कुछ होता है उससे कोई लगाव नहीं रखते या जगत् और प्रकृतिसे और सब प्राणियोंसे अलग रहते हैं। वे ही अनिर्वचनीय परब्रह्म हैं, वे ही अव्यक्त ब्रह्म हैं और वे ही सर्वभूतानि हैं; आत्मा, प्राण और जड शरीर, अन्तरात्मा और प्रकृति और प्रकृतिके सब कर्म उन्हींकी अनन्त सनातनी सत्ताके विभिन्न अङ्ग और कर्म हैं। वे परब्रह्म हैं और सब कुछ उन्हींसे व्यक्त होता है, सब उन्हींके रूप और उन्हींकी आत्मशक्तियाँ हैं; सबके एक अखिलान्तरात्माके नाते जगत्में वे सब मनुष्यों, पशुओं और पदार्थोंमें प्रकृतिके प्रत्येक विषय और प्रवृत्तिमें सर्वव्यापक, सम और अव्यक्त हैं। वे परमात्मा हैं और सब आत्मा इसी एक पावक आत्माके चिरन्तन स्फुलिङ्ग हैं। सब प्राणी अपने व्यष्टीभूत आत्मस्वरूपमें उन्हीं एक पुरुषके अमर अंश हैं। वे समस्त व्यक्त जगत्के शाश्वत प्रभु हैं, सब लोकों और सब जीवोंके स्वामी हैं। सब कर्मोंके सर्वशक्तिमान् प्रवर्त्तक वे ही हैं, पर अपने कर्मोंसे वे बँधे नहीं हैं और सब कर्म और तप और यज्ञ उन्हींको प्राप्त होते हैं। वे सबमें हैं और सब उनमें हैं; वे सब हुए हैं और फिर भी सबके ऊपर हैं, अपनी सृष्टियोंसे बँधे नहीं। वे परात्पर परम पुरुष हैं; वे ही अवतार लेते हैं; वे ही प्रत्येक मानव-प्राणीमें गुह्यरूपसे रहनेवाले भगवान् हैं। मनुष्य जिन देवताओंको पूजते हैं वे केवल उन्हीं एक परम सत्यके व्यष्टि पुरुष, विभिन्न नाम और रूप और मानस शरीर हैं।'

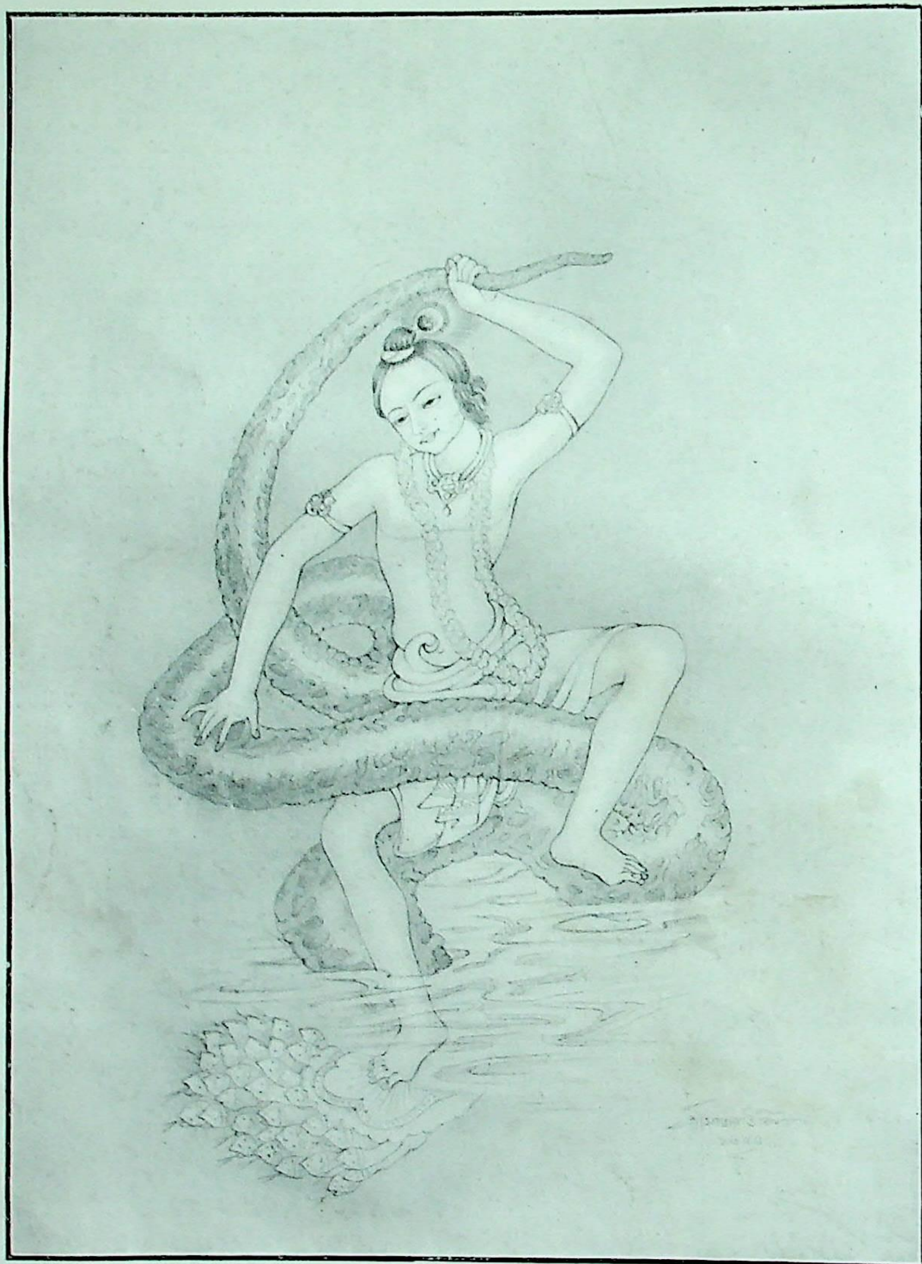
'भगवान्ने यह सारा जगत् अपनी ब्रह्मसत्तासे अपनी ही अनन्त सत्तामें आप ही व्यक्त किया है और इस जगत्में अपने-आपको भी व्यक्त किया है। सब पदार्थ उन्हींकी शक्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ हैं और इन शक्तियों और अभिव्यक्तियोंका कोई अन्त नहीं है; क्योंकि

वे अनन्त हैं। सर्वव्यापक और सर्वान्तर्भावी अव्यक्त चिन्मय आत्मस्वरूपके नाते वे इस समस्त अनन्त दिक्-काल-रूप आविर्भावमें समरूपसे व्याप्त रहते हैं, किसी मनुष्य या पदार्थ या घटना या किसी प्रकारकी किसी बातसे उनका कोई पक्षपात, राग या सङ्ग नहीं होता। यह विशुद्ध सम आत्मा कोई कर्म नहीं करता पर सब-के-सब कर्मोंका निष्पक्ष आश्रय बना रहता है। और फिर भी ये ही परमेश्वर हैं, पर परमेश्वर हैं जगदात्मा और कालात्माके रूपमें जो अपनी 'बहु स्याम्' की बहुविध शक्तिके द्वारा, आत्माकी उस शक्तिके द्वारा जिसे हम प्रकृति कहते हैं, जगत्कर्मका सङ्कल्प, सञ्चालन और उसकी विधिका निश्चय करते हैं। वे ही सृष्टि, स्थिति और संहारके कर्ता हैं। वे बैठे रहते हैं प्रत्येक प्राणीके हृदयमें भी और वहाँसे व्यक्तिविशेषकी गुप्त शक्तिके रूपमें, ठीक उसी तरहसे कार्य करते हैं जिस तरहसे अखिल ब्रह्माण्डके अन्तर्यामीके रूपमें कार्य करते हैं। वे प्रकृतिकी शक्तिसे प्रकृतिके गुणोंमें और प्रकृतिकी कर्मशक्तिमें अपने गुह्य स्वरूपकी कोई कला प्रवर्तित और प्रकट करते हैं, प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणीको उसकी जातिके अनुसार पृथक्रूपसे रूपान्वित करते हैं और समस्त कर्मका संकल्प कर उसे उठाये रहते हैं। यही परमेश्वरसे कर्मका मूलारम्भ और यही सब पदार्थों और प्राणियोंमें उनका निरन्तर समष्टि और व्यष्टिरूपसे प्राकट्य, विश्वके विचित्र जड-चेतनमिश्रणका कारण है।'

परम पुरुष भगवान्के तीन चिरन्तन शाश्वत पद हैं। एक सनातन अक्षर आत्मस्वरूप है, जो सब पदार्थोंका मूल और आश्रय है। दूसरा प्रकृतिस्थ क्षरस्वरूप है, जो इन सब प्राणियों और पदार्थोंके रूपमें प्रकृतिके द्वारा व्यक्त किया जाता है। तीसरा वह परम पुरुषस्वरूप है जो एक साथ यह दोनों हो सकता है--विशुद्ध अकर्ता आत्मा भी और साथ ही कर्मकर्ता जीव और जगका जीवन भी; क्योंकि वह इन दोनोंसे अन्य, अतीत और उत्तम है—अलग-अलग और एक साथ भी। हमारे अंदर वह इसी परम पुरुषका अंश है, इसी परम पुरुषकी एक चिच्छक्ति है। यह जीव वह पुरुष है जिसके अन्तस्तल—आत्मस्वरूपमें समग्र, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी भगवान् विराजते हैं और जो प्रकृतिके अंदर विश्वात्मामें रहता है। यह जीव कोई क्षणिक सृष्टि नहीं है बल्कि सनातन अन्तरात्मा है जो सनातन पुरुषमें, शाश्वत अनन्तमें रहता और कर्म करता है।

हमारे अंदर यह जो चेतन जीव है, यह आत्माके इन पदोंमेंसे चाहे जिस पदको ग्रहण कर सकता है। मनुष्य चाहे तो केवल प्रकृतिकी क्षरतामें ही यहाँ रह सकता है। अपने सदात्मासे अनभिज्ञ, अपने अन्तःस्थित ईश्वरसे अनभिज्ञ वह केवल प्रकृतिको ही जानता है; वह देखता है प्रकृति ही यन्त्रवत् सब कर्म करनेवाली सृष्टिशक्ति है, हम और सब प्राणी उसीके निर्माण किये हुए हैं, जो इस जगत्में उसीकी पृथक्-पृथक् सत्ताएँ, पृथक्-पृथक् अहङ्कार हैं। इसी अति बाह्य भावसे वह जगत्में रहता है और जबतक वह ऐसे रहता है – अपनी बाह्य चेतनाको पारकर अपने अन्तःस्थ स्वरूपको नहीं जानता, तबतक उसका सारा विचार और विज्ञान चित्र-पटपर पड़नेवाली प्रकाशकी छायामात्र ही हो सकता है। इस अज्ञानका होना सम्भव होता है, जान-बूझकर यह अज्ञान उसपर लादा भी जाता है; क्योंकि अन्तःस्थ परमेश्वर अपनी योगमायासे समावृत है। उसका महत्तर स्वरूप हमारी दृष्टिसे छिपा रहता है, क्योंकि वह अपनी ही सृष्टि और अपने ही प्रतीकके साथ अंशतया इतना तदाकार हो जाता है और अपनी ही प्रकृतिके आवरण विक्षेपादि कर्मोंमें स्वनिर्मित अन्तःकरणको इतना मिला देता है कि बाह्यतः उसका महत्तर स्वरूप अनुभूत ही नहीं होता। इस अज्ञानका और एक कारण यह है कि परा आत्मप्रकृति, जो सब पदार्थोंका गुह्य रहस्य है, बाह्य जगत्में अपने-आपको प्रकट नहीं करती। हम अपनी बाह्य दृष्टिसे जिस प्रकृतिको देखते हैं। जो हमारे अन्तःकरण, शरीर और इन्द्रियोंमें कर्म करती है वह एक, अपरा शक्ति है, एक बहिर्भूता शाखा है। इसे हम वह जादूगर कह सकते हैं जो आत्माके प्रतीक निर्माण करता है पर आत्माको उन प्रतीकोंमें छिपाये रहता है, सत्यको छिपाता, और मनुष्योंके सामने केवल आवरण रखता है। यह भी एक शक्ति है जो भगवत्प्राकट्यके केवल गौण और निकृष्ट रूपका ही प्रदर्शन करती है, उससे भगवान्के आविर्भावकी पूर्ण शक्ति, गौरव, आनन्द और माधुर्यका कोई आस्वादन नहीं होता। हमारी यह प्रकृति अहङ्कारकी माया है, द्वन्द्वोंका एक गोरखधंधा है, अज्ञान और गुणत्रयका एक जाल है। और इसलिये जबतक मनुष्य मन, प्राण, शरीरके इस बाह्य जगत्में ही रहता है, आत्मामें नहीं, तबतक वह ईश्वरको, अपने-आपको और जगत्को उनके वास्तविक रूपमें नहीं देख सकता, मायाको नहीं पार कर सकता, तबतक उसे मायाके ही चक्करमें भटकते रहना पड़ेगा।

कालीयके फणोंपर नृत्य



कालीके फनन ऊपर निरतत गोपाल लाल अद्भुत छबि कहि न जाय त्रिभुवन मन मोहे ।

मनुष्य अपनी प्रकृतिकी इस निम्नगतिसे अपने-आपको पीछे खींचकर इस बाह्य प्रकाशसे, जो यथार्थमें अन्धकार है, निकलकर सनातन अक्षर आत्मसत्ताके प्रकाशमें आकर इसीके दिव्य सत्यमें रह सकता है। तब वह व्यष्टिरूप संकुचित कारागारमें बन्द नहीं रहेगा—अपने-आपको यह छोटा-सा अहं नहीं समझेगा जो सोचता, कर्म करता, अनुभव करता और जरा-सेके लिये लड़ता-झगड़ता और प्रयास करता है। वह विशुद्ध आत्माकी नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्थितिमें निमज्जित हो जाता है; वह ब्रह्म हो जाता है; अपने-आपको सब प्राणियों और पदार्थोंके एकमेव आत्माके साथ एक जान लेता है। उसे फिर अपने अहंकारका पता नहीं रहता, द्वन्द्व उसे कोई पीडा नहीं पहुँचाते, हर्ष-शोक उसके पास फटकने नहीं पाते, काम उसे विचलित नहीं कर सकता, पाप-पुण्य उसे दुखी या बद्ध नहीं करते। यदि इन बातोंके आभास उसके अंदर रह भी जायँ तो उन्हें वह प्रकृतिके गुण-कर्म जानता है, उस सत्यका कोई अंश नहीं जिस सत्यमें वह रहता है। कर्म करनेवाली केवल प्रकृति है, वही अपनी जड मूर्तियाँ उत्पन्न किया करती है; पर विशुद्ध आत्मा मौन, अकर्त्ता और मुक्त रहता है। वह सदा स्थिर है, प्रकृतिके कर्मोंसे वह अलिप्त है, इन कर्मोंको वह समत्व-बुद्धिसे देखता और अपने-आपको इन सबसे 'अन्य' समझता है। यह आत्मस्थिति स्थिर शान्ति और मुक्तिकी देनेवाली है, पर कर्मकी दिव्य शक्ति देनेवाली नहीं, पूर्ण सिद्धि देनेवाली नहीं; यह बहुत बड़ी चीज है, पर समग्र भगवत्-ज्ञान और आत्मज्ञान नहीं।

सम्पूर्ण संसिद्धि परम और समग्र भगवान्में ही रहनेसे प्राप्त होती है। वहाँ भगवान्के साथ मनुष्यका वह जीवभूत आत्मा एक हो जाता है, जो उन भगवान्का ही अंश है; तब वह सब जीवोंके साथ आत्मस्वरूपसे एक हो जाता है और ईश्वर तथा प्रकृतिके स्वरूपसे भी एक हो जाता है। तब वह केवल मुक्त नहीं, प्रत्युत परिपूर्ण होता है, परमानन्दमें डूबता और अपनी परम संसिद्धिके लिये प्रस्तुत होता है। वह अब भी आत्माको सब पदार्थोंका आश्रयस्वरूप सनातन अविनाशी आत्मा जानता है; पर साथ ही वह प्रकृतिको भी, न केवल एक जड शक्ति जो गुणत्रयके यन्त्रके अनुसार ही सब कार्य करती हो, बल्कि आत्माकी ही शक्ति और ईश्वरकी ही प्रकट करनेवाली शक्ति जानता है। वह यह जानता है कि अपरा प्रकृति ही आत्माके कर्मका अन्तस्तम सत्तत्त्व नहीं है; वह उस उत्तमा भागवती प्रकृतिको जान लेता है और उसमें यह देख पाता है कि मन, प्राण, शरीररूपसे अभी जो कुछ अपूर्णतया अनुभव किया गया है उसका उद्गम और वह महत्तर सत्य जो अभी प्रकट होना बाकी है, उसी भागवती प्रकृतिमें है। मन-बुद्धिके इस निम्नस्तरसे ऊपर उठकर परा उत्तमा आत्म-प्रकृतिमें आकर वह सारे अहंकारसे मुक्त हो जाता है। वह अपने मूलस्वरूपसे अपने-आपको सारे जगत् और जीवोंके साथ एकीभूत आत्मा जानता है और अपनी कर्मशील प्रकृति-के स्वरूपसे अपने-आपको एक ही परमेश्वरकी एक शक्ति और परम अनन्तका सनातन जीवभूत अंश जानता है। वह सबको भगवान्में और भगवान्को सबमें देखता है; वह सब कुछ वासुदेवरूप देखता है। वह हर्ष और शोकके द्वन्द्वोंसे, प्रिय और अप्रियसे, काम और क्रोधसे, पाप और पुण्यसे छूट जाता है। उसकी चिन्मय दिव्य दृष्टि और इन्द्रियानुभूतिमें सब कुछ भगवान्का ही संकल्प और कर्म हो जाता है। विश्व चैतन्य और शक्तिके ही अंश और जीवभूत आत्माके नाते ही वह रहता और कर्म करता है; वह भगवान्के परमानन्दसे परिपूर्ण हो जाता है। उसका कर्म दिव्य कर्म होता है और उसका पद परब्रह्मपद। (श्रीअरविन्दके Essays on the Gita द्वितीय भागसे)।

(अपूर्ण)

गीताके प्रकाशकी चमक

गीता वह तैलशून्य दीपक है जो अनन्त कालतक हमारे ज्ञान-मन्दिरमें प्रकाश करता रहेगा। पाश्चात्य दार्शनिक ग्रन्थ भले ही खूब चमकें, किन्तु हमारे इस लघु दीपकका प्रकाश उन सबसे अधिक चमककर उन्हें ग्रस लेगा।

—महर्षि द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

श्रीगीताका परमतत्त्वरहस्य

(लेखक—पं० श्रीधराचार्यजी शास्त्री वेदान्ततीर्थ, व्याकरणतीर्थ)

अनेक संत, महात्मा, विद्वान्, गृहस्थ और संन्यासी सदा श्रीगीताके परिशीलनमें ही अपने जीवनका विनियोग करते हुए अपनेको जीवन्मुक्त एवं कृतकृत्य मानते हैं। क्या उन महानुभावोंका ऐसा मानना अपनी भावनाके आधारपर है, अथवा स्वबुद्धिसे कल्पित है ? नहीं, नहीं; उपनिषद्रूपी श्रीगीताशास्त्र ही इसका विशेष निरूपण करता है—

'योगी पुरुष इस रहस्य-तत्त्वको जानकर वेदोंके पढ़नेसे एवं यज्ञ, तप, दानादि करनेसे जो पुण्यफल कहा है—उस सबका उल्लङ्घन कर जाता है और सनातन विष्णुभगवान्के परमपदको प्राप्त होता है (८ । २८)।'

'हे अर्जुन ! इस प्रकार अति गोपनीय शास्त्र मैंने कहा; इसको जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है, अर्थात् उसके लिये और कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं रहता (१५ । २०)।'

सूतजी शौनकादि ऋषियोंके प्रश्न करनेपर व्यास मुनिके द्वारा कथन किया हुआ श्रीगीताका माहात्म्य इस प्रकार वर्णन करते हैं—

'जिस पुरुषका मन श्रीगीताके परिशीलनमें आनन्द पाता है, वही पुरुष अग्निहोत्री, सदा जप करनेवाला, क्रियावान्, पण्डित, दर्शनीय, धनवान्, योगी और ज्ञानवान् है (गीता माहात्म्य)।'

जिस श्रीगीताके प्रत्येक पदका तत्त्व एवं माहात्म्य वाचामगोचर है, उसके तत्त्वकी आलोचना करना उपहासास्पद है; तथापि महात्माओंकी आज्ञाका पालन करना अपना परम कर्तव्य समझता हुआ मैं शेषावतार श्रीभाष्यकार एवं अन्यान्य आचार्यचरणोंकी व्याख्याओंसे इस विषयमें कुछ उद्धृत करूँगा।

नवीन महानुभावोंने इस वैज्ञानिक तर्कवादी युगमें अपनी-अपनी कल्पनाओंके अनुसार श्रीगीताशास्त्रका तत्त्व लौकिक-वैदिक कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाना ही मान रक्खा है। विज्ञानकी पराकाष्ठापर पहुँचे हुए आचार्यचरण श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि महानुभावोंने गीताशास्त्रको निवृत्तिपर अर्थात् शाश्वत मोक्षपदका प्रापक माना है। भगवान्के कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं साधन-भक्तियोगका साङ्ग, सपरिकर निरूपण करनेपर भी अर्जुनकी जिज्ञासाधारा शान्त नहीं हुई; किन्तु बारंबार 'अर्जुन उवाच' की गुंजार होती ही रही। परम दयालु परम पिता श्रीकृष्णभगवान्को अन्तमें यह कहना ही पड़ा कि 'इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा; इस रहस्यमय ज्ञानको अच्छी तरह सर्वाङ्गरूपसे समझकर जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर—अर्थात् अपने अधिकारके अनुसार कर्मयोग अथवा ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग-का अनुष्ठान कर।' 'गुह्याद् गुह्यतरं मया' इन पदोंकी आलोचना करनेसे ही—अर्थात् 'गुह्य', 'गुह्यतर'—इन दो पदोंका अर्थ व्याकरणादि शास्त्रके अनुसार प्रकृति-प्रत्यय-विवेचनद्वारा जाननेपर गुह्यतम अवशिष्ट रह जाता है; परन्तु इस बातको समझता हुआ भी अर्जुन आगे प्रश्न नहीं कर सका। क्योंकि उत्तरवाक्यका विमर्श करनेसे प्रश्नपरम्परा समाप्त हो जाती है अर्थात् मनुष्यका कर्तव्य ही समाप्त हो जाता है, फिर प्रश्न ही किस बातका ? जब 'अर्जुन उवाच' की झड़ी बंद हो गयी, तब साधन और साध्यका सम्मिश्रण करते हुए प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र निर्हेतुक दयाके द्वारा साध्योपाय-का उपदेश अर्जुनके लिये करते हैं। जैसा कि श्रीलोकाचार्य स्वामीने कहा है—'उपायमुपेयं च ब्रह्मैव' अर्थात् उपाय और उपेय परमात्मा ही है। आचार्यचरण श्रीयामुन मुनि भी 'शास्त्रसारार्थ उच्यते' इस पद्यके द्वारा साध्य-भक्तियोगका प्रदर्शन करते हैं। आचार्यचरण श्रीरामानुजाचार्य भी यही कहते हैं कि 'अपनेसे सम्पादन किये हुए सब साधनोंका परित्याग कर परम प्रभुको अपना परम साधन मानना, यही गीताका परम रहस्य है।'

'भक्तियोगारम्भविरोध्यनादिकालसञ्चितनानाविधानन्त-पापानुगुणान् तत्तत्प्रायश्चित्तरूपान्…… नानाविधानन्तां-स्त्वया परिमितकालवर्तिना दुरनुष्ठानान् सर्वान् धर्मान् परित्यज्य भक्तियोगारम्भसिद्धये मामेकं परमकारुणिकमनालोचितविशे-षाशेषलोकशरण्यमाश्रितवात्सल्यजलधिं शरणं प्रपद्यस्व।

(श्रीरामानुज-गीताभाष्य)

'भक्तियोगके आरम्भके विरोधी, अनादिकालसे सञ्चित, नाना प्रकारके अनन्त पापोंके अनुरूप तथा उनके प्रायश्चित्त-रूप, नानाविध एवं अनन्त, अतएव परिमित आयुवाले तेरे द्वारा दुःसाध्य समस्त धर्मोंको त्यागकर भक्तियोगके आरम्भकी सिद्धिके लिये तू परमकारुणिक, योग्यता-अयोग्यता-का विना विचार किये ही समस्त लोकको शरण प्रदान करने-वाले एवं आश्रित जनोंके लिये वात्सल्यके सागर मुझ वासुदेव-की शरण ग्रहण कर ।'

आचार्यचरण श्रीशङ्कराचार्य स्पष्टरूपसे कथन करते हैं—

''प्रभुके चरणोंमें मन लगा, प्रभुका भक्त हो, प्रभुके लिये याग कर तथा प्रभुको ही नमस्कार कर । अर्थात् जब सब प्रकारसे श्रीवासुदेव भगवान्‌में साध्य, साधन, प्रयोजनका अर्पण तू कर देगा, तब 'हे अर्जुन ! तू मुझको ही प्राप्त होगा, इस बातकी मैं दृढ प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा प्रिय है ।' इस प्रकार भगवान्‌की सत्य प्रतिज्ञाको जानकर भगवद्भक्तिका अप्रतिहत फल मोक्ष है, ऐसा निश्चय कर भगवान्‌की एकमात्र शरणागतिमें परायण हो ।''*

प्रिय महानुभाव ! आचार्यचरणोंके लेखानुसार अन्तः-करणमें अवश्य ही यह प्रतिफलित होगा कि वास्तवमें वसुदेव-नन्दन आनन्दकन्द श्रीश्यामसुन्दरके श्रीचरणोंकी शरणागति ही श्रीगीताका परमरहस्य एवं आत्मोज्जीवनका परम उपाय है । श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहा है—

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन यास्यसि ह्यकुतोभयम् ॥

'हे उद्धव ! विधि-निषेध और प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा सुनने-योग्य और सुना हुआ—सबका त्यागकर, सब प्राणियोंके आत्मभूत मेरी ही शरणमें सर्वात्मभावसे आओ; उसी समय अकुतोभय स्थान—अर्थात् जहाँपर कहींसे भय आनेकी सम्भावना नहीं है, ऐसे स्थानको प्राप्त होगे ।'

श्रुति भी बतलाती है—'न स पुनरावर्तते' वह इस संसार-में नहीं लौटता । वेदान्तसूत्र भी इसीकी पुष्टि करता है—'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।' मनुष्यमात्रको इसी स्थानका लक्ष्य करके संसारमें जीवन विताना चाहिये, तभी मनुष्यता है । नहीं तो गोस्वामीजीका निम्नाङ्कित पद ही चरितार्थ होगा—

अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना । ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना ॥

बोलो भक्त और भगवान्‌की जय !

गीतामें उदार भक्तिवाद

'गीताको धर्मका सर्वोत्तम ग्रन्थ माननेका यही कारण है कि उसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनों योगोंकी न्याययुक्त व्याख्या है; अन्य किसी भी ग्रन्थसे इसका सामञ्जस्य नहीं है ।'

'ऐसा अपूर्व धर्म, ऐसा अपूर्व ऐक्य केवल गीतामें ही दृष्टिगोचर होता है । ऐसी अद्भुत धर्म-व्याख्या किसी भी देशमें और किसी भी कालमें किसीने भी की हो, ऐसा जान नहीं पड़ता ।'

'ऐसा उदार और उत्तम भक्तिवाद जगत्‌में और कहीं भी नहीं है ।'

—बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

* 'मन्मना भव, मच्चित्तो भव; मद्भक्तो भव, मद्भजनो भव; मद्याजी मद्यजनशीलो भव; मां नमस्कुरु, नमस्कारम् अपि ममैव कुरु । तत्रैवं वर्तमानः—वासुदेवे एव समर्पितसाध्यसाधनप्रयोजनः मामेव एष्यसि—आगमिष्यसि । सत्यं ते प्रतिजाने, सत्यां प्रतिज्ञां करोमि एतस्मिन् वस्तुनि इत्यर्थः; यतः प्रियोऽसि मे । एवं भगवतः सत्यप्रतिज्ञत्वं बुद्ध्वा भगवद्भक्तेः अवश्यम्भाविमोक्षफल-मवधार्य भगवच्छरणैकपरायणो भवेत्—इति वाक्यार्थः ।' (श्रीमद्भगवद्गीता-शाङ्करभाष्य)

मृत्युविज्ञान और परमपद

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

(१)

एक कहावत है कि 'जप-तपमें क्या धरा है, मरना सीखो।' बात सीधी-सी होनेपर भी अत्यन्त सत्य है। जप, तपस्या, सदाचार आदि जीवनकी सभी प्रकारकी साधनाएँ व्यर्थ हो जाती हैं, यदि मनुष्य मरना नहीं जानता। और जो मरना जानता है, उसके लिये पृथक्‌रूपमें किसी साधनाकी आवश्यकता नहीं होती। ऐसे कई साधकोंके इतिहास पुराणादिमें मिलते हैं, जो जीवनभर कठोर नियमोंका पालन और उग्र साधना करते रहनेपर भी मृत्युकालकी लौकिक भावनाके प्रभावसे मृत्युके बाद उसी भावनाके अनुसार अपेक्षाकृत निकृष्ट गतिको प्राप्त हुए। इसके विपरीत ऐसे लोग भी पाये जाते हैं, जो जीवनकालमें अत्यन्त साधारणरूपसे रहनेपर भी प्राणत्यागके समय दृढ़ भावनाके फलस्वरूप उस उच्च भावनाके अनुसार उच्च गतिको प्राप्त हुए हैं। मरणोत्तर गति मृत्युकालमें भावनापर ही निर्भर करती है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८।६)

'मनुष्य जिस भावका स्मरण करता हुआ अन्तकालमें देहत्याग करता है, उसी भावसे भावित होकर सदा उसी भावको प्राप्त होता है।' राजा भरत मृत्युकालमें हरिणके बच्चेकी भावना करते हुए देहत्याग करनेके कारण हरिण-योनिको प्राप्त हुए थे, यह कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। इसीलिये सभी देशोंमें आस्तिक लोग मुमूर्षु (मरते हुए मनुष्य) में सात्त्विक भावोंको जगाकर उनकी रक्षा करनेके लिये मृत्युके समय नाना प्रकारकी बाहरी व्यवस्था करते हैं। मरनेवाले मनुष्यके देहको अशुद्ध और अपवित्र वस्तुके स्पर्शसे यथा-सम्भव बचाकर रखना, भगवद्भाव और अन्य प्रकारके सद्भावोंको उद्दीप्त करनेवाले वचनोंको उसे सुनाना, साधुओंका संसर्ग कराना, सद्भावसे पूर्ण होकर मुमूर्षुके समीप बैठना आदि—ये सारे उपाय एक ही उद्देश्यकी पूर्तिके लिये होते हैं।

मृत्युकालीन भावनाका इस प्रकार असाधारण प्रभाव है; इसलिये अन्तसमयमें शुद्ध भावना बनी रहे, प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको इसका उपाय सीख रखना चाहिये। समस्त जीवनकी सारी चेष्टाएँ यदि किसी योग्य उपदेष्टाके आदेशके अनुसार इस एक ही उद्देश्यको लेकर हों तो मृत्युके समय मनुष्य निश्चय ही इष्टभावनाको प्राप्त कर सकता है और मृत्युके बाद उसीके अनुसार इष्ट-गति भी पा सकता है। उपासककी और कर्मीकी गति अलग होनेपर भी दोनों एक ही मूल विज्ञानकी आलोचनाके विषय हैं। अतएव मृत्युविज्ञानका मूल सूत्र समझ लेनेपर मरणके बाद होनेवाली सभी गतियोंका रहस्य समझा जा सकता है।

मृत्युविज्ञानका माहात्म्य पढ़कर कोई यह न समझ बैठें कि जीवनमें साधनाकी आवश्यकता नहीं है। साधनाकी बड़ी ही आवश्यकता है, वस्तुतः साधनाका अभ्यास इस प्रकारसे करना चाहिये, जिसमें जीवित दशामें ही मृत्युकाल-की अभिज्ञता प्राप्त हो जाय और मृत्युके अंदरसे नित्य जीवनका पता लग जाय।

जो जीते ही मरना जानता है, वह मृत्युसे नहीं डरता। मृत्युको अतिक्रम किये विना अतिमृत्यु-अवस्था प्राप्त नहीं होती और पूर्ण सत्यकी यथार्थ उपलब्धि किये विना मृत्युको अतिक्रम नहीं किया जा सकता। जो जीवनकालमें पूर्ण सत्यकी उपलब्धि कर पाते हैं, मृत्युकालमें भगवत्कृपासे उनकी वह उपलब्धि अपने-आप अनायास ही आविर्भूत हो जाती है।

यह कहा जा चुका है कि गति मनुष्यके अन्तिम भाव-पर निर्भर करती है। साधारणतः परा और अपरा भेदसे गति दो प्रकारकी है। जिस गतिमें पुनरावर्तन नहीं है, वही 'परमा गति' है। और जिस गतिमें ऊर्ध्व अथवा अधःलोकोंमें जाकर कर्मफल भोगनेके पश्चात् पुनः मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है, वह 'अपरा गति' है। देवता, मनुष्य, प्रेत, नरक, तिर्यक् आदि योनियोंके भेदसे गतिभेद हुआ करता है। अर्थात् कर्मवश कोई देवलोकको जाता है और देव-देह प्राप्त करके नाना प्रकारके दिव्य भोगोंका आस्वादन करता है। कोई 'यातनादेह'

पाकर नरक-यन्त्रणा भोगता है। उन-उन लोकोंमें इन सब भोगोंके द्वारा कर्मक्षय होनेपर शेषकर्मोंके कारण फिर मनुष्य-देहमें आना पड़ता है।

परा गति एक होनेपर भी उसमें भी भेद हैं। अवश्य ही सभी भेदोंमें सर्वत्र एक ही वैशिष्ट्य दिखलायी पड़ता है। मृत्युके साथ ही भगवान्‌के परम धाममें प्रवेश किया जाता है अथवा मृत्युके बाद कई स्तरोंमें होते हुए वहाँ पहुँचा जाता है। यह दूसरे प्रकारकी गति भी परमा गति ही है। कारण इस स्तरसे अधोगति नहीं होती, क्रमशः ऊर्ध्वगति ही होती है और अन्तमें परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। तथापि, यह परमा गति होनेपर भी है अपेक्षाकृत निम्न अधिकारीके लिये ही।

इनमें पहली मृत्युके बाद सद्योमुक्ति है और दूसरी क्रम-मुक्ति। एक अवस्था और है—जिसमें गति ही नहीं रहती। इस अवस्थामें जीवनकालमें ही परमपदका साक्षात्कार हो जाता है। यही जीवनकालकी सद्योमुक्ति अथवा जीवन्मुक्ति है। जो पुरुष यथार्थमें इस अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं, उनके लिये फिर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। प्रारब्धवश शरीर चलता है और कर्मका क्षय होनेपर शरीरका पात हो जाता है। उस समय अन्तःकरण, बाह्यकरण और प्राणादि सभी अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं--लिङ्गकी निवृत्ति हो जाती है, उत्क्रान्ति नहीं होती। देहत्यागके साथ-ही-साथ विदेह-कैवल्य लाभ हो जाता है। जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्तिका भेद केवल उपाधिगत ही है—वास्तविक नहीं।

जन्मान्तरमें अथवा मरनेके बाद किसी अन्य देहकी प्राप्ति न होनेसे ही जीवको परमपदकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसी बात नहीं है। परमपदकी ओर जानेके मार्गमें, क्रम-मुक्तिमें मध्यमाधिकारीकी साधारणतः यही अवस्था होती है। उसको जिन स्तरों अथवा धामोंको लाँघकर जाना पड़ता है, वे शुद्ध हैं; उनमें वासना होनेपर भी वह शुद्ध वासना है; वे समस्त स्तर मायातीत होनेपर भी महामायाके अन्तर्गत हैं। उनमें अशुद्ध वासना नहीं है, इसलिये वहाँ अशुद्ध स्तरोंका अधः आकर्षण नहीं होता। विशुद्ध साधनाका आस्वादन इन्हीं सब स्तरोंमें हुआ करता है। ये सब शुद्ध धाम होनेपर भी भगवान्‌के परम धाम नहीं हैं। इन स्थानोंसे अधोगति अवश्य ही नहीं होती, परन्तु यहाँ अपूर्णताका बोध रहता है—यहाँ मिलन-विरह है, उदयास्त है, आविर्भाव-तिरोभाव है। यहाँ भगवान्‌की नित्योदित सत्ताका पूर्ण साक्षात्कार नहीं मिलता।

मनुष्यका जन्म क्यों होता है? मलिन भोग-वासना ही जन्ममें कारण है। कर्तृत्वाभिमानके साथ सकामभावसे कर्म करनेपर चित्तमें नयी-नयी वासनाओंका उदय होता रहता है और उसके प्रभावसे प्राचीन संस्कार जाग्रत् होकर उन्हें पुष्ट करते रहते हैं। कालभेदसे विभिन्न वासनाएँ क्रियमाण कर्मके प्रभावसे उत्पन्न होनेके कारण और साधारणतः विक्षिप्त-चित्तमें पूर्वक्षणवर्ती और परक्षणवर्ती वासनाओंमें परस्पर विजातीय भेद होनेके कारण कोई भी वासना प्रबल आकार धारण करके फलोन्मुख नहीं हो सकती। कोई-सी भी पहली वासना अगली विजातीय वासनाके द्वारा दबकर योग्य उद्दीपक कारणकी प्रतीक्षा करती हुई अव्यक्त भूमिमें सञ्चित रहती है। मनकी क्रियाके साथ वासना-भावनादिका स्वाभाविक सम्बन्ध है, परन्तु मनकी क्रिया प्राणकी क्रियाके साथ सम्बन्धित है। प्राणके निश्चल होनेपर मन कार्य नहीं कर सकता। इसी तरह प्राणके सूक्ष्म हो जानेपर मनकी क्रिया भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म हो जाती है। इसीके फलस्वरूप जो वासनाएँ व्यक्त होती हैं या भावनाएँ उदित होती हैं, वे भी सूक्ष्म स्तरकी होती हैं। देहस्थ प्राण प्राणवाहिनी शिराका आधार लेकर कार्य करता है। इसी प्रकार मन भी मनोवहा नाड़ीका अवलम्बन लेकर क्रिया करता है। इसीलिये वासना या भावनाके तारतम्यके अनुसार विभिन्न नाड़ियोंमें क्रियाशीलता देखी जाती है। मनुष्य मृत्युके पूर्वक्षण जो चिन्तन करता है अर्थात् उस समय उसके चित्तमें जिस भावनाका उदय होता है, वही उसकी अन्तिम चिन्ता या भावना होती है; क्योंकि उसके बाद ही देहगत प्राणोंकी क्रिया निरुद्ध हो जाती है, इसलिये कोई नयी भावना उदय होकर उस अन्तिम भावनाको दबा दे—ऐसी सम्भावना नहीं रहती। अतएव वह अन्तिम भावना ही एकाग्र होकर प्रबल आकार धारण कर लेती है। देहाश्रित विक्षिप्त करण-शक्तिकी मृत्युकालीन स्वाभाविक एकाग्रतासे भी इस तन्मयताको विशेष पुष्टि मिलती है। एकाग्रताके फलस्वरूप हृदयमें एक दिव्य प्रकाशका उदय होता है, मुमूर्षुका (मरनेवालेका) अन्तिम भाव इस ज्योतिर्मय प्रकाशमें स्पष्ट विकसित हो उठता है और दृष्टिगोचर होता है। तदनन्तर वह अभिव्यक्त भाव ही जीवको यथोचित नाड़ी-मार्ग अथवा द्वारपथसे निकालकर बाहर ले जाता है और कर्मानुसार भोगायतन शरीर ग्रहण करवाकर निर्दिष्ट कालके लिये सुख-दुःखका भोग करवाता है।

मृत्युकालमें जो भावका उदय होता है, उसका तत्त्व-विश्लेषण करनेपर कई बातें जाननेमें आती हैं। उच्चाधिकार-विशिष्ट पुरुष अपने पुरुषार्थबलसे इष्टभावविशेषको प्राप्त करके उसे बनाये रख सकते हैं। मध्यमाधिकारी पुरुषकी स्वतन्त्रता परिच्छिन्न होनेके कारण मृत्युके समय हृदयमें उस भावविशेषको उद्दीपित करनेके लिये अथवा जिसमें वह भाव पहलेसे ही अविच्छिन्नभावसे जाग्रत् रहे, इसके लिये उसकी जीवनभर निर्दिष्ट साधनके द्वारा चेष्टा करनी पड़ती है। प्रतिकूल दैव न होनेपर भगवान्के मङ्गलविधानसे उसकी वह चेष्टा सफल हो सकती है। दैवशक्ति अथवा महापुरुषोंका अनुग्रह होनेपर मृत्युके समय अपनी ओरसे किसी प्रकारकी विशेष चेष्टा न होनेपर भी निश्चय ही सद्भावकी जागृति हो सकती है। प्रबल आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न पुरुषकी, इष्टदेवताकी, सद्गुरुकी अथवा ईश्वरकी दयाको इस अनुकूल दैवशक्तिके अन्तर्गत ही समझना चाहिये। निम्नस्तरके मनुष्य अधिकांश स्थलोंमें पूर्वकर्मके अधीन होकर जडकी भाँति कालके स्रोतमें बह जाते हैं।

भावकी जागृति किसी भी प्रकारसे हो, भावके वैशिष्ट्यसे ही मृत्युके बाद जीवकी गति निर्दिष्ट होती है। 'जैसा भाव वैसी ही गति।' 'अन्त मति सो गति।' जो पुरुष जीवन-कालमें ही भावसे अतीत हो गये हैं—जो सचमुच जीवन्मुक्त हैं, उनकी कोई गति नहीं है। वासनाशून्य होनेपर गति नहीं रहती—वही श्रेष्ठतम परम गति है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(८।५)

'अन्तकालमें भगवद्भावका स्मरण करते हुए देहत्याग कर सकनेपर भगवान्का सायुज्य-लाभ किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

(२)

यहाँ एक रहस्यकी बात कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक भावोदयके साथ मन, प्राण आदिकी अवस्था और नाडीविशेषकी क्रियाका सम्बन्ध है। इसी प्रकार मन, प्राण आदिको निर्दिष्ट प्रकारसे स्पन्दित कर सकनेपर और नाडीविशेषका सञ्चालन करनेपर तदनुसार ही भावका उदय हुआ करता है। फलतः गतिके ऊपर उसका प्रभाव कार्य करता है। आसन, मुद्रा, प्राणक्रिया प्रभृति दैहिक और प्राणिक चेष्टाओंसे मनकी क्रिया और भाव आदि नियन्त्रित होते हैं—इस बातको सभी जानते हैं। इस मृत्युविज्ञानको तिब्बतमें बहुत-से लोग अब भी जानते हैं और क्रियारूपमें उसका प्रयोग भी किया करते हैं।* हमारे यहाँ उसका ज्ञान शास्त्रोंमें और कुछ थोड़े-से महापुरुषोंमें ही सीमित रह गया है। साधारण लोगोंको न उसका कुछ पता है और न उससे कोई लाभ ही उठाते हैं।

गीताके अष्टम अध्यायमें दो जगह (श्लोक ९, १० और श्लोक १२, १३ में) इस विज्ञानका सुन्दर परिचय प्राप्त होता है। यथा—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(८।९-१०)

अर्थात् 'यदि कोई मृत्युके समय भक्तियुक्त होकर स्थिर चित्तसे योगबलके द्वारा सम्यक् प्रकारसे भ्रुवोंके मध्यमें प्राणोंको आविष्ट करके, उस तमोऽतीत, सूर्यकी भाँति दीप्तिशील, समस्त जगत्के कर्ता और उपदेष्टा, परम सूक्ष्म, प्रज्ञानघन, दिव्य पुराणपुरुषका स्मरण करता है, वह उनको प्राप्त होता है।'

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥
(८।१२-१३)

---

* देखिये 'With Mystics and Magicians in Tibet' by Alexandra David-Neel, pp. 29-33 (Penguin Books Ltd., Harmondsworth, Middlesex, England).

अर्थात्—'सब द्वारोंको संयत करके, मनको हृदयमें निरुद्ध करके, योगधारणाके द्वारा प्राणोंको मूर्धदेशमें अथवा मस्तिष्कमें स्थापन करके एकाक्षर शब्दब्रह्म ॐकारका उच्चारण और भगवान्का स्मरण करते-करते जो देह त्यागकर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

किस प्रकारसे देह-त्याग करनेपर साक्षात् भावसे भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति की जा सकती है, गीताके उपर्युक्त श्लोकोंमें उसीका वर्णन किया गया है। विचारशील पाठक देखेंगे कि इस वर्णनमें संक्षेपसे अष्टाङ्गयोग, मन्त्र, भक्ति, ज्ञान आदि भगवत्प्रापक सभी साधनाओंका सार उपदेश भरा हुआ है। भगवत्कृपासे इस विज्ञानरहस्यको जितना कुछ मैं समझ सका हूँ, उसीका किञ्चित् आभास थोड़े शब्दोंमें इस छोटे-से लेखमें देनेकी चेष्टा की जाती है। मेरी जडताके कारण जो त्रुटियाँ दिखलायी पड़ें, सुधीजन दया करके उनके लिये मार्जना करें।

(३)

गीताके वचनोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ॐकारके उच्चारणसे पूर्व सर्वद्वारोंका संयम, हृदयमें मनका निरोध और प्राणोंका भ्रूमध्यादि (मूर्धापर्यन्त) देशमें स्थापन होना आवश्यक है। द्वार-संयम अवश्य ही नवद्वारोंका नियन्त्रण है। मनुष्यका शरीर नवद्वारोंवाला है। मृत्युके समय साधारणतः इन्हीं नवद्वारोंमेंसे किसी एक द्वारसे प्राण बाहर निकलते हैं। अपने-अपने कर्मानुसार पुण्यवान् पुरुष ऊपरके द्वारोंसे, पापी नीचेके द्वारोंसे और मध्यश्रेणीके पुरुष बीचके द्वारोंसे जाते हैं (महाभारत-शान्तिपर्व, अध्याय २९८)। जीव जिस प्रकारके द्वार-पथसे बाहर निकलता है, उसकी उत्तरकालीन गति भी उसीके अनुसार हुआ करती है। अथवा जो जीव जिस प्रकारकी गति प्राप्त करनेवाला होता है, कर्मदेवताकी प्रेरणासे परवश होकर उसे तदनुकूल द्वारसे ही बाहर निकलना पड़ता है। परन्तु पुण्यवान् अथवा पापी कोई भी दशम द्वारसे अथवा ब्रह्मरन्ध्र-पथसे नहीं निकल सकता। ब्रह्मरन्ध्र उत्क्रमण-का मार्ग है। इस पथसे बाहर निकलनेपर फिर मानव-आवर्तमें पुनरागमन नहीं होता। मृत्युकालमें नौ द्वारोंके रोकनेका प्रधान उद्देश्य यही है कि उन मार्गोंसे निकलनेपर पुनरावर्तन अवश्यम्भावी है। उनके बंद कर देनेपर अपुनरावृत्तिद्वारका अथवा ब्रह्मपथका खुलना सहज हो जाता है। घड़ेके छेद बंद न करके यदि जल भरा जाय तो जैसे उसमें जल नहीं भरा जा सकता, वैसे ही इन सब बाहरी द्वारोंको रोके बिना अन्तर्द्वारके खोलनेकी चेष्टा व्यर्थ होती है। बाह्य द्वारोंके रुक जानेपर निश्चिन्त होकर भीतरका पथ ढूँढ़कर प्राप्त किया जा सकता है।

परन्तु इन द्वारोंको किस प्रकारसे संयत करना चाहिये, इसके सम्बन्धमें गीतामें स्पष्ट उपदेश नहीं दिया गया है। योगीलोग कहते हैं कि यद्यपि नवद्वारोंमेंसे किसी एक द्वारका अवलम्बन करके क्रियाके कौशलसे इन द्वारोंको रोका जा सकता है, तथापि मुद्राविशेषके द्वारा गुद-द्वारको रोक दिया जाय तो सहज ही फल प्राप्त हो सकता है। कुछ ही देरतक उस विशिष्ट मुद्राका अभ्यास करनेपर एक आवेशका भाव उत्पन्न होता है, तब बाह्यज्ञान लुप्त हो जाता है और सारे द्वार-पथोंमें* ताला-सा लग जाता है। यही इन्द्रियोंका प्रत्याहार है। परन्तु याद रखना चाहिये कि इस मुद्राका कार्य करनेसे पहले पूरक और तदनन्तर कुम्भक प्राणायाम कर लेना आवश्यक है। वायुको स्तम्भित करनेके बाद ही मुद्राका साधन करना पड़ता है। कुम्भक अच्छी तरह कर सकनेपर समान वायुकी तेजोवृद्धि होती है, तब प्रबल समान वायुके द्वारा आकर्षित होकर देहस्थित सभी नाड़ियाँ (तिर्यक्, ऊर्ध्व और अधःस्थ) मध्यनाड़ी या सुषुम्णामें एकीभूत हो जाती हैं और उन-उन नाड़ियोंमें सञ्चरणशील वायुसमूह भी समरसीभूत होकर एकमात्र प्राणके रूपमें परिणत हो जाता है। यही नाड़ीका सामरस्य है। इसके बाद, सुषुम्णा नाड़ी ऊर्ध्व-स्रोतस्विनी है या वह ऊपरकी ओर बह रही है—इस प्रकारकी भावना करनी पड़ती है। सुषुम्णा देहस्थित सब नाड़ियोंके बीचमें है—यह नाभिसे लेकर मस्तकस्थ ब्रह्मरन्ध्रका भेद करके शक्तिस्थानपर्यन्त विस्तृत है। इस साधनके फलस्वरूप सभी नाड़ियाँ और हृदयादि समस्त ग्रन्थि-कमल (कुम्भक और मुद्राके प्रभावसे) रुककर (भावनाके बलसे) सर्वतोभावसे विकसित हो जाते हैं—ऊपरकी ओर बहने लगते हैं।†

हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य आदि स्थानोंमें प्राणशक्ति सरलगतिसे रहित होकर कुटिल या वक्र हो गयी है, इसीसे उन सब स्थानोंको ग्रन्थि कहते हैं। ये ग्रन्थियाँ सङ्कोच-विकासशील होनेके कारण इन्हें पद्म या कमल भी कहते हैं।

द्वारसंयम या प्रत्याहार सिद्ध होनेपर, अर्थात् इन्द्रिय और प्राणोंके प्रत्याहृत होनेपर मनकी बहिर्मुखी प्रेरणा या

* यही इन्द्रियद्वार हैं।

† अबतक अपानशक्तिकी प्रधानताके कारण ये सब अधोमुखी और सङ्कुचित थे।

आकर्षण निवृत्त हो जाता है। कारण इन्द्रिय ही वायुकी सहकारितासे मनका बाह्य जगत्‌के साथ सम्बन्ध करती है। द्वार-संयम सिद्ध हो जानेपर योगका बहिरङ्ग सम्पन्न हो जाता है।

अन्तरङ्ग अंश तब भी शेष रहता है, वह मनोनिरोधके द्वारा सम्पन्न होता है। धारणा, ध्यान और समाधिनामक अन्तरङ्ग योग वस्तुतः मनोनिरोधके ही क्रमिक उत्कर्षके नाम हैं। मनके निरोधका स्थान है हृदय। द्वार-संयमके बाद इन्द्रियपथ रुक जानेके कारण मन यद्यपि बाह्य जगत्‌में नहीं जा सकता, तथापि वह देहके अंदर प्राणमय राज्यमें अबाध सञ्चरण करता रहता है। इस सञ्चरणके फलस्वरूप सुप्त संस्कारसमूह जाग्रत् होकर स्वप्नकी भाँति दृश्य-दर्शनके कारण बन जाते हैं। स्थिरता-प्राप्तिके मार्गमें यह एक बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। यह पहले कहा जा चुका है कि मनके सञ्चरण-मार्गका नाम मनोवहा नाड़ी प्रसिद्ध है। देह-भरमें व्याप्त अति सूक्ष्म आध्यात्मिक वायुके सहारे सूतके तन्तुओंसे बने जालकी भाँति एक बहुत ही जटिल नाड़ी-जाल फैला हुआ है। यह देखनेमें अनेकांशमें मछलीके जालके समान है और बीच-बीचमें कूट ग्रन्थियोंके द्वारा संयोजित है।*

मन सूक्ष्म प्राणकी सहायतासे वासनानुसार इन स्थानोंमें भ्रमण करता है और नाना प्रकारके दृश्य देखता है। इन दृश्योंका देखना और तज्जनित भावोंका उदय होना पूर्वसंस्कार-का ही पुनरभिनय है। इन्द्रियपथके द्वारा जो आत्मतेज अबतक बाह्य जगत्‌में फैला हुआ था, वही इन्द्रियोंके रुक जानेके साथ-साथ उपसंहृत होकर अंदर संस्कार-राज्यमें फैल जाता है। उस समय बाह्य अनुभव, यहाँतक कि बाह्य स्मृतितक लुप्त हो जाती है। इसीसे इन संस्कारोंके दर्शन अत्यन्त स्पष्ट और जीवितके सदृश अनुभूत होते हैं, प्रत्यक्ष-से प्रतीत होते हैं। साधारणतः बहुत लोग इनको ध्यानजनित दर्शन कहा करते हैं। परन्तु वास्तवमें इनका बहुत अधिक मूल्य नहीं है। विक्षिप्त चित्तमें ही ऐसा हुआ करता है। बाह्य ज्ञान लुप्त होनेके साथ ही इन सारे दर्शनोंका उदय होता है। सत्यकी खोजमें लगे हुए योगीके लिये यह आवश्यक है कि वह इस प्रकारके दर्शनोंसे यथासम्भव अपनेको बचाकर चले, इनमें फँस न जाय। मनकी चञ्चलता या चलन-शक्तिके रुके विना ऐसा होना सम्भव नहीं।

परन्तु प्राणको स्थिर किये विना मनकी इस चञ्चलताको दूर करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसीलिये द्वार-संयम-के बाद और मनोनिरोधके पहले प्राणोंको स्थिर करनेकी आवश्यकताका अनुभव होता है। योगधारणाके द्वारा देहके अंदर नाना प्रकारके कार्य करनेवाली प्राणशक्तिको भ्रू-मध्यमें और भ्रू-मध्यसे मूर्धापर्यन्त स्थापन करना पड़ता है। प्राण-शक्तिके सञ्चारक्षेत्र असंख्य नाड़ियोंको एक नाड़ीमें परिणत किये विना असंख्य प्राणधाराओंको एक मार्गपर चलाना और समस्त प्राणोंको एक स्थानमें एकत्र करना सहज नहीं होता। श्रीभगवान्‌ने 'योगबल' और 'योगधारणा' के द्वारा इसी योजनात्मक कार्यकी ओर ही सङ्केत किया है। इसे किस प्रकार करना पड़ता है, इसका कुछ आभास ऊपर दिया जा चुका है।† द्वार-संयम या प्रत्याहारद्वारा जैसे मनकी इन्द्रियाभिमुखी—बहुमुखी धारा रुकती है, वैसे ही इस योगधारणाके प्रभावसे

* मनोवहा नाड़ीकी अनेकों प्रकारकी शाखा-प्रशाखाओंके द्वारा यह जाल बना हुआ है। मनकी एक-एक प्रकारकी वृत्ति या भाव एक-एक प्रकारकी नाड़ीके मार्गमें क्रिया करता है अर्थात् एक-एक प्रकारके भावके उदय होनेपर मन एक-एक प्रकारके नाड़ी-मार्गमें घूमने-फिरने लगता है। ये सभी मार्ग सामान्यतया मनोवहा नाड़ी होनेपर भी इनमें परस्पर वर्णादिगत अनेकों प्रकारके अवान्तर भेद हैं। रूपवाहिनी, शब्दवाहिनी आदि नाड़ियोंके साथ मनोवहा नाड़ीका संयोग है। पञ्चभूतके सार तेजके द्वारा ही मनका प्रकाश होता है। मनके वृत्तिभेदमें भी पञ्चभूतोंका सन्निवेशगत तारतम्य है। जैसे क्रोधमें तेज और काममें जल इत्यादिका प्राधान्य है (यद्यपि प्रत्येक वृत्तिमें ही पञ्चभूतोंका अंश है)। पूर्वके अनेक जन्मोंकी वासनारूपी सूक्ष्म-वायुके कण या रेणुओंके द्वारा यह जाल भरा हुआ है। यही सब मनको चञ्चल करते हैं। हृदयके बाहर इस प्रकार एक बड़ा भारी जाल है। इस प्राणमय नाड़ी-जालके द्वारा सारा शरीर व्याप्त है। यह वायुमण्डल मनका सञ्चारक्षेत्र है। इसीके अंदर यथास्थान लोक-लोकान्तर भासित होते हैं। चञ्चल मन इसमें सर्वत्र सञ्चरण करता रहता है। इस व्यष्टि देहकी ही भाँति ब्रह्माण्डमें भी सूर्यमण्डलके बाहर इसी प्रकारका जाल सारे विश्वमें व्याप्त है। एक-एक नाड़ी एक-एक रश्मि है। इन रश्मियोंके मार्गसे ही प्राण या मन सञ्चरण किया करते हैं, देहके भीतरके लोकोंमें भी करते हैं और बाहरके लोकोंमें भी।

† कुम्भकके प्रभावसे समान वायु उत्तेजित होकर सब नाड़ियोंको एक नाड़ीमें परिणत (नाड़ी-सामरस्य) और समस्त वायु-समूहको प्राणकी धारामें पर्यवसित कर देती है, यही संयोजनकी क्रिया है।

प्राणकी बहुमुखी धाराएँ एकत्र होकर मिल जाती हैं। प्राणकी विभिन्न धाराएँ इडा और पिङ्गलाके मार्गसे द्विधा विभक्त होकर सहज ही भ्रू-मध्यमें गुप्तधारा सुषुम्णाके साथ मिलकर एक हो जाती हैं। यही ऊर्ध्वमें त्रिवेणी-सङ्गम है। अथवा पहले मूलाधारमें, अधःस्थ त्रिवेणीक्षेत्रमें ये दोनों धाराएँ सुषुम्णाके साथ सङ्गत होती हैं। इसके बाद वह एकीभूत हुई धारा क्रमशः ऊपर उठकर भ्रू-मध्यमें पहुँचकर स्थिर हो जाती है। इधर विक्षिप्त मनःशक्ति भी चञ्चलता छोड़कर हृदय-प्रदेशमें सो जाती है। मन स्थिर होनेपर वह नाड़ी-मार्गमें नहीं रहता। नाड़ियाँ मनके सञ्चरणका मार्गमात्र हैं। मन जितना ही स्थिर होता जाता है, उतना ही नाड़ीचक्रस्थ वायुमण्डल सङ्कुचित होकर हृदयाकाशमें प्रविष्ट हो जाता है। तब मनकी चञ्चलता शान्त हो जाती है, मन निरुद्धवृत्तिवाला होकर स्थित रहता है।

यह हृदय या दहर-आकाश ही स्थिर मनके रहनेका स्थान है।

यतो निर्याति विषयः यस्मिंश्चैव प्रलीयते।
हृदयं तद्विजानीयान्मनसः स्थितिकारणम्॥

हृदय पुरीतत् नाड़ीके द्वारा घिरा हुआ शून्यमय अवकाश है। जब मन इस अवकाशको प्राप्त हो जाता है तब वह निर्वात देशमें स्थित होनेके कारण अचल हो जाता है। यही मनका निरोध है। मनकी क्रियाओंका अभाव होनेके कारण उस समय वृत्ति-ज्ञान नहीं रहता। इसीलिये सुषुप्तिमें मानसिक वृत्तिरूप ज्ञानका अभाव होता है। द्वार-संयम और मनोरोध होनेपर सुषुप्तिकी अवस्था ही द्योतित होती है। द्वार-संयम हो जानेसे इन्द्रियोंके विषयोंका सन्निकर्ष नहीं रहता, इस कारण जाग्रत्-ज्ञान नहीं होता और मनकी वृत्तियोंके स्तम्भित हो जानेके फलस्वरूप स्वप्न-ज्ञान भी नहीं होता। अतएव यह जाग्रत् और स्वप्ननामक दोनों अवस्थाओंसे अतीत सुषुप्तिके सदृश एक अवस्था है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

केवल सुषुप्तिके सदृश ही नहीं—यह जडवत् अवस्था है। कारण सुषुप्तिमें मनके कार्य न करनेपर भी प्राण निष्क्रिय नहीं रहते। मनुष्य अज्ञानमें निमग्न रह सकता है, ज्ञान और ज्ञानमूलक कोई वृत्ति उसके नहीं रह सकती; किन्तु उस समय भी देह-रक्षणके उपयोगी श्वास-प्रश्वास आदिकी प्राणक्रिया तो होती ही रहती है। परन्तु इस अवस्थामें प्राण भी अपने-अपने कार्योंसे छुट्टी लेकर स्थानविशेषमें स्थिर हो जाते हैं। अतएव ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियकी भाँति मन और प्राणके भी निस्तब्ध हो जानेके कारण उस समय मनुष्य एक तरहसे शव-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। परन्तु मनकी यह जो सुषुप्तिवत् स्थिरता है, यह वास्तविक स्थिरता नहीं है। यह तमोगुणका आवरण मात्र है। यह यथार्थ निरोध नहीं है। एकाग्रताके बाद ही निरोध होता है। एकके-बाद-एक एकाग्रताकी समस्त सूक्ष्म भूमियोंको लाँघ जानेपर निरोध अपने-आप ही आ जाता है, इसीलिये योगीलोग सम्प्रज्ञात समाधिके बाद ही निरोधात्मक असम्प्रज्ञात समाधिको योगपदपर वरण करते हैं। यही 'उपायप्रत्यय' है। सम्प्रज्ञातके हुए विना प्राकृतिक कारणवश यदि मनका निरोध हो जाता है तो वह असम्प्रज्ञात होनेपर भी 'भवप्रत्यय'—योगपदवाच्य नहीं है।

मनको संस्कृत वा शुद्ध किये विना उसे स्थायीरूपमें निरुद्ध नहीं किया जा सकता, कारण उसमें बीजका ध्वंस नहीं होता। डूबी हुई चीजके पुनः ऊपर उठ आनेकी भाँति उसका फिर व्युत्थान होता है, पुनरावृत्ति होती है। प्रज्ञाका उदय होकर क्रमशः उसका निरोध होना ही आवश्यक है। जैसे पूर्णिमाके बाद चन्द्रकलाका क्रमशः क्षय होते-होते बिल्कुल कलाहीन अमावस्या हो जाती है, वैसे ही इसको भी समझना चाहिये।

इसलिये हृदयसे मनको चेतन करके उठाना होगा। वस्तुतः चेतन करना और उठाना एक ही चीज़ है। सुषुम्णाका स्रोत ही चैतन्यकी धारा है—मनको जगाकर ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णाकी धारामें डाल देना होगा। यह जाग्रत् मन ही मन्त्रस्वरूप है, जिसको एक तरहसे प्रबुद्ध कुण्डलिनीकी स्फूर्ति भी कहा जा सकता है। शिवसूत्रमें एक सूत्र है 'चित्तं मन्त्रः।' इस सूत्रमें इसीलिये चित्त या मनको मन्त्र कहा गया है। प्राण सुषुम्णाके स्रोतमें बहकर ऊपर चले गये हैं। मनको भी उसी स्रोतका सहारा पकड़ना होगा। तभी प्राण और मनका पूर्ण मिलन सम्भव होगा। इस मिलनसे ही दिव्य ज्ञानका उदय होता है। अतएव हृदयमें जिस मनके रोकनेकी बात कही गयी है, उसे अशुद्ध मनका रोध ही समझना चाहिये। इसके बाद विशुद्ध सत्त्वात्मक मनका विकास (ऊर्ध्वारोहण मार्गसे), उसका क्रमिक क्षय और गीतोक्त ॐकारके उच्चारणका कार्य होता है।

और एक बात है। हृदयरूपी शून्यमें जैसे असंख्य

नाड़ियोंका पर्यवसान होता है, वैसे ही असंख्य नाड़ियोंके एकीभूत होनेपर जिस ऊर्ध्वस्रोता महानाड़ीका विकास होता है, उसका भी पर्यवसान एक महाशून्यमें हुआ करता है। हृदयाकाशमें जैसे सञ्चार नहीं हैं, वैसे ही इस महाकाशमें भी सञ्चार नहीं हैं। परन्तु हृदयाकाश जैसे गतागतिके अतीत नहीं है, कारण बहुमुखी मन यहाँ आकर लीन होनेपर भी व्युत्थित हो फिर बहुमुखी होकर दौड़ता है; वैसे ही यह महाकाश भी गतागतिसे अतीत नहीं है । यहाँ एकीभूत मन विलीन होनेपर भी वह फिर उठकर एकमुखी होकर चलता रहता है। यद्यपि यहाँ मनकी बहुमुखी गति पहले ही निवृत्त हो चुकी है, पर उसकी एकमुखी गति तो है ही, गतिका सर्वथा निरोध नहीं है। यह नित्य, स्थिर, निर्विकार अवस्था नहीं है। इसीलिये इस महाकाशसे भी मनको ऊपर उठाना होगा। इसके ऊपर उठनेपर वहाँ न नाड़ी है और न गति ही है। वह निरोधावस्था है। परन्तु गति न होनेपर भी, वहाँ भी मनका कम्पन रहता है; वह है विकल्प या मनका स्वभाव। इस विकल्पका भी उदयास्त है। जब इस कम्पनका भी पर्यवसान हो जाता है, तभी विकल्पहीन चैतन्य सूर्यका साक्षात्कार होता है। यह विकल्प मनकी अतीत भूमि है। इसका उदयास्त नहीं है, इसलिये यह नित्योदित है, नित्य प्रकाशमान है। यही पूर्ण प्रकाशस्वरूप आत्मा या ब्रह्म है। विकल्पहीन मन तब इस प्रकाशके साथ अभिन्न होकर विमर्श रूपमें अथवा चिदानन्दमयी स्वरूपशक्तिके रूपमें स्थित रहता है। यह स्वरूप-विमर्श ही ब्रह्मविद्या है, परावाक् अथवा शब्दब्रह्मरूप ॐकार है । यह निष्कल होकर भी समस्त विद्यास्वरूपा है।

अतएव हृदयसे मूलमन्त्रस्वरूप इस ॐकारका उच्चारण ही पूर्ण ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिका सोपान है। निष्कल ॐकारमें उसकी ग्यारह कलाएँ भासती हैं। उच्चारणके प्रभावसे एकके बाद एक कलाका विकास होता है और तत्तत् अनुभूतिकी जागृति होती है । क्रमविकासके मार्गसे निम्नस्थ कलाकी अनुभूति ऊर्ध्वस्थ कलाकी अनुभूतिमें स्थित हो जाती है। योगीलोग ग्यारह कलाओंको अ, उ, म, विन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना—इन ग्यारह नामोंसे पुकारते हैं। ॐकारकी इन ग्यारह कलाओंके अनुभवके बाद ही उसके निष्कल अनुभवका उदय होता है; वही परमानुभूति है। ये दोनों अनुभूतियाँ मिलकर ही पूर्ण ब्रह्मविद्या कहलाती हैं। हृदयसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जो मार्ग गया है उसी मार्गको पकड़कर साधकको चलना होता है। प्रणवकी सारी कलाओं, उनसे सम्बन्धित देवताओं और स्तरोंका अनुभव इसी मार्गमें हुआ करता है। हृदय, कण्ठ और तालुमूल—ये तीन स्थान अ, उ और म—इन तीन कलाओंके केन्द्र हैं। तालु मायाग्रन्थिका स्थान है, हृदय और कण्ठ भी ग्रन्थिस्वरूप हैं। भ्रू-मध्य विन्दुग्रन्थिका स्थान है, यहाँ ज्योतिके दर्शन होते हैं। यह ज्योति अ, उ और म—इन तीन मात्राओंके मन्थनसे निकला हुआ उन्हींका सारभूत तेज है। इन तीन मात्राओंमें जगत्के सारे भेद और वैचित्र्य भरे हैं। और विन्दु उनका संक्षिप्त, अविभक्त ज्ञानात्मक स्वरूप है। अतएव समस्त मायिक जगत् इन पहली तीन कलाओंमें ही स्थित है, इसमें कोई सन्देह नहीं। स्थूल, पुर्यष्टक (लिङ्ग) और शून्य अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन भागोंमें विभक्त समग्र द्वैत-जगत् इन तीन कलाओंमें प्रतिष्ठित है। चतुर्दश-भुवनान्तर्गत ब्रह्माण्ड इसीका एकदेश मात्र है। मायाग्रन्थिका भेद होनेके साथ ही मायिक जगत् और उसकी कारणभूता माया अतिक्रान्त हो जाते हैं। मायिक जगत्में मन्त्र और देवता अथवा वाच्य और वाचकका भेद रहता है। इस जगत्में द्रष्टा दृश्यमात्रको अपनेसे अलग देखता है। यह भेद-दर्शन मायाका कार्य है और सभी मायिक स्तरोंमें इसकी उपलब्धि होती है । विन्दुमें इस वैचित्र्यके अनुगत केवल अभेदके दर्शन होते हैं। यही अनन्त भेदोंका एकीभूत भावमें अथवा अविभक्तरूपमें दीखना है। अनन्त ज्ञेय पदार्थ यहाँ एक ज्ञानाकाररूपमें प्रतिभासित होते हैं। यही ज्योतिरूपमें उनका दृष्टिगोचर होना है। यह ज्योतिरूप विन्दु ही ईश्वरतत्त्वकी अधिष्ठानभूमि है । ईश्वर योगीश्वर हैं । साधक विन्दुका साक्षात्कार करके एक प्रकारसे अखिल स्थूल-प्रपञ्चके ही दर्शन करता है । विन्दु-ध्यानके फलस्वरूप त्रिकालदर्शी होनेका यही कारण है । ध्यानके उत्कर्षसे ईश्वर सायुज्यपर्यन्त प्राप्त हो सकता है। इस विन्दु-सिद्धिको ही लौकिक दृष्टिमें दिव्यचक्षु अथवा तीसरे नेत्रका खुल जाना कहते हैं।

योगीलोग 'विन्दु' से 'समना' तक आठ पदोंका परिचय प्राप्त करते हैं।* ये सब आज्ञाचक्रसे सहस्रारकी

* विन्दुभेद होते ही एक प्रकारसे भेदमय संसारका उल्लङ्घन हो जाता है। तब साधक स्थूल और सूक्ष्म देहसे मुक्त हो जाता है। स्थूल देह प्रसिद्ध षाट्कौशिक देह है। सूक्ष्म देह दो प्रकारकी है—एक पुर्यष्टकस्वरूप, पाँच तन्मात्रा और मन, बुद्धि तथा अहङ्कार,

कर्णिकातक फैले हुए विशाल मार्गके अन्तर्गत हैं। यह मार्ग मायासे अतीत होनेपर भी महामायाकी सीमाके अन्तर्गत है। जो लोग अशुद्ध विकल्पजालरूपी भेदमय जगत्‌से मुक्त होना ही वाञ्छनीय समझते हैं, वे आज्ञाचक्रका भेद करके महामायाके राज्यमें प्रवेश करनेको ही मुक्ति मानते हैं। परन्तु वस्तुतः यही मुक्तिपद नहीं है। यद्यपि यहाँ कर्मजाल उपसंहृत है, माया क्षीण है; तथापि विशुद्ध विकल्प तो है ही। परमपदके यात्रीके लिये यह भी बन्धनस्वरूप है। महामायाके राज्यमें भेदाभेदमय अभेददर्शन होनेके कारण यह उपादेय होनेपर भी चरम उपादेय नहीं है। कारण, भेददर्शनका सम्यक् रूपसे अन्त हुए विना अर्थात् निर्विकल्प पदपर अधिरूढ हुए विना पूर्णताकी प्राप्ति नहीं होती।

मायिक जगत्‌में जैसे विविध लोक हैं, महामायाके शुद्ध राज्यमें भी वैसे ही अनेकों धाम हैं। प्रत्येक स्तरमें उस स्तरके उपयोगी जीव हैं, भोग्य वस्तु हैं और भोगोंके उपकरण हैं। प्रत्येक स्तरकी अनुभूति विलक्षण है। जितना ही ऊँचा आरोहण किया जाता है, उतना ही अभेदानुभव बढ़ता जाता है। ऐश्वर्य और शक्ति प्रबल होती जाती है, व्याप्ति बढ़ती जाती है और देशकालगत परिच्छेद घटता जाता है।

'अ'कारकी मात्रा १, 'उ'कारकी २ और 'म'कारकी ३–सब मिलाकर ६ मात्राएँ हैं। विन्दु अर्ध मात्रा है। अर्धचन्द्र आदिकी मात्रा क्रमशः और भी कम है। 'विन्दु'से 'समना'तक मात्रांशको जोड़ देनेपर १ मात्रा होती

इन आठ अवयवोंवाली। (इसीको सांख्यदर्शनमें सतरह या अठारह अवयवयुक्त लिङ्गशरीर कहा गया है।) दूसरी शून्यदेहके नामसे प्रसिद्ध है, यह निरवयव है। जाग्रत्‌कालमें प्राण स्थूल देहमें, स्वप्नकालमें पुर्यष्टकमें और सुषुप्तिमें शून्यदेहमें रहते हैं। विन्दुके अतिक्रम कर जानेपर जीव इन तीन देहोंसे और जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति–इन तीनों अवस्थाओंसे अतीत हो जाता है। विन्दु ईश्वरवाचक है, स्वयं ईश्वर है। इसके ऊपर ललाटदेशमें अर्धचन्द्र और उसके कुछ ऊपर निरोधिका है। यह निरोधिका कला साधारण योगीकी ऊर्ध्वगतिमें प्रतिबन्धक है। एक विन्दुज्योति ही अर्धचन्द्र और निरोधिकापर्यन्त व्याप्त है। विन्दुमें ज्ञेयका प्राधान्य रहता है, यद्यपि ज्ञेय अविभक्त–एकाकार ज्योति मात्र है। अर्धचन्द्रमें ज्ञेयप्राधान्य बहुत कम है और निरोधिकामें ज्ञेयप्राधान्य बिल्कुल ही नहीं रहता। विन्दु आदि तीनों कलाओंमें प्रत्येकमें पाँच अवान्तर कलाएँ हैं। इसीसे उस ज्योतिमें पन्द्रह कलाएँ भासती हैं। यह विन्दु-आवरण ही प्रथम आवरण है। इस आवरणमें तीन सूक्ष्म स्तर हैं। इसके बाद मन्त्रस्रोत ब्रह्मरन्ध्र या शक्तिस्थानकी ओर प्रवाहित होकर पहले नाद और फिर नादान्त भूमिमें पहुँचता है। ललाटसे मूर्धापर्यन्त यह भूमि व्याप्त है। विन्दु-तत्त्वमें जिस ज्ञेयप्राधान्यका परिचय पाया जाता है, वह निरोधिकामें शान्त हो जाता है; इसीलिये नादभूमिमें समस्त वाचकों या मन्त्रोंकी अभिन्नताका अनुभव प्रधानतया हुआ करता है। विन्दुमें वाच्य और वाचकका भेद लुप्त होनेपर भी विभिन्न वाचकोंके पारस्परिक भेद लुप्त नहीं होते। नाद और नादान्तमें वे भी लुप्त हो जाते हैं। यहाँ सब मन्त्रोंकी अभिन्नताका ज्ञान हो जाता है। इस भूमिके अधिष्ठाता सदाशिव हैं। इस नादावरणमें पाँच और नादान्तमें एक सूक्ष्म स्तर है। नादान्तमें जो सूक्ष्म स्तर है, उसके साथ सुषुम्णा नाड़ीका साक्षात् सम्बन्ध है। यहा नादका विश्राम होता है—इसीको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। यही देहका ऊर्ध्व छिद्र है। इसको भेद करना अत्यन्त कठिन है। मूर्धाके मध्यदेशमें शक्तिका स्थान है—यहाँ श्वास-प्रश्वासके अथवा प्राणापानके मिलनेके कारण एक अनिर्वचनीय स्पर्शमय तीव्र आनन्दकी अनुभूति मिलती है। यहाँ केवल सुषुम्णाकी क्रिया रहती है, यहाँ सृष्टि-प्रलयका द्वन्द्व नहीं है, केवल सृष्टि भासती है, दिन-रात एकाकार होकर दिनमात्र रह जाता है। हृदयसे सूक्ष्म प्राणोंका सञ्चरण इस शक्तिस्थानतक हुआ करता है। इस शक्त्यावरणमें परा शक्तिका एक स्तर है, अत्यन्त दुर्भेद्य इस शक्तिकलाको भेद करके योगी ऊर्ध्व प्रवेशमार्गमें व्यापिनी अथवा महाशून्यमें प्रवेश करते हैं। वहाँ प्राणोंका सञ्चरण नहीं है, सुषुम्णाकी क्रिया भी अस्तमित है। नित्य सर्गका अन्त है; महादिन भी नहीं है;—कलनात्मक काल यहाँ साम्यरूपमें स्थित है। यह महाशून्य ही शक्तिपर्यन्त नीचेके समस्त विश्वमें व्यापक है। स्मरण रखना चाहिये कि यह महाशून्य भी ॐकारकी ही एक कला है। इसमें पाँच अवान्तर कलाएँ हैं और उनमें प्रत्येकमें एक-एक स्तर हैं। विशेष प्रक्रियाके विना इस महाशून्यको भेद करना और परागति प्राप्त करना सम्भव नहीं। इस प्रक्रियाको योगीलोग 'दिव्यकरण' कहते हैं। इससे दिव्य ज्ञानका उन्मेष होता है। इस महाशून्यके बादकी अवस्थामें महामायाका साक्षात्कार होता है। यही प्रणवकी अन्तिम कला है। योगीलोग इसीको मनस्स्वरूप या इच्छाशक्ति कहा करते हैं। इसके बाद ही निष्कल परमपद है, जहाँ ॐकार परब्रह्मके साथ अभिन्न है।

है ।† यद्यपि मायाजगत्में मन्त्रकी ९ मात्राएँ हैं, परन्तु मायातीत पदमें वह केवल एक ही मात्रा है । वह एक मात्रा भी सूक्ष्म है और सूक्ष्मतर होते-होते सर्वत्र व्याप्त होकर कार्य करती है ।

हम पहले ही कह आये हैं कि बिन्दुमें ज्ञेय और ज्ञान अथवा वाच्य और वाचक अभिन्नरूपमें ज्योतिके आकारमें स्फुरित होते हैं । यह अभिन्नता ऊपर और भी परिस्फुट होती है । जितना ही ऊपरको चढ़ा जाता है, उतना ही ज्ञानात्मक ज्ञेयभाव क्रमशः शान्त होता चला जाता है । अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनोंमें प्रथमावस्थामें (मायाकी भूमिमें) परस्पर स्पष्ट ही अत्यन्त पार्थक्य दिखलायी देता है । फिर अनन्त ज्ञेय-राशि एक विशाल ज्ञानमें पिण्डित होकर उसके साथ अभिन्नभावसे प्रकाशित होती है । तब एक ही अभेदज्ञान रह जाता है । उसीके अंदर सारे भेद निहित रहते हैं । यह ज्ञान और वह प्राथमिक ज्ञान एक नहीं है । प्राथमिक ज्ञान अशुद्ध विकल्परूप था और यह ज्ञान विकल्परूप होनेपर भी विशुद्ध है । इसके बाद क्रमशः यह विशुद्ध विकल्प भी शान्त होता जाता है । महामायाकी ऊर्ध्व सीमाका अतिक्रमण करनेके साथ-साथ यह विशुद्ध विकल्प भी बिल्कुल शान्त हो जाता है अर्थात् यह विशुद्ध विकल्प ज्ञातामें अस्तमित हो जाता है, तब एकमात्र ज्ञाता ही रह जाता है । यहीं शुद्ध आत्माकी द्रष्टारूपमें स्वरूपावस्थिति है । कहना नहीं होगा कि पूर्वावस्थाका ज्ञाता और यहाँका ज्ञाता या द्रष्टा एक-सा नहीं है । उस ज्ञातामें विकल्पका संस्पर्श था, उसके ज्ञानसे विकल्प हट नहीं गया था; परन्तु यह ज्ञाता विकल्पसे अतीत है । इस अवस्थामें द्रष्टा आत्मा समग्र मनोराज्य और विकल्पमय विश्वसे उत्तीर्ण होकर अपने बोधमात्र स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है । यह विश्वातीत आत्मा निर्विकल्प ज्ञानके प्रभावसे समना-भूमिको लाँघकर अपनेको निर्मल और निर्विकल्प समझता है । परन्तु इसमें भी पूर्णता नहीं है । कारण इस अवस्थामें विश्व अथवा विकल्पसे अपने शुद्ध विकल्पातीत रूपका भेद वर्तमान रहता है । इसमें भी पूर्णताका सङ्कोच है । इसके बाद पराशक्तिके अथवा उन्मना-शक्तिके आश्रयसे केवली पुरुष परमावस्था या पूर्णब्रह्मरूपमें स्थिति प्राप्त करता है, तब विकल्प और निर्विकल्पका भेद भी मिट जाता है । इसीलिये पूर्ण सत्य विश्वातीत होकर विश्वमय है; वह एक ही साथ निराकार और साकार और साकार-दृष्टिसे भी एक ही साथ एकाकार तथा भिन्न अनन्त आकारमय है । तब समझा जाता है कि एक पूर्ण सत्य ही अपनी स्वातन्त्र्यशक्तिमें या अपनी स्वरूप-महिमामें अपने निरञ्जन स्वभावसे अच्युत रहता हुआ ही विश्वरूपमें प्रतिभासित होता है ।

ॐकारकी ग्यारहवीं कलाकी अनुभूति ही समस्त अनुभूतियोंमें चरम महामाया अथवा समना शक्तिकी अनुभूति है । इसमें नीचेके समस्त स्तरोंकी अनुभूतियाँ अङ्गीभूतरूपसे वर्तमान रहती हैं । यही आत्माका भिन्नाभिन्नरूपमें विश्वरूप-दर्शन है । पूर्ण निर्विकल्पक ज्ञानसे पूर्व इसका निश्चय ही उदय होता है, ॐकारकी यह अन्तिम कला या महामाया ही विकल्प या इच्छाशक्तिरूपिणी है । यही विशुद्धतम मनका स्वरूप है । इस अवस्थामें जो मननात्मक बोध अवशिष्ट रहता है, उसमें कोई भी विषय नहीं रहता—सारे विषय पहले ही क्षीण हो जाते हैं । यह मन्तव्यहीन मनन इसीलिये अविकल्पक है; पर इस मननका भी त्याग करना पड़ता है । अविकल्पक मनके द्वारा ही इस अविकल्पात्मक शुद्ध मनका परिहार होता है, शुद्ध मन एकाग्रताका प्रकर्ष प्राप्त करते ही त्यक्त हो जाता है । मनके त्यागका अर्थ आत्मा या जीवके सङ्कोचात्मक ज्ञानका प्रशमन समझना चाहिये । इस सङ्कोचात्मक ज्ञानका स्वरूप है ज्ञेयाभ्यासके ग्रहणकी इच्छा । इस इच्छाके त्यागसे ही आत्मा सत्ता या चिन्मात्र स्वरूपमें

---

† मात्रांश इस प्रकार हैं—

बिन्दु	—१/२ मात्रा
अर्धचन्द्र	—१/४ ,,
निरोधिनी	—१/८ ,,
नाद	—१/१६ ,,
नादान्त	—१/३२ ,,
शक्ति	—१/६४ ,,
व्यापिनी	—१/१२८ ,,
समना	—१/१२८ ,,
जोड़	—१ मात्रा

स्थित होता है। यह विशुद्ध कैवल्य-दशा है—मनके अतीत, इच्छाहीन अवस्था है। परन्तु यह भी परमपद नहीं है—भगवत्साधर्म्य नहीं है, पूर्णाहंता और चिदानन्द-रसघन स्वातन्त्र्यमय रूप इसका नहीं है। इसीलिये आत्मा विश्वातीत रहनेपर भी अपूर्ण रहता है, मुक्त होनेपर भी भगवद्धर्मसे वञ्चित रहता है। यहींपर भगवान्‌की स्वतन्त्रभूता नित्य समवेता स्वरूपाशक्ति या उन्मनाशक्तिकी उल्लासरूपिणी 'परा भक्ति' आवश्यक होती है। 'भक्त्या युक्तः' (गीता ८। १०) से भगवान्‌ने 'परा भक्ति' का ही लक्ष्य कराया है। उन्मनाशक्ति एक ही साथ अशेष विश्वके अभेददर्शनमें स्फुरित होती है। आत्मा इस शक्तिके आश्रित होकर भगवान्‌के साथ एकात्मता या पूर्णता प्राप्त करता है। फिर चलन नहीं रह जाता। सङ्कोच बिल्कुल ही मिट जाता है। आत्मा व्यापकत्व प्राप्त करके एक ही साथ विश्वरूपमें और उससे उत्तीर्ण रूपमें प्रकाशित होता है। अर्थात् पहले आत्मा विश्वको अतिक्रम करके अपने निर्विकल्पक पदको पहुँचता है, फिर भगवान्‌की परमाशक्तिके अनुग्रहसे अपने पूर्णत्वको उपलब्ध करता है—भगवान्‌से अभिन्नताका अनुभव करता है। तब वह अनुभव करता है कि उस पूर्ण सामरस्यमय स्वरूपमें एक ओर जैसे अनन्त शक्तिका सामरस्य है, दूसरी ओर वैसे ही शक्ति और शक्तिमान्‌का भी सामरस्य है। उसमें विश्व और विश्वातीत एक अखण्ड बोध या प्रकाशके रूपमें स्फुरित होता है—बन्धन-मोक्षका भेद, सविकल्पक-निर्विकल्पकका भेद, मन और आत्माका भेद एवं दृश्य और द्रष्टाका भेद सदाके लिये सर्वथा मिट जाता है। इस अवस्थातीत अवस्थाकी उपलब्धि ही परा गति है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(८। २२)

परम पुरुष ही समग्र विश्वमें व्यापक हैं, उन्हींके अंदर सर्वभूत (विश्व) विद्यमान है, इस बातका यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। अनन्यभक्ति और पराभक्तिके अतिरिक्त उनके इस परम स्वरूपको प्राप्त करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह विश्वरूप ही उनका 'परमरूप' है, इस बातको भगवान्‌ने अर्जुनसे स्पष्ट ही कहा है (गीता ११। ४७)। यह 'तेजोमय' शुद्ध चिन्मय रूप है; वेत्ता और वेद्य—ज्ञाता और ज्ञेय—इसके अन्तर्गत हैं (गीता ११। ३८)। यही 'परमधाम' है (गीता ११। ३८)।

मृत्युकालमें प्रणवका उच्चारण करते-करते कलात्याग होनेपर निष्कल परा विद्या या दिव्य ज्ञानका आविर्भाव होता है, तब भगवान्‌की अनन्यभक्तिके प्रभावसे भगवान्‌का परमरूप प्रकाशित हो उठता है। यही मरणोत्तर परमा गति है।

वस्तुतः यह मृत्युकालीन 'निर्बीज वैज्ञानिक दीक्षा' का फल है। शास्त्रोंमें इसकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है।

हरिः ॐ तत्सत्।

गीतामें विश्वधर्मकी उपयोगिता

भगवद्गीताके अन्दर वे सारी विशेषताएँ मौजूद हैं, जो एक धर्मपुस्तकके अन्दर होनी चाहिये। हिन्दू-धर्मके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंको एकताके सूत्रमें बाँधनेवाला यह एक अनुपम ग्रन्थ है। विश्वके भावी सार्वभौम धर्मका सूत्रग्रन्थ बननेके लिये भी गीता ही सर्वथा उपयुक्त है। भारतके गौरवपूर्ण प्राचीन कालके इस अमूल्य रत्नसे मानवजातिके और भी गौरवपूर्ण समुज्ज्वल भविष्यके निर्माणमें अनुपम सहायता मिलेगी।

—एफ्० टी० ब्रुक्स

गीताकी चतुःसूत्री

(लेखक—'सुदर्शन')

बड़ी सुन्दर बात है—टेढ़ी भी ।

दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं—

यदि जीवन चाहिये—जीवित जीवन और उसमें शान्ति भी चाहिये तो मानना ही पड़ेगा—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

१-कर्म करनेमात्रमें तेरा अधिकार है ।

(कर्मण्येवाधिकारस्ते)

नियम बतला दिये गये हैं, पर कोई हाथ नहीं पकड़ता । अच्छे काम करो या बुरे, कोई मना करनेवाला नहीं ।

२-फलमें तेरा कभी अधिकार नहीं ।

(मा फलेषु कदाचन)

लाख सिर मारो, पर होगा वही जो नटखट नन्दनन्दन चाहेगा । तुम्हारा हाय-हाय करना कोई अर्थ नहीं रखता !

३-कर्मफलके कारण मत बनो !

(मा कर्मफलहेतुर्भूः)

यही कारण बनना तो बन्धनका कारण है । कर्मका फल प्रत्यक्षमें प्रकट होनेपर भी वह तुम्हारे कर्मका फल थोड़े है ! ऐसा होता तो सब समान कर्मोंके फल समान होते । अरे वह तो उसका प्रसाद है । ले लो और सिर चढ़ाओ !

४-कर्महीनताको मत अपनाओ !

(मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि)

हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहकर आलसी बननेसे कुछ न होगा !! तमोगुण दबा लेगा और फिर 'धोबीका कुत्ता न घरका न घाटका ।'

लोक और परलोक एक भी न रहेगा !!!

तब ?

तब क्या—यह कर्मयोगका सार उस चक्रलने चार शब्दोंमें बता दिया और इतनेके आगे भी 'तब' बचा रहे तो—

'मामनुस्मर युध्य च'

उसकी विस्मृति एक पलके लिये भी न हो ! फिर चाहे जैसे कार्य करनेकी पद्धति रक्खो !

इस कर्मका पर्यवसान होता है—समर्पणमें और वही उसने कहा भी है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

भगवद्गीताका सन्देश

(लेखक—डा० श्रीयुत एस्० के० मैत्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवद्गीतामें निःसन्देह भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों एवं मतवादोंका निरूपण मिलता है, परन्तु मेरी समझमें इस विभिन्नताके रहते हुए भी सारी गीतामें एक ही विचार-धारा दृष्टिगोचर होती है । विचारधाराकी इस एकताको 'योग' शब्दसे व्यक्त किया गया है ।* गीताके लिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें 'योगशास्त्र' शब्दका प्रयोग हुआ है और प्रत्येक अध्याय भी किसी-न-किसी योगके नामसे ही अभिहित हुआ है—जैसे अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग इत्यादि । 'योग' शब्द संस्कृतके 'युज्' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है जोड़ना । अतः 'योग' का अर्थ हुआ भगवान्के साथ युक्त हो जाना । गीतामें वर्णित विविध योग भगवान्के साथ युक्त होनेके ही भिन्न-भिन्न मार्ग हैं । गीतामें

---

* महात्मा श्रीकृष्णप्रेमजीकी लिखी हुई 'श्रीभगवद्गीताका योग' नामकी एक महत्त्वपूर्ण अंगरेजी पुस्तक हालहीमें प्रकाशित हुई है, जिसका उद्देश्य यह दिखलाना है कि गीता योगका प्रतिपादक ग्रन्थ है, योगमार्गपर चलनेवालोंके लिये उत्तम पथ-प्रदर्शक है । अपने आशयको स्पष्ट करनेके लिये, जिससे उसके सम्बन्धमें किसीको भ्रम न हो, वे लिखते हैं—'योगसे यहाँ उक्त नामसे प्रसिद्ध किसी दर्शनविशेषका तात्पर्य नहीं है; न 'योग' शब्दका अर्थ यहाँ ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग अथवा महर्षि पतञ्जलिप्रोक्त अष्टाङ्गयोग ही है । यहाँ योगसे वह मार्ग अभिप्रेत है जो परिच्छिन्न जीवको अपरिच्छिन्न परमात्मासे मिला देता है । यह वह आभ्यन्तर मार्ग है जिसके ये विविध योग एकदेशीय अङ्ग अथवा पहलू हैं । यह योग उपर्युक्त विविध योगोंका समन्वयमात्र नहीं है, किन्तु वह मूल एवं अखण्ड तत्त्व है जिसके ये अङ्ग अथवा एकदेशीय रूप हैं ।' (देखिये 'भगवद्गीताका योग' की प्रस्तावना पृ० १४) । उन्होंने यह भी कहा है कि गीताके अध्यायोंका क्रम बड़े महत्त्वका है ।

'योग' शब्दका विविध अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। कहीं इसका प्रयोग कर्म करनेकी कुशलता ('कर्मसु कौशलम्') के अर्थमें हुआ है, कहीं समताके अर्थमें और कहीं समाधिके अर्थमें। ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि 'योग' का अर्थ है भगवान्के साथ युक्त हो जाना और यह योग हमारे समग्र स्वरूपसे—ज्ञानसे, कर्मसे तथा भाव एवं सङ्कल्पसे होना चाहिये।

पिछले दिनों 'प्रबुद्ध भारत'में मैंने 'The Cosmic Significance of *Karma* in the *Bhagavad-gītā*' (भगवद्गीतामें कर्मका सार्वभौम अर्थ) शीर्षक एक लेख लिखा था, जिसमें मैंने बतलाया था कि इस योगकी दो प्रधान श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी तो वह है जिसे मैंने उपर्युक्त निबन्धमें जीवात्माका परमात्माकी ओर बढ़ना या आरोहण कहा है और दूसरी श्रेणी है जीवात्माका परमात्माका साक्षात्कार करनेके बाद जगत्के नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थानके लिये उसमें उतरना।

इसीलिये गीताके सिद्धान्तकी सांख्य, वेदान्त, भक्तिशास्त्र अथवा और किसी मतवादसे एकता नहीं की जा सकती। गीताका उद्देश्य अभिनिवेशपूर्वक किसी ऐसे सिद्धान्तका प्रचार करना नहीं है जो किसी एक मतवादके अनुकूल हो। उसका उद्देश्य है वह गुर बतलाना जिसके द्वारा मनुष्य पूर्ण मनुष्य—सोलहों आने मनुष्य—बन जाय, जिसके द्वारा वह ऊँचा उठते-उठते उस सर्वोच्च स्थितिको प्राप्त कर सके जहाँतक पहुँचनेकी मनुष्यमें क्षमता है। यह एक निरा संग्रह-ग्रन्थ नहीं है; विविध मतवादोंका एक निर्जीव संग्रह उपस्थित करना अथवा भिन्न-भिन्न मतोंका विरोध-परिहारके लिये ही विरोध-परिहार करना उसका उद्देश्य नहीं है। यदि गीताने केवल इतना ही किया होता तो आज वह विश्वसाहित्यमें अमर न होती।

गीता एक निरा दार्शनिक अथवा हेतुशास्त्रका ग्रन्थ भी नहीं है। उसमें एक विशिष्ट समस्यापर विचार किया गया है—एक ऐसी समस्यापर जो हममेंसे प्रत्येकके जीवनकी किसी विकट घड़ीमें हमारे सामने उपस्थित होती है। ऐसे धर्मसङ्कट जिनके कारण हम किङ्कर्तव्यविमूढ होकर चेष्टाहीन बन जाते हैं, मनुष्यजीवनमें कोई असाधारण घटना नहीं है। शेक्सपियरकी अमर कृति 'हैमलेट'में ऐसी कई विकट परिस्थितियोंका उल्लेख हुआ है; उनमें सबसे कठिन परिस्थिति वह है जिसे हैमलेट अपने इस* 'स्वगत' संवादके द्वारा प्रकट करता है कि 'जीवन और मृत्युमें वरणीय कौन है? यही प्रश्न है!'

गीता नैतिक प्रश्नोंका साङ्गोपाङ्ग उत्तर देती है। अर्जुनके धर्मसङ्कटको दूर करनेके लिये सारे प्रश्नपर मूलतः विचार करना—यह दिखलाना कि सदाचारका स्वरूप क्या है—आवश्यक था और सदाचारका स्वरूप बतलानेके लिये उसका ज्ञान और भक्तिके साथ सामञ्जस्य करना आवश्यक था। अन्तिम बात यह है कि सदाचारका मूल दार्शनिक सिद्धान्तोंके गर्भमें छिपा है और सदाचारके प्रश्नपर विचार करनेके लिये पुरुष एवं पुरुषोत्तमका स्वरूप क्या है, इस दार्शनिक प्रश्नपर विचार करना होगा। दार्शनिक तत्त्वोंपर गम्भीर विचार किये बिना नैतिक प्रश्नोंकी यथार्थ आलोचना सम्भव नहीं है। अतएव नैतिक जीवनके तात्त्विक आधारका निरूपण करनेके लिये गीता दार्शनिक प्रश्नोंके विवेचनपर उतरती है। ज्ञान, कर्म और भक्ति हमारे नैतिक जीवनके आधारस्तम्भ हैं। यूनानके महात्मा सुकरात तथा अरस्तूके अनुयायियोंमें जो यह वाद-विवाद छिड़ा था कि नैतिक जीवनके लिये ज्ञान अधिक उपयोगी है या अभ्यास, इसका गीता यह उत्तर देती है कि दोनोंकी समान आवश्यकता है। इसी प्रकार नैतिक जीवन भक्तिकी उपयोगितासे भी उदासीन नहीं रह सकता।

गीतामें यज्ञका नया ही अर्थ किया गया है। यज्ञका प्रचलित अर्थ है—अपने निजके लौकिक अथवा पारलौकिक कल्याणके लिये किया गया शुभ कर्म, किन्तु गीताके यज्ञका अर्थ इससे विपरीत है। गीता २।४२–४४ से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है। गीता कहती है कि इस प्रकारके कर्मसे (जिसका उल्लेख इन श्लोकोंमें किया गया है) मोक्ष नहीं मिलता, वह तो निष्काम कर्मसे—ऐसे कर्मसे ही जिसमें अपने व्यक्तिगत लाभका कोई विचार नहीं किया जाता—मिल सकता है। इसी प्रकारके (निष्काम) कर्मको यज्ञ कह सकते हैं। गीता कहती है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
(३।९)

'यज्ञके निमित्त किये हुए कर्मके सिवा दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य ही कर्मोंसे बँधता है; अतः हे अर्जुन! आसक्तिसे रहित होकर तू यज्ञके लिये ही भलीभाँति कर्म कर।'

निष्काम कर्मके सम्बन्धमें गीता कहती है—

*To be or not to be—that is the question.

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ (३ । १९)

'अतः तू अनासक्त होकर निरन्तर कर्तव्यकर्म कर। अनासक्त होकर कर्म करनेवाला पुरुष परमात्माको प्राप्त होता है।' वैदिक कालसे ही मोक्षकी प्राप्तिके दो मार्ग स्वीकार किये गये हैं—ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग—

द्वाविमावथ पन्थानौ यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभाषिता॥
(महा० शान्ति० २४१ । ६)

'निःश्रेयसप्राप्तिके दो ही मार्ग हैं—प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म; इन्हींमें वेदकी प्रतिष्ठा है। इनमेंसे निवृत्तिधर्म वैकल्पिक (ऐच्छिक) है।'

गीताने एक बीचका मार्ग ढूँढ़ निकाला है। वह न ज्ञान है और न वेदोक्त कर्म ही है; वह निष्काम कर्म है।* महाभारतके शान्तिपर्वमें भी राजा जनकने इस मार्गका उल्लेख किया है और यह बतलाया है कि मुनि पञ्चशिखने उन्हें इसका उपदेश दिया था। गीता वैदिक कर्मकाण्डको मोक्षका हेतु नहीं मानती। दूसरे अध्यायके श्लोक ४२–४६ इस विषयमें प्रमाण हैं। गीतोक्त कर्मका स्वरूप इससे भिन्न है; यही कारण है कि गीता ३। ३ में, जहाँ निःश्रेयसप्राप्तिके दो मार्ग बतलाये गये हैं, वैदिक कर्मकाण्डका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। यदि गीता वैदिक कर्मकाण्डको भी मोक्षका मार्ग मानती होती तो उसमें दोकी जगह तीन मार्गोंका उल्लेख होता, जैसा कि महाभारत-शान्तिपर्व ३२०। ३८–४० में राजा जनककी उक्तिमें पाया जाता है।

किन्तु गीता निःश्रेयसप्राप्तिके दो ही मार्ग स्वीकार करती है—(१) ज्ञान अथवा कर्मसंन्यास एवं (२) कर्मयोग अथवा निष्काम कर्म; और उनमेंसे दूसरे मार्गको श्रेष्ठ समझती है।

लोकमान्य तिलक अपने प्रसिद्ध 'गीतारहस्य'में कहते हैं कि भक्ति कोई स्वतन्त्र मार्ग नहीं है, वह तो यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिका एक उपायमात्र है। भक्ति वास्तवमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका ज्ञानमार्गकी अपेक्षा अधिक सुगम एवं सीधा मार्ग है। भगवान्‌ने भी कहा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
(गीता १२ । ५)

'उन निराकार ब्रह्ममें आसक्त हुए चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष होता है, क्योंकि निराकारविषयक गति देहाभिमानियोंको कष्टसे प्राप्त होती है।'

संन्यासमार्गी अपनी ही मुक्ति चाहता है, अतः उसके उद्देश्यमें एक परिष्कृत स्वार्थका भाव छिपा रहता है। जगत्‌की ओरसे उदासीनताका भाव नहीं रक्खा जा सकता। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
(गीता ३ । २३-२४)

'यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्ममें न बरतूँ, तो हे अर्जुन! सब प्रकारसे मनुष्य मेरे बर्तावके अनुसार बरतने लग जायँ। यदि मैं कर्म न करूँ तो सब लोक भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसङ्करका करनेवाला होऊँ तथा इस सारी प्रजाको मारनेवाला बनूँ।'

अतः कर्मका परित्याग सम्भव नहीं है। इतनी ही बात नहीं है, ऐसा करना वाञ्छनीय भी नहीं है। जो लोग संसार-त्यागका समर्थन करते हैं, उनके उद्देश्यकी सिद्धि निष्काम कर्मसे—अर्थात् ऐसे कर्मसे जिसमें अपने हित अथवा अहित-का विचार नहीं किया जाता—हो जाती है। यह बात अवश्य ध्यानमें रखनेकी है कि गीता जहाँ यह कहती है कि कर्मफल-की परवा न करके कर्म करो, वहाँ कर्मफलका अर्थ है—कर्म करनेवालेका निजी स्वार्थ। जगत्‌को—मानवजातिको उससे जो लाभ या हानि हो सकती है, उसकी ओरसे कभी उदासीन नहीं होना चाहिये, क्योंकि गीता स्पष्टरूपसे यह निर्देश करती है कि कर्मका उद्देश्य लोक-कल्याण अथवा लोकसंग्रह है। इस लोक-कल्याणके जो-जो साधन हैं, उन्हें यदृच्छा या संयोगके ऊपर न छोड़कर उनके लिये प्रयत्नपूर्वक चेष्टा करनी चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥
(गीता ३ । २०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी [आसक्तिरहित] कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तुझे कर्म करना ही उचित है।'

* यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें वर्णित यज्ञका स्वरूप वैदिक यज्ञसे भिन्न है और गीताके निष्काम कर्मसे मिलता है।

उलाहना



ऐसो वेहाल मेरो घर कीन्हो, हौं ले आई हौं तुम्हरे ढिग पकरिके।
फोरे सब बासन, दधि खायो, उबर्‌यो सो डार्‌यो रिस करिके॥

गीता स्वभावनियत कर्म अथवा सहज कर्मके सिद्धान्तकी स्थापना करती है। 'स्वभावनियत' एवं 'सहज'—इन दोनों शब्दोंके अर्थके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। स्वभावनियत कर्मके सिद्धान्तका निरूपण निम्नलिखित श्लोकोंमें हुआ है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(गीता १८। ४७-४८)

'भलीभाँति आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। स्वभावसे नियत किये हुए कर्मको करता हुआ मनुष्य पापका भागी नहीं होता। स्वाभाविक कर्मको, चाहे वह दोषयुक्त ही क्यों न हो, त्यागना नहीं चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार धूएँसे अग्नि आच्छादित रहती है,उसी प्रकार सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे ढके रहते हैं।'

निम्नलिखित श्लोकको भी इन्हींके साथ पढ़ना चाहिये—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

'भलीभाँति आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भय देनेवाला है।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता यहाँ उस कर्मका उल्लेख करती है जो किसी मनुष्यकी सामाजिक स्थितिके अनुकूल हो और इस प्रकार गीताका सिद्धान्त ब्रैडलेके उस सिद्धान्तसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है, जिसका उसने अपने नैतिक विचार (Ethical Studies) के 'मेरी सामाजिक स्थिति और तत्सम्बन्धी कर्तव्य' (My station and its duties) शीर्षक अध्यायमें निरूपण किया है। गीताका एक उद्देश्य उस नीतिकी असारताको प्रकट करना है जो अधिक ऊँचे कहलानेवाले कर्तव्यके लिये अपने अधिकारोचित कर्मके परित्यागकी शिक्षा देती है—जिस नीतिके चक्करमें स्वयं अर्जुन पड़ गया था। जैसा कि श्रीअरविन्द अपने 'गीता-निबन्ध' ('Essays on the Gita') में कहते हैं, बाह्य परिस्थितिपर अधिक जोर देना गीताके अभिप्रायके सर्वथा विरुद्ध है। वे कहते हैं—'मनुष्यके कर्म अथवा कर्तव्यका निर्णय उसके गुणसे होता है, वही उसका स्वभावज एवं स्वभावनियत कर्म है। गीताके कर्म-सिद्धान्तका रहस्य यही है, उसमें कर्मके द्वारा व्यक्त हुए भीतरी गुण अथवा स्वभावको अधिक महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार बाह्य स्वरूपकी अपेक्षा भीतरी तत्त्वपर अधिक जोर देनेके कारण ही गीता स्वधर्माचरणको विशेष आध्यात्मिक महत्त्व देती है एवं उसकी विशेष उपयोगिता स्वीकार करती है। सच पूछिये तो गीता बाह्य नियमको बहुत कम गौरव देती है और आभ्यन्तर नियमपर अधिक जोर देती है; वर्णव्यवस्थाके द्वारा इसी आभ्यन्तर नियमको व्यवस्थितरूपसे बाह्य आचरणमें परिणत करनेकी चेष्टा की गयी है। इस नियमके वैयक्तिक एवं आध्यात्मिक महत्त्वपर ही, न कि उसके जातीय एवं आर्थिक अथवा सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्वपर, दृष्टि रक्खी गयी है। गीताने यज्ञके वैदिक सिद्धान्तको स्वीकार तो किया परन्तु उसे एक गम्भीर रूप, एक आभ्यन्तर एवं सार्वभौम अर्थ, एक आध्यात्मिक तात्पर्य एवं पहलू दे दिया, जिससे उसका महत्त्व कुछ और ही हो गया। इसी प्रकार गीता चातुर्वर्ण्यके सिद्धान्तको भी अङ्गीकार करती है परन्तु उसे एक गम्भीर रूप, एक आभ्यन्तर अर्थ, एक आध्यात्मिक तात्पर्य एवं पहलू दे देती है। ऐसा होते ही इस सिद्धान्तके मूलमें छिपे हुए भावका महत्त्व कुछ और ही हो जाता है—वह एक शाश्वत एवं सजीव सत्य बन जाता है, जिसका सम्बन्ध किसी खास सामाजिक आचार एवं व्यवस्थाके अस्थिर स्वरूपसे नहीं होता। गीताका प्रयोजन आर्योंकी सामाजिक व्यवस्थाकी युक्तियुक्तताको प्रमाणित करना नहीं है—यदि गीताका यही प्रयोजन होता तो उसके स्वभाव एवं स्वधर्मके सिद्धान्तका कोई स्थायी मूल्य अथवा वास्तविकता नहीं होती—बल्कि मनुष्यके बाह्य जीवनका उसके आभ्यन्तर स्वरूपके साथ जो सम्बन्ध है, उसकी आत्मा तथा उसकी प्रकृतिके भीतरी नियमसे उसकी क्रियाका जो विकास होता है, उसका निरूपण करना है।

गीताके अनुसार, विश्व-शान्तिकी समस्या मानव-प्रकृतिके परिमार्जित होनेसे—ईर्ष्या, लोभ और द्वेषकी भावनाओंसे मुक्त होनेसे ही हल हो सकती है। जबतक हमारे मनमें ये सब दूषित भाव भरे हैं तबतक हम हजार निःशस्त्रीकरणकी सभाएँ कर लें, परन्तु उनसे हम अपने उद्देश्यकी सिद्धिकी ओर एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकेंगे। हमारा वास्तविक युद्ध तो आत्माके साथ आत्माका है—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

(गीता ६ । ५)

यदि हम वास्तविक शान्ति चाहते हैं, तो हमें अपनी क्षुद्र आत्माका दमन करना होगा—जो आत्मा राग-द्वेषमें डूबी हुई है—और अपनी उच्चतर आत्माको जगाना होगा, जिससे उसकी ज्योति निःशेषरूपसे जगमगा उठे । यदि हम ऐसा युद्ध चाहते हैं जिससे युद्धका अन्त हो जाय, तो हमें अपने ही अंदर रहनेवाले सभी विद्रोही भावोंके साथ लगातार युद्ध करना होगा । विश्व-शान्तिकी समस्याको हल करनेका गीतानुमोदित उपाय यही है ।



गीता और शास्त्र

(लेखक—श्रीयुत वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

१—मनुस्मृति

मनुस्मृतिमें आचारके बहुत-से सविस्तर नियम दिये गये हैं, जिनमेंसे बहुत थोड़े गीतामें उपलब्ध होते हैं । इसीलिये हम कभी-कभी लोगोंको यह कहते हुए सुनते हैं कि गीताकी प्रामाणिकताको स्वीकार करनेवालेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह मनुस्मृति तथा वैसे ही दूसरे शास्त्रोंके बहुसंख्यक आदेशोंका भी आदर करे ही । हमारे कानमें इस प्रकारके शब्द भी आये हैं कि मनुस्मृति और गीतामें परस्पर विरोध है । हम प्रस्तुत निबन्धमें यही विचार करना चाहते हैं कि इस प्रकारकी मान्यताएँ कहाँतक ठीक हैं ।

यह बात ध्यान देनेकी है कि गीतामें अधिकतर इसी प्रश्नपर विचार किया गया है कि मनुष्यको अपने कर्तव्यका पालन किस प्रकार करना चाहिये । मनुष्यके कर्तव्य क्या हैं, इस प्रश्नपर बहुत कम विचार किया गया है । वह इस बातपर हमारा ध्यान विशेषरूपसे आकर्षित करती है कि कार्यके स्वरूपकी अपेक्षा हमारा कार्य करनेका ढंग विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि एक उत्तम कार्य भी बुरे ढंगसे किया जा सकता है । अतः यह पर्याप्त नहीं है कि हमारा कार्य ही उत्तम हो । हमें उसे करना भी उचित ढंगसे चाहिये । नहीं तो हम उससे पूर्ण लाभ नहीं उठा सकते, बल्कि हमारी क्षति भी हो सकती है ।

किसी भी कामको करनेके समुचित ढंगके विषयमें गीताका सिद्धान्त संक्षेपमें यह है कि हमारी किसी भी कार्यमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये और दूसरी बात यह है कि हमारे अंदर कर्मफलकी इच्छा न हो । गीताने इन भावोंकी बहुत विस्तारसे व्याख्या की है । परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मनुष्यके कर्तव्य क्या हैं अथवा किसी व्यक्तिको अपने कर्तव्यका निर्णय किस प्रकार करना चाहिये, इस प्रश्नपर गीता कोई निश्चित राय नहीं देती । सोलहवें अध्यायके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

'अतः क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका निर्णय करनेके लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं । शास्त्रके विधानको जानकर तुम्हें उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये ।'

'शास्त्र' शब्द श्रुति एवं स्मृतिका वाचक है । श्रुतिका अर्थ है वेद, जिनमें उपनिषद् भी शामिल हैं । स्मृति कहते हैं उन धर्म-ग्रन्थोंको जो वेदमूलक एवं ऋषिप्रणीत हैं । स्वामी शङ्कराचार्यने अपने गीताभाष्यमें ऊपरके श्लोकमें आये हुए 'शास्त्र' शब्दकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की है; परन्तु अगले ही मन्त्र (१७ । १) के भाष्यमें उन्होंने 'शास्त्रविधि' शब्दका अर्थ किया है 'श्रुतिस्मृतिशास्त्रचोदना' अर्थात् श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्रकी आज्ञा । गीता १६ । २३ के भाष्यमें स्वामी रामानुजाचार्यने लिखा है—'शास्त्रं वेदाः' अर्थात् शास्त्रका अर्थ वेद ही है; किन्तु अगले श्लोक (१६ । २४) की व्याख्यामें वे शास्त्रका अर्थ करते हैं 'धर्मशास्त्रपुराणोपबृंहिता वेदाः' अर्थात् धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत एवं पुराणोंके द्वारा व्याख्यात एवं अनुमोदित वेद । ऐसा अर्थ करनेमें वे निम्नलिखित शास्त्रवचनका ही अनुसरण करते हैं—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।'

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'शास्त्र' शब्दका अर्थ केवल वेद ही क्यों न लिया जाय, स्मृतियोंको भी शास्त्रके अन्तर्गत माननेकी क्या आवश्यकता है । पहली बात तो यह है कि वेदोंका वास्तविक तात्पर्य जानना बहुत कठिन है (देखिये ऋग्वेदसंहिता १० । ७१ । ४-५) । गीतामें

श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'वेदोंका जाननेवाला भी मैं ही हूँ' (वेदविदेव चाहम्), जिससे उन्होंने वेदोंका यथार्थ तात्पर्य जाननेकी कठिनाईको सूचित किया है। तपश्चर्या एवं साधनाके द्वारा ऋषियोंने वेदोंका गूढ़ रहस्य समझकर उसे स्मृतियोंमें ग्रथित किया। दूसरी बात यह है कि वेदोंका बहुत-सा अंश लुप्त हो गया है। उदाहरणतः महाभारतके अन्तर्गत उपमन्युके आख्यानमें कुछ वैदिक मन्त्र उद्धृत किये गये हैं (देखिये आदिपर्व ३। ६७-६८), जो उपलब्ध वेदमन्त्रोंमें नहीं मिलते। पातञ्जलमहाभाष्य (१।१।१) में ऋग्वेदकी २१ शाखाओंका, यजुर्वेदकी १२१ शाखाओंका, सामवेदकी १००० शाखाओंका और अथर्ववेदकी ९ शाखाओंका उल्लेख मिलता है—जिनमेंसे बहुत कम शाखाएँ आजकल मिलती हैं। वेदोंके कुछ अंशोंके खो जानेकी बात पहलेहीसे सोचकर त्रिकालदर्शी ऋषियोंने वैदिक आचारके नियमोंको अनेक स्मृतियोंके रूपमें सुरक्षित रक्खा और उनका वेदोंके साथ कहीं भी विरोध नहीं है, इसलिये वे वेदोंके समान ही प्रामाणिक हैं। उदाहरणतः मनुसंहिताका वचन है—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे......................॥

'मनुने जिसका जो धर्म बतलाया है वह सब वेदमें कहा हुआ है।' वास्तवमें तो स्वयं वेदोंने ही 'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्' (जो कुछ मनुने कहा है वह औषधरूप अर्थात् पथ्य है) कहकर मनुसंहिताकी प्रामाणिकतापर मुहर लगा दी है। उपर्युक्त मन्त्र वेदोंमें एक-दो नहीं, चार जगह आया है—(देखिये काठकसंहिता ११।५, मैत्रायणीयसंहिता १।१।५, तैत्तिरीयसंहिता २।२।१०।२ और ताण्ड्यब्राह्मण २३।१६।७)। पाश्चात्य विद्वानोंने मनुसंहिताकी प्रामाणिकताके विरोधमें कई कल्पनाएँ की हैं। कुछ लोग कहते हैं कि मनुसंहिता अनेक व्यक्तियों-द्वारा रचित पद्योंका संग्रह है; वह उन मनुकी रचना नहीं हो सकती जिनका उल्लेख वेदोंमें मिलता है, क्योंकि मनुसंहिताकी भाषा वेदोंकी भाषासे बहुत पीछेकी है। यह भी कहा जाता है कि इस ग्रन्थकी विविध हस्तलिखित प्रतियोंमें बड़ा अन्तर है; परन्तु जो अन्तर स्थूल दृष्टिसे दिखलायी देते हैं, उनका समाधान तो टीकाकारोंने किया है। हस्तलिखित प्रतियोंमें अन्तर इस कारण भी हो सकता है कि कुछ प्रतियाँ सम्भवतः खण्डित हों, जिसके कारण उनके कुछ अंश न मिलते हों; परन्तु केवल इस हेतुको लेकर उस अंशको भी अप्रामाणिक कह देना, जो सभी प्रतियोंमें मिलता है, युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। अवश्य ही उन श्लोकोंकी अपेक्षा जो सभी प्रतियोंमें मिलते हैं, ऐसे श्लोक जो कुछ ही प्रतियोंमें मिलते हैं संख्या एवं महत्त्व दोनोंकी दृष्टिसे नगण्य हैं। यदि यह भी मान लिया जाय कि मनु वैदिक कालमें हुए थे और मनुसंहिताकी रचना बहुत पीछे हुई, तो भी इसका अर्थ यह नहीं होता कि मनुके बनाये हुए नियम मनुसंहितामें नहीं हैं। मनुने कुछ नियम बनाये और ये नियम बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझे गये, यह बात तो ऊपरके वेदमन्त्रसे स्पष्ट ही है। जो नियम इतने महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं और जिनका वेदोंने अनुमोदन किया है, वे यदि लगातार कई पीढ़ियोंतक लोगोंकी स्मृतिमें सुरक्षित रहें तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि यह उन दिनों कोई बहुत कठिन अथवा असाधारण बात न थी। मनुसंहिताका एक श्लोक यास्कके निरुक्तमें उद्धृत किया हुआ मिलता है, जिसका रचनाकाल ईसासे ७०० वर्ष पूर्व माना जाता है। इससे हमलोग यह भी नहीं कह सकते कि मनुसंहिताकी भाषा बहुत पीछेकी है। यह बात भी कल्पनामें आ सकती है कि आगे चलकर उसे ग्रन्थके रूपमें लिपिबद्ध करते समय उस समयकी भाषाका भी उपयोग किया गया हो। मनु-संहिताकी भाषा तथा वेदोंकी भाषामें जो अन्तर है, उसका इस तरह सन्तोषजनक रीतिसे समाधान हो जाता है। व्यास, वाल्मीकि आदि मुनियोंने तथा शङ्कर, रामानुजप्रभृति आचार्योंने भी यह स्वीकार किया है कि मनुसंहितामें मनुके बनाये हुए मूल नियम ही संगृहीत हैं और मनुकी विज्ञताका लोहा माना है। उदाहरणतः वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें श्रीरामने मनुसंहिताके दो श्लोकोंको उद्धृत करते हुए यह कहा है कि ये मनुके कहे हुए हैं, 'मनुना गीतौ'—अतएव मेरे लिये विधिरूप हैं। महाभारतमें तो मनुसंहिताके लंबे-लंबे अवतरण मिलते हैं और उसके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि मनुसंहिताकी रचना ईश्वरीय आदेशोंके आधारपर हुई है, अतः तर्कके द्वारा उसका खण्डन नहीं हो सकता—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

'पुराण, मानव-धर्मशास्त्र, अङ्गसहित वेद एवं चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद)—इनकी प्रामाणिकताका आधार भगवान्‌की आज्ञा है; अतएव केवल तर्कके द्वारा उनका खण्डन नहीं हो सकता।'

शङ्कर एवं रामानुज दोनों ही आचार्योंने मनुसंहिताके वाक्योंको प्रमाणरूपमें उद्धृत किया है और यह भी उद्घोषित किया है कि मनुको ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त था—(देखिये ब्रह्मसूत्र २ । १ । १-२; २ । २ । १७ तथा ३ । ४ । ३८ पर उनके भाष्य ।) हमलोग शङ्कर एवं रामानुज-जैसे आचार्योंके मतका निरादर कर पाश्चात्त्य विद्वानोंकी नयी मनगढ़ंत कल्पनाओंको नहीं मान सकते, जिनकी हमारी सभ्यताकी प्राचीनता तथा महत्ताके सम्बन्धमें इतनी भ्रमपूर्ण एवं दुराग्रहयुक्त धारणाएँ हैं कि उनके कारण वे प्रायः शोचनीय भूलें कर बैठते हैं ।

इस प्रकार गीता १६ । २४ में जब भगवान् श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि सदाचारका निर्णय करनेमें शास्त्रको ही प्रमाण मानना चाहिये तो निःसन्देह उनकी दृष्टिमें मनुसंहिता भी एक प्रामाणिक शास्त्र रहा होगा ।

२—जाति जन्मसे या गुणसे ?

अब हम वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें गीताकी क्या मान्यता है, इस विषयपर विचार करेंगे । गीतामें चातुर्वर्ण्यका ईश्वरकृत सामाजिक व्यवस्थाके रूपमें उल्लेख हुआ है, जिसके अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्योंको अपनी योग्यताके अनुकूल विधिसे भगवान्‌की पूजा करनेके सुलभ साधन प्राप्त हो जाते हैं । गीता ४ । १३ में जो 'गुणकर्मविभागशः'—ये शब्द आये हैं इनको लेकर कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा हो गयी है कि जिस वर्णव्यवस्थाका गीताने समर्थन किया है उसके अनुसार जातिका निर्णय जन्मसे नहीं, अपितु गुण और कर्मसे होता है । किन्तु थोड़ा विचार करनेसे ही यह बात स्पष्ट हो जायगी कि भगवान् श्रीकृष्णका यह अभिप्राय नहीं हो सकता था । पहली बात तो यह है कि १६ । २४ में उन्होंने शास्त्रोंकी आज्ञाको प्रमाण बतलाया है और जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं मनुसंहिताको भी शास्त्रोंके अन्तर्गत ही मानना पड़ेगा। मनुसंहिता १० । ५ में यह बात कही गयी है कि यदि माता-पिता एक ही वर्णके हों तो उनकी सन्तानका भी वही वर्ण होगा । यदि गीता १६ । २४ में भगवान् श्रीकृष्ण मनुसंहिताका प्रामाण्य अङ्गीकार करते हैं, जिसमें यह लिखा है कि जातिका निर्णय जन्मसे ही होना चाहिये और यदि ४ । १३ में वे यह कहें कि जातिके लिये जन्मकी प्रधानता नहीं है बल्कि गुण और कर्मकी प्रधानता है, तो उनके वचनोंमें पूर्वापरविरोध आवेगा । दूसरी बात हमें यह देखनी है कि महाभारतके वीरोंकी जातिका निर्णय किस प्रकार किया गया था । द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्यने क्षात्रधर्म स्वीकार किया था, परन्तु वे क्षत्रिय नहीं कहलाये । वे जन्मतः ब्राह्मण होनेके नाते ब्राह्मण ही कहलाये । अश्वत्थामामें न तो ब्राह्मणोचित गुण थे और न उसके कर्म ही ब्राह्मणोंकि-से थे। उसने भी क्षात्रवृत्ति स्वीकार कर ली थी । गुणोंकी बात कहें तो उसका स्वभाव इतना क्रूर था कि उसने द्रौपदीके पाँचों बालकोंको सोतेमें मार डाला । फिर भी वह ब्राह्मण ही कहलाया, चाहे दुष्ट ब्राह्मण ही क्यों न हो । यदि हम पाँचों पाण्डवोंके गुणोंपर विचार करते हैं तो देखते हैं कि युधिष्ठिर क्षमाकी मूर्ति थे, किन्तु भीम जरा-सी भी प्रतिकूलता होनेपर क्रोधसे आग-बबूला हो जाया करते थे। फिर भी क्षत्रिय-सन्तान होनेके कारण दोनों ही क्षत्रिय रहे । धर्मव्याधमें ब्राह्मणोचित गुण थे, फिर भी वह रहा व्याध-का-व्याध ही । ब्राह्मण होनेके लिये उसे दूसरा जन्म लेना पड़ा । गीताके मुख्य प्रतिपाद्यका आधार भी 'जन्मसे जाति' का सिद्धान्त ही है । क्योंकि जब अर्जुन युद्ध करनेसे इन्कार हो गया और भिक्षावृत्तिसे जीवननिर्वाह करनेको प्रस्तुत हो गया तो श्रीकृष्णने उससे कहा कि 'ऐसा करनेसे तुम्हें पाप लगेगा ।' अब यदि जाति कर्मानुसारिणी होती तो अर्जुनको युद्ध न करनेसे पाप क्यों लगता ? जबतक वह युद्ध करता तभीतक वह क्षत्रिय कहलाता, भिक्षावृत्ति स्वीकार करते ही वह ब्राह्मण कहलाने लगता । जन्मके अनुसार जाति होनेपर ही कोई वृत्ति किसी व्यक्तिविशेषके लिये उचित हो सकती है और उस वृत्तिका त्याग उसके लिये पाप समझा जा सकता है । गीता १८ । ४८ में श्रीकृष्णने 'सहज कर्म' का उल्लेख किया है—'सहज कर्म' का अर्थ है वह कर्म जो किसी मनुष्यके साथ ही पैदा होता है । यदि जन्मसे ही जातिका निर्णय होता हो और जातिसे कर्मका निर्णय होता हो तभी हम यह कह सकते हैं कि वृत्ति अथवा कर्म मनुष्यके साथ ही पैदा होता है । स्थूल बुद्धिसे भी यही समझमें आता है कि गुण या कर्मसे जातिका निर्णय होना सम्भव नहीं । किसी मनुष्यके गुण ब्राह्मणोचित हो सकते हैं, परन्तु उसके कर्म क्षत्रियके-से हो सकते हैं । तब उसकी जातिका निर्णय कैसे हो ? फिर किसी मनुष्यके गुणोंका निर्णय कैसे किया जायगा ? क्या हम कह सकते हैं कि अमुक मनुष्यके गुण ब्राह्मणके-से हैं, क्षत्रियके-से हैं, वैश्यके-से हैं या शूद्रके-से हैं ? यदि इस विषयमें हम अपनी-अपनी राय देनेका साहस भी करें तो क्या सबकी राय एक होगी ? गुणोंके द्वारा जातिका निर्णय करना मानलें तो किया जायगा ? फिर एक ही मनुष्यके

गुण अथवा कर्म समय-समयपर बदल सकते हैं। ऐसी दशामें क्या उसकी जाति हर समय बदलनी पड़ेगी? ऐसा होनेसे क्या घोर अव्यवस्था नहीं हो जायगी? तब प्रश्न यह रह जाता है कि गीताके 'गुणकर्मविभागशः' का क्या अर्थ है। इस समस्त पदकी व्याख्या स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने १८।४१ में की है। वहाँ वे कहते हैं—

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।

'स्वाभाविक गुणोंके अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्योंके कर्मोंका विभाग किया गया है।' अतः ४।१३ के 'गुणकर्मविभागशः' की व्याख्या १८।४१ के अनुकूल करनी होगी—अर्जुनके लिये युद्ध न करना पाप है, इस गीताके प्रधान विषयके अनुकूल करनी होगी—मनुस्मृति १०।५ के अनुकूल करनी होगी—महाभारतमें उल्लिखित तथ्योंके अनुकूल करनी होगी और साधारण बुद्धिके अनुकूल करनी होगी। जाति गुण एवं कर्मके अनुसार होती है, इस प्रकार इस पदका अर्थ करना उपर्युक्त सभी बातोंके विपरीत होगा।

३-क्या शास्त्रोंमें परिवर्तन होना चाहिये?

बहुधा यह कहा जाता है कि संसारकी प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, अतः समाजके नियम भी बदलने चाहिये; हजारों वर्ष पूर्वके बने हुए नियम वर्तमान परिस्थितिके अनुकूल नहीं हो सकते। परन्तु निश्चय ही स्थूल जगत्के नियमोंका जो रूप हजारों वर्ष पूर्व था, वही रूप आज भी है। गरमी पदार्थोंका उसी रूपमें आज भी विस्तार कर देती है जिस प्रकार वह हजार वर्ष पूर्व किया करती थी। इसी प्रकार नैतिक क्षेत्रमें भी जो नियम हजारों वर्ष पूर्व लागू थे वे ही आज भी हैं। गुरु-शुश्रूषासे विद्यार्थी अधिक आसानीसे ज्ञान प्राप्त कर सकता है, पिताकी सेवासे पुत्र अपने चरित्रको उदात्त बना सकता है—ये बातें आज भी उतनी ही सत्य हैं जितनी वे हजारों वर्ष पूर्व थीं। स्थिति निःसन्देह काल पाकर बदलती है, इसलिये एक दूसरे ढंगसे काम लेनेकी आवश्यकता हो सकती है। शास्त्रोंने इसका भी पर्याप्त ध्यान रक्खा है। यही कारण है कि कुछ रीति-रिवाज जो पूर्व-कालमें प्रचलित थे, कलियुगमें उनका निषेध है; यह भी सत्य है कि वर्तमान परिस्थितिमें शास्त्रकी सभी आज्ञाओंका पालन होना कठिन है। परन्तु इससे यह प्रचार करनेकी आवश्यकता नहीं सिद्ध होती कि शास्त्रके आदेश हानिकर हैं, अतः उनमें परिवर्तन होना चाहिये। जहाँतक हो सके हमें उनका पालन करना चाहिये। जहाँ हम नहीं पालन कर सकते वहाँ हमें दुःख होना चाहिये। अवश्य ही हमें जान-बूझकर हठपूर्वक उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। हमें भगवान् श्रीकृष्णके इस उपदेशको स्मरण रखना चाहिये कि 'कर्तव्य एवं अकर्तव्यका निर्णय हमें शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार ही करना होगा।' यदि उनकी यह धारणा न होती कि शास्त्र निर्भ्रान्त एवं अपरिवर्तनशील हैं तो वे ऐसा कभी नहीं कहते। इसीलिये उन्हें 'शाश्वतधर्मगोप्ता'—सनातन धर्मकी रक्षा करनेवाला कहा गया है।

४-हिन्दूधर्म एवं दूसरे धर्म

यह सत्य है कि हिन्दूशास्त्रोंमें कुछ आज्ञाएँ ऐसी हैं जो दूसरे धर्मोंमें नहीं मिलतीं, परन्तु इसका कारण यह है कि दूसरे धर्मोंकी अपेक्षा हिन्दूधर्मने नैतिक जगत्में अधिक नियमोंको ढूँढ़ निकाला है, यदि हम केवल उन्हीं नियमोंको मानें जो सब धर्मोंमें समान हैं तो हम उस धर्मकी भूमिपर उतर आते हैं जिसने सबसे कम उन्नति की है। यदि दूसरे धर्मोंके आचार्य कुछ ऐसे सत्योंकी उपलब्धि अथवा घोषणा नहीं कर सके जिनकी उपलब्धि हिन्दू ऋषियोंने की है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम उन सत्योंको अविश्वसनीय कहकर उनका प्रत्याख्यान कर दें। उदाहरणतः कर्म एवं पुनर्जन्मके सिद्धान्तोंको हिन्दू ऋषियोंने ईश्वरके द्वारा प्रकट किये हुए वेदोंकी सहायतासे ढूँढ़ निकाला; ये सिद्धान्त दूसरे धर्मोंमें नहीं मिलते, इसीलिये हिन्दूधर्ममें (उपर्युक्त सत्योंके आधारपर बने हुए) कई ऐसे आचार अथवा विधान पाये जाते हैं जो दूसरे धर्मोंमें नहीं मिलते।

५-ज्ञानी एवं अज्ञानी

ऐसा कहा गया है कि गीतामें आध्यात्मिक उन्नतिकी दो अवस्थाओंका उल्लेख मिलता है। निम्नावस्थामें शास्त्रोंका अनुसरण करना चाहिये, किन्तु ऊपरकी अवस्थामें उनका अनुसरण करना आवश्यक अथवा उचित नहीं है। परन्तु यह बात गीताके सिद्धान्तके स्पष्ट ही प्रतिकूल है। क्योंकि ३।२१में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। यदि श्रेष्ठ पुरुष शास्त्रका अनुसरण न करें तो साधारण मनुष्य भी वैसा ही करने लगते हैं।

३।२५में भगवान् फिर कहते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

ज्ञानी एवं अज्ञानीमें यही भेद है कि अज्ञानीलोग आसक्तिपूर्वक कर्म करते हैं और ज्ञानीलोग अनासक्तभावसे। उनके कर्मोंमें स्वरूपतः कोई अन्तर नहीं होता।

गीता ३ । २६में भगवान् श्रीकृष्ण फिर कहते हैं—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥

ज्ञानीको कर्म करनेकी आवश्यकता भले ही न प्रतीत हो, परन्तु उसे चाहिये कि वह अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेद उत्पन्न न करे; उसे स्वयं कर्तव्य-कर्मका आचरण कर दूसरों-को भी वैसा करनेकी प्रेरणा करनी चाहिये ।

६–त्रिविध श्रद्धा

कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा है कि गीताके सतरहवें अध्याय-में शास्त्रोंकी अवहेलना करनेकी आज्ञा है । यदि ऐसी बात होती तो गीताके वाक्योंमें पूर्वापर विरोध आता, क्योंकि इसका तात्पर्य तो यह होता है कि सोलहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोक-में तो भगवान् कहते हैं कि 'शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये' और अगले ही अध्यायमें वे कहते हैं कि 'शास्त्रीय मर्यादाका उल्लङ्घन किया जा सकता है ।' परन्तु वास्तवमें शास्त्रीय मर्यादाका उल्लङ्घन करनेकी सतरहवें अध्यायमें कहीं भी आज्ञा नहीं है । सतरहवें अध्यायका प्रारम्भ अर्जुनके निम्नलिखित प्रश्नसे होता है । वे पूछते हैं—'जो लोग श्रद्धालु तो हैं, परन्तु जिनकी उपासना शास्त्रीय आज्ञाके विरुद्ध है, उनकी श्रद्धा सात्त्विक है या राजसिक या तामसिक ?' श्रीशङ्कराचार्य अपने गीताभाष्यमें ठीक कहते हैं कि यह श्लोक उन लोगोंके सम्बन्धमें है जो शास्त्रोंकी मर्यादा न जाननेके कारण शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं; क्योंकि शास्त्रोंमें श्रद्धा रखनेवाले उनके विरुद्ध आचरण नहीं कर सकते, यदि उन्हें यह मालूम हो जाय कि शास्त्रकी आज्ञा क्या है । अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्णने सामान्य नियमका निर्देश किया है । वह यह है कि मनुष्यकी श्रद्धा उसकी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक (१७ । २)। इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिये कि उक्त तीनों प्रकारके मनुष्योंके लिये शास्त्रीय मर्यादाका उल्लङ्घन उचित है, क्योंकि ऐसा करना १६ । २४ के इस सामान्य वचनके विरोधमें जायगा कि शास्त्रोक्त अनुसरण करना ही चाहिये । गीता १७ । ५ में अशास्त्रीय तपकी निन्दा की गयी है । १७ । १३ में विधिहीन पूजाको तामसिक कहकर उसकी निन्दा की गयी है । १७ । २० में उस दानको सात्त्विक कहा गया है जो देश, काल और पात्रका विचार करके दिया जाता है । इसका अभिप्राय यही है कि देश, काल, पात्र वे ही उत्तम हैं जिनका शास्त्रोंमें विधान किया गया है । श्रीशङ्कराचार्यने अपने भाष्यमें इसका स्पष्टीकरण किया है । वे कहते हैं कि 'कुरुक्षेत्र आदि पवित्र स्थान ही उत्तम देश हैं, संक्रान्ति आदि पर्व ही उत्तम काल हैं और वेदवेत्ता पुरुष ही उत्तम पात्र हैं ।' अन्तमें १७ । २४ में श्रीकृष्ण कहते हैं कि ब्रह्मवेत्तालोग शास्त्रीय विधानके अनुसार ही यज्ञ, दान और तपका अनुष्ठान करते हैं ।

७–नियत कर्म

गीता ३ । ८ में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको नियत कर्म करनेको कहते हैं । आचार्य श्रीशङ्करने 'नियत कर्म' का अर्थ किया है—वे कर्म जो शास्त्रद्वारा निश्चित किये गये हैं । श्रीअरविन्दने इस अर्थको नहीं माना है (क्योंकि उनके मतानुसार यह अर्थ सङ्कीर्ण मनोवृत्तिका परिचायक है); उनके मतमें नियत कर्मका अर्थ होना चाहिये वे कर्म जो इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक किये जाते हैं । इस सम्बन्धमें पहली बात तो ध्यान देनेकी यह है कि यदि शास्त्रविहित कर्म करनेकी आज्ञा सङ्कीर्ण मनोवृत्तिका परिचय देती है तो 'नियत कर्म' की इस प्रकार व्याख्या कर डालनेसे श्रीकृष्ण भी सङ्कीर्णताके दोषसे मुक्त नहीं किये जा सकते, क्योंकि अन्यत्र (१६ । २४ में) वे स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि शास्त्रविहित कर्म करने चाहिये और शास्त्रनिषिद्ध कर्म नहीं करने चाहिये । दूसरे 'नियत कर्म' ये शब्द गीतामें चार जगह और आये हैं—अठारहवें अध्यायके श्लोक ७, ९, २३ और ४७ में । पहले हमलोग १८ । ७ पर विचार करें । श्लोक इस प्रकार है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

'यदि कोई मनुष्य नियत कर्मका त्याग कर दे तो उसका यह कार्य उचित नहीं कहा जा सकता। और यदि वह मोहवश ऐसा करता है तो उसका यह त्याग तामसिक है ।'

नियत कर्मका जो अर्थ श्रीअरविन्दने किया है, उसकी उपर्युक्त श्लोकके साथ सङ्गति नहीं बैठ सकती; क्योंकि इस कथनका कोई अर्थ ही नहीं होगा कि इन्द्रियनिग्रहपूर्वक किये

हुए कर्मका मोहवश त्याग किया जा सकता है। शङ्करकी व्याख्या उपर्युक्त श्लोकमें तथा अन्य सभी स्थलोंमें जहाँ 'नियत कर्म' शब्दोंका प्रयोग हुआ है सटीक बैठ जाती है, किन्तु श्रीअरविन्दका अर्थ ठीक नहीं बैठता। गीता ३। ८ में भी श्रीअरविन्दका किया हुआ अर्थ पुनरुक्तिदोषसे युक्त है—क्योंकि उसके पूर्ववर्ती श्लोकमें यह कहा जा चुका है कि इन्द्रियनिग्रहपूर्वक एवं अनासक्तभावसे कर्म करना चाहिये। अतः अगले श्लोकमें उसी बातको दुहराना अनावश्यक था। इसके अतिरिक्त जब यह कहा जाता है कि कर्म करते समय इन्द्रियोंको काबूमें रखना चाहिये, तो स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठता है कि उक्त रीतिसे किस प्रकारके कर्म करने चाहिये। इस प्रश्नका उत्तर (१६ । २४ के अनुसार) यह होगा कि शास्त्रविहित कर्मोंको ही इस रीतिसे करना चाहिये। और अगले श्लोकमें [शास्त्रविहित] यज्ञोंका उल्लेख है। इस प्रकार शङ्करकी व्याख्या पहलेके तथा पीछेके श्लोकमें भी ठीक बैठ जाती है।

८–वेद और गीता

यूरोपीय विद्वान् यह समझते हैं कि वेद और गीतामें परस्पर विरोध है; किन्तु व्यास आदि महर्षियों तथा शङ्कर, रामानुज प्रभृति आचार्योंने यह घोषणा की है कि गीता वेद एवं उपनिषदोंका सार है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि पाश्चात्त्य विद्वानोंका यह कथन सर्वथा निराधार है। वे लोग कहते हैं कि वेदोंकी आज्ञा यज्ञ करनेके लिये है, किन्तु गीता भक्तिपर जोर देती है। परन्तु गीता भी यज्ञानुष्ठानपर जोर देती है, जिसके बिना चित्तशुद्धि नहीं हो सकती और सच्ची भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(१८।५)

'यज्ञ, दान और तपको नहीं छोड़ना चाहिये; उन्हें करना ही चाहिये; क्योंकि ये तीनों अन्तःकरणको पवित्र करनेवाले हैं।'

गीतामें दूसरे भी कई स्थल ऐसे हैं जिनमें यज्ञानुष्ठानपर जोर दिया गया है और यह भी कहा गया है कि यज्ञ करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३।१३)

'जो लोग यज्ञसे बचे हुए अन्नको खाते हैं, वे समस्त पापोंसे छूट जाते हैं; किन्तु जो लोग अपने ही लिये भोजन बनाते हैं, यज्ञ नहीं करते, वे लोग केवल पाप खाते हैं।'

गीतामें निःसन्देह 'यज्ञ' शब्दका कई अर्थोंमें प्रयोग हुआ है और विविध यज्ञोंमें ज्ञानयज्ञको सर्वोत्तम बतलाया गया है। ऐसी बात हो सकती है; परन्तु ऊपरके श्लोकमें तो निःसन्देह द्रव्य-यज्ञका ही उल्लेख है।

गीता ३। १०में भी इस बातका स्पष्टरूपसे निर्देश किया गया है कि देवताओंकी वैदिक यज्ञके द्वारा पूजा करनी चाहिये।

गीता ९। २१में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञानुष्ठानके द्वारा स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है; परन्तु स्वर्ग-प्राप्ति ही जीवनका लक्ष्य नहीं होना चाहिये, क्योंकि स्वर्गका सुख सदा रहनेवाला नहीं है। भगवत्प्राप्ति ही जीवनका लक्ष्य होना चाहिये। इसके लिये परमात्माका ज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये भक्तिका होना आवश्यक है। भक्तिकी प्राप्तिके लिये चित्तशुद्धि आवश्यक है और चित्तशुद्धिके लिये यज्ञानुष्ठान आवश्यक है, परन्तु होना चाहिये वह स्वर्गरूप फलकी प्राप्त करनेकी इच्छाके बिना ही।

गीता २। ४५में श्रीकृष्ण कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

वेद सत्त्व, रज और तम–इन तीन गुणोंका ही वर्णन करते हैं। यहाँ वेदका अर्थ केवल कर्मकाण्ड ही लेना चाहिये। क्योंकि उपनिषदोंमें यह बात स्पष्टरूपसे कही गयी है कि ब्रह्म इन तीनों गुणोंसे परे है और सत्त्व, रज, तम–इन तीनों गुणोंसे ऊपर उठकर ही ब्रह्मप्राप्तिकी चेष्टा करनी चाहिये। इसी प्रकार 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके' इस श्लोकका अर्थ भी अधिक-से-अधिक यह हो सकता है कि परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके बाद वेदोंका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, किसी प्रकार खींचतानीसे भी इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये वेदोंमें बतलाये हुए साधन ठीक नहीं हैं। पुनः २। ४२-४३('यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः' इत्यादि)में वेदोंकी एक खास प्रकारकी व्याख्याकी निन्दा की गयी है–वेदोंकी नहीं। वहाँ वेदोंकी उस व्याख्याकी निन्दा की गयी है जिसमें यज्ञानुष्ठानके द्वारा स्वर्ग-प्राप्तिको ही जीवनका सर्वोच्च ध्येय बतलाया गया है। वेदोंका असली तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्ति ही जीवनका सर्वोच्च ध्येय है–'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।'

उपसंहार

सारांश यह है कि वेद, पुराण, धर्मशास्त्र (मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति आदि, रामायण, महाभारत—जिसके अन्तर्गत गीता है) आदि शास्त्र एक ही समन्वित वस्तु हैं जिनका ध्येय एक ही है, यद्यपि वे भिन्न-भिन्न स्थितिके अनुकूल भिन्न-भिन्न साधन बतलाते हैं। गीता इस महान् वाङ्मयका ही एक अङ्ग है। गीताका किसी दूसरे शास्त्रसे कोई विरोध नहीं है। गीताशास्त्र विविध विहित कर्मोंका संकेतमात्र करती है और जीवनके सर्वोच्च ध्येयकी प्राप्तिके लिये उन कर्मोंको करते समय चित्तकी वृत्ति कैसी होनी चाहिये, इसको समझाती है।

गीता-साधन

(लेखक—स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

(१)

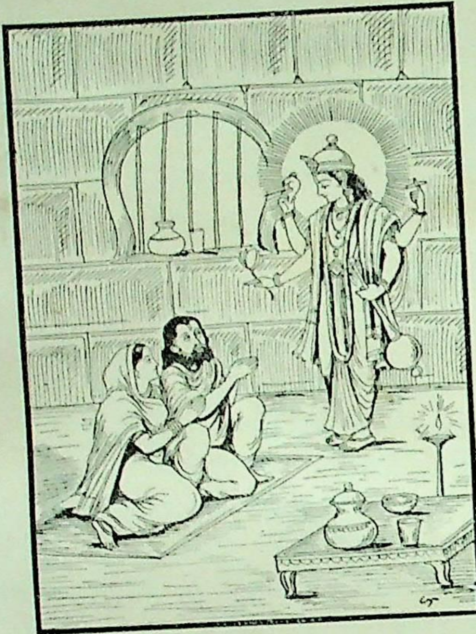
मेरे जीवनके लिये गीताका वही स्थान है जो माताके दूधका स्तनन्धय शिशुके लिये होता है। भगवान्‌के तेजोमय विश्वरूपका दर्शन कर अर्जुन इस प्रकार स्तुति करने लगा—'हे प्रभो! आप चराचर जगत्‌के पिता हैं, आप सनातन हैं, परात्पर हैं, एकमात्र वेद्य हैं, सबके धारण करनेवाले हैं', इत्यादि। इसी प्रकार जब मैं नित्य गीताका पाठ करता हूँ और तुलसीपत्रोंसे उसकी पूजा करता हूँ, उस समय मेरा हृदय गाने लगता है—'भगवति गीते! तुम्हीं मेरे सच्चे पिता हो, तुम्हीं माता हो, तुम्हीं मेरे आहार हो, तुम्हीं वह सनातन शब्द हो जो सदा मेरे अन्तस्तलके कानोंमें गूँजता रहता है, तुम्हीं परम सत्य हो; तुम्हीं प्रेम, कर्म और ज्ञानकी एकमात्र संग्रहणीय निधि हो। माँ गीते! तुम मेरे इस समर्पित जीवनरूप नदीका उस आनन्दार्णवसे समागम करा दो, जहाँसे दिव्य सुधाके रूपमें तुम्हारा उद्गम हुआ है।'

गीता मेरी दृष्टिमें एक मुद्रित ग्रन्थ नहीं है; वह तो सत्यरूपी दीपककी अखण्ड ज्योति है, जिसे मैं अपने जीवनरूपी तेलसे नित्य सींचता रहता हूँ। कहते हैं कि भक्त, भागवत (पुराण) और भगवान् एक ही हैं। यदि यह बात सत्य है तो फिर भगवद्वाणीरूप श्रीमद्भगवद्गीता भी मेरे लिये भगवद्रूप ही है, मेरी इष्टदेवी है।

(२)

मैंने विश्वसाहित्यके नन्दनकाननकी सैर की है, परन्तु मेरे चित्तको तो विश्राम और सुख तभी मिलता है जब वह गीताकी शरणमें जाता है। जिस समय मैं गीताके परम तत्त्वका अनुशीलन करता हूँ, उस समय अन्य ग्रन्थोंकी स्मृति मेरे मानस-पटलसे उसी प्रकार विलीन हो जाती है जिस प्रकार अरुणोदयके प्रकाशमें नक्षत्रावली विलीन हो जाती है। हृदयमें प्रेमका असीम समुद्र उमड़ आता है, मन आत्मामें स्थिर हो जाता है, प्राणोंका विक्षोभ शान्त हो जाता है, नेत्र भीतरकी ज्योतिको देखने लगते हैं और इन्द्रियोंका व्यापार अन्तर्मुखी हो जाता है। उस समय गीताका परम तत्त्व मेरे अन्तस्तलमेंसे निम्नलिखित तान अलापने लगता है—

'मैं सबके हृदयमें रहनेवाला आत्मा हूँ। ये समस्त लोक मेरे ज्ञानरूपी सूत्रमें पिरोये हुए मनियोंके समान हैं। इन्द्रिय तथा उनसे होनेवाला ज्ञान, पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त तथा सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व-समूह—ये सब प्रकृतिरूपी शरीरके अवयव हैं—प्रकृतिरूपी शरीर इन्हींसे बना हुआ है। यह प्रकृतिरूपी शरीर मेरा क्षेत्र है और मैं उसका जाननेवाला—क्षेत्रज्ञ हूँ। इस क्षणभंगुर शरीरका, इस प्रतिक्षण बदलनेवाले जगत्‌का भरोसा न करो। जगत्‌को मेरी योगमायाका ही विलास समझो, गुणोंकी ही लीला मानो। सत्त्व, रज, तम—इन तीनों प्राकृतिक गुणोंको लाँघ जाओ। प्राकृतिक गुणोंकी इस समरभूमिमें तुम्हें सुख अथवा शान्ति नहीं मिल सकती। इस जीवन-संग्रामसे ऊपर उठकर उस वस्तुको प्राप्त करो जो तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। वह वस्तु मैं हूँ। मैं तुम्हारे अंदर मौजूद हूँ; इसीलिये तुम जीते हो, साँस लेते हो और चलते-फिरते हो। तुम्हारे रसनेन्द्रियमें स्थित होकर मैं ही भिन्न-भिन्न रसोंका आस्वादन करता हूँ। तुम्हारे कानोंके झरोखेमें बैठकर मैं ही सुनता हूँ और तुम्हारे आनन्दका उपभोग भी मैं ही करता हूँ। विविध नाम-रूपोंके पीछे मैं ही छिपा हुआ हूँ। मैं ही प्रकृति हूँ, मैं ही पुरुष हूँ और मैं ही दोनोंसे परे अद्वितीय पुरुषोत्तम हूँ। मेरी



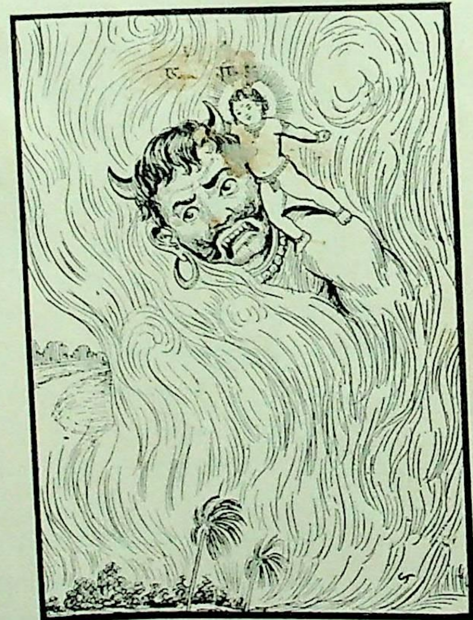
कारागारमें भगवान्‌का प्राकट्य



मथुरासे गोकुल



पूतना-उद्धार



तृणावर्त-उद्धार

कृपाको छोड़कर जीवोंके लिये कोई आश्रय या ठिकाना नहीं है। मुझे जान लेना ही सबसे ऊँचा ज्ञान है। मुझे सर्वातिशायी, सर्वव्यापी, सर्वरूप एवं सर्वसमर्थ जान लेनेपर जिस अलौकिक आनन्दकी उपलब्धि होती है, उसके सामने अन्य सब लौकिक अनुभूतियाँ नगण्य हैं। इस प्रकार जो मुझे सबमें समानभावसे देखता है, वह मुझीमें स्थित है; नहीं, नहीं, वह मेरा ही स्वरूप बन जाता है। इसलिये सदा मुझीमें योगयुक्त होकर रहो। तुम जो कुछ भी कर्म करो, जो कुछ भी खाओ-पीओ, जो कुछ भी हवन करो, जो कुछ भी दान दो, सब मेरे ही अर्पण कर दो। सर्वतोभावेन मेरी शरणमें आ जाओ, मेरा ही भरोसा करो; मैं तुम्हें पापमुक्त कर दूँगा, मैं तुम्हें शाश्वत सुख प्रदान करूँगा। मैं ही वह हूँ।'

(३)

जप-साधनकी भाँति गीताके अनुशीलनसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। परन्तु गीता अनुभूत पारमार्थिक तत्त्वोंकी एक अनुपम निधि है। इस अलौकिक ग्रन्थका एक-एक वाक्य विचारपूर्वक मनन एवं अनुभव करनेयोग्य मन्त्र है। गीता दिव्य जीवनका मार्ग दिखलानेवाला एक सार्वभौम धर्मग्रन्थ है। इसमें कर्मयोग, प्रेमयोग (भक्तियोग), ज्ञानयोग, सांख्ययोग, ध्यानयोग, शरणागतियोग आदि सभी योगोंका समन्वय है। यह जिज्ञासुको ज्ञानकी इतनी ऊँची भूमिकापर पहुँचा देती है जहाँसे वह भगवान्‌को आत्मामें तथा जगत्‌में देखने लगता है और सबके अंदर रहनेवाले परमात्मामें एकीभावसे स्थित हो जाता है। जो पुरुष अपना जीवन गीतामय बना लेता है और उसके उत्तम रहस्यको जान लेता है, वह परमात्माके साथ योगयुक्त हुए बिना नहीं रह सकता। वह सब भूतोंको अपने ही समान तथा चराचर विश्वको अन्तःस्थित परमात्माकी लीला समझकर उनसे प्रेम किये बिना रह नहीं सकता। जो सत्यका इस सार्वभौम रूपमें दर्शन कर लेता है, वह सारे सङ्कल्प-विकल्पोंको, अहंता और ममताकी सारी भावनाओंको और सामाजिक अथवा राजनैतिक सुधारकी सारी उमंगोंको त्याग देता है। वह भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेता है, केवल उनकी इच्छाका अनुसरण करता है और उनकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये ही जीता है। भगवद्भावमें डूबा हुआ ऐसा महात्मा जगत्‌के उद्धारका जिम्मा अपने ऊपर नहीं लेता किन्तु उस सर्वश्रेष्ठ उद्धारक भगवान्‌के हाथका एक क्षुद्र यन्त्र बना रहता है, जिसकी कृपा ही संसारका उद्धार करनेमें समर्थ है। देशको कंस अथवा दुर्योधनके अत्याचारोंसे मुक्त करना भगवान् श्रीकृष्णका ही काम है। हजारों भीम और अर्जुन उस कामको नहीं कर सकते। रावणकी अनीतिसे श्रीराम ही भारतभूमिको उबार सकते हैं। साक्षात् नारायण अपने धनुषकी टङ्कारमात्रसे जो कुछ कर सकते हैं, उसे स्वर्गके सारे देवता और ऋषि नहीं कर सकते। अतः हे भक्तजनो! आओ, अपने-अपने परिवारके, अपने समाजके तथा मानवजातिके क्षेमको भगवान् श्रीकृष्णके सर्वसमर्थ हाथोंमें सौंपकर हमलोग उन्हींके चरणोंमें अपनेको लुटा दें। हम असहाय, मरणशील एवं त्रुटियोंसे भरे हुए प्राणी उनकी कृपाके बिना कर ही क्या सकते हैं? हमलोग प्रेम, भगवद्भाव, श्रद्धा एवं भक्तिसे परिपूर्ण होकर उनके क्षुद्र यन्त्र बन जायँ, उनकी कृपाको ग्रहण करनेके लिये शुद्ध पात्र बन जायँ।

(४)

अद्वैती कहता है—'अहं ब्रह्मास्मि', मैं ब्रह्म हूँ। परन्तु उसके, मेरे और आपके भीतर बोलनेवाला यह 'अहं' कौन है? वही भगवान्, जिनके निकल जानेपर यह शरीर निर्जीव होकर गिर पड़ता है, जिनकी सत्ताके बिना वाणीसे हम एक शब्दका भी उच्चारण नहीं कर सकते, जिनके अस्तित्वके बिना हमारा मन कुछ भी नहीं सोच सकता। हमारे इस 'अहं' के दो रूप हैं। एक तो झूठा 'अहं' है, जिसे देहात्मबुद्धि कहते हैं। यह वञ्चक 'अहं' हमारे सारे दुःखोंकी जड़ है। इस झूठे 'अहं' को भगवान्‌के अर्पित करना होगा—वे ही हमारे सच्चे 'अहं', हमारी आत्मा, हमारे जीवनके दिव्य अंशी हैं। यह झूठा 'अहं', जो अपने ही सङ्कल्प-विकल्पोंसे—अपने ही पुण्य-पापके बखेड़ोंसे परेशान रहता है, अर्जुनके रूपमें प्रकट हुआ है। जब यह क्षुद्र 'अहं' परमात्मारूप सच्चे 'अहं' के अर्पित हो जाता है तब सनातनधर्मकी ज्योति हमारे लिये ध्रुवतारा बनकर प्रकाशित होती है।

(५)

गीता केवल एक इतिहास तथा दिव्य गीत ही नहीं है, वह परम तत्त्व एवं उसकी अनुभूतिका एक मर्मस्पर्शी रूपक भी है। कुरुक्षेत्रके रूपमें गुणोंकी संघर्षभूमिका निरूपण हुआ है। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र तथा उनकी तेरह अक्षौहिणी सेना रजोगुण तथा तमोगुणके ही असंख्य

रूपान्तर हैं। पाण्डवोंके रूपमें प्रेम, पवित्रता, धर्म, सत्य एवं निर्मल ज्ञानसे परिपूर्ण सत्त्वगुणका चित्रण हुआ है। परन्तु अहंकारसे, चाहे वह सात्त्विक ही क्यों न हो, शान्ति प्राप्त नहीं होती। अर्जुन जीवस्थानीय है, मनके अंदर रहनेवाला अहंकार है। वह इस विचारको नहीं छोड़ता कि अमुक मेरा भाई है, अमुक मेरा सम्बन्धी है, अमुक मेरा शत्रु है और अमुक मेरा मित्र है। वह शुभाशुभ-रूप द्वन्द्वसे ऊपर उठकर सर्वतोभावेन अपनेको भगवान्‌के अभय चरणोंमें नहीं डाल देता। श्रीकृष्ण अपनी माया-रूप नटीकी सहायतासे इस विश्वरूपी नाटकका स्वयं द्रष्टा-रूपमें रहकर सञ्चालन करनेवाले जगदीश्वर हैं। सात्त्विक अहंकारकी मूर्ति अर्जुन अपनेको जीवनरूपी संग्रामका अधिनायक मान बैठता है। वह अपने गाण्डीव धनुषको शत्रुओंका संहार करनेका साधन मान लेता है एवं अपने आपको मोहवश युद्ध एवं उसके भयंकर परिणामका हेतु समझ लेता है। जब उसका संमूढ आत्मा जीवनरूप रथके सर्वसाक्षी सारथिको अपने जीवनकी बागडोर सौंप देता है तभी उसे यह अनुभव होता है कि अर्जुन कहलानेवाला उसका क्षुद्र अहंकार द्वन्द्वोंकी लड़ाई नहीं लड़ता; अन्तरात्मा—आत्माके अंदर रहनेवाला परमात्मा—ही सब कुछ करता है, जीवात्मा तो केवल निमित्त-मात्र है। साधकको गीताका अनुशीलन करते समय परमार्थके इस रूपकका भी ध्यान रखना चाहिये। यह जगत् सनातन कुरुक्षेत्र है, इस जगत्‌रूपी कुरुक्षेत्रमें एक क्षण भी ऐसा नहीं जाता जिसमें भयङ्कर संग्राम न होता हो। प्रकृतिके इस विशाल युद्धक्षेत्रमें गुणोंका परस्पर युद्ध चलता रहता है। हमारा शरीर ही रथ है, जिसके सारथि हमारे अन्तःकरणमें साक्षी-रूपसे रहनेवाले परमात्मा हैं। मनके साथ बन्धनमें जकड़ा हुआ जीव अर्जुन है। उसे अपना जीवन परमात्माको अर्पित कर उन्हींके अंदर स्थित रहना और उन्हींके अंदर कर्म करना चाहिये; और अपने सारे जीवनको उनकी इच्छाकी वेदीपर चढ़ा देना चाहिये। ऐसा करनेसे हम भी अपने अन्तःकरणमें भगवद्वाणीको सुन सकेंगे। यही नहीं, तब हम गीताके सजीव रूप बन जायँगे। तादात्म्यकी इस सर्वोच्च स्थितिको हम किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण हमें इसका सरल मार्ग बतलाते हैं। वह यह है कि हम निम्नलिखित तथ्योंका मनन करें:—

१. 'समोऽहं सर्वभूतेषु'—मैं सब भूतप्राणियोंके लिये समानरूपसे सुलभ हूँ।

२. 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'—समस्त भूतप्राणियोंके हृदयमें रहनेवाला आत्मा मैं ही हूँ।

३. 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति'—ध्यानके द्वारा आत्माका साक्षात्कार किया जाता है।

४. 'सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भव'—सब समय मेरे साथ योगयुक्त होकर रह।

५. 'मन्मना भव मद्भक्तः'—मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन।

६. 'समत्वं योग उच्यते'—समचित्तता अथवा समदृष्टि ही योग है।

७. 'योगः कर्मसु कौशलम्'—भगवदर्पित कर्ममें कुशलता ही योग है।

८. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

'जो योगयुक्त, शुद्धान्तःकरण, जितेन्द्रिय एवं मनस्वी पुरुष समस्त भूतप्राणियोंके आत्मारूप परमात्मामें एकीभावसे स्थित हो गया है, वह कर्म करता हुआ भी उनसे लिपायमान नहीं होता।'

९. 'मच्चित्तः सततं भव'—सदा मुझमें चित्त लगाये रह।

१०. 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति'—ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो किसी बातका सोच करता है न इच्छा ही करता है।

११. 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'—सबको वासुदेवरूप समझनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

१२. 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'—हे अर्जुन! सर्वतोभावसे तू उन्हींकी शरणमें जा।

१३. 'न मे भक्तः प्रणश्यति'—मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।

१४. 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय'—हे अर्जुन! मेरे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

१५. 'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्'—शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा मनुष्य अपनेको ऊँचा उठाकर भगवान्‌के समीप ले जाय।

गीतामें दिव्य जीवन

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

गीता वेदान्तका प्रामाणिक ग्रन्थ है—सर्वशास्त्रसार, सर्वमान्य, परम अध्यात्म-शास्त्र है। गीताकी शिक्षाको ठीक-ठीक ग्रहण करनेपर तथा जीवनमें उसका अभ्यास और अनुशीलन करनेपर हम पुत्र-दारा-गृहादिकी आसक्तिसे शून्य हो सकते हैं; आत्मीय-स्वजनकी मृत्यु होनेपर शोकसे हाहाकार नहीं कर सकते; अत्यन्त गुरुतर दुःखसे भी विचलित नहीं हो सकते; अज्ञान, अहंबुद्धिके वश होकर अपनेको संसारकी अन्यान्य सब वस्तुओंसे पृथक् न मान आत्मामें सबके साथ एकत्वका अनुभव कर सकते हैं; ब्राह्मण, शूद्र, पतित, चाण्डाल इत्यादि सबको समान दृष्टिसे देख सकते हैं; वासना, कामना आदि रिपुओंके प्रभावसे मुक्त होकर संसारके सब प्रकारके दुःख और अशान्तिका मूलोच्छेद कर सकते हैं; मूल अध्यात्मसत्तामें सभी अजर-अमर हैं, संसारके समस्त सुख-दुःख चाहे जितने भी अशुभ क्यों न हों, जन्म-मृत्युके भीतरसे होकर अभिज्ञता सञ्चित करके सभी मनुष्य अमृतत्व-की ओर अग्रसर हो रहे हैं—ऐसा जानकर सब प्रकारकी घटनाओंमें, सब अवस्थाओंमें आत्माकी गम्भीर शान्ति, समता और नीरवताके अंदर प्रतिष्ठित रह सकते हैं तथा उस आभ्यन्तरिक शान्त स्थितिमें रहकर अपने-अपने स्वभावके अनुसार परम पुरुष भगवान्‌के उद्देश्यसे यज्ञरूपमें कर्म करते हुए क्रमशः इस अपूर्णतामय, सहस्रों दोषों और त्रुटियोंसे पूर्ण मानवीय प्रकृतिको रूपान्तरित करके परा प्रकृतिकी दिव्य शान्ति, ज्योति, ज्ञान, शक्ति, प्रेम और आनन्दके अंदर दिव्य जन्म, दिव्य जीवन प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्यका व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन यदि इस प्रकार गीताकी शिक्षाके द्वारा प्रभावित हो तो यह पृथ्वी ही स्वर्ग हो जाय और मनुष्य ही देवता बन जायगा।

परन्तु श्रीशङ्कराचार्यने अपने मायावादके सिद्धान्त-के अनुसार जो गीताके भाष्यकी रचना की, उससे गीता केवल संन्यासियोंका शास्त्र बन गयी *। वास्तवमें गीताकी रचना संन्यासियोंके लिये नहीं हुई थी; सामाजिक मनुष्यके जीवनकी संगीन अवस्थामें जो गम्भीर प्रश्न और समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हीं सबका चरम समाधान गीतामें अर्जुनकी समस्याको उपलक्ष्य बनाकर किया गया है। अर्जुनके कर्मत्याग, संसारत्यागकी प्रवृत्तिको श्रीकृष्णने तामसिकता और क्लैब्य बताकर उसकी निन्दा करते हुए गीताकी शिक्षाका आरम्भ किया है और गीतामें आरम्भसे लेकर अन्ततक बाह्य संन्यास तथा संसार-त्यागका प्रतिवाद किया गया है। कुरुक्षेत्रके समान भीषण रक्तपातको भी किस प्रकार शुद्ध अध्यात्मजीवन प्राप्त करनेके उपायके रूपमें परिणत किया जा सकता है, समाजके अंदर रहकर संसारके आवश्यकीय समस्त कर्म, 'सर्वकर्माणि' करते हुए मनुष्य इस मर देहमें ही, 'इहैव' 'प्राक् शरीरविमोक्षणात्' किस प्रकार भगवान्‌के साथ युक्त हो सकता है, सुख और समृद्धिसे पूर्ण जीवन उपभोग कर सकता है, इस पृथ्वीपर ही स्वर्गराज्यकी स्थापना हो सकती है, 'भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्'—यही बतलाना गीताकी शिक्षाका लक्ष्य है। इसके लिये आवश्यकता है भीतरके त्यागकी, आन्तरिक साधनाकी—बाहरके संन्यासकी न तो कोई आवश्यकता है और न वह वाञ्छनीय ही है, 'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।' संन्यासीलोग कर्मको बन्धनका कारण समझकर कर्मत्यागका उपदेश देते हैं; मगर गीता कहती है कि यदि कर्मफलमें आसक्ति न रखकर कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म किया जाय तो वह कभी बन्धनका कारण नहीं होता, वरं इस प्रकार कर्मके द्वारा ही मनुष्यकी प्रकृतिका दिव्य रूपान्तर साधित होता है। भगवान्‌ने स्वयं अपना दृष्टान्त दिया है कि मैं स्वयं कभी कर्मका त्याग नहीं करता, 'वर्त्त एव च कर्मणि।' अर्जुन पाप और नरकके भयसे भयभीत हुए थे; गीताने इस विषयमें कहा है कि बाहर कोई कर्म किया गया या नहीं, इसके ऊपर पाप-पुण्य नहीं निर्भर करता; काम, क्रोध और लोभ—ये ही तीन चीजें सब पापोंका मूल हैं, नरकके द्वार हैं। भीतर यदि काम, क्रोध और लोभ न हों तो बाहरके किसी प्रकारके आचरणसे पाप नहीं लगता और यदि भीतर इन सबको जीवित रक्खा जाय तो बाहरमें चाहे जितना भी सदाचार क्यों न दिखलाया जाय—गीताके मतानुसार वह सब मिथ्याचार है, निष्फल है।

सभी शास्त्रोंमें दो प्रकारके सत्य हैं। एक प्रकारका सत्य किसी विशेष देश, काल या पात्रके लिये ही उपयोगी

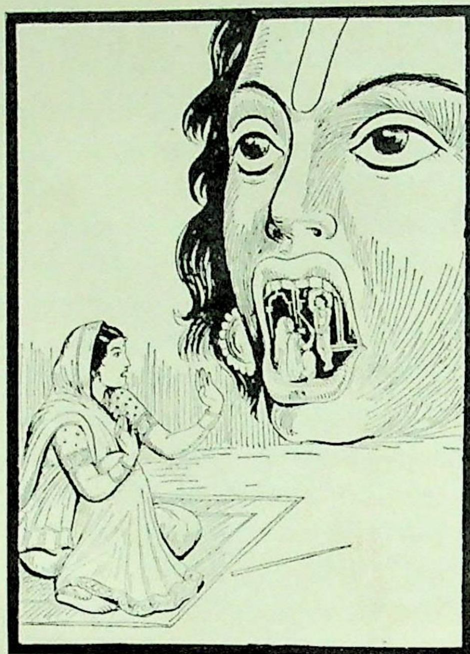
* हमारे देशमें गीताके जितने संस्करण इस समय प्रचलित हैं, उनमें अधिकांश प्रायः मूलतः शाङ्करभाष्यके ही अनुयायी हैं।

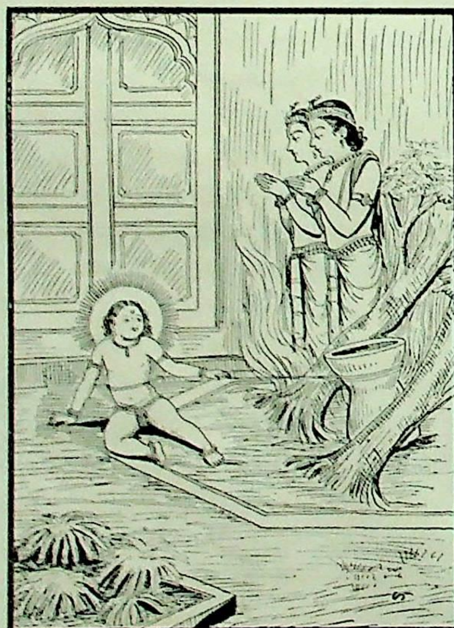
होता है और दूसरे प्रकारका सत्य सब देशों, सब कालोंके लिये उपयोगी होता है—सनातन, शाश्वत होता है। गीता प्रधानतः सनातन सत्य, शाश्वत धर्मका शास्त्र है। गीताके अंदर इस प्रकारके सत्य बहुत कम हैं जो केवल किसी विशेष देश या कालसे सीमित हों; और जो कुछ हैं उन्हें भी गीताने इस प्रकारसे उपस्थित किया है कि उनका सनातन रूप सहज ही ग्रहण किया जा सकता है और ऐसा करना ही गीताकी शिक्षाको समझनेका वास्तविक मार्ग है। यहाँपर एक दृष्टान्तके द्वारा इस बातको और भी स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। गीताने यज्ञ करनेकी बात कही है। यज्ञ प्राचीन भारतका वैदिक अनुष्ठान है और स्वयं भारतवर्षसे भी वह बहुत समय पहलेसे कार्यतः प्रायः लुप्त हो गया है। परन्तु गीताने उस बाह्य यज्ञानुष्ठानको जिस आध्यात्मिक सत्यके रूपकके रूपमें कहा है वह चिरन्तन है—वह सत्य यह है कि यह विश्वजीवन परस्पर आदान-प्रदानके द्वारा ही चलता है; यहाँपर कोई अपने लिये नहीं है, सभी सबके लिये हैं, प्रत्येक प्रत्येकके लिये है, प्रत्येकके अंदर जो भगवान् विराजमान हैं, उनके लिये है। परस्पर आत्मदानके द्वारा परस्पर सभी बढ़ रहे हैं—यही यज्ञ है। इस यज्ञके जगत्में जो लोग केवल अपने-आपको ही लेकर रहना चाहते हैं वे पापी, चोर हैं; जो केवल अपने लिये अन्नपाक करते हैं, वे पाप भक्षण करते हैं। परके लिये, भगवान्के लिये आत्मोत्सर्ग करना ही यज्ञ है तथा इसीको जीवनकी नीतिके रूपमें ग्रहण करना चाहिये। गीता यज्ञका अर्थ केवल वैदिक अग्निष्टोम यज्ञ या स्मार्त्त पञ्चयज्ञ नहीं समझती। गीता कहती है कि यज्ञ अनेक प्रकारके हो सकते हैं; सभीकी मूल नीति है अपनी नीच प्रवृत्तियोंका दमन करना, उच्चतर आदर्शके लिये आत्मदान करना—इस प्रकार सब यज्ञोंके द्वारा चित्तशुद्धि करनेमें सहायता मिलती है। परन्तु गीताने ज्ञानयज्ञको अन्य सब प्रकारके अनुष्ठानों और क्रियाओंसे श्रेष्ठ कहा है। वास्तवमें हमारा अहं हमारे कर्मोंका कर्त्ता नहीं है; प्रकृति ही सब कर्म करती है, वही जगत्में भगवान्की इच्छा पूर्ण करती है—इस ज्ञानके द्वारा अपने सब कर्मोंको, 'यत् करोषि यदश्नासि', भगवान्के उद्देश्यसे उत्सर्ग करना ही प्रकृत ज्ञानयज्ञ है और यही श्रेष्ठ है। क्योंकि इसीके द्वारा हमारी प्रकृतिका दिव्य रूपान्तर सिद्ध होता है।

भिन्न-भिन्न मनुष्य शास्त्रकी भिन्न-भिन्न रूपसे व्याख्या करते हैं, विवेकके साथ भी शास्त्रविधिका विरोध मालूम हो सकता है; इस प्रकार मनुष्यकी बुद्धि विभ्रान्त हो जाती है, 'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धिः।' कुरुक्षेत्रमें अर्जुनकी भी ठीक यही दशा हुई थी। वे यद्यपि धार्मिक और शास्त्रविशारद थे, फिर भी वे अपने जीवनके महान् सन्धिक्षणमें किंकर्तव्यविमूढ हो गये थे; किस बातमें उनका श्रेय है, वास्तविक कल्याण है—इस बातका ठीक-ठीक निश्चय न कर सकनेपर वे शिष्यरूपसे अपने प्रियतम सखा भगवान् श्रीकृष्णके शरणापन्न हुए थे। श्रीकृष्णने अर्जुनकी समस्याका जिस प्रकार समाधान किया था, वह संक्षेपमें इस प्रकार है—'साधारण धर्मज्ञान, नीतिज्ञान, शास्त्रज्ञानके प्रकाशमें कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना आसान नहीं है—'कवयोऽप्यत्र मोहिताः' और इस प्रकार इस समस्याका चरम समाधान भी नहीं होता। जबतक मनुष्य इस त्रिगुणमयी अपरा प्रकृतिके अंदर निवास करता है, तबतक इस समस्याका वास्तविक समाधान नहीं हो सकता; मनुष्यको किसी प्रकार आधे प्रकाश और आधे अन्धकारके भीतरसे होकर ठोकर खाते-खाते ही अग्रसर होना होगा। इस प्रकृतिसे ऊपर उठकर दिव्य प्रकृतिमें प्रतिष्ठित होना होगा, साधारण चेतनाका रूपान्तर करना होगा—'निस्त्रैगुण्यो भव'। उस समय फिर हमारा अपना कोई कर्म नहीं रह जायगा, उस समय भगवान् हमारी रूपान्तरित प्रकृतिको अपने यन्त्रके रूपमें, 'निमित्त-मात्रम्' व्यवहार करके जगत्में अपनी इच्छा पूर्ण करेंगे, अपनी लीला पूरी करेंगे। मनुष्यका अपना रह जायगा केवल ज्ञानपूर्वक भगवान्का यन्त्र होनेका परम आनन्द—और वह कर्म ऊर्ध्वसे भगवान्की इच्छासे आवेगा; अतएव वह सब पाप-पुण्योंसे अतीत होगा, अजेय और अव्यर्थ होगा।

साधारण मनुष्यके लिये प्रचलित शास्त्र, प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध ही यथेष्ट है। काम-क्रोधके वशमें न होकर जिस शास्त्र या नीतिमें अपना विश्वास हो, श्रद्धा हो, उसके अनुसार कर्म करनेसे क्रमशः मनुष्यके अंदर काम-क्रोधका वेग प्रशमित होता है। इसीलिये गीताने शास्त्र-विधिके अनुसार कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेका उपदेश किया है। परन्तु यही सर्वोच्च अवस्था नहीं है, जिस किसी मुहूर्तमें जब मनुष्य सतर्क न हो, इस अवस्थासे पतन हो सकता है (२-६०)। काम-क्रोधपर पूर्णरूपसे विजय प्राप्त करनेके लिये एक ऊपरकी भागवत चेतनाके अंदर प्रतिष्ठित होना ही होगा और उसके लिये आवश्यकता है सब शास्त्रों, सब धर्मोंका परित्याग करके, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पूर्णरूपसे


प्रेम-बन्धन


मुखमें विश्वदर्शन


कुबेरपुत्रोंका उद्धार


बकासुर-उद्धार

भगवान्के शरणापन्न होनेकी; और यही गीताकी सर्वश्रेष्ठ शिक्षा है। धर्माचरण तथा आत्मसंयमका अभ्यास करके जो लोग अर्जुनकी तरह उच्चावस्था प्राप्त कर चुके हैं, केवल वे ही इस चरम आत्मसमर्पण और श्रेष्ठ रूपान्तरके योग्य हैं; इसीलिये अर्जुन गीताके उत्तम रहस्यको सुननेके उपयुक्त पात्र थे, 'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।'

गीताने मनुष्यके सामने प्रकृतिके दिव्य रूपान्तरका जो यह आदर्श रक्खा है, इसको समझनेके लिये गीताके दार्शनिक तत्त्वको थोड़ा समझनेकी आवश्यकता है। गीताने जिस साधनाका निर्देश किया है, उसका थोड़ा-सा भी सच्चे हृदयके साथ अनुसरण करनेसे ये सब बातें अपने-आप साफ-साफ मालूम होने लगती हैं—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।' आचार्य शंकर आदि गीताके प्राचीन भाष्यकारोंके मतमें इस जगत्का मूल है अपरा प्रकृति । वह अज्ञान, अविद्या, त्रिगुणात्मिका है; उसके द्वारा सृष्ट यह जगत् मूलतः अशुभ और दुःखमय है और वह प्रकृति जीवोंको तीन गुणोंके द्वारा इस दुःखमय संसारमें बाँध रखती है। पुरुषार्थ या निःश्रेयस या मानव-जीवनका श्रेष्ठ लक्ष्य है इस प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त होना, सांसारिक जीवनका अवसान करना, आत्मा या ब्रह्मके अंदर जीवकी व्यक्तिगत सत्ताको लय कर देना; यही चरम मुक्ति–परा गति है। किन्तु गीताके मतमें वास्तवमें यह जगत् अपरा प्रकृतिके द्वारा सृष्ट नहीं हुआ है; अपरा प्रकृति इसका बाहरका यन्त्रमय जडरूप है, इसके मूलमें है परा प्रकृति (गीता ७ । ५-६) । वह भगवान्की चित्-शक्ति है, सच्चिदानन्दमयी है; अतएव यह जगत् मूलतः जड या दुःखमय नहीं है—यह आनन्दमय है। उपनिषद्की भाषामें यह आनन्दसे सृष्ट हुआ है, आनन्दसे निकलकर आनन्दकी ओर जा रहा है। त्रिगुणमयी अपरा प्रकृतिने हमारे अंदर भगवान्को आवृत कर रक्खा है—इस अपरा प्रकृतिके अज्ञानसे मुक्त होकर परा प्रकृतिके अंदर दिव्य आनन्दमय जीवन प्राप्त करना ही मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है।

श्रीशंकराचार्यने गीताकी 'परा प्रकृति'का वास्तविक स्वरूप नहीं देखा, उनके मतानुसार 'परा प्रकृति' और जीव एक हैं। परन्तु गीताने परा प्रकृतिको 'जीवात्मकम्' नहीं कहा है, बल्कि 'जीवभूता' कहा है; तथा परा प्रकृति ही प्रत्येक जीवका स्वभाव हुई है। किन्तु परा प्रकृति इसी कारण सीमाबद्ध नहीं है; वह आद्या शक्ति है, समस्त जगत्का मूल है, जगन्माता है। परा प्रकृति भगवान्के साथ एक है (७। ५-६) और जीव भगवान्का अंश है, 'ममैवांशः'; सब जीव, समस्त जगत् एकत्र होनेपर भी भगवान्के बराबर नहीं हो सकते; जगत् भगवान्की शक्तिका एक कणमात्र है, उनके एकांशमें अवस्थित है। प्रत्येक जीव अपनी मूल आत्मसत्तामें भगवान्के साथ एक है और प्रकृतिमें भगवान्की परा प्रकृतिका अंश है, बहु जीव एक भगवान्के ही बहु व्यष्टिगत रूप हैं। किन्तु मनुष्य अभी नीचेकी प्रकृतिके अंदर निवास करता है; प्रत्येक मनुष्यको अपने स्वभावका विकास करके भगवान्का साधर्म्य, भागवत-प्रकृति प्राप्त करनी होगी। यही गीताकी यथार्थ शिक्षा है। ईसामसीहने भी इसी बातको इस प्रकार कहा है—'Be perfect as your Father in Heaven is perfect.' अर्थात् 'जैसे स्वर्गमें तुम्हारे पिता पूर्ण हैं वैसे ही तुम भी पूर्ण बनो।' मनुष्य अपनी अन्तर्निहित दिव्य प्रकृतिका विकास करके इस संसारमें ही दिव्य जन्म प्राप्त करे, दिव्य कर्म करे, भगवान्की तरह ही त्रुटि, शोक, दुःख, अपूर्णतासे अतीत होकर इस विश्वलीलाका अनन्त आनन्द उपभोग करे; इसीलिये 'परा प्रकृति'ने उसको भगवान्की सत्तासे बाहर निकाला है। वह स्वयं उसका मूल स्वभाव हुई है और इस प्रकार जगत्को धारण किये हुए है।

परन्तु वर्तमान समयमें मनुष्य जैसा प्राकृत जीवन बिता रहा है, वह त्रिगुणमयी 'अपरा प्रकृति'का खेल है; वह दुःख, द्वन्द्व, जरा, व्याधि, मृत्यु आदिसे पूर्ण है। इसकी भी सार्थकता और आवश्यकता है; इस अपरा प्रकृतिके द्वारा देह, प्राण और मनका विकास करके ही मनुष्य 'परा प्रकृति'के अंदर दिव्य जीवन प्राप्त कर सकता है; यही उत्तम रहस्य है, 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' (ईशोपनिषद्)।

अपरा प्रकृतिसे ऊपर उठकर दिव्य परा प्रकृतिके अंदर नयी चेतना, नया जन्म प्राप्त करनेके लिये, अमृतत्वका उपभोग करनेके लिये सबसे पहले हमें यह समझना होगा कि यह अपरा प्रकृति ही हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है, हम अभी जिस सांसारिक जीवनके सुख-दुःखमें मग्न हो रहे हैं यह हमारी चरम सम्भावना नहीं है। यहींपर सांख्य या ज्ञानयोगकी सार्थकता है। सांख्यके मतानुसार पुरुष और प्रकृतिका भेद करके यह उपलब्धि करनी होगी कि हमारे देह, प्राण और मनमें जो सुख-दुःख, काम-क्रोध, जरा-व्याधि, विचार-कल्पना इत्यादिकी क्रियाएँ चल रही हैं—ये सब वास्तवमें हमारी नहीं हैं, ये सब प्रकृतिकी हैं; हम वास्तवमें इन सबसे

अतीत पुरुष, आत्मा हैं। पुरुष प्रकृतिकी क्रियाका केवल द्रष्टा या साक्षी है। जिस तरह हम नाटक देखते समय सुख-दुःख, आनन्द-वेदनाका अनुभव करते हैं, उसी तरह पुरुष प्रकृतिकी लीलामें सुख-दुःख भोग रहा है, किन्तु वास्तवमें ये सब चीजें पुरुषको स्पर्श नहीं करतीं; पुरुष अचल, अक्षर, सनातन है। जिस प्रकार स्फटिक पत्थरपर लाल फूलका रंग प्रतिफलित होनेपर स्फटिक लाल रंगका दिखलायी देता है, किन्तु वास्तवमें वह लाल नहीं हो जाता, उसी प्रकार प्रकृतिके तीन गुणोंकी क्रियासे पुरुषमें कोई परिवर्त्तन या विकार नहीं होता। अहंभावके वशीभूत होकर पुरुष प्रकृतिके खेलको अपना खेल समझ लेता है; जिस समय यह अहंभाव दूर हो जाता है, पुरुष प्रकृतिके साथ अपने भेदको समझ जाता है, प्रकृतिके खेलके लिये सम्मति नहीं देता, उसी समय प्रकृतिकी प्रेरणा बन्द हो जाती है, क्रिया बन्द हो जाती है; पुरुष मुक्त हो जाता है, अपनी सत्तामें प्रतिष्ठित हो जाता है। गीताने साधनाके अङ्गके रूपमें इस प्रकारके भेद-विचारकी उपयोगिताको स्वीकार किया है और यह अपरिहार्य है। परन्तु यही यदि सब कुछ होता तब तो हमारी मुक्तिका अर्थ होता प्रकृतिके खेलसे, जीवनसे बुद्धिको हटाकर आत्माकी निश्चल शान्ति और निष्क्रियताके अंदर निमग्न हो जाना। वास्तवमें सांख्यने यही शिक्षा दी है, वैदान्तिक ज्ञानयोगकी भी यही शिक्षा है तथा बौद्ध धर्मकी भी कार्यतः यही शिक्षा है—संसार-त्याग, संन्यास; परन्तु गीता यहींपर नहीं रुक गयी है। अचल, अक्षर, निष्क्रिय पुरुष ही यदि सर्वोच्च सत्य होता तो जब हम उस पुरुषके भावको प्राप्त कर लेते तब प्रकृतिकी—कर्मकी प्रेरणा बन्द हो जाती, संसार-लीला और जीवन असम्भव हो जाता। परन्तु गीताने उस अक्षर पुरुष या आत्मासे भी उच्चतर सत्यका पता दिया है और वह है 'पुरुषोत्तम'। अक्षर पुरुष इस पुरुषोत्तमकी सत्ताका केवल एक अंग है, पुरुषोत्तमके अंदर आधाररूपमें अक्षर पुरुषकी अविचल शान्ति और निष्क्रियता विद्यमान है; किन्तु फिर वही 'पुरुषोत्तम' क्षर पुरुषके रूपमें जगत्‌की अनन्त कर्मधाराके अंदर प्रकट हुए हैं; वही अपनी प्रकृतिके साथ एक होकर जगत्-लीला कर रहे हैं, 'क्षरः सर्वाणि भूतानि'; वही आलस्य-विहीन होकर कर्म कर रहे हैं, 'वर्त्त एव च कर्मणि'; कुरुक्षेत्रमें उन्हींने भीष्म-द्रोणादिको पहलेसे ही मार रक्खा था; उन्हींकी इच्छासे, उन्हींकी प्रकृति या शक्तिके द्वारा इस जगत्‌का प्रत्येक कार्य निर्धारित, नियन्त्रित और सम्पादित हो रहा है। जिस प्रकार वायु आकाशमें विधृत रहते हुए सर्वत्र विचरण करता है, उसी प्रकार यह समस्त जगत् उनकी कूटस्थ अक्षर सत्तामें विधृत है; किन्तु वह स्वयं क्षरसे भी अतीत हैं, अक्षरसे भी उत्तम हैं—पुरुषोत्तम हैं। हमें इन पुरुषोत्तमका ही भाव प्राप्त करना होगा। वही श्रेष्ठ गति है। नीचेकी प्रकृतिके अहंभावसे मुक्त होनेके लिये हम सर्वप्रथम अक्षर पुरुषके शान्त साक्षी-भावमें प्रतिष्ठित होते हैं; यह अक्षर आत्मा सब भूतोंका एक आत्मा है, इसमें प्रतिष्ठित होनेपर हम सब भूतोंके साथ एकत्वको प्राप्त करते हैं; परन्तु प्रकृतिसे हम संसारके समस्त प्रयोजनीय कर्म पुरुषोत्तमके उद्देश्यसे यज्ञरूपमें सम्पन्न करते हैं। हम अपना समस्त जीवन और कर्म अपने अधीश्वर और श्रेष्ठतम सत्ता पुरुषोत्तमको समर्पित करके, सर्वदा उन्हींका भजन करके, सब भूतोंके अंदर उन्हींकी सेवा करके, उन्हींसे प्रेम करके उनका भाव प्राप्त करते हैं, 'मद्भावमागताः।' उस समय हमारे भीतर प्रतिष्ठारूपमें अक्षर पुरुषकी अविचल शान्ति, ऐक्य, समता, अनासक्ति रहती है और हमारी बाहरकी रूपान्तरित प्रकृति हो जाती है-जगत्‌में पुरुषोत्तमकी इच्छा और कर्म पूरा करनेवाला यन्त्र, 'निमित्तमात्रम्।' यही गीताका पूर्णयोग है; इसके अंदर कर्म, ज्ञान और भक्तिका अपूर्व समन्वय हुआ है।

बहुत-से लोग गीताके योगको पतञ्जलिका योग समझते हैं; किन्तु ये दोनों एक चीज नहीं हैं। पातञ्जलयोगके आठ निर्दिष्ट अङ्ग हैं; परन्तु गीताकी पद्धति इस प्रकार कटी-छटी और गनी-गुथी हुई नहीं है; गीताका योग है अपनी समग्र सत्ताको सर्वतोभावेन भगवन्मुखी करना *; निष्कामभावके साथ सब मनुष्यों, सब वस्तुओं, सब घटनाओंके प्रति सम-भाव रखकर, भगवान्‌के लिये यज्ञरूपसे कर्म करते हुए भगवान्‌के साथ युक्त होना गीताका कर्मयोग है; इस निष्कामभाव, समता और यज्ञभावकी भित्ति है—आत्मज्ञान, भगवद्ज्ञान; और इस ज्ञान और कर्मकी पूर्णतम परिणति और सार्थकता उदारतम, गम्भीरतम भगवद्भक्ति और प्रेममें है। श्रीशंकरके मतानुसार ज्ञानके साथ कर्मका सामञ्जस्य नहीं हो सकता; प्रथम अवस्थामें ही कर्मकी सार्थकता है, अन्तमें सब कर्मोंका त्याग करके ही परम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। परन्तु गीताकी शिक्षा है उच्चतर चैतन्यके अंदर दिव्य

*अवश्य ही गीताने मनको स्थिर और एकाग्र करनेके एक उपायके रूपमें राजयोगकी पद्धतिकी उपयोगिताको स्वीकार किया है, इसके लिये छठा अध्याय देखना चाहिये।

जन्म प्राप्त करना, उसके पूर्व उसके उपायस्वरूप दिव्य कर्म करना और वह जन्म प्राप्त करनेके बाद उसकी अभिव्यक्तिके रूपमें दिव्य कर्म करना। आचार्य शंकरने कर्मत्यागको ही श्रेष्ठ अवस्था कहा है। क्योंकि उनके मतमें निर्गुण, निष्क्रिय, निश्चल ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है; और सब मिथ्या, माया है। परन्तु वास्तवमें श्रीशंकरने जिसे निर्गुण ब्रह्मके रूपमें देखा था वह गीताका 'अक्षर पुरुष' है और उन्होंने जिस मायाशक्तिको इस जगत्के मूलके रूपमें देखा था वह गीताकी 'अपरा प्रकृति' है। श्रीशंकरके मतमें मायाके साथ युक्त जो ब्रह्म है, जो सगुण ब्रह्म है, वही गीताका पुरुषोत्तम, ईश्वर, सृष्टिकर्ता है, वह निर्गुण ब्रह्मके नीचे है। किन्तु गीताने अत्यन्त स्पष्ट भाषामें कहा है कि पुरुषोत्तम ही श्रेष्ठ सत्ता है, पुरुषोत्तमसे ऊपर और कुछ नहीं है। अर्जुनके रथपर सारथी-रूपसे बैठकर मानवदेहमें अवतीर्ण पुरुषोत्तम कहते हैं, 'मत्तः परतं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।' वास्तवमें श्रीशंकरका जो सगुण ब्रह्म, ईश्वर है, वह गीताका 'क्षर' पुरुष है। उपनिषद् कहती है कि ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों है–'निर्गुणो गुणी'। सगुण और निर्गुण–इन दोनों भावोंको लेकर परब्रह्म है और वही गीताका 'पुरुषोत्तम' है। गीता कहती है कि अक्षर और क्षर, नित्य और लीला, निष्क्रियता और सक्रियता—ये दोनों एक पुरुषोत्तमके ही दो रूप हैं। भगवान् पुरुषोत्तम चैतन्यस्वरूप हैं और उनके इस चैतन्यकी सक्रियताका जो रूप है, वही उनकी प्रकृति है। पुरुष और प्रकृति मूलतः अभिन्न हैं तथा अपरा प्रकृति या माया या अविद्या परा प्रकृति या विद्याका ही नीचेका रूप है। इन तत्त्वोंको ठीक-ठीक न समझनेके कारण ऐसा मालूम होता है कि गीताके विभिन्न अंशोंमें परस्पर विरोध विद्यमान है और इसीसे गीताके दिव्य जीवनका यथार्थ मर्म ग्रहण करना सम्भव नहीं होता। वर्तमान युगमें परमहंस श्रीरामकृष्णदेवने गीताकी इस शिक्षाको ठीक-ठीक समझा था। श्रीशंकरने ब्रह्मकी निष्क्रियताको ही देखा था, ब्रह्मकी शक्ति या सक्रियताको वे नहीं देख पाये थे, उसीको उन्होंने मिथ्या या माया कहा है। जहाँपर श्रीशंकर-का शेष है, वहींपर श्रीरामकृष्णका आरम्भ है; जहाँपर श्रीशंकरने ब्रह्मजिज्ञासाको समाप्त कर दिया है, वहींपर श्रीरामकृष्णने ब्रह्मशक्तिके विषयमें जिज्ञासा करना आरम्भ किया है।

श्रीरामकृष्णका उपदेश है—"वे एक रूपमें नित्य हैं, एक रूपमें लीला हैं। वेद उन्हें सगुण भी कहते हैं और निर्गुण भी। वही जीव और जगत् हुए हैं, चौबीस तत्त्व हुए हैं। जिस समय वे निष्क्रिय रहते हैं, उस समय उन्हें ब्रह्म कहते हैं; जिस समय वे सृष्टि करते हैं, पालन करते हैं, संहार करते हैं, उस समय उन्हें शक्ति कहते हैं। ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं—जल स्थिर रहनेपर भी जल है, हिलते-डोलते रहनेपर भी जल है।" "पूर्ण ज्ञान और पूर्ण भक्ति एक ही चीज है। 'नेति', 'नेति' करते-करते विचारका अन्त होनेपर ब्रह्मज्ञान हुआ। उसके बाद जिसे त्याग करके गया था, फिर उसीको ग्रहण किया। छतपर जानेके समय सावधान होकर जाना पड़ता है। उसके बाद मनुष्य देखता है कि छत भी जिन चीजोंसे—ईंट, चूना, सुर्खीसे—बनी है, सीढ़ी भी उन्हीं चीजोंसे बनी है। जो ब्रह्म हैं उन्हींकी सत्तासे जीव, जगत् भी हैं।" "जो ब्रह्म हैं वही काली, शक्ति हैं। जो पुरुष हैं वही प्रकृति हैं। हम उन्हींको 'मा जगदम्बा' कहते हैं।"

श्रीरामकृष्णकी यह काली, शक्ति, प्रकृति गीताकी 'परा प्रकृति' है; वह श्रीशंकरकी 'अज्ञान, जडस्वभावा, मिथ्याभूता, सनातनी' नहीं है। श्रीरामकृष्णके मतानुसार यह चिन्मयी, ब्रह्मकी चिद्रूपा शक्ति है। विश्वप्रपञ्च इस चिद्रूपा शक्ति-का विपरिणाम है, निखिल संसार विलासरूपमें इस चित्का ऐश्वर्य है, चित्-शक्तिकी लीला है। इसी कारण जगत् सत्य है, परन्तु ब्रह्म सत्यका सत्य है, 'सत्यस्य सत्यम्'। श्रीरामकृष्ण कहा करते, 'मैं दोनोंको स्वीकार करता हूँ, ऐसा न करनेसे ज्ञान कम रह जाता है।' यही गीताकी 'प्रकृत शिक्षा' है।

गीता निवृत्तिप्रधान ग्रन्थ है

गीता स्मृत्युपनिषद् है और उपनिषद् होनेके कारण ही वह मोक्षके साधन केवल ज्ञानका ही वर्णन करती है। निष्काम कर्म, भक्ति, संन्यास, ध्यानयोग–ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ सभी ज्ञानके साधन हैं और निष्काम कर्मादि साधनोंका यथाधिकार विभाग हो सकता है। उपनिषद् होनेके कारण ही गीता आरण्यकाण्डमें पठित उपनिषदोंके सदृश निवृत्तिप्रधान है। गीतामें जो प्रवृत्ति विहित है, वह भी निवृत्तिका ही अङ्ग है। गीतामें जो निष्काम कर्मयोग बतलाया है, सो प्रवृत्ति-कर्म नहीं, अपितु निवृत्ति-कर्म ही है।

—आचार्य भक्त पण्डित श्रीविष्णु शास्त्रीजी बापट

अर्जुन अथवा आदर्श शिष्य

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त)

सच्चे शिष्यका स्वरूप क्या है ? क्योंकि हरेक मनुष्यको शिष्य कहलानेका न तो अधिकार है, न योग्यता है और न हरेक व्यक्तिमें शिष्यके लक्षण ही घटते हैं। सभी महान् गुणोंकी भाँति–जिनसे यहाँ गुणोंका मूल स्वरूप अभिप्रेत है—शिष्यत्व भी आत्माका ही एक व्यापार है, वास्तवमें आत्मा ही शिष्यके रूपमें उपस्थित होकर अपने जन्मसिद्ध अधिकार-की, अपने वास्तविक दिव्य स्वरूपकी माँग पेश करता है। यह तो नश्वरके भीतर अविनश्वरकी पुकार है, जगत्के कोलाहलों एवं प्रलोभनोंसे–अपनी ही प्रकृतिकी वासनाओं एवं बन्धनोंसे ऊपर उठी हुई अन्तरात्माकी वाणी है। जब वह वाणी स्पष्ट एवं असन्दिग्धरूपमें बोल उठती है, तब स्वयं भगवान् गुरुके रूपमें प्रकट हो जाते हैं, पथप्रदर्शन करते हैं और दीक्षा देते हैं। अर्जुनकी पुकार भी इसी कोटिकी थी, जब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।'

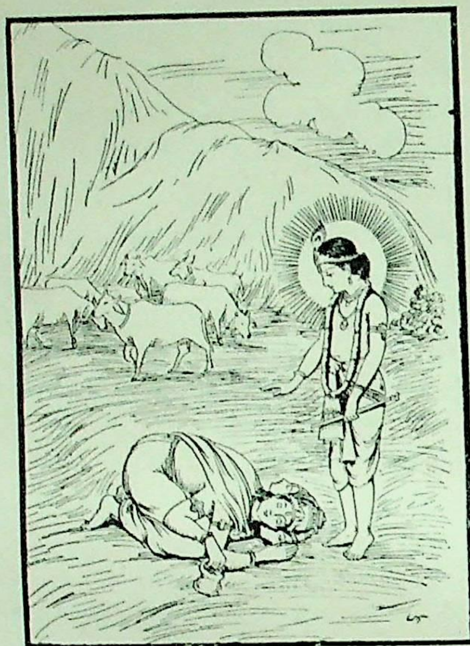
'मैं आपका शिष्य हूँ, मुझ शरणागतको कृपा करके सच्चा मार्ग बतलाइये ।'

यह एक अत्यन्त मार्मिक उक्ति है, जिसमें मानो अर्जुनका समग्र आत्मा—सारा अस्तित्व बोल उठता है और जो कुछ उसे चाहिये और जो कुछ वह देनेको तैयार है—दोनों ही बातें कह डालता है । आवश्यकता है उसे ज्ञानकी—प्रकाशकी; जिस अज्ञानमें वह फँसा हुआ है उसका अन्धकार एवं उससे होनेवाली अस्त-व्यस्तता उसे सह्य नहीं है। और वह दे डालता है बिना किसी शर्तके एवं निःशेषरूपमें अपने-आपको, अपने समग्र अस्तित्वको। छोड़ देता है अपनेको केवल भगवान्की मर्जीपर ! इस प्रकार अर्जुनमें शिष्यके सारे लक्षण पूर्णरूपसे घटते हैं—इतने साङ्गोपाङ्ग, जितने वे बहुत कम लोगोंमें घटते होंगे।

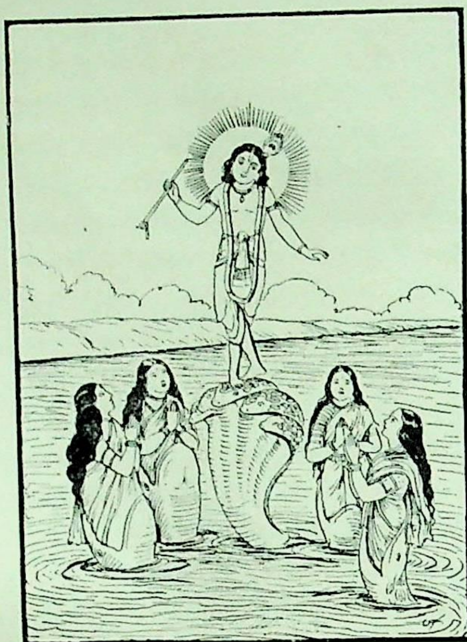
परन्तु कुछ आधुनिक समालोचक इस बातको नहीं मानते। वे शङ्का करते हैं कि 'अर्जुनको युधिष्ठिरकी अपेक्षा श्रेष्ठ क्यों माना गया और श्रीकृष्ण अथवा गीताके रचयिता महर्षि वेदव्यासके निर्णयको विवेकपूर्ण एवं न्यायसङ्गत नहीं मानते, जिन्होंने गीताके उपदेशका पात्र युधिष्ठिरको न चुनकर अर्जुनको चुना। वे पूछते हैं कि 'क्या युधिष्ठिर जो पाण्डवोंमें सबसे जेठे थे, गुणोंमें भी सर्वश्रेष्ठ नहीं थे ? उनके पास अन्तःकरणरूपी जो आधार था, वह सब तरहसे उच्च कोटिका था। वे विद्वान् एवं ज्ञानी थे; राग-द्वेषशून्य, शान्त एवं जितेन्द्रिय थे; और सदा-सर्वदा न्यायोचित एवं सत्य व्यवहार करते थे। वे कभी क्षणिक आवेशमें आकर अथवा स्वार्थकी भावनासे प्रेरित होकर कोई कार्य नहीं करते थे। अक्षुब्ध एवं प्रशान्त रहकर वे अपने आचरणको सर्वोच्च आदर्शके अनुकूल बनानेकी चेष्टामें तत्पर रहते थे। इसीलिये लोग उन्हें 'धर्मराज' कहते थे। यदि ऐसे उत्तम अधिकारीको भी आदर्श शिष्य नहीं माना जायगा तो किसको माना जायगा ?'

इस प्रकारकी शङ्का उठाना शिष्यके स्वरूपको ही—कम-से-कम उस स्वरूपको जो गीताने माना है—भूल जाना है। शिष्य गुणों और सल्लक्षणोंका पुञ्ज नहीं होता, चाहे वे गुण कितने ही ऊँचे और महान् क्यों न हों। शिष्यका प्रधान लक्षण है मुमुक्षा अथवा जिज्ञासा। उसमें उच्च गुण भले ही न हों—बल्कि चाहे उसमें दुर्गुण ही क्यों न हों; परन्तु यदि उसके अंदर एक बात है—जो शिष्यके लिये परमावश्यक है–तो वे दुर्गुण भी उसके लिये बाधक नहीं होते। वह है आत्माकी उत्कट आतुरता–हृदयके अन्तस्तलमें रहनेवाली तीव्र ज्वाला। युधिष्ठिर सात्त्विक प्रकृतिके उच्च शिखरपर भले ही आरूढ रहे हों; परन्तु गीताके अनुसार सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति तीनों गुणोंके परेकी अवस्था है। इस प्रकारके आध्यात्मिक जीवनके लिये सबसे योग्य अधिकारी वह है, जिसने सब धर्मोंका—आचार-तत्त्वोंका, जीवनके आदर्शोंका परित्याग कर एक भगवान्की ही शरण ले ली है, भगवान्की इच्छाको ही जीवनका एकमात्र स्वतन्त्र नियम बना लिया है। चाहे दूसरोंकी दृष्टिमें इस प्रकारका मनुष्य पातकोंका पुञ्ज ही क्यों न हो, भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं उसे समस्त पापसमूहोंसे मुक्त कर दूँगा। जीव जो भगवान्से बिना किसी हेतुके सर्वभावसे प्रेम करता है, वह प्रेम ही उसकी निम्न प्रकृतिके विकारोंको धोकर उसे भगवत्कृपाका पात्र बनानेमें सर्वाधिक समर्थ होता है।

अर्जुनमें यही पात्रता थी, यही गुण था, यही उनका आध्यात्मिक महत्त्व था। यही कारण था कि उनकी भगवान्-के साथ इतनी घनिष्ठता हो गयी थी कि वे उन्हें सखा, संगी और क्रीडासहचर कहकर सम्बोधित करते थे और उनके



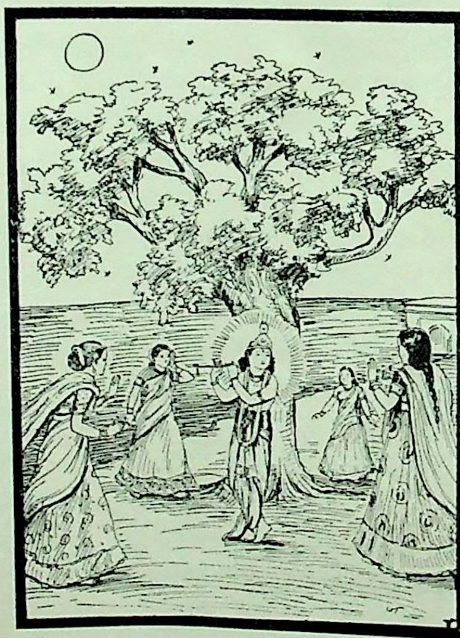
ब्रह्मादर्प-हरण



कालिय-नृत्य



दावानल-पान

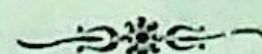


मोहनी मुरली

साथ बहुत घुल-घुलकर घरेलू ढंगसे बातें करते थे—यद्यपि उनके मनमें इस बातके लिये एक बार पश्चात्ताप भी हुआ कि मैंने भगवान्‌के साथ इस प्रकारका व्यवहार करके कदाचित् उनका अपमान कर दिया, उन्हें यथेष्ट आदर नहीं दिया। किन्तु उनकी आत्मा तथा प्रकृतिके इस प्रकारके झुकावसे उनकी ऋजुता (सीधापन) एवं निष्कपटभाव ही द्योतित होता है और इन्हीं गुणोंके कारण वे भगवान्‌को अपनी ओर आकर्षित कर सके और भगवान्‌ने उनको अपने उपदेशका पात्र चुना।

महाराज युधिष्ठिर महान् रहे होंगे और हैं—कदाचित् वे अर्जुनसे भी कई बातोंमें महान् थे। परन्तु भगवान्‌के यहाँ महत्ताका आदर नहीं है, वे तो हृदयमें छिपे हुए उस अङ्गुष्ठमात्र पुरुषको ही देखते हैं और केवल इतना ही जानना चाहते हैं कि वह किस जातिका है, खरा है या खोटा—असली सिक्का है या नकली? डार्विनके विकास-सिद्धान्तके अनुसार पहला मनुष्याकृति बन्दर जो उन्नत होकर मनुष्य बना होगा अथवा जिसमें मनुष्यके रूपमें परिणत होनेकी स्पष्ट प्रवृत्ति दिखायी दी होगी, बन्दरोंमें कोई शक्तिशाली बन्दर न रहा होगा। बल्कि सम्भावना तो यह है कि जिसमें मानवी बुद्धिकी सर्वप्रथम झलक दिखायी दी होगी वह एक बहुत ही सामान्य कोटिका छोटा-सा नगण्य बन्दर रहा होगा और अपने दुर्बल एवं नाज़ुक शरीरको लेकर उसे अपने दीर्घकाय, बलवान् एवं शक्तिशाली साथियों (बन्दरों) के साथ जीवनसंग्राममें उतरकर बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा होगा। तथापि वानर-जातिको अतिक्रमण कर मनुष्यजातिमें प्रवेश करना किसी ऐसे वानरका ही काम रहा होगा। इसी प्रकार कोई महान् पुरुष जो मानवी गुणोंमें महान् हो, वह आध्यात्मिक अनुभूतिके लिये भी सबसे अधिक उपयुक्त हो—यह आवश्यक नहीं है। श्रुति भी कहती है—'न मेधया न बहुना श्रुतेन।' मनुष्य बुद्धि अथवा ज्ञानके बलसे भगवान्‌को नहीं प्राप्त कर सकता!

परन्तु हमने ऊपर जो कुछ कहा है, उसका तात्पर्य यह नहीं है कि बाह्य मानवी प्रकृतिमें अर्जुन कुछ निम्नश्रेणीके थे। मानवी एवं भौतिक दृष्टिसे भी अर्जुन एक वीर-प्रकृतिके पुरुष थे—ऐसी वीर-प्रकृतिके जो किसीमें हो सकती है—फिर भी उनके अंदर जो विशेष उल्लेखनीय बात है, वह है उनकी मानव-प्रकृति अर्थात् उनके सामान्य मनुष्योचित गुण! यही दो बातें कदाचित् उनके अंदर अधिक स्पष्ट एवं ठोस रूपमें थीं। वे वीर तो थे ही, इसमें कोई सन्देह नहीं है; और हमें इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि जिज्ञासु अथवा साधकके अंदर दूसरा आवश्यक गुण है वीरता अथवा बल—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः', बलहीन मनुष्य परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु एक साधारण मनुष्यके चित्तपर घटनाओंका जो प्रभाव पड़ता है, उससे वे भी बरी नहीं थे। बल्कि उनपर घटनाओंका विशेष तीव्र एवं उग्र प्रभाव पड़ता था और आध्यात्मिक कठिनाईका पूरा-पूरा भाव व्यक्त करनेके लिये इसकी आवश्यकता थी। अर्जुनकी शङ्काएँ और उनके चित्तकी उथल-पुथल, उनका विषादयोग उसी ढंगका है जिसका न्यूनाधिक रूपमें प्रत्येक साधकको अनुभव करना पड़ता है जब कि वह अपनी आध्यात्मिक यात्राके कठिन स्तरपर पहुँचता है, जहाँसे उसे या तो ऊपरकी मोड़को ग्रहण करना पड़ता है या नीचेकी भूलभुलैयामें ही चक्कर काटने पड़ते हैं। और आध्यात्मिक यात्राके इस विकट स्तरपर पहुँच जानेपर सच्चे साधक—आदर्श शिष्यके लिये आवश्यकता इस बातकी होती है कि वह परिस्थितिका मुकाबिला करनेका—प्रभुके अनुशासनमें तथा उनके वात्सल्यपूर्ण तत्त्वावधानमें रहकर गन्तव्य स्थानतक पहुँचनेका दृढ निश्चय कर ले। अर्जुन हमारे लिये इसी रेखापर खड़े होकर अपने उदाहरणसे हमें यह दिखलाते हैं कि हम सब लोग साहस करके निम्न प्रकृतिसे बाहर निकलकर उच्च भागवती प्रकृतिके शान्ति, प्रकाश एवं शक्तिमय केन्द्रमें प्रवेश कर सकते हैं।



रहस्यपूर्ण ग्रन्थ

……'हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि यह रहस्यपूर्ण (गीता) ग्रन्थ एक महान् आत्माकी कृति है और अन्य सम्पूर्ण योगियोंके उपदेशोंके साथ इसकी समानता करनेमें हमें कोई हिचक नहीं है।'……

—रॉबर्ट फ्रेडरिक हाल



अभिमानवश यह मत कहो कि भगवान् ऐसे ही हैं और गीताका तत्त्व यही है। याद रक्खो—भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान पुस्तकें पढ़नेसे, तर्क-युक्तियोंकी प्रबलतासे या केवल दर्शनोंकी मीमांसासे नहीं हो सकता। इनसे बुद्धिकी प्रखरता तो बढ़ती है परन्तु आगे चलकर वही बुद्धि ऐसे तर्कजालमें फँसा देती है कि फिर बाध्य होकर अभिमान और राग-द्वेषादिका प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है और जीवन ही जंजाल बन जाता है।

भगवान् सारी गीता कह जानेके बाद अठारहवें अध्यायके अन्तिम भागमें अपने यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके उपाय बतलाते हैं। गीता तो सुना ही दी थी, फिर जरूरत क्या थी उपाय बतलानेकी? उपाय बतलानेका यही तात्पर्य है कि केवल पढ़नेसे काम नहीं होता, पढ़-सुनकर वैसा करना पड़ेगा, तब भगवान्‌की 'परा भक्ति' मिलेगी और परा भक्ति मिलनेपर भगवत्कृपासे भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान होगा।

वे उपाय ये हैं—

सारी पाप-तापकी, छल-छिद्रकी, दम्भ-दर्पकी और ऐसे ही अन्यान्य दोषोंकी भावनाको मिटाकर बुद्धिको परम शुद्ध करो; एकान्तमें रहकर वृत्तियोंको संयत करो; परिमित और शुद्ध आहार करके शरीरका शोधन करो; मन, वाणी और शरीरपर अपना अधिकार स्थापन करो; दृढ वैराग्य धारण करो; नित्य भगवान्‌का ध्यान करो; विशुद्ध धारणासे अन्तःकरणका नियमन करो; शब्दादि सब विषयोंका त्याग करो; राग-द्वेषकी जड़ काटो; अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करो। सब जगहसे ममताको हटा लो और ऐसा करके चित्तको सर्वथा शान्त कर लो, तब ब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य होओगे। इसके बाद ब्रह्मभूत अवस्था, अखण्ड प्रसन्नता, शोक और आकाङ्क्षासे रहित सम स्थिति और सब भूतोंमें सम एकात्मभावके प्राप्त होनेपर, तब भगवान्‌की 'परा भक्ति' प्राप्त होगी। उस परा भक्तिसे भगवान्‌के तत्त्वका—अर्थात् भगवान् कैसे हैं, क्या हैं—यह ज्ञान होगा और तदनन्तर, ऐसा यथार्थ ज्ञान होते ही तुम भगवान्‌में प्रवेश कर जाओगे।

सोचो, जिनको भगवान्‌का ऐसा ज्ञान हो गया वे तो भगवान्‌में प्रवेश कर गये। जिनको ज्ञान नहीं हुआ, वे भगवान्‌को जानते नहीं। ऐसी अवस्थामें यह कहना कि 'मैं भगवान्‌का तत्त्व जानता हूँ'—अहम्मन्यता ही तो है।

लड़ना छोड़ो—यह मत कहो कि 'भगवान् निर्गुण ही हैं, निराकार ही हैं, सगुण ही हैं, साकार ही हैं।' वे सब कुछ हैं; उनकी वे ही जानें।

तुम पहले यह सोचो कि ऊपर बतलाये हुए उपायोंमेंसे तुमने कौन-कौन-सा उपाय पूरा साध लिया है। जब रास्ते ही नहीं चले, तब मंजिले-मकसूदका रूप-रंग बतलाना कैसा? राह चलो, साधन करो। चलकर वहाँ पहुँच जाओ, फिर आप ही जान जाओगे, वहाँका रूप-रंग कैसा है।

चलना तो शुरू ही नहीं किया और लड़ने लगे नक्शा देखकर! इससे बताओ तो क्या लाभ होगा? नक्शेमें ही रह जाओगे, असली स्वरूप तो सामने आवेगा नहीं। इसलिये विचार करो और अकड़ छोड़कर साधन करो; याद रक्खो, साधनकी पूर्णता होनेपर ही साध्यका स्वरूप सामने आता है।

भगवान्‌को जाननेके जो उपाय ऊपर बतलाये गये हैं, वे न हो सकें तो श्रद्धाके साथ भगवान्‌के शरणागत हो जाओ। कहोगे 'हम तो भगवान्‌को

जानते ही नहीं फिर किस भगवान्‌की शरण हो जायँ।' इसीलिये तो भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'तुम एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ।' बस, भगवान्‌की इस बातको मानकर अर्जुनको उपदेश देनेवाले सौन्दर्य-माधुर्यके अनन्त अर्णव परम प्रिय परम गुरु परम ईश्वर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी शरण हो जाओ। उनके इन शब्दोंको स्मरण रक्खो—'मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बन जाओ, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो। मैं शपथ करके कहता हूँ तुम मुझको ही प्राप्त होओगे—याद रक्खो तुम मुझे बड़े प्यारे हो।'

और क्या चाहिये ? बस, यदुकुलभूषण नन्द-नन्दन आनन्दकन्द भगवान् मुकुन्दकी शरण हो जाओ, उनके कृपा-कटाक्षमात्रसे अपने-आप ही तुम सारे साधनोंसे सम्पन्न हो जाओगे, तुम्हें 'परा भक्ति' प्राप्त हो जायगी और तब तुम उन्हें यथार्थरूपमें जान सकोगे।

गीतामें उन्होंने जो दिव्य वचन कहे हैं, उनके अनुसार अपनेको योग्य बनानेकी चेष्टा करते रहो, दैवीसम्पत्ति और भक्तोंके गुणोंका अर्जन करो। करो उन्हींकी कृपाके भरोसे। और मन, वाणी, शरीरसे बारंबार अपनेको एकमात्र उन्हींके चरणोंमें समर्पण करते रहो। जिस क्षण तुम्हारे समर्पणका भाव यथार्थ समर्पणके स्वरूपमें परिणत हो जायगा, उसी क्षण वे तुम्हें अपने शरणमें ले लेंगे—बस, उसी क्षण तुम निहाल हो जाओगे।

इसलिये तर्कजालमें मत पड़ो, सिद्धान्तको लेकर मत लड़ो, साध्यतत्त्वकी मीमांसा करनेमें जीवन न लगाओ। जिनको पाण्डित्यका अभिमान है, उन्हें लड़ने दो; तुम बीचमें मत पड़ो। तुम तो बस, श्रीकृष्णको ही साध्यतत्त्व मानकर उनका आश्रय ले लो। गीतामें भगवान्‌ने इसीको सर्वोत्तम उपाय बतलाया है। गीता पढ़कर तुमने यदि ऐसा कर लिया तो निश्चय समझो—गीताका परम और चरम तत्त्व तुम अवश्य ही जान जाओगे। नहीं तो, झगड़ते रहो और नाक रगड़ते रहो, न तत्त्व ही प्रकाशित होगा और न दुःखोंसे ही छूटोगे।

'शिव'



गीताके अठारह नाम

गीता गङ्गा च गायत्री सीता सत्या सरस्वती।
ब्रह्मविद्या ब्रह्मवल्ली त्रिसन्ध्या मुक्तिगेहिनी॥
अर्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भयनाशिनी।
वेदत्रयी पराऽनन्ता तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी॥
इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः।
ज्ञानसिद्धिं लभेच्छीघ्रं तथान्ते परमं पदम्॥

गीता, गङ्गा, गायत्री, सीता, सत्या, सरस्वती, ब्रह्मविद्या, ब्रह्मवल्ली, त्रिसन्ध्या, मुक्तिगेहिनी, अर्धमात्रा, चिदानन्दा, भवघ्नी, भयनाशिनी, वेदत्रयी, परा, अनन्ता और तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी, इन अठारह नामोंका निश्चल मनसे नित्य जप करनेवाला अर्थात् इनका अर्थ समझकर तदनुकूल अनुभव करनेवाला मनुष्य शीघ्र ही ज्ञानसिद्धिको प्राप्त करता है और अन्तमें परमपदको प्राप्त होता है।



गीताकी समन्वय-दृष्टि

(लेखक—श्रीयुत हीरेन्द्रनाथ दत्त एम्० ए०, बी० एल्०, वेदान्तरत्न)

कुरुक्षेत्रके सुविशाल मैदानमें आजसे कुछ हजार वर्ष पूर्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने शिष्य अर्जुनको गीताका अमृत पिलाया था। और इसी कारण गीता विश्वका सर्वमान्य धर्मग्रन्थ है। साम्प्रदायिकता या सङ्कीर्ण मत-पंथोंके आग्रहका इसमें लेश भी नहीं। इसे 'सत्यका सारतत्त्व' कह सकते हैं। स्थूल जगत्में जिस प्रकार सूर्य सातों रंगोंका सार-समन्वय है उसी प्रकार परम सत्यके सम्बन्धमें विश्वमें जो विविध दृष्टिकोण और विचार हैं उन सबका सार-समन्वय गीता है।

दुःखके साथ कहना पड़ता है कि विविध सम्प्रदायोंके धर्म-ग्रन्थ साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता एवं कट्टरताके आग्रहोंसे भरे पड़े हैं। संक्षेपमें, उनकी यह मान्यता है कि मेरा मत, मेरा 'वाद' सर्वश्रेष्ठ मत, सर्वश्रेष्ठ वाद है। वे ऐसा नहीं कहते कि मेरा मत, मेरा वाद भी एक विशिष्ट मत अथवा वाद है, प्रत्युत उनका कहना तो यह है मेरा 'वाद' ही एकमात्र 'वाद' है। इतना ही क्यों, वे आगे बढ़कर यह कहते हैं कि यदि तुम मेरे मतमें शामिल नहीं होते तो तुम्हें मोक्षसे सदाके लिये वञ्चित रह जाना पड़ेगा। तुम कहींके नहीं रहोगे। धर्मके नामपर जब हठ और दुराग्रहोंका इस प्रकार बोलबाला हो जाता है तो स्वभावतः ही कलह अपना अड्डा जमा बैठता है और फिर क्या-क्या नहीं हो जाता? इतिहासके पन्ने ऐसे कलहों एवं दुराचारोंकी कथाओंसे कलङ्कित हैं। छोटे-मोटे झगड़ों और झंझटोंकी तो यहाँ चर्चा ही नहीं करनी है जो अबतक भी धर्मके नामपर आश्रय पा रहे हैं और जिनके कारण सुधीजनोंका चित्त खिन्न और क्षुब्ध है। धर्मके ऐसे सङ्कटपूर्ण स्थलोंपर गीता डंकेकी चोट कहती है और कहती है एक ऐसी मर्मभरी बात जिसे संसारके सब लोग समानरूपसे जीवनमें चरितार्थ कर सकते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

श्रीभगवान्‌की वाणी है—कोई किसी भी मार्गसे मेरी ओर आवे, मैं उसे उसी मार्गसे मिल जाता हूँ। मार्ग चाहे जितने विभिन्न हों, हैं सभी मेरे ही; इसलिये सभी मेरे ही मार्गपर चल रहे हैं।

इस श्लोककी व्याख्या लिखते हुए ऋषि बङ्किमचन्द्रने बतलाया है कि लोग नाहक ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदिको लेकर परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं, कहा-सुनी करते हैं। हिमालयको कोई दीमकोंका घर बतलावे या छोटा-सा टीला—दोनोंहीमें हिमालयका वर्णन कहाँ हुआ? अन्तमें बङ्किम बाबूका कथन है कि जो इस श्लोकके मार्मिक रहस्यको समझ जायगा वह धर्मके छोटे-छोटे घरौंदोंसे बाहर निकल जायगा और उसके लिये हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, यहूदी और पारसी सब एक समान हो जायँगे। इसलिये बङ्किमचन्द्रने गीतोक्त धर्मको एकमात्र 'विश्व-धर्म' एकमात्र 'कैथोलिक धर्म' कहा है।

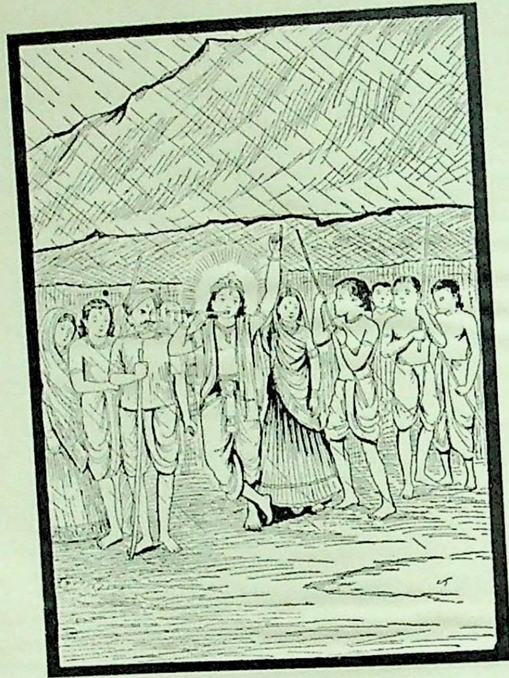
उपर्युक्त कथनपर शिवमहिम्नःस्तोत्रकी वे पंक्तियाँ सहज ही स्मरण हो आती हैं—

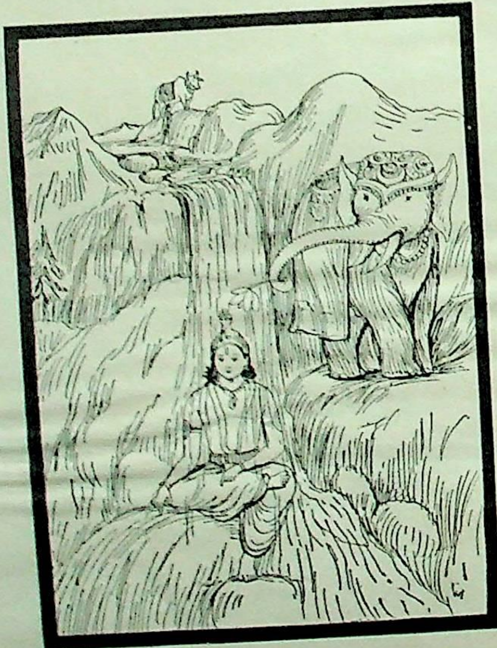
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

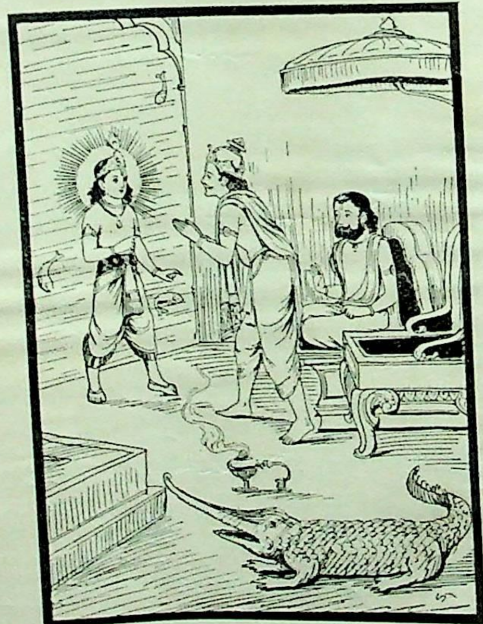
अर्थात् भिन्न-भिन्न रुचियोंके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग हैं परन्तु जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्रमें मिलती हैं उसी प्रकार सभी मार्ग तुम्हींमें मिलते हैं। महाकवि कालिदासने भी भिन्न-भिन्न धर्मशास्त्रोंको भिन्न-भिन्न धाराएँ बतलाया है और यह कहा है कि ये धाराएँ भिन्न-भिन्न मार्गसे चलकर अन्तमें समुद्रमें ही लीन हो जाती हैं। इन पंक्तियोंमें गीता-धर्मकी कितनी स्पष्ट ध्वनि है और इसके साथ ईसाई संतकी वह पंक्ति स्मरणीय है—मनुष्य जितना श्वास-प्रश्वास लेता है उतने ही मार्ग हैं भगवान्‌के पानेके। इसी प्रकार सूफी संतने कहा है—विधनाके उतने मार्ग हैं जितने स्वर्गमें नक्षत्र हैं या तनमें रोएँ। श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव कहते हैं—'यत मत तत पथ'—जितने मत, उतने पथ। स्वयं ईसामसीहने कहा था—'मेरे पिताके महलके असंख्य दरवाजे हैं।' इसलिये जो लोग गीताको 'मानवमात्रकी बाइबिल' मानते हैं वे वस्तुतः गीताका सही अर्थ समझते हैं। कारण कि गीता किसी धर्म या मत-सम्प्रदायविशेषकी धर्मपोथी हो ऐसी बात नहीं है। और इसी अर्थमें गीता विश्वसाहित्यमें अद्वितीय ग्रन्थ है।

गीताकी समन्वय-दृष्टिका प्रतिपादन अनेकों प्रकारसे हो सकता है, परन्तु स्थानके सङ्कोचसे इस लेखमें मैं एक ही


यज्ञपत्नियोंका सौभाग्य


गोवर्द्धन-धारण


भगवान्‌का अभिषेक


वरुणलोकमें

बात अपने पाठकोंके सम्मुख रखना चाहता हूँ। इसे मैं 'गीताकी त्रिवेणी' कहता हूँ। जिस प्रकार तीर्थराज प्रयागमें गङ्गा-यमुना-सरस्वती मिली हैं ठीक उसी प्रकार गीतामें कर्म, भक्ति और ज्ञानकी धाराएँ आ मिली हैं।

भारतीय धर्म-साहित्यका जिन्होंने अनुशीलन किया है वे यह जानते हैं कि गीताके पूर्वकालमें भारतवर्षमें तीन विभिन्न धाराएँ धर्मके क्षेत्रमें स्वतन्त्र रूपसे प्रवाहित हो रही थीं, सर्वथा एक-दूसरेसे पृथक्। वे धाराएँ थीं कर्मकी, भक्तिकी, ज्ञानकी। कर्मवादी कर्मको ही मोक्षका एकमात्र साधन मान बैठे थे—उनका कथन 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य-मतदर्थानाम् (मीमांसासूत्र १।२।१)' अर्थात् कर्मके विना मुक्ति असम्भव है। ज्ञानवादी कहते—मार्ग है तो बस ज्ञानका ही—'ज्ञानान्मुक्तिः' अर्थात् मुक्ति सम्भव है तो केवल ज्ञान-मार्गसे ही। कर्म आदिसे चित्त-शुद्धि, अन्तःशुद्धि भले ही हो ले परन्तु मुक्तिके लिये तो ज्ञानका आश्रय लेना ही पड़ेगा, लेना ही पड़ेगा। और फिर, इसके विपरीत भक्तिवादियोंका यह आग्रह था कि कर्म और ज्ञान तो प्रपञ्च और आडम्बर हैं—भगवत्प्राप्तिका यदि कोई सही और एकमात्र साधन है तो वह है भक्ति।

इन परस्परविरोधी वादोंपर जगद्गुरु श्रीकृष्णने गीतामें पाञ्चजन्यकी एक समन्वयभरी वाणी फूँकी और उस वाणीके स्फुट स्वरमें हमने सुना कि धर्मके सभी मार्ग—वह कर्मका हो, भक्तिका हो या ज्ञानका हो—सर्वथा समान हैं। इनमेंसे किसी एकपर भी चलकर साधक भगवान्के मन्दिरतक पहुँच सकता है। परन्तु परम कल्याणकी प्राप्तिके लिये अकेले कर्मसे, भक्तिसे या ज्ञानसे काम नहीं सरेगा। यदि गीतोक्त 'मम साधर्म्य' किसीको प्राप्त करना है तो उसके लिये अनिवार्य है कि उसकी साधना-प्रणालीमें कर्म, भक्ति और ज्ञानका समुचित समन्वय हो।

इस परम समन्वयके लिये कोई दार्शनिक प्रमाण? प्रमाण यही है कि ईश्वर सत्-चित्-आनन्द हैं; प्रताप, प्रज्ञा और प्रेम; शील, शक्ति और सौन्दर्यके घनीभूत दिव्य विग्रह हैं। और मनुष्य? मनुष्य उन्हींका एक अंश (ममैवांशः) है अतएव उसमें ये तीनों प्रत्यय विद्यमान हैं। पञ्चदशी कहती है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं च ह्यस्तीह ब्रह्म' अर्थात् सत्य, ज्ञान, अनन्त पुञ्जीभूतरूपमें ब्रह्म है।

इसलिये यदि मनुष्यको भगवान्में मिलना है, यदि उसे 'देवत्व' की संसिद्धि प्राप्त करनी है तो उसके लिये यह अनिवार्य है कि वह साधनाके द्वारा अपने अंदर दिव्य शक्ति, दिव्य ज्ञान और दिव्य प्रेमका विकास करे और वह कर सकता है, क्योंकि ये तीनों ही उसके भीतर प्रच्छन्न (latent) रूपसे विद्यमान हैं। और इस प्रकार, जब वह अपने लक्ष्यके समीप पहुँचेगा तो मुक्तकी भाँति कह उठेगा—'सोऽहम्,' 'अहं ब्रह्मास्मि'! इसे ही ईसाई-धर्मवाले दूसरे शब्दोंमें कहते हैं—मैं और मेरे पिता 'एक' हैं—'I and my Father are One.'

यदि तनिक-सी गहराईमें जाकर हम देखें तो यह पता चलेगा कि अच्छे मनुष्य तीन ही प्रकारके होते हैं—बस, तीन प्रकारके—न कम न ज्यादा। कुछ तो वीर-प्रकृतिके होते हैं—जैसे जूलियस सीजर, शिवाजी, नैपोलियन इत्यादि, जिनकी प्रकृतिमें वीरता-ही-वीरता मुख्य होती है। दूसरे होते हैं ऋषि-प्रकृतिके—जैसे याज्ञवल्क्य, प्लैटो, हेगेल इत्यादि, जिनकी प्रकृति ज्ञानप्रधान होती है। तीसरे होते हैं संत-प्रकृतिके—जैसे बिल्वमङ्गल, मीराबाई, संत टेरेसा इत्यादि, जिनकी प्रकृतिमें प्रेमकी ही प्रधानता होती है, जिनके लिये भगवान् परम प्रियतम प्राणेश्वर हैं—'रसो वै सः' 'रसराज' रूपमें।

ऊपर हम विकासकी जो बात लिख आये हैं उसका तात्पर्य संक्षेपमें यह है कि मनुष्यके अंदर प्रताप, प्रज्ञा और प्रेमकी दिव्य विभूतियाँ छिपी सोयी रहती हैं इन्हें जाग्रत, उद्बुद्ध करना होता है ठीक जैसे पंखेसे हाँककर आग जगायी जाती है। ये शक्तियाँ जितना ही उद्बुद्ध होती जायँगी उतना ही मनुष्य भगवान्के अधिकाधिक निकट आता जायगा—स्वयं भगवत्-स्वरूप हो जायगा। इसी परम लक्ष्य-की शीघ्र प्राप्तिके लिये यह आवश्यक ही नहीं अपितु अनि-वार्य है कि ऊपर बताये हुए कर्म, ज्ञान और भक्तिकी साधना की जाय। एक साथ ही तीनोंको नहीं, अपितु एक-एक कर तीनोंको। प्रथम है कर्मकी साधना वीर प्रकृतिकी परितुष्टिके लिये, दूसरी है ज्ञानकी साधना ऋषिप्रकृतिकी परितुष्टिके लिये और तीसरी है भक्तिकी साधना—संतप्रकृतिकी परितुष्टिके लिये। गीता इसीलिये तीनोंका समन्वय करती है और परिणाम है त्रिवेणी—ज्ञानकी गंगा, प्रेमकी यमुना और कर्मकी सरस्वतीका सम्मेलन, एक परम पावन त्रिवेणी जिसमें डुबकी लगानेमात्रसे ही मनुष्य सदाके लिये निहाल हो जाता है।

गीताके श्रीकृष्ण

(लेखक—सर सी० वाई० चिन्तामणि महोदय)

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धर अर्जुन हैं वहाँ श्री, विजय, वैभव, निश्चय नीति अवश्यमेव निवास करती है—यह मेरा मत है।

'कल्याण'-सम्पादकका आग्रह है कि मैं इस विषयपर कुछ लिखूँ। यह कार्य मेरे लिये जरा कठिन है। मैं सर्वथा कुछ भी जानता ही नहीं, ऐसी बात तो नहीं है; परन्तु अभी मैं इस दिशामें चला ही हूँ। अधिकाधिक जानने और सीखनेकी प्रबल इच्छा भीतर अवश्य है। अपने प्रयत्नमें मैं यत्किञ्चित् सफल भी हुआ हूँ परन्तु अभी यत्किञ्चित् ही। इतना ही-सा ज्ञान लेकर मैं लिखने चला हूँ, इसके लिये मैं अपने विज्ञ पाठकोंसे क्षमा चाहता हूँ।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें लिखनेका अर्थ है स्वयं भगवान्के सम्बन्धमें लिखना। मेरे आलोचक पाठक समझेंगे कि आरम्भमें ही मैं एक विवादास्पद विषयमें अपनी स्पष्ट और दृढ़ सम्मति प्रकट कर रहा हूँ। उनसे मुझे बस एक ही बात कहनी है, केवल एक। मैं इस विवादमें उतरना ही नहीं चाहता कि श्रीकृष्ण मानव थे या साक्षात् भगवान्। मेरी यह मान्यता है और इसको मानकर ही मैं आगे बढ़ सकता हूँ कि संसारकी सारी बातोंके सम्बन्धमें तर्क तथा युक्तियोंका आधार लेना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है; वहाँ तर्क तथा युक्तियोंके विना हमारा काम ही नहीं चल सकता, परन्तु आध्यात्मिक विषयोंमें, धर्मकी बातोंमें 'आप्तवचन' ही हमारा मार्गदर्शक है और वहाँ हमारी तर्कशक्ति काम नहीं दे सकती। स्वयं श्रीकृष्णने इस सम्बन्धमें सन्देह करनेवालोंको कहा है—'संशयात्मा विनश्यति।' कम-से-कम श्रीकृष्णके वचनोंमें तो हमें अविश्वास अथवा संशय नहीं करना चाहिये। श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें—जो मानवमात्रके लिये भगवान्की सबसे बड़ी देन है—भगवान्के सम्बन्धमें जहाँ कहीं भी उल्लेख किया है वहाँ भगवान्के स्थानपर 'अहं' (मैं) शब्दका प्रयोग किया है। उन्होंने अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखलाया। यदि वे हम-आप-जैसे एक मानवमात्र होते तो यह विश्वरूप कैसे दिखलाते? और वे केवल अवतार ही हों ऐसी बात नहीं है—श्रीकृष्ण हैं पूर्णावतार। इसका संक्षेपमें, मेरी समझमें, यही अर्थ है कि वे, पहलेके अवतारोंकी तरह, केवल विष्णु ही नहीं हैं वरं ब्रह्मा और शिवके भी हैं। श्रीकृष्णने इस धराधामपर जितनी लीलाएँ कीं वे इतनी दिव्य एवं अमानव हैं कि भगवान्के सिवा वैसी और कोई कर ही नहीं सकता। केवल गीतामें ही भगवान्के रूपमें श्रीकृष्णका दर्शन हो ऐसी बात नहीं है—महाभारतमें जगह-जगह वेदव्यासजी उन्हें श्रीभगवान् लिखते हैं। जब श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं, तब वे मानवोचित कर्म क्यों करते हैं? इसके लिये गीता, तीसरे अध्यायके २२वें और २३वें श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

इसका भाव यह है कि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है, न कोई वस्तु ही ऐसी है जिसे प्राप्त करना है फिर भी मैं कर्म करता रहता हूँ, पूरी सावधानीके साथ, केवल इसलिये कि यदि मैं कर्म न करूँ तो सारा संसार अकर्मण्य हो जाय।

इस बातको अधिक खुलासा करनेकी कोई जरूरत नहीं है। परन्तु मैं गीताके उन दो सुख्यात श्लोकोंपर पाठकोंका ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट करना चाहता हूँ। वे श्लोक हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

सारांश यह कि जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब मैं (श्रीकृष्ण) प्रकट होता हूँ। किसलिये होते हैं? साधुजनोंकी रक्षा और दुष्टोंके नाशके लिये।

इस प्रकार जो गीताको सत्य मानते हैं, श्रीकृष्णको सत्य मानते हैं वे यह मानेंगे और अवश्य मानेंगे कि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं। इसीलिये मैं आरम्भमें कह आया हूँ कि श्रीकृष्णपर लिखनेका अर्थ है भगवान्के सम्बन्धमें लिखना। मेरा यह निजी अनुभव भले ही न हो परन्तु मेरा विश्वास तो शत-प्रतिशत ऐसा ही है। भगवान्को जान लेनेका अर्थ है दिव्य पूर्णताकी प्राप्ति। मुझ-जैसा तुच्छ मनुष्य ऐसा कहनेका साहस कैसे कर सकता है? ब्रह्मयज्ञमें हमलोग देवों, ऋषियों

और पितरोंको हविष्यादि अन्न तथा उदकादि तर्पणसे सन्तुष्ट करते हैं। इसी प्रकार हमें भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंके अनुसार चलते हुए भगवान्‌को अधिकाधिक जानने-समझने और हृदयङ्गम करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और जबतक हम पूर्णतः पार्थिव आधारसे ऊपर उठ नहीं जाते तबतक श्रीकृष्णको समझ ही कैसे सकते हैं ?

अच्छा, अब गीताके उपदेशोंपर आता हूँ। क्या आज हमारे देश और जातिकी जैसी गयी-बीती हालत है उसमें यह आशा और उन्नतिकी बात न होगी कि हम कम-से-कम दो-एक श्लोक अपने कामके लिये चुन लें और तदनुसार जीवन बितानेकी चेष्टा करें ? उदाहरणके लिये दूसरा, तीसरा और चौथा अध्याय लीजिये। क्या इन अध्यायोंमें श्रीकृष्णकी यह स्पष्ट वाणी नहीं है कि हमारा जो नियत कर्म है उसे हम पूरी सावधानी और मनोयोगके साथ करते जायँ ? क्या ज्ञानकी खोजमें कर्मको छोड़ बैठना उचित और न्यायसङ्गत है ? श्रीकृष्णने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें इसका उत्तर दिया है—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

तुम अपना नियत कर्म करते जाओ; अकर्मकी अपेक्षा कर्म करना श्रेयस्कर है। अकर्मके द्वारा तो तुम अपनी शरीर-यात्रा भी पूरी नहीं कर पाओगे अर्थात् अकर्मण्यताके द्वारा तुम मार्गभ्रष्ट हो जाओगे।

गीतारहस्यकार लोकमान्य श्रीतिलक महाराजने गीताको 'कर्मयोगशास्त्र' कहा है। कुछ लोगोंका यह कथन है कि 'कर्मयोगशास्त्र' सम्पूर्ण गीताका वाचक नहीं है अतएव यह भ्रामक है। ऐसे लोग गीताका ठीक नाम 'मोक्षसाधनशास्त्र' मानते हैं और कहते हैं कि मोक्षके तीन साधन हैं—कर्म, भक्ति और ज्ञान। पूर्वजन्मके संस्कार, झुकाव और रुचिके अनुसार मोक्षके लिये इन तीनोंमें जो साधन जँचे उसे चुन ले। इसलिये, गीताका सर्वश्रेष्ठ और प्रमुख उपदेश यही है कि हर अवस्थामें, हर समय हमें अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये और एक क्षणके लिये भी कर्तव्यसे विमुख नहीं होना चाहिये।

इसके पश्चात् गीता एक ऐसा उपदेश देती है जिसको भुला देनेके कारण ही हमारे देश और जातिकी यह दुर्दशा हुई है और यदि अधिक दिन हम भुलाये रहे तो हमारा विनाश सर्वथा निश्चित है। मेरा अभिप्राय चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकसे है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि······················ ॥

'चारों वर्णोंको मैंने गुण और कर्मके अनुसार रचा है, मैं उनका कर्ता हूँ।' इसे ठीक-ठीक समझ लेनेपर आज जाति-जातिमें जो कलह और झगड़े फैल रहे हैं उनका तुरन्त अन्त हो जायगा। इसको लेकर इतना तूमार बाँधना कहाँतक ठीक है और इसे मिटा देनेका स्वप्न भी कितना झूठा है ?

बस, अब एक बात और लिखकर यह लेख समाप्त कर रहा हूँ। धर्मके आवेशमें आकर सङ्कीर्ण हृदयके लोग भगवद्भक्तोंसे अपनी ही बात मनवानेका दुराग्रह करने लगते हैं, उन्हें यह स्मरण नहीं होता कि गीता ऐसे लोगोंकी भर्त्सना करती है ? नीचेके तीन श्लोक इसके प्रमाण हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

अर्थात् मैं हूँ तो सब भूतोंमें समान व्यापक, न कोई मेरा प्रिय है न अप्रिय, परन्तु जो मुझे प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं मैं उनमें हूँ। अत्यन्त दुराचारी भी यदि मेरा भजन करनेवाला है तो उसे साधु ही मानो क्योंकि मेरे पथमें चलनेका उसने निश्चय कर लिया है। ऐसा पुरुष शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और उसे चिरस्थायी शान्ति मिल जाती है। श्रीकृष्णकी यह प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।

और सबके शिरोमणि तो गीताके ये दो श्लोक हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

श्रीकृष्णका आदेश है—मुझमें ही अपना मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, मेरा पूजन करो, मुझे ही नमस्कार करो, तुम मुझे ही प्राप्त होओगे—इसलिये सब धर्मोंको त्यागकर मेरी शरणमें आ जाओ। तुम शोक मत करो, मैं तुम्हें सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा।

आश्वासनके इन वचनोंके बाद फिर क्या सुनना बाकी रहा ?



गीता

(लेखक—प्रिंसिपल पी० शेषाद्रि, एम्० ए०)

हिन्दूधर्मका दार्शनिक तथा आध्यात्मिक साहित्य इतना समृद्ध और व्यापक है कि धर्मशास्त्रका विद्यार्थी ग्रन्थोंकी विपुलता और विषयकी व्यापकता देखकर थहरा-सा जाता है। वह सोच नहीं सकता कि क्या पढ़ें, क्या न पढ़ें। ऐसी अवस्थामें सहज ही उसके चित्तमें यह लालसा उठती है कि यदि कोई एक ही ऐसा ग्रन्थ होता जिसके अनुशीलनसे हिन्दूधर्मकी तमाम बातें मालूम हो जातीं तो कितना सुन्दर होता! यह बेधड़क और निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि गीता ही एक ऐसा दिव्य ग्रन्थ है जिसमें हिन्दूधर्मके सम्पूर्ण धर्मशास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र, ज्ञान-विज्ञानका अपूर्व सम्मिश्रण है और वस्तुतः बात यही है कि हिन्दूधर्मके हृदयका दर्शन करना हो तो गीताकी गहराईमें जाना होगा, गीतामाताके चरणोंमें प्रणत होना होगा। कारण कि हिन्दूधर्मका सार-रहस्य बतलानेके लिये गीतासे बढ़कर कोई ग्रन्थ है ही नहीं। और कौन कहता है कि गीता केवल हिन्दुओंकी धर्म-पुस्तक है? भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको जो कुछ कहा वह तो मानवमात्रके लिये है, सभी प्राणियोंके लिये है और है समानरूपसे आवश्यक।

हमारे जातीय जीवनमें जो एक प्रकारका कार्पण्य आ गया है उसके मूलमें, यदि ध्यान देकर देखा जाय तो, है गीताके प्रति हमारी उपेक्षा। गीताके उत्साहवर्धक वचनोंका यदि हम आश्रय लिये होते तो आज हमारी जातिकी, हमारे देशकी यह गति नहीं होती। कर्तव्य-निष्ठाका इतना सुन्दर विवेचन विश्वके किसी भी धर्मग्रन्थमें हुआ ही नहीं। गीताके सन्देश तथा आध्यात्मिक प्रवचनमें एक वह जादू है जो किसी भी व्यक्ति और राष्ट्रकी आत्माको जगा सकता है, उसके शरीरमें नवीन प्राण और नूतन चेतनाका उद्बोधन कर सकता है। कर्तव्यबुद्धिसे, शुद्ध मन-चित्तसे अपने नियत कर्तव्यको करते जानेसे बढ़कर कोई आनन्द है ही नहीं। निराशा, दुःख और अवसादकी चपेटमें तो वे आते हैं जो फलकी आशा लगाये रखते हैं। जो बात व्यक्तिके लिये सही है वही राष्ट्रके लिये भी सही है। इतने सुन्दर आदर्शको आचरणमें उतारनेसे बढ़कर भी किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्रके लिये कोई कार्य हो सकता है?

सम्भव है, बहुत सम्भव है, गीताके दार्शनिक पक्षको जनसाधारण न समझ सकें। परन्तु यह तो न भूल जाना चाहिये कि गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय शिष्य अर्जुनको—मोह-विषाद-ग्रस्त अर्जुनको उपदेश किया है और इसलिये वह हम सबके कामकी है। कुरुक्षेत्रकी भूमिमें अर्जुनके सामने जो-जो प्रश्न आये, प्रायः वे ही प्रश्न, वैसी ही कठिनाइयाँ हमारे नित्यके जीवनमें आया करती हैं और प्रेय तथा श्रेयके द्वन्द्वमें, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयमें हमें गीताके अतिरिक्त प्रकाश मिल भी कहाँसे सकता है? ऐसी अवस्थामें तो हमें और भी उसकी शरण लेनी चाहिये।



गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण

हम देखते हैं कि इस ग्रन्थमें श्रीकृष्ण, जो भगवान् विष्णुके पूर्णावतार थे, साक्षात् सामने आकर अपने मोक्षके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। वे भगवान् सर्वत्र एवं सर्वशक्तिसम्पन्न हैं तथा विश्वके शाश्वत नियन्ता भी हैं; जो लोग उनमें श्रद्धा रखकर उनकी उपासना करते हैं, उन्हें वे कृपापूर्वक मुक्तिरूपी फल प्रदान कर देते हैं। वे अर्जुनके सम्मुख मस्तकपर मुकुट धारण किये, हाथोंमें गदा और चक्र लिये, दिव्य-मालाम्बर-विभूषित, मनोमोहक सुगन्धिसे सुवासित, तेजोमय दिव्य शरीरको धारण किये हुए प्रकट होते हैं।

—हेल्मूट फॉन ग्लाज़ेनप्प

गीताके विभिन्न अर्थोंकी सार्थकता

एक बार देवता, मनुष्य और असुर पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके पास शिष्यभावसे शिक्षा प्राप्त करनेको गये और नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। ब्रह्मचर्यव्रत पूरा होनेपर सबसे पहले देवताओंने जाकर प्रजापतिसे कहा—'हे भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उत्तरमें एक ही अक्षर कह दिया 'द'। फिर उनसे पूछा कि 'क्यों, तुमने मेरे उपदेश किये हुए अक्षरका अर्थ समझा कि नहीं?' उन्होंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हम देवताओंके लोकोंमें भोगोंकी भरमार है। भोग ही देवलोकका प्रधान सुख माना गया है। कभी वृद्ध न होकर हम देवगण सदा इन्द्रियोंके भोगोंमें ही लगे रहते हैं। हमारे विलासमय जीवनपर ध्यान देकर हमें सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये) आपने कहा है—'तुम लोग इन्द्रियोंका दमन करो।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा। तुमसे मैंने यही कहा था।'

फिर मनुष्योंने प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन्! हमें उपदेश दीजिये।' प्रजापतिने उनको भी वही 'द' अक्षर सुना दिया। तदनन्तर पूछा कि 'तुम लोग मेरे उपदेशको समझ गये न?' संग्रहप्रिय मनुष्योंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हमलोग कर्मयोनि होनेके कारण लोभवश नित्य-निरन्तर कर्म करने और अर्थसंग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं। हमारी स्थितिपर सम्यक् विचार करके हमलोगोंके कल्याणके लिये) आपने हम लोभियोंको यही उपदेश दिया है कि तुम दान करो।' यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न होकर बोले—'हाँ मेरे कहनेका यही भाव था, तुम लोग ठीक समझे।'

इसके पश्चात् असुरोंने प्रजापतिके पास जाकर प्रार्थना की—'भगवन्! हमें उपदेश दीजिये।' प्रजापतिने उनसे भी कह दिया 'द'। फिर पूछा कि 'मेरे उपदेशका अर्थ समझे या नहीं?' असुरोंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हम लोग स्वभावसे ही अत्यन्त क्रूर और हिंसापरायण हैं। क्रोध और मार-काट हमारा नित्यका काम है। हमें इस पापसे छुड़ाकर सन्मार्गपर लानेके लिये) आपने कहा है—तुम प्राणिमात्रपर दया करो।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा। मैंने तुम लोगोंको यही उपदेश दिया है।'

'द' अक्षर एक ही है परन्तु अधिकारि-भेदसे ब्रह्माजीने इसका उपदेश विभिन्न तीन अर्थोंको मनमें रखकर किया। और ऐसा करना ही सर्वथा उपयुक्त था। यही तो भगवद्वाणी-की महिमा है। वह एक ही प्रकारकी होनेपर भी सर्वतोमुखी और विश्वके समस्त विभिन्न अधिकारियोंको उनके अपने-अपने अधिकारके अनुसार विभिन्न मार्ग दिखलाती है। सबका लक्ष्य एक ही है—परम धाममें पहुँचा देना अथवा भगवत्-प्राप्ति करवा देना।

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्के श्रीमुखकी वाणी है। इसीलिये वह सर्वशास्त्रमयी है और किसी भी दिशा और दशामें पड़े हुए प्राणीको ठीक उपयुक्त मार्गपर लाकर अच्छी स्थितिमें परिवर्तित कर कल्याणकी ओर लगा देती है। भिन्न-भिन्न रुचि और अधिकार रखनेवाले मनुष्योंको उनकी रुचि और अधिकारके अनुसार ही कर्तव्य-कर्ममें प्रवृत्त कर भगवान्-की ओर गति करा देती है। यही कारण है कि शुद्ध अन्तः-करणवाले महापुरुषोंने भी गीताको भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखा है और उसके अर्थको भी विभिन्न रूपोंमें समझा है। यह भगवान्की वाणीका महत्त्व और विशेषत्व है कि वह 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभुमूरति तिन देखी तैसी' के अनुसार विभिन्न अर्थोंमें आत्मप्रकाश कर सबको कल्याणके दर्शन करा देती है। अतएव गीताके अर्थोंमें विभिन्नता देखकर किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

गीताके अनुभवी प्रातःस्मरणीय आचार्यों और महात्माओं-ने भी इसी दृष्टिसे लोकोपकारार्थ गीतापर भाष्य और टीकाओंकी रचना की है। उनमें परस्पर विरोध देखकर एक-दूसरेको नीचा समझनेकी या किसीकी निन्दा करनेकी जरा भी रुचि और प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। उन महापुरुषोंने जो कुछ भी कहा है, अपने-अपने अनुभवके अनुसार हमलोगोंके कल्याणार्थ सर्वथा सत्य और समीचीन ही कहा है। जिसकी जिसमें रुचि और श्रद्धा हो उसको आदर और विश्वासके साथ उसीका अनुसरण करना चाहिये। प्राप्तव्य सत्य वस्तु या भगवान् एक ही हैं, मार्ग भिन्न-भिन्न हैं और उनका भिन्न-भिन्न होना सर्वथा सार्थक और आवश्यक है। पुष्पदन्ताचार्यने ठीक ही कहा है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

'जिस प्रकार सभी नदियोंका जल अन्ततः समुद्रमें ही

जाता है, उसी प्रकार रुचिकी विभिन्नताके कारण सीधे और टेढ़े—नाना मार्गोंपर चलनेवाले सभी मनुष्योंके ध्येय-गन्तव्य-स्थान आप ही हैं।'

गीतापर विभिन्न भाषाओंमें सैकड़ों भाष्य, टीका, अनुवाद, निबन्ध और प्रवचन लिखे जा चुके और लिखे जा रहे हैं। इनमें जो दैवीसम्पत्तियुक्त भगवत्परायण शुद्धान्तःकरण तथा विवेक-वैराग्यसम्पन्न साधकों और भगवत्प्राप्त महापुरुषोंद्वारा लिखे गये हैं वे चाहे किसी भी भाषामें हों, सभी परस्पर मतभेद रखते हुए भी भगवद्वाणीकी दृष्टिसे सर्वथा यथार्थ और सम्मान्य तथा मनन करने योग्य हैं। इन महानुभाव भाष्य और टीका-लेखकोंका ही अनुग्रह है जिससे आज लोग गीताको किसी-न-किसी अंशमें समझनेमें समर्थ हो रहे हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाष्य और टीकाएँ संस्कृत भाषामें हैं। भगवान् शङ्कराचार्यसे पूर्ववर्ती आचार्यों और विद्वानोंके भाष्य इस समय उपलब्ध नहीं हैं परन्तु मालूम होता है कि गीतापर आचार्य शङ्करसे पूर्व भी बहुत कुछ लिखा गया था। इस समय प्राप्त भाष्यों और टीकाओंमें कुछ तो खास आचार्योंके स्वयं लिखे हुए हैं और कुछ उनके अनुयायी विद्वानोंके। यों तो अनेकों सम्मान्य मतवाद हैं परन्तु उनमें जिनके अनुसार गीतापर भाष्य और टीकाएँ लिखी गयी हैं वे प्रधानतया निम्नलिखित छः ही हैं।

१ श्रीशङ्कराचार्यका अद्वैतवाद।
२ श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद।
३ श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद।
४ श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवाद।
५ श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवाद। और
६ श्रीचैतन्यमहाप्रभुका अचिन्त्यभेदाभेदवाद।

उपर्युक्त वादोंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१—अद्वैतवाद—

सिद्धान्त—इसमें सम्पूर्ण प्रपञ्चको दो प्रधान भागोंमें विभक्त किया गया है—द्रष्टा और दृश्य। एक वह नित्य और चेतन तत्त्व जो सम्पूर्ण प्रतीतियोंका अनुभव करता है और दूसरा वह जो अनुभवका विषय है। इनमें समस्त प्रतीतियोंके द्रष्टाका नाम 'आत्मा' है और उसका जो कुछ विषय है वह सब 'अनात्मा' है। यह आत्मतत्त्व सत्, नित्य, निरञ्जन, निश्चल, निर्गुण, निर्विकार, निराकार, असङ्ग, कूटस्थ, एक और सनातन है। बुद्धिसे लेकर स्थूल भूतपर्यन्त जितना भी प्रपञ्च है उसका वस्तुतः आत्मासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें वह असत् है, अविद्याके कारण ही जीव असत् देह और इन्द्रियादिके साथ अपना तादात्म्य स्वीकार करके अपनेको देव-मनुष्य, ब्राह्मण-शूद्र, मूर्ख-विद्वान्, सुखी-दुःखी और कर्ता-भोक्ता आदि मानता है। बुद्धिके साथ जो आत्माका यह तादात्म्य है, इसीका नाम 'अध्यास' है। अविद्याजनित इस अध्यासके कारण ही सम्पूर्ण प्रपञ्चमें सत्यत्वकी प्रतीति हो रही है। मायाके कारण ही इस दृश्यवर्गकी सत्ता और विभिन्नता है वस्तुतः तो एक अखण्ड, शुद्ध-बुद्ध, नित्यनिरञ्जन, विज्ञानानन्दघन, चिन्मात्र आत्मतत्त्व ही है। इसीको 'अध्यासवाद', 'विवर्तवाद' या 'मायावाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—सम्पूर्ण पृथक्-पृथक् प्रतीतियोंमें एक अखण्ड, नित्य शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्दघन आत्मतत्त्वका अनुभव करना ही ज्ञान है और सबके अधिष्ठान तथा सबको सत्ता देनेवाले इस एक अखण्ड आत्मतत्त्वपर दृष्टि न रखकर भेदमें सत्यत्व-बुद्धि करना ही अज्ञान है। जैसे भाँति-भाँतिके मिट्टीके बर्तन वस्तुतः केवल मिट्टी ही हैं, सोनेके विविध प्रकारके गहने सब सोना ही हैं, स्वप्नका विचित्र संसार सब स्वप्नद्रष्टा ही है और जलमें दिखायी पड़नेवाले भँवर और तरङ्गें सब जल ही हैं; वैसे ही विभिन्न रूपोंमें दीखनेवाला यह जगत् केवल शुद्ध-बुद्ध एकमात्र ब्रह्म ही है और वही अपना आत्मा है। इस प्रकारका यथार्थ बोध ही ज्ञान है। इस बोधके होते ही जगत्का अत्यन्ताभाव हो जाता है और सम्यक् बोधके कारण अविद्याके अध्यासका सर्वथा अभाव होनेसे जीव जीवभावसे मुक्त होकर दूसरोंकी दृष्टिमें शरीरके बने रहनेपर भी जीवन्मुक्त हो जाता है। यही ज्ञान है। जबतक जीव इस ज्ञानको प्राप्त नहीं होता तबतक उसकी अविद्याकी गाँठें नहीं खुलतीं और वह आवागमनमय मिथ्या प्रपञ्चजालसे मुक्त नहीं होता।

साधन—श्रवण, मनन, निदिध्यासन इस ज्ञानके साक्षात् साधन हैं। आत्मतत्त्वको जाननेकी दृढ़ जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर ही ये साधन किये जा सकते हैं। और ऐसी जिज्ञासा अन्तःकरणकी सम्यक् शुद्धि हुए बिना उदय नहीं होती। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये वर्णाश्रमानुकूल कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करना और भगवान्की भक्ति करना आवश्यक है। ऐसा करनेपर मनुष्य विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व प्राप्त करता है। तब उसमें जिज्ञासाकी उत्पत्ति होती है। सच्चे जिज्ञासु और बोधसम्पन्न ज्ञानी दोनोंके लिये ही स्वरूपतः 'सर्वकर्म-

संन्यासकी आवश्यकता है। चित्तशुद्धिके अनन्तर कर्मसंन्यास-पूर्वक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे ही आत्म-तत्त्वका सम्यक् बोध और जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

२—विशिष्टाद्वैत

सिद्धान्त—ब्रह्म एक है और उसमें तीन वस्तुएँ हैं। अचित् अर्थात् जड प्रकृति, चित् अर्थात् चेतन आत्मा और ईश्वर। स्थूल, सूक्ष्म, चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। ये सगुण और सविशेष हैं। ब्रह्मकी शक्ति माया है। सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्माराध्यत्व, सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, चिदचिच्छरीरत्व और समस्त द्रव्यशरीरत्व आदि उनके लक्षण हैं। ईश्वर सृष्टिकर्ता, नियन्ता और सर्वान्तर्यामी हैं और अशेष कल्याणमय गुणोंके धाम हैं। अपार कारुण्य, सौन्दर्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य और ऐश्वर्यके महान् समुद्र हैं। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतारके भेदसे वे पाँच प्रकारके हैं। शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री, भू और लीलासमन्वित हैं।

जगत् और जीव ब्रह्मके शरीर हैं। जगत् जड है। ब्रह्म ही जगत्के उपादान और निमित्त कारण हैं और वे ही जगत्‌रूपमें परिणत हुए हैं। फिर भी वे विकाररहित हैं। जीव चेतन है और अणु है। ब्रह्म और जीवमें सजातीय-विजातीय भेद नहीं है, स्वगत भेद है। ब्रह्म पूर्ण है, जीव अपूर्ण है। ब्रह्म ईश्वर हैं, जीव दास है। ईश्वर कारण हैं, जीव कार्य है। ईश्वर और जीव दोनों स्वयंप्रकाश हैं, ज्ञानाश्रय और आत्म-स्वरूप हैं। जीव नित्य है और उसका स्वरूप भी नित्य है। प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न जीव है। जीव स्वभावतः दुःख-रहित है। उपाधिवश संसारके भोगोंको प्राप्त होता है। जीवके कई भेद हैं। इसीको 'परिणामवाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—भगवान्‌के दासत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। परम धाम वैकुण्ठमें श्री, भू, लीला महादेवियोंके साथ नारायणकी सेवाको प्राप्त कर लेना ही परम पुरुषार्थ है। पाञ्चभौतिक देहसे छूटकर अप्राकृत शरीरसे नारायणका सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है। भगवान्‌के साथ जीवका अभिन्नत्व कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जीव स्वरूपतः नित्य है; और नित्य दास तथा नित्य अणु है। वह कभी विभु नहीं हो सकता। मुक्त जीव वैकुण्ठ धाममें अशेष कल्याण-गुणनिधि भगवान्‌के नित्य दासत्वको प्राप्त होकर दिव्य आनन्दका अनुभव करते हैं।

साधन—मुक्तिका साधन ज्ञान नहीं किन्तु भक्ति है। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। भक्तिके द्वारा प्रसन्न होकर जब भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं तभी मुक्ति होती है। भक्तिका सर्वोत्तम स्वरूप प्रपत्ति या आत्मसमर्पण है। वैकुण्ठनाथ, विभु, श्रीमन्नारायणके चरणोंमें आत्म-समर्पण कर देनेपर ही जीवको परम शान्तिकी प्राप्ति होती है।

३—द्वैतवाद

सिद्धान्त—भगवान् श्रीविष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। वे सगुण और सविशेष हैं। वे ही स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। जीव और ईश्वर दोनों ही सच्चिदानन्दात्मक हैं। ईश्वर सर्वज्ञ हैं और अनन्त दिव्य कल्याणगुणोंके आश्रय हैं। वे देश और कालसे परिच्छिन्न नहीं हैं। असीम अनन्त हैं और स्वतन्त्र हैं। जीव अणु है, भगवान्‌का दास है और अनादिकालसे मायामोहित, बद्ध तथा सर्वथा अस्वतन्त्र है। वह अज्ञत्वादि नाना धर्मोंका आश्रय है। जगत् सत्य है और भेद वास्तविक है। इस भेदके भी पाँच अवान्तर भेद हैं। १–जीव-ईश्वरका भेद, २–जीव-जडका भेद, ३–ईश्वर-जडका भेद, ४–जीवोंका परस्पर भेद और ५–जडोंका परस्पर भेद। ये सभी भेद वास्तविक हैं, इनमें कोई औपचारिक नहीं है। सब जीव ईश्वरके अधीन हैं। जीवोंमें भी तारतम्य है। जगत् सत्, जड और अस्वतन्त्र है, भगवान् जगत्के नियामक हैं। इसको 'स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद' भी कहते हैं।

मुक्ति–जीवन्मुक्ति या निर्वाणमुक्ति मुक्ति नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म सब वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होनेपर अर्थात् ईश्वरसे जीव पूर्णरूपसे पृथक् है, इसे यथार्थरूपसे जानकर ईश्वरके गुणोंकी उपलब्धि उनके अनन्त असीम सामर्थ्य शक्ति और गुणोंका बोध होनेपर ही भगवान्‌के दिव्य लोक और स्वरूपकी प्राप्ति होती है। यही मुक्ति है। मुक्त जीव भी ईश्वरका नित्य सेवक ही रहता है।

साधन–भक्ति ही मुक्तिका प्रधान साधन है। वेदाध्ययन, इन्द्रियसंयम, विलासिताका त्याग, आशा और भयका अभाव, भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण, सत्य-हित-प्रियवचन बोलना और स्वाध्याय करना, दान देना, विपत्तिमें पड़े हुए जीवकी

रक्षा करना, शरणागतको बचाना, दया, भगवान्का दासत्व प्राप्त करनेकी इच्छा और हरि, गुरु तथा शास्त्रमें श्रद्धा, इन सबको भगवान्के समर्पण करके करते रहना ही भक्ति है।

४—द्वैताद्वैतवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म सर्वशक्तिमान् हैं। निर्विकार और निर्गुण हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन और संहार ब्रह्मसे ही होता है। ब्रह्म ही इस ब्रह्माण्डके निमित्त और उपादान कारण हैं। ब्रह्मसत्ताकी चार अवस्थाएँ हैं—१-मूल अवस्था अव्यक्त, निर्विकार, देश-कालादिसे अनवच्छिन्न और अचिन्त्यानन्त-स्वगत-सौख्यसिन्धुमय है। २-दूसरी अवस्था जगदीश्वरकी है। इसमें ईश्वरत्वके साथ सम्पूर्ण विश्वका भान है। ३-तीसरी अवस्था रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शकी यथाक्रम व्यष्टिगत अनुभूतिकी है। इसीका नाम जीव है। जीव दो प्रकारके होते हैं—एक जो इन व्यष्टिगत रूपादिको ब्रह्मसे अपृथक् अनुभव करते हैं और जो अविद्यासे मुक्त हैं। दूसरे जो इन व्यष्टिगत रूपादिका अनुभव करते हैं परन्तु इनके आश्रय-स्वरूप विभु आत्माको नहीं जानते इस कारण जो बद्ध हैं। ४-चौथी अवस्था वह है जिसमें ब्रह्म विश्वके रूपमें व्यक्त होता है। ब्रह्मको छोड़कर इस विश्वकी कोई सत्ता नहीं है। ब्रह्म दृश्य-अदृश्य, अणु-विभु, सगुण-निर्गुण सभी कुछ हैं परन्तु उनकी पूर्ण आनन्दसुधासिन्धुमयी, सनातनस्वरूप सत्ता सदा-सर्वदा और सर्वत्र एकरस है।

जीव ब्रह्मका अंश है, ब्रह्म अंशी हैं। ब्रह्म ही जगत्‌रूपमें परिणत हुए हैं। जगत्‌रूपमें परिणत होने तथा जगत्के ब्रह्ममें लीन होनेपर भी उनमें कोई विकार नहीं होता। जीव अणु और अल्पज्ञ है। मुक्त जीव भी अणु ही है। मुक्त और बद्धमें यही भेद है कि मुक्त जीव ब्रह्मके साथ अपने और जगत्के अभिन्नत्वका अनुभव करता है और बद्ध जीव ऐसा नहीं करता।

मुक्ति—भगवान् वासुदेव ही वे ब्रह्म हैं और उनकी प्रसन्नता तथा उनके दर्शन प्राप्त करके परमानन्दको प्राप्त हो जाना ही मुक्ति है।

साधन—भक्ति ही मुक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन है। भगवान्के नाम-गुणोंका चिन्तन, उनके स्वरूपका ध्यान और भगवान्की युगलमूर्तिकी उपासना करना भक्ति है।

५—शुद्धाद्वैतवाद

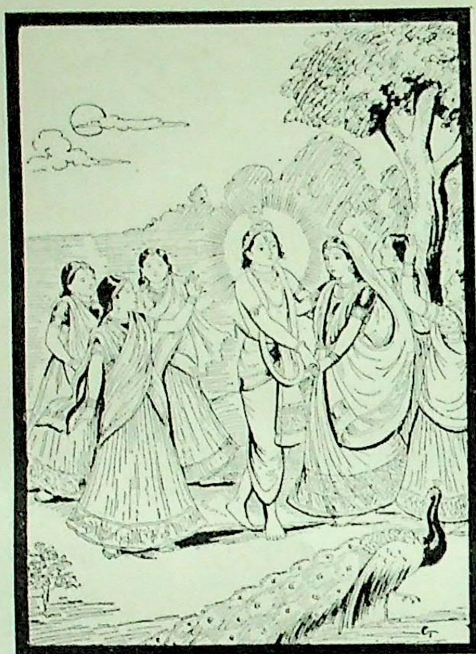
सिद्धान्त—ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। वे परम शुद्ध हैं। उनमें माया आदि नहीं है। वे निर्गुण और प्राकृतिक गुणोंसे अतीत हैं। उनकी शक्ति अनन्त और अचिन्त्य है। वे सब कुछ बन सकते हैं। अतएव उनमें विरुद्ध धर्मों और विरुद्ध वाक्योंका युगपत् समावेश है और गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण ही वे ब्रह्म हैं। वे ही जीवके सेव्य हैं। जीव ब्रह्मका अंश और अणु है। वह भी शुद्ध है। चैतन्य जीवका गुण है। जगत्का आविर्भाव भगवान्की इच्छासे हुआ है और उनकी इच्छासे इसका तिरोधान होता है। वे लीलासे ही जगत्के रूपमें परिणत हुए हैं। वे ही जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं। जगत् मायिक नहीं है, परन्तु भगवान्का अविकृत परिणाम है, भगवान्से अभिन्न है। आविर्भाव और तिरोभाव होनेपर भी जगत् सत्य है। तिरोभावकालमें वह कारणरूपसे और आविर्भावकालमें कार्यरूपसे स्थित रहता है।

मुक्ति—भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति ही मुक्ति है। शुद्ध जीव समस्त जगत्को कृष्णमय देखकर श्रीकृष्णके प्रेममें, जैसे पत्नी पतिकी सेवा करके आनन्दको प्राप्त होती है, वैसे ही स्वामीरूपमें श्रीकृष्णकी सेवा करके वह परमानन्दरसमें तन्मय रहता है।

साधन—भगवत्कृपासे प्राप्त भक्ति ही मुक्तिका साधन है। भगवान्का अनुग्रह ही पुष्टि है और पुष्टिसे जिस भक्तिका उदय होता है वही पुष्टिभक्ति है। यह पुष्टिभक्ति मर्यादा-भक्तिसे अत्यन्त विलक्षण है। इस भक्तिके साथ भगवान्की सर्वात्मभावसे सेवा करना ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन है।

६—अचिन्त्यभेदाभेदवाद

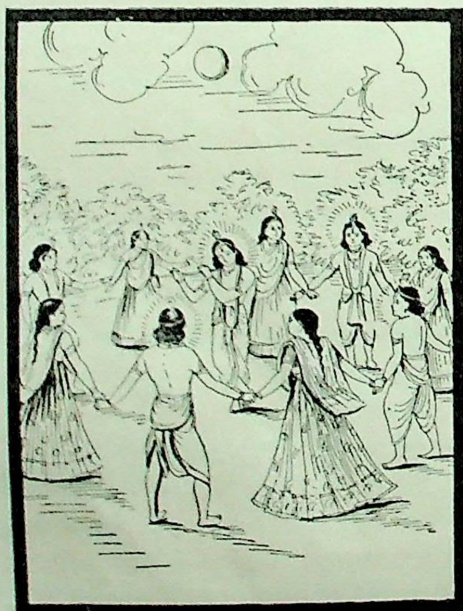
सिद्धान्त—ब्रह्म निर्गुण हैं अर्थात् अप्राकृत गुण-सम्पन्न हैं। उनकी शक्ति संवित्, सन्धिनी और ह्लादिनी हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता और विज्ञानस्वरूप हैं। जीव अणु और चेतन है। ईश्वरकी विमुखता ही उसके बन्धनका कारण है। ईश्वरके सम्मुख होनेपर उसके बन्धन कट जाते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल—ये चार पदार्थ नित्य हैं तथा जीव, प्रकृति और काल ईश्वरके अधीन हैं। जीव ईश्वरकी शक्ति है। जीव और ब्रह्म, गुण और गुणीभावसे अभिन्न और भिन्न दोनों ही हैं। जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न है, वे इसके निमित्त और उपादान कारण हैं। वे ही



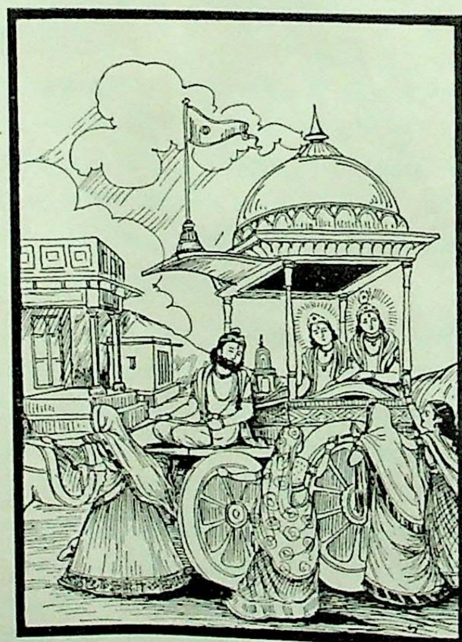
रासमण्डलमें



रासमण्डलमें आविर्भाव



रासलीला



मथुराको प्रस्थान

अपनी अविचिन्त्य शक्तिसे जगत्‌के रूपमें परिणत होते हैं। जगत् सत् है, परन्तु अनित्य है।

मुक्ति—भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है, भगवद्धामको प्राप्त हुए जीवका पुनरागमन नहीं होता। न तो भगवान् ही मुक्त जीवको अपने लोकसे गिराना चाहते हैं और न मुक्त पुरुष ही कभी भगवान्‌को छोड़ना चाहते हैं। वे नित्य उनकी सेवाका परमानन्द प्राप्त करते रहते हैं।

साधन—भक्ति ही प्रधान साधन है। ज्ञान-वैराग्य उसके सहकारी साधन हैं। ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके विना भगवत्प्राप्ति नहीं होती। भक्ति ह्लादिनी और संवित् शक्तिकी सारभूता है। भक्तिकी तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम। सामान्य भक्तिका नाम साधन-भक्ति है, यह जीवके हृदयस्थ प्रेमको उद्‌बुद्ध करती है, इसीसे उसका नाम साधन-भक्ति है। शुद्ध सत्त्वरूपा चित्तमें प्रेम-सूर्यका उदय करानेवाली विशेष भक्तिका नाम 'भाव' है। भाव प्रेमकी प्रथमावस्था है। जब भाव घनीभूत होता है, तब उसे 'प्रेम' कहते हैं। 'मधुर भक्ति' की पराकाष्ठा ही इस प्रेमका सार है। यह प्रेम ही परम पुरुषार्थ है।

गीताके संस्कृत भाष्य और टीकाओंमें अधिकांश इन्हीं छः मतोंमेंसे किसी मतका आश्रय लेकर उसीके समर्थनमें रचे गये हैं। ये छहों मत ऐसे महान् पुरुषोंके द्वारा प्रवर्तित हैं कि उनमेंसे किसीको भी भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। सभी भगवत्तत्त्वके ज्ञाता महापुरुष माने जाते हैं। अतएव इनमें दीखनेवाले मतभेदको भगवद्वाणीका चमत्कार मानकर सभीको शुद्ध हृदयसे इन्हें नमस्कार करना चाहिये और अपने-अपने अधिकारके अनुसार यथारुचि अपने लाभकी बात सभीमेंसे ले लेनी चाहिये।

पुरुषोत्तम-तत्त्व

(लेखक—एक भावुक)

विचार करनेपर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीमद्भगवद्‌गीताका प्रधान प्रतिपाद्य साध्यतत्त्व 'पुरुषोत्तम' है। और उसके प्राप्त करनेका प्रधान साधन भगवान्‌की 'अनन्य-शरणागति' या 'पूर्ण समर्पण' है। इसी परमतत्त्वके विवेचनमें प्रसङ्गानुसार गीतामें विविध अवान्तर तत्त्वोंकी और साधनोंकी आलोचना हुई है। जिस प्रकृति और पुरुषके संयोगसे भगवान् अपनेको अनन्त ब्रह्माण्डरूपमें प्रकाशित किये हुए हैं वे 'प्रकृति-पुरुष' तत्त्व गीताके अनुसार भगवान्‌की अपनी ही 'अपरा' और 'परा' नामक दो प्रकृतियाँ हैं (गीता ७।४, ५)। 'अपरा' जड है और 'परा' चेतन है। इस चेतन परा प्रकृतिके द्वारा ही समस्त जगत् विधृत है। भगवान्‌की यह चेतन प्रकृति उनकी स्वरूपभूता महाशक्तिका ही अंश है।

तेरहवें अध्यायमें जिन प्रकृति-पुरुषका विवेचन है, वे प्रकृति-पुरुष यह अपरा और परा प्रकृति ही हैं। परन्तु यह गीतोक्त पुरुष सांख्यका 'नाना पुरुष' नहीं है। यह भगवान्‌की जीवभूता चेतन प्रकृति है जो लीलासे अनन्त जीवोंके रूपमें प्रतिभात होती है।

सांख्य इन दोनों तत्त्वोंको मूलतः पूर्णरूपसे पृथक् और उनके अविवेककृत संयोगके परिणामस्वरूप अनन्त विचित्र गुण-क्रियादियुक्त व्यक्त जगत्‌का उदय मानता है। सांख्यका सिद्धान्त है—पुरुष निर्विकार, निष्क्रिय, गुणातीत और चित्-स्वरूप है; प्रकृति विकारशील, परिणामिनी, क्रियावती और त्रिगुणमयी है। पुरुष और प्रकृति दोनों सर्वथा विपरीत धर्म-वाले दो पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। इनमें गुणमयी प्रकृति मूल-उपादान कारण है। उसीके परिणामसे जगत्‌के समस्त पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु पुरुषके संयोग विना प्रकृतिमें परिणाम नहीं होता और परिणाम हुए विना जगत्‌की उत्पत्ति नहीं होती। व्यक्त जगत्‌में प्रकृतिका धर्म पुरुषपर और पुरुषका धर्म प्रकृतिपर आरोपित होता है। मूलतः दोनों पूर्णरूपसे पृथक् हैं। उनका संयोग अविवेकमूलक है और अनादिकालसे है। तत्त्व-विमर्शके द्वारा इनके पार्थक्यका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर यह संयोग टूट जाता है, परन्तु इससे जगत् मिट नहीं जाता। जिस पुरुषविशेषकी बुद्धिमें इस पार्थक्यकी यथार्थ अनुभूति होती है उसके लिये जगत् नहीं रहता। वह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धरहित होकर अपने नित्य शुद्ध-स्वरूपमें स्थित हो जाता है। यही मुक्ति है। अवशेष समस्त पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धयुक्त ही बने रहते हैं। इस प्रकार सांख्यदर्शन पुरुषोंकी अनन्तताका प्रतिपादन करता है।

वेदान्तका प्रचलित सिद्धान्त सांख्यकी इस तत्त्वविवेचना-

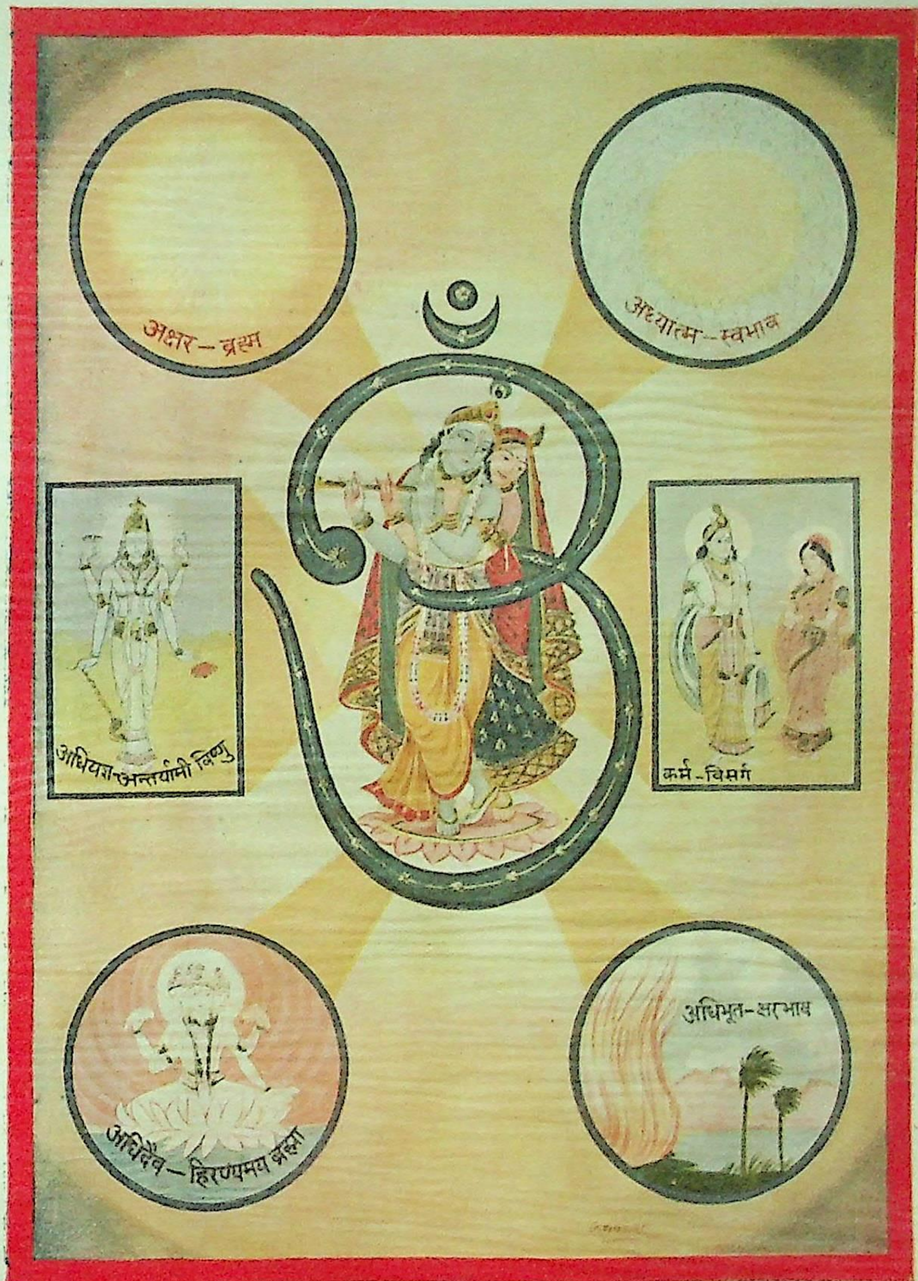
को स्वीकार करता है परन्तु परमार्थतः नहीं। परमार्थकी स्थितिमें वह ब्रह्मके अतिरिक्त किसीका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। रज्जुमें सर्पकी भाँति समस्त विश्वको और विश्वकी सारी कर्मधाराको वह मिथ्या, अविद्यासम्भूत और विना हुए ही प्रतिभास होनेवाली बतलाता है। वेदान्त तीन सत्ता मानता है—१ पारमार्थिक, २ व्यावहारिक और ३ प्रातिभासिक। पारमार्थिक सत्तामें अर्थात् वास्तवमें एक ब्रह्म ही है। अन्य सबका अत्यन्ताभाव है। ब्रह्म मन-वाणीसे अतीत है। मायासे ब्रह्ममें स्पन्दन माना जाता है, इस स्पन्दनके उत्पन्न होनेपर व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताका आविर्भाव होता है। जाग्रत्‌में व्यावहारिक सत्ता और स्वप्नमें प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है। व्यावहारिक सत्तामें छः पदार्थ हैं—ब्रह्म, ईश्वर, जीव, तीनोंका परस्पर भेद, अविद्या और अविद्याके साथ जीवका सम्बन्ध। व्यावहारिक सत्तामें ये सभी अनादि हैं। इनमें पाँच अनादि-सान्त हैं। एक ब्रह्म ही अनादि अनन्त है। जीव और ब्रह्ममें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। सारा भेद उपाधिकृत है। अविद्याकी उपाधिवाला जीव, मायाकी उपाधिवाला ईश्वर और इन दोनोंसे सर्वथा रहित ब्रह्म है। उपाधि अज्ञानमें है। व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता भी अज्ञानमें ही हैं।

परन्तु गीता इन दोनोंसे विलक्षण कुछ नयी बात कहती है। गीताके सिद्धान्तके अनुसार जगत्‌की उत्पत्ति पुरुष-प्रकृतिके संयोगसे हुई है, यह सत्य है परन्तु गीताका वह पुरुष भगवान्‌की ही एक प्रकृति है और वह एक ही है। साथ ही ये ही (दोनों प्रकृति और पुरुष ही) परम तत्त्व भी नहीं हैं। इन दोनोंसे परे एक मूल तत्त्व और है और ये दोनों उसी तत्त्वके द्विविध प्रकाशमात्र हैं। इसीके साथ-साथ गीता स्पष्टरूपसे कहीं यह भी नहीं कहती कि 'यह जगत् रज्जुमें सर्पकी भाँति सर्वथा अविद्याकृत है और विना हुए ही भास रहा है। और अविद्या तथा मायाकी उपाधिसे जीव, ईश्वर तथा ब्रह्ममें व्यावहारिक भेद है।' भगवान् विश्वको अपने सकाशसे अपनी अध्यक्षतामें अपनी ही प्रकृतिके द्वारा प्रादुर्भूत बतलाते हैं और अपने उसमें नित्य व्याप्त रहनेकी घोषणा करते हैं। यह नित्य परिवर्तनशील, अनन्त विचित्र शक्तियों और पदार्थोंसे और उनके संयोग-वियोग एवं प्रकाश-तिरोधानसे युक्त समस्त जगत् लीलामय भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। जड अपरा प्रकृतिमें भगवान्‌का अक्षर और चिद्भाव पूर्णतः आवृत है और परा चेतन प्रकृतिमें वह निर्विकार, अक्षर, असङ्ग और प्रकाशशील चित्स्वभाव पूर्णतया सुरक्षित है तथा भगवान्‌की स्वरूपभूता शक्तिके अंशरूप इसी चेतन परा प्रकृतिकी सत्ता और शक्तिद्वारा यह समस्त जगत् विधृत है। अर्थात् जगत् नहीं है ऐसा नहीं, जगत् है और वह भगवान्‌से भरा हुआ है। भगवान्‌का नित्य लीलाक्षेत्र है। अवश्य ही जो भगवान्‌को भूलकर, भगवान्‌को न मानकर केवल जगत्‌को देखते हैं, उनके लिये यह जगत् अत्यन्त भयङ्कर और दुःखमय है।

परन्तु गीतोक्त 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' केवल इस विश्वमें व्याप्त है, इतनी ही बात नहीं है, वह विश्वसे परे भी है। विश्व तो उसके ऐश्वर्ययोगके एक अंशमात्रमें है। वह अनन्त है, असीम है, अनिर्वचनीय है, अचिन्त्य है और नित्य अपनी महिमामें स्थित है। इस समस्त जगत्‌के अंदर और जगत्‌से परे जो सब तत्त्व हैं, वे समस्त तत्त्व इस पुरुषोत्तमकी ही अभिव्यक्ति हैं। सम्पूर्ण तत्त्वोंमें सर्वापेक्षा श्रेष्ठ, निर्लेप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चरम तत्त्व है—अक्षर ब्रह्म। गीतामें भगवान् पुरुषोत्तम स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उस 'ब्रह्म'-की प्रतिष्ठा भी मैं ही हूँ (१४।२७)। आठवें अध्यायमें जिन छः तत्त्वोंका भगवान्‌ने विवेचन किया है और सातवें अध्यायके अन्तमें अपने समग्ररूपका प्रतिपादन करते हुए जिन तत्त्वोंके सहित अपनेको जाननेकी बात कही है, उन तत्त्वोंमें भी स्पष्टतः 'अक्षर ब्रह्म'का नाम आया है। भगवान्‌ने बतलाया है कि १—परम अक्षर 'ब्रह्म' है, २—मेरी अपरा प्रकृतिके साथ संलग्न निर्विकार परा प्रकृतिरूप जो मेरा भाव है वह 'अध्यात्म' है, ३—अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप मेरा क्षरभाव ही 'अधिभूत' है, ४—भूतोंका उद्भव और अभ्युदय—पुरुषद्वारा प्रकृतिके ईक्षणरूप अथवा संकल्परूप जिस विसर्गसे होता है वही 'कर्म' है, ५—विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यमय पुरुष ही 'अधिदैव' है, इसीको ब्रह्मा कहते हैं और ६—शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित विष्णुरूप मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ। तथा अन्तकालमें भी जो पुरुष मेरे इस समग्रस्वरूपका स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है वह मेरे ही भावको प्राप्त होता है (गीता ८। ३, ४, ५)।

गीताके 'अहं', 'मम', 'माम्', 'मे', 'मयि' आदि अस्मत् पदोंसे और पूर्वापरका सारा विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही गीताके पुरुषोत्तम-

पुरुषोत्तम-तत्त्व



ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (१४। २७)

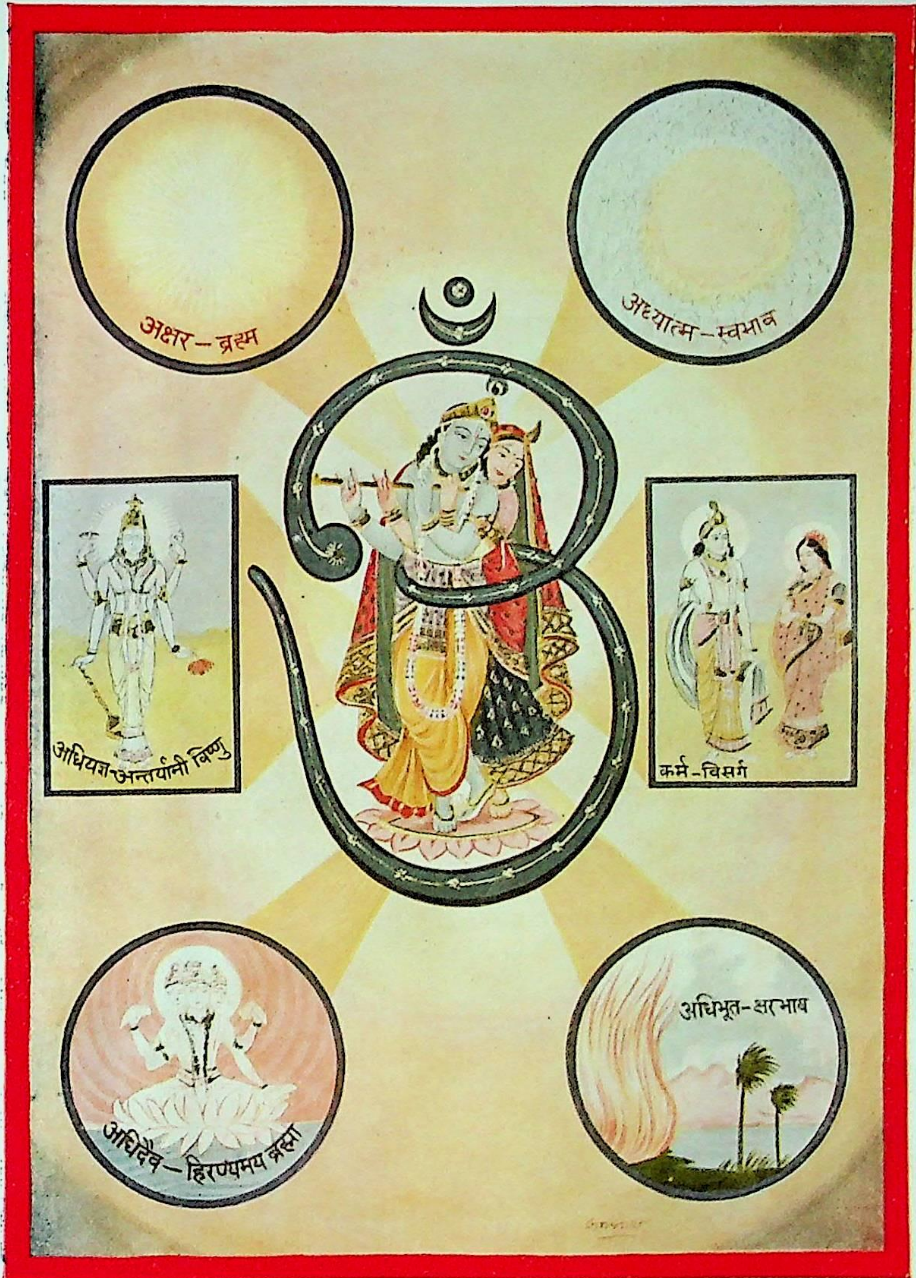
को स्वीकार करता है परन्तु परमार्थतः नहीं । परमार्थकी स्थितिमें वह ब्रह्मके अतिरिक्त किसीका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता । रज्जुमें सर्पकी भाँति समस्त विश्वको और विश्वकी सारी कर्मधाराको वह मिथ्या, अविद्याजन्य और बिना हुए ही प्रतिभास होनेवाली बतलाता है । वेदान्त तीन सत्ता मानता है—१ पारमार्थिक, २ व्यावहारिक और ३ प्रातिभासिक । पारमार्थिक सत्तामें अर्थात् वास्तवमें एक ब्रह्म ही है । अन्य सबका अत्यन्ताभाव है । ब्रह्म मन-वाणीसे अतीत है । मायासे ब्रह्ममें स्पन्दन माना जाता है, इस स्पन्दनके उत्पन्न होनेपर व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताका आविर्भाव होता है । जाग्रत्‌में व्यावहारिक सत्ता और स्वप्नमें प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है । व्यावहारिक सत्तामें छः पदार्थ हैं—ब्रह्म, ईश्वर, जीव, तीनोंका परस्पर भेद, अविद्या और अविद्याके साथ जीवका सम्बन्ध । व्यावहारिक सत्तामें ये सभी अनादि हैं । इनमें पाँच अनादि-सान्त हैं । एक ब्रह्म ही अनादि अनन्त है । जीव और ब्रह्ममें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है । सारा भेद उपाधिकृत है । अविद्याकी उपाधिवाला जीव, मायाकी उपाधिवाला ईश्वर और इन दोनोंसे सर्वथा रहित ब्रह्म है । उपाधि अज्ञानमें है । व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता भी अज्ञानमें ही हैं ।

परन्तु गीता इन दोनोंसे विलक्षण कुछ नयी बात कहती है । गीताके सिद्धान्तके अनुसार जगत्‌की उत्पत्ति पुरुष-प्रकृतिके संयोगसे हुई है, यह सत्य है परन्तु गीताका वह पुरुष भगवान्‌की ही एक प्रकृति है और वह एक ही है । साथ ही ये ही (दोनों प्रकृति और पुरुष ही) परम तत्त्व भी नहीं हैं । इन दोनोंसे परे एक मूल तत्त्व और है और ये दोनों उसी तत्त्वके द्विविध प्रकाशमात्र हैं । इसीके साथ-साथ गीता स्पष्टरूपसे कहीं यह भी नहीं कहती कि 'यह जगत् रज्जुमें सर्पकी भाँति सर्वथा अविद्याकृत है और बिना हुए ही भास रहा है । और अविद्या तथा मायाकी उपाधिसे जीव, ईश्वर तथा ब्रह्ममें व्यावहारिक भेद है ।' भगवान् विश्वको अपने सकाशसे अपनी अध्यक्षतामें अपनी ही प्रकृतिके द्वारा प्रादुर्भूत बतलाते हैं और अपने उसमें नित्य व्याप्त रहनेकी घोषणा करते हैं । यह नित्य परिवर्तनशील, अनन्त विचित्र शक्तियों और पदार्थोंसे और उनके संयोग-वियोग एवं प्रकाश-तिरोधानसे युक्त समस्त जगत् लीलामय भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है । जड अपरा प्रकृतिमें भगवान्‌का अक्षर और चिद्भाव पूर्णतः आवृत है और परा चेतन प्रकृतिमें वह निर्विकार, अक्षर, अव्यक्त और प्रकाशशील चित्स्वभाव पूर्णतया सुरक्षित है तथा भगवान्‌की स्वरूपभूता शक्तिके अंशरूप इसी चेतन परा प्रकृतिकी सत्ता और शक्तिद्वारा यह समस्त जगत् विधृत है । अर्थात् जगत् नहीं है ऐसा नहीं; जगत् है और वह भगवान्‌से भरा हुआ है । भगवान्‌का नित्य लीलाक्षेत्र है । अवश्य ही जो भगवान्‌को भूलकर, भगवान्‌को न मानकर केवल जगत्‌को देखते हैं, उनके लिये यह जगत् अत्यन्त भयङ्कर और दुःखमय है ।

परन्तु गीतोक्त 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' केवल इस विश्वमें व्याप्त है, इतनी ही बात नहीं है; वह विश्वसे परे भी है । विश्व तो उसके ऐश्वर्ययोगके एक अंशमात्रमें है । वह अनन्त है, असीम है, अनिर्वचनीय है, अचिन्त्य है और नित्य अपनी महिमामें स्थित है । इस समस्त जगत्‌के अंदर और जगत्‌से परे जो सब तत्त्व हैं, वे समस्त तत्त्व इस पुरुषोत्तमकी ही अभिव्यक्ति हैं । सम्पूर्ण तत्त्वोंमें सर्वापेक्षा श्रेष्ठ, निर्लेप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चरम तत्त्व है—अक्षर ब्रह्म । गीतामें भगवान् पुरुषोत्तम स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उस 'ब्रह्म'-की प्रतिष्ठा भी मैं ही हूँ (१४ । २७) । आठवें अध्यायमें जिन छः तत्त्वोंका भगवान्‌ने विवेचन किया है और सातवें अध्यायके अन्तमें अपने समग्ररूपका प्रतिपादन करते हुए जिन तत्त्वोंके सहित अपनेको जाननेकी बात कही है, उन तत्त्वोंमें भी स्पष्टतः 'अक्षर ब्रह्म'का नाम आया है । भगवान्‌ने बतलाया है कि १–परम अक्षर 'ब्रह्म' है, २–मेरी अपरा प्रकृतिके साथ संलग्न निर्विकार परा प्रकृतिरूप जो मेरा भाव है वह 'अध्यात्म' है, ३–अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप मेरा क्षरभाव ही 'अधिभूत' है, ४–भूतोंका उद्भव और अभ्युदय—पुरुषद्वारा प्रकृतिके ईक्षणरूप अथवा संकल्परूप जिस विसर्गसे होता है वही 'कर्म' है, ५–विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यमय पुरुष ही 'अधिदैव' है, इसीको ब्रह्मा कहते हैं और ६–शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित विष्णुरूप मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ । तथा अन्तकालमें भी जो पुरुष मेरे इस समग्रस्वरूपका स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है वह मेरे ही भावको प्राप्त होता है (गीता ८ । ३, ४, ५) ।

गीताके 'अहं', 'मम', 'माम्', 'मे', 'मयि' आदि अस्मत् पदोंसे और पूर्वापरका सारा विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही गीताके पुरुषोत्तम-

पुरुषोत्तम-तत्त्व



ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (१४। २७)

तत्त्वके दिव्य मूर्तस्वरूप हैं। गीताकी सारी आलोचना इन्हींको लेकर हुई है और स्थान-स्थानपर नाना प्रकारसे इन्होंने अपनेको जगद्व्यापी, जगत्स्रष्टा, जगन्मय और जगत्से अत्यन्त अतीत परमतत्त्व घोषित किया है।

ये श्रीकृष्ण निर्गुण हैं या सगुण, निराकार हैं या साकार, ज्ञेयतत्त्व हैं या ज्ञाता, मायामय हैं या मायासे अतीत, आदि प्रश्नोंका उत्तर युक्तियोंसे और प्रमाणोंसे देना तथा समझना सम्भव नहीं है। भगवान्‌की कृपासे ही भगवान्‌का कोई तत्त्व समझमें आ सकता है। गीताके अठारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि 'ब्रह्मकी प्राप्तिके अनन्तर मेरी 'परा भक्ति' मिलती है और उस पराभक्तिके द्वारा मेरे यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है' (१८। ५४, ५५)।

इतना होते हुए भी शास्त्रोंके और भगवान्‌के श्रीमुखसे निकले हुए वचनोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि वे प्रकृतिके गुणोंसे सर्वथा अतीत होनेपर भी अपने अचिन्त्यानन्त दिव्य गुणोंसे नित्य विभूषित हैं, प्राकृत क्रियाओंसे सर्वथा अतीत होनेपर भी नित्यलीलामय हैं और जड पाञ्चभौतिक आकारसे सर्वथा रहित होनेपर भी सच्चिदानन्दस्वरूप, हानोपादानरहित, देह-देहिभेदहीन, दिव्य देहसे नित्य युक्त हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भगवान् शङ्करजीसे स्वयं कहा है--

यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम्।
घनीभूतामलप्रेम सच्चिदानन्दविग्रहम्॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम्।
वदन्त्युपनिषत्सङ्घा इदमेव ममानघ॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात्तथेश्वरम्।
असिद्धत्वान्मद्गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः।
अकर्तृत्वात्प्रपञ्चस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि॥
मायागुणैर्यतो मेंऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम्।
न करोमि स्वयं किञ्चित् सृष्ट्यादिकमहं शिव॥
(पद्म० पा० ५१। ६६--७१)

'हे शङ्कर! मेरे जिस अलौकिक रूपको आज आपने देखा है, वह विशुद्ध प्रेमकी घनमूर्ति है और सच्चिदानन्दस्वरूप है। उपनिषदोंके समुदाय मेरे इसी रूपको निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय, 'परात्पर ब्रह्म' कहते हैं। मुझमें प्रकृतिजन्य गुणोंका अभाव होनेसे और मेरे अन्दर गुणोंकी सत्ताको असिद्ध मानकर वे मुझे 'निर्गुण' कहते हैं और अनन्त होनेसे मुझे 'ईश्वर' कहते हैं। और मेरा यह रूप प्राकृतिक नेत्रोंसे देखनेमें नहीं आता, इसलिये हे महेश्वर! ये समस्त वेद मुझे रूपरहित अर्थात् 'निराकार' कहते हैं। अपने चैतन्यांशसे सर्वव्यापक होनेके कारण पण्डितगण मुझे 'ब्रह्म' कहते हैं और इस विश्वप्रपञ्चका कर्ता न होनेसे वे मुझे 'निष्क्रिय' कहते हैं। क्योंकि हे शिव! स्वयं मैं सृष्टि आदि कुछ भी कार्य नहीं करता; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप मेरे अंश ही मायाके गुणोंसे सृष्टि आदि कार्य करते हैं।'

यह भगवान्‌का निर्गुण, निराकार और सच्चिदानन्दस्वरूप है। इसी स्वरूपमें जो भगवान्‌की अभिन्नस्वरूपभूता महाशक्ति हैं, जिनका एक अंश परा प्रकृति है और जिनके न्यूनाधिक शक्तिसम्पन्न अनेकों छोटे-बड़े रूप हैं, जो सृष्टिके सृजन, पालन और संहारमें भगवान्‌के अंशावतार वस्तुतः अभिन्नस्वरूप त्रिदेवोंकी सहायता करती रहती हैं, वे मूलशक्ति श्रीराधाजी हैं। ये भगवान् श्रीकृष्णसे सर्वथा अभिन्न हैं, केवल लीलाके लिये ही एक ही भगवान्‌के इन दो रूपोंका प्रकाश है। देवर्षि नारदने श्रीराधाजीका स्तवन करते हुए कहा है--

तत्त्वं विशुद्धसत्त्वासु शक्तिर्विद्यात्मिका परा।
परमानन्दसन्दोहं दधती वैष्णवं परम्॥
कलयाश्चर्यविभवे ब्रह्मरुद्रादिदुर्गमे।
योगीन्द्राणां ध्यानपथं न त्वं स्पृशसि कर्हिचित्॥
इच्छाशक्तिर्ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिस्तवेशितुः।
तवांशमात्रमित्येवं मनीषा मे प्रवर्तते॥
माया विभूतयोऽचिन्त्यास्तन्मायार्भकमायिनः।
परेशस्य महाविष्णोस्ताः सर्वास्ते कलाः कलाः॥
आनन्दरूपिणी शक्तिस्त्वमीश्वरी न संशयः।
(पद्म० पा० ४०। ५३--५७)

'आप ही तत्त्वात्मिका, विशुद्धसत्त्वमयी, भगवान्‌की स्वरूपाशक्ति एवं परा विद्या हैं। आप ही विष्णुके परमानन्दपुञ्जको धारण करती हैं (अर्थात् उनका आनन्दांश हैं)। आपकी एक-एक कलामें अत्याश्चर्यमय ऐश्वर्य भरा हुआ है;

ब्रह्मा, रुद्र आदि महान् देवगण भी आपके स्वरूपको कठिनतासे जान सकते हैं। हे देवि! बड़े-बड़े योगीश्वरोंके ध्यानमें भी आप नहीं आतीं। मेरी बुद्धिमें तो यह आता है कि आप ही अखिल जगत्की अधीश्वरी हैं और इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति आपके ही अंश हैं। मायासे बालक बने हुए मायेश्वर भगवान् महाविष्णुकी जितनी भी अचिन्त्य मायाविभूतियाँ हैं, वे सब आपहीकी अंशांशरूपिणी हैं। आप ही आनन्दरूपिणी शक्ति हैं और आप ही परमेश्वरी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

इस वर्णनसे यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि भगवान्की यह स्वरूपभूताशक्ति जगत्को अज्ञानसे ढक रखनेवाली जड 'माया' कदापि नहीं है। यह भगवान्की आनन्दस्वरूपा ह्लादिनी शक्ति है, इसीको लेकर भगवान् अवतरित हुआ करते हैं। यह अभिन्नशक्ति-शक्तिमान् स्वरूप ही 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' है। इसी पुरुषोत्तमतत्त्वके सम्बन्धमें देवी पार्वतीके प्रति भगवान् शङ्करके ये वचन हैं—

यदङ्घ्रिनखचन्द्रांशुमहिमान्तो न विद्यते।
तन्माहात्म्यं कियद्देवि प्रोच्यते त्वं मुदा शृणु॥
अनन्तकोटिब्रह्माण्डे अनन्तत्रिगुणोच्छ्रये।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥
सृष्टिस्थित्यादिनायुक्तास्तिष्ठन्ति तस्य वैभवाः।
तद्रूपकोटिकोट्यंशाः कलाः कन्दर्पविग्रहाः॥
जगन्मोहं प्रकुर्वन्ति तदण्डान्तरसंस्थिताः।
तद्देहविलसत्कान्तिकोटिकोट्यंशको विभुः॥
तत्प्रकाशस्य कोट्यंशरश्मयो रविविग्रहाः।
तस्य स्वदेहकिरणैः परानन्दरसामृतैः॥
परमामोदचिद्रूपैर्निर्गुणस्यैककारणैः।
तदंशकोटिकोट्यंशा जीवन्ति किरणात्मकाः॥
तदङ्घ्रिपङ्कजद्वन्द्वनखचन्द्रमणिप्रभाः।
आहुः पूर्णब्रह्मणोऽपि कारणं वेददुर्गमम्॥
तदंशसौरभानन्तकोट्यंशो विश्वमोहनः।
तत्स्पर्शपुष्पगन्धादिनानासौरभसम्भवः॥
तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्णवल्लभा।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः॥
(पद्म० पा० ३८। ११२-१२०)

'हे देवि! जिनके चरण-नखरूपी चन्द्रमाकी किरणोंकी भी अनन्त महिमा है, उन श्रीकृष्णकी अपार महिमाका कुछ अंश मैं वर्णन करता हूँ, उसे तुम प्रसन्न होकर सुनो। जिनमें त्रिगुणोंका ही अनन्त विस्तार है ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंमें अनन्त कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर हैं; वे सब उन्हीं परम महेश्वरकी कलाके करोड़वें अंश हैं। वे उन्हींके ऐश्वर्यांश हैं और सृष्टि, स्थिति आदि अधिकारोंसे युक्त होकर उन-उन ब्रह्माण्डोंमें स्थित हैं। उनके सौन्दर्यके करोड़ों अंश कामदेवके रूपमें उन-उन ब्रह्माण्डोंमें स्थित होकर जगत्को मोहित कर रहे हैं। सर्वव्यापी विभु उनके दिव्य मङ्गलविग्रहकी दिव्य कान्तिका करोड़वाँ अंश है और उस ब्रह्मके प्रकाशके करोड़ों अंश उन-उन ब्रह्माण्डोंमें सूर्यमण्डलोंके रूपमें स्थित हैं, भगवान्के उस दिव्य प्रकाशके अंशांशरूप ये किरणमय रविमण्डल उन परम प्रकाशमय भगवान्के दिव्य विग्रहकी परमानन्दरूप, रसमय एवं अमृतमय, अलौकिक गन्धयुक्त, चिद्रूप एवं निर्गुण ब्रह्मके कारणभूत किरणोंसे ही जीवन धारण करते हैं और भगवान्के युगलचरणारविन्दके नखरूपी चन्द्रकान्तमणिकी प्रभाके समान प्रकाशवाले हैं। इन भगवान् श्रीकृष्णको पण्डितगण शुद्ध पूर्णब्रह्मका भी कारण और वेदोंके द्वारा भी दुष्प्राप्य कहते हैं। विश्वको मोहित करनेवाला नाना प्रकारके पुष्पोंका गन्ध तथा अन्य प्रकारके उत्तम गन्ध इन्हींके दिव्य अङ्गगन्धका करोड़वाँ अंश है। उनकी वल्लभा कृष्ण-कान्ता श्रीराधिका आद्या प्रकृति हैं। त्रिगुणमयी दुर्गादि देवियाँ उन्हीं श्रीराधाकी कलाके करोड़वें अंश हैं।'

यही गीताका परम 'पुरुषोत्तम तत्त्व' है और सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर एकमात्र इसीकी शरण ग्रहण करनी चाहिये।

ईश्वरीय-संगीत

भगवद्गीताके अतिरिक्त ऐसा कोई दूसरा भारतीय ग्रन्थ नहीं है, जिसकी भारतवर्षमें एवं अन्यान्य देशोंमें दूर-दूरतक इतनी प्रसिद्धि हुई हो और जिसको ईश्वरीय संगीत मानकर हिन्दुस्तानमें सभी लोग इतना प्रेम करते हों।

—प्रो० ऑटो श्ट्रौस



योद्धावेशमें भगवान् श्रीकृष्ण

भगवान् श्रीकृष्ण और भक्त अर्जुन

गीतामें प्रधान पात्र दो हैं--भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुन; अतएव यहाँ इन दोनोंके जीवनकी कुछ घटनाओंका उल्लेख किया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथाएँ तो जीवोंको भवसागरसे तारनेवाली हैं ही; उनके भक्त अर्जुनकी जीवन-कथा भी भगवान्‌के सम्बन्धसे बहुत ही उपकारिणी हो गयी है।

भगवान् श्रीकृष्ण

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् थे। गीतामें उन्होंने अपने श्रीमुखसे तो बार-बार अपनेको साक्षात् भगवान् कहा ही है। अर्जुन और सञ्जयने भी ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है जो भगवान्‌के सिवा किसी भी बड़े-से-बड़े मनुष्यके लिये प्रयोग नहीं किये जा सकते।

द्वापरके अन्तमें देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें वसुदेवजीके यहाँ कंसके कारागारमें भाद्रपद कृष्णा अष्टमी, बुधवारको आधी रातके समय रोहिणी नक्षत्र और वृष लग्नमें चतुर्भुजरूपसे प्रकट हुए। तदनन्तर वसुदेव-देवकीके प्रार्थनानुसार शिशुरूप धारण करनेपर इन्हें श्रीवसुदेवजी इन्हींके सङ्केतानुसार गोकुल पहुँचा आये और वहीं नन्द-यशोदाके यहाँ ये पुत्ररूपमें पालित हुए। वहाँ रहकर इन्होंने बालकपनमें ही अनेक अलौकिक चरित्र किये। मारनेके लिये स्तनोंमें विष लगाकर आयी हुई पूतनाके दूधके साथ प्राणोंको भी खींच लिया, पालनेमें झूलते हुए दूध और दहीके बर्तनोंसे भरे एक बहुत बड़े छकड़ेको पैरोंकी ठोकरसे उलट दिया और बवंडरके रूपमें आकर इन्हें आकाशमें उड़ाकर ले जाते हुए तृणावर्तनामक दैत्यको गला घोंटकर मार डाला और उसका उद्धार कर दिया।

जब बालक श्रीकृष्ण चलने-फिरने लगे तो वे गोपियोंके घरोंमें घुस जाते और उनकी प्रसन्नताके लिये उनका दूध, दही और माखन ले-लेकर खा जाते, सखाओं तथा बंदरोंको लुटा देते तथा अन्य कई प्रकारका बालचापल्य करके उन्हें रिझाते तथा खिझाते। जब वे शिकायत लेकर यशोदा मैयाके पास आतीं तो अनेक प्रकारकी चातुर्यपूर्ण बातें कहकर उन्हें निरुत्तर कर देते।

एक दिन गोपबालकोंने आकर यशोदा मैयासे कहा कि 'कन्हैयाने मिट्टी खायी है।' मैयाने डाँटकर कहा, 'क्यों रे! तूने मिट्टी क्यों खायी?' भगवान् बोले—'मैया! मैंने मिट्टी नहीं खायी है, विश्वास न हो तो मेरा मुख देख ले।' फिर इन्होंने माताको अपने मुखके अंदर त्रिलोकीका दर्शन कराया, किन्तु मातापर इनके इस अलौकिक प्रभावका संस्कार अधिक देरतक न ठहरा। एक दिन माताने इनकी चपलताके कारण इन्हें ऊखलसे बाँध दिया और इन्होंने ऊखलसे बँधे-बँधे ही यमलार्जुन वृक्षोंको उखाड़ डाला और कुबेरपुत्र नलकूबर तथा मणिग्रीवका उद्धार किया। जब श्रीकृष्ण-बलराम कुछ बड़े हुए तब वे बछड़ोंको चराने वनमें जाने लगे और वहाँ गोपबालकोंके साथ नाना प्रकारकी क्रीडा करते। वहाँ इन्होंने क्रमशः बछड़े और बगुलेका रूप बनाकर आये हुए वत्सासुर और बकासुरनामक दैत्योंका और अजगरका वेष बनाकर आये हुए अघासुरका उद्धार किया।

एक बार भगवान् जब वनमें बछड़े चरा रहे थे तो ब्रह्माजीने भगवान्‌की महिमा देखनेके लिये बछड़ों और गोपबालकोंको ले जाकर कहीं छिपा दिया। श्रीकृष्णने यह देखकर स्वयं उन सारे बछड़ों और गोपबालकोंका रूप धारण कर लिया और सालभर इस प्रकार अनेकरूप होकर रहे। ब्रह्माजी इस लीलाको देखकर बहुत ही चकित हुए और उन्होंने क्षमा-याचना करके सब बछड़ों तथा गोपबालकोंको लौटा दिया।

जब श्रीकृष्ण छः-सात वर्षके हुए तो ये नन्दजीके आज्ञानुसार गौओंको चराने वनमें जाने लगे। इन्हीं दिनों धेनुकासुरनामक दैत्य गदहेका रूप बनाकर श्रीकृष्णको मारने आया। उसकी भी वही दशा हुई जो इसके पूर्व अन्य दैत्योंकी हुई थी। उन दिनों कालिय नामका महान् विषधर सर्प यमुनाजीमें रहता था, जिसके कारण यमुनाजीका जल विषैला हो गया था। भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाजीमें प्रवेश कर उस सर्पके साथ युद्ध किया और उसका शासन करके उसको वहाँसे निकाल दिया। रातको जब समस्त गोकुलवासी यमुनाके तटपर सोये हुए थे, वनमें सहसा भयानक आग लगी, जिसने उन सोये हुए व्रजवासियोंको चारों ओरसे घेर लिया। भगवान्‌ने उनका यह कष्ट देखकर उस अग्निको पी लिया और इस प्रकार अपने आश्रितजनोंकी रक्षा की।

एक बार सब गोपगण गायोंको चरानेके लिये एक मूँजके वनमें घुस गये। वहाँ दैवयोगसे आग लग गयी, जिसके कारण समस्त गोपगण तथा गायें व्याकुल हो गयीं। भगवान्‌ने पुनः उस अग्निको पीकर गौओं तथा गोपोंकी रक्षा की।

एक बार कुछ गोपकन्याओंने भगवान् श्रीकृष्णको पति-रूपमें प्राप्त करनेके उद्देश्यसे अगहनके महीनेमें कात्यायनी-देवीका व्रत किया। एक दिन जब वे वस्त्रोंको तटपर रखकर यमुनाजीमें नग्न होकर स्नान कर रही थीं, तो भगवान् उन्हें शिक्षा देनेके लिये उनके वस्त्रोंको लेकर कदम्बपर जा बैठे।

बड़े अनुनय-विनयके बाद उनके वस्त्रोंको लौटाया और उनके मनोरथ पूर्ण करनेका उन्हें वरदान दिया।

भगवान् श्रीकृष्ण ऐसी मधुर मुरली बजाते कि गोपबालाएँ तथा व्रजके सभी प्राणी उसे सुनकर मुग्ध हो जाते। एक बार जब गोपगण भगवान् श्रीकृष्णके साथ वनमें गौएँ चरा रहे थे, उन्हें बड़ी भूख लगी। पास ही कुछ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। भगवान्ने गोपोंसे कहा कि तुम उन ब्राह्मणोंके पास चले जाओ और उनसे हमारा नाम लेकर अन्न माँगो। गोपोंने वैसा ही किया, किन्तु ब्राह्मणोंने उनकी प्रार्थनापर ध्यान नहीं दिया। तब भगवान्ने गोपोंको उन ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके पास भेजा और वे भगवान्का नाम सुनते ही अधीर होकर वहाँ दौड़ी आयीं और साथमें बहुत-सा भोजनका सामान लेती आयीं। पीछेसे जब उनके पतियोंको यह बात मालूम हुई तो वे मन-ही-मन अपनी पत्नियोंकी भक्तिकी सराहना करने और अपनेको धिक्कारने लगे।

इधर गोपगण प्रतिवर्ष इन्द्रको प्रसन्न करनेके लिये एक बड़ा भारी यज्ञ किया करते थे। भगवान्ने इसके बदलेमें गोपोंसे गौओं, ब्राह्मणों और गोवर्द्धन पर्वतकी पूजा करनेके लिये प्रेरणा की और स्वयं एक दूसरा रूप धारण कर गोवर्द्धन पर्वतके अभिमानी देवताके रूपमें पूजाको स्वीकार किया। जब इन्द्रने यह देखा तो वे अत्यन्त कुपित हुए और गोपोंको दण्ड देनेके लिये उन्होंने प्रलयकालकी-सी वर्षा बरसानेका आयोजन किया। भगवान्ने उस प्रलयकारी वर्षासे गोपोंकी रक्षा करनेके लिये लीलासे ही गोवर्द्धन पर्वतको उठा लिया और सात दिनतक उसे उसी प्रकार उठाये रक्खा तथा इस प्रकार इन्द्रके दर्पको चूर्ण किया।

गोवर्द्धन धारण करनेके बाद स्वर्गसे इन्द्र और गोलोकसे कामधेनु—श्रीकृष्णजीके पास आये। इन्द्रने क्षमा-प्रार्थना की। कामधेनुने अपने दूधसे और इन्द्रने ऐरावत हाथीकी सूँडसे निकले हुए आकाशगङ्गाके जलसे श्रीकृष्णका अभिषेक किया और उनका नाम 'गोविन्द' रक्खा।

एक बार नन्दजी रात्रिके समय यमुनाजीमें स्नान कर रहे थे, उस समय एक वरुणका अनुचर उन्हें चुराकर वरुणलोकमें ले गया। जब भगवान्को यह मालूम हुआ तो वे स्वयं वरुणलोकमें जाकर नन्दजीको वहाँसे ले आये। नन्दजीने जब वहाँके वैभव और श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन अपने साथियोंसे किया तो उन लोगोंकी भगवान्के वैकुण्ठधामका दर्शन करनेकी बड़ी उत्कट अभिलाषा हुई। उनकी अभिलाषाको जानकर भगवान्ने उन्हें अपने प्रकृतिसे पर ब्रह्मस्वरूपका और वैकुण्ठलोकका दर्शन कराया।

इसके बाद भगवान्ने कान्तभावसे भजनेवाली गोपियोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये तथा कामदेवका मद चूर्ण करनेके लिये अलौकिक रासक्रीडा की। भगवान्की मुरली सुनकर गोपियाँ शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिको रासमण्डलमें भगवान्के पास पहुँचीं, बीचमें भगवान् अन्तर्धान हो गये। फिर प्रकट हुए। तदनन्तर एक-एक गोपीके बीचमें एक-एक स्वरूप धारण करके भगवान्ने दिव्य रासलीला की।

एक बार नन्दादि गोपगण देवाधिदेव महादेवकी पूजाके लिये अम्बिकावनको गये हुए थे! वहाँ रात्रिको एक अजगर सोये हुए नन्दबाबाको निगलने लगा। उनके रोनेकी आवाज़ सुनकर भगवान् जागे और उन्होंने उस अजगरको पैरोंसे ठुकराया। भगवान्के चरणोंका स्पर्श पाते ही वह विद्याधरके रूपमें परिवर्तित हो गया और भगवान्की स्तुति करता हुआ अपने लोकको चला गया। ऋषियोंका अपराध करनेसे उसे सर्पकी योनि प्राप्त हुई थी और भगवान्की कृपासे वह उस योनिसे छूटकर अपने असली स्वरूपको प्राप्त हो गया।

एक बार भगवान् वनमें गोपियोंके साथ विहार कर रहे थे, उस समय शङ्खचूडनामक कुबेरका अनुचर गोपियोंके एक टोलेको उठाकर ले गया। भगवान्ने उसका पीछा किया और उसे मारकर उसके मस्तकपरसे उसकी मणिको निकाल लिया।

इस बीचमें अरिष्टासुर नामका दैत्य बैलका रूप धारणकर व्रजमें आया। भगवान्ने उसे बात-की-बातमें मारकर अपने धामको पहुँचा दिया। तब कंसने केशीनामक दैत्यको भेजा, जो घोड़ेका रूप धरकर आया; किन्तु उसकी भी वही गति हुई।

एक बार भगवान् ग्वालबालोंके साथ चोरोंका खेल खेल रहे थे। कुछ ग्वाल चोर बन गये, कुछ मेढ़े बन गये और कुछ रखवाले बनकर उनकी चोरोंसे रक्षा करने लगे। इतनेमें व्योमासुर नामका दैत्य आया और वह भी गोपवेशमें चोर बनकर मेढ़े बने हुए गोपालोंको चुरा-चुराकर एक पर्वतकी गुफामें ले जाकर रखने लगा। भगवान्को जब यह पता लगा तो उन्होंने मायासे गोप बने हुए उस दैत्यको खूब मारा और उसके प्राणोंको हर लिया तथा छिपाकर रक्खे हुए गोपबालकोंको गुफामेंसे बाहर निकाला।

इधर कंसने मथुरामें श्रीकृष्ण-बलरामको मारनेके उद्देश्यसे धनुषयज्ञका आयोजन किया और उन्हें बुलानेके

लिये अक्रूरजीको भेजा। अक्रूरजी जब श्रीकृष्ण-बलरामको लेकर मथुरा जाने लगे तो गोपियाँ विरह-दुःखसे अत्यन्त कातर होकर रोने लगीं और उनके रथके पीछे-पीछे चलने लगीं। भगवान्ने किसी प्रकार समाश्वासन देकर उन्हें लौटाया। वे भी भगवान्के लौटनेकी आशासे प्राण-धारण करती हुई व्रजमें रहने लगीं। मथुरा पहुँचनेके पूर्व भगवान्ने यमुना-तटपर विश्राम किया। अक्रूरजीने रथसे उतरकर स्नानके लिये यमुनाजीके अंदर डुबकी लगायी तो उन्होंने जलके भीतर श्रीकृष्णको देखा; उन्होंने जलसे बाहर निकलकर रथकी ओर देखा तो वहाँ भी श्रीकृष्ण-बलरामको पूर्ववत् बैठे पाया। यह लीला देखकर उन्हें महान् आश्चर्य हुआ और वे गद्गद होकर भगवान्की स्तुति करने लगे।

मथुरा पहुँचनेपर भगवान्ने अक्रूरजीको पहले भेज दिया और स्वयं पीछेसे गोपोंके साथ नगरीमें प्रवेश किया। नगरीमें उनका बड़ा स्वागत हुआ। रास्तेमें भगवान्ने सुदामा मालीकी पूजा स्वीकार की, त्रिवक्रा (कुब्जा) नामक कंसकी दासीका कूबड़ दूर किया और उसके घर आनेका वचन दिया। यज्ञमण्डपमें पहुँचकर भगवान्ने उस धनुषको देखा जिसके निमित्तसे उस यज्ञका आयोजन किया गया था और सब लोगोंके देखते-देखते उसे लीलासे ही तोड़ डाला। रक्षकोंने जब भगवान्को ललकारा तो उनको भी मार डाला। दूसरे दिन भगवान् फिर रङ्गमण्डपमें मल्लयुद्ध देखनेके लिये गये। द्वारके सामने कुवलयापीड नामका मतवाला हाथी खड़ा था, उसने महावतके इशारेसे श्रीकृष्णपर आक्रमण किया। श्रीकृष्णने लीलासे ही उसके दोनों दाँतोंको उखाड़ लिया और उन्हींके प्रहारसे हाथी तथा महावत दोनोंको मार डाला। फिर मण्डपमें प्रवेश करके चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लोंको पछाड़ा और अन्तमें सबके देखते-देखते छलाँग मारकर कंसके मञ्चपर जा कूदे और उसे केश पकड़कर सिंहासनके नीचे ढकेल दिया और बात-की-बातमें उस महाबलीका काम तमाम कर डाला। इसके बाद विधिपूर्वक उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करवायी और उसके पिता उग्रसेनको कारागारसे मुक्त करके उनका राज्याभिषेक किया और स्वयं कारागारमें अपने माता-पिता वसुदेव-देवकीसे मिलकर उनका बन्धन छुड़ाया और उन्हींके पास सुखपूर्वक रहने लगे।

वसुदेवजीने भगवान्का विधिवत् यज्ञोपवीत संस्कार करवाया और फिर उन्हें उज्जयिनीमें गुरु सान्दीपनिके यहाँ वेद-वेदाङ्गकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेज दिया। वहीं उनकी सुदामा ब्राह्मणसे मित्रता हुई। बहुत थोड़े समयमें गुरुकुलकी शिक्षा समाप्त कर, चौदह विद्या और चौंसठ कलाओंमें निपुण होकर भगवान् जब वापस आने लगे तो उन्होंने गुरुसे इच्छानुसार गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये प्रार्थना की। गुरुने अपनी पत्नीसे सलाह करके यह कहा कि हमारा एक पुत्र प्रभासक्षेत्रमें समुद्रमें डूबकर मर गया था, उसीको वापस ला दो। भगवान्ने यमपुरीमें जाकर वहाँसे गुरुपुत्रको ला दिया और फिर गुरुकी आज्ञा और आशीर्वाद पाकर वे घर लौट आये।

इसके बाद भगवान्ने गोपियोंकी सुधि लेने तथा अपने प्रिय सखा उद्धवका ज्ञानाभिमान दूर करके उन्हें प्रेममार्गमें दीक्षित करने और गोपी-प्रेमका माहात्म्य बतलानेके लिये व्रजमें भेजा। वहाँ उन्होंने प्रेममूर्ति विरहिणी व्रजाङ्गनाओंकी जो दशा देखी, उससे उनके ज्ञानका गर्व गल गया और वे गोपियोंको प्रबोध करनेका हौसला भूलकर उलटे गोपियोंके दास बन गये और उनकी चरणधूलिमें लोटकर अपनेको कृतार्थ मानने लगे। इसके अनन्तर भगवान् अपने वचनको पूरा करनेके लिये कुब्जाके घर गये और उसके प्रेमका सम्मान किया। फिर वे अक्रूरजीके घर गये और उन्हें पाण्डवोंका संवाद लाने हस्तिनापुर भेजा।

इधर कंसकी मृत्युका बदला लेनेके लिये उसके श्वशुर मगधराज जरासन्धने सतरह बार तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा नगरीपर चढ़ाई की, किन्तु प्रत्येक बार उसे मुँहकी खाकर लौट जाना पड़ा। अठारहवीं बार वह फिर सेना बटोरकर चढ़ाई करनेहीवाला था कि इस बीचमें कालयवननामक यवनदेशके राजाने तीन करोड़ सेना लेकर मथुरा नगरीपर धावा बोल दिया। इस प्रकार दोहरी आपत्ति देखकर व्यर्थके नरसंहारको रोकनेके लिये भगवान्ने समुद्रतट-पर जाकर एक नयी नगरी बसाने और मथुरावासियोंको वहाँ पहुँचाकर फिर यवनोंके साथ युद्ध करनेका निश्चय किया। भगवान्की आज्ञासे विश्वकर्माने समुद्रके अंदर द्वारका नामकी एक विशाल नगरीका निर्माण किया। समस्त नगरवासियोंको युक्तिसे वहाँ पहुँचाकर भगवान् स्वयं बिना कोई आयुध लिये ही नगरसे बाहर निकल पड़े। उन्हें इस प्रकार पैदल ही नगरसे बाहर जाते देखकर कालयवनने भी पैदल ही उनका पीछा किया। भगवान् दौड़ते-दौड़ते एक गुफामें घुस गये और वहाँ सोये हुए मान्धाताके पुत्र मुचुकुन्दके द्वारा बिना ही परिश्रम उसे मरवा डाला फिर मुचुकुन्दको अपने दिव्य दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया। श्रीकृष्णने वहाँसे लौटकर अकेले ही यवनोंकी उस विपुल सेनाका संहार किया और वहाँसे

द्वारकाको जानेकी तैयारीमें ही थे कि इतनेमें ही जरासन्धने पुनः तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरापर चढ़ाई की। अब तो भगवान्‌ने वहाँसे भागना ही उचित समझा और भयभीत होकर भागनेका-सा नाट्य करके द्वारका चले आये। तभीसे भक्तलोग उन्हें रणछोड़ नामसे पुकारने लगे। जरासन्ध अपनी सेनाको लेकर वापस अपनी राजधानीको चला गया।

इसके बाद भगवान्‌ने साक्षात् भगवती लक्ष्मीजीकी कलारूपा देवी रुक्मिणीके साथ विवाह किया और विरोधी सेनाका संहार किया। रुक्मिणीका भाई रुक्मी भी रुक्मिणीके अपहरणको न सहकर एक अक्षौहिणी सेना लेकर भगवान्‌के पीछे दौड़ा; किन्तु भगवान्‌ने उसकी सेनाका बात-की-बातमें विध्वंस कर डाला और रुक्मीको भी पकड़कर केशहीन एवं कुरूप करके छोड़ दिया। देवी रुक्मिणीके गर्भसे प्रद्युम्न नामक पुत्र हुआ, जो साक्षात् कामदेवका अवतार था और रूप-गुणोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी ही प्रतिमूर्ति था।

एक बार स्यमन्तक मणिको ढूँढ़ते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ऋक्षराज जाम्बवान्‌के पास पहुँचे और उस मणिके लिये उनसे युद्ध किया। जाम्बवान् उनके बलको देखकर यह समझ गये कि मेरे इष्टदेव राम ही इस रूपमें मेरे सामने उपस्थित हुए हैं और अत्यन्त भक्तिभावसे अपनी कन्या जाम्बवतीके साथ उस मणिको भगवान्‌के भेंट कर दिया। भगवान्‌ने उस मणिको ले जाकर उसके मालिक सत्राजित् यादवको दे दिया और सत्राजित् यादवने इस उपकारके बदलेमें अपनी कन्या सत्यभामाके साथ भगवान्‌का विवाह कर दिया और उस मणिको भी दहेजमें दे दिया। भगवान्‌ने सत्यभामाको तो स्वीकार कर लिया, किन्तु मणि लौटा दी। ये सत्यभामा भगवान्‌की अत्यन्त कृपापात्र महिषी थीं।

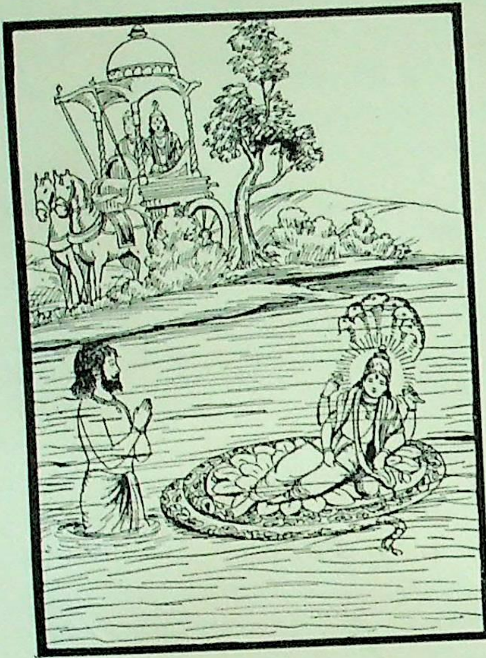
रुक्मिणी, सत्यभामा और जाम्बवतीके अतिरिक्त भगवान्‌की पाँच पटरानियाँ और थीं जिनके नाम थे—कालिन्दी, मित्रविन्दा, नाग्नजिती, लक्ष्मणा और भद्रा। इनमेंसे कालिन्दीने तपस्या करके भगवान्‌को प्राप्त किया, मित्रविन्दा-को भगवान् रुक्मिणीकी भाँति हरण करके लाये, नग्नजित्‌की कन्या सत्याको शुल्करूपमें सात उद्दण्ड बैलोंको एक साथ नाथकर लाये, भद्रासे उसके बान्धवोंके आग्रह करनेपर विवाह किया और मद्रदेशकी राजकन्या लक्ष्मणाको भगवान् अकेले ही स्वयंवरमें सब राजाओंका तिरस्कार करके हर ले आये।

इसके बाद भगवान्‌ने इन्द्रकी प्रार्थनापर भौमासुर अथवा नरकासुरनामक दैत्यकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर-पर चढ़ाई की और उसका वध करके उसके स्थानपर उसके पुत्र भगदत्तको अभिषिक्त किया। उस भौमासुरके यहाँ नाना देशके राजाओंसे हरण करके लायी हुई सोलह हजार एक सौ कन्याएँ थीं। उन्होंने भगवान्‌के दर्शन कर मन-ही-मन उन्हें पतिरूपमें वरण कर लिया और भगवान्‌ने भी उनका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उन्हें द्वारका भेज दिया। भौमासुर इन्द्रकी माता अदितिके कुण्डल हरण कर लाया था, उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रलोकमें जाकर इन्द्रकी माताको वापिस दे आये और वहाँसे लौटते समय इन्द्रादि देवताओंको जीतकर सत्यभामाकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये पारिजातका वृक्ष अपने साथ लेते आये और उसे सत्यभामाके महलोंके पास लगा दिया।

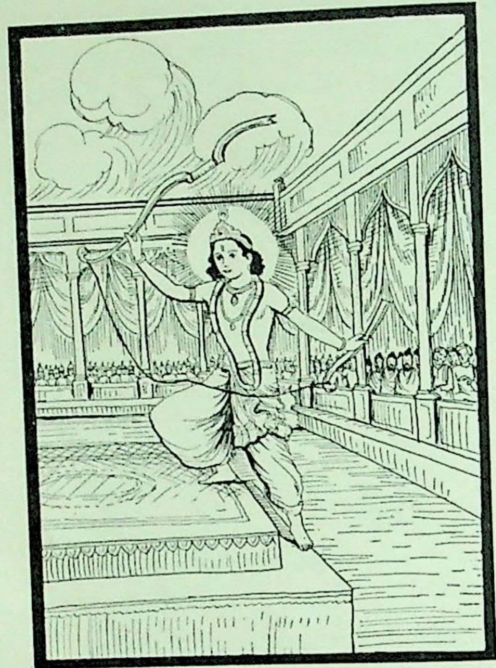
द्वारकामें लौटकर भगवान्‌ने उन सोलह हजार एक सौ कन्याओंके साथ एक ही समय उतने ही रूप धारण कर अलग-अलग विवाह किया और उसी प्रकार लक्ष्मीकी अंशरूपा उन स्त्रियोंके साथ अलग-अलग रहने लगे और वे सब भी सेवाके द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करने लगीं।

शोणितपुरके राजा, महाभागवत बलिके पुत्र बाणासुरकी कन्या ऊषाने एक बार स्वप्नमें प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धको देखा और उसी समयसे वह उन्हें पतिरूपमें मानने लगी। उसने युक्तिसे एक बार उन्हें अपने महलोंमें बुलाया और उन्हें बड़े ही सुखपूर्वक वहीं अपने पास महलोंमें ही रख लिया। जब उसके पिताको इस बातकी खबर लगी तो वह बहुत रुष्ट हुआ और उसने अनिरुद्धको कैद कर लिया। जब यह संवाद श्रीकृष्णके पास पहुँचा तो वे बड़ी भारी सेना लेकर शोणितपुर पहुँचे। वहाँ उनका बाणासुरके साथ घमासान युद्ध हुआ। बाणासुर भगवान् शङ्करका बड़ा भक्त था, अतः साक्षात् शङ्कर भी उसकी सहायता-के लिये आये और उनका भगवान् श्रीकृष्णके साथ कई दिनतक संग्राम चला। अन्तमें भगवान् शङ्करके अनुरोधसे श्रीकृष्णने उसकी भुजाओंको छेदन कर उसे अभय दे दिया और ऊषा तथा अनिरुद्धको साथ लेकर भगवान् अपनी राजधानीको लौट आये।

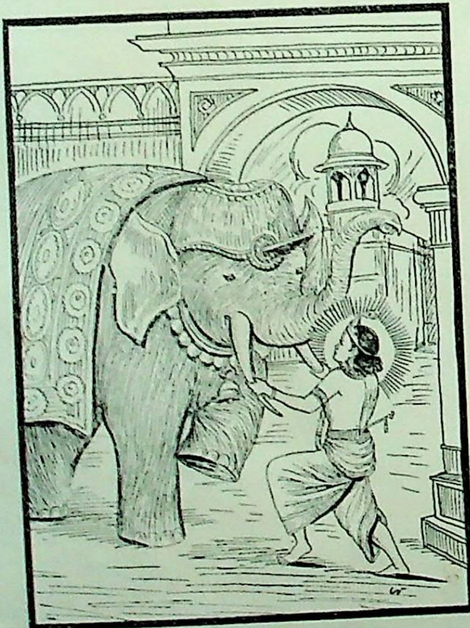
एक समय एक बगीचेमें खेलते हुए कुछ यादव-बालकों-को एक अन्धे कुएँमें एक पर्वताकार गिरगिट दिखायी दिया। उसे कुएँमेंसे निकालनेकी उन बालकोंने बहुत चेष्टा की, परन्तु वे उस कार्यमें असफल रहे। तब वे श्रीकृष्णको वहाँ बुला लाये और उनके स्पर्शमात्रसे ही वह गिरगिटके रूपको त्यागकर देवरूप हो गया। वह राजा नृग था, जो भूलसे एक ब्राह्मणकी गौ दान देनेके कारण उस नीच योनिको प्राप्त हुआ था।



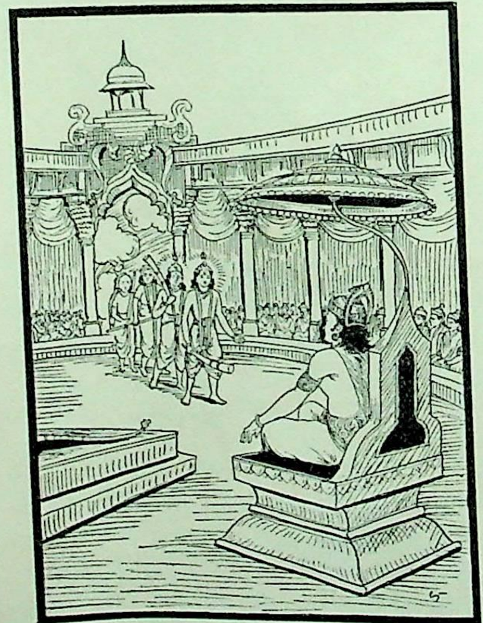
अक्रूरके भाग्य



धनुर्भङ्ग



कुबलयापीड-उद्धार



कंसके दरबारमें

एक बार करूषदेशके राजा पौण्ड्रकने 'असली वासुदेव मैं हूँ' ऐसा मानकर भगवान् श्रीकृष्णके पास दूत भेजा और उनको युद्धके लिये ललकारा। उसने यह चुनौती अपने मित्र काशिराजके यहाँसे भेजी थी, अतः भगवान् श्रीकृष्णने उसकी चुनौतीको स्वीकार कर काशीनगरीपर चढ़ाई कर दी और मित्रसहित उस मिथ्या वासुदेवको मारकर वे द्वारकाको लौट आये। इधर काशिराजका पुत्र सुदक्षिण अपने पिताके वधका बदला लेनेके लिये अभिचारविधिका प्रयोग करता हुआ अग्निकी आराधना करने लगा। विधिके पूर्ण होनेपर हवन-कुण्डमेंसे एक अति भयानक अग्नि उत्पन्न हुई, जो दसों दिशाओंको जलाती हुई द्वारकापर चढ़ दौड़ी। भगवान्ने उसे माहेश्वरी कृत्या जानकर उसका शमन करनेके लिये सुदर्शन चक्रको आज्ञा दी। चक्रसे पीडित होकर वह कृत्या काशीको लौट गयी और उसने ऋत्विजोंसहित स्वयं सुदक्षिण-को ही जला दिया। सुदर्शन चक्र भी उसके पीछे-पीछे काशी गया और सारी नगरीको जलाकर वापिस लौटा।

एक बार देवर्षि नारदजी 'भगवान् गृहस्थाश्रममें रहकर किस प्रकार रहते हैं?' यह देखनेकी इच्छासे द्वारकामें गये। वे अलग-अलग सब रानियोंके महलोंमें गये और सब जगह उन्होंने श्रीकृष्णको गृहस्थका यथायोग्य बर्ताव करते हुए पाया। वे प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतकका समस्त दैनिक कृत्य भिन्न-भिन्न रूपोंमें विधिवत् करते थे। सभामें जानेके समय वे घरोंसे निकलते हुए अलग-अलग रूपमें दिखायी देते थे और फिर एकरूप होकर सभामें प्रवेश करते थे। यह सब देखकर नारदजी दंग रह गये और भगवान्की स्तुति करते हुए अपने लोकको चले गये।

भगवान् श्रीकृष्णकी दैनिकचर्या आदर्श थी। आप ब्राह्म मुहूर्तमें उठते, तदनन्तर ध्यान करते, फिर स्नान-सन्ध्यादि-से निवृत्त होकर हवन करते और गायत्रीका जाप करते। फिर तर्पण करके गुरुजनोंकी और ब्राह्मणोंकी पूजा करते। तत्पश्चात् सोनेसे मँढे हुए सींग तथा चाँदीसे मँढे हुए खुरोंवाली तथा मोतीकी मालाएँ पहनी हुई, एक बारकी ब्यायी, दूधवाली बछड़ेसहित ८४०१३ गौएँ प्रतिदिन दान करते।

महाराज युधिष्ठिरने राजसूय-यज्ञका उपक्रम किया। इसके लिये देशभरके राजाओंको जीतना आवश्यक था। उनमें सबसे बलवान् जरासन्ध था। उसे द्वन्द्वयुद्धके द्वारा जीतनेके अभिप्रायसे भीमसेन, अर्जुन और श्रीकृष्ण तीनों ब्राह्मणका वेश बनाकर उसकी राजधानी गिरिव्रजमें गये। वहाँ भीमसेनके द्वारा जरासन्धको मरवाकर भगवान्ने पाण्डवोंकी विजयमें एक बड़ा भारी कण्टक दूर कर दिया और साथ ही उसके यहाँ जो बीस हजार आठ सौ राजा कैद थे उन्हें मुक्ति दिलवाकर अपने-अपने राज्यमें भेज दिया।

इसके बाद राजसूय यज्ञकी तैयारी हुई। भगवान्ने यज्ञमें आये हुए ब्राह्मणोंके चरण धोनेका काम स्वीकार किया। वहाँ सबसे पहले सभापतिका पूजन आवश्यक था। सभापतिके आसनके लिये सर्वसम्मतिसे भगवान् श्रीकृष्ण चुने गये। और तदनुसार धर्मराजने सर्वप्रथम उन्हींकी पूजा की और उनके त्रिलोकपावन चरणामृतको मस्तकपर चढ़ाया। उपस्थित सभी सदस्योंने जय-जयकार किया और देवताओंने पुष्पवृष्टि की। भगवान्के इस उत्कर्षको शिशुपाल नहीं सह सका और वह आवेशमें आकर उन्हें अनेक प्रकारके दुर्वचन कहने लगा। भगवान्ने चक्रसे उसके सिरको धड़से अलग कर दिया और सबके देखते-देखते उसकी देहमेंसे निकला हुआ जीवरूपी तेज भगवान्के अंदर प्रविष्ट हो गया।

शिशुपालका एक मित्र शाल्व नामका राजा था। वह अपने मित्रके वधका बदला लेनेके लिये अपना सौभ नामक विमान तथा बड़ी भारी सेना लेकर द्वारका नगरीपर चढ़ दौड़ा। भगवान् उन दिनों हस्तिनापुर थे। वे अनिष्टकी शङ्कासे तुरंत द्वारका चले आये। वहाँ आते ही उन्होंने शाल्वको युद्धके लिये ललकारा और गदासे उसके विमानको चूर-चूरकर चक्रसे उसके मस्तकका छेदन कर दिया।

शाल्वके मारे जानेपर शिशुपालका बड़ा भाई दन्तवक्त्र अकेला गदा हाथमें लेकर पैदल ही श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये आगे बढ़ा। श्रीकृष्णने उसका भी गदाके प्रहारसे बात-की-बातमें काम तमाम कर दिया। शिशुपालकी भाँति उसके शरीरसे भी एक सूक्ष्म तेज निकलकर भगवान्के अंदर प्रवेश कर गया। उसके बाद उसका भाई विदूरथ युद्ध करने आया और भगवान्ने उसका भी मस्तक चक्रके द्वारा धड़से अलग कर दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि सुदामा भगवान्के गुरुभाई थे। ये अत्यन्त दरिद्र थे। आये दिन उपवास होता था। परन्तु ये इतने निःस्पृह थे कि किसीसे कुछ कहते-सुनते न थे। एक दिन लगातार कई उपवास होनेके कारण तंग आकर इनकी स्त्रीने इन्हें अपने बालसखा श्रीकृष्णके पास जानेकी प्रेरणा की। किसीसे कुछ माँगनेकी इच्छा न होनेपर भी भगवान्के दर्शनके लोभसे ये द्वारका पहुँचे। वहाँ भगवान्ने बड़े प्रेमसे इनका आदर-सत्कार किया और आते समय इनके बिना ही जाने इन्हें मालामाल कर दिया।

एक बार सूर्यग्रहणके अवसरपर भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यादव-परिवारके साथ पर्वस्नानके लिये कुरुक्षेत्र गये। वहाँ नन्दादि गोपगण भी आये थे। सब लोग चिरकालके बाद एक-दूसरेसे मिलकर बड़े ही प्रसन्न हुए। नन्द-यशोदा तथा गोपीजन तो श्रीकृष्ण-बलरामको देखकर इतने प्रसन्न हुए मानो सूखे धानपर जल गिर गया हो।

वहीं सब ऋषि-महर्षि भी पधारे थे। भगवान्ने उनकी महिमा गायी। ऋषियोंने भगवान्का महत्त्व कहा। फिर वसुदेवजीने यज्ञ किया। तदनन्तर भगवान्ने अपने पिता वसुदेवजीको ज्ञान प्रदान किया।

एक बार गुरु सान्दीपनिकी गुरुदक्षिणाका वृत्तान्त स्मरण-कर माता देवकीने अपने दोनों पुत्रोंके सामने यह इच्छा प्रकट की कि जिस प्रकार तुमने मरे हुए गुरुपुत्रको लाकर अपने गुरुको दिया था, उसी प्रकार मैं भी कंसके द्वारा मारे हुए तुम्हारे छः भाइयोंको देखना चाहती हूँ। इसपर श्रीकृष्ण-बलराम दोनों सुतल लोकमें जाकर वहाँसे अपने छहों भाइयों-को ले आये और माताको सौंप दिया। माताने बड़े प्रेमसे उनका आलिङ्गन किया और उन्हें स्तनपान कराया और फिर उनको विदा कर दिया।

मिथिलापुरीमें श्रुतदेव नामका एक ब्राह्मण रहता था। वह श्रीकृष्णका परम भक्त था। उस देशका राजा बहुलाश्व भी भगवान्की बड़ी भक्ति करता था। उन दोनोंपर ही कृपा करनेके लिये भगवान् एक बार मिथिलापुरी गये। श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनों ही भगवान्के चरणोंपर गिरे और दोनोंने ही एक साथ अपने-अपने घर पधारनेके लिये भगवान्से प्रार्थना की। भगवान्ने दोनोंकी प्रार्थना स्वीकार की और उनको न जनाते हुए ही दो स्वरूप धारण करके एक ही साथ दोनोंके घर जाकर उनको कृतार्थ किया।

पाण्डवोंके साथ भगवान्का बड़ा ही स्नेहका सम्बन्ध था। ये सदा उनके हितचिन्तनमें ही लगे रहते थे।

द्रौपदीके स्वयंवरमें ब्राह्मणवेषमें छिपे हुए पाण्डवोंको भगवान्ने पहचान लिया और फिर वहीं पाण्डवोंको मणि, रत्न, गहने, स्वर्ण, वस्त्र, गृहसामग्री, दास-दासी, असंख्य रथ और हाथी-घोड़े देकर अतुलित ऐश्वर्यशाली बना दिया।

पाण्डव जब वनमें थे तो भगवान् उनसे मिलने गये। द्रौपदीने रो-रोकर अपनी दुःखकथा सुनायी। भगवान्ने वहीं कौरवकुलके नाशकी घोषणा कर दी और द्रौपदीको आश्वासन देकर वे वहाँसे विदा हो गये।

एक बार दुर्योधनने छलपूर्वक दुर्वासाजीको पाण्डवोंके पास भेजा। भगवान्ने वहाँ जाकर द्रौपदीकी बटलोईमेंसे एक पत्ता ढूँढ़ निकाला और उसे खाकर सारे विश्वको तृप्त कर दिया और इस तरह दुर्वासाके शापसे पाण्डवोंकी रक्षा की।

कौरवोंको समझानेके लिये भगवान् जब दूत बनकर हस्तिनापुर जाने लगे, तब एकान्तमें द्रौपदीने आकर उन्हें अपने खुले केश दिखलाये और दुःशासनके अत्याचारकी बात याद दिलायी। भगवान्ने आश्वासन देकर उसे सन्तुष्ट किया। हस्तिनापुरकी राहमें ऋषियोंका एक समूह मिला और सब ऋषियोंने हस्तिनापुर जाकर भगवान्के भाषण सुननेकी इच्छा प्रकट की और भगवान्की अनुमतिसे सबने वहाँ जाकर भगवान्का भाषण सुना।

कौरव-सभामें भगवान्ने नाना प्रकारकी युक्ति-प्रयुक्तियों-से दुर्योधनको समझानेकी बहुत चेष्टा की, परन्तु उसने भगवान्-की एक न सुनी और छलसे भगवान्को कैद करना चाहा। तब भगवान्ने उसे डाँटकर अपना दिव्य तेजोमय विराट् रूप दिखलाया। भगवान्के प्रत्येक रोम-कूपसे सूर्यकी किरणें निकल रही थीं और उनके नेत्रों, नासिकाओं और कर्णोंसे आगकी लपटें! भगवान्के इस रूपको देखकर सब चौंधिया गये। द्रोण, भीष्म, विदुर, सञ्जय और तपोधन ऋषियोंने भगवान्का यह स्वरूप देखा। फिर भगवान्ने विदुरके घर जाकर भोजन किया और वहाँसे लौट गये।

महाभारत-युद्धके लिये अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही भगवान्के पास पहुँचे। उनके इच्छानुसार भगवान्ने दुर्योधनको अपनी सेना और अर्जुनको अपनेको सौंपकर समदर्शिता और भक्तवत्सलताका प्रत्यक्ष परिचय दिया। महाभारत-युद्धमें भगवान्ने अर्जुनके सारथिका काम किया और पाण्डवोंकी ओरसे प्रायः सारे ही काम भगवान्ने अपनी सलाहसे करवाये। नाना प्रकारकी विपत्तियोंसे, ऐन मौकोंपर मौतके मुँहसे अर्जुनको बचाया और अन्तमें कौरवोंका संहार करवाकर पाण्डवोंको विजयी बनाया। इसी महाभारत-युद्धके आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनको दिव्य गीताका उपदेश दिया और विराट्रूप दिखलाया तथा अपने सर्वगुह्यतम पुरुषोत्तमतत्त्वका निरूपण किया।

उत्तराके गर्भमें अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे परीक्षित्को बचाया। भीष्मके द्वारा सबको ज्ञानका उपदेश करवाया। अश्वमेध-यज्ञमें पाण्डवोंकी सहायता की और अर्जुनको अनुगीताका उपदेश दिया।



देवताओंद्वारा अर्जुनको अस्त्रदान

तदनन्तर द्वारकाको लौटते हुए रास्तेमें महर्षि उत्तङ्कपर कृपा की और उन्हें अपना विराट् रूप दिखलाकर कृतार्थ किया। द्वारकामें अनेकों लीलाएँ कीं। गान्धारीके और ऋषियोंके शापसे यदुकुलका संहार हुआ। तदनन्तर व्याधके बाणको निमित्त बनाकर भगवान्ने अपनी इच्छासे परम धामको प्रयाण किया। उस समय वहाँ ब्रह्माजी, भवानीसहित श्रीशङ्करजी, इन्द्रादि तमाम देवता, प्रजापति, समस्त मुनि, पितर, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर आदि आये और गान करते हुए भगवान्की लीलाका वर्णन करने लगे। पुष्पोंकी वर्षा होने लगी और आकाश विमानोंकी कतारोंसे भर गया। भगवान् अपने दिव्य देहसे ऊपर उठते हुए सबके देखते-ही-देखते अपने परम धाममें प्रविष्ट हो गये। उन्हींके साथ-साथ सत्य, धर्म, धृति और कीर्ति भी चली गयी। ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता भगवान्की कीर्तिका बखान करते हुए अपने-अपने लोकोंको चले गये।

भक्तवर अर्जुन

गीताके पात्रोंमें दूसरा नंबर अर्जुनका है। अर्जुन 'नर' ऋषिके अवतार और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी थे। ये कुन्तीदेवीके सबसे छोटे पुत्र थे। अर्जुनमें स्वाभाविक ही इतने गुण थे कि जिनके कारण वे भगवान्के इतने प्रिय पात्र हो सके। उनका बल, रूप और लावण्य अपार था। शूरता, वीरता, सत्यवादिता, क्षमा, सरलता, प्रेम, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, बड़े भाईकी भक्ति, बुद्धि, विद्या, इन्द्रियसंयम, ब्रह्मचर्य, मनोनिग्रह, आलस्यहीनता, कर्मप्रवणता, शस्त्रज्ञान, शास्त्रज्ञान, दया, प्रेम, निश्चय, व्रतपरायणता, निर्मत्सरता और बहुमुखी अभिज्ञता आदि गुण इनके जीवनमें ओतप्रोत थे। इन्होंने द्रोणाचार्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी। अपनी गुरुभक्तिसे द्रोणाचार्यको इन्होंने इतना प्रसन्न कर लिया था कि वे अपने पुत्र अश्वत्थामाको भी न सिखाकर गुप्त-से-गुप्त अस्त्रोंका प्रयोग इन्हें सिखाते थे।

शिक्षा समाप्त होनेपर एक दिन गुरुने सबकी परीक्षा लेनी चाही। पेड़पर एक नकली पक्षीको बैठाकर उसीके सिरको निशाना बनाया गया। युधिष्ठिर आदि सबसे द्रोणाचार्यने पूछा कि तुमको क्या दीख रहा है। सबने कई चीजें बतलायीं। आखिर अर्जुनने कहा कि 'मुझको तो केवल पक्षीका सिर दीख रहा है।' द्रोणने आनन्दमें भरकर कहा—'बस, तुम बाण चलाओ। लक्ष्यका ध्यान इसी प्रकार करना चाहिये।'

एक बार द्रोणाचार्य अपने शिष्योंके साथ गङ्गाजी नहाने गये। जलमें उतरते ही एक मगरने उनकी जाँघ पकड़ ली। आचार्यने समर्थ होते हुए भी शिष्योंकी परीक्षाके लिये पुकारकर कहा—'इस मगरको मारकर कोई मेरी रक्षा करो।' द्रोणाचार्यकी बात पूरी होनेके पहले ही अर्जुनने पाँच बाण मारकर जलमें डूबे हुए मगरका काम तमाम कर दिया।

आचार्यकी प्रसन्नताके लिये ही उनके आज्ञानुसार अर्जुनने द्रुपदको जीतकर बंदीके रूपमें उनके सामने लाकर खड़ा कर दिया था।

स्वयंवरमें द्रौपदीको अर्जुनने जीता था, परन्तु माता कुन्तीके कथनानुसार पाँचों भाइयोंसे उनका विवाह हुआ। द्रौपदीको पूर्वजन्मका वरदान था, इसीसे ऐसा हुआ। द्रौपदीके सम्बन्धमें पाँचों भाइयोंने यह नियम बना रक्खा था कि जिस समय एक भाई उनके पास रहे उस समय चारों भाइयोंमेंसे कोई भी उस कमरेमें न जाय और यदि कोई जाय तो उसे बारह वर्षका वनवास हो। एक बार द्रौपदीके महलमें महाराज युधिष्ठिर थे। उस समय एक ब्राह्मणकी गायोंको चोरोंसे छुड़ानेके लिये अर्जुनको अस्त्र लेनेको अंदर जाना पड़ा और युधिष्ठिरके समझानेपर भी अर्जुनने नियमानुसार बारह वर्षका वनवास स्वीकार किया।

अर्जुन तीर्थोंमें घूमते रहे। इसी बीच नागकन्या उलूपी उन्हें मिली और मणिपुरमें राजकुमारी चित्राङ्गदासे उनका विवाह हुआ। एक बार अर्जुन ऐसे स्थानमें गये जहाँ पाँच तीर्थ थे, पर उनमें पाँच बड़े भारी ग्राह रहनेके कारण कोई वहाँ नहाता नहीं था। अर्जुन उन सरोवरोंमें नहाये और शापसे ग्राह बनी हुई पाँच अप्सराओंको शाप-मुक्त किया।

भगवान् श्रीकृष्णके साथ इनका बड़ा प्रेम था। वे इनके साथ घूमते और जल-विहार किया करते थे। अग्निको तृप्त करनेके लिये इन्होंने खाण्डव-वनका दाह किया। वहीं अग्निके द्वारा इन्हें दिव्य रथ और गाण्डीव धनुषकी प्राप्ति हुई। वहीं इन्द्रने आकर इनसे वरदान माँगनेको कहा। अर्जुनने दिव्य अस्त्र माँगे और परम प्रेमी भगवान्ने इन्द्रसे यह वर माँगा कि 'अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे।'

वनमें महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे अर्जुनने पाशुपतास्त्र प्राप्त किया। फिर इन्द्रके द्वारा बुलाये जानेपर ये स्वर्गमें गये। वहाँ इन्द्रने अपने आधे आसनपर बैठाकर इनका बड़ा सम्मान किया। वहीं इन्होंने गन्धर्वोंके द्वारा गान और नृत्यकी शिक्षा प्राप्त की।

स्वर्गमें उर्वशीने एकान्तमें अर्जुनके पास जाकर उनसे कामभिक्षाकी प्रार्थना की। अर्जुनने साफ कह दिया कि मैं दिक्पालोंको साक्षी करके कहता हूँ कि 'जैसे कुन्ती, माद्री और देवी इन्द्राणी मेरी पूजनीया माताएँ हैं, वैसे ही आप भी हैं। मैं तो आपका पुत्र हूँ।' इसपर उर्वशीने कुपित होकर इन्हें एक सालतक नपुंसक होनेका शाप दे दिया। वही शाप अर्जुनके लिये वर हो गया और उसीके प्रभावसे वे सालभरतक कौरवोंसे छिपकर विराट-नगरमें बृहन्नलाके नामसे राजकुमारी उत्तराके नृत्य-गीत-शिक्षक बनकर विराटके महलोंमें रह सके।

निवात-कवचोंको मारकर अर्जुन स्वर्गसे लौटे और अपनी चिन्तामें व्याकुल धर्मराज, भीम आदि भाइयोंसे मिले। इन्द्रके सारथि मातलिके लौट जानेपर स्वर्गसे लाये हुए दिव्य रत्नाभूषणोंको अर्जुनने द्रौपदीको दिया।

अर्जुनने समस्त लोकपालोंको प्रसन्न करके उन सबसे नाना प्रकारके शस्त्रास्त्र प्राप्त किये थे।

वनमें पाण्डवोंको अपना वैभव दिखलाकर उन्हें ईर्ष्यासे जलानेके लिये दुर्योधन रानियोंको साथ लेकर वनमें गये। वहाँ गन्धर्वोंने दुर्योधनको परास्त करके कैद कर लिया। कर्ण इत्यादि सब भाग गये। बचे हुए मन्त्रियोंने युधिष्ठिरके पास जाकर सबको छुड़ानेकी प्रार्थना की। दुर्योधनादिके कैद होनेकी बात सुनकर भीम बड़े प्रसन्न हुए। परन्तु धर्मराजने कहा कि 'भाई! आपसमें हम सौ और पाँच हैं, पर दूसरोंके लिये हम एक सौ पाँच हैं। फिर कौरवकुलकी स्त्रियोंका अपमान तो हम किसी तरह नहीं सह सकते। तुम चारों भाई जाओ और सबको छुड़ा लाओ।' आज्ञा पाकर अर्जुन गये। गन्धर्वोंसे घोर युद्ध किया। अन्तमें चित्रसेनने अर्जुनको अपनी मित्रताका स्मरण दिलाकर उनसे प्रेम कर लिया और दुर्योधन आदि सबको छोड़ दिया।

अज्ञातवासके समय विराट-नगरमें अर्जुन हिंजड़ेके रूपमें रहे और राजकुमारी उत्तराको नृत्य-गीतकी शिक्षा देने लगे। अन्तमें कौरवोंके आक्रमण करनेपर अर्जुनने बृहन्नलाके रूपमें ही उनको जीता और वीरोंके वस्त्राभूषण लाकर उत्तराको दिये। तदनन्तर महाभारत-युद्धकी तैयारी हुई और सब लोग युद्ध करनेके लिये कुरुक्षेत्रके मैदानमें इकट्ठे हुए। वहाँ भगवान्‌की आज्ञासे भगवती परमशक्तिरूपिणी दुर्गाजीको प्रसन्न करके अर्जुनने उनसे विजयका वरदान प्राप्त किया। ठीक युद्धकी तैयारीके समय गुरुजनों, स्वजनों और सम्बन्धियोंको देखकर अर्जुनको सात्त्विक मोह हो गया और भगवान्‌ने उन्हें महान् अधिकारी समझकर गीताका उपदेश दिया और उसमें अपने सर्वगुह्यतम पुरुषोत्तमयोगका रहस्य बतलाया तथा सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर अपनी शरणमें आनेके लिये आज्ञा दी। अर्जुनका मोह नष्ट हो गया। उन्होंने आज्ञा स्वीकार की और युद्ध आरम्भ हुआ। युद्धमें भगवान्‌ने अर्जुनके रथके घोड़े ही नहीं हाँके बल्कि एक प्रकारसे समस्त युद्धका सञ्चालन किया और हर तरहसे पाण्डवोंकी, खास करके अर्जुनकी रक्षा की।

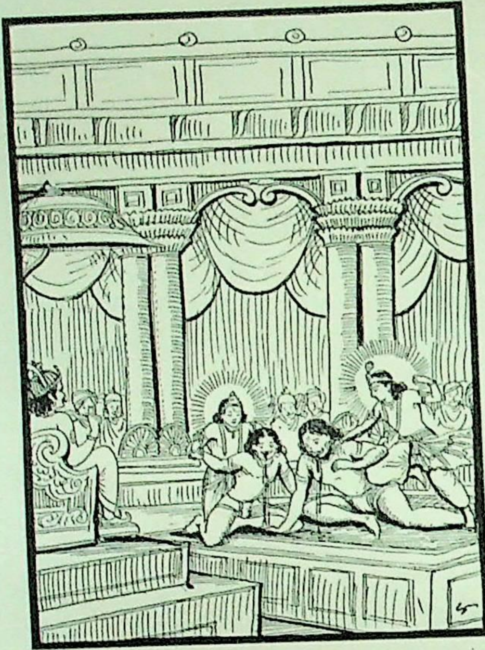
जिस दिन अर्जुनने सूर्यास्तसे पहले-पहले जयद्रथका वध करनेकी प्रतिज्ञा की, उस रातको भगवान् सोये नहीं और चिन्ता करते-करते उन्होंने अपने सारथि दारुकसे यहाँतक कह डाला कि 'मैं अर्जुनके विना एक मुहूर्त भी नहीं जी सकता। कल लोग देखेंगे कि मैं सब कौरवोंका विनाश कर दूँगा।' इसीसे पता चलता है कि अर्जुनका भगवान्‌में कितना प्रेम था और उस प्रेम-लीलामें भगवान् कहाँतक क्या-क्या करनेको तुल जाते थे।

दूसरे दिनके भयङ्कर युद्धमें भगवान्‌ने बड़े ही कौशलसे काम किया। थके हुए घोड़ोंको युद्धक्षेत्रमें ही भगवान्‌ने धोया और उनके घावोंको साफ किया और अन्तमें अपनी मायासे सूर्यास्तका अभिनय दिखलाकर अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूरी करवायी और अर्जुनसे कहकर जयद्रथके सिरको बाणोंके द्वारा ऊपर-ही-ऊपर चलाकर जयद्रथके पिताकी गोदमें गिरवाया और इस तरह एक ही साथ उसका भी संहार करवा दिया।

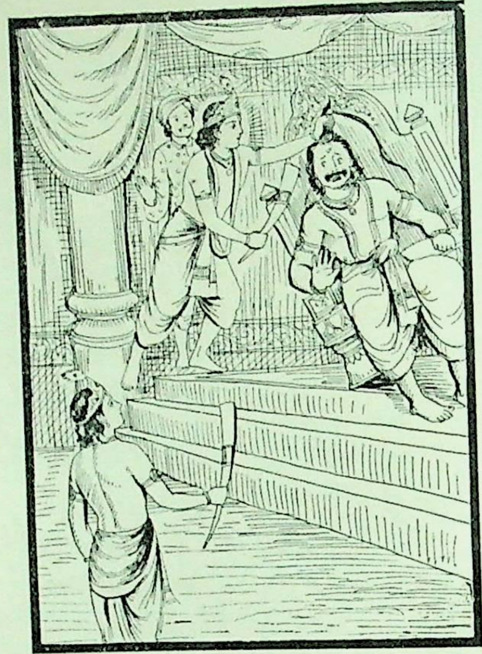
एक बार कर्णने एक बड़ा तीक्ष्ण बाण चलाया, उसकी नोकपर भयानक सर्प बैठा हुआ था। बाण छूटनेकी देर थी कि भगवान्‌ने घोड़ोंके घुटने टिकाकर रथके पहियोंको धरतीमें धँसा दिया। रथ नीचा हो गया और बाण निशानेपर न लगकर अर्जुनके मुकुटको गिराकर पार हो गया। इस तरह भगवान्‌ने अर्जुनकी रक्षा की।

महाभारत-युद्धके समाप्त होनेपर पाण्डवोंके अश्वमेध-यज्ञमें भगवान्‌ने अर्जुनकी बड़ी सहायता की और उसके बाद उन्हें अनुगीताका उपदेश दिया।

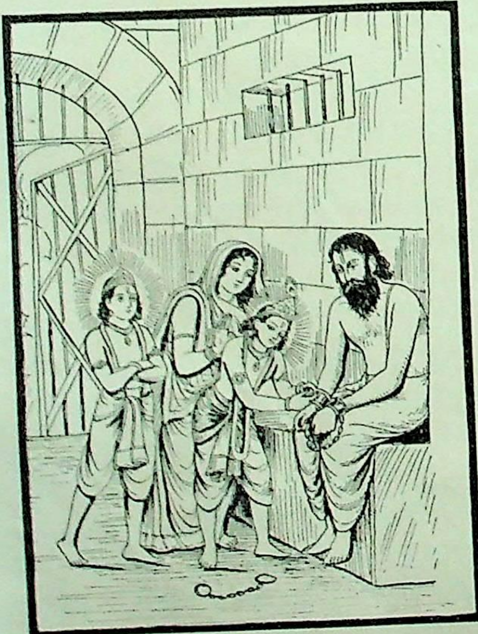
महाभारत-युद्धके पश्चात् छत्तीस वर्षतक पाण्डवोंके राज्य करनेपर भगवान्‌ने परमधामको प्रयाण किया। अर्जुन विलाप करते हुए धर्मराजके पास आये। तदनन्तर पाण्डवोंने भी हिमालयमें जाकर महाप्रस्थान किया।



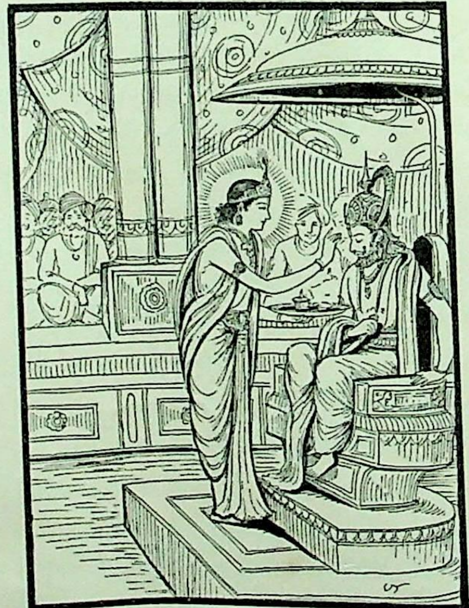
चाणूर-मुष्टिक-उद्धार



कंस-उद्धार



माता-पिताकी बन्धन-मुक्ति



उग्रसेनका राज्याभिषेक

श्रीमद्भगवद्गीताकी अनुष्ठानविधि

श्रीमद्भगवद्गीता भक्तवाञ्छाकल्पतरु साक्षात् भगवान्की वाणी है। इसलिये यह सर्वार्थमयी, सर्वार्थसाधिका और कामधेनुसे भी कहीं बढ़कर सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली है। इसका प्रत्येक श्लोक मन्त्र है और श्रद्धा तथा विधिपूर्वक अनुष्ठान किये जानेपर अभीष्ट फल देनेवाला है। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीतामें दयामय भगवान्ने उच्च-से-उच्च दार्शनिक तत्त्वोंकी आलोचना की है और चरम तथा परम तत्त्वका रहस्योद्घाटन किया है। भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिके साधन कर्मयोग, सांख्ययोग और भक्तियोगके ऊँचे-से-ऊँचे सर्वथा निर्दोष और विशुद्ध स्वरूपोंका प्रतिपादन किया है तथा सब लोगोंको दैवी गुणोंसे युक्त होकर आसक्ति और फलकामनाका त्याग करके कर्म करनेकी आज्ञा दी है। वस्तुतः ऐसा ही करना भी चाहिये। मनुष्य-जीवन भोगप्राप्तिके लिये कदापि नहीं है, यह तो भगवान्की प्राप्तिके लिये ही है और इसके प्रत्येक क्षणको भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगानेसे ही जीवनका सदुपयोग होता है और दुर्लभ भगवत्कृपासे प्राप्त दुर्लभ मानव-शरीरकी प्राप्तिका उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। जो मनुष्य भगवान्की भक्ति करके बदलेमें इस लोक और परलोकके भोग्यपदार्थोंकी चाह करते हैं, उन्होंने वस्तुतः न तो भगवान्के ही महत्त्वको समझा है और न भगवान्की भक्तिके प्रति ही उनके चित्तमें सम्यक् श्रद्धा और सम्मान्य-बुद्धि है। कहाँ भगवान्की दिव्यसुधावर्षिणी नित्यानन्दमयी मधुर भक्ति और कहाँ दुःखपरिणामी संसारके तुच्छ भोग! ऐसी महिमामयी भक्तिके बदलेमें दोषपूर्ण भोगोंकी इच्छा करना वस्तुतः बुद्धिमानी नहीं है। इस बातको भगवान्ने गीतामें श्रीमुखसे भलीभाँति प्रमाणित कर दिया है और भोगसुखकी इच्छाका त्याग करके ममता, कामना, आसक्तिसे रहित होकर या कर्तृत्वाभिमानको सर्वथा छोड़कर कर्तव्य-कर्मका आचरण करनेके लिये आज्ञा दी है। इस तत्त्वको समझकर जो नर-नारी कामना, ममता, आसक्ति और अभिमानका त्याग करके सर्वथा निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही भगवान्की इस गीताका अध्ययन करते हैं, उसके मन्त्रस्वरूप श्लोकोंका पठन और मनन करते हैं, वे ही वस्तुतः गीताके महत्त्वको कुछ समझते हैं, वे ही गीताकी शिक्षाका समुचित आदर करते हैं और वे ही गीताके प्रतिपाद्य परम तत्त्वका शीघ्र साक्षात्कार कर शाश्वती परमा शान्तिको और अखण्ड अनन्तानन्दको प्राप्त होते हैं। तथापि भगवान् बड़े दयालु हैं, अतएव उन्होंने सकाम, अर्थार्थी और आर्त भक्तोंको भी पुण्यशील, उदार और अपना प्रिय माना है, उनकी जरा भी अवहेलना न करके उनको भी अन्तमें अपने प्राप्त होनेका स्पष्ट आश्वासन दिया है और खुले शब्दोंमें इस बातकी घोषणा कर दी है (मद्भक्ता यान्ति मामपि ७। २३)। इसीलिये, जो लोग गीतामें श्रद्धा रखते हैं, परन्तु जो कामना-राज्यसे बाहर नहीं निकल पाये हैं, उनके लिये मन्त्रमयी गीता कल्पतरु-सदृश है और विशेषता यह है कि भगवान्की वाणी होनेसे गीताका सकाम अनुष्ठान भी क्रमशः अन्तःकरणकी शुद्धिका परम कारण होकर अन्तमें निष्कामभाव उत्पन्न करके भगवान्के तत्त्वज्ञान और विशुद्ध अनन्य-भक्तिका उद्भव करानेवाला होता है।

यों तो गीताके सभी श्लोक मन्त्र हैं और विभिन्न लौकिक तथा पारमार्थिक मनोरथोंके लिये उनका यथाविधि अनुष्ठान किया जा सकता है; परन्तु चौथा, नवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ, तेरहवाँ और पन्द्रहवाँ अध्याय तो मन्त्रकी दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण है।

इस सम्बन्धमें पूज्यचरण वयोवृद्ध महानुभाव पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, पं० श्रीजगन्नाथजी पाण्डेय, व्या० आ० काव्यतीर्थ, काव्यविशारद, श्रीआनन्दजी, पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी ज्योतिषाचार्य और वृन्दावनके एक महात्माजीने लेख भेजनेकी कृपा की है तथा दूसरे-दूसरे सूत्रोंसे भी कुछ पता लगा है। अतएव यहाँ उन सबका सार संक्षेपमें लिखा जाता है।

अनुष्ठान करनेवालोंके लिये अनुष्ठान करते समय निम्नलिखित नियमोंका पालन अत्यन्त आवश्यक है—

१ भूमिपर शयन करना।

२ सूर्योदयसे पहले उठना।

३ एक समय शुद्ध सात्त्विक भोजन करना और अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करना।

४ सत्य बोलना और जहाँतक हो, बहुत ही कम बोलना।

५ यथासाध्य निरन्तर 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप मन-ही-मन करते रहना।

मन्त्र-जप करनेवालोंको चाहिये कि शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर शुद्ध, घरमें धोया हुआ सूती या बिना हिंसाका रेशमी वस्त्र पहनकर शुद्ध चादर ओढ़कर कुश या ऊनके आसनपर बैठें और नियमानुसार सन्ध्या, गायत्री-जप आदि करनेके बाद 'ॐ केशवाय नमः', 'ॐ नारायणाय नमः', 'ॐ माधवाय नमः', 'ॐ मधुसूदनाय नमः', 'ॐ गोविन्दाय नमः' का उच्चारण करके भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करें। फिर सङ्कल्प करें कि मैं अमुक कार्यकी सिद्धिके लिये अमुक मन्त्रका इतना जप करूँगा। फिर 'ॐ क्लीं कृष्णाय नमः' से अथवा जिस मन्त्रका जप करना हो, उसी मन्त्रसे अङ्गन्यास और करन्यास करें। अङ्गन्यास और करन्यासकी विधि पृष्ठ १५३ 'पाठविधि' शीर्षक लेखमें छपी है, उसको पढ़ लें। उसमें सिर्फ मन्त्र बदल लें। न्यास वैसे ही करें। तदनन्तर हाथमें तुलसी और पुष्प लेकर भगवान् श्रीकृष्णका निम्नलिखित मन्त्रसे आवाहन करें—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णकी षोडशोपचार या पञ्चोपचार-से पूजा करें, इसके बाद निश्चिन्त और एकाग्र मनसे मन्त्रका जप करें। जप करते समय बीचमें बोलें नहीं। जहाँतक हो भगवान्के विग्रहकी ओर दृष्टि रक्खें या मन-ही-मन भगवान्का ध्यान करते रहें। इधर-उधर ताकें नहीं, शान्त और प्रसन्न चित्तसे जप करें।

सबमें प्रधान वस्तु श्रद्धा है। इस अनुष्ठानको वे ही लोग करें जिनके हृदयमें यह दृढ़ श्रद्धा हो कि इस जपसे हमारा अभीष्ट अवश्य सिद्ध हो ही जायगा। तथा जप करते समय इसी श्रद्धाको हृदयमें बनाये रक्खें और यथासाध्य बढ़ाते जायँ। एक बारमें कार्य सिद्ध न हो तो श्रद्धापूर्वक तीन बार या सात बार अनुष्ठान करना चाहिये।

जपके बाद उसी मन्त्रसे दशांश हवन करें। हवनकी सामग्रीमें तिल, मेवा, शक्कर और घी अवश्य मिलाया जाय। हलुएकी बलि समर्पण करें। एक मनुष्य खा सके इतना हलुआ या शक्तिके अनुसार इससे कम, शुद्धतापूर्वक बनाकर बायें हाथके अँगूठे और तर्जनीको मिलाकर 'एष बलिः श्रीकृष्णाय नमः' कहकर बड़े ही विनय और श्रद्धाके साथ भगवान्के अर्पण करें। उस बलिदानके पदार्थको किसी पवित्र बर्तनसे ढककर रातको अपने सिरहाने रखकर अपनी कामनापूर्तिके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हुए और मन्त्रका उच्चारण करते हुए सो रहना चाहिये तथा प्रातः उसे किसी गायको खिला देना चाहिये।

क्षमा-याचना

जप करनेके बाद निम्नलिखित श्लोकोंके द्वारा अत्यन्त नम्रतापूर्वक भगवान्से क्षमा-याचना करनी चाहिये।

आवाहनं न जानामि नैव जानामि पूजनम्।
विसर्जनं न जानामि क्षमस्व परमेश्वर॥
अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।
तस्मात्कारुण्यभावेन क्षमस्व परमेश्वर॥
गतं पापं गतं दुःखं गतं दारिद्र्यमेव च।
आगता सुखसम्पत्तिः पुण्याच्च तव दर्शनात्॥
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं सुरेश्वर।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे॥
यदक्षरपदभ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर॥
यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥
प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।
स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः॥

तदनन्तर 'अनया यथोपचारपूजया श्रीभगवान् कृष्णः प्रीयतां न मम' कहकर साष्टाङ्ग प्रणाम करना चाहिये। तदनन्तर भगवान्के चरणोदकको निम्नलिखित श्लोक बोलते हुए मस्तकपर धारण करना तथा पान करना चाहिये—

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥
विष्णुपादाभिषिक्तं यः पात्रेणैव पिबेज्जलम्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम्॥

जप करनेवाले इन बातोंपर अवश्य ध्यान दें—

१-जिस मन्त्रको सिद्ध करना हो उसका

जन्माष्टमीकी रात्रिको, शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिको, दीपमालिकाकी रात्रिको अथवा वैशाखी पूर्णिमाकी रात्रिको पवित्रतापूर्वक आसनपर बैठकर तीन हजार जप कर ले। इसके बाद उस मन्त्रका अनुष्ठान करनेसे विशेष लाभ होता है।

२-जपके पहले भगवद्गीताका पूरा, छः अध्याय, तीन अध्याय, नहीं तो, कम-से-कम एक पन्द्रहवें अध्यायका पाठ अवश्य कर ले।

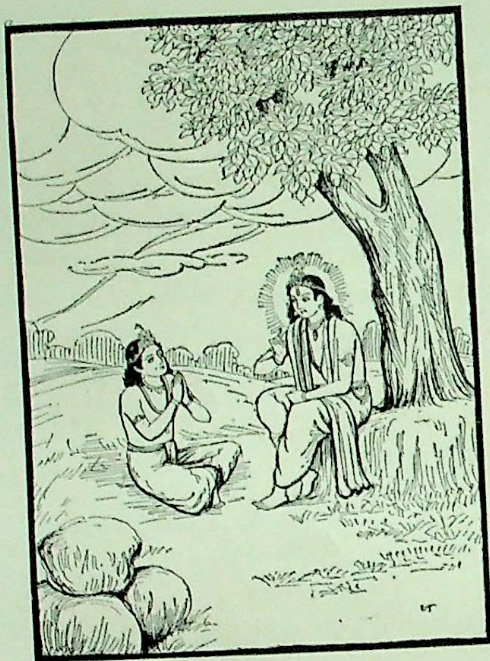
३-प्रत्येक जप करनेवालेको ११वें अध्यायके ११ पाठ आदि, अन्त या मध्यमें नौ दिनोंतक अवश्य करने चाहिये। जप पूर्ण होनेपर, हो सके तो, विधिवत् उसी मन्त्रसे हवनका दशांश तर्पण और उसका दशांश या अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मण-भोजन कराना उचित है।

जपके मन्त्रोंकी तालिका

मन्त्र (पूरे श्लोकका जप करना चाहिये)	अध्याय-श्लोक	संख्या	कितने दिनोंमें	ध्यान	फल	
					लौकिक	पारमार्थिक
१ धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे०	१।१	२५०००	२१	पार्थसारथि	सर्वकार्यसिद्धि	अन्तःकरणशुद्धि
२ कुतस्त्वा कश्मलमिदं०	२।२	२५०००	११	,,	रोगनाश	मानस-तापनाश
३ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः०	२।७	५१०००	२१	,,	स्वप्नसिद्धि	शरणप्राप्तिकी योग्यता
४ व्यामिश्रेणेव वाक्येन०	३।२	११०००	११	,,	स्वप्नादेश	अन्तःकरणशुद्धि
५ लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा०	३।३	१२५०००	४१	,,	विपत्तिनाश	चित्तकी चञ्चलताका नाश
६ एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा०	३।४३	४१०००	२१	गोपालकृ०	कामपर विजय	कामादि शत्रुभयसे छुटकारा
७ अपरं भवतो जन्म०	४।४	५०००००	१५०	पार्थसारथि	पूर्वजन्म-ज्ञान	विश्वासमें दृढ़ता
८ बहूनि मे व्यतीतानि०	४।५	६०००००	५१	,,	दूसरेके पूर्वजन्मका ज्ञान	भक्तिमें दृढ़ता
९ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं०	५।५	४००००	३१	,,	आकस्मिक द्रव्यप्राप्ति	सांख्यनिष्ठाकी योग्यता
१० भोक्तारं यज्ञतपसां०	५।२९	४३०००	२१	,,	सर्वापत्तिनाश	साधनके विघ्नोंका नाश
११ बन्धुरात्मात्मनस्तस्य०	६।६	२१०००	२१	,,	द्वेषियोंपर विजय	द्वेष-भावका नाश
१२ शनैः शनैरुपरमेद्०	६।२५	१३०००	२६	,,	शत्रुओंपर विजय	मनपर विजय और ध्यानकी योग्यता
१३ यतो यतो निश्चरति०	६।२६					
१४ यो मां पश्यति सर्वत्र०	६।३०	५१००००	१५०	गोपालकृ०	सर्वप्रियता	भक्तिकी परिपक्वता
१५ सर्वभूतस्थितं यो मां०	६।३१	५१००००	१५७	पार्थसारथि	ऋणमुक्ति	ज्ञानकी परिपक्वता
१६ मत्तः परतरं नान्यत्०	७।७	१२५०००	७५	,,	असाध्यरोगनाश	सर्वत्र भगवद्दर्शनकी यो०
१७ अभ्यासयोगयुक्तेन०	८।८	१५००००	५०	,,	शत्रुसे विछोह	कामादि शत्रुओंका नाश
१८ न च मां तानि कर्माणि०	९।९	१९००००	२१०	,,	सन्तानप्राप्ति	कर्मयोगकी परिपक्वता
१९ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां०	९।२२	१२५०००	७५	,,	योगक्षेमकी प्राप्ति	योगक्षेमकी प्राप्ति
२० पत्रं पुष्पं फलं तोयं०	९।२६	१५००००	५०	गोपालकृ०	सुखकी प्राप्ति	भगवद्दर्शनकी योग्यता
२१ यत्करोषि यदश्नासि०	९।२७	१५००००	५०	पार्थसारथि	सत्-कार्यसिद्धि	भगवत्कृपा
२२ मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य०	९।३२	१५००००	५०	,,	भयनाश	शरणागतिकी योग्यता
२३ मन्मना भव मद्भक्तो०	९।३४	२१००००	७५	,,	सिद्धिप्राप्ति	शरणागतिकी योग्यता
२४ यो मामजमनादिं च०	१०।३	१५००००	५०	,,	दुःखनाश	पापनाश

मन्त्र (पूरे श्लोकका जप करना चाहिये)	अध्याय-श्लोक	संख्या	कितने दिनोंमें	ध्यान	फल लौकिक	फल पारमार्थिक
२५ तेषां सततयुक्तानां०	१०।१०	३६०००	३१	,,	विपत्तिनाश	योगयुक्त होना
२६ वक्तुमर्हस्यशेषेण०	१०।१६	३६०००	३१	,,	लक्ष्मीप्राप्ति	भगवत्कृपा
२७ दिव्यमाल्याम्बरधरं०	११।११	१३०००	१५	,,	विघ्ननाश	विघ्ननाश
२८ अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं०	११।१६	१३०००	१५	,,	धनप्राप्ति	विवेकप्राप्ति
२९ त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः०	११।३८	१५०००	१५	,,	प्रेमवृद्धि	प्रेमवृद्धि
३० वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः	११।३९	१५०००	१५	,,	प्रेतबाधानाश	मनःसंयम
३१ नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते०	११।४०	१५००००	५०	,,	दरिद्रतानाश	मोहनाश
३२ यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि	११।४२	१५००००	५०	,,	लक्ष्मीप्राप्ति	विवेकप्राप्ति
३३ पितासि लोकस्य चराचरस्य	११।४३	१५०००	१५	,,	अप्रसन्नकी प्रसन्नता	भगवत्प्रसन्नता
३४ तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं	११।४४	१५००००	५०	पार्थसारथि	गुरुजनोंके द्वारा अपराध-क्षमा	भगवान्के द्वारा अपराध-क्षमा
३५ अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा	११।४५*	१५००००	५०	,,	ऐश्वर्यप्राप्ति	भगवद्दर्शन
३६ तेषामहं समुद्धर्ता०	१२।७	१५००००	५०	,,	ऋणमुक्ति	भगवत्प्राप्तिकी योग्यता
३७ श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्०	१२।१२	१५०००	२१	,,	दुःखवियोग	दोषनाश
३८ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि०	१३।१२	५०००००	१५०	,,	सर्वसत्कार्यसिद्धि	भगवद्भक्ति
३९ सर्वतःपाणिपादं तत्०	१३।१३	२५०००	२५	,,	कार्यसिद्धि	अन्तःकरणशुद्धि
४० यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु०	१४।१४	१०००००	५१	,,	मृत्युकालका ज्ञान	मृत्युकालमें भगवत्स्मरण
४१ अहं वैश्वानरो भूत्वा०	१५।१४	१५००००	१५	,,	उदररोगनाश	विवेक-ज्ञान
४२ सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो०	१५।१५	११००००	११०	,,	शत्रुहानि	क्रोधका शमन
४३ यो मामेवमसंमूढो०	१५।१९	१५००००	५०	,,	वैभवकी प्राप्ति	भक्ति
४४ अनेकचित्तविभ्रान्ताः०	१६।१६	१००००	११	,,	शत्रुपक्षमें हलचल	दोषनाश
४५ त्रिविधं नरकस्येदं०	१६।२१	१५००००	१५०	,,	शत्रुविजय	काम-क्रोध-लोभपर विजय
४६ श्रद्धया परया तप्तं०	१७।१७	७५०००	१५	,,	शत्रु-भयनाश	कामक्रोधादि छः शत्रुओंपर विजय
४७ ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता०	१८।१८	१५०००	२१	,,	प्रेमवृद्धि	प्रेमवृद्धि
४८ मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि०	१८।५८	१५००००	५०	,,	विघ्ननाश	विघ्ननाश
४९ मन्मना भव मद्भक्तो०	१८।६५	१५००००	५०	,,	सिद्धिप्राप्ति	शरणागतिकी योग्यता
५० सर्वधर्मान्परित्यज्य०	१८।६६	५०००००	१५०	,,	सर्वकार्यसिद्धि	भगवत्प्राप्तिकी विशेष योग्यता
५१ यत्र योगेश्वरः कृष्णो०	१८।७८	१५००००	५०	,,	ऐश्वर्यप्राप्ति	भगवत्कृपा

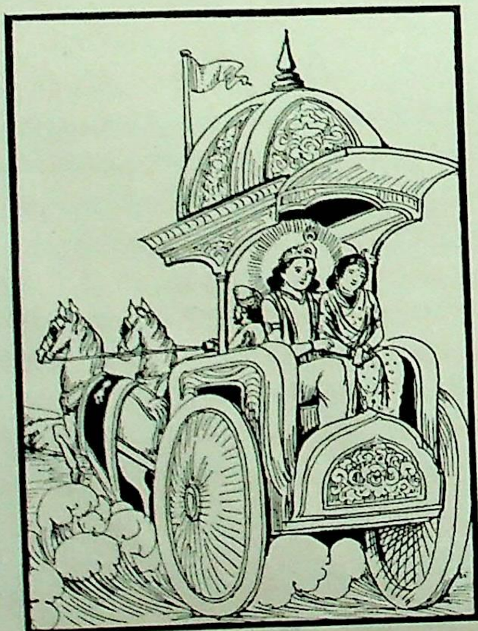
* ११वें अध्यायके ४९, ५०, ५१वें श्लोकोंके इसी संख्याके अनुष्ठानका भी यही फल है।



श्रीकृष्ण-उद्धव



मुचुकुन्दको दर्शन



रुक्मिणी-हरण

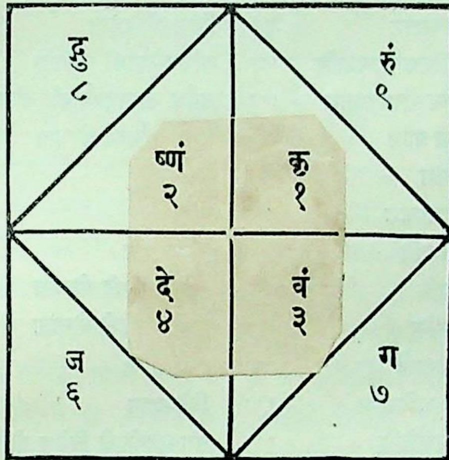


रुक्मी-विरूपकरण

ध्यान

'गीतातत्त्वांक' में पृष्ठ ५ पर छपे हुए चित्रके अनुसार गोपालकृष्णका और पृष्ठ १ पर छपे हुए चित्रके अनुसार पार्थ-सारथिरूपका ध्यान करना चाहिये ।

यन्त्र नं० १



ऊपर जो बीसा यन्त्र नं० १ छपा है, मन्त्र-जप करनेवालेको भगवान्की पूजाके साथ-साथ इसकी भी पूजा करनी चाहिये । पहले सफेद चन्दनके चौड़े टुकड़ेपर क्रमसे १ से लेकर ९ तक यथास्थान अंकोंको और फिर 'कृ'से लेकर 'रुं' तक अक्षरोंको यथास्थान अनारकी कलमके द्वारा लाल चन्दनसे १०८ बार लिखना चाहिये और लिखते समय प्रत्येक बार 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्' का उच्चारण करना चाहिये ।

गीताके दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकको देवशयनी एकादशी-से आरम्भ करके देवोत्थानी एकादशीतक प्रत्येक एकादशीको रात्रिके समय पवित्र वस्त्रोंसे युक्त होकर, पवित्र शय्यापर बैठकर गीतोक्त रथपर बैठे हुए भगवान्का ध्यान करते हुए तथा अर्जुनकी ही भाँति भगवान्से कातर प्रार्थना करते हुए १०८ बार पढ़ना चाहिये । इससे किसी एकादशीको स्वप्नमें भगवान्-का यथायोग्य आदेश हो जायगा । इसमें भी साधककी श्रद्धा, धारणा और पवित्रता अत्यन्त अपेक्षित है । साधक जितना ही उत्तम होगा, उतनी शीघ्रतासे उसे अनुभव होगा ।

११वें अध्यायके ३६वें श्लोकसे जलको अथवा विभूतिको अभिमन्त्रित करके जिसको प्रेत-बाधा हो उसे दे देनेसे प्रेत-बाधा छूट जाती है । रोग-पीड़ित मनुष्यको दे देनेसे, उसे भी लाभ होता है ।

मनुष्यके किसी भारी रोगमें अथवा किसी पशुके अत्यन्त रोग-पीड़ित हो जानेपर इस मन्त्रका तीन हजार जप करके एक हाथसे एक लोटा जल कुएँसे निकालकर उपर्युक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रित कर रोगपीड़ित मनुष्यको धीरे-धीरे कई घंटोंमें या कई दिनोंमें पिला देनेपर और पशु आदिको सानीमें मिलाकर या और किसी तरहसे पिला देनेपर रोग शान्त हो जाता है ।

११वें अध्यायके ३९वें श्लोकसे भी कुश अथवा नीम-की डालीके द्वारा कई बार झाड़नेपर प्रेतबाधा नष्ट हो जाती है ।

सम्पुट पाठ

श्रीमद्भगवद्गीताका निष्कामभावसे जितना हो सके, प्रति-दिन पाठ किया जाय तो भगवान्की कृपासे भक्ति और ज्ञान-की प्राप्ति और भगवान्का साक्षात्कार होकर मनुष्य-जीवनका उद्देश्य सफल हो सकता है । **श्रद्धा तो अत्यन्त आवश्यक है ही, पवित्रता और दैवी-सम्पत्तिके गुणोंका अर्जन करते हुए ही पाठ करना चाहिये ।** जो लोग गीताके उपदेशके अनुसार अपना जीवन बनाते हैं और प्रतिदिन गीताका पूरा पाठ करते हैं उनके लिये तो कहना ही क्या है !

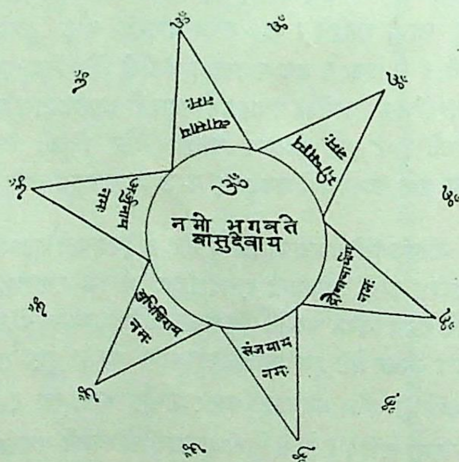
जैसे गीताके भिन्न-भिन्न श्लोकोंका अनुष्ठान किया जाता है, वैसे ही गीतापाठका अनुष्ठान भी हुआ करता है । भिन्न-भिन्न पुरुषोंद्वारा भिन्न-भिन्न कामनाओंकी पूर्तिके लिये भिन्न-भिन्न श्लोकोंके सम्पुट लगाकर पाठ किये जाते हैं । सम्पुट दो प्रकारके होते हैं—गीताके प्रत्येक श्लोकके बाद सम्पुटका श्लोक पढ़कर अगले श्लोकका पाठ करना 'सम्पुट' कहलाता है और प्रत्येक श्लोकके पहले और पीछे अर्थात् एक श्लोकके पाठके बाद दूसरे श्लोकके पाठके पहले बीचमें सम्पुटके श्लोकका दो बार उच्चारण करना 'सम्पुटवल्ली' कहलाता है । इनमें सम्पुटवल्लीका विशेष माहात्म्य है ।

यद्यपि गीताका प्रत्येक श्लोक ही सम्पुटके काममें लाया जा सकता है, क्योंकि गीताके सभी श्लोक मन्त्र हैं और मनोरथकी सिद्धि करनेवाले हैं । एक महात्माने क्रमसे गीताके प्रत्येक श्लोकका सम्पुट दे-देकर सात सौ पाठ किये थे और उनको, कहते हैं कि भगवत्कृपासे गीता सिद्ध हो गयी थी । तथापि यहाँ कुछ थोड़े-से श्लोक सम्पुटके लिये लिखे जाते हैं ।

सम्पुटके श्लोक	अध्याय और श्लोक	कितने पाठ करने हैं	फल	
			लौकिक	पारलौकिक
कुतस्त्वा कश्मलमिदं॰ ...	२।२	१००	रोगनाश ...	मानसताप-नाश
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः॰ ...	२।७	५१	स्वप्नसिद्धि ...	शरणप्राप्तिकी योग्यता
लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा॰ ...	३।३	१००	विपत्तिनाश ...	चित्तकी चञ्चलताका नाश
अपरं भवतो जन्म॰ ...	४।४	१५०	पूर्वजन्मज्ञान ...	विश्वासमें दृढ़ता
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं॰ ...	५।५	५१	आकस्मिक द्रव्यप्राप्ति ...	सांख्यनिष्ठाकी योग्यता
मत्तः परतरं नान्यत्॰ ...	७।७	१००	असाध्य रोगका नाश ...	सर्वत्र भगवद्दर्शनकी योग्यता
पत्रं पुष्पं फलं तोयं॰ ...	९।२६	१५१	सुखकी प्राप्ति ...	भगवद्दर्शनकी योग्यता
दिव्यमाल्याम्बरधरं॰ ...	११।११	५१	विघ्ननाश ...	विघ्ननाश
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या॰	११।३६	५१	प्रेतबाधानाश ...	मनःसंयम
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि॰ ...	११।४२	१००	लक्ष्मीप्राप्ति ...	विवेकप्राप्ति
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा॰ ...	११।४५	१००	धनप्राप्ति ...	भगवद्दर्शनकी योग्यता
तेषामहं समुद्धर्ता॰ ...	१२।७	१००	ऋणमुक्ति ...	भगवत्प्राप्तिकी योग्यता
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि॰ ...	१३।१२	५१	सर्वसत्कार्यसिद्धि ...	भगवद्भक्ति
अहं वैश्वानरो भूत्वा॰ ...	१५।१४	५१	उदरव्याधिनाश ...	विवेकज्ञान
सर्वधर्मान् परित्यज्य॰ ...	१८।६६	१५१	सर्वकार्यसिद्धि ...	भगवत्प्राप्तिकी विशेष योग्यता

इनके अतिरिक्त और श्लोकोंसे भी सम्पुट दिये जा सकते हैं। **गीताका पाठ 'गीता-तत्त्वाङ्क' पृष्ठ १५३ में छपी हुई पाठ-विधिके अनुसार मङ्गलाचरण, अङ्गन्यास, करन्यास, ध्यान, विनियोग और संकल्पादि करके ही करना चाहिये। प्रतिदिन पूरा पाठ हो तो सर्वोत्तम है, नहीं तो नौ-नौ अध्यायके क्रमसे दो दिनमें, छः-छः अध्यायके क्रमसे तीन दिनमें; पहले दिन १ और २ अध्यायके, दूसरे दिन ३, ४, ५, तीसरे दिन ६, ७, ८, चौथे दिन ९, १०, पाँचवें दिन ११, १२, १३, छठे दिन १४, १५, १६ और सातवें दिन १७, १८,—इस प्रकार सात दिनमें और दो-दो अध्यायके क्रमसे नौ दिनोंमें पूरा पाठ कर सकते हैं। न हो सके तो प्रतिदिन एक अध्यायके क्रमसे १८ दिनोंमें पूरा पाठ कर लेना चाहिये।** पाठके पहले भगवान् श्रीकृष्णका और दूसरे कालमपर छपे हुए षट्कोण यन्त्र नं० २ का विधिवत् पूजन करना चाहिये। यन्त्र तामेके पत्रपर खुदवा लेना चाहिये और उसे पवित्रताके साथ रखना चाहिये, नहीं तो चन्दनके चौकोर टुकड़ेपर प्रतिदिन अनारकी कलमके द्वारा लाल चन्दनसे लिख लेना चाहिये।

यन्त्र नं० २

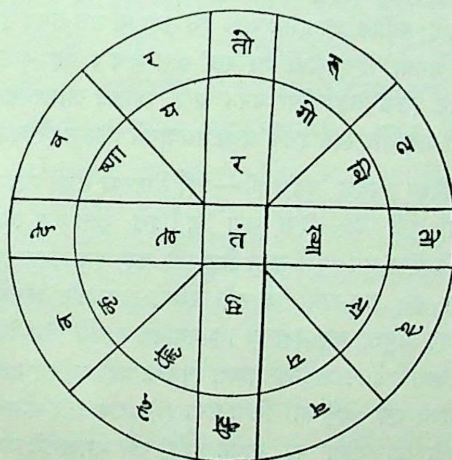


यन्त्र नं० ३

कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण
कृष्ण	क्लीं कृष्णाय नमः	कृष्ण
कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण

श्रीमद्भगवद्गीताका एक वर्षतक विना नागा पूरा पाठ प्रतिदिन करनेसे प्रत्येक कार्य सिद्ध हो सकता है। पाठ, पाठ-विधिके अनुसार अङ्गन्यास आदि करके ही करना चाहिये और ऊपर छपा हुआ नव कोष्ठकवाला यन्त्र नं० ३ तामेके पत्रपर लिखवाकर या सफेद चन्दनपर ऊपर-लिखे प्रकारसे ही प्रतिदिन लाल चन्दनसे लिखकर उसकी पूजा करनी चाहिये और 'क्लीं कृष्णाय नमः' मन्त्रके तीन हजार जप पाठ समाप्त होनेपर प्रतिदिन अवश्य कर लेने चाहिये।

यन्त्र नं० ४



इसी प्रकार भगवान्‌की प्रत्यक्ष कृपा प्राप्त करनेके लिये ऊपर छपे हुए यन्त्र नं० ४ के अनुसार तामेके पत्रपर या सफेद चन्दनपर यन्त्र शुद्धरूपसे खुदवा कर प्रतिदिन उसकी पूजा करते हुए पाठ-विधिके अनुसार गीताका पूरा पाठ प्रतिदिन करना चाहिये और 'ॐ ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं कृष्णाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इस अष्टादशाक्षर मन्त्रका प्रतिदिन ११०० जप करना चाहिये। विना नागा तीन वर्षतक लगातार प्रतिदिन पाठ और जप होनेसे प्रत्यक्ष भगवत्कृपाकी प्राप्ति होती है और भगवान्‌के साक्षात्कारके लाभमें अत्यन्त सुविधा हो जाती है।

चालीस दिनोंतक प्रतिदिन संहारक्रमसे तीन पाठ करनेसे अर्थात् अठारहवेंसे आरम्भ करके पहले अध्यायतक उलटे क्रमसे पाठ करनेसे बन्धनमुक्ति होती है।

इसी प्रकार धनकी कामनासे चालीस दिनोंतक प्रतिदिन स्थितिक्रमसे तीन पाठ करनेसे अर्थात् छठे अध्यायसे आरम्भ करके अठारहवेंतक, फिर चौथेसे पहले अध्यायतक इस क्रमसे पाठ करनेसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार विवाहकी कामनासे सृष्टिक्रमसे अर्थात् प्रथमसे आरम्भ करके अष्टादश अध्यायतक पाठ करनेसे छः महीनेमें विवाह होता है।

संन्यासियोंके लिये संहारक्रम, गृहस्थोंके लिये स्थिति-क्रम और ब्रह्मचारियोंके लिये सृष्टिक्रम श्रेष्ठ है।

सब मनोरथोंकी सिद्धिके लिये 'यत्र योगेश्वरः' (१८ । ७८) मन्त्रका सम्पुट देकर पाठ करना चाहिये और समस्त रोगोंके नाशके लिये इसी मन्त्रसे दशम अध्यायका सम्पुट देकर पाठ करना चाहिये।

भोजनसे पहले प्रतिदिन पन्द्रहवें अध्यायका पाठ करनेसे बहुत लाभ होता है।

जप करनेके बाद जो क्षमा-याचनाके श्लोक लिखे हैं, पाठ करनेके बाद भी उन्हीं श्लोकोंसे क्षमा-याचना करके चरणोदक ले लेना चाहिये।

गीतानुष्ठानकी बहुत-सी और विधियाँ हैं। यहाँ थोड़ी-सी ही लिखी गयी हैं। लेख भेजनेवाले महानुभावोंके द्वारा इनमेंसे कई अनुष्ठान अनुभूत हैं, ऐसा मालूम हुआ है। हमारा विश्वास है कि पूर्ण श्रद्धा, अटल विश्वास और पूरी विधिके साथ अनुष्ठान करनेपर अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होनी चाहिये। हमने स्वयं सब मन्त्रोंका अनुष्ठान करके अवश्य ही अनुभव नहीं किया है। अतएव पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे यदि चाहें तो सच्ची श्रद्धाके साथ अनुष्ठान करें,

परीक्षा, कौतूहल-निवृत्ति अथवा दोष-दृष्टिसे नहीं और अनुष्ठान करनेपर किन्हींको कुछ सफलता प्राप्त हो तो कृपया अवश्य सूचना दें; परन्तु यदि किसी खास कर्मजनित प्रतिबन्धकके कारण एक ही अनुष्ठानमें या पूरे सात अनुष्ठान करनेपर भी फल न दीखे तो न श्रद्धा-विश्वासमें कमी आने दें और न गीताका पाठ करना ही छोड़ें। लौकिक फल किसी अदृष्ट कारणसे नहीं भी हो सकता है, परन्तु गीताके अध्ययन, मनन और मन्त्र-दृष्टिसे उसके जपका पारमार्थिक फल तो अवश्य ही प्राप्त होगा। निष्कामभावसे पाठ करनेवालोंको भी अन्तःकरणकी शुद्धि और भगवत्प्राप्तिरूप फल तो मिलता ही है। जब कोई भी क्रिया परिणाम उत्पन्न किये विना निष्फल नहीं जाती, तब संयम और नियमसे रहकर किया हुआ भगवद्गीता-का पाठ और जप निष्फल चला जायगा, ऐसी कल्पना भी नहीं करनी चाहिये।

अन्तमें सब पाठकोंसे यह निवेदन है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने आसक्ति और फलकी कामना छोड़कर ही कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा दी है और उसे भी भक्तिपूर्वक ही केवल भगवत्प्रीत्यर्थ करना चाहिये, ऐसा कहा है; अतएव बुद्धिमान् मनुष्योंको यथासाध्य निष्कामभावसे ही श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीताका अध्ययन, पठन और मनन करना चाहिये।

वह दिव्य संगीत

(लेखक—श्री के० ब्राउनिंग)

गीताका उपदेश इतना दिव्य, ऐसा अलौकिक है कि बड़े-से-बड़े विद्वान्-बुद्धिमान् इसे पढ़ते हैं; परन्तु इसके चक्कोहमें पड़कर उनकी विद्या-बुद्धि चकरा जाती है, वे थाह नहीं लगा पाते, समझ नहीं पाते । इतना अलौकिक, ऐसा विलक्षण है यह प्रवचन कि जीवन-पथपर चलते-चलते अनेक निराश और श्रान्त पथिकोंको इसने शान्ति, आशा और आश्वासन दिया है और उन्हें सदाके लिये चूर-चूर होकर मिट जानेसे बचा लिया है—ठीक उसी प्रकार जैसे इसने अर्जुनको बचाया। इतना अलौकिक, ऐसा अद्भुत है यह प्रवचन कि युद्ध समाप्त हो जानेपर जब अर्जुनने पुनः उसे सुननेकी लालसा प्रकट की तो भगवान्ने 'नाहीं' कर दी और यह कहा कि अब उसे दुहराना कठिन है; क्योंकि जब हमने पहले इसे कहा था उस समय हम योगयुक्त थे। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या कि गीताको 'दिव्य संगीत' अथवा 'हिन्दुओंकी बाइबिल' कहा जाय। यह युगोंसे चली आयी है, इसमें विसयकी क्या बात है; यह तबतक रहेगी जबतक इसके सिद्धान्तोंपर मनन करते रहनेकी आवश्यकता मनुष्यको बनी रहेगी—अर्थात् तबतक जबतक कि मनुष्य सर्वथा दिव्य न हो जाय और स्वयं इसके वक्ता भगवान्में लीन न हो जाय।

क्या यह बात कैभी कल्पनामें आ सकती है कि गीताका यह दिव्य उपदेश युद्धक्षेत्रमें—जहाँ संसारकी सबसे महान्, सबसे उत्तम और सबसे वीर सेनाएँ संहारके लिये पूरी आनबानके साथ जुटी थीं—दिया गया था? इसे लोग एक रूपक भले ही मान लें; परन्तु फिर भी यह सम्भव है कि युद्धके बीच हमें एक ऐसा शान्तिपूर्ण स्थान मिल सके जहाँ हम भगवान्की वाणीको सुन सकें—वह वाणी जो हमें सत्कार्यके लिये प्रेरित कर रही हो; वह वाणी जो हमें धर्मकी रक्षा और अधर्मके संहारके लिये उत्साहित कर रही हो; वह वाणी जो हमें भगवत्कार्यमें ही नियुक्त कर रही हो। भगवान्के कार्यमें योग देनेसे बढ़कर भी कोई कार्य हो सकता है? इससे भी सुन्दर प्रेरणा कोई हो सकती है? अर्जुनके समक्ष युद्धका यही उद्देश्य रक्खा गया और इसीका समर्थन करनेके लिये दर्शनके निगूढ़ तत्त्वोंका विश्लेषण एवं विवेचन किया गया। सांख्य और योग—दोनोंकी ही सहायता अर्जुनको कर्तव्य-पथमें लगानेके लिये ली गयी और जब 'गीता' का गायन हुआ, जब भगवान्ने अपने परम प्रिय सखाको आशीर्वाद-प्रसाद दिया तब फिर क्या पूछना था। अर्जुन अपने स्थानसे उठा, एक अतुल आह्लाद और अकथनीय आनन्दकी लहर दौड़ पड़ी—उसका सारा विषाद, सारी ग्लानि, सारी शङ्काएँ, सारी निराशा छिन्न-भिन्न हो गयीं और वह युद्धके लिये तत्पर हो गया। इसके द्वारा अर्जुन भगवान्का और भी 'अपना' हो गया! प्रभु हमें भी इसी प्रकार अपनायें।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीताकी पाठ-विधि

मङ्गलाचरण और वन्दना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥
व्यासं वसिष्ठनप्तारं शक्तेः पौत्रमकल्मषम् ।
पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे ।
नमो वै ब्रह्मनिधये वासिष्ठाय नमो नमः ॥
अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः ।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः ॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥
भुजे सव्ये वेणुं शिरसि शिखिपिच्छं कटितटे
दुकूलं नेत्रान्ते सहचरकटाक्षं विदधते ।
सदा श्रीमद्वृन्दावनवसतिलीलापरिचयो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥

इस प्रकार मङ्गलाचरण और वन्दना करनेके बाद भगवान् श्रीकृष्ण, महर्षि वेदव्यास और श्रीगीताजीकी पुस्तकका षोडशोपचार या मानसोपचारसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक पूजन करना चाहिये । फिर पाठका विनियोग करके क्रमशः करन्यास, अङ्गन्यास और ध्यान करना चाहिये । दृढ़ सङ्कल्पके द्वारा ऐसा ध्यान करना चाहिये कि 'कुरुक्षेत्रका रणक्षेत्र है । एक विशाल अश्वत्थके वृक्षके नीचे अर्जुनका महान् रथ खड़ा है । रथके भीतर बैठे हुए अर्जुन कातरभावसे भक्तिपूर्वक हाथ जोड़े भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देख रहे हैं और अखिल सौन्दर्य-माधुर्यके समुद्र रसमय श्रीभगवान् मुसकराते हुए बड़े ही मधुरस्वरमें अर्जुनको आश्वासन देते हुए उन्हें उपदेश कर रहे हैं ।' इसके बाद पाठ आरम्भ करना चाहिये । पूजनकी विधि किसी अन्य पद्धतिमें देख लेनी चाहिये । यहाँ विनियोगसे ध्यानतकका प्रकार दिया जा रहा है ।

विनियोग

दाहिने हाथकी अनामिकामें कुशकी पवित्री पहन ले । फिर हाथमें जल लेकर नीचे लिखे वाक्यको पढ़कर उसे जमीनपर गिरा दे—

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । श्रीकृष्णः परमात्मा देवता । 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इति बीजम् । 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इति शक्तिः । 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' इति कीलकम् । श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः ।

'इस श्रीमद्भगवद्गीतामयी मालाके मणि (मनका) रूप मन्त्रोंके भगवान् वेदव्यासजी ऋषि हैं, अनुष्टुप् छन्द है, परमात्मा श्रीकृष्ण देवता हैं; भगवानद्वारा कथित 'जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये उनके ही लिये तू शोक करता है और पण्डितोंके समान वचन बोलता है' यह वाक्य इस गीतामन्त्रका 'बीज' है; 'तू सब धर्मोंका मुझमें परित्याग कर एकमात्र मेरी शरणमें आ जा' यह वाक्य इस गीतामन्त्रकी 'शक्ति' है; तथा 'मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर' यह वाक्य इसका 'कीलक' है । और भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये जप करनेमें इस भगवद्गीता-मालामन्त्रका विनियोग (उपयोग) किया जाता है ।'

करन्यास

करन्यासमें हाथकी विभिन्न अङ्गुलियों, हथेलियों और हाथके पीठोंमें मन्त्रोंका न्यास (स्थापन) किया जाता है । इसी प्रकार अङ्गन्यासमें हृदयादि अङ्गोंमें मन्त्रोंकी स्थापना होती है । मन्त्रोंको चेतन और मूर्तिमान् मानकर उन-उन अङ्गोंका नाम लेकर उन मन्त्रमय देवताओंका ही स्पर्श और प्रणाम किया जाता है, ऐसा करनेसे पाठ या जप करनेवाला व्यक्ति स्वयं मन्त्रमय होकर मन्त्र-देवताओंद्वारा सर्वथा सुरक्षित हो जाता है, उसके बाहर-भीतरकी शुद्धि होती है, दिव्य बल प्राप्त होता है और साधना निर्विघ्नतापूर्वक पूर्ण तथा परम लाभदायक होती है ।

करन्यास

**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः—
इत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।**

ऐसा कहकर दोनों हाथोंकी तर्जनी अङ्गुलियोंसे दोनों अँगूठोंका स्पर्श करे।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः—इति तर्जनीभ्यां नमः।

ऐसा कहकर दोनों हाथोंके अँगूठोंसे दोनों तर्जनी अङ्गुलियोंका स्पर्श करे।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च—इति मध्यमाभ्यां नमः।

ऐसा कहकर दोनों हाथोंकी मध्यमा अङ्गुलियोंको दोनों अँगूठोंसे स्पर्श करे।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः—इत्यनामिकाभ्यां नमः।

ऐसा कहकर दोनों हाथोंकी अनामिका अङ्गुलियोंको दोनों अँगूठोंसे स्पर्श करे।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः—इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः।

ऐसा कहकर दोनों हाथोंकी कनिष्ठिका अङ्गुलियोंको दोनों अँगूठोंसे स्पर्श करे।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च—इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

ऐसा कहकर दोनों हाथोंकी हथेलियों और उनके पृष्ठभागोंको क्रमशः स्पर्श करे।

अङ्गन्यास

अङ्गन्यासमें दाहिने हाथकी पाँचों अङ्गुलियोंसे 'हृदय' आदि अङ्गोंका स्पर्श किया जाता है, शेष बातें 'करन्यास' की ही भाँति हैं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः—इति हृदयाय नमः।

ऐसा कहकर दाहिने हाथकी पाँचों अङ्गुलियोंसे हृदयका स्पर्श करे।

इसी प्रकार निम्नाङ्कित वाक्य पढ़कर मस्तकका स्पर्श करे—

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः—इति शिरसे स्वाहा।

निम्नाङ्कित वाक्य पढ़कर शिखा (चोटी) का स्पर्श करे—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च—इति शिखायै वषट्।

निम्नाङ्कित वाक्य पढ़कर दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंसे बायें कन्धेका और बायें हाथकी अङ्गुलियोंसे दायें कन्धेका साथ ही स्पर्श करे—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः—इति कवचाय हुम्।

नीचे लिखा वाक्य पढ़कर दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंके अग्रभागसे दोनों नेत्रों तथा ललाटके मध्यभागमें गुप्तरूपमें स्थित तृतीय नेत्र (ज्ञानचक्षु) का स्पर्श करना चाहिये—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः—इति नेत्रत्रयाय वौषट्।

फिर निम्नाङ्कित वाक्य पढ़कर दाहिने हाथको सिरके ऊपरसे उलटा अर्थात् बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर ले आवे और तर्जनी तथा मध्यमा अङ्गुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजावे—

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च—इत्यस्त्राय फट्।

—यहाँ (अङ्गन्यासमें) आये हुए 'स्वाहा', 'वषट्', 'हुम्', 'वौषट्' और 'फट्'—ये पाँच शब्द देवताओंको दिये जानेवाले हवनसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। यहाँ इनका आत्मशुद्धिके लिये ही उच्चारण किया जाता है।

ध्यान

उपर्युक्तरूपसे न्यास करके बाहर और भीतरसे पूर्णतया शुद्ध हो मनको सब ओरसे हटाकर एकाग्रभावसे ध्यान करना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता महाभारतका ही अंश-विशेष है, इसलिये यहाँ ध्यानके प्रसङ्गमें सर्वप्रथम महाभारतग्रन्थसे कल्याण-कामना की जाती है—

महाभारतसे कल्याण-कामना—

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम्।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद् भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे॥

'कलिकालके समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला तथा पराशरके पुत्र भगवान् वेदव्यासके वचनरूपी सरोवरमें पैदा हुआ

महाभारतरूपी निर्मल कमल हमारे लिये कल्याणकारी हो—जो गीताके अर्थरूपी सुगन्धसे अत्यन्त सुवासित है, नाना प्रकारके इतिहास ही जिसके केसर हैं, जो भगवान्‌की कथाके उपदेशसे ही विकसित है तथा संसारमें सज्जनरूपी भ्रमर जिसके सारभूत मकरन्दका प्रतिदिन आनन्दपूर्वक बारंबार पान करते रहते हैं।'

श्रीमद्भगवद्गीताका ध्यान

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥

'ॐ हे मातः भगवद्गीते! साक्षात् भगवान् नारायणने अर्जुनके प्रति जिसका उपदेश दिया, पुराणोंका प्रणयन करनेवाले मुनिवर श्रीवेदव्यासजीने महाभारतके भीतर जिसे गुम्फित किया, जो अद्वैतज्ञानरूपी अमृतकी वर्षा करनेवाली और अठारह अध्यायोंसे युक्त है तथा जो जन्म-मरणरूप संसारसे शत्रुता रखनेवाली (संसारसे सम्बन्ध छुड़ानेवाली) है, ऐसी तुम्हारा मैं निरन्तर ध्यान करता हूँ।'

महर्षि भगवान् वेदव्यासका ध्यान

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयप्रदीपः॥

'खिले हुए कमल-पुष्पकी पँखुड़ियोंकी भाँति बड़े-बड़े नेत्रोंवाले विशालबुद्धि भगवान् व्यासदेव! आपको सादर प्रणाम है; क्योंकि आपने [हृदयमन्दिरका अज्ञानान्धकार दूर करनेके लिये] महाभारतरूपी तैलसे पूर्ण यह गीताज्ञानरूपी दीपक जलाया है।'

भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

'जो शरणागत भक्तोंको कल्पवृक्षके समान मनोवाञ्छित वस्तु देनेवाले, एक हाथमें बेंतकी चाबुक धारण किये हुए तथा ज्ञानकी मुद्रासे युक्त हैं, गीतारूपी अमृतको दुहनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है।'

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

'जो वसुदेवजीके पुत्र, दिव्यरूपधारी, कंस और चाणूरका कचूमर निकालनेवाले और देवकीजीके लिये परम आनन्दस्वरूप हैं, उन जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः॥

'भीष्म और द्रोण जिसके दोनों किनारे हैं, जयद्रथ जल है, शकुनि जिसके भीतरका नील कमल है, शल्य घड़ियाल है, कृपाचार्य ही जिसके प्रवाह हैं, जो कर्णरूपी तरङ्गमालासे व्याप्त है, अश्वत्थामा और विकर्ण जिसमें भयङ्कर मगर हैं, दुर्योधन ही जिसकी भँवर है, उस भयानक युद्धमयी नदीको पाण्डवोंने सहज ही पार कर लिया; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ही उन्हें पार लगानेवाले कर्णधार थे।'

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

'जिनकी कृपा गूँगेको वक्ता बना देती है और लँगड़ेसे पर्वत लँघा देती है (अत्यन्त असमर्थको भी समर्थ बना देती है), उन परमानन्दस्वरूप लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ।'

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

'ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और वायु आदि देवता दिव्य स्तुतियोंद्वारा जिनका स्तवन करते हैं, सामवेदका गान करनेवाले विद्वान् अङ्ग, पद, क्रम और उपनिषद्‌सहित वेदोंसे जिनका यशोगान करते हैं, योगीलोग ध्यानमें स्थिर किये हुए तद्गत (भगवत्परायण) चित्तसे जिनका साक्षात्कार करते हैं, देवता और असुर भी जिनका अन्त नहीं जानते, उन परमात्मदेव श्रीकृष्णको नमस्कार है।'

नम्र निवेदन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

गीता-महिमा

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्की दिव्य वाणी है। इसकी महिमा अपार है, अपरिमित है। उसका यथार्थमें वर्णन कोई नहीं कर सकता। शेष, महेश, गणेश भी इसकी महिमाको पूरी तरहसे नहीं कह सकते; फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है। इतिहास, पुराणोंमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है; परन्तु जितनी महिमा इसकी अबतक गायी गयी है, उसे एकत्र कर लिया जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी महिमा इतनी ही है। सच्ची बात तो यह है कि इसकी महिमाका पूर्णतया वर्णन हो ही नहीं सकता। जिस वस्तुका वर्णन हो सकता है वह अपरिमित कहाँ रही, वह तो परिमित हो गयी।

गीता एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेदोंका सार संग्रह किया गया है। इसकी रचना इतनी सरल और सुन्दर है कि थोड़ा अभ्यास करनेसे भी मनुष्य इसको सहज ही समझ सकता है, परन्तु इसका आशय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता। प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते ही रहते हैं, इससे वह सदा नवीन ही बना रहता है। एवं एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा-भक्तिसहित विचार करनेसे इसके पद-पदमें परम रहस्य भरा हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। भगवान्के गुण, प्रभाव और मर्मका तथा कर्म एवं ज्ञानका वर्णन जिस प्रकार इस गीताशास्त्रमें किया गया है वैसा अन्य ग्रन्थोंमें एक साथ मिलना कठिन है; भगवद्गीता एक ऐसा अनुपमेय शास्त्र है जिसका एक भी शब्द सदुपदेशसे खाली नहीं है। गीतामें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो रोचक कहा जा सके। उसमें जितनी बातें कही गयी हैं, वे सभी अक्षरशः यथार्थ हैं; सत्यस्वरूप भगवान्की वाणीमें रोचकताकी कल्पना उसका निरादर करना है।

गीता सर्वशास्त्रमयी है। गीतामें सारे शास्त्रोंका सार भरा हुआ है। उसे सारे शास्त्रोंका खजाना कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। गीताका भलीभाँति ज्ञान हो जानेपर सब शास्त्रोंका तात्त्विक ज्ञान अपने-आप हो सकता है, उसके लिये अलग परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। शास्त्रोंमें गङ्गास्नानका फल मुक्ति बतलाया गया है। परन्तु गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको तारनेका सामर्थ्य नहीं रखता। किन्तु गीतारूपी गङ्गामें गोते लगानेवाला स्वयं तो मुक्त होता ही है, वह दूसरोंको भी तारनेमें समर्थ हो जाता है। गङ्गा तो भगवान्के चरणोंसे उत्पन्न हुई है और गीता साक्षात् भगवान् नारायणके मुखारविन्दसे निकली है। फिर गङ्गा तो जो उसमें आकर स्नान करता है उसीको मुक्त करती है, परन्तु गीता तो घर-घरमें जाकर उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखलाती है। इन्हीं सब कारणोंसे गीताको गङ्गासे बढ़कर कहते हैं।

ऊपर यह बतलाया गया है कि गीता सर्वशास्त्रमयी है। महाभारतमें भी कहा है—'सर्वशास्त्रमयी गीता' (भीष्म० ४४।४)। परन्तु इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है। क्योंकि सारे शास्त्रोंकी उत्पत्ति वेदोंसे हुई, वेदोंका प्राकट्य भगवान् ब्रह्माजीके मुखसे हुआ और ब्रह्माजी भगवान्के नाभि-कमलसे उत्पन्न हुए। इस प्रकार शास्त्रों और भगवान्के बीचमें बहुत अधिक व्यवधान पड़ गया है। किन्तु गीता तो स्वयं भगवान्के मुखारविन्दसे निकली है, इसलिये उसे सभी शास्त्रोंसे बढ़कर कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। स्वयं भगवान् वेदव्यासने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

(महा० भीष्म० ४४।१)

'गीताका ही भली प्रकारसे गान करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है।'

इस श्लोकमें 'पद्मनाभ' शब्दका प्रयोग करके महाभारतकारने यही बात व्यक्त की है। तात्पर्य यह है कि यह गीता उन्हीं भगवान्के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभि-कमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं।

गीता गायत्रीसे भी बढ़कर है। गायत्री-जपसे मनुष्यकी मुक्ति होती है, यह बात ठीक है; किन्तु गायत्री-जप करनेवाला भी स्वयं ही मुक्त होता है, पर गीताका अभ्यास करनेवाला तो तरन-तारन बन जाता है। जब मुक्तिके दाता स्वयं भगवान् ही उसके हो जाते हैं, तब मुक्तिकी तो बात ही क्या है। मुक्ति उसकी चरणधूलिमें निवास करती है। मुक्तिका तो वह सत्र खोल देता है।

गीताको हम स्वयं भगवान्से भी बढ़कर कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। भगवान्ने स्वयं कहा है—

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्॥

(वाराहपुराण)

मैं गीताके आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा श्रेष्ठ गृह है। गीताके ज्ञानका सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ।

इसके सिवा, गीतामें ही भगवान् मुक्तकण्ठसे यह घोषणा करते हैं कि जो कोई मेरी इस गीतारूप आज्ञाका पालन करेगा वह निःसन्देह मुक्त हो जायगा; यही नहीं, भगवान् कहते हैं कि जो कोई इसका अध्ययन भी करेगा उसके द्वारा ज्ञानयज्ञसे मैं पूजित होऊँगा। जब गीताके अध्ययनमात्रका इतना माहात्म्य है, तब जो मनुष्य इसके उपदेशोंके अनुसार अपना जीवन बना लेता है और इसका रहस्य भक्तोंको धारण कराता है और उनमें इसका विस्तार एवं प्रचार करता है उसकी तो बात ही क्या है। उसके लिये तो भगवान् कहते हैं कि वह मुझको अतिशय प्रिय है। वह भगवान्को प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा होता है, यह भी कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा। भगवान् अपने ऐसे भक्तोंके अधीन बन जाते हैं। अच्छे पुरुषोंमें भी यह देखा जाता है कि उनके सिद्धान्तोंका पालन करनेवाला जितना उन्हें प्रिय होता है, उतने प्यारे उन्हें अपने प्राण भी नहीं होते। गीता भगवान्का प्रधान रहस्यमय आदेश है। ऐसी दशामें उसका पालन करनेवाला उन्हें प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है।

गीता भगवान्का श्वास है, हृदय है और भगवान्की वाङ्मयी मूर्ति है। जिसके हृदयमें, वाणीमें, शरीरमें तथा समस्त इन्द्रियों एवं उनकी क्रियाओंमें गीता रम गयी है वह पुरुष साक्षात् गीताकी मूर्ति है। उसके दर्शन, स्पर्श, भाषण एवं चिन्तनसे भी दूसरे मनुष्य परम पवित्र बन जाते हैं। फिर उसके आज्ञापालन एवं अनुकरण करनेवालोंकी तो बात ही क्या है। वास्तवमें गीताके समान संसारमें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, संयम और उपवास आदि कुछ भी नहीं हैं।

गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकली हुई वाणी है। इसके सङ्कलनकर्ता श्रीव्यासजी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने उपदेशका कितना ही अंश तो पद्योंमें ही कहा था, जिसे व्यासजीने ज्यों-का-त्यों रख दिया। कुछ अंश जो उन्होंने गद्यमें कहा था, उसे व्यासजीने स्वयं श्लोकबद्ध कर लिया, साथ ही अर्जुन, सञ्जय एवं धृतराष्ट्रके वचनोंको अपनी भाषामें ग्रथित कर लिया और इस पूरे ग्रन्थको अठारह अध्यायोंमें विभक्त करके महाभारतके अंदर मिला लिया, जो आज हमें इस रूपमें उपलब्ध है।

गीताका तात्पर्य

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है, इसके अंदर ज्ञानका अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इसका तत्त्व समझानेमें बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् और तत्त्वालोचक महात्माओंकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है। क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं। उनके बाद कहीं इसके सङ्कलनकर्ता व्यासजी और श्रोता अर्जुनका नम्बर आता है। ऐसी अगाध रहस्यमयी गीताका आशय और महत्त्व समझना मेरे-जैसे मनुष्यके लिये ठीक वैसा ही है, जैसा एक साधारण पक्षीका अनन्त आकाशका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना। गीता अनन्त भावोंका अथाह समुद्र है। रत्नाकरमें गहरा गोता लगानेपर जैसे रत्नोंकी प्राप्ति होती है, वैसे ही इस गीता-सागरमें गहरी डुबकी लगानेसे जिज्ञासुओंको नित्य-नूतन विलक्षण भाव-रत्न-राशिकी उपलब्धि होती है। परन्तु आकाशमें गरुड़ भी उड़ते हैं तथा साधारण मच्छर भी! इसीके अनुसार सभी अपने-अपने भावके अनुसार कुछ अनुभव करते ही हैं। अतएव विचार करनेपर प्रतीत होता है कि गीताका मुख्य तात्पर्य अनादिकालसे अज्ञानवश संसार-समुद्रमें पड़े हुए जीवको परमात्माकी प्राप्ति करवा देनेमें है और उसके लिये गीतामें ऐसे उपाय बतलाये गये हैं, जिनसे मनुष्य अपने सांसारिक कर्तव्यकर्मोंका भलीभाँति आचरण करता हुआ ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है। व्यवहारमें परमार्थके प्रयोगकी यह अद्भुत कला गीतामें बतलायी गयी है और अधिकारी-भेदसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये इस प्रकारकी दो निष्ठाओंका प्रतिपादन किया गया है। वे दो निष्ठाएँ हैं—**ज्ञाननिष्ठा** यानी सांख्यनिष्ठा और **योगनिष्ठा** (३।३)। यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'प्रायः

सभी शास्त्रोंमें भगवान्को प्राप्त करनेके तीन प्रधान मार्ग बतलाये गये हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान । ऐसी दशामें गीताने दो ही निष्ठाएँ कैसे मानी हैं ? क्या गीताको भक्तिका सिद्धान्त मान्य नहीं है ? बहुत-से लोग तो गीताका उपदेश भक्तिप्रधान ही मानते हैं और यत्र-तत्र भगवान्ने भक्तिका विशेष महत्त्व भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा है (६।४७) और भक्तिके द्वारा अपनी प्राप्ति सुलभ बतलायी है (८।१४; ११।५४)।' इसका उत्तर यह है कि गीताने भक्तिको भगवत्-प्राप्तिका प्रधान साधन माना है—लोगोंकी यह मान्यता ठीक ही है। गीताने भक्तिको बहुत ऊँचा स्थान दिया है और स्थान-स्थानपर अर्जुनको भक्त बननेकी आज्ञा भी दी है (९।३४; १२।८; १८।५७, ६५, ६६)। परन्तु गीताने दो ही निष्ठाएँ मानी हैं। इनमें भक्ति योगनिष्ठाके शामिल है। और भक्तिके क्रियात्मिका होनेसे गीताका ऐसा मानना युक्तिविरुद्ध भी नहीं कहा जा सकता। भक्ति किस प्रकार योगनिष्ठाके साथ मिली हुई है, इसपर आगे चलकर विचार किया जायगा। अस्तु,

इसके अतिरिक्त 'ज्ञान' और 'कर्म' शब्दोंका जिस अर्थमें गीतामें प्रयोग हुआ है, वह भी विशेष रहस्यमय है। गीताके कर्म और कर्मयोग तथा ज्ञान और ज्ञानयोग एक ही चीज नहीं हैं। गीताके अनुसार शास्त्रविहित कर्म ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा दोनों ही दृष्टियोंसे हो सकते हैं। ज्ञाननिष्ठामें भी कर्मका विरोध नहीं है और योगनिष्ठामें तो कर्मोंका सम्पादन ही साधन माना गया है (६।३) और उनका स्वरूपसे त्याग उल्टा बाधक माना गया है (३।४)। दूसरे अध्यायके ४७वेंसे लेकर ५१वें श्लोकतक तथा तीसरे अध्यायके १९वें और चौथे अध्यायके ४२वें श्लोकोंमें अर्जुनको योगनिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है, और अ० ३।२८ तथा ५।८,९,१३में सांख्य यानी ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म करनेकी बात कही गयी है। सकाम कर्मके लिये किसी भी निष्ठामें स्थान ही नहीं है, सकाम कर्मियोंको तो भगवान्ने तुच्छ बतलाया है (२।४२–४४; ७।२० से २३; ९।२०,२१)।

ज्ञानका अर्थ भी गीतामें केवल ज्ञानयोग ही नहीं है; फलरूप ज्ञानका भी, जो सब प्रकारके साधनोंका फल है—जो ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा दोनोंका फल है, और जिसे यथार्थ ज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान भी कहते हैं; 'ज्ञान' शब्दसे ही कहा है। अ० ४।२४ तथा २५के उत्तरार्द्धमें ज्ञानयोगका वर्णन है और अ० ४।३६-३९में फलरूप ज्ञानका वर्णन है। इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रसङ्गानुसार समझ लेना चाहिये।

शास्त्रोंमें कर्म और ज्ञानके अतिरिक्त जो 'उपासना' का प्रकरण आया है, वह उपासना, इन्हीं दो निष्ठाओंके अन्तर्गत है। जब अपनेको परमात्मासे अभिन्न मानकर उपासना की जाती है तब वह सांख्यनिष्ठाके अन्तर्गत आ जाती है, और जब भेददृष्टिसे की जाती है तब योगनिष्ठाके अन्तर्गत मानी जाती है। सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठामें यही मुख्य अन्तर है। इसी प्रकार अ०१३।२४में केवल ध्यानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है; परन्तु वहाँ भी यही बात समझनी चाहिये कि जो ध्यान अभेददृष्टिसे किया जाता है वह सांख्यनिष्ठाके अन्तर्गत है, और जो भेददृष्टिसे किया जाता है वह योगनिष्ठाके अन्तर्गत है।

गीतामें केवल भजन-पूजन अथवा केवल ध्यानसे अपनी प्राप्ति बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि योगनिष्ठाके पूरे साधनसे तो उनकी प्राप्ति होती ही है, उसके एक-एक अङ्गके साधनसे भी उनकी प्राप्ति हो सकती है। यह उनकी कृपा है कि उन्होंने अपनेको जीवोंके लिये इतना सुलभ बना दिया है। अब, सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाके क्या स्वरूप हैं, उन दोनोंमें क्या अन्तर है, उनके कितने और कौन-कौनसे अवान्तर भेद हैं तथा दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र हैं अथवा परस्पर-सापेक्ष हैं, इन निष्ठाओंके कौन-कौन अधिकारी हैं, इत्यादि विषयोंपर संक्षेपसे विचार किया जा रहा है—

सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाका स्वरूप

(१) सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जलकी भाँति अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामय होनेसे मायाके कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—इस प्रकार समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होना (५।८-९) तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका भाव न रहना (१३।३०)—यह तो 'सांख्यनिष्ठा' है। 'ज्ञानयोग' अथवा 'कर्मसंन्यास' भी इसीके नाम हैं। और—

(२) सब कुछ भगवान्का समझकर, सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग

करके भगवत्-आज्ञानुसार सब कर्मोंका आचरण करना (२ । ४७–५१) अथवा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर नाम, गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना (६ । ४७)—यह 'योगनिष्ठा' है । इसीका भगवान्‌ने समत्वयोग, बुद्धियोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म एवं सात्त्विक त्याग आदि नामोंसे उल्लेख किया है ।

योगनिष्ठामें सामान्यरूपसे अथवा प्रधानरूपसे भक्ति रहती ही है । गीतोक्त योगनिष्ठा भक्तिसे शून्य नहीं है । जहाँ भक्ति अथवा भगवान्‌का स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख नहीं है (२ । ४७–५१) वहाँ भी भगवान्‌की आज्ञाका पालन तो है ही और उसका फल भी भगवान्‌की ही प्राप्ति है—इस दृष्टिसे भक्तिका सम्बन्ध वहाँ भी है ही ।

ज्ञाननिष्ठाके साधनके लिये भगवान्‌ने अनेक युक्तियाँ बतलायी हैं, उन सबका फल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा-की प्राप्ति ही है । ज्ञानयोगके अवान्तर भेद कई होते हुए भी उन्हें मुख्य चार विभागोंमें बाँटा जा सकता है—

(१) जो कुछ है, वह ब्रह्म ही है ।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह मायामय है; वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ।

(३) जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब मेरा ही स्वरूप है—मैं ही हूँ ।

(४) जो कुछ प्रतीत होता है, वह मायामय है, अनित्य है, वास्तवमें है ही नहीं; केवल एक चेतन आत्मा मैं ही हूँ ।

इनमेंसे पहले दो साधन 'तत्त्वमसि' महावाक्यके 'तत्' पदकी दृष्टिसे हैं और पिछले दो साधन 'त्वम्' पदकी दृष्टिसे हैं । इन्हींका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) इस चराचर जगत्‌में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्म ही है; एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं । जो कुछ कर्म हम करते हैं वह कर्म, उस कर्मके साधन एवं उपकरण तथा स्वयं कर्ता—सब कुछ ब्रह्म है (४ । २४) । जिस प्रकार समुद्रमें पड़े हुए बरफके ढेलोंके बाहर और भीतर सब जगह जल-ही-जल व्याप्त है तथा वे ढेले स्वयं भी जलरूप ही हैं, उसी प्रकार समस्त चराचर भूतोंके बाहर-भीतर एकमात्र परमात्मा ही परिपूर्ण हैं तथा उन समस्त भूतोंके रूपमें भी वे ही हैं (१३ । १५) ।

(२) जो कुछ यह दृश्यवर्ग है, उसे मायामय, क्षणिक एवं नाशवान् समझकर—इस सबका अभाव करके केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है, और कुछ भी नहीं है—ऐसा समझते हुए मन-बुद्धिको भी ब्रह्ममें तद्रूप कर देना एवं परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर उनके अपरोक्षज्ञानद्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेना (४ । २५ का उत्तरार्द्ध; ५ । १७) ।

(३) चर, अचर सब ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ; इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार विचार कर सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको अपना आत्मा ही समझना यानी समस्त भूतोंमें अधिष्ठानरूपसे अपने आत्माको देखना और आत्माके अन्तर्गत समस्त भूतोंको सङ्कल्पके आधार देखना (६ । २९) ।

इस प्रकारका साधन करनेवालेकी दृष्टिमें एक ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं रहता, वह फिर अपने उस विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें ही आनन्दका अनुभव करता है (५ । २४; ६ । २७; १८ । ५४) ।

(४) जो कुछ भी यह मायामय, तीनों गुणोंका कार्यरूप दृश्यवर्ग है—इसको और इसके द्वारा होनेवाली सारी क्रियाओंको अपनेसे पृथक्, नाशवान् एवं अनित्य समझना तथा इन सबका अत्यन्त अभाव करके केवल भावरूप आत्माका ही अनुभव करना (१३ । २७, ३४) ।

इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌ने गीतामें अनेक युक्तियोंसे साधकको जगह-जगह यह बात समझायी है कि आत्मा द्रष्टा, साक्षी, चेतन और नित्य है, तथा यह देहादि जड दृश्यवर्ग—जो कुछ प्रतीत होता है—अनित्य होनेसे असत् है; केवल आत्मा ही सत् है । इसी बातको पुष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ११वेंसे ३०वें श्लोक-तक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निराकार, निर्विकार, अक्रिय, गुणातीत आत्माके स्वरूपका वर्णन किया है । अभेदरूपसे साधन करनेवाले पुरुषोंको आत्माका स्वरूप ऐसा ही मानकर साधन करनेसे आत्माका साक्षात्कार होता है । जो कुछ चेष्टा हो रही है, गुणोंकी ही गुणोंमें हो रही है, आत्माका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है (५ । ८, ९; १४ । १९)—न वह कुछ करता है और न करवाता है—ऐसा समझकर वह नित्य-निरन्तर अपने-आपमें ही अत्यन्त आनन्दका अनुभव करता है (५ । १३) ।

उपर्युक्त ज्ञानयोगके चारों साधनोंमें पहले दो साधन तो ब्रह्मकी उपासनासे युक्त हैं एवं तीसरा और चौथा साधन अहंग्रह-उपासनासे युक्त है ।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि 'उपर्युक्त चारों साधन व्युत्थान-अवस्थामें करनेके हैं या ध्यानावस्थामें, या कि वे दोनों ही अवस्थाओंमें किये जा सकते हैं।' इसका उत्तर यह है कि पहले साधनका पहला अंश, जो अ० ४। २४के अनुसार करनेका है, तथा चौथे साधनके अन्तमें जो प्रक्रिया अ० ५। ८, ९ के अनुसार बतलायी गयी है—ये दोनों तो केवल व्यवहारकालमें करनेके हैं और दूसरा साधन केवल ध्यानकालमें ही करनेका है। शेष सब दोनों ही अवस्थाओंमें किये जा सकते हैं।

यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि 'पहले साधनमें 'वासुदेवः सर्वमिति'—जो कुछ दीखता है सब वासुदेवका ही स्वरूप है (७। १९) तथा 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः'—जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको ही भजता है (६। ३१)—इनका उल्लेख क्यों नहीं किया गया।' इसका उत्तर यह है कि ये दोनों श्लोक भक्तिके प्रसङ्गके हैं और दोनोंमें ही परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका वर्णन है; अतः इनका उल्लेख उस प्रसङ्गमें नहीं किया गया। परन्तु यदि कोई इनको ज्ञानके प्रसङ्गमें लेकर इनके अनुसार साधन करना चाहे तो कर सकता है; ऐसा करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

जिस प्रकार ऊपर सांख्यनिष्ठाके चार विभाग किये गये हैं, उसी प्रकार योगनिष्ठाके भी तीन मुख्य भेद हैं—

१—केवल कर्मयोग।

२—भक्तिमिश्रित कर्मयोग।

३—और भक्तिप्रधान कर्मयोग।

(१) केवल कर्मयोगके उपदेशमें कहीं-कहीं भगवान्ने केवल फलके त्यागकी बात कही है (५। १२; ६। १; १२। ११; १८। ११), कहीं केवल आसक्तिके त्यागकी बात कही है (३। १९; ६। ४) और कहीं फल और आसक्ति दोनोंके छोड़नेकी बात कही गयी है (२। ४७, ४८; १८। ६, ९) जहाँ केवल फलके त्यागकी बात कही गयी है, वहाँ आसक्तिके त्यागकी बात ऊपरसे ले लेनी चाहिये और जहाँ केवल आसक्तिके त्यागकी बात कही है, वहाँ फलके त्यागकी बात ऊपरसे ले लेनी चाहिये। कर्मयोगका साधन वास्तवमें तभी पूर्ण होता है जब फल और आसक्ति दोनोंका ही त्याग होता है।

(२) भक्तिमिश्रित कर्मयोग—इसमें सारे संसारमें परमेश्वरको व्याप्त समझते हुए अपने-अपने वर्णोचित कर्मके द्वारा भगवान्की पूजा करनेकी बात कही गयी है (१८। ४६); इसीलिये इसको भक्तिमिश्रित कर्मयोग कह सकते हैं।

(३) भक्तिप्रधान कर्मयोग—

इसके दो अवान्तर भेद हैं—

(क) 'भगवदर्पण' कर्म।

(ख) और 'भगवदर्थ' कर्म।

भगवदर्पण कर्म भी दो तरहसे किया जाता है। पूर्ण 'भगवदर्पण' तो वह है जिसमें समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाको त्यागकर, तथा यह सब कुछ भगवान्का है, मैं भी भगवान्का हूँ और मेरेद्वारा जो कर्म होते हैं वे भी भगवान्के ही हैं, भगवान् ही मुझसे कठपुतलीकी भाँति सब कुछ करवा रहे हैं—ऐसा समझते हुए भगवान्के आज्ञानुसार भगवान्की ही प्रसन्नताके लिये शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं (३। ३०; १२। ६; १८। ५७, ६६)।

इसके अतिरिक्त पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्के अर्पण कर देना, कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फलमात्र भगवान्के अर्पण कर देना—यह भी 'भगवदर्पण'का ही प्रकार है, यद्यपि यह भगवदर्पणकी प्रारम्भिक सीढ़ी है। ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त पूर्ण भगवदर्पण होता है।

'भगवदर्थ' कर्म भी दो प्रकारके होते हैं—

भगवान्के विग्रह आदिका अर्चन तथा भजन-ध्यान आदि उपासनारूप कर्म जो भगवान्के ही निमित्त किये जाते हैं और जो स्वरूपसे भी भगवत्सम्बन्धी होते हैं, उनको 'भगवदर्थ' कह सकते हैं।

इनके अतिरिक्त जो शास्त्रविहित कर्म भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं वे भी 'भगवदर्थ' कर्मके ही अन्तर्गत हैं। इन दोनों प्रकारके कर्मोंका 'मत्कर्म' और मदर्थ कर्म' नामसे भी गीतामें उल्लेख हुआ है (११। ५५; १२। १०)।

जिसे अनन्यभक्ति अथवा भक्तियोग कहा गया है (८। १४, २२; ९। १३, १४, २२, ३०, ३४; १०। ९; १३। १०; १४। २६), वह भी 'भगवदर्पण' और 'भगवदर्थ' इन दोनों कर्मोंके ही सम्मिलित है। इन सबका फल एक—भगवत्प्राप्ति ही है।

अब प्रश्न यह होता है कि योगनिष्ठा स्वतन्त्ररूपसे भगवत्प्राप्ति करा देती है या ज्ञाननिष्ठाका अङ्ग बनकर। इसका उत्तर यह है कि गीताको दोनों ही सिद्धान्त मान्य हैं। अर्थात् भगवद्गीता योगनिष्ठाको भगवत्प्राप्ति यानी मोक्षका स्वतन्त्र

साधन भी मानती है और ज्ञाननिष्ठामें सहायक भी। साधक चाहे तो बिना ज्ञाननिष्ठाकी सहायताके सीधे ही कर्मयोगसे परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है अथवा कर्मयोगके द्वारा ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त कर फिर ज्ञाननिष्ठाके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है। दोनोंमेंसे वह कौन-सा मार्ग ग्रहण करे, यह उसकी रुचिपर निर्भर है। योगनिष्ठा स्वतन्त्र है, इस बातको भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें अ० ५। ४, ५ तथा १३। २४के उत्तरार्द्धमें कहा है। भगवान्में चित्त लगाकर भगवान्के लिये ही कर्म करनेवालेको भगवान्की कृपासे भगवान् शीघ्र मिल जाते हैं, यह बात जगह-जगह भगवान्ने कही है (८।७; ११। ५५; १२। ६–१२; १८। ५६–५८, ६२)। इसी प्रकार निष्काम कर्म और उपासना दोनों ही ज्ञाननिष्ठाके अङ्ग भी बन सकते हैं। किन्तु अभेद-उपासना होनेसे ज्ञाननिष्ठा भेद-उपासनारूप भक्तियोग यानी योगनिष्ठाका अङ्ग नहीं बन सकती। यह दूसरी बात है कि किसी ज्ञाननिष्ठाके साधककी आगे चलकर रुचि अथवा मत बदल जाय और वह ज्ञाननिष्ठाको छोड़कर योगनिष्ठाको पकड़ ले और उसे फिर योगनिष्ठाके द्वारा ही भगवत्प्राप्ति हो।

यदि कोई पूछे कि कर्मयोगका साधन करके फिर सांख्य-योगके साधनद्वारा जो सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त होते हैं, उनकी प्रणाली कैसी होती है, तो इसे जाननेके लिये 'त्याग'के नामसे सात श्रेणियोंमें विभाग करके उसे यों समझना चाहिये—

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना। यह पहली श्रेणीका त्याग है।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके एवं रोग-सङ्कटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना। यह दूसरी श्रेणीका त्याग है।

यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय, जो स्वरूपसे तो सकाम हो परन्तु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या कर्म-उपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकसंग्रहके लिये उसे कर लेना सकाम कर्म नहीं है।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना। यह तीसरी श्रेणीका त्याग है।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना—इत्यादि जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं, उन सबका त्याग करना। यह चौथी श्रेणीका त्याग है।

यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीरसम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या लोकशिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है। क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोकमर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है।

(५) सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि जितने कर्तव्य-कर्म हैं, उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना।

(६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग।

धन, मकान और वस्त्रादि सम्पूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि सम्पूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषय-भोगरूप पदार्थ हैं, उन सबको क्षणभङ्गुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न

रहना तथा केवल एक परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना। यह छठी श्रेणीका त्याग है।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। इसलिये उनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्‌का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषय-भोग और व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता एवं उनके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म भगवान्‌के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही विना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

यह कर्मयोगका साधन है; इस साधनके करते-करते ही साधक परमात्माकी कृपासे परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जानकर अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है (१८। ५६)।

किन्तु यदि कोई सांख्ययोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त करना चाहे तो उसे उपर्युक्त साधन करनेके अनन्तर निम्नलिखित सातवीं श्रेणीकी प्रणालीके अनुसार सांख्ययोगका साधन करना चाहिये।

(७) संसार, शरीर और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग।

संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्त्तापनके अभिमानका लेशमात्र भी न रहना तथा इस प्रकार शरीर-सहित सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना। यह सातवीं श्रेणीका त्याग है।

इस प्रकार साधन करनेसे वह पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको सुखपूर्वक प्राप्त हो जाता है (६।२८)। किन्तु जो पुरुष उक्त प्रकारसे कर्मयोगका साधन न करके आरम्भसे ही सांख्ययोगका साधन करता है, वह परमात्माको कठिनतासे प्राप्त होता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। (५। ६)

यहाँ यह प्रश्न होता है कि कोई साधक एक ही समयमें दोनों निष्ठाओंके अनुसार साधन कर सकता है या नहीं—यदि नहीं तो क्यों ? इसका उत्तर यह है कि—सांख्ययोग और कर्म-योग—इन दोनों साधनोंका सम्पादन एक कालमें एक ही पुरुषके द्वारा नहीं किया जा सकता। क्योंकि कर्मयोगी साधनकालमें कर्मको, कर्मफलको, परमात्माको और अपनेको भिन्न-भिन्न मानकर कर्मफल और आसक्तिका त्याग करके ईश्वरार्थ या ईश्वरार्पणबुद्धिसे समस्त कर्म करता है (३। ३०; ५। १०; ११। ५५; १२। १०; १८। ५६-५७) और सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अथवा इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरत रही हैं—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहता है (३। २८; ५। १३; १३। २९; १४। १९-२०; १८। ४९—५५)। कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५। ११), सांख्ययोगी कर्ता नहीं मानता (५। ८, ९)। कर्मयोगी अपने कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करता है (९। २७, २८), सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली अहंतारहित क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८। १७)। कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे पृथक् मानता है (१२। १०), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (१८। २०)। कर्मयोगी प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८। ६१), सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा किसीकी भी सत्ता नहीं मानता (१३। ३०)। कर्मयोगी कर्मफल और कर्मकी सत्ता मानता है, सांख्ययोगी न तो ब्रह्मसे भिन्न कर्म और उनके फलकी सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है। इस प्रकार दोनोंकी साधनप्रणाली और मान्यतामें पूर्व और पश्चिमकी भाँति महान् अन्तर है। ऐसी अवस्थामें दोनों निष्ठाओंका साधन एक पुरुष एक कालमें नहीं कर सकता। किन्तु जैसे किसी मनुष्यको भारतवर्षसे अमेरिका न्यूयार्क शहरको जाना है, तो वह यदि ठीक रास्तेसे होकर वहाँसे

पूर्व-ही-पूर्व दिशामें जाता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही-पश्चिमकी ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा; वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधन-प्रणालीमें परस्पर भेद होनेपर भी जो मनुष्य किसी एक साधनमें दृढ़तापूर्वक लगा रहता है, वह दोनोंके ही एकमात्र परम लक्ष्य परमात्मातक पहुँच ही जाता है।

अधिकारी

अब प्रश्न यह रह जाता है कि गीतोक्त सांख्ययोग और कर्मयोगके अधिकारी कौन हैं—क्या सभी वर्णों और सभी आश्रमोंके तथा सभी जातियोंके लोग इनका आचरण कर सकते हैं अथवा किसी खास वर्ण, किसी खास आश्रम तथा किसी खास जातिके लोग ही इनका साधन कर सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि गीतामें जिस पद्धतिका निरूपण किया गया है वह सर्वथा भारतीय और ऋषिसेवित है, तथापि गीताकी शिक्षापर विचार करनेपर यह कहा जा सकता है कि गीतामें बताये हुए साधनोंके अनुसार आचरण करनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णका यह उपदेश समस्त मानवजातिके लिये है—किसी खास वर्ण, अथवा किसी खास आश्रमके लिये नहीं। यही गीताकी विशेषता है। भगवान्ने अपने उपदेशमें जगह-जगह 'मानवः', 'नरः', 'देहभृत्', 'देही' इत्यादि शब्दोंका प्रयोग करके इस बातको स्पष्ट कर दिया है। अ० ५। १३ में जहाँ सांख्ययोगका मुख्य साधन बतलाया गया है, भगवान्ने 'देही' शब्दका प्रयोग करके मनुष्यमात्रको उसका अधिकारी बताया है। इसी प्रकार अ० १८। ४६ में भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि मनुष्यमात्र अपने-अपने शास्त्रविहित कर्मोंद्वारा सर्वव्यापी परमेश्वरकी पूजा करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार भक्तिके लिये भगवान्ने स्त्री, शूद्र तथा पापयोनितकको अधिकारी बतलाया है (९।३२)। और भी जहाँ-जहाँ भगवान्ने किसी भी साधनका उपदेश दिया है, वहाँ ऐसा नहीं कहा है कि इस साधनको करनेका किसी खास वर्ण, आश्रम या जातिको ही अधिकार है, दूसरोंको नहीं।

ऐसा होनेपर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी कर्म सभी मनुष्योंके लिये उपयोगी नहीं होते। इसीलिये भगवान्ने वर्णधर्मपर बहुत जोर दिया है। जिस वर्णके लिये जो कर्म विहित हैं, उसके लिये वे ही कर्म कर्तव्य हैं, दूसरे वर्णके नहीं। इस बातको ध्यानमें रखकर ही कर्म करने चाहिये। ऐसे वर्णधर्मके द्वारा नियत कर्तव्य-कर्मोंको अपने-अपने अधिकार और रुचिके अनुकूल योगनिष्ठाके अनुसार मनुष्यमात्र ही कर सकते हैं। वर्णधर्मके अतिरिक्त मानवमात्रके लिये पालनीय सदाचार, भक्ति आदिका साधन तो सभी कर सकते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि सांख्ययोगके साधनका अधिकार संन्यासियोंको ही है, दूसरे आश्रमवालोंको नहीं। यह बात भी युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। अ० २। १८ में भगवान्ने सांख्यकी दृष्टिसे भी युद्ध ही करनेकी आज्ञा दी है। भगवान् यदि केवल संन्यासियोंको ही सांख्ययोगका अधिकारी मानते तो वे अर्जुनको उस दृष्टिसे युद्ध करनेकी आज्ञा कभी न देते। क्योंकि संन्यास-आश्रममें कर्ममात्रका त्याग कहा गया है, युद्धरूपी घोर कर्मकी तो बात ही क्या है। फिर अर्जुन तो संन्यासी थे भी नहीं। उन्हें भगवान्ने ज्ञानियोंके पास जाकर ज्ञान सीखनेतककी बात कही है (४। ३४)।

इसके अतिरिक्त तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान्ने सांख्ययोगकी सिद्धि केवल कर्मोंके स्वरूपतः त्यागसे नहीं बतलायी। यदि भगवान् सांख्ययोगका अधिकारी केवल संन्यासियोंको ही मानते तो सांख्ययोगके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग आवश्यक बतलाते और यह नहीं कहते कि कर्मोंको स्वरूपतः त्याग देनेमात्रसे ही सांख्ययोगकी सिद्धि नहीं होती। यही नहीं; अ० १३। ७—११ में जहाँ ज्ञानके साधन बतलाये गये हैं, वहाँ एक साधन स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिमें आसक्ति एवं ममताका त्याग भी बतलाया है—

'असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।'

स्त्री, पुत्र, धन आदिके साथ स्वरूपतः सम्बन्ध होनेपर ही उनके प्रति आसक्ति एवं ममताके त्यागकी बात कही जा सकती है। संन्यास-आश्रममें इनका स्वरूपसे ही त्याग है; ऐसी दशामें यदि संन्यासियोंको ही ज्ञानयोगके साधनका अधिकार होता तो उनके लिये इन सबके प्रति आसक्ति और ममताके त्यागका कथन अनावश्यक था।

तीसरी बात यह है कि अठारहवें अध्यायमें जहाँ अर्जुनने खास संन्यास और त्यागके सम्बन्धमें प्रश्न किया है, वहाँ भगवान्ने १३वेंसे लेकर ४०वें श्लोकतक संन्यासके स्थानपर सांख्ययोगका ही वर्णन किया है, संन्यास-आश्रमका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। यदि भगवान्को 'संन्यास' शब्दसे संन्यास-आश्रम अभिप्रेत होता अथवा सांख्ययोगका अधिकारी वे केवल संन्यासियोंको ही मानते तो इस प्रसङ्गपर अवश्य उसका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख करते। इन सब

बातोंसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सांख्य-योगका अधिकार संन्यासी, गृहस्थ सभीको समान रूपसे है । हाँ, इतनी बात अवश्य है कि सांख्ययोगका साधन करनेके लिये संन्यास-आश्रममें सुविधाएँ अधिक हैं, इस दृष्टिसे उस आश्रमको गृहस्थाश्रमकी अपेक्षा सांख्ययोगके साधनके लिये अवश्य ही अधिक उपयुक्त कह सकते हैं ।

कर्मयोगके साधनमें कर्मकी प्रधानता है और स्ववर्णोचित विहित कर्म करनेकी विशेष रूपसे आज्ञा है (३ । ८); बल्कि कर्मोंका स्वरूपसे त्याग इसमें बाधक बतलाया गया है (३ । ४)। इसलिये संन्यास-आश्रममें द्रव्यसाध्य कर्मयोगका आचरण नहीं बन सकता, क्योंकि वहाँ द्रव्य और कर्मोंका स्वरूपसे त्याग है; किन्तु भगवान्‌की भक्ति सभी आश्रमोंमें की जा सकती है । कुछ लोगोंमें यह भ्रम फैला हुआ है कि गीता तो साधु-संन्यासियों-के कामकी चीज है, गृहस्थोंके कामकी नहीं; इसीलिये वे प्रायः बालकोंको इस भयसे गीता नहीं पढ़ाते कि इसे पढ़कर ये लोग गृहस्थका त्याग कर देंगे । परन्तु उनका ऐसा समझना सर्वथा भूल है, यह बात ऊपरकी बातोंसे स्पष्ट हो जाती है । वे लोग यह नहीं सोचते कि मोहके कारण अपने क्षात्रधर्मसे विमुख होकर भिक्षाके अन्नसे निर्वाह करनेके लिये उद्यत अर्जुनने जिस परम रहस्यमय गीताके उपदेशसे आजीवन गृहस्थमें रहकर अपने कर्तव्यका पालन किया, उस गीता-शास्त्र-का यह उल्टा परिणाम किस प्रकार हो सकता है । यही नहीं, गीताके उपदेष्टा स्वयं भगवान् जबतक इस धराधामपर अवताररूपमें रहे, तबतक बराबर कर्म ही करते रहे— साधुओंकी रक्षा की, दुष्टोंका संहार करके उद्धार किया और धर्मकी स्थापना की । यही नहीं, उन्होंने तो यहाँतक कहा है कि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो लोग मेरी देखा-देखी कर्मोंका परित्याग कर आलसी बन जायँ और इस प्रकार लोककी मर्यादा छिन्न-भिन्न करनेका दायित्व मुझीपर रहे (३ । २३-२४)। इसका यह अर्थ भी नहीं कि गीता संन्यासियोंके लिये नहीं है । गीता सभी वर्णाश्रमवालोंके लिये है । सभी अपने-अपने वर्णाश्रमके कर्मोंको सांख्य या योग— दोनोंमेंसे किसी एक निष्ठाके द्वारा अधिकारानुसार साधन कर सकते हैं ।

गीतामें भक्ति

गीतामें कर्म, भक्ति, ज्ञान—सभी विषयोंका विशदरूपसे विवेचन किया गया है; सभी मार्गोंसे चलनेवालोंको इसमें यथेष्ट सामग्री मिल सकती है । किन्तु अर्जुन भगवान्‌के भक्त थे; अतः सभी विषयोंका प्रतिपादन करते हुए जहाँ अर्जुनको स्वयं आचरण करनेके लिये आज्ञा दी है, वहाँ भगवान्‌ने उसे भक्तिप्रधान कर्मयोगका ही उपदेश दिया है (३ । ३०; ८ । ७; १२ । ८; १८ । ५७, ६२, ६५, ६६) । कहीं-कहीं केवल कर्म करनेकी भी आज्ञा दी है (देखिये २ । ४८, ५०; ३ । ८, ९, १९; ४ । ४२; ६ । ४६; ११ । ३३-३४) परन्तु उसके साथ भी भक्तिका अन्य स्थलोंसे अध्याहार कर लेना चाहिये । केवल ४ । ३४ में भगवान्‌ने अर्जुनको ज्ञानियोंके पास जाकर ज्ञान सीखनेकी आज्ञा दी है, वह भी ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रणाली बतलाने तथा अर्जुनको चेतावनी देनेके लिये । वास्तवमें भगवान्‌का आशय अर्जुनको ज्ञान सीखनेके लिये किसी ज्ञानीके पास भेजनेका नहीं था और न अर्जुनने जाकर उस प्रक्रियासे कहीं ज्ञान सीखा ही । उपक्रम-उपसंहारको देखते हुए भी गीताका पर्यवसान शरणागतिमें ही प्रतीत होता है । वैसे तो गीताका उपदेश 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (२ । ११) इस श्लोकसे प्रारम्भ हुआ है; किन्तु इस उपक्रमका बीज 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः' (२ । ७) अर्जुनकी इस उक्तिमें है, जिसमें 'प्रपन्नम्' पदसे शरणागतिका भाव व्यञ्जित होता है । इसीलिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' (१८ । ६६) इस श्लोकसे भगवान्‌ने शरणागति-में ही अपने उपदेशका उपसंहार भी किया है ।

गीताका ऐसा कोई भी अध्याय नहीं है, जिसमें कहीं-न-कहीं भक्तिका प्रसङ्ग न आया हो । उदाहरणके लिये दूसरे अध्यायका ६१ वाँ, तीसरे अध्यायका ३०वाँ, चौथे अध्याय-का ११वाँ, पाँचवें अध्यायका २९वाँ, छठे अध्यायका ४७-वाँ, सातवें अध्यायका १४ वाँ, आठवें अध्यायका १४वाँ, नवें अध्यायका ३४वाँ, दसवें अध्यायका ९वाँ, ग्यारहवें अध्यायका ५४ वाँ, बारहवें अध्यायका दूसरा, तेरहवें अध्याय-का १० वाँ, चौदहवें अध्यायका २६ वाँ, पन्द्रहवें अध्यायका १९ वाँ, सोलहवें अध्यायका पहला (जिसमें 'ज्ञानयोगव्यव-स्थितिः' पदके द्वारा भगवान्‌के ध्यानकी बात कही गयी है), सतरहवें अध्यायका २७वाँ और अठारहवें अध्यायका ६६वाँ श्लोक देखना चाहिये । इस प्रकार प्रत्येक अध्यायमें भक्तिका प्रसङ्ग आया है । सातवेंसे लेकर बारहवें अध्यायतकमें तो भक्तियोगका प्रकरण भरा पड़ा है; इसीलिये इन छहों अध्यायों-को भक्तिप्रधान माना गया है । यहाँ उदाहरणके लिये प्रत्येक अध्यायके एक-एक श्लोककी ही संख्या दी गयी है । इसी

प्रकार ज्ञानपरक श्लोक भी प्रायः सभी अध्यायोंमें मिलते हैं। उदाहरणके लिये—दूसरे अध्यायका २९वाँ, तीसरेका २८वाँ, चौथेके २५वेंका उत्तरार्द्ध, पाँचवेंका १३वाँ, छठेका २९वाँ, आठवेंका १३वाँ, नवेंका १५वाँ, बारहवेंका ३रा, तेरहवेंका ३४वाँ, चौदहवेंका १९वाँ और अठारहवेंका ४९वाँ श्लोक देखना चाहिये। इनमें भी दूसरे, पाँचवें, तेरहवें, चौदहवें तथा अठारहवें अध्यायोंमें ज्ञानपरक श्लोक बहुत अधिक मिलते हैं।

गीतामें जिस प्रकार भक्ति और ज्ञानका रहस्य अच्छी तरहसे खोला गया है, उसी प्रकार कर्मोंका रहस्य भी भलीभाँति खोला गया है। दूसरे अध्यायके ३९वेंसे ५३वें श्लोकतक, तीसरे अध्यायके ४थे श्लोकसे ३५वें श्लोकतक, चौथे अध्यायके १६वें से ३२वें श्लोकतक, पाँचवें अध्यायके २रे श्लोकसे ७वें श्लोकतक तथा छठे अध्यायके १ले श्लोकसे ४थे श्लोकतक कर्मोंका रहस्य पूर्णरूपसे भरा हुआ है। इनमें भी अ० २।४७ तथा ४।१६से १८ में कर्म, अकर्म एवं विकर्मके नामसे कर्मोंके रहस्यका विशेषरूपसे विवेचन हुआ है। उपर्युक्त चार श्लोकोंकी व्याख्यामें इस विषयका विस्तारसे विवरण किया गया है। इसी प्रकार अन्यान्य अध्यायोंमें भी कर्मोंका वर्णन है। स्थान-सङ्कोचसे अधिक प्रमाण नहीं दिये जा रहे हैं। इससे यह विदित होता है कि गीतामें केवल भक्तिका ही वर्णन नहीं है, ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनोंका ही सम्यक्तया प्रतिपादन हुआ है।

सगुण-निर्गुण-तत्त्व

ऊपर यह बात कही गयी कि परमात्माकी उपासना भेद-दृष्टिसे की जाय अथवा अभेद-दृष्टिसे, दोनोंका फल एक ही है—'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।' (५।५) यह बात कैसे कही गयी? भेदोपासकको भगवान् साकार-रूपमें दर्शन देते हैं और इस शरीरको छोड़नेके बाद वह उन्हींके परम धामको जाता है; और अभेदोपासक स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। वह कहीं जाता-आता नहीं। फिर यह कैसे कहा जाता है कि दोनों प्रकारकी उपासनाका—सांख्यनिष्ठाका और योगनिष्ठाका फल एक ही है। इसका उत्तर यह है कि ऊपर जो बात कही गयी वह ठीक है और प्रश्नकर्ताने जो बात कही वह भी ठीक है। दोनोंका समन्वय कैसे है, अब इसीपर विचार किया जाता है।

साधनकालमें साधक जिस प्रकारके भाव और श्रद्धासे भावित होकर परमात्माकी उपासना करता है, उसको उसी भावके अनुसार परमात्माकी प्राप्ति होती है। भगवान् स्वयं भी कहते हैं कि 'जो मुझे जिस भावसे भजते हैं, मैं उन्हें उसी भावसे भजता हूँ' (४।११)। जो अभेदरूपसे अर्थात् अपनेको परमात्मासे अभिन्न मानकर परमात्माकी उपासना करते हैं, उन्हें अभेदरूपसे परमात्माकी प्राप्ति होती है; और जो भेदरूपसे उन्हें भजते हैं, उन्हें भेदरूपसे ही वे दर्शन देते हैं। साधकके निश्चयानुसार भगवान् भिन्न-भिन्न रूपसे सब लोगोंको मिलते हैं।

भेदोपासना तथा अभेदोपासना—दोनों ही उपासनाएँ भगवान्‌की उपासना हैं। क्योंकि भगवान् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, सभी कुछ हैं। जो पुरुष भगवान्‌को निर्गुण-निराकार समझते हैं, उनके लिये वे निर्गुण-निराकार हैं (१२।३; १३।१२)। जो उन्हें सगुण-निराकार मानते हैं, उनके लिये वे सगुण-निराकार हैं (८।९)। जो उन्हें सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वोत्तम आदि उत्तम गुणोंसे युक्त मानते हैं, उनके लिये वे सर्वसद्‌गुण-सम्पन्न हैं (१५।१५, १७; १९*)। जो पुरुष उन्हें सर्वरूप मानते हैं, उनके लिये वे सर्वरूप हैं (७।७–१२; ९।१६–१९)। जो उन्हें सगुण-साकार मानते हैं, उन्हें वे सगुण-साकाररूपमें दर्शन देते हैं (४।८; ९।२६)।

ऊपर जो बात कही गयी, वह तो ठीक है; परन्तु इससे प्रश्नकर्ताकी मूल शङ्काका समाधान नहीं हुआ, वह ज्यों-की-त्यों बनी है। शङ्का तो यही थी कि जब भगवान् सबको अलग-अलग रूपमें मिलते हैं, तब फलमें एकता कहाँ हुई। इसका उत्तर यह है कि प्रथम भगवान् साधकको उसके भावके अनुसार ही मिलते हैं। उसके बाद जो भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वकी उपलब्धि होती है, वह वाणीके द्वारा अकथनीय है, वह शब्दोंद्वारा बतलायी नहीं जा सकती। भेद अथवा अभेद-रूपसे जितने प्रकारसे भी भगवान्‌की उपासना होती है, उन सबका अन्तिम फल एक ही होता है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने अभेदोपासकोंको अपनी प्राप्ति बतलायी है (१२।४; १४।१९; १८।५५) और भेदोपासकके लिये यह कहा है कि वह ब्रह्मको प्राप्त होता है (१४।२६), अनामय पदको प्राप्त होता है (२।५१), शाश्वत् शान्तिको

*उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌के श्रेष्ठ गुणोंका ही वर्णन है, अतएव १५।१५ में हमने 'अपोहन' शब्दका अर्थ ज्ञान और स्मृतिका नाश न लेकर संशय-विपर्ययका नाश ही लिया है।

प्राप्त होता है (९।३१), ब्रह्मको जान जाता है (७।२९), अविनाशी शाश्वत पदको प्राप्त होता है (१८।५६) इत्यादि, इत्यादि। भेदोपासना तथा अभेदोपासना—दोनों प्रकारकी उपासनाका फल एक ही होता है, इसी बातको लक्ष्य करानेके लिये भगवान्ने एक ही बातको उलट-फेरकर कई प्रकारसे कहा है। भेदोपासक तथा अभेदोपासक दोनोंके द्वारा प्रापणीय वस्तु, सत्य तत्त्व अथवा 'स्थान' एक ही है (५।५); उसीको कहीं परम शान्ति और शाश्वत स्थानके नामसे कहा है (१८।६२), कहीं परमधामके नामसे (१५।६), कहीं अमृतके नामसे (१३।१२), कहीं 'माम्' पदसे (९।३४), कहीं परम गतिके नामसे (८।१३), कहीं परम संसिद्धिके नामसे (८।१५), कहीं अव्यय पदके नामसे (१५।५), कहीं ब्रह्मनिर्वाणके नामसे (५।२४,), कहीं निर्वाणपरमा शान्तिके नामसे (६।१५) और कहीं नैष्ठिक शान्तिके नामसे (५।१२) व्यक्त किया है। इनके अतिरिक्त और भी कई शब्द गीतामें उस अन्तिम फलको व्यक्त करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु स्थान-सङ्कोचके कारण यहाँ इतने ही नाम दिये जाते हैं। परन्तु वह वस्तु सभी साधनोंका फल है—इसके अतिरिक्त उसके विषयमें कुछ भी कहा नहीं जा सकता। वह वाणीका अविषय है। जिसे वह वस्तु प्राप्त हो गयी है, वही उसे जानता है; परन्तु वह भी उसका वर्णन नहीं कर सकता, उपर्युक्त शब्दों तथा इसी प्रकारके अन्य शब्दोंद्वारा वह शाखाचन्द्रन्यायसे उसका लक्ष्यमात्र करा सकता है। अतः सब साधनोंका फलरूप जो परम वस्तु-तत्त्व है वह एक है, यही बात युक्तिसङ्गत है।

ईश्वरका यह तात्त्विक स्वरूप अलौकिक है, परम रहस्यमय है, गुह्यतम है। जिन्हें वह प्राप्त है, वे ही उसे जानते हैं। परन्तु यह बात भी उसका लक्ष्य करानेके उद्देश्यसे ही कही जाती है। युक्तिसे विचारकर देखा जाय तो यह कहना भी नहीं बनता।

गीतामें समता

गीतामें समताकी बात प्रधानरूपसे आयी है। भगवत्प्राप्तिकी तो समता ही कसौटी है। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति—तीनों ही मार्गोंमें साधनरूपमें भी समताकी आवश्यकता बतायी गयी है और तीनों ही मार्गोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंका भी समताको एक असाधारण लक्षण बतलाया गया है। साधन भी उसके बिना अधूरा है, सिद्धि तो अधूरी है ही। जिसमें समता नहीं, वह सिद्ध ही कैसा? अ० २। १५ में 'समदुःखसुखम्' पदसे ज्ञानमार्गके साधकोंमें समतावालेको ही अमृतत्व अर्थात् मुक्तिका अधिकारी बतलाया गया है। अ०। २।४८ में 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' इस श्लोकार्द्धके द्वारा कर्मयोगके साधकको समतायुक्त होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है। अ० १२। १८, १९ इन दो श्लोकोंमें सिद्ध भक्तके लक्षणोंमें समताका उल्लेख किया गया है और उसी अध्यायके २० वें श्लोकमें भक्तिमार्गके साधकके लिये भी इन्हीं गुणोंके सेवनकी बात कही गयी है। इसी प्रकार ६। ७–९ में सिद्ध कर्मयोगीको सम बतलाया गया है और अ० १४। २४–२५ में गुणातीत (सिद्ध ज्ञानयोगी) के लक्षणोंमें भी समताका प्रधानरूपसे समावेश पाया जाता है।

इस समताका तत्त्व सुगमताके साथ भलीभाँति समझानेके लिये श्रीभगवान्ने गीतामें अनेकों प्रकारसे सम्पूर्ण क्रिया, भाव, पदार्थ और भूतप्राणियोंमें समताकी व्याख्या की है। जैसे—

मनुष्योंमें समता

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥
(६।९)

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला श्रेष्ठ है।'

मनुष्यों और पशुओंमें समता

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(५।१८)

ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।

सम्पूर्ण जीवोंमें समता

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६।३२)

हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

कहीं-कहींपर भगवान्ने व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ और भावकी समताका एक ही साथ वर्णन किया है। जैसे—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
(१२ । १८)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है (वह भक्त है) ।'

'यहाँ शत्रु-मित्र 'व्यक्ति' के वाचक हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
(१४ । २४)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वही गुणातीत है) ।'

इसमें भी दुःख-सुख 'भाव' हैं; लोष्ट, अश्म और काञ्चन 'पदार्थ' हैं; निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' है और प्रिय-अप्रिय 'प्राणी', 'भाव', 'पदार्थ' तथा 'क्रिया' सभीके वाचक हैं ।

इस प्रकार जो सर्वत्र समदृष्टि है, व्यवहारमें कथनमात्रकी अहंता-ममता रहते हुए भी जो सबमें समबुद्धि रखता है, जिसका समष्टिरूप समस्त संसारमें आत्मभाव है, वह समता-युक्त पुरुष है और वही सच्चा साम्यवादी है ।

गीताके साम्यवाद और आजकलके कहे जानेवाले साम्यवादमें बड़ा अन्तर है । आजकलका साम्यवाद ईश्वरविरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वरको देखता है; वह धर्मका नाशक है, यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है; वह हिंसामय है, यह अहिंसाका प्रतिपादक है; वह स्वार्थमूलक है, यह स्वार्थको समीप भी नहीं आने देता; वह खान-पान-स्पर्शादिमें एकता रखकर आन्तरिक भेदभाव रखता है, यह खान-पान-स्पर्शादिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेद रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता और सबमें आत्माको अभिन्न देखनेकी शिक्षा देता है; उसका लक्ष्य केवल धनोपासना है, इसका लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति है; उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, इसमें सर्वथा अभिमानशून्यता है और सारे जगत्‌में परमात्माको देखकर सबका सम्मान करना है, कोई दूसरा है ही नहीं; उसमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है; इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है; उसमें भौतिक सुख मुख्य है, इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है; उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है, इसमें सबका समान आदर है; उसमें राग-द्वेष है, इसमें राग-द्वेषरहित व्यवहार है ।

जीवोंकी गति

गीतामें जीवोंके गुण एवं कर्मानुसार उनकी उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—तीन गतियाँ बतलायी गयी हैं । सकामभावसे विहित कर्म एवं उपासना करनेवालोंकी गतिका अ० ९ । २०, २१में वर्णन किया गया है—जहाँ स्वर्गकी कामनासे यज्ञ-यागादि वेद-विहित कर्म करनेवालोंको स्वर्गके भोगोंकी प्राप्ति तथा पुण्योंके क्षय हो जानेपर उनके पुनः मर्त्यलोकमें ढकेले जानेकी बात कही गयी है । वे लोग किस मार्गसे तथा किस तरह स्वर्गको जाते हैं, इसकी प्रक्रिया अ० ८ । २५ में बतलायी गयी है । उक्त श्लोककी व्याख्यामें उसका विस्तारसे वर्णन किया गया है ।

योग तथा सांख्यकी दृष्टिसे शास्त्रोक्त कर्म एवं उपासना करनेवाले साधकोंकी गति अ० ८ । २४ में बतलायी गयी है । उनमें जो योगभ्रष्ट हो जाते हैं अर्थात् साधन करते-करते उसके सिद्ध होनेके पूर्व ही जिनका देहान्त हो जाता है, उनकी गतिका अ० ६ । ४०–४५ में वर्णन किया गया है । वहाँ यह बतलाया गया है कि मरनेके बाद वे स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं और सुदीर्घकालतक उन दिव्यलोकोंके सुख भोगकर पवित्र आचरणवाले श्रीमान् लोगोंके घरोंमें जन्म लेते हैं अथवा योगियोंके ही कुलमें जन्मते हैं और वहाँ पूर्व अभ्यासके कारण पुनः योगके साधनमें प्रवृत्त होकर परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं ।

चौदहवें अध्यायके १४वें, १५वें और १८वें श्लोकोंमें सामान्य भावसे सभी पुरुषोंकी गति संक्षेपमें बतलायी गयी है । सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवाले उत्तम लोकोंमें जाते हैं, रजोगुण-की वृद्धिमें मरनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं तथा तमोगुणकी वृद्धिमें मरनेवाले पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग तथा वृक्षादि योनियोंमें जन्मते हैं । इस प्रकार सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष भी मरकर ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् नरकोंको और तिर्यक् योनियोंको प्राप्त होते हैं । सोलहवें अध्यायके १९ वेंसे २१ वें श्लोकतक आसुरी प्रकृतिके तामसी मनुष्योंके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है कि उन्हें मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें अर्थात्

कूकर-शूकर आदि योनियोंमें डालता हूँ और इसके बाद वे घोर नरकोंमें गिरते हैं। इसी प्रकार और-और स्थलोंमें भी गुण-कर्मके अनुसार गीतामें जीवोंकी गति बतलायी गयी है। स्थानके संकोचसे विस्तार नहीं किया गया। मुक्त पुरुषोंकी गतिका वर्णन विस्तारसे सांख्य और योगके फलरूपमें कहा गया है।

गीताकी कुछ खास बातें

(१) गुणोंकी पहिचान

गीतामें सात्त्विक-राजस-तामस पदार्थों, भावों एवं क्रियाओं-की कुछ खास पहिचान बतलायी गयी है। वह इस प्रकार है—

(१) जिस पदार्थ, भाव या क्रियाका स्वार्थसे सम्बन्ध न हो और जिसमें आसक्ति एवं ममता न हो तथा जिसका फल भगवत्प्राप्ति हो, उसे सात्त्विक जानना चाहिये।

(२) जिस पदार्थ, भाव या क्रियामें लोभ, स्वार्थ एवं आसक्तिका सम्बन्ध हो तथा जिसका फल क्षणिक सुखकी प्राप्ति एवं अन्तिम परिणाम दुःख हो, उसे राजस समझना चाहिये।

(३) जिस पदार्थ, भाव या क्रियामें हिंसा, मोह एवं प्रमाद हो तथा जिसका फल दुःख एवं अज्ञान हो, उसे तामस समझना चाहिये।

इस प्रकार तीनों तरहके पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंका भेद बतलाकर भगवान्‌ने सात्त्विक पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंको ग्रहण करने तथा राजस एवं तामस पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंका त्याग करनेका उपदेश दिया है।

(२) गीतामें आचरणकी अपेक्षा भावकी प्रधानता

यद्यपि उत्तम आचरण एवं अन्तःकरणका उत्तम भाव, दोनोंहीको गीताने कल्याणका साधन माना है, किन्तु प्रधानता भावको ही दी है। दूसरे, बारहवें तथा चौदहवें अध्यायोंके अन्तमें क्रमशः स्थितप्रज्ञ, भक्त एवं गुणातीत पुरुषोंके लक्षणोंमें भावकी ही प्रधानता बतलायी गयी है (देखिये २।५५–७१; १२।१३–१९; १४।२२–२५)। दूसरे तथा चौदहवें अध्यायोंमें तो अर्जुनने प्रश्न किया है आचरणको लक्ष्य करके, परन्तु भगवान्‌ने उत्तर दिया है भावको ही दृष्टिमें रखकर। गीताके अनुसार सकामभावसे की हुई यज्ञ, दान, तप आदि ऊँची-से-ऊँची क्रिया एवं उपासनासे भी निष्कामभावसे की हुई शिल्प, व्यापार एवं सेवा आदि छोटी-से-छोटी क्रिया भी मुक्तिदायक होनेके कारण श्रेष्ठ है (१८।४६)। चौथे अध्यायमें जहाँ कई प्रकारके यज्ञरूप साधन बतलाये गये हैं, उनमें भी भावकी प्रधानतासे ही मुक्ति बतलायी है।

गीता और वेद

गीता वेदोंको बहुत आदर देती है। अ० १५।१५ में भगवान् अपनेको समस्त वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य, वेदान्तका रचनेवाला और वेदोंका जाननेवाला कहकर उनका महत्त्व बहुत बढ़ा देते हैं। अ० १५।१ में संसाररूपी अश्वत्थवृक्षका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'मूलसहित उस वृक्षको तत्त्वसे जाननेवाला ही वास्तवमें वेदके तत्त्वको जाननेवाला है।' इससे भगवान्‌ने यह बतलाया कि जगत्‌के कारणरूप परमात्माके तत्त्वसहित जगत्‌के वास्तविक स्वरूपको जनाना ही वेदोंका तात्पर्य है। अ० १३।४ में भगवान्‌ने कहा है कि 'जो बात वेदोंके द्वारा विभागपूर्वक कही गयी है, उसीको मैं कहता हूँ।' इस प्रकार अपनी उक्तियोंके समर्थनमें वेदोंको प्रमाण बतलाकर भगवान्‌ने वेदोंकी महिमाको बहुत अधिक बढ़ा दिया है। अ० ९।१७ में तो भगवान्‌ने ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद—वेदत्रयीको अपना ही स्वरूप बतलाकर उसको और भी अधिक आदर दिया है। अ० ३।१५ और १७।२३ में भगवान् वेदोंको अपनेसे ही उत्पन्न हुए बतलाते हैं और अ० ४।३२ में भगवान्‌ने यह कहा है कि परमात्माको प्राप्त करनेके अनेकों साधन वेदोंमें बतलाये हैं। इससे मानो भगवान् स्पष्टरूपसे यह कहते हैं कि वेदोंमें केवल भोगप्राप्तिके साधन ही नहीं हैं—जैसा कि कुछ अविवेकीजन समझते हैं—किन्तु भगवत्प्राप्तिके भी एक-दो नहीं, अनेकों साधन भरे पड़े हैं। अ० ८।११ में भगवान् परमपदके नामसे अपने स्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वेदवेत्तालोग उसे अक्षर (ओंकार) के नामसे निर्देश करते हैं। इससे भी भगवान् यही सूचित करते हैं कि वेदोंमें सकाम पुरुषोंद्वारा प्रापणीय इस लोकके एवं स्वर्गके अनित्य भोगोंका ही वर्णन नहीं है, उनमें भगवान्‌के अविनाशी स्वरूपका भी विशद वर्णन है।

उपर्युक्त वर्णनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वेदोंको भगवान्‌ने बहुत अधिक आदर दिया है। इसपर यह शङ्का होती है कि 'फिर भगवान्‌ने कई स्थलोंपर वेदोंकी निन्दा क्यों की है। उदाहरणतः अ० २।४२ में उन्होंने सकाम पुरुषोंको वेदवादमें रत एवं अविवेकी बतलाया है। अ० २।४५ में उन्होंने वेदोंको तीनों गुणोंके कार्यरूप सांसारिक भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले कहकर अर्जुनको उन भोगोंमें आसक्ति-

रहित होनेके लिये कहा है और अ० ९।२१ में वेदत्रयीधर्मका आश्रय लेनेवाले सकाम पुरुषोंके सम्बन्धमें भगवान्‌ने यह कहा है कि वे बारंबार जन्मते-मरते रहते हैं, आवागमनके चक्करसे छूटते नहीं। ऐसी स्थितिमें क्या माना जाय?'

इस शङ्काका उत्तर यह है कि उपर्युक्त वचनोंमें यद्यपि वेदोंकी निन्दा प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमें उनमें वेदोंकी निन्दा नहीं है। गीतामें सकामभावकी अपेक्षा निष्कामभावको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये उसे आवश्यक बतलाया है। इसीसे उसकी अपेक्षा सकामभावको नीचा और नाशवान् विषय-सुखके देनेवाला बतलानेके लिये ही उसको जगह-जगह तुच्छ सिद्ध किया है, निषिद्ध कर्मोंकी भाँति उनकी निन्दा नहीं की है। अ० ८। २८ में जहाँ वेदोंके फलको लाँघ जानेकी बात कही गयी है, वहाँ भी सकाम कर्मको लक्ष्य करके ही वैसा कहा गया है। उपर्युक्त विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्‌ने गीतामें वेदोंकी निन्दा कहीं भी नहीं की है, बल्कि जगह-जगह वेदोंकी प्रशंसा ही की है।

गीता और सांख्यदर्शन तथा योगदर्शन

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि गीतामें जहाँ-जहाँ 'सांख्य' शब्दका प्रयोग हुआ है, वहाँ वह महर्षि कपिलके द्वारा प्रवर्तित सांख्यदर्शनका वाचक है; परन्तु यह बात युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। गीताके तेरहवें अध्यायमें लगातार तीन श्लोकों (१९, २० और २१) में तथा अन्यत्र भी 'प्रकृति' और 'पुरुष' दोनों शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग हुआ है और प्रकृति-पुरुष सांख्यदर्शनके खास शब्द हैं; इससे लोगोंने अनुमान कर लिया कि गीताको कापिल सांख्यका सिद्धान्त मान्य है। इसी प्रकार 'योग' शब्दको भी कुछ लोग पातञ्जल योगका वाचक मानते हैं। पाँचवें अध्यायके प्रारम्भमें तथा अन्यत्र भी कई जगह 'सांख्य' और 'योग' शब्दोंका एक ही जगह प्रयोग हुआ है; इससे भी लोगोंने यह मान लिया कि 'सांख्य' और 'योग' शब्द क्रमशः कापिल सांख्य तथा पातञ्जल योगके वाचक हैं; परन्तु यह बात युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। न तो गीताका 'सांख्य' कापिल सांख्य ही है और न गीताका 'योग' पातञ्जल योग ही। नीचे लिखी बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है।

(१) गीतामें ईश्वरको जिस रूपमें माना है, उस रूपमें सांख्यदर्शन नहीं मानता।

(२) यद्यपि 'प्रकृति' शब्दका गीतामें कई जगह प्रयोग आया है, परन्तु गीताकी 'प्रकृति' और सांख्यकी 'प्रकृति'में महान् अन्तर है। सांख्यने प्रकृतिको अनादि एवं नित्य माना है; गीताने भी प्रकृतिको अनादि तो माना है (१३। १९), परन्तु गीताके अनुसार ज्ञानीकी दृष्टिमें ब्रह्मके सिवा प्रकृतिकी अलग सत्ता नहीं रहती।

(३) गीताके 'पुरुष' और सांख्यके 'पुरुष' में भी महान् अन्तर है। सांख्यके मतमें पुरुष नाना हैं; किन्तु गीता एक ही पुरुषको मानती है (१३। ३०; १८। २०)।

(४) गीताकी 'मुक्ति' और सांख्यकी 'मुक्ति' में भी महान् अन्तर है। सांख्यके मतमें दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही मुक्तिका स्वरूप है; गीताकी 'मुक्ति'में दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तो है ही, किन्तु साथ-ही-साथ परमानन्द-स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति भी है।

(५) पातञ्जल योगमें योगका अर्थ है—'चित्तवृत्ति-का निरोध।' परन्तु गीतामें प्रकरणानुसार 'योग' शब्दका विभिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है (देखिये अ० २। ५३ की टीका)।

इस प्रकार गीता और सांख्यदर्शन तथा योगदर्शनके सिद्धान्तोंमें बड़ा अन्तर है।

इस टीकाका प्रयोजन

बहुत दिनोंसे कई मित्रोंका आग्रह एवं प्रेरणा थी कि मैं अपने भावोंके अनुसार गीतापर एक विस्तृत टीका लिखूँ। यों तो गीतापर पूज्यपाद आचार्यों, संत-महात्माओं एवं शास्त्रके मर्मको जाननेवाले विद्वानोंके अनेक भाष्य, टीकाएँ और व्याख्याएँ हैं, जो सभी आदरणीय हैं एवं सभीमें अपनी-अपनी दृष्टिसे गीताके मर्मको समझानेकी चेष्टा की गयी है। किन्तु उनमेंसे अधिकांश संस्कृतमें हैं और विद्वानोंके विशेष कामकी हैं। इसीलिये मित्रोंका यह कहना था कि सरल भाषामें एक ऐसी सर्वोपयोगी टीका लिखी जाय जो सर्वसाधारणकी समझमें आ सके और जिसमें गीताका तात्पर्य विस्तारपूर्वक खोला जाय। इसी दृष्टिको लेकर तथा सबसे अधिक लाभ तो इससे मुझको ही होगा, यह सोचकर इस कार्यको प्रारम्भ किया गया। परन्तु यह कार्य आपाततः जितना सुकर मालूम होता था, आगे बढ़नेपर अनुभवसे वह उतना ही कठिन सिद्ध हुआ।

मैं जानता हूँ कि योग्यता एवं अधिकार दोनोंकी दृष्टिसे ही मेरा यह प्रयास दुःसाहस समझा जायगा । वर्णसे तो मैं एक वैश्यका बालक हूँ और गीता-जैसे सर्वमान्य ग्रन्थपर टीका लिखनेका सर्वथा अनधिकारी हूँ । विद्या-बुद्धिकी दृष्टिसे भी मैं अपनेको इस कार्यके लिये नितान्त अयोग्य पाता हूँ । रह गयी भावोंके सम्बन्धकी बात, सो भगवान्‌के उपदेशका पूरा-पूरा भाव समझनेकी बात तो दूर रही, उसका शतांश भी मैं समझ पाया हूँ—यह कहना मेरे लिये दुःसाहस ही होगा । भगवान्‌के उपदेशोंको यत्किञ्चित् भी समझकर उनको काममें लाना तो और भी कठिन बात है । उसे तो वही लोग काममें ला सकते हैं, जिनपर भगवान्‌की विशेष कृपा है । पूरे उपदेशको अमलमें लाना तो दूर रहा, जिन लोगोंने गीताके साधनात्मक किसी एक श्लोकके अनुसार भी अपने जीवनको ढाल लिया है, वे पुरुष भी वास्तवमें धन्य हैं और उनके चरणोंमें मेरा कोटिशः प्रणाम है । गीताकी व्याख्या करनेके भी ऐसे ही लोग अधिकारी हैं ।

अस्तु, मेरा तो यह प्रयास सब तरहसे दुःसाहसपूर्ण एवं बालचेष्टा ही है; किन्तु फिर भी इसी बहाने गीताके तात्पर्यकी यत्किञ्चित् आलोचना हुई, भगवान्‌के दिव्य उपदेशोंका मनन हुआ, अध्यात्म-विषयकी कुछ चर्चा हुई और जीवनका यह समय बहुत अच्छे काममें लगा—इसके लिये मैं अपनेको धन्य समझता हूँ । इससे मेरा तो गीतासम्बन्धी ज्ञान बढ़ा ही है और बहुत-सी भूलोंका भी मार्जन हुआ है । फिर भी भूलें तो इस कार्यमें पद-पदपर हुई होंगी । क्योंकि गीताके तात्पर्यका सौवाँ हिस्सा भी मैं समझ पाया हूँ, यह नहीं कहा जा सकता । गीताका वास्तविक तात्पर्य पूरी तरहसे तो स्वयं श्रीभगवान् ही जानते हैं और कुछ अंशमें अर्जुन जानते हैं, जिनके उद्देश्यसे भगवान्‌ने गीता कही थी । अथवा जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, जिन्हें भगवत्-कृपाका पूर्ण अनुभव हो चुका है, वे भी कुछ जान सकते हैं । मैं तो इस विषयमें क्या कह सकता हूँ ? जिन-जिन पूज्य महानुभावोंने गीतापर भाष्य अथवा टीकाएँ लिखी हैं, मैं तो उनका अत्यन्त ही कृतज्ञ और ऋणी हूँ । क्योंकि इस टीकाके लिखनेमें मैंने बहुत-से भाष्यों और टीकाओंसे बड़ी सहायता ली है । अतः मैं उन सभी वन्दनीय पुरुषोंको कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे सादर कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ ।

हाँ, इस टीकाके सम्बन्धमें मैं निःसङ्कोच यह कह सकता हूँ कि यह त्रुटियोंसे पूर्ण है । भगवान्‌के भावको व्यक्त करना दूर रहा, बहुत-सी जगह उसे समझनेमें ही मुझसे भूलें हुई होंगी और बहुत-सी जगह उससे विपरीत भाव भी आ गया होगा । उन सब भूलोंके लिये मैं दयालु परमात्मासे तथा सभी गीताप्रेमियोंसे हाथ जोड़कर क्षमा माँगता हूँ । जो कुछ मैंने लिखा है, अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार लिखा है और इस प्रकार अपनी समझका परिचय देकर मैंने जो बाल-चपलता की है, उसे विज्ञजन क्षमा करेंगे । इस टीकामें मैंने किसी भी आचार्य अथवा टीकाकारके सिद्धान्तोंका न तो उल्लेख किया है और न किसीका खण्डन ही किया है । किन्तु अपनी बात कहनेमें भावसे किसीके विरुद्ध कोई बात आ ही सकती है; इसके लिये मैं सबसे क्षमा चाहता हूँ । खण्डन-मण्डन करना अथवा किसी सिद्धान्तकी दूसरे सिद्धान्तके साथ तुलना करना मेरा उद्देश्य नहीं है । इसमें इस बातका भी भरसक ध्यान रक्खा गया है कि कहीं पूर्वापरमें विरोध न आवे; परन्तु टीकाका कलेवर बहुत बढ़ जानेसे तथा टीका-लेखन तथा प्रकाशनका कार्य बहुत ही जल्दीमें किये जानेसे, सम्भव है, कहीं-कहीं इस तरहका दोष रह गया हो । आशा है, विज्ञ पाठक इस प्रकारकी भूलोंको सुधार लेंगे और मुझे भी सूचना देनेकी कृपा करेंगे ।

इस टीकाके लिखनेमें मुझे कई पूज्य महानुभावों, मित्रों एवं बन्धुओंसे अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है । आजकलकी परिपाटीके अनुसार उनके नामोंका उल्लेख करना आवश्यक है; परन्तु मैं यदि ऐसा करने जाता हूँ तो प्रथम तो उनको कष्ट देता हूँ, दूसरे उन लोगोंके साथ जैसा सम्बन्ध है उसे देखते उनकी बड़ाई करना अपनी ही बड़ाई करनेके समान है । इसलिये मैं उनमेंसे किसीके भी नामका उल्लेख न करके इतना ही कह देना पर्याप्त समझता हूँ कि वे लोग यदि मनोयोगके साथ इस कार्यमें सहयोग न देते तो यह टीका इस रूपमें कदाचित् प्रकाशित न हो पाती ।

अज्ञता, दृष्टिदोष, लेखन तथा मुद्रणप्रमाद आदि कारणोंसे तथा छपाईमें बहुत जल्दी की गयी है—इससे भी, टीकामें जो बहुत-सी भूलें रह गयी हैं, इसके लिये विज्ञजन क्षमा करें । पुस्तकरूपमें प्रकाशनके समय भूलें सुधारनेकी चेष्टा की जा सकती है । अन्तमें मेरी पुनः सबसे करबद्ध प्रार्थना है कि मेरी इस बालचपलतापर सुधीजन प्रसन्न होकर मेरी भूलोंको सुधार लें और मुझे सूचना देनेकी कृपा करें, जिससे मुझे भी उनके सुधार करनेमें सहायता मिले ।

विनीत—**जयदयाल गोयन्दका**

टीकाके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य बातें

यह विस्तृत टीका गीता-प्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित साधारण भाषाटीकाके आधारपर ही लिखी गयी है। वह कई वर्ष पूर्व लिखी गयी थी; अतः यत्र-तत्र उसकी भाषामें संशोधन किया गया है और किसी-किसी स्थलमें श्लोकोंके अन्वयमें भी परिवर्तन किया गया है। भाव प्रायः वही रक्खा गया है।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके लिये जिन भिन्न-भिन्न सम्बोधनोंका प्रयोग हुआ है, उनका शब्दार्थ न देकर प्रायः उन-उन श्लोकोंके अर्थमें 'श्रीकृष्ण' तथा 'अर्जुन' शब्दोंका ही प्रयोग किया गया है और कहीं-कहीं 'परन्तप' आदि शब्द ज्यों-के-त्यों रख दिये गये हैं। उनकी व्याख्या बहुत कम स्थलोंपर की गयी है। जहाँ-जहाँ सम्बोधन किसी विशेष अभिप्रायको द्योतित करनेके लिये रक्खे गये प्रतीत हुए, केवल उन्हीं स्थलोंमें उस अभिप्रायको प्रश्नोत्तरके रूपमें खोलनेकी चेष्टा की गयी है।

टीकामें जहाँ अन्यान्य ग्रन्थोंके उद्धरण दिये गये हैं, वहाँ उन ग्रन्थोंका उल्लेख सङ्केतरूपमें किया गया है—जैसे उपनिषद्के लिये 'उ०', बृहदारण्यकके लिये 'बृह०' इत्यादि। ऐसे सङ्केतोंकी तथा जिन-जिन ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी है, उनके नामोंकी तालिका पाठकोंकी सुविधाके लिये अलग दी गयी है। जहाँ ग्रन्थका नाम न देकर केवल संख्या ही दी गयी है, उन स्थलोंको गीताका समझना चाहिये। अध्याय और श्लोक-संख्याओंको सीधी लकीरसे पृथक् किया गया है। बायीं ओरकी अध्याय-संख्या और दाहिनी ओरकी श्लोक-संख्या समझनी चाहिये।

श्लोकोंके भावको खोलनेके लिये तथा वाक्योंकी रचनाको आधुनिक भाषा-शैलीके अनुकूल बनानेके लिये टीकामें मूलसे अधिक शब्द भी यत्र-तत्र जोड़े हैं और भाषाका प्रवाह न टूटे, इसलिये उन्हें कोष्ठकमें नहीं रक्खा गया है। केवल एकाध जगह जहाँ पूरा-का-पूरा वाक्य ऊपरसे जोड़ा गया है, कोष्ठकका प्रयोग किया गया है। अर्थको जहाँतक हो सका है अन्वयके अनुकूल बनाया गया है तथा मूल पदोंकी विभक्तिकी भी रक्षा करनेकी चेष्टा की गयी है। इससे कहीं-कहीं वाक्य-रचना भाषाकी दृष्टिसे सुन्दर नहीं हो सकी है; फिर भी मूलके क्रमकी रक्षा करते हुए भाषासौष्ठवकी ओर भी यथाशक्य ध्यान दिया गया है। प्रश्नोत्तरोंका क्रम प्रायः सर्वत्र अर्थके क्रमके अनुसार ही तथा कहीं-कहीं श्लोकके क्रमानुसार भी रक्खा गया है। बहुत थोड़े स्थलोंमें यह क्रम बदला भी गया है।

प्रश्नोत्तरमें जहाँ संस्कृतके विभक्तिसहित पदोंको लिया है, वहाँ उनके लिये संस्कृत-व्याकरणकी परिभाषाके अनुसार 'पद' शब्दका प्रयोग किया गया है और जहाँ उनको हिन्दीका रूप दे दिया गया है, वहाँ उन्हें 'शब्द' कहा गया है। प्रश्नोंमें जहाँ किसी पद या वाक्यका भाव या अभिप्राय पूछा गया है, उनके उत्तरमें कहीं-कहीं तो उस पद या वाक्यका सरल अर्थ-मात्र दे दिया गया है और कहीं-कहीं हेतुसहित उस पद या वाक्यके प्रयोगका आशय बतलाया गया है। दोनों ही प्रकार-से ऐसे प्रश्नोंका उत्तर दिया गया है।

प्रश्नोत्तरमें कहीं-कहीं अन्वय-क्रमसे मूल श्लोकोंके अंशोंको लेकर ही प्रश्न किये गये हैं और कहीं-कहीं अर्थके वाक्यांशोंको लेकर प्रश्न किये गये हैं। अर्थके वाक्यांशोंको भी कहीं-कहीं अविकलरूपसे उद्धृत किया है और कहीं-कहीं शब्दोंमें कुछ परिवर्तन करके उनको दुहराया गया है। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं कुछ नये प्रश्न भी हैं। प्रश्नोंमें 'अभिप्राय', 'भाव, आदि शब्द आये हैं, उनमेंसे कुछ तो अर्थके ही पर्यायमें आये हैं और कुछ खास किसी बातको पूछनेकी दृष्टिसे आये हैं।

गीतामें 'एतन्मे संशयम्' (६ । ३९), 'इदं महिमानम्' (११ । ४१)-जैसे कई आर्षप्रयोग हैं, जो वर्तमान प्रचलित व्याकरणकी दृष्टिसे ठीक नहीं माने जाते। इन प्रयोगोंके सम्बन्धमें टीकामें कुछ नहीं लिखा गया है और इनके अर्थ करनेमें भी प्रचलित व्याकरणका ध्यान न रखकर प्रयोगके अनुसार ही अर्थ किये गये हैं।

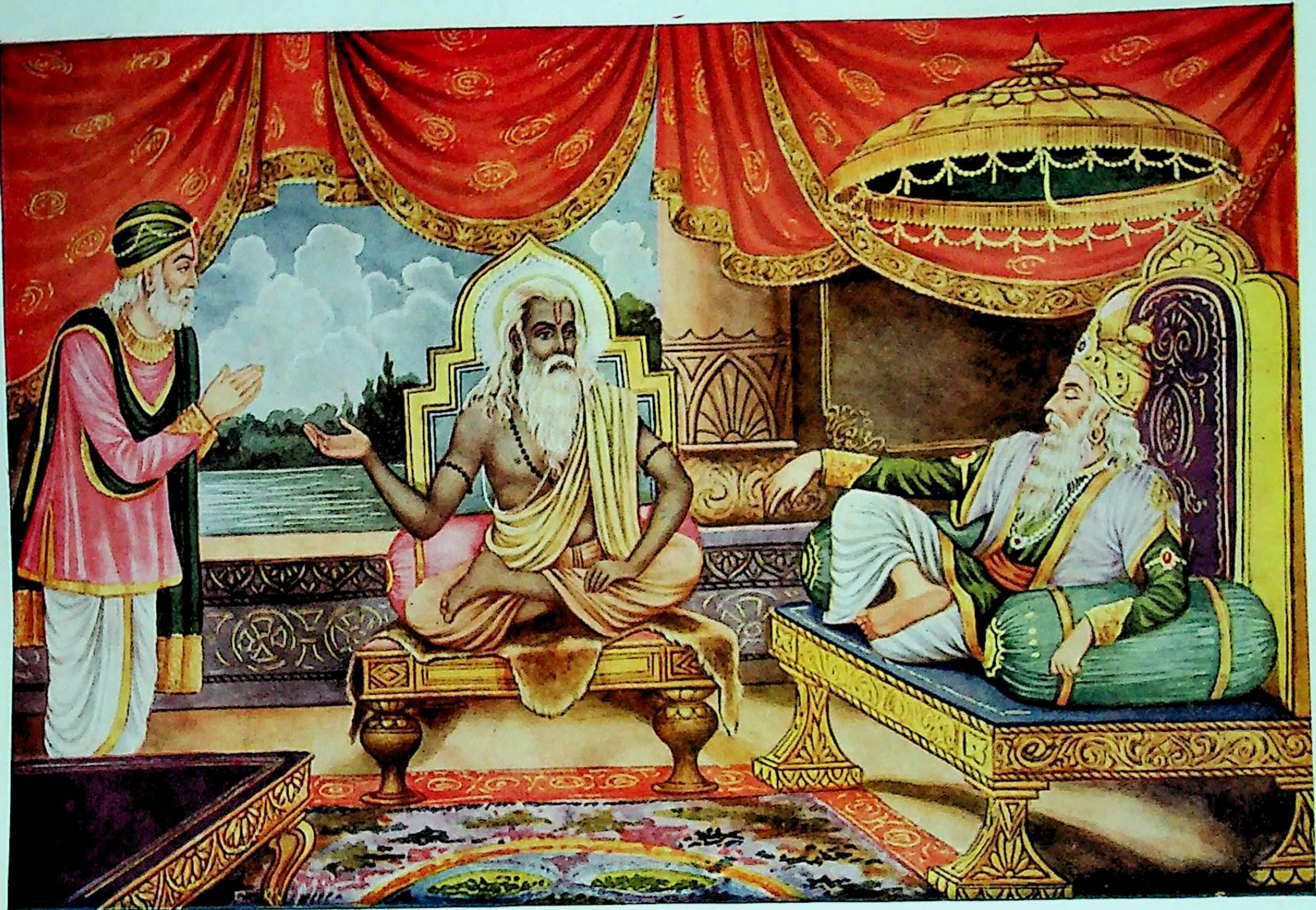
जिन ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी है, उनके नाम और ग्रन्थोंके साङ्केतिक चिह्नोंकी सूची।

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रायः सभी मुख्य-मुख्य संस्कृत-भाष्यों और अनेकों टीकाओंके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी है--

ऋग्वेदसंहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, ईशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, ब्रह्मोपनिषद्, नारायणोपनिषद्, वेदान्तदर्शन, योगदर्शन, सांख्यकारिका, मनुस्मृति, वसिष्ठस्मृति, संवर्तस्मृति, बृहद्योगियाज्ञवल्क्य, शङ्खस्मृति, अत्रिस्मृति, उत्तरगीता, श्रीमद्भागवत, अग्निपुराण, वायुपुराण, गरुडपुराण, मार्कण्डेयपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, स्कन्दपुराण, बृहद्धर्मपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, कूर्मपुराण, कालिकापुराण, देवीभागवत, महाभारत, हरिवंश, वाल्मीकीय रामायण, नारदभक्तिसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र, सूर्यसिद्धान्त, श्रीरामचरितमानस, विनयपत्रिका, कृष्णकर्णामृत और भक्तमाल, आदि-आदि।

ऋ० सं०—ऋग्वेद-संहिता।
ऐ० ब्रा०—ऐतरेय ब्राह्मण।
ईश०, ईश० उ०, ईशा० उ०—ईशावास्योपनिषद्।
केन उ०—केनोपनिषद्।
कठ उ०—कठोपनिषद्।
मु० उ०, मुण्ड० उ०—मुण्डकोपनिषद्।
तै० उ०—तैत्तिरीयोपनिषद्।
छा० उ०, छान्दो० उ०, छान्दोग्य उ०—छान्दोग्योपनिषद्।
बृ० उ०, बृह० उ०, बृ०—बृहदारण्यकोपनिषद्।
श्वे० उ०, श्वेता० उ०—श्वेताश्वतरोपनिषद्।
ब्रह्म० उ०—ब्रह्मोपनिषद्।
यो० सू०, यो० द०, योग० द०, योग०—योगदर्शनसूत्र।
सां० का०—सांख्यकारिका।
मनु०—मनुस्मृति।
बृह० यो० याज्ञ०—बृहद्योगियाज्ञवल्क्य।
श्रीमद्भा०—श्रीमद्भागवत।
मार्कण्डेयपु०—मार्कण्डेयपुराण।
ब्रह्मवैवर्तपु० प्र०—ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड।

स्कन्द० ब्रह्म०—स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड।
स्कं० नागर०— ,, नागरखण्ड।
ब्रह्माण्डपु०—ब्रह्माण्डपुराण।
ग० पु० पू० खं० आ० का०—गरुडपुराण, पूर्वखण्ड, आचार-काण्ड
महा० आदि०, महा० आ०—महाभारत, आदिपर्व।
महा० सभा०—महाभारत, सभापर्व।
महा० वन०— ,, वनपर्व।
महा० विरा०, महा० विराट०— ,, विराटपर्व।
महा० उद्योग०, महा० उ०— ,, उद्योगपर्व।
महा० भीष्म०— ,, भीष्मपर्व।
महा० द्रोण०, महा० द्रो०— ,, द्रोणपर्व।
महा० शल्य०— ,, शल्यपर्व।
महा० सौप्तिक०— ,, सौप्तिकपर्व।
महा० शान्ति०— ,, शान्तिपर्व।
महा० अनु०, महा० अनुशासन०— ,, अनुशासनपर्व।
महा० स्वर्गा०, स्वर्गा०— ,, स्वर्गारोहणपर्व।
हरिवंश०, ह० वं०—हरिवंश।
वा० रामा०, वा० रामायण—वाल्मीकीय रामायण।
वाल्मीकि रामा० यु०— ,, युद्धकाण्ड।
नारदभक्ति०—नारदभक्तिसूत्र।
शाण्डिल्य०—शाण्डिल्यसूत्र।



सञ्जयको दिव्यदृष्टि

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

(हिन्दीटीकासहित)

प्रथमोऽध्यायः

अध्यायका नाम

श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त विश्वको गीताके रूपमें जो महान् उपदेश दिया है, यह अध्याय उसकी अवतारणाके रूपमें है। इसमें दोनों ओरके प्रधान-प्रधान योद्धाओंके नाम गिनाये जानेके बाद मुख्यतया अर्जुनके बन्धुनाशकी आशङ्कासे उत्पन्न मोहजनित विषादका ही वर्णन है। इसलिये इसका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें धृतराष्ट्रने सञ्जयसे युद्धका विवरण पूछा है, दूसरे श्लोकमें सञ्जयने द्रोणाचार्यके पास जाकर दुर्योधनके बातचीत आरम्भ करनेका वर्णन किया है, तीसरेमें दुर्योधनने द्रोणाचार्यसे विशाल पाण्डव-सेना देखनेके लिये कहकर चौथेसे छठेतक उस सेनाके प्रमुख योद्धाओंके नाम बतलाये हैं। सातवेंमें द्रोणाचार्यसे अपनी सेनाके प्रधान सेनानायकोंको भलीभाँति जान लेनेके लिये कहकर आठवें और नवें श्लोकोंमें उनमेंसे कुछके नाम और सब वीरोंके पराक्रम तथा युद्धकौशलका वर्णन किया है। दसवेंमें अपनी सेनाको अजेय और पाण्डवोंकी सेनाको अपनी अपेक्षा कमजोर बतलाकर ग्यारहवेंमें सब वीरोंसे भीष्मकी रक्षा करनेके लिये अनुरोध किया है। बारहवें श्लोकमें भीष्मपितामहके शङ्ख बजानेका और तेरहवेंमें कौरव-सेनामें शङ्ख, नगारे, ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे आदि विभिन्न बाजोंके एक ही साथ बज उठनेका वर्णन है। चौदहवेंसे लेकर उन्नीसवेंतक क्रमशः भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा पाण्डव-सेनाके अन्यान्य समस्त विशिष्ट योद्धाओंके द्वारा अपने-अपने शङ्ख बजाये जानेका और उस शङ्खध्वनिके भयङ्कर शब्दसे आकाश और पृथ्वीके गूँज उठने तथा दुर्योधनादिके व्यथित होनेका वर्णन है। बीसवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें धृतराष्ट्र-पुत्रोंको युद्धके लिये तैयार देखकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे अपना रथ दोनों सेनाओंके बीचमें ले चलनेके लिये कहा है और बाईसवें तथा तेईसवेंमें सारी सेनाको भलीभाँति देख चुकनेतक रथको वहीं खड़े रखनेका सङ्केत करके सबको देखनेकी इच्छा प्रकट की है। चौबीसवें और पचीसवेंमें अर्जुनके अनुरोधके अनुसार रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करके श्रीकृष्णने युद्धके लिये एकत्रित सब वीरोंको देखनेके लिये

अर्जुनको आज्ञा दी है और इसके बाद तीसवें श्लोकतक स्वजन-समुदायको देखकर अर्जुनके व्याकुल होनेका तथा अर्जुनके द्वारा अपनी शोकाकुल स्थितिका वर्णन है। इकतीसवें श्लोकमें युद्धके विपरीत परिणामकी बात कहकर बत्तीसवें और तैंतीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने विजय और राज्यसुख न चाहनेकी युक्तिपूर्ण दलील दी है। चौंतीसवें और पैंतीसवें श्लोकोंमें आचार्यादि स्वजनोंका नाम ले-लेकर अर्जुनने 'मुझे मार डालनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन आचार्य और पिता-पुत्रादि आत्मीय स्वजनोंको मारना नहीं चाहता' ऐसा कहकर छत्तीसवें और सैंतीसवें श्लोकोंमें दुर्योधनादि स्वजनोंके आततायी होनेपर भी उन्हें मारनेमें पापकी प्राप्ति और सुख तथा प्रीतिका अभाव बतलाया है और अड़तीसवें तथा उन्चालीसवेंमें कुलके नाश और मित्रद्रोहसे होनेवाले पापसे बचनेके लिये युद्ध न करना उचित बतलाकर चालीसवेंसे चौवालीसवेंतक कुलनाशसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। पैंतालीसवें और छियालीसवें श्लोकोंमें राज्य और सुखादिके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये की हुई युद्धकी तैयारीको महान् पापका आरम्भ बतलाकर शोक प्रकाश करते हुए अर्जुनने दुर्योधनादिके द्वारा अपने मारे जानेको श्रेष्ठ बतलाया है और अन्तके सैंतालीसवें श्लोकमें सञ्जयने युद्ध न करनेका निश्चय करके शोक-निमग्न अर्जुनके शस्त्रत्यागपूर्वक रथपर बैठ जानेकी बात कहकर अध्यायकी समाप्ति की है।

सम्बन्ध—पाण्डवोंके राजसूययज्ञमें उनके महान् ऐश्वर्यको देखकर दुर्योधनके मनमें बड़ी भारी जलन पैदा हो गयी और उन्होंने शकुनि आदिकी सम्मतिसे जुआ खेलनेके लिये युधिष्ठिरको बुलाया और छलसे उनको हराकर उनका सर्वस्व हर लिया। अन्तमें यह निश्चय हुआ कि युधिष्ठिरादि पाँचों भाई द्रौपदी-सहित बारह वर्ष वनमें रहें और एक साल छिपकर रहें; इस प्रकार तेरह वर्षतक समस्त राज्यपर दुर्योधनका आधिपत्य रहे और पाण्डवोंके एक सालके अज्ञातवासका भेद न खुल जाय, तो तेरह वर्षके बाद पाण्डवोंका राज्य उन्हें लौटा दिया जाय। इस निर्णयके अनुसार तेरह साल बितानेके बाद जब पाण्डवोंने अपना राज्य वापस माँगा तब दुर्योधनने साफ इन्कार कर दिया। उन्हें समझानेके लिये द्रुपदके ज्ञान और अवस्थामें वृद्ध पुरोहितको भेजा गया, परन्तु उन्होंने किसीकी बात नहीं मानी। तब दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी होने लगी। भगवान् श्रीकृष्णको रण-निमन्त्रण देनेके लिये दुर्योधन द्वारिका पहुँचे, उसी दिन अर्जुन भी वहाँ पहुँच गये। दोनोंने जाकर देखा—भगवान् अपने भवनमें सो रहे हैं। उन्हें सोते देखकर दुर्योधन उनके सिरहाने एक मूल्यवान् आसनपर जा बैठे और अर्जुन दोनों हाथ जोड़कर नम्रताके साथ उनके चरणोंके सामने खड़े हो गये। जागते ही श्रीकृष्णने अपने सामने अर्जुनको देखा और फिर पीछेकी ओर मुड़कर देखनेपर सिरहानेकी ओर बैठे हुए दुर्योधन देख पड़े। भगवान् श्रीकृष्णने दोनोंका स्वागत-सत्कार किया और उनके आनेका कारण पूछा। तब दुर्योधनने कहा—'मुझमें और अर्जुनमें आपका एक-सा ही प्रेम है और हम दोनों ही आपके सम्बन्धी हैं; परन्तु आपके पास पहले मैं आया हूँ, सज्जनोंका नियम है कि वे पहले आनेवालेकी सहायता किया करते हैं। सारे भूमण्डलमें आज आप ही सब सज्जनोंमें श्रेष्ठ और सम्माननीय हैं, इसलिये आपको मेरी ही सहायता करनी चाहिये।' भगवान्ने कहा—'निःसन्देह, आप पहले आये हैं; परन्तु मैंने पहले अर्जुनको ही देखा है। इसलिये मैं दोनोंकी सहायता करूँगा। परन्तु शास्त्रानुसार बालकोंकी इच्छा पहले पूरी की जाती है, इसलिये पहले अर्जुनकी इच्छा ही पूरी करनी चाहिये। मैं दो प्रकारसे सहायता करूँगा। एक ओर मेरी एक अक्षौहिणी नारायणी सेना रहेगी और दूसरी ओर मैं, युद्ध न करनेका

प्रण करके, अकेला रहूँगा; मैं शस्त्रका प्रयोग नहीं करूँगा। हे अर्जुन! धर्मानुसार पहले तुम्हारी इच्छा पूर्ण होनी चाहिये; अतएव दोनोंमेंसे जिसे पसंद करो, माँग लो।' इसपर अर्जुनने शत्रुनाशन नारायण भगवान् श्रीकृष्णको माँग लिया। तब दुर्योधनने उनकी नारायणी-सेना माँग ली और उसे लेकर वे बड़ी प्रसन्नताके साथ हस्तिनापुरको लौट गये।

इसके बाद भगवान्ने अर्जुनसे पूछा—अर्जुन! जब मैं युद्ध ही नहीं करूँगा, तब तुमने क्या समझकर नारायणी-सेनाको छोड़ दिया और मुझको स्वीकार किया? अर्जुनने कहा—'भगवन्! आप अकेले ही सबका नाश करनेमें समर्थ हैं, तब मैं सेना लेकर क्या करता? इसके सिवा बहुत दिनोंसे मेरी इच्छा थी कि आप मेरे सारथी बनें, अब इस महायुद्धमें मेरी उस इच्छाको आप अवश्य पूर्ण कीजिये।' भक्तवत्सल भगवान्ने अर्जुनके इच्छानुसार उसके रथके घोड़े हाँकनेका काम स्वीकार किया! इसी प्रसङ्गके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सारथी बने और युद्धारम्भके समय कुरुक्षेत्रमें उन्हें गीताका दिव्य उपदेश सुनाया। अस्तु।

दुर्योधन और अर्जुनके द्वारकासे वापस लौट आनेपर जिस समय दोनों ओरकी सेना एकत्र हो चुकी थी, उस समय भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं हस्तिनापुर जाकर हर तरहसे दुर्योधनको समझानेकी चेष्टा की; परन्तु उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'मेरे जीते-जी पाण्डव कदापि राज्य नहीं पा सकते, यहाँतक कि सूईकी नोकभर भी जमीन मैं पाण्डवोंको नहीं दूँगा।' (महाभारत, उद्योगपर्व अ० १२७। २५)। तब अपना न्याय्य स्वत्व प्राप्त करनेके लिये माता कुन्तीकी आज्ञा और भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे पाण्डवोंने धर्म समझकर युद्धके लिये निश्चय कर लिया!

जब दोनों ओरसे युद्धकी पूरी तैयारी हो गयी, तब भगवान् वेदव्यासजीने धृतराष्ट्रके समीप आकर उनसे कहा—'यदि तुम घोर संग्राम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान कर सकता हूँ।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा—'हे ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ! मैं कुलके इस हत्याकाण्डको अपनी आँखों देखना तो नहीं चाहता, परन्तु युद्धका सारा वृत्तान्त भलीभाँति सुनना चाहता हूँ।' तब महर्षि वेदव्यासजीने सञ्जयको दिव्यदृष्टि प्रदान करके धृतराष्ट्रसे कहा—'ये सञ्जय तुम्हें युद्धका सब वृत्तान्त सुनावेंगे। युद्धकी समस्त घटनावलियोंको ये प्रत्यक्ष देख सकेंगे। सामने या पीछेसे, दिनमें या रातमें, गुप्त या प्रकट, क्रियारूपमें परिणत या केवल मनमें आयी हुई, ऐसी कोई बात न होगी, जो इनसे तनिक भी छिपी रह सकेगी। ये सब बातोंको ज्यों-की-त्यों जान लेंगे। इनके शरीरसे न तो कोई शस्त्र छू जायगा और न इन्हें जरा भी थकावट ही होगी।'

'यह 'होनी' है, अवश्य होगी; इस सर्वनाशको कोई भी रोक नहीं सकेगा। अन्तमें धर्मकी जय होगी।'

महर्षि वेदव्यासजीके चले जानेके बाद धृतराष्ट्रके पूछनेपर सञ्जय उन्हें पृथ्वीके विभिन्न द्वीपोंका वृत्तान्त सुनाते रहे, उसीमें उन्होंने भारतवर्षका भी वर्णन किया। तदनन्तर जब कौरव-पाण्डवोंका युद्ध आरम्भ हो गया और लगातार दस दिनोंतक युद्ध होनेपर पितामह भीष्म रणभूमिमें रथसे गिरा दिये गये, तब सञ्जयने धृतराष्ट्रके पास आकर उन्हें अकस्मात् भीष्मके मारे जानेका समाचार सुनाया (भीष्मपर्व अध्याय, १३)। उसे सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ा ही दुःख हुआ और युद्धकी सारी बातें विस्तारपूर्वक सुनानेके लिये उन्होंने सञ्जयसे कहा। तब सञ्जयने दोनों ओरकी सेनाओंकी व्यूह-रचना आदिका विस्तृत वर्णन किया। इसके बाद धृतराष्ट्रने विशेष

विस्तारके साथ आरम्भसे अबतककी पूरी घटनाएँ जाननेके लिये सञ्जयसे प्रश्न किया। यहींसे श्रीमद्भगवद्गीताका पहला अध्याय आरम्भ होता है। महाभारत, भीष्मपर्वमें यह पचीसवाँ अध्याय है। इसके आरम्भमें धृतराष्ट्र सञ्जयसे प्रश्न करते हैं—

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे सञ्जय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें एकत्रित, युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? ॥ १ ॥

प्रश्न—कुरुक्षेत्र किस स्थानका नाम है और उसे धर्मक्षेत्र क्यों कहा जाता है?

उत्तर—महाभारत, वनपर्वके ८३वें अध्यायमें और शल्यपर्वके ५३वें अध्यायमें कुरुक्षेत्रके माहात्म्यका विशेष वर्णन मिलता है; वहाँ इसे सरस्वती नदीके दक्षिण-भाग और दृषद्वती नदीके उत्तरभागके मध्यमें बतलाया है। कहते हैं कि इसकी लंबाई-चौड़ाई पाँच-पाँच योजन थी। यह स्थान अंबालेसे दक्षिण और दिल्लीसे उत्तरकी ओर है। इस समय भी कुरुक्षेत्रनामक स्थान वहीं है। इसका एक नाम समन्तपञ्चक भी है। शतपथब्राह्मणादि शास्त्रोंमें कहा है कि यहाँ अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओंने तप किया था; राजा कुरुने भी यहाँ बड़ी तपस्या की थी तथा यहाँ मरनेवालोंको उत्तम गति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त और भी कई बातें हैं जिनके कारण उसे धर्मक्षेत्र या पुण्यक्षेत्र कहा जाता है।

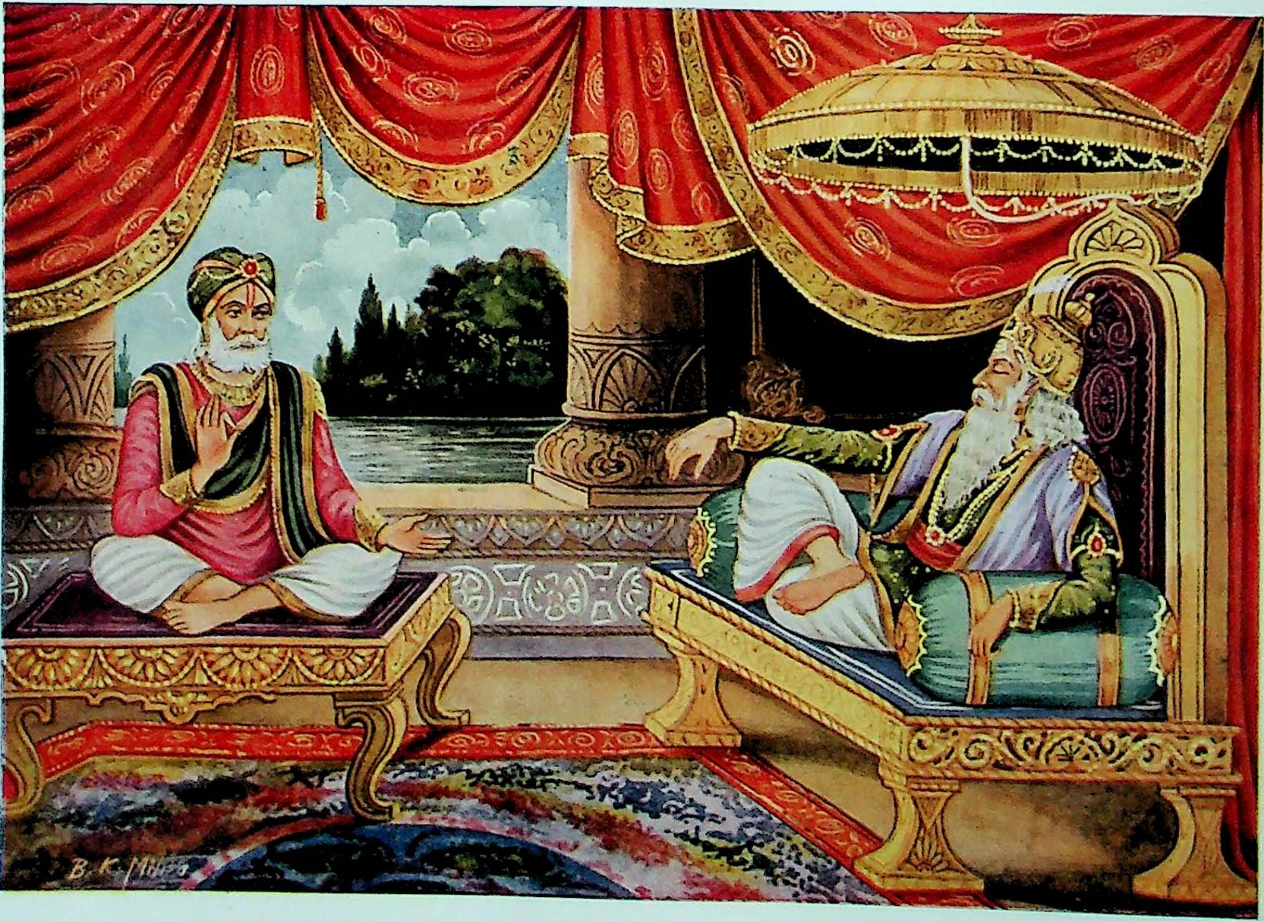
प्रश्न—धृतराष्ट्रने 'मामकाः' पदका प्रयोग किनके लिये किया है और 'पाण्डवाः' का किनके लिये? और उनके साथ 'समवेताः' और 'युयुत्सवः' विशेषण लगाकर जो 'किम् अकुर्वत' कहा है, उसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—'मामकाः' पदका प्रयोग धृतराष्ट्रने निज पक्षके समस्त योद्धाओंसहित अपने दुर्योधनादि एक-सौ-एक पुत्रोंके लिये किया है और 'पाण्डवाः' पदका युधिष्ठिर-पक्षके सब योद्धाओंसहित युधिष्ठिरादि पाँचों भाइयोंके लिये। 'समवेताः' और 'युयुत्सवः' विशेषण देकर और 'किम् अकुर्वत' कहकर धृतराष्ट्रने गत दस दिनोंके भीषण युद्धका पूरा विवरण जानना चाहा है कि युद्धके लिये एकत्रित इन सब लोगोंने युद्धका प्रारम्भ कैसे किया? कौन किससे कैसे भिड़े? और किसके द्वारा कौन, किस प्रकार और कब मारे गये? आदि।

भीष्मपितामहके गिरनेतक भीषण युद्धका समाचार धृतराष्ट्र सुन ही चुके हैं, इसलिये उनके प्रश्नका यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि उन्हें अभी युद्धकी कुछ भी खबर नहीं है और वे यह जानना चाहते हैं कि क्या धर्मक्षेत्रके प्रभावसे मेरे पुत्रोंकी बुद्धि सुधर गयी और उन्होंने पाण्डवोंका स्वत्व देकर युद्ध नहीं किया? अथवा क्या धर्मराज युधिष्ठिर ही प्रभावित होकर युद्धसे निवृत्त हो गये? या अबतक दोनों सेनाएँ खड़ी ही हैं, युद्ध हुआ ही नहीं और यदि हुआ तो उसका क्या परिणाम हुआ?—इत्यादि।

सम्बन्ध—धृतराष्ट्रके पूछनेपर सञ्जय कहते हैं—

धृतराष्ट्र-सञ्जय



धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः । मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ (१ । १)

दुर्योधनका सैन्य-प्रदर्शन



पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ (१।३)

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

सञ्जय बोले—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा ॥ २ ॥

प्रश्न—दुर्योधनको 'राजा' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सञ्जयके द्वारा दुर्योधनको 'राजा' कहे जानेमें कई भाव हो सकते हैं—

(क) शासनका समस्त कार्य दुर्योधन ही करते थे ।

(ख) संत सभीको आदर दिया करते हैं और सञ्जय संत-स्वभाव थे ।

(ग) पुत्रके प्रति आदरसूचक विशेषणका प्रयोग सुनकर धृतराष्ट्रको प्रसन्नता होगी ।

(घ) दुर्योधन बड़े वीर और राजनीतिज्ञ भी थे ।

प्रश्न—व्यूहरचनायुक्त पाण्डव-सेनाको देखकर दुर्योधन आचार्य द्रोणके पास गया, इसका क्या भाव है ?

उत्तर—भाव यह है कि पाण्डव-सेनाकी व्यूहरचना इतनी विचित्र ढंगसे की गयी थी कि उसको देखकर दुर्योधन चकित हो गये और अधीर होकर स्वयं उसकी सूचना देनेके लिये द्रोणाचार्यके पास दौड़े गये । उन्होंने सोचा कि पाण्डव-सेनाकी व्यूहरचना देख-सुनकर धनुर्वेदके महान् आचार्य गुरु द्रोण उनकी अपेक्षा अपनी सेनाकी और भी विचित्ररूपसे व्यूहरचना करनेके लिये पितामहको परामर्श देंगे ।

प्रश्न—दुर्योधन राजा होकर स्वयं सेनापतिके पास क्यों गये ? उन्हींको अपने पास बुलाकर सब बातें क्यों नहीं समझा दीं ?

उत्तर—यद्यपि पितामह भीष्म प्रधान सेनापति थे, परन्तु कौरव-सेनामें गुरु द्रोणाचार्यका स्थान भी बहुत उच्च और बड़े ही उत्तरदायित्वका था । सेनामें जिन प्रमुख योद्धाओंकी जहाँ नियुक्ति होती है, यदि वे वहाँसे हट जाते हैं तो सैनिक-व्यवस्थामें बड़ी गड़बड़ी मच जाती है । इसलिये द्रोणाचार्यको अपने स्थानसे न हटाकर दुर्योधनने ही उनके पास जाना उचित समझा । इसके अतिरिक्त द्रोणाचार्य वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध होनेके साथ ही गुरु होनेके कारण आदरके पात्र थे; तथा दुर्योधनको उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करना था, इसलिये भी उन्हें सम्मान देकर उनका प्रियपात्र बनना उन्हें अभीष्ट था । पारमार्थिक दृष्टिसे तो सबसे नम्रतापूर्ण सम्मानयुक्त व्यवहार करना कर्तव्य है ही, राजनीतिमें भी बुद्धिमान् पुरुष अपना काम निकालनेके लिये दूसरोंका आदर किया करते हैं । इन सभी दृष्टियोंसे उनका वहाँ जाना उचित ही था ।

सम्बन्ध—द्रोणाचार्यके पास जाकर दुर्योधनने जो कुछ कहा, अब उसे बतलाते हैं—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥३॥

प्रश्न—धृष्टद्युम्न द्रुपदका पुत्र है, आपका शिष्य है और बुद्धिमान् है—दुर्योधनने ऐसा किस अभिप्रायसे कहा ?

उत्तर—दुर्योधन बड़े चतुर कूटनीतिज्ञ थे। धृष्टद्युम्नके प्रति प्रतिहिंसा तथा पाण्डवोंके प्रति द्रोणाचार्यकी बुरी भावना उत्पन्न करके उन्हें विशेष उत्तेजित करनेके लिये दुर्योधनने धृष्टद्युम्नको द्रुपदपुत्र और 'आपका बुद्धिमान् शिष्य' कहा। इन शब्दोंके द्वारा वह उन्हें इस प्रकार समझा रहे हैं कि देखिये, द्रुपदने आपके साथ पहले बुरा बर्ताव किया था और फिर उसने आपका वध करनेके उद्देश्यसे ही यज्ञ करके धृष्टद्युम्नको पुत्ररूपसे प्राप्त किया था। धृष्टद्युम्न इतना कूटनीतिज्ञ है और आप इतने सरल हैं कि आपको मारनेके लिये पैदा होकर भी उसने आपके ही द्वारा धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त कर ली ! फिर इस समय भी उसकी बुद्धिमानी देखिये कि उसने आप लोगोंको छकानेके लिये कैसी सुन्दर व्यूहरचना की है। ऐसे पुरुषको पाण्डवोंने अपना प्रधान सेनापति बनाया है ! अब आप ही विचारिये कि आपका क्या कर्तव्य है।

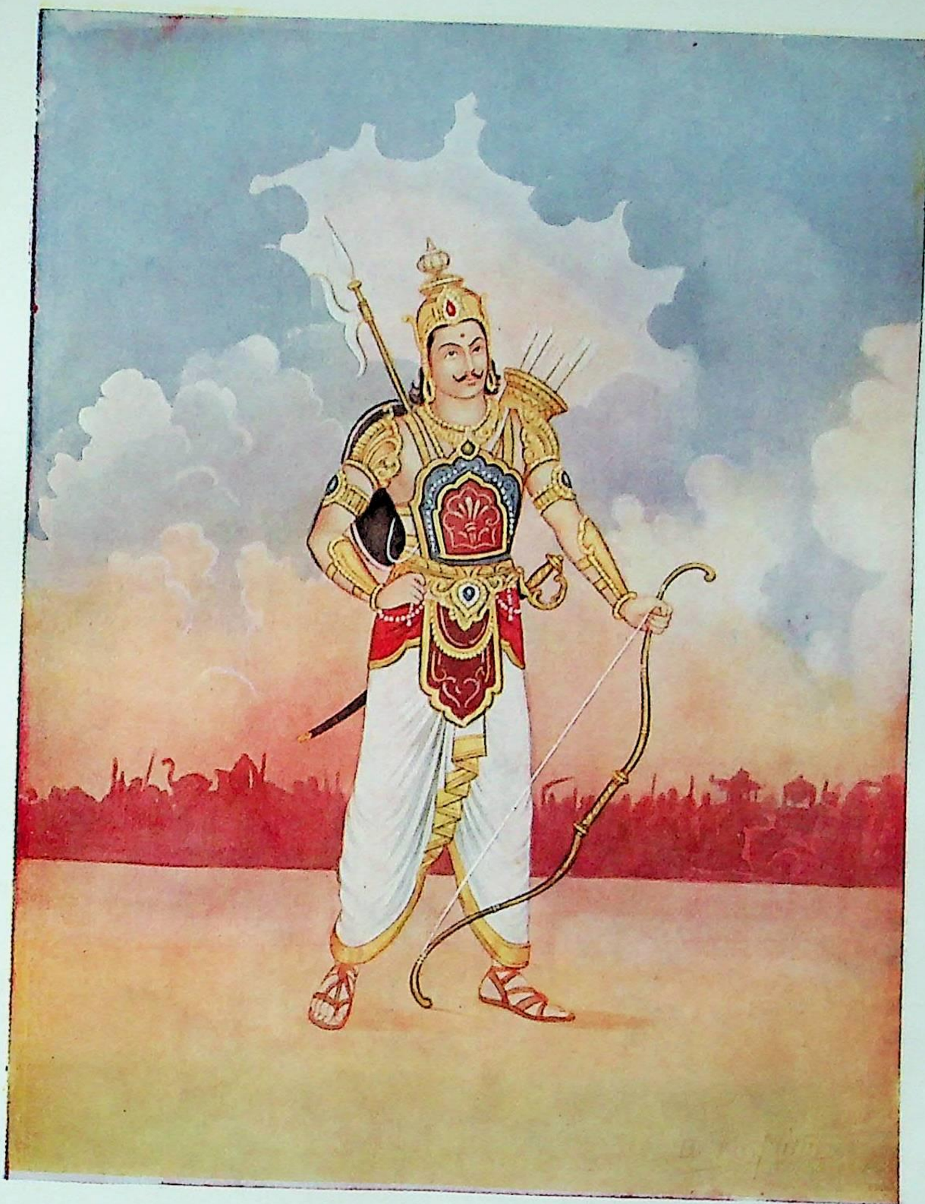
प्रश्न—कौरव-सेना ग्यारह अक्षौहिणी थी और पाण्डव-सेना केवल सात ही अक्षौहिणी थी; फिर दुर्योधनने उसको बड़ी भारी (महती) क्यों कहा और उसे देखनेके लिये आचार्यसे क्यों अनुरोध किया ?

उत्तर—संख्यामें कम होनेपर भी वज्रव्यूहके कारण पाण्डव-सेना बहुत बड़ी मालूम होती थी; दूसरे यह बात भी है कि संख्यामें अपेक्षाकृत स्वल्प होनेपर भी जिसमें पूर्ण सुव्यवस्था होती है, वह सेना विशेष शक्ति-शालिनी समझी जाती है। इसीलिये दुर्योधन कह रहे हैं कि आप इस व्यूहाकार खड़ी की हुई सुव्यवस्थित महती सेनाको देखिये और ऐसा उपाय सोचिये जिससे हमलोग विजयी हों।

सम्बन्ध—पाण्डव-सेनाकी व्यूहरचना दिखलाकर अब दुर्योधन तीन श्लोकोंद्वारा पाण्डव-सेनाके प्रमुख महारथियोंके नाम बतलाते हैं—

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्धमें भीम और अर्जुनके समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज



पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न



धृष्टद्युम्न और द्रौपदीकी उत्पत्ति

और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैव्य; पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४-५-६ ॥

प्रश्न—'अत्र' पदका यहाँ किस अर्थमें प्रयोग हुआ है ?

उत्तर—'अत्र' पद यहाँ पाण्डव-सेनाके अर्थमें प्रयुक्त है ।

प्रश्न—'युधि' पदका अन्वय 'अत्र'के साथ न करके 'भीमार्जुनसमाः'के साथ क्यों किया गया ?

उत्तर—'युधि' पद यहाँ 'अत्र'का विशेष्य नहीं बन सकता, क्योंकि अभी युद्ध आरम्भ ही नहीं हुआ है । इसके अतिरिक्त उसके पहले पाण्डव-सेनाका वर्णन होनेके कारण 'अत्र' पद स्वभावसे ही उसका वाचक हो जाता है, इसीलिये उसके साथ किसी विशेष्यकी आवश्यकता भी नहीं है । 'भीमार्जुनसमाः'के साथ 'युधि' पदका अन्वय करके यह भाव दिखलाया है कि यहाँ जिन महारथियोंके नाम लिये गये हैं, उनमें भीम तथा अर्जुनके साथ युद्धविषयक ही समानता है । ज्ञान, भक्ति, गुण या आचार आदिमें वे सब भीम-अर्जुनके समान नहीं हैं ।

प्रश्न—युयुधान, विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, शैव्य, युधामन्यु और उत्तमौजा कौन थे ?

उत्तर—अर्जुनके शिष्य सात्यकिका ही दूसरा नाम युयुधान था (महाभारत, उद्योगपर्व अ० ८१ । ५-८)। ये यादववंशीय राजा शिनिके पुत्र थे (महाभारत, द्रोणपर्व अ० १४४ । १७–१९)। ये भगवान् श्रीकृष्ण-के परम अनुगत थे और बड़े ही बलवान् एवं अतिरथी थे । महाभारतयुद्धमें पाण्डवोंकी ओर सात्यकि ही बचे थे । ये यादवोंके पारस्परिक युद्धमें मारे गये । युयुधाननामक एक दूसरे यादववंशीय योद्धा भी थे (महाभारत, उद्योगपर्व अ० १५२ । ६)।

विराट मत्स्यदेशके धार्मिक राजा थे । पाण्डवोंने एक वर्ष इन्हींके यहाँ अज्ञातवास किया था । इनकी पुत्री उत्तराका विवाह अर्जुनके पुत्र अभिमन्युके साथ हुआ था । ये महाभारतयुद्धमें उत्तर, श्वेत और शंख-नामक तीनों पुत्रोंसहित मारे गये ।

द्रुपद पाञ्चालदेशके राजा पृषत्के पुत्र थे । राजा पृषत् और भरद्वाज मुनिमें परस्पर मैत्री थी, द्रुपद भी बालक-अवस्थामें भरद्वाज मुनिके आश्रममें रहे थे । इससे भरद्वाजके पुत्र द्रोणके साथ इनकी भी मित्रता हो गयी थी । पृषत्के परलोकगमनके पश्चात् द्रुपद राजा हुए, तब एक दिन द्रोणने इनके पास जाकर इन्हें अपना मित्र कहा । द्रुपदको यह बात बुरी लगी । तब द्रोण मनमें क्षुब्ध होकर चले आये । द्रोणने कौरव और पाण्डवोंको अस्त्रविद्याकी शिक्षा देकर गुरुदक्षिणामें अर्जुनके द्वारा द्रुपदको पराजित कराकर अपने अपमानका बदला चुकाया और उनका आधा राज्य ले लिया । द्रुपदने ऊपरसे द्रोणसे प्रीति कर ली, परन्तु उनके मनमें क्षोभ बना रहा । उन्होंने द्रोणको मारनेवाले पुत्रके लिये याज और उपयाजनामक ब्रह्मर्षियोंके द्वारा यज्ञ करवाया । उसी यज्ञकी वेदीसे धृष्टद्युम्न तथा कृष्णाका प्राकट्य हुआ । यही कृष्णा द्रौपदी या याज्ञसेनीके नामसे प्रसिद्ध हुई और स्वयंवरमें जीतकर पाण्डवोंने उसके साथ विवाह किया । राजा द्रुपद बड़े ही शूरवीर और महारथी थे । महाभारतयुद्धमें द्रोणके हाथसे इनकी मृत्यु हुई (महा० द्रोण० १८६)।

धृष्टकेतु चेदिदेशके राजा शिशुपालके पुत्र थे । ये महाभारतयुद्धमें द्रोणके हाथसे मारे गये थे (महा० द्रोण० १२५)।

चेकितान वृष्णिवंशीय यादव (महा० भीष्म० ८४ । २०), महारथी योद्धा और बड़े शूरवीर थे । पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाके सात सेनापतियोंमेंसे

एक थे (महा० उद्योग० १५१)। ये महाभारतयुद्धमें दुर्योधनके हाथसे मारे गये (महा० शल्य० १२)।

काशिराज काशीके राजा थे, ये बड़े ही वीर और महारथी थे। इनके नामका ठीक पता नहीं लगता। उद्योगपर्व अ० १७१ में काशिराजका नाम सेनाबिन्दु और क्रोधहन्ता बतलाया गया है। कर्णपर्व अध्याय ६ में जहाँ काशिराजके मारे जानेका वर्णन है, वहाँ उनका नाम अभिभू बतलाया गया है। पुरुजित् और कुन्तिभोज दोनों कुन्तीके भाई थे। और युधिष्ठिर आदिके मामा होते थे। ये दोनों ही महाभारतयुद्धमें द्रोणाचार्यके हाथसे मारे गये थे (महा०कर्ण० ६।२२, २३)।

शैब्य धर्मराज युधिष्ठिरके श्वशुर थे, इनकी कन्या देविकासे युधिष्ठिरका विवाह हुआ था (आदिपर्व अ० ९५)। ये मनुष्योंमें श्रेष्ठ, बड़े बलवान् और वीर योद्धा थे। इसीलिये इन्हें 'नरपुङ्गव' कहा गया है।

युधामन्यु और उत्तमौजा—दोनों भाई पाञ्चालदेशीय राजकुमार थे (महा० द्रोण० १३०)। पहले अर्जुनके रथके पहियोंकी रक्षा करनेपर इन्हें नियुक्त किया गया था(महा० भीष्म० १५।१९)। ये दोनों ही बड़े भारी पराक्रमी और बलसम्पन्न वीर थे, इसीलिये इनके साथ क्रमशः 'विक्रान्त' और 'वीर्यवान्'—दो विशेषण जोड़े गये हैं। ये दोनों रातको सोते समय अश्वत्थामाके हाथसे मारे गये (महा० सौप्तिक० ८।३४-३७)।

प्रश्न—अभिमन्यु कौन थे?

उत्तर—अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्रासे विवाह किया था। उन्हींके गर्भसे अभिमन्यु उत्पन्न हुए थे। मत्स्यदेशके राजा विराटकी कन्या उत्तरासे इनका विवाह हुआ था। इन्होंने अपने पिता अर्जुनसे अस्त्रशिक्षा प्राप्त की थी। ये असाधारण वीर थे। महाभारतयुद्धमें द्रोणाचार्यने एक दिन चक्रव्यूहकी ऐसी रचना की कि पाण्डव-पक्षके युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, विराट, द्रुपद, धृष्टद्युम्न आदि कोई भी वीर उसमें प्रवेश नहीं कर सके; जयद्रथने सबको परास्त कर दिया। अर्जुन दूसरी ओर युद्धमें लगे थे। उस दिन वीर युवक अभिमन्यु अकेले ही उस व्यूहको भेद-कर उसमें घुस गये और असंख्य वीरोंका संहार करके अपने असाधारण शौर्यका परिचय दिया। द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्बल और कृतवर्मा—इन छः महारथियोंने मिलकर अन्यायपूर्वक इन्हें घेर लिया; उस अवस्थामें भी इन्होंने अकेले ही बहुत-से वीरोंका संहार किया। अन्तमें दुःशासनके लड़केने इनके सिरपर गदाका बड़े जोरसे प्रहार किया, जिससे इनकी मृत्यु हो गयी (महा० द्रोण० ४९)। राजा परीक्षित् इन्हींके पुत्र थे।

प्रश्न—द्रौपदीके पाँच पुत्र कौन-कौन थे?

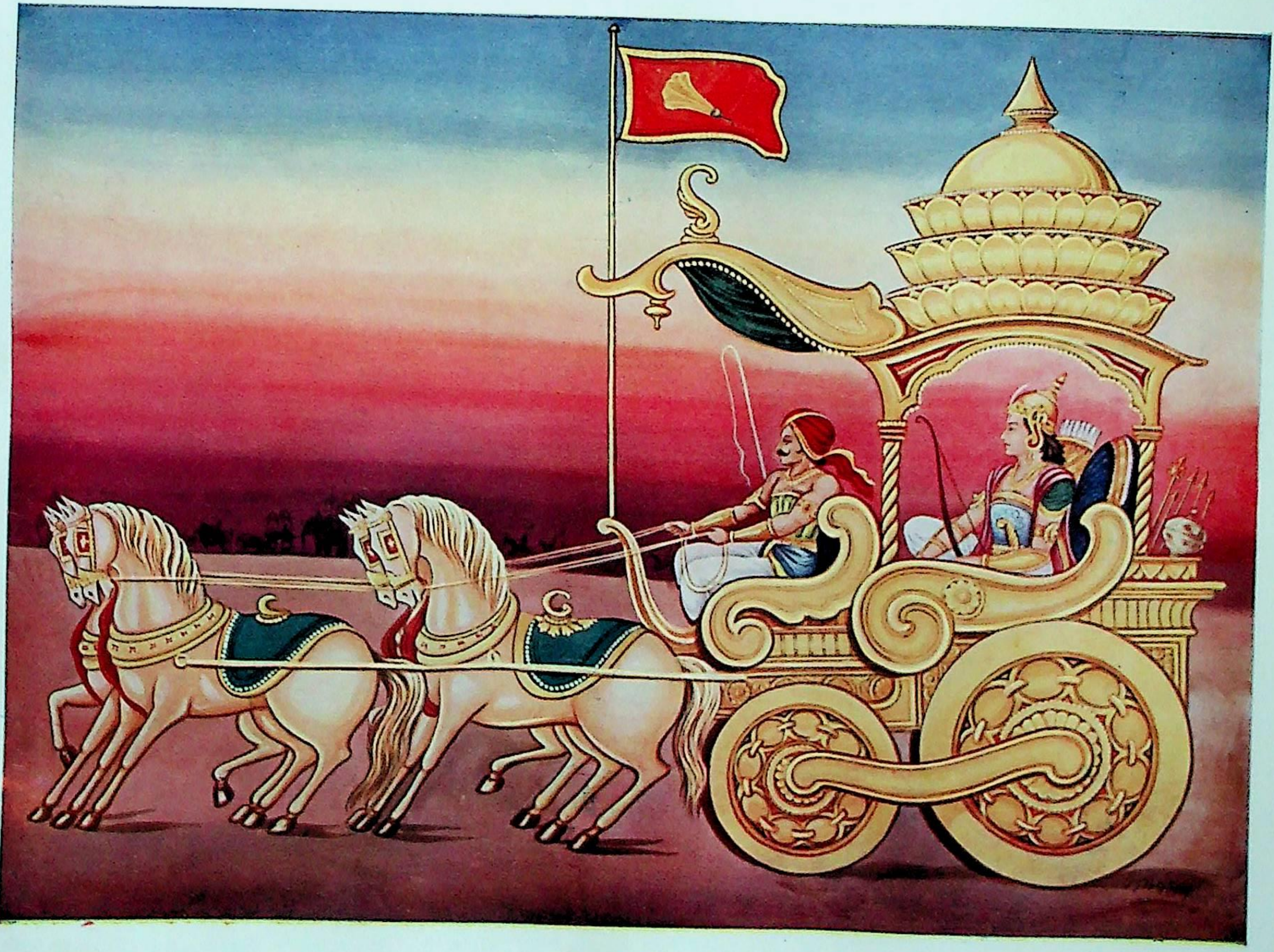
उत्तर—प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन—ये पाँचों क्रमशः युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवके औरस और द्रौपदीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे (महाभारत, आदिपर्व २२१।८०-८४)। इनको रात्रिके समय अश्वत्थामाने मार डाला था (महा० सौप्तिक० अ० ८)।

प्रश्न—'सर्वे एव महारथाः' इस कथनका क्या भाव है?

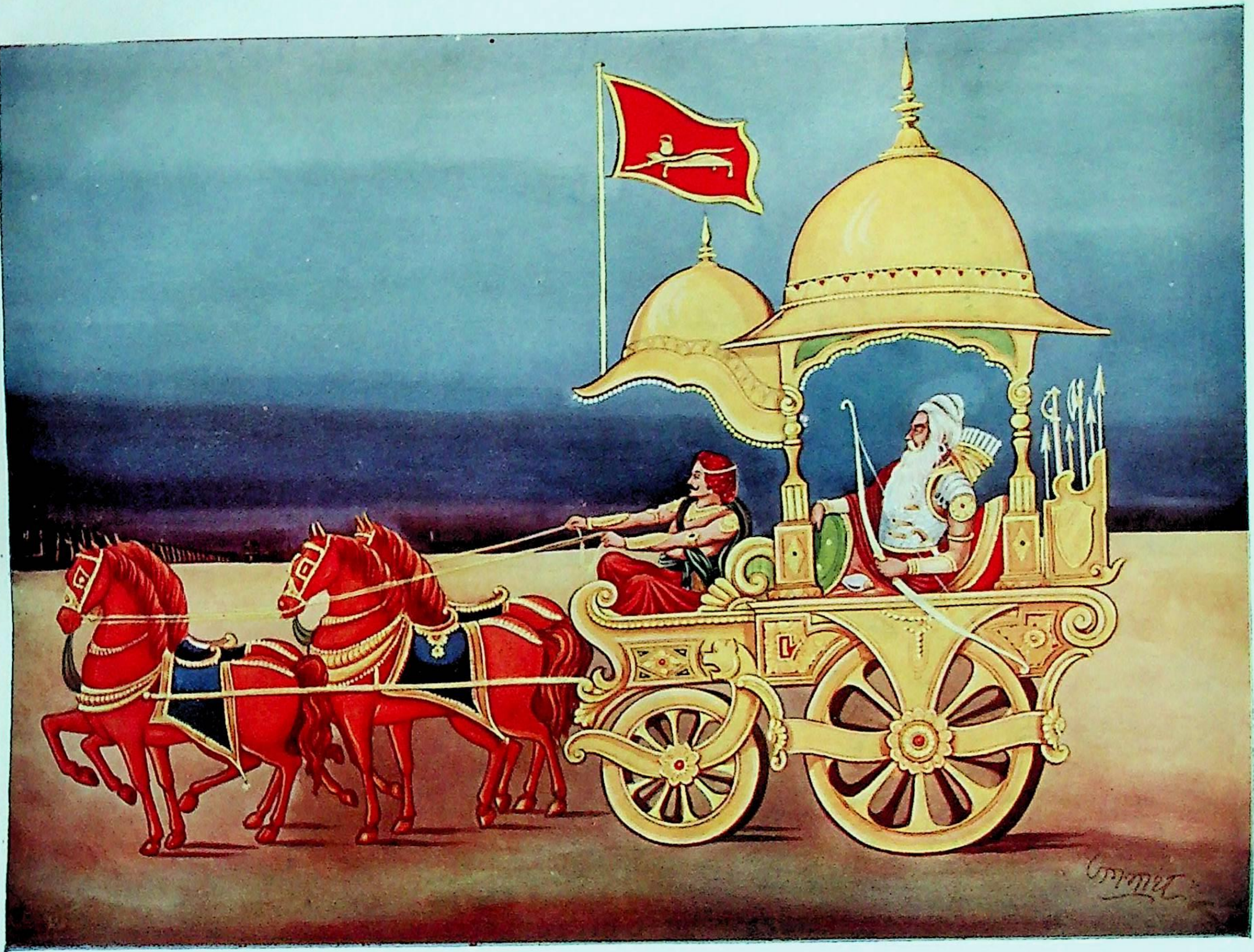
उत्तर—शास्त्र और शस्त्रविद्यामें अत्यन्त निपुण उस असाधारण वीरको महारथी कहते हैं जो अकेला ही दस हजार धनुर्धारी योद्धाओंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ हो।

एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥

दुर्योधनने यहाँ जिन योद्धाओंके नाम लिये हैं, ये सभी महारथी हैं—इसी भावसे ऐसा कहा गया है। महाभारत, उद्योगपर्वके अ० १६९-१७२में प्रायः इन सभी वीरोंके पराक्रमका पृथक्-पृथक्रूप-से विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वहाँ भी इन्हें अतिरथी और महारथी बतलाया गया है। इसके



वीरवर अभिमन्यु



गुरु द्रोणाचार्य

अतिरिक्त पाण्डवसेनामें और भी बहुत-से महारथी थे, उनके भी नाम यहाँ बतलाये गये हैं। यहाँ 'सर्वे' पदसे दुर्योधनका कथन उन सबके लिये भी समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—पाण्डव-सेनाके प्रधान योद्धाओंके नाम बतलाकर अब दुर्योधन आचार्य द्रोणसे अपनी सेनाके प्रधान योद्धाओंको जान लेनेके लिये अनुरोध करते हैं—

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते॥ ७॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अपने पक्षमें भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये। आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ॥ ७॥

प्रश्न—'तु' पदका क्या अभिप्राय है? और 'अस्माकम्' के साथ इसका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—'तु' पद यहाँ 'भी' के अर्थमें है; इसका 'अस्माकम्' के साथ प्रयोग करके दुर्योधन यह कहना चाहते हैं कि केवल पाण्डव-सेनामें ही नहीं, अपने पक्षमें भी बहुत-से महान् शूरवीर हैं।

प्रश्न—'विशिष्टाः' पदसे किनका लक्ष्य है? और 'निबोध' क्रियापदका क्या भाव है?

उत्तर—दुर्योधनने 'विशिष्टाः' पदका प्रयोग उनके लक्ष्यसे किया है जो उनकी सेनामें सबसे बढ़कर वीर, धीर, बलवान्, बुद्धिमान्, साहसी, पराक्रमी, तेजस्वी और शस्त्रविद्याविशारद पुरुष थे। और 'निबोध' क्रियापदसे यह सूचित किया है कि अपनी सेनामें भी ऐसे सर्वोत्तम शूरवीरोंकी कमी नहीं है; मैं उनमेंसे कुछ चुने हुए वीरोंके नाम आपकी विशेष जानकारीके लिये बतलाता हूँ, आप मुझसे सुनिये।

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें दुर्योधन अपने पक्षके प्रधान वीरोंके नाम बतलाकर अन्यान्य वीरोंके सहित उनकी प्रशंसा करते हैं—

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥

आप-द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा॥ ८॥

प्रश्न—द्रोणाचार्य कौन थे और दुर्योधनने समस्त वीरोंमें सबसे पहले उन्हें 'आप' कहकर उनका नाम किस हेतुसे लिया?

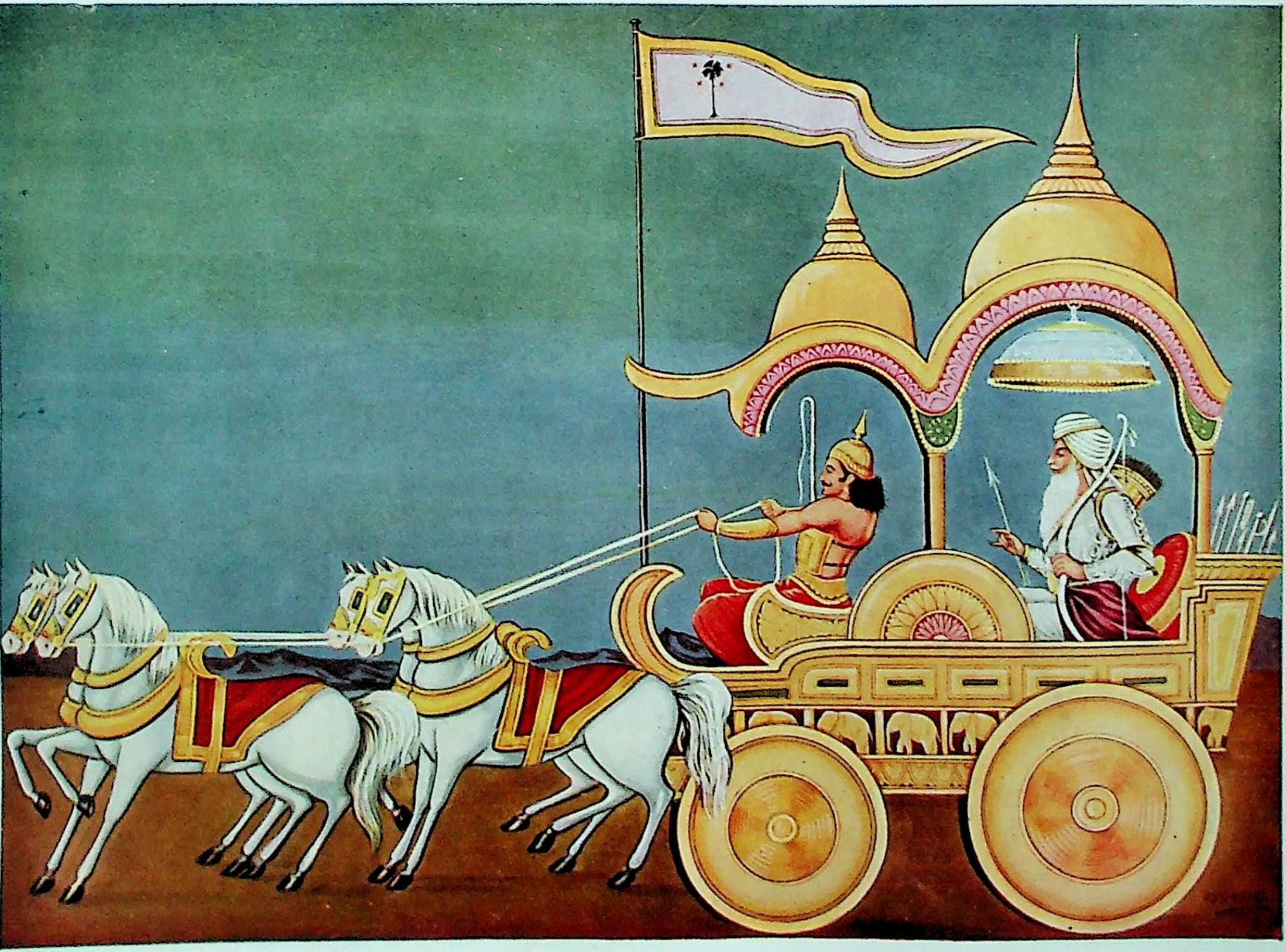
उत्तर—द्रोणाचार्य महर्षि भरद्वाजके पुत्र थे। इन्होंने महर्षि अग्निवेश्यसे और श्रीपरशुरामजीसे रहस्यसमेत समस्त अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये थे। ये वेद-वेदाङ्गके पूर्ण ज्ञाता, महान् तपस्वी, सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा शस्त्रास्त्र-विद्याके अत्यन्त मर्मज्ञ और अनुभवी एवं युद्धकलामें नितान्त

निपुण और परम साहसी अतिरथी वीर थे। ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि विचित्र अस्त्रोंका प्रयोग करना इन्हें भलीभाँति ज्ञात था। युद्धक्षेत्रमें जिस समय ये अपनी पूरी शक्तिसे भिड़ जाते थे, उस समय इन्हें कोई भी जीत नहीं सकता था। इनका विवाह महर्षि शरद्वान्‌की कन्या कृपीसे हुआ था। इन्हींसे अश्वत्थामा उत्पन्न हुए थे। राजा द्रुपदके ये बालसखा थे। एक समय इन्होंने द्रुपदके पास जाकर उन्हें प्रिय मित्र कहा, तब ऐश्वर्य-मदसे चूर द्रुपदने इनका अपमान करते हुए कहा—'मेरे-जैसे ऐश्वर्यसम्पन्न राजाके साथ तुम-सरीखे निर्धन, दरिद्र मनुष्यकी मित्रता किसी तरह भी नहीं हो सकती।' द्रुपदके इस तिरस्कारसे इन्हें बड़ी मर्मवेदना हुई और ये हस्तिनापुरमें आकर अपने साले कृपाचार्यके पास रहने लगे। वहाँ पितामह भीष्मसे इनका परिचय हुआ और इन्हें कौरव-पाण्डवोंकी शिक्षाके लिये नियुक्त किया गया। शिक्षा समाप्त होनेपर गुरुदक्षिणाके रूपमें इन्होंने राजा द्रुपदको पकड़ लानेके लिये शिष्योंसे कहा। महात्मा अर्जुन ही गुरुकी इस आज्ञाका पालन कर सके और द्रुपदको रणक्षेत्रमें हराकर सचिवसहित पकड़ लाये। द्रोणने द्रुपदको विना मारे छोड़ दिया, परन्तु भागीरथीसे उत्तरभागका उनका राज्य ले लिया। महाभारत-युद्धमें इन्होंने बड़ा ही घोर युद्ध किया और अन्तमें अपने पुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युका भ्रममूलक समाचार सुनकर इन्होंने शस्त्रास्त्रका परित्याग कर दिया और समाधिस्थ होकर ये भगवान्‌का ध्यान करने लगे। इनके प्राणत्याग करनेपर इनके ज्योतिर्मय स्वरूपका ऐसा तेज फैला कि सारा आकाशमण्डल तेजराशिसे परिपूर्ण हो गया। इसी अवस्थामें धृष्टद्युम्नने तीखी तलवारसे इनका सिर काट डाला।

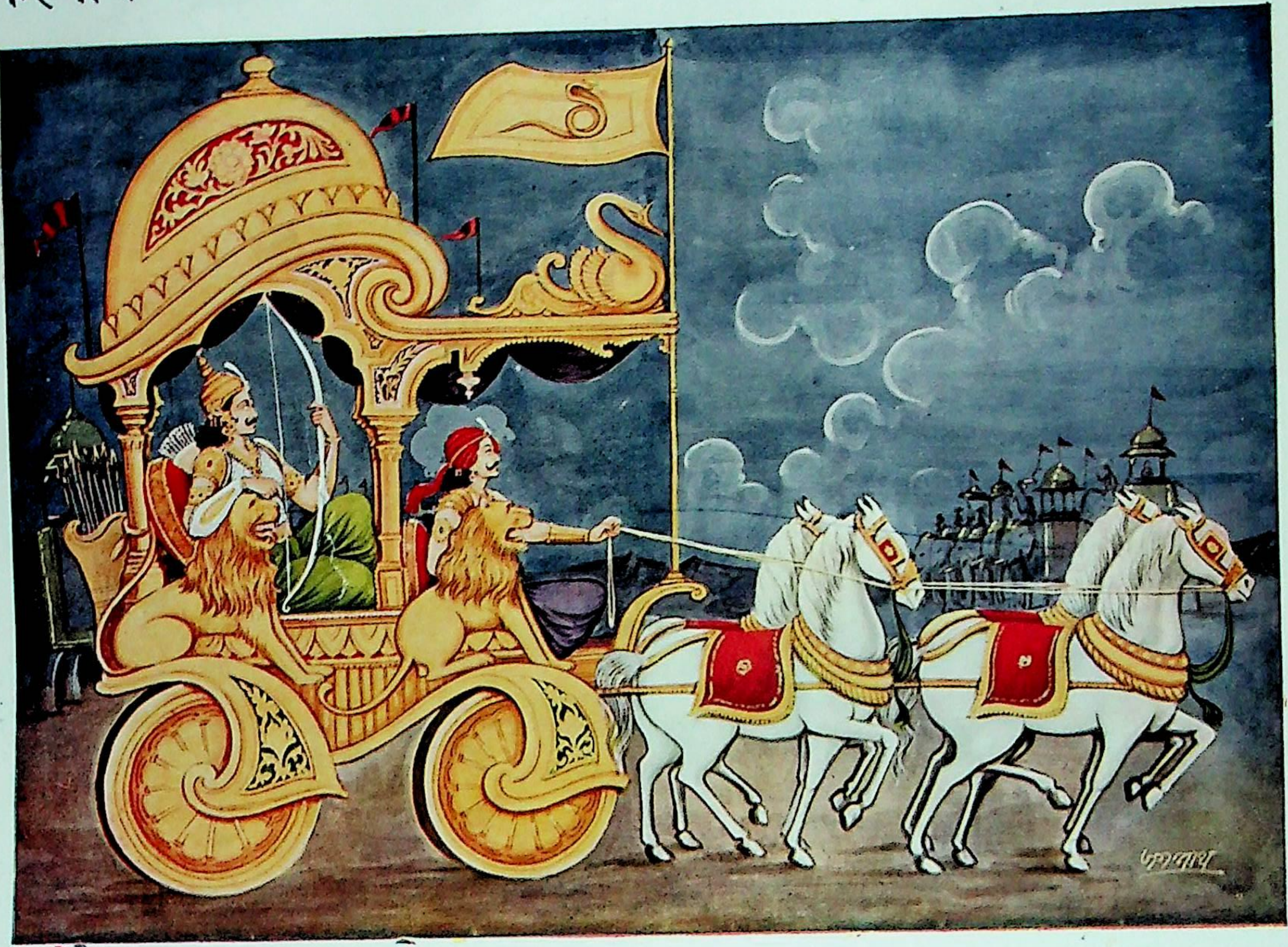
यहाँ दुर्योधनने इन्हें 'आप' कहकर सबसे पहले इन्हें इसीलिये गिनाया कि जिसमें ये खूब प्रसन्न हो जायँ और मेरे पक्षमें अधिक उत्साहसे युद्ध करें। शिक्षागुरु होनेके नाते आदरके लिये भी सर्वप्रथम 'आप' कहकर इन्हें गिनाना युक्तिसङ्गत ही है।

प्रश्न—भीष्म कौन थे ?

उत्तर—भीष्म राजा शान्तनुके पुत्र थे। भागीरथी गङ्गाजीसे इनका जन्म हुआ था। ये 'द्यो' नामक नवम वसुके (महा० शान्ति० ५०।२६) अवतार थे। इनका पहला नाम देवव्रत था। इन्होंने सत्यवतीके साथ अपने पिताका विवाह करवानेके लिये सत्यवतीके पालनकर्ता पिताके आज्ञानुसार, पूर्ण युवावस्थामें ही स्वयं जीवनभर कभी विवाह न करनेकी तथा राज्यपदके त्यागकी भीषण प्रतिज्ञा कर ली थी; इसी भीषण प्रतिज्ञाके कारण इनका नाम भीष्म पड़ गया। पिताके सुखके लिये इन्होंने प्रायः मनुष्यमात्रके परम लोभनीय स्त्री-सुख और राज्य-सुखका सर्वथा त्याग कर दिया। इससे परम प्रसन्न होकर इनके पिता शान्तनुने इन्हें यह वरदान दिया कि तुम्हारी इच्छाके विना मृत्यु भी तुम्हें नहीं मार सकेगी। ये बालब्रह्मचारी, अत्यन्त तेजस्वी, शस्त्र और शास्त्र दोनोंके पूर्ण पारदर्शी और अनुभवी, महान् ज्ञानी और महान् वीर तथा दृढ़ निश्चयी महापुरुष थे। इनमें शौर्य, वीर्य, त्याग, तितिक्षा, क्षमा, दया, शम, दम, सत्य, अहिंसा, सन्तोष, शान्ति, बल, तेज, न्याय-प्रियता, नम्रता, उदारता, लोकप्रियता, स्पष्टवादिता, साहस, ब्रह्मचर्य, विरति, ज्ञान, विज्ञान, मातृ-पितृ-भक्ति, शास्त्र-ज्ञान, गुरुसेवन आदि प्रायः सभी सद्गुण पूर्णरूपसे विकसित थे। भगवान्‌की भक्तिसे तो इनका जीवन ओतप्रोत था। ये भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप और तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले और उनके एकनिष्ठ, पूर्ण-श्रद्धासम्पन्न और परम प्रेमी भक्त थे। महाभारत-युद्धमें इनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई भी वीर नहीं था। इन्होंने दुर्योधनके सामने प्रतिज्ञा की थी कि मैं पाँचों पाण्डवोंको तो कभी नहीं मारूँगा, परन्तु प्रतिदिन दस हजार योद्धाओंको मारता रहूँगा (महा० उद्योग०



सेनापति भीष्मपितामह



महावीर कर्ण

१५६।२१)। इन्होंने कौरवपक्षमें प्रधान सेनापतिके पदपर रहकर दस दिनोंतक घोर युद्ध किया। तदनन्तर शरशय्यापर पड़े-पड़े सबको महान् ज्ञानका उपदेश देकर उत्तरायण आ जानेके बाद स्वेच्छासे देहत्याग किया।

प्रश्न—कर्ण कौन थे ?

उत्तर—कर्ण कुन्तीके पुत्र थे, सूर्यदेवके प्रभावसे कुन्तीकी कुमारी अवस्थामें ही इनका जन्म हो गया था। कुन्तीने इन्हें पेटीमें रखकर नदीमें डाल दिया था, परन्तु भाग्यवश इनकी मृत्यु नहीं हुई और बहते-बहते वह पेटी हस्तिनापुर आ गयी। अधिरथ नामक सूत इन्हें अपने घर ले गया और उसकी पत्नी राधाने इनका पालन-पोषण किया और ये उन्हींके पुत्र माने जाने लगे। कवच और कुण्डलरूपी धनके साथ ही इनका जन्म हुआ था, इससे अधिरथने इनका नाम 'वसुषेण' रक्खा था। इन्होंने द्रोणाचार्य और परशुरामजीसे शस्त्रास्त्रविद्या सीखी थी, ये शास्त्र और शस्त्र दोनोंके ही बड़े पण्डित और अनुभवी थे। शस्त्रविद्या और युद्धकलामें ये अर्जुनके समान थे। दुर्योधनने इन्हें अङ्गदेशका राजा बना दिया था। दुर्योधनके साथ इनकी प्रगाढ़ मैत्री थी और ये तन-मनसे सदा उनके हित-चिन्तनमें लगे रहते थे। यहाँतक कि माता कुन्ती और भगवान् श्रीकृष्णके समझानेपर भी इन्होंने दुर्योधन-को छोड़कर पाण्डव-पक्षमें आना स्वीकार नहीं किया। इनकी दानशीलता अद्वितीय थी, ये सदा सूर्यदेवकी उपासना किया करते थे। उस समय इनसे कोई कुछ भी माँगता, ये सहर्ष दे देते थे। एक दिन देवराज इन्द्रने अर्जुनके हितार्थ ब्राह्मणका वेश धरकर इनके शरीरके साथ लगे हुए नैसर्गिक कवच-कुण्डलोंको माँग लिया। इन्होंने बड़ी ही प्रसन्नताके साथ उसी क्षण कवच-कुण्डल उतार दिये। उसके बदलेमें इन्द्रने इन्हें एक वीरघातिनी अमोघ शक्ति प्रदान की थी, कर्णने युद्धके समय उसीके द्वारा भीमसेनके वीर पुत्र घटोत्कचका वध किया था। द्रोणाचार्यके बाद महाभारत-युद्धमें दो दिनोंतक प्रधान सेनापति रहकर ये अर्जुनके हाथसे मारे गये थे।

प्रश्न—कृपाचार्य कौन थे ?

उत्तर—ये गौतमवंशीय महर्षि शरद्वान्‌के पुत्र हैं। ये धनुर्विद्याके बड़े पारदर्शी और अनुभवी हैं। इनकी बहिनका नाम कृपी था। महाराज शान्तनुने कृपा करके इन्हें पाला था, इसीसे इनका नाम कृप और इनकी बहिनका नाम कृपी हुआ। ये वेद-शास्त्रके ज्ञाता, धर्मात्मा तथा सद्गुणोंसे सम्पन्न सदाचारी पुरुष हैं। द्रोणाचार्यसे पूर्व कौरव-पाण्डवोंको और यादवादिको धनुर्वेदकी शिक्षा दिया करते थे। समस्त कौरववंशके नाश हो जानेपर भी ये जीवित रहे, इन्होंने परीक्षित्‌को अस्त्रविद्या सिखलायी। ये बड़े ही वीर और विपक्षियोंपर विजय प्राप्त करनेमें निपुण हैं। इसीलिये इनके नामके साथ 'समितिञ्जयः' विशेषण लगाया गया है।

प्रश्न—अश्वत्थामा कौन थे ?

उत्तर—अश्वत्थामा आचार्य द्रोणके पुत्र हैं। ये शस्त्रास्त्रविद्यामें अत्यन्त निपुण, युद्धकलामें प्रवीण, बड़े ही शूरवीर महारथी हैं। इन्होंने भी अपने पिता द्रोणाचार्यसे ही युद्ध-विद्या सीखी थी।

प्रश्न—विकर्ण कौन थे ?

उत्तर—धृतराष्ट्रके दुर्योधनादि सौ पुत्रोंमेंसे ही एकका नाम विकर्ण था। ये बड़े धर्मात्मा, वीर और महारथी थे। कौरवोंकी राजसभामें अत्याचारपीड़िता द्रौपदीने जिस समय सब लोगोंसे पूछा कि 'मैं हारी गयी या नहीं', उस समय विदुरको छोड़कर शेष सभी सभासद् चुप हो रहे। एक विकर्ण ही ऐसे थे,

जिन्होंने सभामें खड़े होकर बड़ी तीव्र भाषामें न्याय और धर्मके अनुकूल स्पष्ट कहा था कि 'द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर न दिया जाना बड़ा अन्याय है। मैं तो समझता हूँ कि द्रौपदी हमलोगोंके द्वारा जीती नहीं गयी है।' (महाभारत, सभापर्व अ० ६७। १८—२५)

प्रश्न—सौमदत्ति कौन थे ?

उत्तर—सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवाको 'सौमदत्ति' कहा करते थे। ये शान्तनुके बड़े भाई बाह्लीकके पौत्र थे। ये बड़े ही धर्मात्मा, युद्धकलामें कुशल और शूरवीर महारथी थे। इन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले अनेक यज्ञ किये थे। ये महाभारत-युद्धमें मारे गये।

प्रश्न—'तथा' और 'एव'—इन दोनों अव्यय-पदोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इन दोनों अव्ययोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि अश्वत्थामा, विकर्ण और भूरिश्रवा भी कृपाचार्यके समान ही संग्रामविजयी थे।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

और भी मेरे लिये जीवनकी आशा त्याग देनेवाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित और सब-के-सब युद्धमें चतुर हैं ॥९॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे पूर्व शल्य, बाह्लीक, भगदत्त, कृतवर्मा और जयद्रथादि महारथियोंके नाम नहीं लिये गये हैं, इस श्लोकमें उन सबकी ओर सङ्केत करके दुर्योधन इससे यह भाव दिखला रहे हैं कि अपने पक्षके जिन-जिन शूरवीरोंके नाम मैंने बतलाये हैं, उनके अतिरिक्त और भी बहुत-से योद्धा हैं, जो तलवार, ढाल, गदा, त्रिशूल आदि हाथमें रक्खे जानेवाले शस्त्रोंसे और बाण, गोली आदि छोड़े जानेवाले अस्त्रोंसे भलीभाँति सुसज्जित हैं तथा युद्धकलामें बड़े कुशल महारथी हैं। एवं ये सभी ऐसे हैं जो मेरे लिये अपने प्राण न्योछावर करनेको तैयार हैं। इससे आप यह निश्चय समझिये कि ये मरते दमतक मेरी विजयके लिये डटकर युद्ध करेंगे।

सम्बन्ध—अपने महारथी योद्धाओंकी प्रशंसा करके अब दुर्योधन दोनों सेनाओंकी तुलना करते हुए अपनी सेनाको पाण्डव-सेनाकी अपेक्षा अधिक शक्तिशालिनी और उत्तम बतलाते हैं—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

भीष्मपितामहद्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है ॥१०॥

प्रश्न—दुर्योधनने अपनी सेनाको भीष्मपितामहके द्वारा रक्षित और अपर्याप्त बतलाकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—इससे दुर्योधनने हेतुसहित अपनी सेनाका महत्त्व सिद्ध किया है। उनका कहना है कि हमारी

सेना उपर्युक्त बहुत-से महारथियोंसे परिपूर्ण है और परशुराम-सरीखे युद्धवीरको भी छका देनेवाले, भूमण्डलके अद्वितीय वीर भीष्मपितामहके द्वारा संरक्षित है। तथा संख्यामें भी पाण्डव-सेनाकी अपेक्षा चार अक्षौहिणी अधिक है। ऐसी सेनापर विजय प्राप्त करना किसीके लिये सम्भव नहीं है, वह सब प्रकारसे अपर्याप्त—आवश्यकतासे कहीं अधिक शक्तिशालिनी, अतएव सर्वथा अजेय है। महाभारत, उद्योगपर्वके ५५वें अध्यायमें जहाँ दुर्योधनने धृतराष्ट्रके सामने अपनी सेनाका वर्णन किया है, वहाँ भी प्रायः इन्हीं महारथियोंके नाम लेकर और भीष्मद्वारा संरक्षित बतलाकर उसका महत्त्व प्रकट किया है। और स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

गुणहीनं परेषाञ्च बहु पश्यामि भारत।
गुणोदयं बहुगुणमात्मनश्च विशाम्पते॥
(महा० उ० ५५।६७)

'हे भरतवंशी राजन्! मैं विपक्षियोंकी सेनाको अधिकांशमें गुणहीन देखता हूँ और अपनी सेनाको बहुत गुणोंसे युक्त और परिणाममें गुणोंका उदय करनेवाली मानता हूँ।' इसलिये मेरी हारका कोई कारण नहीं है। इसी प्रकार भीष्मपर्वमें भी जहाँ दुर्योधनने द्रोणाचार्यके सामने फिरसे अपनी सेनाका वर्णन किया है, वहाँ उपर्युक्त गीताके श्लोकको ज्यों-का-त्यों दोहराया है (भीष्मपर्व ५१।६)। और उसके पहले श्लोकमें तो यहाँतक कहा है—

एकैकशः समर्था हि यूयं सर्वे महारथाः।
पाण्डुपुत्रान् रणे हन्तुं ससैन्यान् किमु संहताः॥
(भीष्म० ५१।५)

'आप सब महारथी ऐसे हैं, जो रणमें अकेले ही पाण्डवोंको सेनासमेत मार डालनेमें समर्थ हैं; फिर सब मिलकर उनका संहार कर दें, इसमें तो कहना ही क्या है?'

अतएव यहाँ 'अपर्याप्त' शब्दसे दुर्योधनने अपनी सेनाका महत्त्व ही प्रकट किया है। और उपर्युक्त स्थलोंमें यह श्लोक अपने पक्षके योद्धाओंको उत्साहित करनेके लिये ही कहा गया है; ऐसा ही होना उचित और प्रासंगिक भी है।

प्रश्न—पाण्डवसेनाको भीमके द्वारा रक्षित और पर्याप्त बतलाकर क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—इससे दुर्योधनने उसकी न्यूनता सिद्ध की है। उनका कहना है कि जहाँ हमारी सेनाके संरक्षक भीष्म हैं, वहाँ उनकी सेनाका संरक्षक भीम है, जो शरीरसे बड़ा बलवान् होनेपर भी भीष्मकी तो तुलनामें ही नहीं रक्खा जा सकता। कहाँ रणकला-कुशल, शस्त्र-शास्त्रनिपुण, परम बुद्धिमान् भीष्मपितामह और कहाँ धनुर्विद्यामें अकुशल, मोटी बुद्धिका भीम! इसलिये उनकी सेना पर्याप्त—सीमित शक्तिवाली है, उसपर हम लोग सहज ही विजय प्राप्त कर सकते हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार भीष्मद्वारा संरक्षित अपनी सेनाको अजेय बतलाकर, अब दुर्योधन सब ओरसे भीष्मकी रक्षा करनेके लिये द्रोणाचार्य आदि समस्त महारथियोंसे अनुरोध करते हैं—

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥

इसलिये सब मोरचोंपर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सभी निःसन्देह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें॥११॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—पितामह भीष्म अपनी रक्षा करनेमें सर्वथा समर्थ हैं, यह बात दुर्योधन भी जानते थे। परन्तु भीष्मजीने पहले ही यह कह दिया था कि 'द्रुपदपुत्र शिखण्डी पहले स्त्री था, पीछेसे पुरुष हुआ है; स्त्रीरूपमें जन्म होनेके कारण मैं उसे अब भी स्त्री ही मानता हूँ। स्त्री-जातिपर वीर पुरुष शस्त्रप्रहार नहीं करते, इसलिये वह सामने आ जायगा तो मैं उसपर शस्त्रप्रहार नहीं करूँगा।' इसीलिये सारी सेनाके एकत्र हो जानेपर दुर्योधनने पहले भी सब योद्धाओंसहित दुःशासनको सावधान करते हुए विस्तारपूर्वक यह बात समझायी थी (महा० भीष्मपर्व १५। १४–२०)। यहाँ भी उसी भयकी सम्भावनासे दुर्योधन अपने पक्षके सभी प्रमुख महारथियोंसे अनुरोध कर रहे हैं कि आप लोग जो जिस व्यूहद्वार—मोर्चेपर नियुक्त हैं, सभी अपने-अपने स्थानपर दृढ़ताके साथ डटे रहें और पूरी सावधानी रक्खें जिससे किसी भी व्यूहद्वारसे शिखण्डी अपनी सेनामें प्रविष्ट होकर भीष्मपितामहके पास न पहुँच जाय। सामने आते ही, हर समय, शिखण्डीको मार भगानेके लिये आप सभी महारथी प्रस्तुत रहें। यदि आप लोग शिखण्डीसे भीष्मको बचा सके तो फिर हमें किसी प्रकारका भय नहीं है। अन्यान्य महारथियोंको पराजित करना तो भीष्मजीके लिये बड़ी आसान बात है।

सम्बन्ध—दुर्योधनके द्वारा अपने पक्षके महारथियोंकी विशेषरूपसे पितामह भीष्मकी प्रशंसा किये जानेका वर्णन सुनाकर अब सञ्जय उसके बादकी घटनाओंका वर्णन करते हैं—

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वरसे सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—भीष्मपितामह कुरुकुलमें बाह्लीकको छोड़कर सबसे बड़े थे, कौरवों और पाण्डवोंसे इनका एक-सा सम्बन्ध था और पितामहके नाते ये दोनोंके ही पूज्य थे; इसीलिये सञ्जयने इनको कौरवोंमें वृद्ध और पितामह कहा है। अवस्थामें बहुत वृद्ध होनेपर भी तेज, बल, पराक्रम, वीरता और क्षमतामें ये अच्छे-अच्छे वीर युवकोंसे भी बढ़कर थे; इसीसे इन्हें 'प्रतापवान्' बतलाया है। ऐसे पितामह भीष्मने जब द्रोणाचार्यके पास खड़े हुए दुर्योधनको, पाण्डव-सेना देखकर, चकित और चिन्तित देखा; साथ ही यह भी देखा कि वे अपनी चिन्ताको दबाकर योद्धाओंका उत्साह बढ़ानेके लिये अपनी सेनाकी प्रशंसा कर रहे हैं और द्रोणाचार्य आदि सब महारथियोंको मेरी रक्षा करनेके लिये अनुरोध कर रहे हैं; तब पितामहने अपना प्रभाव दिखलाकर उन्हें प्रसन्न करने और प्रधान सेनापतिकी हैसियतसे समस्त सेनामें युद्धारम्भकी घोषणा करनेके लिये सिंहके समान दहाड़ मारकर बड़े जोरसे शङ्ख बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

इसके पश्चात् शङ्ख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयङ्कर हुआ ॥१३॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—भीष्मपितामहने जब सिंहकी तरह गरजकर और शङ्ख बजाकर युद्धारम्भकी घोषणा कर दी, तब सब ओर उत्साह फैल गया और समस्त सेनामें सब ओरसे विभिन्न सेनानायकोंके शङ्ख और भाँति-भाँतिके युद्धके बाजे एक ही साथ बज उठे। उनके एक ही साथ बजनेसे इतना भयानक शब्द हुआ कि सारा आकाश उस शब्दसे गूँज उठा।

सम्बन्ध—धृतराष्ट्रने पूछा था कि युद्धके लिये एकत्र होनेके बाद मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया, इसके उत्तरमें सञ्जयने अबतक धृतराष्ट्रके पक्षवालोंकी बात सुनायी; अब पाण्डवोंने क्या किया, उसे पाँच श्लोकोंमें बतलाते हैं—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शङ्ख बजाये ॥१४॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—अर्जुनका रथ बहुत ही विशाल और उत्तम था। वह सोनेसे मँढ़ा हुआ बड़ा ही तेजोमय, अत्यन्त प्रकाशयुक्त, खूब मजबूत, बहुत बड़ा और परम सुन्दर था। उसपर अनेकों पताकाएँ फहरा रही थीं, पताकाओंमें घुँघुरू लगे थे। बड़े ही दृढ़ और विशाल पहिये थे। ऊँची ध्वजा बिजली-सी चमक रही थी, उसमें चन्द्रमा और तारोंके चिह्न थे; और उसपर श्रीहनुमान्‌जी विराजमान थे। ध्वजाके सम्बन्धमें सञ्जयने दुर्योधनको बतलाया था कि 'वह तिरछे और ऊपर सब ओर एक योजनतक फहराया करती है। जैसे आकाशमें इन्द्र-धनुष अनेकों प्रकाशयुक्त विचित्र रंगोंका दीखता है, वैसे ही उस ध्वजामें रंग दीख पड़ते हैं। इतनी विशाल और फैली हुई होनेपर भी न तो उसमें बोझ है और न वह कहीं रुकती या अटकती ही है। वृक्षोंके झुंडोंमें वह निर्बाध चली जाती है, वृक्ष उसे छू नहीं पाते।' चार बड़े सुन्दर, सुसज्जित, सुशिक्षित, बलवान् और तेजीसे चलनेवाले सफेद दिव्य घोड़े उस रथमें जुते हुए थे। ये चित्ररथ गन्धर्वके दिये हुए सौ दिव्य घोड़ोंमेंसे थे। इनमेंसे कितने भी क्यों न मारे जायँ, ये संख्यामें सौ-के-सौ बने रहते थे। कम न होते थे। और ये पृथ्वी, स्वर्ग आदि सब स्थानोंमें जा सकते थे। यही बात रथके लिये भी थी (महा० उ० ५६)। खाण्डव-वन-दाहके समय अग्निदेवने प्रसन्न होकर यह रथ अर्जुनको दिया था (महा० आदि० २२५)। ऐसे महान् रथपर विराजित भगवान् श्रीकृष्ण और वीरवर अर्जुनने जब भीष्मपितामह-सहित कौरवसेनाके द्वारा बजाये हुए शङ्खों और अन्यान्य रणवाद्योंकी ध्वनि सुनी, तब इन्होंने भी युद्धारम्भकी घोषणा करनेके लिये अपने-अपने शङ्ख बजाये। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके ये शङ्ख साधारण नहीं थे; अत्यन्त विलक्षण, तेजोमय और अलौकिक थे। इसीसे इनको दिव्य बतलाया गया है।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्ण महाराजने पाञ्चजन्यनामक, अर्जुनने देवदत्तनामक और भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्रनामक महाशङ्ख बजाया ॥१५॥

प्रश्न—भगवान्‌के 'हृषीकेश' नामका क्या भाव है ? और उनको 'पाञ्चजन्य' शंख किससे मिला था ?

उत्तर—'हृषीक' इन्द्रियोंका नाम है, उनके स्वामीको 'हृषीकेश' कहते हैं; तथा सर्वान्तर्यामीको भी 'हृषीकेश' कहते हैं । भगवान् इन्द्रियोंके अधीश्वर भी हैं और सर्वान्तर्यामी भी, इसीलिये उनका एक नाम 'हृषीकेश' है । पञ्चजननामक शंखरूपधारी एक दैत्यको मारकर भगवान्‌ने उसे शंखरूपसे स्वीकार किया था । इससे उस शंखका नाम 'पाञ्चजन्य' हो गया (ह० वं० २ । ३३ । १७) ।

प्रश्न—अर्जुनका 'धनञ्जय' नाम क्यों पड़ा और उन्हें 'देवदत्त' शंख कहाँसे प्राप्त हुआ ?

उत्तर—राजसूययज्ञके समय अर्जुन बहुत-से राजाओंको जीतकर अपार धन लाये थे, इस कारण उनका एक नाम 'धनञ्जय' हो गया । और 'देवदत्त' नामक शंख इनको, निवातकवचादि दैत्योंके साथ युद्ध करनेके समय, इन्द्रने दिया था; (महाभारत, वनपर्व १७४ । ५) । इस शंखका शब्द इतना भयङ्कर होता था कि उसे सुनकर शत्रुओंकी सेना दहल जाती थी ।

प्रश्न—भीमसेनके 'भीमकर्मा' और 'वृकोदर' नाम कैसे पड़े एवं उनके पौण्ड्रनामक शंखको महाशंख क्यों बतलाया गया ?

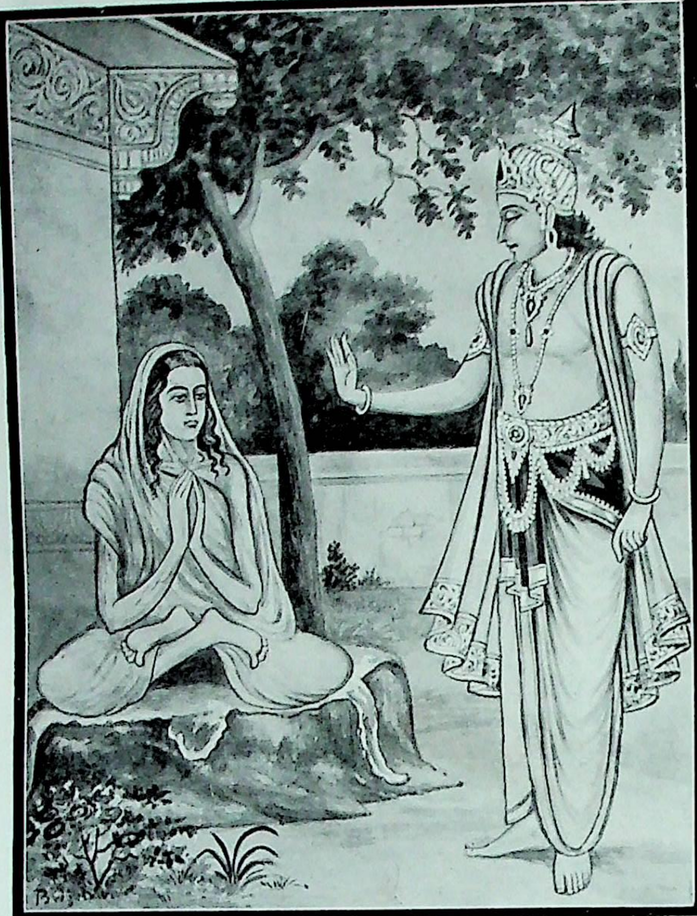
उत्तर—भीमसेन बड़े भारी बलवान् थे, उनके कर्म ऐसे भयानक होते थे कि देखने-सुननेवाले लोगोंके मनोंमें अत्यन्त भय उत्पन्न हो जाता था; इसलिये ये 'भीमकर्मा' कहलाने लगे । इनके भोजनका परिमाण बहुत अधिक होता था और उसे पचानेकी भी इनमें बड़ी शक्ति थी, इसलिये इन्हें 'वृकोदर' कहते थे । इनका शंख बहुत बड़े आकारका था और उससे बड़ा भारी शब्द होता था, इसलिये उसे 'महाशंख' कहा गया है ।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

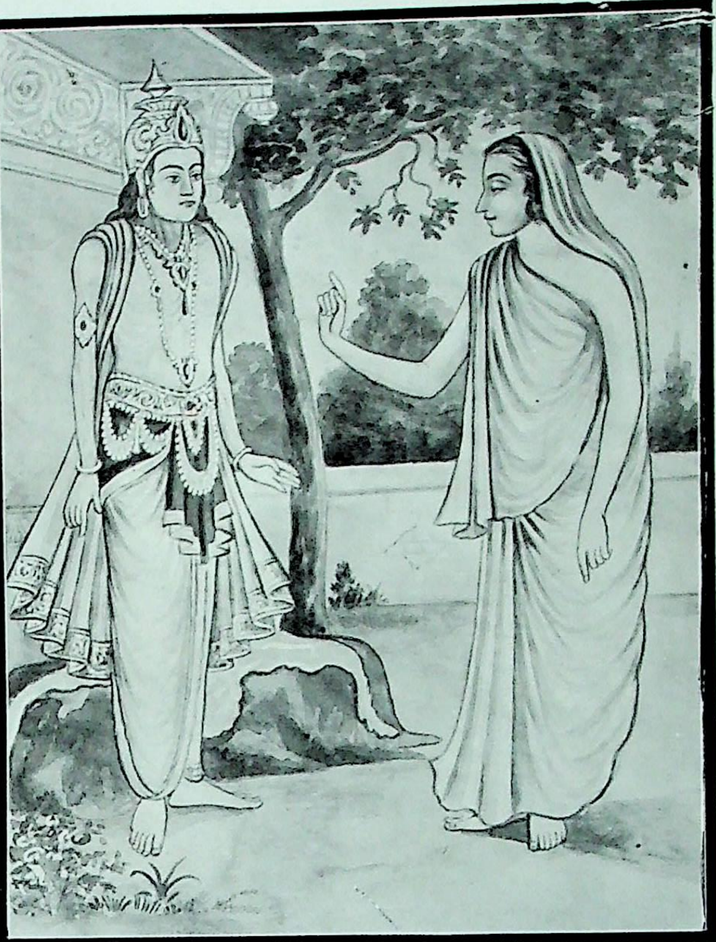
कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजयनामक और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक-नामक शंख बजाये ॥ १६ ॥

प्रश्न—युधिष्ठिरको 'कुन्तीपुत्र' और 'राजा' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—महाराज पाण्डुके पाँच पुत्रोंमें युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो कुन्तीसे उत्पन्न हुए थे और नकुल तथा सहदेव माद्रीसे । इस श्लोकमें नकुल और सहदेवके भी नाम आये हैं; युधिष्ठिर और नकुल-सहदेवकी माताएँ भिन्न-भिन्न थीं, इसी बातको जनानेके लिये युधिष्ठिरको 'कुन्तीपुत्र' कहा गया है ।



स्त्रीरूपमें शिखण्डी और स्थूणाकर्ण



स्थूणाकर्णका पुरुषत्व-दान

तथा इस समय राज्यभ्रष्ट होनेपर भी युधिष्ठिरने पहले राजसूययज्ञमें सब राजाओंपर विजय प्राप्त करके चक्रवर्ती साम्राज्यकी स्थापना की थी, सञ्जयको विश्वास है कि आगे चलकर वे ही राजा होंगे और इस समय भी उनके शरीरमें समस्त राजचिह्न वर्तमान हैं; इसलिये उनको 'राजा' कहा गया है।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने, हे राजन्! अलग-अलग शङ्ख बजाये ॥ १७-१८ ॥

प्रश्न—काशिराज, धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि, द्रुपद तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्युका तो परिचय पहले प्रासङ्गिक रूपमें मिल चुका है। शिखण्डी कौन थे और इनकी उत्पत्ति कैसे हुई थी?

उत्तर—शिखण्डी और धृष्टद्युम्न दोनों ही राजा द्रुपदके पुत्र थे। शिखण्डी बड़े थे, धृष्टद्युम्न छोटे। पहले जब राजा द्रुपदके कोई सन्तान नहीं थी, तब उन्होंने सन्तानके लिये आशुतोष भगवान् शङ्करकी उपासना की थी। भगवान् शिवजीके प्रसन्न होनेपर राजाने उनसे सन्तानकी याचना की, तब शिवजीने कहा—'तुम्हें एक कन्या प्राप्त होगी।' राजा द्रुपद बोले—'भगवन्! मैं कन्या नहीं चाहता, मुझे तो पुत्र चाहिये।' इसपर शिवजीने कहा—'वह कन्या ही आगे चलकर पुत्ररूपमें परिणत हो जायगी।' इस वरदानके फलस्वरूप राजा द्रुपदके घर कन्या उत्पन्न हुई। राजाको भगवान् शिवके वचनोंपर पूरा विश्वास था, इसलिये उन्होंने उसे पुत्रके रूपमें प्रसिद्ध किया। रानीने भी कन्याको सबसे छिपाकर असली बात किसीपर प्रकट नहीं होने दी। उस कन्याका नाम भी मर्दोंका-सा 'शिखण्डी' रक्खा और उसे राजकुमारोंकी-सी पोशाक पहनाकर यथाक्रम विधिपूर्वक विद्याध्ययन कराया। समयपर दशार्णदेशके राजा हिरण्यवर्माकी कन्यासे उसका विवाह भी हो गया। हिरण्यवर्माकी कन्या जब ससुरालमें आयी तब उसे पता चला कि शिखण्डी पुरुष नहीं है, स्त्री है; तब वह बहुत दुःखित हुई और उसने सारा हाल अपनी दासियोंद्वारा अपने पिता राजा हिरण्यवर्माको कहला भेजा। राजा हिरण्यवर्माको द्रुपदपर बड़ा ही क्रोध आया और उसने द्रुपदपर आक्रमण करके उन्हें मारनेका निश्चय कर लिया। इस संवादको पाकर राजा द्रुपद युद्धसे बचनेके लिये देवाराधन करने लगे। इधर पुरुषवेषधारी उस कन्याको अपने कारण पितापर इतनी भयानक विपत्ति आयी देखकर बड़ा दुःख हुआ और वह प्राण-त्यागका निश्चय करके चुपचाप घरसे निकल गयी। वनमें उसकी स्थूणाकर्ण-नामक एक ऐश्वर्यवान् यक्षसे भेंट हुई। यक्षने दया करके कुछ दिनोंके लिये उसे अपना पुरुषत्व देकर बदलेमें उसका स्त्रीत्व ले लिया। इस प्रकार शिखण्डी स्त्रीसे पुरुष हो गया और अपने घरपर आकर

माता-पिताको आश्वासन दिया और श्वशुर हिरण्यवर्माको अपने पुरुषत्वकी परीक्षा देकर उन्हें शान्त कर दिया। पीछेसे कुबेरके शापसे स्थूणाकर्ण जीवनभर स्त्री रह गये, इससे शिखण्डीको पुरुषत्व लौटाना नहीं पड़ा और वे पुरुष बने रहे। भीष्मपितामहको यह इतिहास मालूम था, इसीसे वे उनपर शस्त्र-प्रहार नहीं करते थे। ये शिखण्डी भी बड़े शूरवीर, महारथी योद्धा थे। इन्हींको आगे करके अर्जुनने पितामह भीष्मको मारा था।

प्रश्न–इन सभीने अलग-अलग शङ्ख बजाये, इस कथनमें भी कोई खास बात है ?

उत्तर–'सर्वशः' शब्दके द्वारा सञ्जय यह दिखलाते हैं कि श्रीकृष्ण, पाचों पाण्डव और काशिराज आदि प्रधान योद्धाओंके—जिनके नाम लिये गये हैं—अतिरिक्त पाण्डवसेनामें जितने भी रथी, महारथी और अतिरथी वीर थे, सभीने अपने-अपने शङ्ख बजाये। यही खास बात है।

सम्बन्ध—भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके पश्चात् पाण्डवसेनाके अन्यान्य शूरवीरोंद्वारा सब ओर शङ्ख बजाये जानेकी बात कहकर अब उस शङ्खध्वनिका क्या परिणाम हुआ ? सञ्जय उसे बतलाते हैं—

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाते हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों—आपके पुत्रोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ॥ १९ ॥

प्रश्न–इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर–पाण्डवसेनामें जब समस्त वीरोंके शङ्ख एक ही साथ बजे, तब उनकी ध्वनि इतनी विशाल, गहरी, ऊँची और भयानक हुई कि समस्त आकाश तथा पृथ्वी उससे व्याप्त हो गयी। इस प्रकार सब ओर उस घोर ध्वनिके फैलनेसे सर्वत्र उसकी प्रतिध्वनि उत्पन्न हो गयी, जिससे पृथ्वी और आकाश गूँजने लगे। उस ध्वनिको सुनते ही दुर्योधनादि धृतराष्ट्रपुत्रोंके और उनके पक्षवाले समस्त योद्धाओंके हृदयोंमें महान् भय उत्पन्न हो गया, उनके कलेजे इस प्रकार पीडित हो गये और जलने लगे मानो उनको चीर डाला गया हो।

सम्बन्ध—पाण्डवोंकी शङ्खध्वनिसे कौरव-वीरोंके व्यथित होनेका वर्णन करके, अब चार श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति कहे हुए अर्जुनके उत्साहपूर्ण वचनोंका वर्णन किया जाता है—

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हे राजन् ! इसके बाद कपिध्वज अर्जुनने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-पुत्रोंको देखकर, शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठाकर तब हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराजसे यह वचन कहा—'हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये, ॥ २०-२१ ॥

प्रश्न—अर्जुनको कपिध्वज क्यों कहा गया ?

उत्तर—भीमसेनको वचन दे चुके थे (महा० वन० १५१।१७,१८), इसलिये महावीर हनूमान्जी अर्जुनके रथकी विशाल ध्वजापर विराजित रहते थे और युद्धमें समय-समयपर बड़े जोरसे गरजा करते थे (महा० भीष्म० ५२।१८)। यही बात धृतराष्ट्रको याद दिलानेके लिये सञ्जयने अर्जुनके लिये 'कपिध्वज' विशेषणका प्रयोग किया है।

प्रश्न—अर्जुनने युद्धके लिये डटे हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंको देखकर शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठा लिया, इस कथनका स्पष्टीकरण कीजिये।

उत्तर—अर्जुनने जब यह देखा कि दुर्योधन आदि सब भाई कौरव-पक्षके समस्त योद्धाओंसहित युद्धके लिये सज-धजकर खड़े हैं और शस्त्रप्रहारके लिये बिल्कुल तैयार हैं, तब अर्जुनके मनमें भी वीर-रस जग उठा तथा इन्होंने भी तुरंत अपना गाण्डीव धनुष उठा लिया।

प्रश्न—सञ्जयने यहाँ भगवान्को पुनः हृषीकेश क्यों कहा ?

उत्तर—भगवान्को हृषीकेश कहकर सञ्जय महाराज धृतराष्ट्रको यह सूचित कर रहे हैं कि सर्वान्तर्यामी साक्षात् परमेश्वर श्रीकृष्ण जिन अर्जुनके रथपर सारथीका काम कर रहे हैं, उनसे युद्ध करके आप लोग विजयकी आशा करते हैं—यह कितना बड़ा अज्ञान है !

प्रश्न—अपने रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेके लिये अनुरोध करते समय अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको 'अच्युत' नामसे सम्बोधन किया, इसका क्या हेतु है ?

उत्तर—जिसका किसी समय भी पराभव या पतन न हो अथवा जो अपने स्वरूप, शक्ति और महत्त्वसे सर्वथा तथा सर्वदा अस्खलित रहे—उसे 'अच्युत' कहते हैं। अर्जुन इस नामसे सम्बोधित करके भगवान्की महत्ताके और उनके स्वरूपके सम्बन्धमें अपने ज्ञानको प्रकट करते हैं। वे कहते हैं कि आप रथ हाँक रहे हैं तो क्या हुआ, वस्तुतः आप सदा-सर्वदा साक्षात् परमेश्वर ही हैं। साथ ही इससे यह भी सूचित कर रहे हैं कि अच्युत आपके द्वारा स्थापित किया हुआ यह रथ संग्राममें अजेय हो जायगा, कोई भी इसका पराभव नहीं कर सकेगा।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

और जबतक कि मैं युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओंको भली प्रकार देख लूँ कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है, तबतक उसे खड़ा रखिये ॥२२॥

प्रश्न—इस श्लोकका स्पष्टीकरण कीजिये।

उत्तर—अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कह रहे हैं कि आप मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर ऐसे उपयुक्त स्थानपर और इतने समयतक खड़ा रखिये, जहाँसे और जितने समयमें मैं युद्धके लिये सज-धजकर खड़े हुए समस्त योद्धाओंको भली-भाँति देख सकूँ। ऐसा करके मैं यह जानना चाहता हूँ कि इस रणोद्यममें—युद्धके विकट प्रसङ्गमें स्वयं मुझको किन-किन वीरोंके साथ लड़ना होगा।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

युद्धमें दुर्बुद्धि दुर्योधनका कल्याण चाहनेवाले जो-जो राजालोग इस सेनामें आये हैं, उन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा ॥ २३ ॥

प्रश्न—दुर्योधनको अर्जुनने दुर्बुद्धि क्यों बतलाया ?

उत्तर—वनवास तथा अज्ञातवासके तेरह वर्ष पूरे होनेपर पाण्डवोंको उनका राज्य लौटा देनेकी बात निश्चित हो चुकी थी और तबतक वह कौरवोंके हाथमें धरोहरके रूपमें था, परन्तु उसे अन्यायपूर्वक हड़प जानेकी नीयतसे दुर्योधन इससे सर्वथा इन्कार कर गये। दुर्योधनने पाण्डवोंके साथ अबतक और तो अनेकों अन्याय तथा अत्याचार किये ही थे, परन्तु इस बार उनका यह अन्याय तो असह्य ही हो गया । दुर्योधनकी इसी पापबुद्धिका स्मरण करके अर्जुन उन्हें दुर्बुद्धि बतला रहे हैं ।

प्रश्न—दुर्योधनका कल्याण चाहनेवाले जो ये राजा इस सेनामें आये हैं, उन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा, अर्जुनके इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुनका इसमें यह भाव प्रतीत होता है कि पापबुद्धि दुर्योधनका अन्याय और अत्याचार सारे जगत्पर प्रत्यक्ष प्रकट है, तो भी उसका हित करनेकी इच्छासे उसकी सहायता करनेके लिये वे राजालोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं; इससे माॡम होता है कि उनकी भी बुद्धि दुर्योधनकी बुद्धिके समान ही दुष्ट हो गयी है । तभी तो ये सब अन्यायका खुला समर्थन करनेके लिये आकर जुटे हैं और अपनी शान दिखाकर उसकी पीठ ठोक रहे हैं । तथा इस प्रकार उसका हित करने जाकर वास्तवमें उसका अहित कर रहे हैं। अपनेको बड़ा बलवान् मानकर और युद्धके लिये उत्सुक होकर खड़े हुए इन भलेमानसोंको मैं जरा देखूँ तो सही कि ये कौन-कौन हैं ? और फिर युद्धस्थलमें भी देखूँ कि ये कितने बड़े वीर हैं और इन्हें अन्याय तथा अधर्मका पक्ष लेनेका मजा चखाऊँ !

सम्बन्ध—अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर भगवान्ने क्या किया ? अब दो श्लोकोंमें सञ्जय उसका वर्णन करते हैं—

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

सञ्जय बोले—हे धृतराष्ट्र ! अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा कि हे पार्थ ! युद्धके लिये जुटे हुए इन कौरवोंको देख ॥२४-२५॥

प्रश्न—'गुडाकेश' का क्या अर्थ है और सञ्जयने अर्जुनको यहाँ गुडाकेश क्यों कहा ?

उत्तर—'गुडाका' निद्राको कहते हैं; जो नींदको जीतकर उसपर अपना अधिकार कर ले, उसे 'गुडाकेश' कहते हैं। अर्जुनने निद्रा जीत ली थी, वे बिना सोये रह सकते थे। नींद उन्हें सताती नहीं थी, आलस्यके वश तो वे कभी होते ही न थे। सञ्जय 'गुडाकेश' कहकर यह सूचित कर रहे हैं कि जो अर्जुन सदा इतने सावधान और सजग हैं, उन्हें आपके पुत्र कैसे जीत सकेंगे ?

प्रश्न—युद्धके लिये जुटे हुए इन कौरवोंको देख, भगवान्‌के इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुमने जो यह कहा था कि जबतक मैं सबको देख न लूँ तबतक रथ वहीं खड़ा रखियेगा, उसके अनुसार मैंने सबके बीचमें ऐसी जगह रथको लाकर खड़ा कर दिया है जहाँसे तुम सबको भलीभाँति देख सको। रथ स्थिरभावसे खड़ा है, अब तुम जितनी देरतक चाहो सबको भलीभाँति देख लो।

यहाँ 'कुरून् पश्य' अर्थात् 'कौरवोंको देखो' इन शब्दोंका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव भी दिखलाया है कि 'इस सेनामें जितने लोग हैं, प्रायः सभी तुम्हारे वंशके तथा आत्मीय-स्वजन ही हैं। उनको तुम अच्छी तरह देख लो।' भगवान्‌के इसी सङ्केतने अर्जुनके अन्तःकरणमें छिपे हुए कुटुम्बस्नेहको प्रकट कर दिया। अर्जुनके मनमें बन्धुस्नेहसे उत्पन्न करुणाजनित कायरता प्रकट करनेके लिये ये शब्द मानो बीजरूप हो गये। मालूम होता है कि अर्जुनको निमित्त बनाकर लोककल्याण करनेके लिये स्वयं भगवान्‌ने ही इन शब्दोंके द्वारा उनके हृदयमें ऐसी भावना उत्पन्न कर दी, जिससे उन्होंने युद्ध करनेसे इन्कार कर दिया और उसके फलस्वरूप साक्षात् भगवान्‌के मुखारविन्दसे त्रिलोक-पावन दिव्य गीतामृतकी ऐसी परम मधुर धारा बह निकली, जो अनन्त कालतक अनन्त जीवोंका परम कल्याण करती रहेगी।

सम्बन्ध—भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञा सुनकर अर्जुनने क्या किया? अब उसे बतलाते हैं—

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित ताऊ-चाचोंको, दादों-परदादोंको, गुरुओंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा ॥ २६-२७ वेंका पूर्वार्ध ॥

प्रश्न—इस डेढ़ श्लोकका स्पष्टीकरण कीजिये।

उत्तर—भगवान्‌की आज्ञा पाकर अर्जुनने दोनों ही सेनाओंमें स्थित अपने समस्त स्वजनोंको देखा। उनमें भूरिश्रवा आदि पिताके भाई, पितातुल्य पुरुष थे। भीष्म, सोमदत्त और बाह्लीक आदि पितामह-प्रपितामह थे। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि गुरु थे। पुरुजित्, कुन्तिभोज और शल्य आदि मामा थे। अभिमन्यु, प्रतिविन्ध्य, घटोत्कच, लक्ष्मण आदि अपने और भाइयोंके पुत्र थे। लक्ष्मण

आदिके पुत्र थे, जो सम्बन्धमें अर्जुनके पौत्र लगते थे। साथ खेले हुए बहुत-से मित्र और सखा थे। द्रुपद, शैब्य आदि ससुर थे। और बिना ही किसी हेतुके उसका कल्याण चाहनेवाले बहुत-से सुहृद् थे।

सम्बन्ध—इस प्रकार सबको देखनेके बाद अर्जुनने क्या किया? अब उसे बतलाते हैं—

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओंको देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन बोले ॥ २७ वेंका उत्तरार्ध और २८ वेंका पूर्वार्ध ॥

प्रश्न—'उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओं' से किनका लक्ष्य है?

उत्तर—पूर्वके डेढ़ श्लोकमें अर्जुन अपने 'पिता-पितामहादि' बहुत-से पुरुषोंकी बात कह चुके हैं; उनके सिवा जिनका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं बता आये हैं, ऐसे धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और सुरथ आदि साले तथा जयद्रथ आदि बहनोई और अन्यान्य जो अनेकों प्रकारके सम्बन्धोंसे युक्त स्वजन दोनों ओरकी सेनामें हैं—'उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओं'से सञ्जय उन सभीका लक्ष्य कराते हैं।

प्रश्न—अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त हो गया, इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—अर्जुनने जब चारों ओर अपने उपर्युक्त स्वजन-समुदायको देखा और यह सोचा कि इस युद्धमें इन सबका संहार हो जायगा, तब बन्धुस्नेहके कारण उनका हृदय काँप उठा और उसमें युद्धके विपरीत एक प्रकारकी करुणाजनित कायरताका भाव प्रबल रूपसे जागृत हो गया। यही 'अत्यन्त करुणा' है जिसको सञ्जयने 'परया कृपया' कहा है और इस कायरताके आवेशसे अर्जुन अपने क्षत्रियोचित वीर स्वभावको भूलकर अत्यन्त मोहित हो गये, यही उनका उस 'करुणासे युक्त हो जाना है।'

प्रश्न—'इदम्' पदसे अर्जुनके कौन-से वचन समझने चाहिये?

उत्तर—'इदम्' पदका प्रयोग अगले श्लोकसे लेकर ४६वें श्लोकतक अर्जुनने जो-जो बातें कही हैं, उन सभीके लिये किया गया है।

सम्बन्ध—बन्धुस्नेहके कारण अर्जुनकी कैसी स्थिति हुई, अब ढाई श्लोकोंमें अर्जुन स्वयं उसका वर्णन करते हैं—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इस स्वजनसमुदायको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीरमें कम्प एवं रोमाञ्च हो रहा है ॥ २८ वेंका उत्तरार्ध और २९ ॥

प्रश्न—अर्जुनके इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुनका यह भाव है कि इस महायुद्ध-का महान् भयङ्कर परिणाम होगा। ये सारे छोटे और बड़े सगे-सम्बन्धी तथा आत्मीय-स्वजन, जो इस समय मेरी आँखोंके सामने हैं, मौतके मुँहमें चले जायँगे। इस बातको सोचकर मुझे इतनी मार्मिक पीड़ा हो रही है, मेरे हृदयमें इतना भयङ्कर दाह और भय उत्पन्न हो गया है कि जिसके कारण मेरे शरीरकी ऐसी दुरवस्था हो रही है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

हाथसे गाण्डीव* धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है। तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—करुणाजनित कायरतासे अर्जुनकी बड़ी शोचनीय स्थिति हो गयी है, उसीका वर्णन करते हुए वे कह रहे हैं कि 'मेरे सारे अङ्ग अत्यन्त शिथिल हो गये हैं, हाथ ऐसे शक्तिशून्य हो रहे हैं कि उनसे गाण्डीव धनुषको चढ़ाकर बाण चलाना तो दूर रहा, मैं उसको पकड़े भी नहीं रह सकता, वह हाथसे छूटा जा रहा है। युद्धके भावी परिणामकी चिन्ताने मेरे मनमें इतनी जलन पैदा कर दी है कि उसके कारण मेरी चमड़ी भी जल रही है और भीषण मानसिक पीड़ाके कारण मेरा मन किसी बातपर क्षण-भर भी स्थिर नहीं हो रहा है। तथा इसके परिणाम-स्वरूप मेरा मस्तिष्क भी घूमने लगा है, ऐसा मालूम होता है कि मैं अभी-अभी मूर्छित होकर गिर पड़ूँगा।'

सम्बन्ध—अपनी विषादयुक्त स्थितिका वर्णन करके अब अर्जुन अपने विचारोंके अनुसार युद्धका अनौचित्य सिद्ध करते हैं—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे केशव ! मैं लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ। तथा युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर कल्याण भी नहीं देखता ॥ ३१ ॥

---

* अर्जुनका गाण्डीव धनुष दिव्य था। उसका आकार तालके समान था (महा० उद्योग० १६१)। गाण्डीवका परिचय देते हुए बृहन्नलाके रूपमें स्वयं अर्जुनने उत्तरकुमारसे कहा था—'यह अर्जुनका जगत्प्रसिद्ध धनुष है। यह स्वर्णसे मँढ़ा हुआ, सब शस्त्रोंमें उत्तम और लाख आयुधोंके समान शक्तिमान् है। इसी धनुषसे अर्जुनने देवता और मनुष्योंपर विजय प्राप्त की है। इस विचित्र, रंग-बिरंगे, अद्भुत, कोमल और विशाल धनुषका देवता, दानव और गन्धर्वोंने दीर्घकालतक आराधन किया है, इस परम दिव्य धनुषको ब्रह्माजीने एक हजार वर्ष, प्रजापतिने पाँच सौ तीन वर्ष, इन्द्रने पचासी वर्ष, चन्द्रमाने पाँच सौ वर्ष और वरुणदेवने सौ वर्षतक रक्खा था।' (महा० विराट० ४३)

प्रश्न—मैं लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ, इसका क्या भाव है ?

उत्तर—किसी भी क्रियाके भावी परिणामकी सूचना देनेवाले शकुनादि चिह्नोंको लक्षण कहा जाता है, श्लोकमें 'निमित्तानि' पद इन्हीं लक्षणोंके लिये आया है। अर्जुन लक्षणोंको विपरीत बतलाकर यह भाव दिखला रहे हैं कि असमयमें ग्रहण होना, धरतीका काँप उठना और आकाशसे नक्षत्रोंका गिरना आदि बुरे शकुनोंसे भी यही प्रतीत होता है कि इस युद्धका परिणाम अच्छा नहीं होगा। इसलिये मेरी समझसे युद्ध न करना ही श्रेयस्कर है।

प्रश्न—युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर कल्याण भी नहीं देखता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुनके कथनका भाव यह है कि युद्धमें अपने सगे-सम्बन्धियोंके मारनेसे किसी प्रकारका हित होनेकी भी सम्भावना नहीं है; क्योंकि प्रथम तो आत्मीय-स्वजनोंके मारनेसे चित्तमें पश्चात्तापजनित क्षोभ होगा, दूसरे उनके अभावमें जीवन दुःखमय हो जायगा और तीसरे उनके मारनेसे महान् पाप होगा। इस दृष्टिसे न इस लोकमें हित होगा और न परलोकमें ही। अतएव मेरे विचारसे युद्ध करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

सम्बन्ध—अर्जुनने यह कहा कि स्वजनोंको मारनेसे किसी प्रकारका भी हित होनेकी सम्भावना नहीं है; अब वे फिर उसीकी पुष्टि करते हैं—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखोंको ही। हे गोविन्द ! हमें ऐसे राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगोंसे और जीवनसे भी क्या लाभ है? ॥३२॥

प्रश्न—अर्जुनके इस कथनका स्पष्टीकरण कीजिये।

उत्तर—अर्जुन अपने चित्तकी स्थितिका चित्र खींचते हुए कहते हैं कि हे कृष्ण ! इन आत्मीय स्वजनोंको मारनेपर जो विजय, राज्य और सुख मिलेंगे, मैं उन्हें जरा भी नहीं चाहता। मुझे तो यही प्रतीत होता है कि इनके मारनेपर हमें इस लोक और परलोकमें सन्ताप ही होगा, फिर किसलिये युद्ध किया जाय और इन्हें मारा जाय ? क्या होगा ऐसे राज्य और भोगोंसे ? मेरी समझसे तो इन्हें मारकर जीनेमें भी कोई लाभ नहीं है।

सम्बन्ध—अब अर्जुन स्वजनवधसे मिलनेवाले राज्य-भोगादिको न चाहनेका कारण दिखलाते हैं—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवनकी आशाको त्यागकर युद्धमें खड़े हैं ॥३३॥

प्रश्न—अर्जुनके इस कथनका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुन यह कह रहे हैं कि मुझको अपने लिये तो राज्य, भोग और सुखादिकी आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि मैं जानता हूँ कि न तो इनमें स्थायी आनन्द ही है और न ये स्वयं ही नित्य हैं। मैं तो इन भाई-बन्धु आदि स्वजनोंके लिये ही राज्यादि-की इच्छा करता था, परन्तु मैं देखता हूँ कि ये सब युद्धमें प्राण देनेके लिये तैयार खड़े हैं। यदि इन सबकी मृत्यु हो गयी तो फिर राज्य, भोग और सुख आदि किस काम आवेंगे ? इसलिये किसी प्रकार भी युद्ध करना उचित नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार युद्धका अनौचित्य दिखलाकर अब अर्जुन युद्धमें मरनेके लिये तैयार होकर आये हुए स्वजन-समुदायमें कौन-कौन हैं, उनका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे, ससुर, नाती, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं ॥ ३४ ॥

प्रश्न—अर्जुन इन सम्बन्धियोंके नाम लेकर क्या कहना चाहते हैं ?

उत्तर—आचार्य, ताऊ, चाचे आदि सम्बन्धियों-की बात तो संक्षेपमें पहले कही जा चुकी है। यहाँ 'श्यालाः' शब्दसे धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और सुरथ आदिका और 'सम्बन्धिनः'से जयद्रथादिका स्मरण कराकर वे यह कहना चाहते हैं कि संसारमें मनुष्य अपने प्यारे सम्बन्धियोंके ही लिये तो भोगोंका संग्रह किया करता है; जब ये ही सब मारे जायँगे, तब राज्य-भोगोंकी प्राप्तिसे होगा ही क्या ? ऐसे राज्य-भोग तो दुःखके ही कारण होंगे।

सम्बन्ध—सेनामें उपस्थित शूरवीरोंके साथ अपना सम्बन्ध बतलाकर अब अर्जुन किसी भी हेतुसे इन्हें मारनेमें अपनी अनिच्छा प्रकट करते हैं—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

हे मधुसूदन ! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ३५ ॥

प्रश्न—अर्जुनने यह क्योंकर कहा कि मुझे मारनेपर भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता; क्योंकि दोनों सेनाओं-में स्थित सम्बन्धियोंमेंसे जो अर्जुनके पक्षके थे, उनके द्वारा तो अर्जुनके मारे जानेकी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती ?

उत्तर—इसीलिये अर्जुनने 'घ्नतः' और 'अपि'

शब्दोंका प्रयोग किया है। उनका यह भाव है कि मेरे पक्षवालोंकी तो कोई बात ही नहीं है; परन्तु जो विपक्षमें स्थित सम्बन्धी हैं, वे भी जब मैं युद्धसे निवृत्त हो जाऊँगा, तब सम्भवतः मुझे मारनेकी इच्छा नहीं करेंगे। क्योंकि वे सब राज्यके लोभसे ही युद्ध करनेको तैयार हुए हैं; जब हमलोग युद्धसे निवृत्त होकर राज्यकी आकाङ्क्षा ही छोड़ देंगे, तब तो मारनेका कोई कारण ही नहीं रह जायगा। परन्तु कदाचित् इतनेपर भी उनमेंसे कोई मारना चाहेंगे तो उन मुझको मारनेकी चेष्टा करनेवाले सम्बन्धियोंको भी मैं नहीं मारूँगा।

प्रश्न—तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी नहीं, फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ! इस कथनका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि पृथ्वीके राज्य और सुखोंकी तो बात ही कौन-सी है, इनके मारनेपर कहीं त्रिलोकीका निष्कण्टक राज्य मिलता हो तो उसके लिये भी मैं इन आचार्यादि आत्मीय स्वजनोंको नहीं मारना चाहता।

सम्बन्ध—यहाँ यदि यह पूछा जाय कि आप त्रिलोकीके राज्यके लिये भी उनको मारना क्यों नहीं चाहते, तो इसपर अर्जुन अपने सम्बन्धियोंको मारनेमें लाभका अभाव और पापकी सम्भावना बतलाकर अपनी बातको पुष्ट करते हैं—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

प्रश्न—धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—अर्जुन कहते हैं कि विपक्षमें स्थित इन सबको मारनेसे इस लोक और परलोकमें हमारी कुछ भी इष्टसिद्धि नहीं होगी और जब इच्छित वस्तु ही नहीं मिलेगी तब प्रसन्नता तो होगी ही कैसे। अतएव किसी दृष्टिसे भी मैं इनको मारना नहीं चाहता।

प्रश्न—स्मृतिकारोंने तो स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
(मनु० ८।३५०-५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचारे ही मार डालना चाहिये। आततायीके मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता।'

वसिष्ठस्मृतिमें आततायीके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥
(३।१९)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं।'

दुर्योधनादिमें आततायीके उपर्युक्त लक्षण पूरे पाये जाते हैं। लाक्षा-भवनमें आग लगाकर

उन्होंने पाण्डवोंको जलानेकी चेष्टा की थी, भीमसेनके भोजनमें विष मिला दिया था, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको तैयार थे ही। जूएमें छल करके पाण्डवोंका समस्त धन और सम्पूर्ण राज्य हर लिया था, अन्यायपूर्वक द्रौपदीको सभामें लाकर उसका घोर अपमान किया था और जयद्रथ उन्हें हरकर ले गया था। इस अवस्थामें अर्जुनने यह कैसे कहा कि इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा?

उत्तर—इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्मृतिकारोंके मतमें आततायियोंका वध करना दोष नहीं माना गया है। और यह भी निर्विवाद सत्य है कि दुर्योधनादि आततायी भी थे। परन्तु किन्हीं स्मृतिकारने एक विशेष बात यह कही है—

'स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्।'

'जो अपने कुलका नाश करता है, वह सबसे बढ़कर पापी है।'

इन वाक्योंको सामान्य आज्ञाकी अपेक्षा कहीं बलवान् समझकर यहाँ अर्जुन यह कह रहे हैं कि 'धृतराष्ट्रके पुत्र आततायी होनेपर भी जब हमारे कुटुम्बी हैं, तब इनको मारनेमें तो हमें पाप ही होगा; और लाभ तो किसी प्रकार भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें मैं इन्हें मारना नहीं चाहता।' अर्जुनने इस अध्यायके अन्ततक इसी बातका स्पष्टीकरण किया है।

सम्बन्ध—स्वजनोंको मारना सब प्रकारसे हानिकारक बतलाकर अब अर्जुन अपना मत प्रकट कर रहे हैं—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥३७॥

अतएव हे माधव! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं। क्योंकि अपने ही कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे?॥३७॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है?

उत्तर—इस श्लोकमें 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके अर्जुन यह कह रहे हैं कि 'मेरी जैसी स्थिति हो रही है और युद्ध न करनेके पक्षमें मैंने अबतक जो कुछ कहा है तथा मेरे विचारमें जो बातें आ रही हैं, उन सबसे यही निश्चय होता है कि दुर्योधनादि बन्धुओंको मारना हमारे लिये सर्वथा अनुचित है। कुटुम्बको मारकर हमें इस लोक या परलोकमें किसी तरहका भी कोई सुख मिले, ऐसी जरा भी सम्भावना नहीं है। अतएव मैं युद्ध नहीं करना चाहता।'

सम्बन्ध—यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि कुटुम्ब-नाशसे होनेवाला दोष तो दोनोंके लिये समान ही है; फिर यदि इस दोषपर विचार करके दुर्योधनादि युद्धसे नहीं हटते, तब तुम ही इतना विचार क्यों करते हो? अर्जुन दो श्लोकोंमें इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको और मित्रोंसे विरोध करनेमें पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन ! कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ? ॥ ३८-३९ ॥

प्रश्न—इन दोनों श्लोकोंका स्पष्ट भाव क्या है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुनके कथनका यह भाव है कि अवश्य ही दुर्योधनादिका यह कार्य अत्यन्त ही अनुचित है, परन्तु उनके लिये ऐसा करना कोई बड़ी बात नहीं है; क्योंकि लोभने उनके अन्तःकरणके विवेकको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। इसलिये न तो वे यह देख पाते हैं कि कुलके नाशसे कैसे-कैसे अनर्थ और दुष्परिणाम होते हैं और न उन्हें यही सूझ पड़ता है कि दोनों सेनाओंमें एकत्रित बन्धु-बान्धवों और मित्रोंका परस्पर वैर करके एक-दूसरेको मारना कितना भयङ्कर पाप है। पर हमलोग—जो उनकी भाँति लोभसे अन्धे नहीं हो रहे हैं और कुलनाशसे होनेवाले दोषको भलीभाँति जानते हैं—जान-बूझकर घोर पापमें क्यों प्रवृत्त हों ? हमें तो विचार करके इससे हट ही जाना चाहिये।

सम्बन्ध—कुलके नाशसे कौन-कौन-से दोष उत्पन्न होते हैं, इसपर अर्जुन कहते हैं—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुलके नाशसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलको पाप भी बहुत दबा लेता है ॥ ४० ॥

प्रश्न—'सनातन कुलधर्म' किन धर्मोंको कहते हैं और कुलके नाशसे उन धर्मोंका नाश कैसे हो जाता है ?

उत्तर—अपने-अपने कुलमें परम्परासे चली आती हुई जो शुभ और श्रेष्ठ मर्यादाएँ हैं, जिनसे सदाचार सुरक्षित रहता है और कुलके स्त्री-पुरुषोंमें अधर्मका प्रवेश नहीं हो सकता, उन शुभ और श्रेष्ठ कुल-मर्यादाओंको 'सनातन कुलधर्म' कहते हैं। कुलके नाशसे, जब इन कुल-धर्मोंके जाननेवाले और उनको बनाये रखनेवाले बड़े-बूढ़े लोगोंका अभाव हो जाता है, तब शेष बचे हुए बालकों और स्त्रियोंमें ये धर्म स्वाभाविक ही नहीं रह सकते।

प्रश्न—धर्मका नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलको पाप बहुत दबा लेता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पाँच हेतु ऐसे हैं, जिनके कारण मनुष्य अधर्मसे बचता है और धर्मको सुरक्षित रखनेमें समर्थ होता है—ईश्वरका भय, शास्त्रका शासन, कुलमर्यादाओंके टूटनेका डर, राज्यका कानून और शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशङ्का। इनमें ईश्वर और शास्त्र सर्वथा सत्य होनेपर भी वे श्रद्धापर निर्भर करते हैं, प्रत्यक्ष हेतु नहीं हैं। राज्यके कानून प्रजाके लिये ही प्रधानतया होते हैं; जिनके हाथोंमें अधिकार होता है, वे उन्हें प्रायः नहीं मानते।

शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशङ्का अधिकतर व्यक्तिगत रूपमें हुआ करती है। एक कुल-मर्यादा ही ऐसी वस्तु है, जिसका सम्बन्ध सारे कुटुम्बके साथ रहता है। जिस समाज या कुलमें परम्परासे चली आती हुई शुभ और श्रेष्ठ मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं, वह समाज या कुल बिना लगामके मतवाले घोड़ोंके समान यथेच्छाचारी हो जाता है। यथेच्छाचार किसी भी नियमको सहन नहीं कर सकता, वह मनुष्यको सर्वथा उच्छृङ्खल बना देता है। जिस समाजके मनुष्योंमें इस प्रकारकी उच्छृङ्खलता आ जाती है, उस समाज या कुलमें स्वाभाविक ही सर्वत्र पाप छा जाता है। इसीका नाम 'सम्पूर्ण कुलका पापसे दब जाना' है।

सम्बन्ध—इस प्रकार जब समस्त कुल पापसे दब जाता है तब क्या होता है, अर्जुन अब उसे बतलाते हैं—

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥४१॥

हे कृष्ण! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियोंके अत्यन्त दूषित हो जानेपर वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है॥४१॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—कुल-धर्मके नाश हो जानेसे जब कुलके स्त्री-पुरुष उच्छृङ्खल हो जाते हैं, तब उनकी प्रायः सभी क्रियाएँ अधर्मसे प्रेरित होने लगती हैं; इससे पाप अत्यन्त बढ़कर सारे समाजमें फैल जाता है। सर्वत्र पाप छा जानेसे समाजके स्त्री-पुरुषोंकी दृष्टिमें किसी भी मर्यादाका कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता और उनका पालन करना तो दूर रहा, वे उनको जाननेकी भी चेष्टा नहीं करते; और कोई उन्हें बतलाता है तो उसकी दिल्लगी उड़ाते हैं या उससे द्वेष करते हैं। ऐसी अवस्थामें पवित्र सती-धर्मका, जो समाज-धर्मकी रक्षाका आधार है, अभाव हो जाता है। सतीत्वका महत्त्व खोकर पवित्र कुलकी स्त्रियाँ घृणित व्यभिचार-दोषसे दूषित हो जाती हैं। उनका विभिन्न वर्णोंके परपुरुषोंके साथ संयोग होता है। माता और पिताके भिन्न-भिन्न वर्णोंके होनेसे जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह वर्णसङ्कर होती है। इस प्रकार सहज ही कुलकी परम्परागत पवित्रता बिल्कुल नष्ट हो जाती है।

सम्बन्ध—वर्णसङ्कर सन्तानके उत्पन्न होनेसे क्या-क्या हानियाँ होती हैं, अर्जुन अब उन्हें बतलाते हैं—

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥४२॥

वर्णसङ्कर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं॥४२॥

प्रश्न—'कुलघाती' किनको कहा गया है और इस श्लोकमें 'च' अव्ययका प्रयोग करके क्या सूचित किया गया है ?

उत्तर—'कुलघाती' उनको कहा गया है, जो युद्धादिमें अपने कुलका संहार करते हैं और 'च' अव्ययका प्रयोग करके यह सूचित किया गया है कि वर्णसङ्कर सन्तान केवल उन कुलघातियोंको ही नरक पहुँचानेमें कारण नहीं बनती, वह उनके समस्त कुलको भी नरकमें ले जानेवाली होती है।

प्रश्न—'लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले इनके पितरलोग भी गिर जाते हैं' इसका क्या भाव है ?

उत्तर—श्राद्धमें जो पिण्डदान किया जाता है और पितरोंके निमित्त ब्राह्मण-भोजनादि कराया जाता है वह 'पिण्डक्रिया' है और तर्पणमें जो जलाञ्जलि दी जाती है वह 'उदकक्रिया' है; इन दोनोंके समाहारको 'पिण्डोदकक्रिया' कहते हैं। इन्हींका नाम श्राद्ध-तर्पण है। शास्त्र और कुल-मर्यादाको जानने-माननेवाले लोग श्राद्ध-तर्पण किया करते हैं। परन्तु कुलघातियोंके कुलमें धर्मके नष्ट हो जानेसे जो वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं, वे अधर्मसे उत्पन्न और अधर्माभिभूत होनेसे प्रथम तो श्राद्ध-तर्पणादि क्रियाओंको जानते ही नहीं, कोई बतलाता भी है तो श्रद्धा न रहनेसे करते नहीं और यदि कोई करते भी हैं तो शास्त्र-विधिके अनुसार उनका अधिकार न होनेसे वह पितरोंको मिलती नहीं। इस प्रकार जब पितरोंको सन्तानके द्वारा पिण्ड और जल नहीं मिलता तब उनका पतन हो जाता है।

सम्बन्ध—वर्णसङ्करकारक दोषोंसे क्या हानि होती है, अब उसे बतलाते हैं—

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

इन वर्णसङ्करकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं ॥४३॥

प्रश्न—'इन वर्णसङ्करकारक दोषों' से किन दोषोंकी बात कही गयी है ?

उत्तर—उपर्युक्त पदोंसे उन दोषोंकी बात कही गयी है, जो वर्णसङ्करकी उत्पत्तिमें कारण हैं। वे दोष हैं—(१) कुलका नाश, (२) कुलके नाशसे कुलधर्मका नाश तथा (३) पापोंकी वृद्धि और (४) पापोंकी वृद्धिसे कुल-स्त्रियोंका व्यभिचारादि दोषोंसे दूषित होना। इन्हीं चार दोषोंसे वर्णसङ्करकी उत्पत्ति होती है।

प्रश्न—'सनातन कुलधर्म' और 'जातिधर्म' में क्या अन्तर है तथा उपर्युक्त दोषोंसे इनका नाश कैसे होता है ?

उत्तर—वंशपरम्परागत सदाचारकी मर्यादाओंका नाम 'सनातन कुलधर्म' है। चालीसवें श्लोकमें इनके साथ 'सनातनाः' विशेषण दिया गया है और यहाँ इनके साथ 'शाश्वताः' विशेषणका प्रयोग किया गया है। वेद-शास्त्रोक्त 'वर्णाश्रमधर्मका' नाम 'जातिधर्म' है। कुलकी श्रेष्ठ मर्यादाओंके जानने और चलानेवाले बड़े-बूढ़ोंका अभाव होनेसे जब 'कुलधर्म' नष्ट हो जाते हैं और वर्णसङ्करताकारक दोष बढ़ जाते हैं, तब 'जातिधर्म' भी नष्ट हो जाता है। क्योंकि वर्णेतरके संयोगसे उत्पन्न सङ्कर सन्तानमें वर्णाश्रम-धर्म नहीं रह सकता। इसी प्रकार वर्णसङ्करकारक दोषोंसे इन धर्मोंका नाश होता है।

सम्बन्ध—'कुल-धर्म' और 'जाति-धर्म' के नाशसे क्या हानि है ? अब इसपर कहते हैं—

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन ! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥४४॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुन कहते हैं कि जिनके 'कुल-धर्म' और 'जाति-धर्म' नष्ट हो गये हैं, उन सर्वथा अधर्ममें फँसे हुए लोगोंको पापोंके फलस्वरूप दीर्घकालतक कुम्भीपाक और रौरव आदि नरकोंमें गिरकर भाँति-भाँतिकी भीषण यम-यातनाएँ सहनी पड़ती हैं—ऐसा हमलोग परम्परासे सुनते आये हैं । अतएव कुलनाशकी चेष्टा कभी नहीं करनी चाहिये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार स्वजन-वधसे होनेवाले महान् अनर्थका वर्णन करके अब अर्जुन युद्धके उद्योगरूप अपने कृत्यपर शोक प्रकट करते हैं—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

हा ! शोक ! हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे अपने स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हैं ॥४५॥

प्रश्न—'वयं महत्पापं कर्तुं व्यवसिताः' (हमलोग महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं) इस वाक्यके साथ 'अहो' और 'बत' इन दोनों अव्यय-पदोंका प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अहो' अव्यय यहाँ असम्भावनाका द्योतक है और 'बत' पद महान् शोकका ! इन दोनोंका प्रयोग करके उपर्युक्त वाक्यके द्वारा अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि हमलोग जो धर्मात्मा और बुद्धिमान् माने जाते हैं और जिनके लिये ऐसे पापकर्ममें प्रवृत्त होना किसी प्रकार भी उचित नहीं हो सकता, वे भी ऐसे महान् पापका निश्चय कर चुके हैं । यह अत्यन्त ही शोककी बात है ।

प्रश्न—जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने स्वजन-वधसे होनेवाले 'महान् पाप' का स्पष्टीकरण करके अपनी तुच्छता दिखलायी है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार पश्चात्ताप करनेके बाद अब अर्जुन अपना निर्णय सुनाते हैं—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

इससे तो, यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करनेवालेको शस्त्र हाथमें लिये हुए धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—अर्जुन यहाँ कह रहे हैं कि इस प्रकार युद्धकी घोषणा होनेपर भी जब मैं शस्त्रोंका त्याग कर दूँगा और उन लोगोंकी किसी भी क्रियाका प्रतिकार नहीं करूँगा, तब सम्भवतः वे भी युद्ध नहीं करेंगे और इस तरह समस्त आत्मीय-स्वजनोंकी रक्षा हो जायगी। परन्तु यदि कदाचित् वे ऐसा न करके मुझे शस्त्रहीन और युद्धसे निवृत्त जानकर मार भी डालें तो वह मृत्यु भी मेरे लिये अत्यन्त कल्याणकारक होगी। क्योंकि इससे एक तो मैं कुलघातरूप भयानक पापसे बच जाऊँगा; दूसरे, अपने सगे-सम्बन्धी और आत्मीय-स्वजनोंकी रक्षा हो जायगी; और तीसरे, कुलरक्षाजनित महान् पुण्यकर्मसे परमपदकी प्राप्ति भी मेरे लिये आसान हो जायगी।

अर्जुन अपने प्रतिकाररहित उपर्युक्त प्रकारके मरणसे कुलकी रक्षा और अपना कल्याण निश्चित मानते हैं। इसीलिये उन्होंने वैसे मरणको अत्यन्त कल्याणकारक (क्षेमतरम्) बतलाया है।

सम्बन्ध—भगवान् श्रीकृष्णसे इतनी बात कहनेके बाद अर्जुनने क्या किया, इस जिज्ञासापर अर्जुनकी स्थिति बतलाते हुए सञ्जय कहते हैं—

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

सञ्जय बोले—रणभूमिमें शोकसे उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें सञ्जयके कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ सञ्जय कह रहे हैं कि विषादमग्न अर्जुनने भगवान्से इतनी बातें कहकर बाणसहित गाण्डीव धनुषको उतारकर नीचे रख दिया और रथके पिछले भागमें चुपचाप बैठकर वे नाना प्रकारकी चिन्ताओंमें डूब गये। उनके मनमें कुलनाश और उससे होनेवाले भयानक पाप और पापफलोंके भीषण चित्र आने लगे। उनके मुखमण्डलपर विषाद छा गया और नेत्र शोकाकुल हो गये!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर जो उपर्युक्त पुष्पिका दी गयी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य और प्रभाव ही प्रकट किया गया है। 'ॐ तत्सत्' भगवान्के पवित्र नाम हैं (१७। २३), स्वयं श्रीभगवान्के द्वारा गायी जानेके कारण इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है, इसमें उपनिषदोंका सारतत्त्व संग्रहीत है और यह स्वयं भी उपनिषद् है, इससे इसको 'उपनिषद्' कहा गया है, निर्गुण-निराकार परमात्माके परमतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है और जिस कर्मयोगका योगके नामसे वर्णन हुआ है, उस निष्कामभावपूर्ण कर्मयोगका तत्त्व बतलानेवाली होनेसे इसका नाम 'योगशास्त्र' है। यह साक्षात् परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुनका संवाद है और इसके प्रत्येक अध्यायमें परमात्माको प्राप्त करानेवाले योगका वर्णन है, इसीसे इसके लिये 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे…………योगो नाम' कहा गया है।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

द्वितीयोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें शरणागत अर्जुनद्वारा अपने शोककी निवृत्तिका ऐकान्तिक उपाय पूछे जानेपर पहले-पहल भगवान्ने ३०वें श्लोकतक आत्मतत्त्वका वर्णन किया है। सांख्ययोगके साधनमें आत्मतत्त्वका श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही मुख्य है। यद्यपि इस अध्यायमें ३०वें श्लोकके बाद स्वधर्मका वर्णन करके कर्मयोगका स्वरूप भी समझाया गया है, परन्तु उपदेशका आरम्भ सांख्ययोगसे ही हुआ है और आत्मतत्त्वका वर्णन अन्य अध्यायोंकी अपेक्षा इसमें अधिक विस्तारपूर्वक हुआ है— इस कारण इस अध्यायका नाम 'सांख्ययोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें सञ्जयने अर्जुनके विषादका वर्णन किया है तथा दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके स्नेह और कायरतायुक्त विषादकी निन्दा करते हुए उन्हें युद्धके लिये उत्साहित किया है; चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें अर्जुनने भीष्म-द्रोण आदि गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा भिक्षान्नके द्वारा निर्वाह करना श्रेष्ठ बतलाया है। छठे और सातवें श्लोकोंमें युद्ध करने या न करनेके विषयमें अपने संशय तथा अपने मोह और कायरताके दोषका वर्णन करते हुए भगवान्के शरण होकर उनसे कल्याणप्रद उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की है और आठवें श्लोकमें त्रिलोकीके निष्कण्टक राज्यको भी शोकनिवृत्तिमें कारण न मानकर वैराग्यका भाव प्रदर्शित किया है। उसके बाद नवें और दसवें श्लोकोंमें सञ्जयने अर्जुनके युद्ध न करनेके लिये कहकर चुप हो रहने और उसपर भगवान्के मुस्कराकर बोलनेकी बात कही है। तदनन्तर ग्यारहवें श्लोकसे भगवान्ने उपदेशका आरम्भ करके बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका निरूपण करते हुए चौदहवें श्लोकमें समस्त भोगोंको अनित्य बतलाकर सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको सहन करनेके लिये कहा है और पंद्रहवें श्लोकमें उस सहनशीलताको मोक्षप्राप्तिमें हेतु बतलाया है। सोलहवें श्लोकमें सत् और असत्का लक्षण कहकर सतरहवेंमें 'सत्' और अठारहवेंमें असत् वस्तुका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको युद्ध करनेकी आज्ञा दी है। उन्नीसवें श्लोकमें आत्माको मरने या मारनेवाला समझनेवालोंको अज्ञानी बतलाकर बीसवेंमें जन्मादि छः विकारोंसे रहित आत्मस्वरूपका निरूपण करते हुए इक्कीसवें श्लोकमें यह सिद्ध किया है कि आत्मतत्त्वका ज्ञाता किसीको भी मारने या मरवानेवाला नहीं बन सकता। तदनन्तर बाईसवें श्लोकमें मनुष्यके कपड़े बदलनेका उदाहरण देते हुए शरीरान्तरप्राप्तिका तत्त्व समझाकर तेईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक आत्मतत्त्वको अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य तथा नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार बतलाकर उसके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया है। छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक आत्माको जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी और शरीरोंकी अनित्यताके कारण भी शोक करना अनुचित बतलाकर उन्तीसवें श्लोकमें आत्मतत्त्वके द्रष्टा, वक्ता और श्रोताकी दुर्लभताका प्रतिपादन करते हुए तीसवें श्लोकमें आत्मतत्त्व सर्वथा अवध्य

होनेके कारण किसी भी प्राणीके लिये शोक करनेको अनुचित सिद्ध किया है। इकतीसवेंसे छत्तीसवें श्लोकतक क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्धको अर्जुनका स्वधर्म बतलाकर उसका त्याग करना सब प्रकारसे अनुचित सिद्ध करते हुए सैंतीसवें श्लोकमें युद्धको इस लोक और परलोक दोनोंमें लाभप्रद बतलाकर अर्जुनको युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा दी है। अड़तीसवें श्लोकमें समत्वको युद्धादि कर्मोंमें पापसे निर्लिप्त रहनेका उपाय बतलाकर उन्चालीसवेंमें कर्मबन्धनको काटनेवाली कर्मयोगविषयक बुद्धिका वर्णन करनेकी प्रस्तावना की है। चालीसवें श्लोकमें कर्मयोगकी महिमा बतलाकर इकतालीसवेंमें निश्चयात्मिका बुद्धि और अव्यवसायी सकाम पुरुषोंकी बुद्धिका भेद निरूपण करते हुए बियालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक स्वर्गपरायण सकाम मनुष्योंके स्वभावका वर्णन किया है। पैंतालीसवें श्लोकमें अर्जुनको निष्काम, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, योगक्षेमको न चाहनेवाला और आत्मसंयमी होनेके लिये कहकर छियालीसवें श्लोकमें ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणके लिये वेदोक्त कर्मफलरूप सुखभोगको अप्रयोजनीय बतलाकर सैंतालीसवें श्लोकमें सूत्ररूपसे कर्मयोगका स्वरूप बतलाया है। अड़तालीसवें श्लोकमें योगकी परिभाषा समत्व बतलाकर उन्चासवेंमें समत्वबुद्धिकी अपेक्षा सकाम कर्मोंको अत्यन्त तुच्छ और फल चाहनेवालोंको अत्यन्त दीन बतलाया है। पचासवें और इक्यावनवें श्लोकोंमें समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगमें लग जानेकी आज्ञा दी है और समभावका फल अनामय पदकी प्राप्ति बतलाया है। उसके बाद बावनवें और तिरपनवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने वैराग्यपूर्वक बुद्धिके शुद्ध, स्वच्छ और निश्चल हो जानेपर परमात्माकी प्राप्ति बतलायी है। चौवनवें श्लोकमें अर्जुनने स्थिरबुद्धि पुरुषके विषयमें चार प्रश्न किये हैं तथा पचपनवें श्लोकमें पहले प्रश्नका, छप्पनवें तथा सत्तावनवेंमें दूसरेका तथा अट्ठावनवेंमें तीसरे प्रश्नका सूत्ररूपसे उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने पचपनवेंसे अट्ठावनवें श्लोकतक समस्त कामनाओंका अभाव, बाह्य साधनों-की अपेक्षा न रखकर अन्तरात्मामें ही सदा सन्तुष्ट रहना, दुःखोंसे उद्विग्न न होना, सुखोंमें स्पृहा न करना, राग, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव, शुभाशुभकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक और राग-द्वेषका न होना तथा समस्त इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर अपने वशमें रखना आदि, स्थिरबुद्धि पुरुषके लक्षणोंका वर्णन किया है। उन्सठवें श्लोकमें इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका ग्रहण न करनेसे विषयोंकी निवृत्ति हो जानेपर भी रागकी निवृत्ति नहीं होती, उसकी निवृत्ति तो परमात्मदर्शनसे ही होती है—यह बात कहकर, साठवें श्लोकमें इन्द्रियोंकी प्रबलताका निरूपण करके इकसठवें श्लोकमें मन और इन्द्रियोंके संयमपूर्वक भगवत्परायण होनेके लिये कहकर इन्द्रियविजयी पुरुषकी प्रशंसा की है। बासठवें और तिरसठवें श्लोकोंमें विषयचिन्तनसे पतनकी प्रक्रिया बतलाकर चौंसठवें और पैंसठवें श्लोकोंमें राग-द्वेषसे रहित होकर कर्म करनेवालेको प्रसादकी प्राप्ति, उसके समस्त दुःखोंका नाश और शीघ्र ही उसकी बुद्धि स्थिर हो जानेकी बात कही है। तदनन्तर छाछठवें श्लोकमें अयुक्त पुरुषके लिये श्रेष्ठ बुद्धि, आस्तिकता, शान्ति और सुखका अभाव दिखलाकर सड़सठवेंमें नौका और वायुके दृष्टान्तसे मनके संयोगसे इन्द्रियको बुद्धिका हरण करनेवाली बतलाते हुए अड़सठवें श्लोकमें यह बात सिद्ध की है कि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, वही वास्तवमें स्थिरबुद्धि है। उसके बाद उनहत्तरवें श्लोकमें साधारण मनुष्योंके लिये ब्रह्मानन्दको रात्रिके समान और तत्त्वको जाननेवाले योगीके लिये विषयसुखको रात्रिके समान बतलाकर सत्तरवेंमें समुद्रके दृष्टान्तसे निष्काम पुरुषकी महिमा की गयी है और इकहत्तरवेंमें समस्त कामना, स्पृहा, ममता और अहङ्कारसे रहित होकर विचरनेवाले पुरुषको परम शान्ति मिलनेकी बात कहकर बहत्तरवें श्लोकमें उस ब्राह्मी स्थितिका माहात्म्य वर्णन करते हुए अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें गीतोक्त उपदेशकी प्रस्तावनाके रूपमें दोनों सेनाओंके महारथियोंका और उनकी शङ्खध्वनिका वर्णन करके अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेकी बात कही गयी; उसके बाद दोनों सेनाओंमें स्थित स्वजनसमुदायको देखकर शोक और मोहके कारण युद्धसे अर्जुनके निवृत्त हो जानेकी और शस्त्र-अस्त्रोंको छोड़कर विषाद करते हुए बैठ जानेकी बात कहकर इस अध्यायकी समाप्ति की गयी। ऐसी स्थितिमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे क्या बात कही और किस प्रकार उसे युद्धके लिये पुनः तैयार किया, यह सब बतलानेकी आवश्यकता होनेपर सञ्जय अर्जुनकी स्थितिका वर्णन करते हुए दूसरे अध्यायका आरम्भ करते हैं—

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

सञ्जय बोले—उस प्रकार करुणासे व्याप्त और आसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा ॥ १ ॥

प्रश्न—'तम्' पद यहाँ किसका वाचक है एवं उसके साथ 'तथा कृपयाविष्टम्', 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' और 'विषीदन्तम्'—इन तीन विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—पहले अध्यायके अन्तमें जिनके शोकमग्न होकर बैठ जानेकी बात कही गयी है, उन अर्जुनका वाचक यहाँ 'तम्' पद है और उसके साथ उपर्युक्त विशेषणोंका प्रयोग करके उनकी स्थितिका वर्णन किया गया है। अभिप्राय यह है कि पहले अध्यायमें जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन हो चुका है, उस बन्धुस्नेहजनित करुणायुक्त कायरताके भावसे जो व्याप्त हैं, जिनके नेत्र अश्रुओंसे पूर्ण और व्याकुल हैं तथा जो बन्धु-बान्धवोंके नाशकी आशङ्कासे एवं उन्हें मारनेमें भयानक पाप होनेके भयसे शोकमें निमग्न हो रहे हैं, ऐसे अर्जुनसे भगवान् बोले।

प्रश्न—यहाँ 'मधुसूदन' नामके प्रयोगका और 'वाक्यम्' के साथ 'इदम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्‌के 'मधुसूदन' नामका प्रयोग करके तथा 'वाक्यम्' के साथ 'इदम्' विशेषण देकर सञ्जयने धृतराष्ट्रको चेतावनी दी है। अभिप्राय यह है कि भगवान् श्रीकृष्णने पहले देवताओंपर अत्याचार करनेवाले 'मधु' नामक दैत्यको मारा था, इस कारण इनका नाम 'मधुसूदन' पड़ा; वे ही भगवान् युद्धसे मुँह मोड़े हुए अर्जुनको ऐसे वचनोंद्वारा युद्धके लिये उत्साहित कर रहे हैं। ऐसी अवस्थामें आपके पुत्रोंकी जीत कैसे होगी, क्योंकि आपके पुत्र भी अत्याचारी हैं और अत्याचारियोंका विनाश करना भगवान्‌का काम है; अतएव अपने पुत्रोंको समझाकर अब भी आप* सन्धि कर लें, तो इनका संहार रुक जाय।

* स्मरण रहे कि ये बातें सञ्जयने धृतराष्ट्रसे दस दिनतक युद्ध हो जानेके पश्चात् कही थीं, अतः 'अब भी सन्धि कर लें' इसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि शेष बचे हुए कुटुम्बकी रक्षाके लिये अब दस दिनके बाद भी आपको सन्धि कर लेनी चाहिये, इसीमें बुद्धिमत्ता है।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है ॥ २ ॥

प्रश्न—'इदम्' विशेषणके सहित 'कश्मलम्' पद किसका वाचक है ? तथा 'इदं कश्मलं त्वा विषमे कुतः समुपस्थितम्' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'इदम्' विशेषणके सहित 'कश्मलम्' पद यहाँ अर्जुनके मोहजनित शोक और कातरताका वाचक है तथा उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने अर्जुनको डाँटते हुए उनसे आश्चर्यके साथ यह पूछा है कि इस विषमस्थलमें अर्थात् कायरता और विषादके लिये सर्वथा अनुपयुक्त रणस्थलीमें और ठीक युद्धारम्भके अवसरपर, बड़े-बड़े महारथियोंको सहज ही पराजित कर देनेवाले तुम-सरीखे शूरवीरमें, जिसकी जरा भी सम्भावना न थी, ऐसा यह मोहजनित कातरभाव कहाँसे आ गया ?

प्रश्न—उपर्युक्त 'कश्मल' (कातरभाव) को 'अनार्यजुष्ट', 'अस्वर्ग्य' और 'अकीर्तिकर' कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने अपने उपर्युक्त आश्चर्यको सहेतुक बतलाया है । अभिप्राय यह है कि तुम जिस भावसे व्याप्त हो रहे हो, यह भाव न तो श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सेवित है, न स्वर्ग देनेवाला है और न कीर्ति ही फैलानेवाला है । इससे न तो मोक्षकी सिद्धि हो सकती है, न धर्म तथा अर्थ और भोगोंकी ही । ऐसी अवस्थामें बुद्धिमान् होते हुए भी तुमने इस मोहजनित कातरभावको कैसे स्वीकार कर लिया ?

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती । हे परन्तप ! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ३ ॥

प्रश्न—'पार्थ' सम्बोधनके सहित 'क्लैब्यं मा स्म गमः' और 'एतत् त्वयि न उपपद्यते'—इन दोनों वाक्योंका क्या भाव है ?

उत्तर—कुन्तीका दूसरा नाम पृथा था । कुन्ती वीरमाता थीं । जब भगवान् श्रीकृष्ण दूत बनकर कौरव-पाण्डवोंकी सन्धि करानेके लिये हस्तिनापुर गये और अपनी बुआ कुन्तीसे मिले, उस समय कुन्तीने श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनको वीरतापूर्ण सन्देश भेजा था, उसमें विदुला और उनके पुत्रका उदाहरण देकर अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित किया था । अतः यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको 'पार्थ' नामसे सम्बोधित करके माता कुन्तीके उस क्षत्रियोचित सन्देशकी स्मृति दिलाते हुए उपर्युक्त दोनों वाक्योंद्वारा यह सूचित किया है कि तुम वीर जननीके वीर पुत्र हो, तुम्हारे

अंदर इस प्रकारकी कायरताका सञ्चार सर्वथा अनुचित है। कहाँ महान्-से-महान् महारथियोंके हृदयोंको कँपा देनेवाला तुम्हारा अतुल शौर्य ? और कहाँ तुम्हारी यह दीन स्थिति ?—जिसमें शरीरके रोंगटे खड़े हैं, बदन काँप रहा है, गाण्डीव गिरा जा रहा है और चित्त विषाद-मग्न होकर भ्रमित हो रहा है ! ऐसी कायरता और भीरुता तुम्हारे योग्य कदापि नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'परन्तप' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—जो अपने शत्रुओंको ताप पहुँचानेवाला हो, उसे 'परन्तप' कहते हैं। अतः यहाँ अर्जुनको 'परन्तप' नामसे सम्बोधित करनेका यह भाव है कि तुम शत्रुओंको ताप पहुँचानेवाले प्रसिद्ध हो। निवातकवचादि असीम शक्तिशाली दानवोंको अनायास ही पराजित कर देनेवाले होकर आज अपने क्षत्रिय-स्वभावके विपरीत इस कापुरुषोचित कायरताको स्वीकारकर उल्टे शत्रुओं-को प्रसन्न कैसे कर रहे हो ?

प्रश्न—'क्षुद्रम्' विशेषणके सहित 'हृदयदौर्बल्यम्' पद किस भावका वाचक है ? और उसे त्यागकर युद्धके लिये खड़ा होनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे-जैसे वीर पुरुषके अन्तःकरणमें रणभीरु कायर प्राणियोंके हृदयमें रहनेवाली, शूरजनोंके द्वारा सर्वथा त्याज्य, इस तुच्छ दुर्बलताका प्रादुर्भाव किसी प्रकार भी उचित नहीं है। अतएव तुरंत इसका त्याग करके तुम युद्धके लिये डटकर खड़े हो जाओ।

सम्बन्ध—भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर गुरुजनोंके साथ किये जानेवाले युद्धको अनुचित सिद्ध करते हुए दो श्लोकोंमें अर्जुन अपना निश्चय प्रकट करते हैं—

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन ! मैं रणभूमिमें किस प्रकार बाणोंसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध लड़ूँगा ? क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं॥ ४॥

प्रश्न—इस श्लोकमें 'अरिसूदन' और 'मधुसूदन'—इन दो सम्बोधनोंके सहित 'कथम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—मधु नामके दैत्यको मारनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको मधुसूदन कहते हैं और वैरियोंका नाश करनेके कारण वे अरिसूदन कहलाते हैं। इन दोनों नामोंसे सम्बोधित करते हुए इस श्लोकमें 'कथम्' पदका प्रयोग करके अर्जुनने आश्चर्यका भाव प्रकट किया है। अभिप्राय यह है कि आप मुझे जिन भीष्म और द्रोणादिके साथ युद्ध करनेके लिये प्रोत्साहन दे रहे हैं वे न तो दैत्य हैं और न शत्रु ही हैं, वरं वे तो मेरे पूजनीय गुरुजन हैं; फिर अपने स्वाभाविक गुणोंके विरुद्ध आप मुझे गुरुजनोंके साथ युद्ध करनेके लिये कैसे कह रहे हैं ! यह घोर पापकर्म मैं कैसे कर सकूँगा ?

प्रश्न—'इषुभिः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर–'इषु' कहते हैं बाणको । यहाँ 'इषुभिः' पदका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिन गुरुजनोंके प्रति वाणीसे हलके वचनोंका प्रयोग भी महान् पातक बतलाया गया है, उनपर तीक्ष्ण बाणोंका प्रहार करके मैं उनसे लड़ कैसे सकूँगा ! आप मुझे इस घोर पापाचारमें क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं ?

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ । क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंहीको तो भोगूँगा ॥ ५ ॥

प्रश्न–'महानुभावान्' विशेषणके सहित 'गुरून्' पद यहाँ किनका वाचक है ?

उत्तर–दुर्योधनकी सेनामें जो द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि अर्जुनके आचार्य तथा बाह्लीक, भीष्म, सोमदत्त, भूरिश्रवा और शल्य आदि गुरुजन थे, जिनका भाव बहुत ही उदार और महान् था, 'महानुभावान्' विशेषणसहित 'गुरून्' पद उन श्रेष्ठ पूज्य पुरुषोंका वाचक है।

प्रश्न–यहाँ 'भैक्ष्यम्'के साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर–इसका यह भाव है कि यद्यपि क्षत्रियोंके लिये भिक्षाके अन्नसे शरीर-निर्वाह करना निन्द्य है, तथापि गुरुजनोंका संहार करके राज्य भोगनेकी अपेक्षा तो वह निन्द्य कर्म भी कहीं अच्छा है ।

प्रश्न–'भोगान्'के साथ 'रुधिरप्रदिग्धान्' और 'अर्थकामान्' विशेषण देनेका तथा 'एव' अव्ययके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिन गुरुजनोंको मारना सर्वथा अनुचित है, उनको मारकर भी मिलेगा क्या ! न तो मुक्ति ही होगी और न धर्मकी सिद्धि ही; केवल इसी लोकमें अर्थ और कामरूप तुच्छ भोग मिलेंगे, जिनका मूल्य इन गुरुजनोंके जीवनके सामने कुछ भी नहीं है । और वे भी गुरुजनोंकी हत्याके फलस्वरूप होनेके कारण एक प्रकारसे उनके रक्तसे सने हुए ही होंगे, अतएव ऐसे भोगोंको प्राप्त करनेके लिये गुरुजनोंका वध करना कदापि उचित नहीं है ।

प्रश्न–'अर्थकामान्' पदको यदि 'गुरून्'का विशेषण मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर–यदि 'गुरून्'के साथ 'महानुभावान्' विशेषण न होता तो ऐसा भी माना जा सकता था; किन्तु एक ही श्लोकमें जिन गुरुजनोंको अर्जुन पहले 'महानुभाव' कहते हैं, उन्हींको पीछेसे 'अर्थकामान्' धनके लोभी बतलावें, ऐसी कल्पना उचित नहीं मालूम होती । दोनों विशेषण परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं, इसीलिये 'अर्थकामान्' पदको 'गुरून्'का विशेषण नहीं माना गया है ।

सम्बन्ध–इस प्रकार अपना निश्चय प्रकट कर देनेपर भी जब अर्जुनको सन्तोष नहीं हुआ और अपने निश्चयमें शङ्का उत्पन्न हो गयी, तब वे फिर कहने लगे–

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना और न करना–इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे । और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे मुकाबिलेमें खड़े हैं ॥ ६ ॥

प्रश्न–'नः कतरत् गरीयः एतत् न विद्मः' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर–इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मेरे लिये क्या करना श्रेष्ठ है—युद्ध करना या युद्धका त्याग करना—इस बातका भी मैं निर्णय नहीं कर सकता; क्योंकि युद्ध करना तो क्षत्रियका धर्म माना गया है और उसके फलस्वरूप होनेवाले कुलनाशको महान् दोष भी बतलाया गया है ।

प्रश्न–'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर–इस वाक्यसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यदि एक पक्षमें हम यही मान लें कि युद्ध करना ही श्रेष्ठ है, तो फिर इस बातका भी पता नहीं कि जीत हमारी होगी या उनकी ?

प्रश्न–'यान् हत्वा न जिजीविषामः ते एव धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर–इस वाक्यसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यदि हम यह भी मान लें कि जीत हमारी ही होगी, तो भी युद्ध करना श्रेष्ठ नहीं मालूम होता; क्योंकि जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही दुर्योधनादि हमारे सगे चचेरे भाई मरनेके लिये हमारे सामने खड़े हैं । अतएव यदि हमारी जीत भी हुई तो इनको मारकर ही होगी, अतएव मैं यह निर्णय न कर सका हूँ कि मेरे लिये क्या करना उचित है ?

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्तव्यका निर्णय करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट करनेके बाद अब अर्जुन भगवान्‌की शरण ग्रहण करके अपना निश्चित कर्तव्य बतलानेके लिये उनसे प्रार्थना करते हैं—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चय ही कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

प्रश्न–कार्पण्यदोष क्या है और अर्जुनने जो अपनेको उससे 'उपहतस्वभाव' कहा है, इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर–'कृपण' शब्द विभिन्न अर्थोंमें व्यवहृत होता है—

१–जिसके पास पर्याप्त धन है, परन्तु जिसकी धनमें इतनी प्रबल आसक्ति और लोभ है कि जो दान और भोगादिके न्यायसङ्गत और उपयुक्त अवसरोंपर भी एक पैसा खर्च नहीं करना चाहता, उस कंजूसको कृपण कहते हैं।

२–मनुष्यजीवनका शास्त्रसम्मत और संतजनानुमोदित प्रधान लक्ष्य है 'भगवान्‌के तत्त्वको जानकर उन्हें प्राप्त कर लेना' जो मनुष्य इस लक्ष्यको भुलाकर विषय-भोगोंमें ही अपना जीवन खो देता है, उस 'मूर्ख' को भी कृपण कहते हैं। श्रुति कहती है—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।

(बृह० उ० ३।८।१०)

'अथवा हे गार्गि! इस अविनाशी परमात्माको विना जाने ही जो इस लोकसे मरकर जाता है, वह कृपण है।'

भगवान्‌ने भी भोगैश्वर्यमें आसक्त फलकी वासनावाले मनुष्योंको 'कृपण' कहा है ('कृपणाः फलहेतवः'—२।४९)।

३–सामान्यतः दीनस्वभावका वाचक भी 'कृपण' शब्द है।

यहाँ अर्जुनमें जो 'कार्पण्य' है, वह न तो लोभजनित कंजूसी है और न भोगासक्तिरूप कृपणता ही है। क्योंकि अर्जुन स्वभावसे ही अत्यन्त उदार, दानी एवं इन्द्रियविजयी पुरुष हैं। यहाँ भी वे स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि 'मुझे अपने लिये विजय, राज्य या सुखकी आकाङ्क्षा नहीं है; जिनके लिये ये वस्तुएँ अपेक्षित हैं, वे सब आत्मीय-स्वजन तो यहाँ मरनेके लिये खड़े हैं। इस पृथ्वीकी तो बात ही क्या है, मैं तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी दुर्योधनादिको नहीं मारना चाहता! (१।३२–३५) समस्त भूमण्डलका निष्कण्टक राज्य और देवताओंका आधिपत्य भी मुझे शोकरहित नहीं कर सकते (२।८)।' जो इतना त्याग करनेको तैयार है, वह कंजूस या भोगासक्त नहीं हो सकता। दूसरे, यहाँ ऐसा अर्थ मानना इस प्रकरणके भी सर्वथा विरुद्ध है।

यहाँ अर्जुनका यह कार्पण्य एक प्रकारका दैन्य ही है, जो करुणायुक्त कायरता और शोकके रूपमें प्रकट हो रहा है। सञ्जयने प्रथम श्लोकमें अर्जुनके लिये 'कृपयाविष्टम्' पदका प्रयोग करके इस करुणाजनित कायरताका ही निर्देश किया है। तीसरे श्लोकमें स्वयं श्रीभगवान्‌ने भी 'क्लैब्यम्' पदका प्रयोग करके इसीकी पुष्टि की है। अतएव यही प्रतीत होता है कि अर्जुनका यह कार्पण्य बन्धुनाशकी आशङ्कासे उत्पन्न करुणायुक्त कायरता ही है।

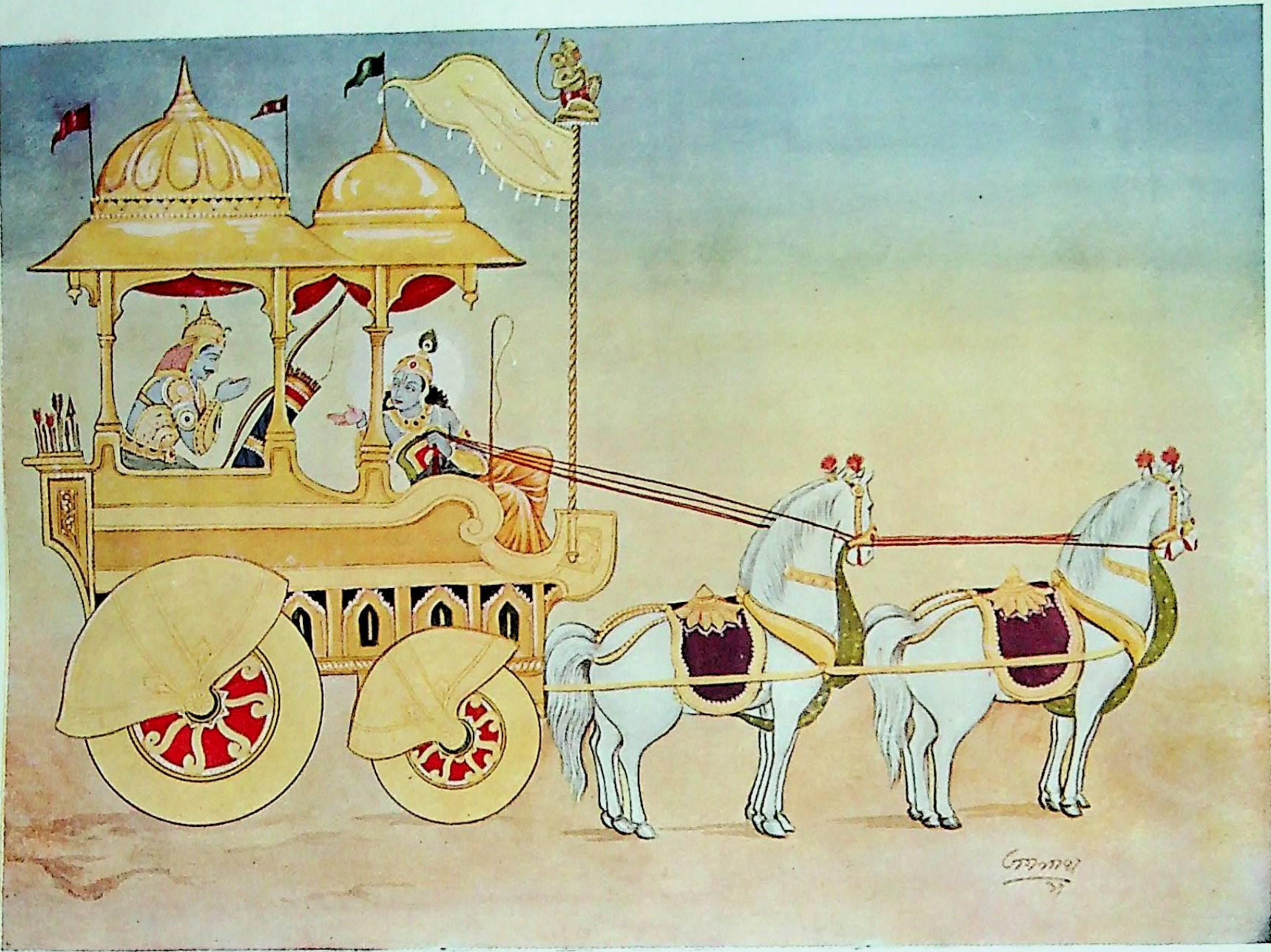
अर्जुन आदर्श क्षत्रिय हैं, स्वाभाविक ही शूरवीर हैं; उनके लिये कायरता दोष ही है, चाहे वह किसी भी कारणसे उत्पन्न हो। इसीसे अर्जुन इसे 'कार्पण्य-दोष' कहते हैं।

इस कार्पण्यदोषसे अर्जुनका अतुलनीय शौर्य, वीर्य, धैर्य, चातुर्य, साहस और पराक्रमादिसे सम्पन्न क्षत्रिय-स्वभाव नष्ट-सा हो गया है; इसीसे उनके अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, अङ्ग काँप रहे हैं, शरीरमें जलन-सी हो रही है और मन भ्रमित-सा हो रहा है। करुणायुक्त कायरताके आवेशसे अर्जुन अपनेमें इन स्वभावविरुद्ध लक्षणोंको देखकर कहते हैं कि 'मैं कार्पण्यदोषसे उपहतस्वभाव हो गया हूँ।'

प्रश्न–अर्जुनने अपनेको 'धर्मसम्मूढचेताः' क्यों कहा?

उत्तर–धर्म-अधर्म या कर्तव्य-अकर्तव्यका यथार्थ निर्णय करनेमें जिसका अन्तःकरण सर्वथा असमर्थ हो गया हो, उसे 'धर्मसम्मूढचेताः' कहते हैं। अर्जुनका चित्त इस समय भयानक धर्मसङ्कटमें पड़ा है; वे एक ओर प्रजापालन, क्षात्रधर्म, स्वत्वसंरक्षण आदिकी दृष्टिसे युद्धको धर्म समझकर उसमें लगना उचित समझते हैं और दूसरी ओर उनके चित्तकी वर्तमान कार्पण्यवृत्ति

शरणागत अर्जुन



कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः । यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

युद्धके नाना प्रकारके भयानक परिणाम दिखाकर उन्हें भिक्षावृत्ति, संन्यास और वनवासकी ओर प्रवृत्त करना चाहती है। चित्त इतना करुणाविष्ट है कि वह बुद्धिको किसी निर्णयपर पहुँचने ही नहीं देता, इसीसे अपनेको किङ्कर्तव्यविमूढ पाकर अर्जुन ऐसा कहते हैं।

प्रश्न—'निश्चितम् श्रेयः' से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—कौरवोंकी भीष्म-द्रोण-कर्णादि विश्वविख्यात अजेय शूरवीरोंसे संरक्षित अपनी सेनासे कहीं बड़ी सेनाको देखकर अर्जुन डर गये हों और युद्धमें अपने विजयकी सम्भावनासे सर्वथा निराश होकर अपना कल्याण युद्ध करनेमें है या न करनेमें, इस उद्देश्यसे 'श्रेयः' शब्दका प्रयोग करके जय-पराजयके सम्बन्धमें श्रीभगवान्‌से एक निश्चित निर्णय पूछते हों, ऐसी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो उनके चित्तमें बन्धु-स्नेह जाग उठा है और बन्धुनाशजनित एक बहुत बड़े पापकी सम्भावना हो गयी है, जिसे वे अपने परम कल्याणमें महान् प्रतिबन्धक समझते हैं और दूसरी ओर मनमें यह भावना भी आ रही है कि क्षत्रियधर्मसम्मत युद्धका जो मैं त्याग कर रहा हूँ, कहीं यही अधर्म हो और मेरे परम कल्याणमें बाधक हो जाय, ऐसी बात तो नहीं है। इसीसे वे 'निश्चित श्रेय' की बात पूछते हैं। उनका यह 'निश्चित श्रेय' जय-पराजयसे सम्बन्ध नहीं रखता, इसका लक्ष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम कल्याण है। अर्जुन यह कहते हैं कि भगवन्! मैं कर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ हूँ। आप ही निश्चितरूपसे बतलाइये—मेरे परम कल्याणका साधन कौन-सा है?

प्रश्न—मैं आपका शिष्य हूँ, मुझ शरणागतको आप शिक्षा दीजिये—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके प्रिय सखा थे। आध्यात्मिक तत्त्वकी बात दूसरी हो सकती है, परन्तु व्यवहारमें अर्जुनके साथ भगवान्‌का प्रायः सभी स्थलोंमें बराबरीका ही सम्बन्ध था। खाने, पीने, सोने और जाने-आनेमें सभी जगह भगवान् उनके साथ समान बर्ताव करते थे और भगवान्‌के श्रेष्ठत्वके प्रति मनमें श्रद्धा और सम्मान होनेपर भी अर्जुन उनके साथ बराबरीका ही व्यवहार करते थे। आज अर्जुनको अपनी ऐसी शोचनीय दशा देखकर यह अनुभव हुआ कि मैं वस्तुतः इनसे बराबरी करनेयोग्य नहीं हूँ। बराबरीमें सलाह मिलती है, उपदेश नहीं मिलता; प्रेरणा होती है, बलपूर्वक अनुशासन नहीं होता। मेरा काम आज सलाह और प्रेरणासे नहीं चलता। मुझे तो गुरुकी आवश्यकता है जो उपदेश करे और बलपूर्वक अनुशासन करके श्रेयके मार्गपर लगा दे तथा मेरे शोक-मोहको सर्वथा नष्ट करके मुझे परम कल्याणकी प्राप्ति करवा दे। और श्रीकृष्णसे बढ़कर गुरु मुझे कौन मिल सकता है। परन्तु गुरुकी उपदेशामृतधारा तभी बरसती है, जब शिष्यरूपी क्षेत्र उसे ग्रहण करनेके लिये प्रस्तुत होता है। इसीलिये अर्जुन कहते हैं—'भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ।'

शिष्योंके कई प्रकार होते हैं। जो शिष्य उपदेश तो गुरुसे ग्रहण करते हैं परन्तु अपने पुरुषार्थका अहङ्कार रखते हैं, या अपने सद्‌गुरुको छोड़कर दूसरोंपर भरोसा रखते हैं, वे गुरुकृपाका यथार्थ लाभ नहीं उठा सकते। अर्जुन इसीलिये शिष्यत्वके साथ ही अपनेमें अनन्यशरणत्वकी भावना करके कहते हैं कि भगवन्! मैं केवल शिष्य ही नहीं हूँ, आपके शरण भी हूँ। 'प्रपन्न' शब्दका भावार्थ है—भगवान्‌को अत्यन्त समर्थ और परमश्रेष्ठ समझकर उनके प्रति अपनेको समर्पण कर देना। इसीका नाम 'शरणागति', 'आत्मनिक्षेप' या 'आत्मसमर्पण' है। भगवान् सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, अनन्त गुणोंके अपार समुद्र, सर्वाधिपति, ऐश्वर्य-माधुर्य, धर्म, शौर्य, ज्ञान, वैराग्य आदिके अनन्त आकर, क्लेश,

कर्म, संशय और भ्रमादिका सर्वथा नाश करनेवाले, परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम गुरु और परम महेश्वर हैं—ऐसा विश्वास करके अपनेको सर्वथा निराश्रय, निरवलम्ब, निर्बुद्धि, निर्बल और निःसत्त्व मानकर उन्हींके आश्रय, अवलम्ब, ज्ञान, शक्ति, सत्त्व और अतुलनीय शरणागत-वत्सलताका दृढ़ और अनन्य भरोसा करके अपनेको सब प्रकारसे सदाके लिये उन्हींके चरणोंपर न्योछावर कर देना और निर्निमेष नेत्रोंसे उनके मनोनयनाभिराम मुखचन्द्रकी ओर निहारते रहनेकी तथा जड कठपुतलीकी भाँति नित्य-निरन्तर उनके सङ्केतपर नाचते रहनेकी एकमात्र लालसासे उनका अनन्यचिन्तन करना ही भगवान्‌के प्रपन्न होना है। अर्जुन चाहते हैं कि मैं इसी प्रकार भगवान्‌के शरण हो जाऊँ और इसी भावनासे भावित होकर वे कहते हैं—'भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ और आपके शरण हूँ, आप मुझे शिक्षा दीजिये।' 'ते' और 'त्वाम्' पदोंका प्रयोग करके अर्जुन यही कह रहे हैं। अर्जुनकी यह शरणागतिकी सर्वोत्तम और सच्ची भावना जब अठारहवें अध्यायके ६५वें और ६६वें श्लोकोंमें भगवान्‌के सर्वगुह्यतम उपदेशके प्रभावसे सच्ची शरणागति-के रूपमें परिणत हो जायगी और अर्जुन जब अपनेको उनके कथनानुसार चलनेके लिये तैयार कर सकेंगे, तभी गीताका उपदेश समाप्त हो जायगा। वस्तुतः इसी श्लोकसे गीताकी साधनाका आरम्भ होता है, यही उपदेशके उपक्रमका बीज है और 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' श्लोकमें ही इस साधनाकी सिद्धि है, वही उपसंहार है।

सम्बन्ध—इस प्रकार शिक्षा देनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करके अब अर्जुन उस प्रार्थनाका हेतु बतलाते हुए अपने विचारोंको प्रकट करते हैं—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

क्योंकि भूमिमें निष्कण्टक, धन-धान्यसम्पन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके॥ ८॥

प्रश्न—इस श्लोकमें अर्जुनके कथनका क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से शिक्षा देनेके लिये प्रार्थना की है, इसलिये यहाँ यह भाव प्रकट करते हैं कि आपने पहले मुझे युद्ध करनेके लिये कहा है; किन्तु उस युद्धका अधिक-से-अधिक फल विजय प्राप्त होनेपर इस लोकमें पृथ्वीका निष्कण्टक राज्य पा लेना है और विचार करनेपर यह बात मालूम होती है कि इस पृथ्वीके राज्यकी तो बात ही क्या, यदि मुझे देवताओंका आधिपत्य भी मिल जाय तो वह भी मेरे इस इन्द्रियोंको सुखा देनेवाले शोकको दूर करनेमें समर्थ नहीं है। अतएव मुझे कोई ऐसा निश्चित उपाय बतलाइये जो मेरी इन्द्रियोंको सुखाने-वाले शोकको दूर करके मुझे सदाके लिये सुखी बना दे।

सम्बन्ध—इसके बाद अर्जुनने क्या किया, यह बतलानेके लिये सञ्जय कहते हैं—

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

सञ्जय बोले—हे राजन् ! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये ॥ ९ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस श्लोकमें सञ्जयने धृतराष्ट्रसे यह कहा है कि उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के शरण होकर शिक्षा देनेके लिये उनसे प्रार्थना करके और अपने विचार प्रकट करके अर्जुन यह कहकर कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' चुप हो गये ।

प्रश्न—'गोविन्द' शब्दका क्या अर्थ है ?

उत्तर—'गोभिर्वेदवाक्यैर्विद्यते लभ्यते इति गोविन्दः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वेद-वाणीके द्वारा भगवान्के स्वरूपकी उपलब्धि होती है, इसलिये उनका नाम 'गोविन्द' है । गीतामें भी कहा है—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (१५।१५)—'सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ ।'

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके चुप हो जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने क्या किया, इस जिज्ञासापर सञ्जय कहते हैं—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओंके बीचमें शोक करते हुए उस अर्जुनको हँसते हुए-से यह वचन बोले ॥ १० ॥

प्रश्न—'उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तम्' विशेषणके सहित 'तम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि जिन अर्जुनने पहले बड़े साहसके साथ अपने रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेके लिये भगवान्से कहा था, वे ही अब दोनों सेनाओंमें स्थित स्वजनसमुदायको देखते ही मोहके कारण व्याकुल हो रहे हैं; उन्हीं अर्जुनसे भगवान् कहने लगे ।

प्रश्न—'प्रहसन् इव इदम् वचः उवाच' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे, भगवान्ने क्या कहा और किस भावसे कहा, सञ्जय इसका दिग्दर्शन कराते हैं । अभिप्राय यह है कि 'अर्जुन उपर्युक्त प्रकारसे शूरवीरता प्रकट करनेकी जगह उल्टा विषाद कर रहे हैं तथा मेरे शरण होकर शिक्षा देनेके लिये प्रार्थना करके मेरा निर्णय सुननेके पहले ही युद्ध न करनेकी घोषणा भी कर देते हैं—यह इनकी कैसी गलती है !' इस भावसे मन-ही-मन हँसते हुए भगवान् (जिनका वर्णन आगे किया जाता है, वे वचन) बोले ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे चिन्तामग्न अर्जुनने जब भगवान्‌के शरण होकर अपने महान् शोककी निवृत्तिका उपाय पूछा और यह कहा कि इस लोक और परलोकका राज्यसुख इस शोककी निवृत्तिका उपाय नहीं है, तब अर्जुनको अधिकारी समझकर उसके शोक और मोहको सदाके लिये नष्ट करनेके उद्देश्यसे भगवान् पहले नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक, सांख्ययोगकी दृष्टिसे भी युद्ध करना कर्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए सांख्यनिष्ठाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है । परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

प्रश्न—अर्जुनके कौन-से वचनोंको लक्ष्य करके भगवान्‌ने यह बात कही है कि जिनका शोक नहीं करना चाहिये, उनके लिये तुम शोक कर रहे हो ?

उत्तर—दोनों सेनाओंमें अपने चाचा, ताऊ, बन्धु, बान्धव और आचार्य आदिको देखते ही उनके नाशकी आशङ्कासे विषाद करते हुए अर्जुनने जो प्रथम अध्यायके २८ वें, २९ वें और ३० वें श्लोकोंमें अपनी स्थितिका वर्णन किया है, ४५वें श्लोकमें युद्धके लिये तैयार होनेकी क्रियापर शोक प्रकट किया है और ४७ वें श्लोकमें जो सञ्जयने उनकी स्थितिका वर्णन किया है, उनको लक्ष्य करके यहाँ भगवान्‌ने यह बात कही है कि 'जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये, उनके लिये तुम शोक कर रहे हो ।' यहींसे भगवान्‌के उपदेशका उपक्रम होता है, जिसका उपसंहार १८ । ६६ में हुआ है ।

प्रश्न—अर्जुनके कौन-से वचनोंको लक्ष्य करके भगवान्‌ने यह कहा है कि तुम पण्डितों-सरीखी बातें बघार रहे हो ?

उत्तर—पहले अध्यायमें ३१वेंसे ४४वें श्लोकतक अर्जुनने कुलके नाशसे उत्पन्न होनेवाले महान् पापकी बात कहकर दूसरे अध्यायके ४थे और ५वें श्लोकोंमें अहङ्कारपूर्वक अनेकों प्रकारकी युक्तियोंसे युद्धका अनौचित्य सिद्ध किया है; उन्हीं सब वचनोंको लक्ष्य करके भगवान्‌ने यह कहा है कि तुम पण्डितों-सरीखी बातें बघार रहे हो ।

प्रश्न—'गतासून्' और 'अगतासून्' किनका वाचक है तथा 'उनके लिये पण्डितजन शोक नहीं करते' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनके प्राण चले गये हों, उनको 'गतासु' और जिनके प्राण न गये हों, उनको 'अगतासु' कहते हैं । 'उनके लिये पण्डितजन शोक नहीं करते' इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिनका प्राणोंसे वियोग हो गया है अर्थात् जो मर गये हैं, उनके लिये पण्डितजन इस प्रकार शोक नहीं किया करते कि 'उनके बिना हम जीकर क्या करेंगे' इत्यादि । तथा जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी इस

प्रकारका शोक नहीं करते कि 'अब ये लोग अपना निर्वाह कैसे करेंगे, सब नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे, इनकी दुर्दशा होगी' इत्यादि। क्योंकि पण्डितोंकी दृष्टिमें जब एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, तब वे किसके लिये शोक करें ? किन्तु तुम शोक कर रहे हो, इसलिये जान पड़ता है तुम पण्डित नहीं हो, केवल पण्डितोंकी-सी बातें ही बघार रहे हो।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे यह बात कही कि जिन भीष्मादि स्वजनोंके लिये शोक करना उचित नहीं है, उनके लिये तुम शोक कर रहे हो। इसपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि उनके लिये शोक करना किस कारणसे उचित नहीं है। अतः पहले भगवान् आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करके आत्म-दृष्टिसे उनके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे। और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे॥१२॥

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्‌के कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसमें भगवान्‌ने आत्मरूपसे सबकी नित्यता सिद्ध करके यह भाव दिखलाया है कि तुम जिनके नाशकी आशङ्का कर रहे हो, उन सबका या तुम्हारा-हमारा कभी किसी भी कालमें अभाव नहीं है। वर्तमान शरीरोंकी उत्पत्तिके पहले भी हम सब थे और पीछे भी रहेंगे। शरीरोंके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता; अतएव नाशकी आशङ्कासे इन सबके लिये शोक करना उचित नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करके अब उसकी निर्विकारताका प्रतिपादन करते हुए आत्माके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥

जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती हैं, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता॥१३॥

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्‌के कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसमें, आत्माको विकारी मानकर एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाते-आते समय उसे कष्ट होनेकी आशङ्कासे जो अज्ञानी जन शोक किया करते हैं, उसको भगवान्‌ने अनुचित बतलाया है। वे

कहते हैं कि जिस प्रकार बालकपन, जवानी और जरा अवस्थाएँ वास्तवमें आत्माकी नहीं होतीं, स्थूलशरीरकी होती हैं और आत्मामें उनका आरोप किया जाता है, उसी प्रकार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना-आना भी वास्तवमें आत्माका नहीं होता, सूक्ष्मशरीरका ही होता है और उसका आरोप आत्मामें किया जाता है। अतएव इस तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानी जन ही देहान्तरकी प्राप्तिमें शोक करते हैं, धीर पुरुष नहीं करते; क्योंकि उनकी दृष्टिमें आत्माका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन करके उसके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया; उसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि आत्मा नित्य और निर्विकार हो तो भी संयोग-वियोगादिसे सुख-दुःखादिका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, अतएव शोक हुए विना कैसे रहा जा सकता है ? इसपर भगवान् संयोग-वियोगादिको अनित्य बतलाकर उनको सहन करनेकी आज्ञा देते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत ! उनको तू सहन कर ॥ १४ ॥

प्रश्न—'मात्रास्पर्शाः' पद यहाँ किनका वाचक है ?

उत्तर—जिनके द्वारा किसी वस्तुका माप किया जाय—उसके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त किया जाय, उसे 'मात्रा' कहते हैं; अतः 'मात्रा'से यहाँ अन्तःकरण-सहित सभी इन्द्रियोंका लक्ष्य है। और स्पर्श कहते हैं सम्बन्ध या संयोगको। अन्तःकरणसहित इन्द्रियोंका शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि उनके विषयोंके साथ जो सम्बन्ध है, उसीको यहाँ 'मात्रास्पर्शाः' पदसे व्यक्त किया गया है।

प्रश्न—उन सबको 'शीतोष्णसुखदुःखदाः' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—शीतोष्ण और सुख-दुःख शब्द यहाँ सभी द्वन्द्वोंके उपलक्षण हैं। अतः विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धोंको 'शीतोष्णसुखदुःखदाः' कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वे समस्त विषय ही इन्द्रियोंके साथ संयोग होनेपर शीत-उष्ण, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि समस्त द्वन्द्वोंको उत्पन्न करनेवाले हैं। उनमें नित्यत्व-बुद्धि होनेसे ही नाना प्रकारके विकारोंकी उत्पत्ति होती है, अतएव उनको अनित्य समझकर उनके संगसे तुम्हें किसी प्रकार भी विकारयुक्त नहीं होना चाहिये।

प्रश्न—इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोगोंको उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य कहकर अर्जुनको उन्हें सहन करनेकी आज्ञा देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ऐसी आज्ञा देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सुख-दुःख देनेवाले जो इन्द्रियोंके विषयोंके साथ संयोग हैं, वे क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं, इसलिये उनमें वास्तविक सुखका लेश भी नहीं है। अतः तुम उनको सहन करो अर्थात् उनको अनित्य समझकर उनके आने-जानेपर हर्ष या शोक मत करो।

सम्बन्ध—इन सबको सहन करनेसे क्या लाभ होगा ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है ॥ १५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'हि'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'हि' यहाँ हेतुके अर्थमें है । अभिप्राय यह है कि इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोगोंको किसलिये सहन करना चाहिये, यह बात इस श्लोकमें बतलायी जाती है ।

प्रश्न—'पुरुषर्षभ' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—'ऋषभ' श्रेष्ठका वाचक है । अतः पुरुषोंमें जो अधिक शूरवीर एवं बलवान् हो, उसे 'पुरुषर्षभ' कहते हैं । यहाँ अर्जुनको 'पुरुषर्षभ' नामसे सम्बोधित करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम बड़े शूरवीर हो, सहनशीलता तुम्हारा स्वाभाविक गुण है, अतः तुम सहजहीमें इन सबको सहन कर सकते हो ।

प्रश्न—'धीरम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—'धीरम्' पद अधिकांशमें परमात्माको प्राप्त पुरुषका ही वाचक होता है, पर कहीं-कहीं परमात्माकी प्राप्तिके पात्रको भी 'धीर' कह दिया जाता है । अतः यहाँ 'धीरम्' पद सांख्ययोगके साधनमें परिपक्व स्थितिपर पहुँचे हुए साधकका वाचक है ।

प्रश्न—'समदुःखसुखम्' विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने धीर पुरुषका लक्षण बतलाया है कि जिस पुरुषके लिये सुख और दुःख सम हो गये हैं, उन्हें अनित्य समझकर जिसकी उन द्वन्द्वोंमें भेदबुद्धि नहीं रही है, वही 'धीर' है और वही इनको सहन करनेमें समर्थ है ।

प्रश्न—'एते' पद किनका वाचक है और 'न व्यथयन्ति'का क्या भाव है ?

उत्तर—विषयोंके साथ इन्द्रियोंके जो संयोग हैं, जिनके लिये पूर्वश्लोकमें 'मात्रास्पर्शाः' पदका प्रयोग किया गया है, उन्हींका वाचक यहाँ 'एते' पद है । और 'न व्यथयन्ति' से यह भाव दिखलाया है कि विषयोंके संयोग-वियोगमें राग-द्वेष और हर्ष-शोक न करनेका अभ्यास करते-करते जब साधककी ऐसी स्थिति हो जाती है कि किसी भी इन्द्रियका किसी भी भोगके साथ संयोग किसी प्रकार उसे व्याकुल नहीं कर सकता, उसमें किसी तरहका विकार उत्पन्न नहीं कर सकता तब यह समझना चाहिये कि यह 'धीर' और सुख-दुःखमें समभाववाला हो गया है ।

प्रश्न—'सः अमृतत्वाय कल्पते' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उपर्युक्त समभाववाला पुरुष मोक्षका—परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है और उसे शीघ्र ही अपरोक्षभावसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

सम्बन्ध—१२वें और १३वें श्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन किया

तथा १४वें श्लोकमें इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोगोंको अनित्य बतलाया, किन्तु आत्मा क्यों नित्य है और ये संयोग क्यों अनित्य हैं ? इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया; अतएव इस श्लोकमें भगवान् नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनकी रीति बतलानेके लिये दोनोंके लक्षण बतलाते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ॥ १६ ॥

प्रश्न—'असतः' पद यहाँ किसका वाचक है और 'उसकी सत्ता नहीं है' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'असतः' पद यहाँ परिवर्तनशील शरीर, इन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषयोंसहित समस्त जडवर्गका वाचक है । और 'उसकी सत्ता यानी भाव नहीं है' इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वह जिस कालमें प्रतीत होता है, उसके पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा; अतएव जिस समय प्रतीत होता है, उस समय भी वास्तवमें नहीं है । इसलिये यदि तुम भीष्मादि स्वजनोंके शरीरोंके या अन्य किसी जड वस्तुके नाशकी आशङ्कासे शोक करते हो तो तुम्हारा यह शोक करना अनुचित है ।

प्रश्न—'सतः' पद यहाँ किसका वाचक है और 'उसका अभाव नहीं है' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'सतः' पद यहाँ आत्मतत्त्वका वाचक है, जो सबका द्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और नित्य है । 'उसका अभाव नहीं है' इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उसका कभी किसी भी निमित्तसे परिवर्तन या अभाव नहीं होता । वह सदा एकरस, अखण्ड और निर्विकार रहता है । इसलिये यदि तुम आत्मरूपसे भीष्मादिके नाशकी आशङ्का करके शोक करते हो, तो भी तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है ।

प्रश्न—'अनयोः' विशेषणके सहित 'उभयोः' पद किनका वाचक है और तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषोंद्वारा उनका तत्त्व देखा जाना क्या है ?

उत्तर—'अनयोः' विशेषणके सहित 'उभयोः' पद उपर्युक्त 'असत्' और 'सत्' दोनोंका वाचक है तथा तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंद्वारा उन दोनोंका विवेचन करके जो यह निश्चय कर लेना है कि जिस वस्तुका परिवर्तन और नाश होता है, जो सदा नहीं रहती, वह असत् है—अर्थात् असत् वस्तुका विद्यमान रहना सम्भव नहीं और जिसका परिवर्तन और नाश किसी भी अवस्थामें किसी भी निमित्तसे नहीं होता, जो सदा विद्यमान रहती है, वह सत् है—अर्थात् सत्का कभी अभाव होता ही नहीं—यही तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा उन दोनोंका तत्त्व देखा जाना है ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जिस 'सत्' तत्त्वके लिये यह कहा गया कि 'उसका अभाव नहीं है', वह 'सत्' तत्त्व क्या है—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥१७॥

प्रश्न—'सर्वम्' के सहित 'इदम्' पद यहाँ किसका वाचक है और वह किसके द्वारा व्याप्त है तथा वह जिससे व्याप्त है, उसे अविनाशी कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय, भोगोंकी सामग्री और भोग-स्थान आदि समस्त जडवर्गका वाचक यहाँ 'सर्वम्' के सहित 'इदम्' पद है। वह सम्पूर्ण जडवर्ग चेतन आत्मतत्त्वसे व्याप्त है। उस आत्मतत्त्वको अविनाशी कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि पूर्वश्लोकमें जिस 'सत्' तत्त्वका मैंने लक्षण किया है तथा तत्त्वज्ञानियोंने जिस तत्त्वको 'सत्' निश्चित किया है, वह आत्मा ही है।

प्रश्न—इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि आकाशसे बादलके सदृश इस आत्मतत्त्वके द्वारा अन्य सब जडवर्ग व्याप्त होनेके कारण उनमेंसे कोई भी इस आत्म-तत्त्वका नाश नहीं कर सकता; अतएव सदा-सर्वदा विद्यमान रहनेवाला होनेसे यही एकमात्र 'सत्' तत्त्व है।

सम्बन्ध—इस प्रकार 'सत्' तत्त्वकी व्याख्या हो जानेके अनन्तर पूर्वोक्त 'असत्' वस्तु क्या है, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर ॥१८॥

प्रश्न—'इमे' के सहित 'देहाः' पद यहाँ किनका वाचक है? और उन सबको 'अन्तवन्तः' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'इमे' के सहित 'देहाः' पद यहाँ समस्त शरीरोंका वाचक है और असत्की व्याख्या करनेके लिये उनको 'अन्तवन्तः' कहा है। अभिप्राय यह है कि अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित समस्त शरीर नाशवान् हैं। जैसे स्वप्नके शरीर और समस्त जगत् बिना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही ये समस्त शरीर भी बिना ही हुए अज्ञानसे प्रतीत हो रहे हैं; वास्तवमें इनकी सत्ता नहीं है। इसलिये इनका नाश होना अवश्यम्भावी है, अतएव इनके लिये शोक करना व्यर्थ है।

प्रश्न—यहाँ 'देहाः' पदमें बहुवचनका और 'शरीरिणः' पदमें एकवचनका प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—इस प्रयोगसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि समस्त शरीरोंमें एक ही आत्मा है। शरीरोंके भेदसे अज्ञानके कारण आत्मामें भेद प्रतीत होता है, वास्तवमें भेद नहीं है।

प्रश्न—'शरीरिणः' पद यहाँ किसका वाचक है और उसके साथ 'नित्यस्य', 'अनाशिनः' और 'अप्रमेयस्य' विशेषण देनेका तथा शरीरोंके साथ उसका सम्बन्ध दिखलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें जिस 'सत्' तत्त्वसे समस्त जड-वर्गको व्याप्त बतलाया है, उसी तत्त्वका वाचक यहाँ 'शरीरिणः' पद है तथा इन तीनों विशेषणोंका प्रयोग उस 'सत्' तत्त्वके साथ इसकी एकता करनेके लिये ही किया है एवं इसे 'शरीरी' कहकर तथा शरीरोंके साथ इसका सम्बन्ध दिखलाकर आत्मा और परमात्माकी एकताका प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक दृष्टिसे जो भिन्न-भिन्न शरीरोंको धारण करनेवाले, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न आत्मा प्रतीत होते हैं, वे वस्तुतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं, सब एक ही चेतन तत्त्व है; जैसे निद्राके समय स्वप्नकी सृष्टिमें एक पुरुषके सिवा कोई वस्तु नहीं होती, स्वप्नका समस्त नानात्व निद्राजनित होता है, जागनेके बाद पुरुष एक ही रह जाता है, वैसे ही यहाँ भी समस्त नानात्व अज्ञानजनित है, ज्ञानके अनन्तर कोई नानात्व नहीं रहता।

प्रश्न—हेतुवाचक 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके युद्धके लिये आज्ञा देनेका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—हेतुवाचक 'तस्मात्' पदके सहित युद्धके लिये आज्ञा देकर भगवान्‌ने यहाँ यह दिखलाया है कि जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि शरीर नाशवान् हैं, उनका नाश अनिवार्य है और आत्मा नित्य है, उसका कभी नाश होता नहीं, तब युद्धमें किञ्चिन्मात्र भी शोकका कोई कारण नहीं है। अतएव अब तुमको युद्धमें किसी तरहकी आनाकानी नहीं करनी चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन करके अर्जुनको युद्धके लिये आज्ञा दी, किन्तु अर्जुनने जो यह बात कही थी कि 'मैं इनको मारना नहीं चाहता और यदि वे मुझे मार डालें तो वह मेरे लिये क्षेमतर होगा' उसका स्पष्ट समाधान नहीं किया। अतः अगले श्लोकोंमें आत्माको मरने या मारनेवाला मानना अज्ञान है, यह कहकर उसका समाधान करते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥*

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यदि आत्मा न मरता है और न किसीको मारता है, तो मरने और मारनेवाला फिर कौन है ?

उत्तर—स्थूलशरीरसे सूक्ष्मशरीरके वियोगको 'मरना' कहते हैं, अतएव मरनेवाला स्थूलशरीर है; इसीलिये पहले 'अन्तवन्तः इमे देहाः' कहा गया। इसी तरह मन-बुद्धिके सहित जिस स्थूलशरीरकी क्रियासे किसी दूसरे स्थूलशरीरके प्राणोंका वियोग होता है, उसे 'मारनेवाला' कहते हैं। अतः मारनेवाला

* हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ (कठ० उ० १।२।१९)

भी शरीर ही है, आत्मा नहीं। किन्तु शरीरके धर्मोंको अपनेमें अध्यारोपित करके अज्ञानी लोग आत्माको मारनेवाला (कर्त्ता) मान लेते हैं (३ । २७), इसीलिये उनको उन कर्मोंका फल भोगना पड़ता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह कहा कि आत्मा किसीके द्वारा नहीं मारा जाता; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि आत्मा किसीके द्वारा नहीं मारा जाता, इसमें क्या कारण है ? इसके उत्तरमें भगवान् आत्मामें सब प्रकारके विकारोंका अभाव बतलाते हुए उसके स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ॥ २० ॥

प्रश्न—'न जायते म्रियते'—इन दोनों क्रियापदोंका क्या भाव है ?

उत्तर—इनसे भगवान्ने आत्मामें उत्पत्ति और विनाशरूप आदि-अन्तके दो विकारोंका अभाव बतलाकर उत्पत्ति आदि छहों विकारोंका अभाव सिद्ध किया है और इसके बाद प्रत्येक विकारका अभाव दिखलानेके लिये अलग-अलग शब्दोंका भी प्रयोग किया है।

प्रश्न—उत्पत्ति आदि छः विकार कौन-से हैं और इस श्लोकमें किन-किन शब्दोंद्वारा आत्मामें उनका अभाव सिद्ध किया है ?

उत्तर—१ उत्पत्ति (जन्मना), २ अस्तित्व (उत्पन्न होकर सत्तावाला होना), ३ वृद्धि (बढ़ना), ४ विपरिणाम (रूपान्तरको प्राप्त होना), ५ अपक्षय (क्षय होना या घटना) और ६ विनाश (मर जाना)—ये छः विकार हैं। इनमेंसे आत्माको 'अजः' (अजन्मा) कहकर उसमें 'उत्पत्ति' रूप विकारका अभाव बतलाया है। 'अयं भूत्वा पुनः न भविता' अर्थात् यह जन्म लेकर फिर सत्तावाला नहीं होता, बल्कि स्वभावसे ही सत् है—यह कहकर 'अस्तित्व'रूप विकारका, 'पुराणः' (चिरकालीन और सदा एकरस रहनेवाला) कहकर 'वृद्धि' रूप विकारका, 'शाश्वतः' (सदा एकरूपमें स्थित) कहकर विपरिणामका, 'नित्यः' (अखण्ड सत्तावाला) कहकर 'क्षय'का और 'शरीरे हन्यमाने न हन्यते' (शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता)—यह कहकर 'विनाश'का अभाव दिखलाया है।

सम्बन्ध—उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने यह बात कही कि आत्मा न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है; उसके अनुसार बीसवें श्लोकमें उसे विकाररहित बतलाकर इस बातका प्रतिपादन किया कि वह क्यों नहीं मारा जाता। अब अगले श्लोकमें यह बतलाते हैं कि वह किसीको मारता क्यों नहीं ?

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ? ॥ २१ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्‌के कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसमें भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो पुरुष आत्मस्वरूपको यथार्थ जान लेता है, जिसने इस तत्त्वका भलीभाँति अनुभव कर लिया है कि आत्मा अजन्मा, अविनाशी, अव्यय और नित्य है, वह कैसे किसको मारता है और कैसे किसीको मरवाता है ? अर्थात् मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित स्थूल शरीरके द्वारा दूसरे शरीरका नाश किये जानेमें वह यह कैसे मान सकता है कि मैं किसीको मार रहा हूँ या दूसरेके द्वारा किसीको मरवा रहा हूँ ? क्योंकि उसके ज्ञानमें सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व है, जो न मरता है और न मारा जा सकता है, न किसीको मारता है और न मरवाता है; अतएव यह मरना, मारना और मरवाना आदि सब कुछ अज्ञानसे ही आत्मामें अध्यारोपित हैं, वास्तवमें नहीं हैं । अतः किसीके लिये भी किसी प्रकार शोक करना नहीं बनता ।

सम्बन्ध—यहाँ यह शङ्का होती है कि आत्मा नित्य और अविनाशी है—उसका कभी नाश नहीं हो सकता, अतः उसके लिये शोक करना नहीं बन सकता और शरीर नाशवान् है—उसका नाश होना अवश्यम्भावी है, अतः उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता—यह सर्वथा ठीक है । किन्तु आत्माका जो एक शरीरसे सम्बन्ध छूटकर दूसरे शरीरसे सम्बन्ध होता है, उसमें उसे अत्यन्त कष्ट होता है; अतः उसके लिये शोक करना कैसे अनुचित है ? इसपर कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

प्रश्न—पुराने वस्त्रोंके त्याग और नवीन वस्त्रके धारण करनेमें मनुष्यको सुख होता है, किन्तु पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहणमें तो क्लेश होता है । अतएव इस उदाहरणकी सार्थकता यहाँ कैसे हो सकती है ?

उत्तर—पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहणमें अज्ञानीको ही दुःख होता है, विवेकीको नहीं । माता बालकके पुराने गंदे कपड़े उतारती है और नये पहनाती है तो वह रोता है; परन्तु माता उसके रोनेकी परवा न करके उसके हितके लिये कपड़े

बदल ही देती है। इसी प्रकार भगवान् भी जीवके हितार्थ उसके रोनेकी कुछ भी परवा न करके उसके देहको बदल देते हैं। अतएव यह उदाहरण उचित ही है।

प्रश्न—भगवान्ने यहाँ शरीरोंके साथ 'जीर्णानि' पदका प्रयोग किया है; परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि वृद्ध होनेपर (शरीर पुराना होनेपर) ही मनुष्यकी मृत्यु हो। नयी उम्रके जवान और बच्चे भी मरते देखे जाते हैं। अतएव यह उदाहरण भी युक्तियुक्त नहीं जँचता।

उत्तर—यहाँ 'जीर्णानि' पदसे अस्सी या सौ वर्षकी आयुसे तात्पर्य नहीं है। प्रारब्धवश युवा या बाल, जिस किसी अवस्थामें प्राणी मरता है, वही उसकी आयु समझी जाती है और आयुकी समाप्तिका नाम ही जीर्णावस्था है। अतएव यह उदाहरण भी सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

प्रश्न—यहाँ 'वासांसि' और 'शरीराणि' दोनों ही पद बहुवचनान्त हैं। कपड़ा बदलनेवाला मनुष्य तो एक साथ भी तीन-चार पुराने वस्त्र त्यागकर नये धारण कर सकता है; परन्तु देही यानी जीवात्मा तो एक ही पुराने शरीरको छोड़कर दूसरे एक ही नये शरीरको प्राप्त होता है। एक साथ बहुत-से शरीरोंका त्याग या ग्रहण युक्तिसे सिद्ध नहीं है। अतएव यहाँ शरीरके लिये बहुवचनका प्रयोग अनुचित प्रतीत होता है। इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—(क) जीवात्मा अबतक न जाने कितने शरीर छोड़ चुका है और कितने नये धारण कर चुका है तथा भविष्यमें भी जबतक उसे तत्त्वज्ञान न होगा तबतक न जाने कितने असंख्य पुराने शरीरोंका त्याग और नये शरीरोंको धारण करता रहेगा। इसलिये बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

(ख) स्थूल, सूक्ष्म और कारणभेदसे शरीर तीन हैं। जब जीवात्मा इस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है तब ये तीनों ही शरीर बदल जाते हैं। मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार ही उसका स्वभाव (प्रकृति) बनता जाता है। कारण-शरीरमें स्वभाव ही मुख्य है। प्रायः स्वभावके अनुसार ही अन्तकालमें सङ्कल्प होता है और सङ्कल्पके अनुसार ही सूक्ष्मशरीर बन जाता है। कारण और सूक्ष्म-शरीरके सहित ही यह जीवात्मा इस शरीरसे निकलकर सूक्ष्मके अनुरूप ही स्थूलशरीरको प्राप्त होता है। इसलिये स्थूल, सूक्ष्म और कारणभेदसे तीनों शरीरोंके परिवर्तन होनेके कारण भी बहुवचनका प्रयोग युक्तियुक्त ही है।

प्रश्न—आत्मा तो अचल है, उसमें गमनागमन नहीं होता; फिर देहीके दूसरे शरीरमें जानेकी बात कैसे कही गयी ?

उत्तर—वास्तवमें आत्माका, अचल और अक्रिय होनेके कारण, किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं होता; पर जैसे घड़ेको एक मकानसे दूसरे मकानमें ले जानेके समय उसके भीतरके आकाशका अर्थात् घटाकाशका भी घटके सम्बन्धसे गमनागमन-सा प्रतीत होता है, वैसे ही सूक्ष्मशरीरका गमनागमन होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्मामें भी गमनागमनकी प्रतीति होती है। अतएव लोगोंको समझानेके लिये आत्मामें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है। यहाँ 'देही' शब्द देहाभिमानी चेतनका वाचक है, अतएव देहके सम्बन्धसे उसमें भी गमनागमन होता-सा प्रतीत होता है। इसलिये देहीके अन्य शरीरोंमें जानेकी बात कही गयी।

प्रश्न—वस्त्रोंके लिये 'गृह्णाति' तथा शरीरके लिये 'संयाति' कहा है। एक ही क्रियासे काम चल जाता, क्योंकि दोनों समानार्थक हैं। फिर दो तरहका प्रयोग क्यों किया गया ?

उत्तर—दोनों क्रियाएँ समानार्थक होनेपर भी 'गृह्णाति' का मुख्य अर्थ 'ग्रहण करना' है और 'संयाति' का मुख्य अर्थ 'गमन करना' है । वस्त्र ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये यहाँ 'गृह्णाति' क्रिया दी गयी है और शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाना प्रतीत होता है, इसलिये 'संयाति' कहा गया है ।

प्रश्न—'नरः' और 'देही'—इन दो पदोंका प्रयोग क्यों किया गया, एकसे भी काम चल सकता था ?

उत्तर—'नरः' तथा 'देही' दोनों ही सार्थक हैं; क्योंकि वस्त्रका ग्रहण या त्याग 'नर' ही करता है, अन्य जीव नहीं । किन्तु एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमनागमन सभी जीवोंका होता है, इसलिये वस्त्रोंके साथ 'नरः' का तथा शरीरके साथ 'देही' का प्रयोग किया गया है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार एक शरीरसे दूसरे शरीरके प्राप्त होनेमें शोक करना अनुचित सिद्ध करके, अब भगवान् आत्माका स्वरूप दुर्विज्ञेय होनेके कारण पुनः तीन श्लोकोंद्वारा प्रकारान्तरसे उसकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन करते हुए उसके विनाशकी आशङ्कासे शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता ॥ २३ ॥

प्रश्न—इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकती, जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुन शस्त्र-अस्त्रोंद्वारा अपने गुरुजन और भाई-बन्धुओंके नाश होनेकी आशङ्कासे शोक कर रहे थे; अतएव उनके शोकको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने इस कथनसे निर्विकार आत्माका नित्यत्व और निराकारत्व सिद्ध किया है । अभिप्राय यह है कि शस्त्रोंके द्वारा शरीरको काटनेपर भी आत्मा नहीं कटता, अग्न्यस्त्रद्वारा शरीरको जला डालनेपर भी आत्मा नहीं जलता, वरुणास्त्रसे शरीर गला दिया जानेपर भी आत्मा नहीं गलता और वायव्यास्त्रके द्वारा शरीरको सुखा दिया जानेपर भी आत्मा नहीं सूखता । शरीर अनित्य एवं साकार वस्तु है, आत्मा नित्य और निराकार है; अतएव किसी भी अस्त्र-शस्त्रके द्वारा उसका नाश नहीं किया जा सकता ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है; यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसन्देह अशोष्य है । तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है ॥ २४ ॥

प्रश्न—पूर्वश्लोकमें यह बात कह दी गयी थी कि शस्त्रादिके द्वारा आत्मा नष्ट नहीं किया जा सकता; फिर इस श्लोकमें उसे दुबारा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने आत्मतत्त्वका शस्त्रादिद्वारा नाश न हो सकनेके कारणका प्रतिपादन किया है। अभिप्राय यह है कि आत्मा कटनेवाली, जलनेवाली, गलनेवाली और सूखनेवाली वस्तु नहीं है। वह अखण्ड, एकरस और निर्विकार है; इसलिये उसका नाश करनेमें शस्त्रादि कोई भी समर्थ नहीं हैं।

प्रश्न—अच्छेद्यादि शब्दोंसे आत्माका नित्यत्व प्रतिपादन करके फिर उसे नित्य, सर्वगत और सनातन कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अच्छेद्यादि शब्दोंसे जैसा अविनाशित्व सिद्ध होता है वह तो आकाशमें भी सिद्ध हो सकता है; क्योंकि आकाश अन्य समस्त भूतोंका कारण और उन सबमें व्याप्त होनेसे न तो पृथ्वी-तत्त्वसे बने हुए शस्त्रोंद्वारा काटा जा सकता है, न अग्निद्वारा जलाया जा सकता है, न जलसे गलाया जा सकता है और न वायुसे सुखाया ही जा सकता है। आत्माका अविनाशित्व उससे अत्यन्त विलक्षण है—इसी बातको सिद्ध करनेके लिये उसे नित्य, सर्वगत और सनातन कहा गया है। अभिप्राय यह है कि आकाश नित्य नहीं है, क्योंकि महाप्रलयमें उसका नाश हो जाता है और आत्माका कभी नाश नहीं होता, इसलिये वह नित्य है। आकाश सर्वव्यापी नहीं है, केवल अपने कार्यमात्रमें व्याप्त है और आत्मा सर्वव्यापी है। आकाश सनातन, सदासे रहनेवाला, अनादि नहीं है और आत्मा सनातन—अनादि है। इस प्रकार उपर्युक्त शब्दोंद्वारा आकाशसे आत्माकी अत्यन्त विलक्षणता दिखलायी गयी है।

प्रश्न—आत्माको स्थाणु और अचल कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—इससे आत्मामें चलना और हिलना दोनों क्रियाओंका अभाव दिखलाया है। एक ही स्थानमें स्थित रहते हुए काँपते रहना 'हिलना' है और एक जगहसे दूसरी जगह जाना 'चलना' है। इन दोनों क्रियाओंका ही आत्मामें अभाव है। वह न हिलता है और न चलता ही है; क्योंकि वह सर्वव्यापी है, कोई भी स्थान उससे खाली नहीं है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५॥

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥ २५॥

प्रश्न—आत्माको 'अव्यक्त' और 'अचिन्त्य' कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—आत्मा किसी भी इन्द्रियके द्वारा जाना नहीं जा सकता, इसलिये उसे 'अव्यक्त' कहते हैं और वह मनका भी विषय नहीं है, इसलिये उसे 'अचिन्त्य' कहा गया है।

प्रश्न—आत्माको 'अविकार्य' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—आत्माको 'अविकार्य' कहकर अव्यक्त प्रकृतिसे उसकी विलक्षणताका प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरण प्रकृतिके कार्य हैं, वे अपनी कारणरूपा प्रकृतिको विषय नहीं कर सकते, इसलिये प्रकृति भी अव्यक्त और अचिन्त्य है; किन्तु वह निर्विकार नहीं है, उसमें विकार होता है और आत्मामें कभी किसी भी अवस्थामें

विकार नहीं होता। अतएव प्रकृतिसे आत्मा अत्यन्त विलक्षण है।

प्रश्न—इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे नित्य, सर्वगत, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार जान लेनेके बाद उसके लिये शोक करना नहीं बन सकता।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माको अजन्मा और अविनाशी बतलाकर उसके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया; अब दो श्लोकोंद्वारा आत्माको औपचारिकरूपसे जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी उसके लिये शोक करना अनुचित है, ऐसा सिद्ध करते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरनेवाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो! तू इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है ॥२६॥

प्रश्न—'अथ' और 'च' दोनों अव्यय यहाँ किस अर्थमें हैं ? और इनके सहित 'एनम् नित्यजातम् वा नित्यम् मृतम् मन्यसे तथापि त्वम् शोचितुम् न अर्हसि' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अथ' और 'च' दोनों अव्यय यहाँ औपचारिक स्वीकृतिके बोधक हैं। इनके सहित उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि वास्तवमें आत्मा जन्मने और मरनेवाला नहीं है—यही बात यथार्थ है, तो भी, यदि तुम इस आत्माको सदा जन्मनेवाला अर्थात् प्रत्येक शरीरके संयोगमें प्रवाहरूपसे सदा जन्मनेवाला मानते हो तथा सदा मरनेवाला अर्थात् प्रत्येक शरीरके वियोगमें प्रवाहरूपसे सदा मरनेवाला मानते हो तो इस मान्यताके अनुसार भी तुम्हें उसके लिये इस प्रकार (जिसका वर्णन पहले अध्यायके अट्ठाईसवेंसे सैंतालीसवें श्लोकतक किया गया है) शोक करना नहीं चाहिये।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है। इससे भी इस बिना उपायवाले विषयमें तू शोक करनेको योग्य नहीं है ॥२७॥

प्रश्न—'हि' का यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'हि' हेतुके अर्थमें है। पूर्वश्लोकमें जिस मान्यताके अनुसार भगवान्‌ने शोक करना अनुचित बतलाया है, उसी मान्यताके अनुसार युक्तिपूर्वक उस बातको इस श्लोकमें सिद्ध करते हैं।

प्रश्न—जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित

है—यह बात तो ठीक है; क्योंकि जन्मा हुआ सदा नहीं रहता, इस बातको सभी जानते हैं। परन्तु यह बात कैसे कही कि जो मर गया है उसका जन्म निश्चित है? क्योंकि जो मुक्त हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता—यह प्रसिद्ध है (४। ९; ५। १७; ८। १५, १६, २१ इत्यादि)।

उत्तर—यहाँ भगवान् वास्तविक सिद्धान्तकी बात नहीं कह रहे हैं, भगवान्का यह कथन तो उन अज्ञानियों-की दृष्टिसे है जो आत्माका जन्मना-मरना नित्य मानते हैं। उनके मतानुसार जो मरणधर्मा है, उसका जन्म होना निश्चित ही है; क्योंकि उस मान्यतामें किसीकी मुक्ति नहीं हो सकती। जिस वास्तविक सिद्धान्तमें मुक्ति मानी गयी है, उसमें आत्माको जन्मने-मरनेवाला भी नहीं माना गया है, जन्मना-मरना सब अज्ञानजनित ही है।

प्रश्न—'तस्मात्' पदका क्या अभिप्राय है? तथा 'अपरिहार्ये अर्थे' का क्या भाव है और उसके लिये शोक करना अनुचित क्यों है?

उत्तर—'तस्मात्' पद हेतुवाचक है। इसका प्रयोग करके 'अपरिहार्ये अर्थे' से यह दिखलाया है कि उपर्युक्त मान्यताके अनुसार आत्माका जन्म और मृत्यु निश्चित होनेके कारण वह बात अनिवार्य है, उसमें उलट-फेर होना असम्भव है; ऐसी स्थितिमें निरुपाय बातके लिये शोक करना नहीं बनता। अतएव इस दृष्टिसे भी तुम्हारा शोक करना सर्वथा अनुचित है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंद्वारा जो आत्माको नित्य, अजन्मा, अविनाशी मानते हैं और जो सदा जन्मने-मरने-वाला मानते हैं, उन दोनोंके मतसे ही आत्माके लिये शोक करना नहीं बनता—यह बात सिद्ध की गयी। अब अगले श्लोकमें यह सिद्ध करते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंको उद्देश्य करके भी शोक करना नहीं बनता—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥२८॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है?॥२८॥

प्रश्न—'भूतानि' पद यहाँ किनका वाचक है? और उनके साथ 'अव्यक्तादीनि', 'अव्यक्तनिधनानि' और 'व्यक्तमध्यानि'—इन विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'भूतानि' पद यहाँ प्राणिमात्रका वाचक है। उनके साथ 'अव्यक्तादीनि' विशेषण जोड़कर यह भाव दिखलाया है कि आदिमें अर्थात् जन्मसे पहले इनका वर्तमान स्थूलशरीरोंसे सम्बन्ध नहीं था; 'अव्यक्त-निधनानि' से यह भाव दिखलाया है कि अन्तमें अर्थात् मरनेके बाद भी स्थूल शरीरोंसे इनका सम्बन्ध नहीं रहेगा और 'व्यक्तमध्यानि' से यह भाव दिखलाया है कि केवल जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त बीचकी अवस्थामें ही ये व्यक्त हैं अर्थात् इनका शरीरोंके साथ सम्बन्ध है।

प्रश्न—'तत्र का परिदेवना' का क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जैसे स्वप्नकी सृष्टि स्वप्नकालसे पहले या पीछे नहीं है, केवल स्वप्नकालमें ही मनुष्यका उसके साथ सम्बन्ध-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार जिन शरीरोंके साथ केवल बीचकी अवस्थामें ही सम्बन्ध होता है, नित्य सम्बन्ध नहीं है, उनके लिये क्या शोक करना है? महाभारत-स्त्रीपर्वके दूसरे अध्यायमें विदुरने भी यह बात इस प्रकार कही है—

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।
नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना॥

अर्थात् जिनको तुम अपने मान रहे हो, ये सब अदर्शनसे आये हुए थे यानी जन्मसे पहले अप्रकट थे और पुनः अदर्शनको प्राप्त हो गये। अतः वास्तवमें न ये तुम्हारे हैं और न तुम इनके हो; फिर इस विषयमें शोक कैसा?

सम्बन्ध—आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्बोध होनेके कारण उसे समझानेके लिये भगवान्‌ने उपर्युक्त श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे उसके स्वरूपका वर्णन किया; अब अगले श्लोकमें उस आत्मतत्त्वके दर्शन, वर्णन और श्रवणकी दुर्लभताका निरूपण करते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२९॥*

कोई एक महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्वका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता॥२९॥

प्रश्न—'कश्चित् एनम् आश्चर्यवत् पश्यति' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि आत्मा आश्चर्यमय है, इसलिये उसे देखनेवाला संसारमें कोई विरला ही होता है और वह उसे आश्चर्यकी भाँति देखता है। जैसे मनुष्य लौकिक दृश्य वस्तुओंको मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा इदंबुद्धिसे देखता है, आत्मदर्शन वैसा नहीं है; आत्माका देखना अद्भुत और अलौकिक है। जब एकमात्र चेतन आत्मासे भिन्न किसीकी सत्ता ही नहीं रहती, उस समय आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही अपनेको देखता है। उस दर्शनमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटी नहीं रहती; इसलिये वह देखना 'आश्चर्यवत्' है।

प्रश्न—'तथा एव अन्यः आश्चर्यवत् वदति' इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि

* इसी श्लोकसे मिलता-जुलता कठोपनिषद्‌का मन्त्र इस प्रकार है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ (१।२।७)

'जो (आत्मतत्त्व) बहुतोंको सुननेके लिये भी नहीं मिलता और बहुत-से सुननेवाले भी जिसे नहीं जान पाते, उस आत्माका वर्णन करनेवाला कोई आश्चर्यमय पुरुष ही होता है। उसे प्राप्त करनेवाला निपुण पुरुष भी कोई एक ही होता है तथा उसका ज्ञाता भी कोई कुशल आचार्यद्वारा उपदिष्ट आश्चर्यमय पुरुष ही होता है।'

आत्मसाक्षात् कर चुकनेवाले सभी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष दूसरोंको समझानेके लिये आत्माके स्वरूपका वर्णन नहीं कर सकते। जो महापुरुष श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ दोनों होते हैं, वे ही आत्माका वर्णन कर सकते हैं और उनका वर्णन करना भी आश्चर्यकी भाँति होता है। अर्थात् जैसे किसीको समझानेके लिये लौकिक वस्तुके स्वरूपका वर्णन किया जाता है, उस प्रकार आत्माका वर्णन नहीं किया जा सकता; उसका वर्णन अलौकिक और अद्भुत होता है।

जितने भी उदाहरणोंसे आत्मतत्त्व समझाया जाता है, उनमेंसे कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे आत्मतत्त्वको समझानेवाला नहीं है। उसके किसी एक अंशको ही उदाहरणोंद्वारा समझाया जाता है, क्योंकि आत्माके सदृश अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, इस अवस्थामें कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे कैसे लागू हो सकता है? तथापि विधिमुख और निषेधमुख आदि बहुत-से आश्चर्यमय सङ्केतोंद्वारा महापुरुष उसका लक्ष्य कराते हैं, यही उनका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करना है। वास्तवमें आत्मा वाणीका अविषय होनेके कारण स्पष्ट शब्दोंमें वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता।

प्रश्न—'अन्य: एनम् आश्चर्यवत् शृणोति' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस आत्माके वर्णनको सुननेवाला सदाचारी शुद्धचित्त श्रद्धालु आस्तिक पुरुष भी कोई विरला ही होता है और उसका सुनना भी आश्चर्यकी भाँति है। अर्थात् जिन पदार्थोंको वह पहले सत्य, सुखरूप और रमणीय समझता था तथा जिन शरीरादिको अपना स्वरूप मानता था, उन सबको अनित्य, नाशवान्, दु:खरूप और जड तथा आत्माको उनसे सर्वथा विलक्षण सुनकर उसे बड़ा भारी आश्चर्य होता है; क्योंकि वह तत्त्व उसका पहले कभी सुना या समझा हुआ नहीं होता तथा किसी भी लौकिक वस्तुसे उसकी समानता नहीं होती, इस कारण वह उसे बहुत ही अद्भुत मालूम होता है। तथा वह उस तत्त्वको तन्मय होकर सुनता है और सुनकर मुग्ध-सा हो जाता है, उसकी वृत्तियाँ दूसरी ओर नहीं जातीं—यही उसका आश्चर्यकी भाँति सुनना है।

प्रश्न—'श्रुत्वा अपि एनम् न एव वेद' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिसके अन्त:करणमें पूर्ण श्रद्धा और आस्तिकभाव नहीं होता, जिसकी बुद्धि शुद्ध और सूक्ष्म नहीं होती—ऐसा मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर भी संशय और विपरीत भावनाके कारण इसके स्वरूपको यथार्थ नहीं समझ सकता; अतएव इस आत्मतत्त्वका समझना बड़ा ही दुर्लभ है।

प्रश्न—'आश्चर्यवत्' पद यहाँ आत्माका विशेषण है या उसे देखने, कहने और सुननेवालोंका अथवा देखना, वर्णन करना और श्रवण करना—इन क्रियाओंका?

उत्तर—'आश्चर्यवत्' पद यहाँ देखना, सुनना आदि क्रियाओंका विशेषण है; क्रियाविशेषण होनेसे उसका भाव कर्त्ता और कर्ममें अपने-आप ही आ जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्मतत्त्वके दर्शन, वर्णन और श्रवणकी दुर्लभताका प्रतिपादन करके अब, आत्मा नित्य और अवध्य है; अत: किसी भी प्राणीके लिये शोक करना उचित नहीं है—यह बतलाते हुए भगवान् सांख्ययोगके प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे अर्जुन ! यह आत्मा सबके शरीरोंमें सदा ही अवध्य है। इसलिये सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

प्रश्न—'अयम् देही सर्वस्य देहे नित्यम् अवध्यः' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यमें भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त प्राणियोंके जितने भी शरीर हैं, उन समस्त शरीरोंमें एक ही आत्मा है। शरीरोंके भेदसे अज्ञानके कारण आत्मामें भेद प्रतीत होता है, वास्तवमें भेद नहीं है। और वह आत्मा सदा ही अवध्य है, उसका कभी किसी भी साधनसे कोई भी नाश नहीं कर सकता।

प्रश्न—'तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुम् अर्हसि' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यमें हेतुवाचक 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकरणमें यह बात भलीभाँति सिद्ध हो चुकी कि आत्मा सदा-सर्वदा अविनाशी है, उसका नाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है; इसलिये तुम्हें किसी भी प्राणीके लिये शोक करना उचित नहीं है। क्योंकि जब उसका नाश किसी भी कालमें किसी भी साधनसे हो ही नहीं सकता, तब उसके लिये शोक करनेका अवकाश ही कहाँ है ? अतएव तुम्हें किसीके भी नाशकी आशङ्कासे शोक न करके युद्धके लिये तैयार हो जाना चाहिये।

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने सांख्ययोगके अनुसार अनेक युक्तियोंद्वारा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सम, निर्विकार और अकर्त्ता आत्माके एकत्व, नित्यत्व, अविनाशित्व आदिका प्रतिपादन करके तथा शरीरोंको विनाशशील बतलाकर आत्माके या शरीरोंके लिये अथवा शरीर और आत्माके वियोगके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया। साथ ही प्रसङ्गवश आत्माको जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी शोक करनेके अनौचित्यका प्रतिपादन किया और अर्जुनको युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी। अब सात श्लोकोंद्वारा क्षात्रधर्मके अनुसार शोक करना अनुचित सिद्ध करते हुए अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेयोग्य नहीं है यानी तुझे भय नहीं करना चाहिये। क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—'स्वधर्मम् अवेक्ष्य अपि विकम्पितुम् न अर्हसि' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यमें 'अपि' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि आत्माको नित्य और शरीरोंको अनित्य समझ लेनेके बाद शोक करना या युद्धादिसे भयभीत होना उचित नहीं है, यह बात तो मैंने तुमको समझा ही दी है; उसके अतिरिक्त यदि तुम अपने वर्णधर्मकी ओर देखो तो भी तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये, क्योंकि युद्धसे विमुख न होना क्षत्रियका स्वाभाविक धर्म है (१८।४३)।

प्रश्न—'हि' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'हि' पद यहाँ हेतुवाचक है। अभिप्राय यह है कि भयभीत क्यों नहीं होना चाहिये, इसकी पुष्टि उत्तरार्द्धमें की जाती है।

प्रश्न—'धर्म्यात् युद्धात् अन्यत् श्रेयः क्षत्रियस्य न विद्यते' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इसमें 'युद्धात्'के साथ 'धर्म्यात्' विशेषण देकर भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जिस युद्धका आरम्भ अनीति या लोभके कारण नहीं किया गया हो एवं जिसमें अन्यायाचरण नहीं किया जाता हो किन्तु जो धर्मसंगत हो, कर्तव्यरूपसे प्राप्त हो और न्यायानुकूल किया जाता हो, ऐसा युद्ध ही क्षत्रियके लिये अन्य समस्त धर्मोंकी अपेक्षा अधिक कल्याणकारक है। क्षत्रियके लिये उससे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणप्रद धर्म नहीं है, क्योंकि धर्ममय युद्ध करनेवाला क्षत्रिय अनायास ही स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त कर सकता है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥

हे पार्थ ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं ॥३२॥

प्रश्न—'पार्थ' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुनको 'पार्थ' नामसे सम्बोधित करके भगवान्, उनकी माता कुन्तीने हस्तिनापुरसे आते समय जो सन्देश कहलाया था, उसकी पुनः स्मृति दिलाते हैं। उस समय कुन्तीने भगवान्‌से कहा था—

एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः॥
(महा० उ० १३७।९-१०)

अर्थात् 'धनञ्जय अर्जुनसे और सदा कमर कसे तैयार रहनेवाले भीमसे तुम यह बात कहना कि जिस कार्यके लिये क्षत्रिय-माता पुत्र उत्पन्न करती है, अब उसका समय सामने आ गया है।'

प्रश्न—यहाँ 'युद्धम्'के साथ 'यदृच्छयोपपन्नम्' विशेषण देकर उसे 'अपावृतम् स्वर्गद्वारम्' कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'यदृच्छयोपपन्नम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि तुमने यह युद्ध जान-बूझकर खड़ा नहीं किया है। तुमलोगोंने तो सन्धि करनेकी बहुत चेष्टा की, किन्तु जब किसी प्रकार भी तुम्हारा धरोहरके रूपमें रक्खा हुआ राज्य बिना युद्धके वापस लौटा देनेको दुर्योधन राजी नहीं हुआ—उसने स्पष्ट कह दिया कि सूईकी नोक टिके इतनी जमीन भी मैं पाण्डवोंको नहीं दूँगा (महा० उद्योग० १२७।२५), तब तुमलोगोंको बाध्य होकर युद्धका आयोजन करना पड़ा; अतः यह युद्ध तुम्हारे लिये 'यदृच्छयोपपन्नम्' अर्थात् बिना इच्छा किये अपने-आप प्राप्त है। तथा 'अपावृतम् स्वर्गद्वारम्' विशेषण देकर यह दिखलाया है कि यह खुला हुआ स्वर्गका द्वार है, ऐसे धर्मयुद्धमें मरनेवाला मनुष्य सीधा स्वर्गमें जाता है, उसके मार्गमें कोई भी रोक-टोक नहीं कर सकता।

प्रश्न—'ईदृशम् युद्धम् सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यमें 'ईदृशम्'के सहित 'युद्धम्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि ऐसा धर्ममय युद्ध जो कि अपने-आप कर्तव्यरूपसे प्राप्त

हुआ है और खुला हुआ स्वर्गद्वार है, हरेक क्षत्रियको नहीं मिल सकता। यह तो किन्हीं बड़े भाग्यशाली क्षत्रियोंको ही मिला करता है। अतएव तुम्हारा बड़ा ही सौभाग्य है जो कि तुम्हें ऐसा धर्ममय युद्ध अनायास ही मिल गया है, अतएव अब तुम्हें इससे हटना नहीं चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार धर्ममय युद्ध करनेमें लाभ दिखलानेके बाद अब उसे न करनेमें हानि दिखलाते हुए भगवान् अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हैं—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

और यदि तू इस धर्मयुक्त युद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

प्रश्न—'अथ' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अथ' पद यहाँ पक्षान्तरमें है। अभिप्राय यह है कि अब प्रकारान्तरसे युद्धकी कर्तव्यता सिद्ध की जाती है।

प्रश्न—'संग्रामम्'के साथ 'इमम्' और 'धर्म्यम्'—इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके यह कहनेका क्या अभिप्राय है कि यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यह युद्ध धर्ममय होनेके कारण अवश्यकर्तव्य है, यह बात तुम्हें अच्छी तरह समझा दी गयी; इसपर भी यदि तुम किसी कारणसे युद्ध न करोगे तो तुम्हारे द्वारा 'स्वधर्मका त्याग' होगा और निवातकवचादि दानवोंके साथ युद्धमें विजय पानेके कारण तथा भगवान् शिवजीके साथ युद्ध करनेके कारण तुम्हारी जो संसारमें बड़ी भारी कीर्ति छायी है, वह भी नष्ट हो जायगी। इसके सिवा कर्तव्यका त्याग करनेके कारण तुम्हें पाप भी होगा ही; अतएव तुम जो पापके भयसे युद्धका त्याग कर रहे हो और भयभीत हो रहे हो, यह सर्वथा अनुचित है।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

तथा सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्तिका भी कथन करेंगे। और माननीय पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है ॥ ३४ ॥

प्रश्न—'भूतानि ते अव्ययाम् अकीर्तिम् अपि कथयिष्यन्ति' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यमें 'अपि' पदका प्रयोग करके भगवान्ने यह दिखलाया है कि केवल स्वधर्म और कीर्तिका नाश होगा और तुम्हें पाप लगेगा, इतना ही नहीं; साथ ही देवता, ऋषि और मनुष्यादि सभी लोग तुम्हारी बहुत प्रकारसे निन्दा भी करेंगे। और वह अपकीर्ति ऐसी नहीं होगी जो थोड़े दिन होकर रह जाय;

वह अनन्त कालतक बनी रहेगी। अतएव तुम्हारे लिये युद्धका त्याग सर्वथा अनुचित है।

प्रश्न—'सम्भावितस्य अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यदि कदाचित् तुम यह मानते होओ कि अकीर्ति होनेमें हमारी क्या हानि है? तो ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। जो पुरुष संसारमें प्रसिद्ध हो जाता है, जिसे बहुत लोग श्रेष्ठ मानते हैं, ऐसे पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर दुःखदायिनी हुआ करती है। अतएव जब वैसी अकीर्ति होगी तब तुम उसे सहन न कर सकोगे; क्योंकि तुम संसारमें बड़े शूरवीर और श्रेष्ठ पुरुषके नामसे विख्यात हो, स्वर्गसे लेकर पातालतक सभी जगह तुम्हारी प्रतिष्ठा है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥३५॥

और जिनकी दृष्टिमें तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुताको प्राप्त होगा, वे महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे विरत हुआ मानेंगे॥३५॥

प्रश्न—'येषाम्' पद यहाँ किनका वाचक है? और उसके सहित 'त्वं बहुमतो भूत्वा लाघवं यास्यसि' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—'येषाम्' पद यहाँ दोनों सेनाओंके बड़े-बड़े सभी महारथियोंका वाचक है और इसके सहित उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि भीष्म, द्रोण और शल्य आदि तथा विराट, द्रुपद, सात्यकि और धृष्टद्युम्नादि महारथीगण, जो तुम्हारी बहुत प्रतिष्ठा करते आये हैं, तुम्हें बड़ा भारी शूरवीर, महान् योद्धा और धर्मात्मा मानते हैं, युद्धका त्याग करनेसे तुम उनकी दृष्टिमें गिर जाओगे—वे तुमको कायर समझने लगेंगे।

प्रश्न—'महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने महारथियोंकी दृष्टिमें अर्जुनके गिर जानेका ही स्पष्टीकरण किया है। अभिप्राय यह है कि वे महारथीलोग यह नहीं समझेंगे कि अर्जुन अपने स्वजनसमुदायपर दया करके या युद्धको पाप समझकर उसका परित्याग कर रहे हैं; वे तो यही समझेंगे कि ये भयभीत होकर अपने प्राण बचानेके लिये युद्धका त्याग कर रहे हैं। इस परिस्थितिमें युद्ध न करना तुम्हारे लिये किसी तरह भी उचित नहीं है।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥३६॥

और तेरे वैरीलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे बहुत-से न कहनेयोग्य वचन कहेंगे; उससे अधिक दुःख और क्या होगा ?॥ ३६॥

प्रश्न—चौंतीसवें श्लोकमें यह बात कह ही दी थी कि सभी प्राणी तुम्हारी निन्दा करेंगे; फिर यहाँ यह कहनेमें क्या विशेषता है कि तुम्हारे शत्रुलोग तुम्हारे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुम्हें बहुत-से न कहने-योग्य वचन कहेंगे ?

उत्तर—चौंतीसवें श्लोकमें सर्वसाधारणके द्वारा सदा

की जानेवाली निन्दाका वर्णन है और यहाँ दुर्योधनादि शत्रुओंद्वारा मुँहपर कहे जानेवाले निन्दायुक्त दुर्वचनोंकी बात है। वह निन्दा तो केवल माननीय पुरुषोंके लिये ही अधिक दुःखदायिनी होती है, सबके लिये नहीं। किन्तु अपने मुँहपर शत्रुओंके दुर्वचनोंको सुनकर तो कायर मनुष्यको भी भयङ्कर दुःख होता है। इसलिये भगवान्‌का कहना है कि केवल जगत्‌में तुम्हारी निन्दा होगी और तुम्हें जो अबतक बड़ा शूरवीर मानते थे वे कायर समझने लगेंगे, इतनी ही बात नहीं है; जो तुम्हारा अहित चाहनेवाले हैं, तुम्हारी हानिसे जिनको हर्ष होता है, वे तुम्हारे वैरी दुर्योधनादि तुम्हारे बल, पराक्रम और युद्धकौशल आदिकी निन्दा करते हुए तुमपर भाँति-भाँतिके असह्य वाग्बाणोंकी वर्षा करेंगे, वे कहेंगे—अर्जुन किस दिनका वीर है, वह तो जन्मका ही नपुंसक है। उसके गाण्डीव धनुषको और उसके पौरुषको धिक्कार है!

प्रश्न—'नु' अव्ययके सहित 'ततो दुःखतरं किम्' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने उपर्युक्त घटनाके परिणामको महान् दुःखमय सिद्ध किया है। अभिप्राय यह है कि इससे बढ़कर दुःख तुम्हारे लिये और क्या होगा; अतएव अभी तुम जो युद्धके त्यागमें सुख समझ रहे हो और युद्ध करनेमें दुःख मान रहे हो, यह तुम्हारी भूल है। युद्धका त्याग करनेमें ही तुम्हारे लिये सबसे अधिक दुःख है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त बहुत-से हेतुओंको दिखलाकर युद्ध न करनेमें अनेक प्रकारकी हानियोंका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् युद्ध करनेमें दोनों तरहसे लाभ दिखलाते हुए अर्जुनको युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा देते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥३७॥

या तो तू युद्धमें मारा जाकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा। इस कारण हे अर्जुन! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा॥३७॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है?

उत्तर—छठे श्लोकमें अर्जुनने यह बात कही थी कि मेरे लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है या न करना तथा युद्धमें हमारी विजय होगी या हमारे शत्रुओंकी, इसका मैं निर्णय नहीं कर सकता; उसका उत्तर देते हुए भगवान् इस वाक्यसे युद्ध करते-करते मर जानेमें अथवा विजय प्राप्त कर लेनेमें—दोनोंमें ही लाभ दिखलाकर अर्जुनके लिये युद्धका श्रेष्ठत्व सिद्ध करते हैं। अभिप्राय यह है कि यदि युद्धमें तुम्हारे शत्रुओंकी जीत हो गयी और तुम मारे गये तो भी अच्छी बात है, क्योंकि युद्धमें प्राणत्याग करनेसे तुम्हें स्वर्ग मिलेगा और यदि विजय प्राप्त कर लोगे तो पृथ्वीका राज्यसुख भोगोगे; अतएव दोनों ही दृष्टियोंसे तुम्हारे लिये तो युद्ध करना ही सब प्रकारसे श्रेष्ठ है। इसलिये तुम युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो जाओ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्‌ने युद्धका फल राज्यसुख या स्वर्गकी प्राप्तितक बतलाया; किन्तु अर्जुनने तो पहले ही कह दिया था कि इस लोकके राज्यकी तो बात ही क्या है, मैं त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपने

कुलका नाश नहीं करना चाहता। अतः जिसे राज्यसुख और स्वर्गकी इच्छा न हो उसको किस प्रकार युद्ध करना चाहिये, यह बात अगले श्लोकमें बतलायी जाती है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

प्रश्न—जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझना क्या है?

उत्तर—युद्धमें होनेवाले जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखमें किसी तरहकी भेदबुद्धिका न होना अर्थात् उनके कारण मनमें राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि किसी प्रकारके विकारोंका न होना ही उन सबको समान समझना है।

प्रश्न—'ततः युद्धाय युज्यस्व' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि तुमको राज्यसुख और स्वर्गकी इच्छा नहीं है तो युद्धमें होनेवाले विषमभावका सर्वथा त्याग करके उपर्युक्त प्रकारसे युद्धके प्रत्येक परिणाममें सम होकर उसके बाद तुम्हें युद्ध करना चाहिये। ऐसा युद्ध सदा रहनेवाली परम शान्तिको देनेवाला है।

प्रश्न—'एवं पापं न अवाप्स्यसि' इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने अर्जुनके उन वचनोंका उत्तर दिया है जिनमें अर्जुनने युद्धमें स्वजन-वधको महान् पापकर्म बतलाया है और ऐसा बतलाकर युद्ध न करना ही उचित सिद्ध किया है (१। ३६, ३९, ४५)। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारसे युद्ध करनेपर तुम्हें किसी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी पाप नहीं लगेगा।

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने सांख्ययोगके सिद्धान्तसे तथा क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्धका औचित्य सिद्ध करके अर्जुनको समतापूर्वक युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी; अब कर्मयोगके सिद्धान्तसे युद्धका औचित्य बतलानेके लिये कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन—जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धनको भलीभाँति त्याग देगा यानी सर्वथा नष्ट कर डालेगा ॥३९॥

प्रश्न–यहाँ 'एषा' विशेषणके सहित 'बुद्धिः' पद किस बुद्धिका वाचक है और 'यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको जिस समभावसे युक्त होकर युद्ध करनेके लिये कहा है, उसी समत्वका वाचक यहाँ 'एषा' पदके सहित 'बुद्धिः' पद है; क्योंकि 'एषा' पद अत्यन्त निकटवर्ती वस्तुका लक्ष्य करानेवाला है। अतएव इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि ज्ञानयोगके साधनसे यह समभाव किस प्रकार प्राप्त होता है, ज्ञानयोगीको आत्माके यथार्थ स्वरूपको विवेकद्वारा समझकर इस समभावसे युक्त रहते हुए ज्ञानयोगकी दृष्टिसे किस प्रकार वर्णाश्रमोचित विहित कर्म करने चाहिये–ये सब बातें ग्यारहवें श्लोकसे लेकर तीसवें श्लोकतक बतला दी गयीं।

प्रश्न–ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतकके प्रकरणमें इस समभावका वर्णन किस प्रकार किया गया है ?

उत्तर–आत्माके यथार्थ स्वरूपको न जाननेके कारण ही मनुष्यका समस्त पदार्थोंमें विषमभाव हो रहा है। जब आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझ लेनेपर उसकी दृष्टिमें आत्मा और परमात्माका भेद नहीं रहता और एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसीकी सत्ता नहीं रहती, तब उसकी किसीमें भेदबुद्धि हो ही कैसे सकती है। इसीलिये भगवान्ने एकादश श्लोकमें मरने और जीवित रहनेमें भ्रममूलक इस विषमभाव या भेदबुद्धिके कारण होनेवाले शोकको सर्वथा अनुचित बतलाकर उस शोकसे रहित होनेके लिये सङ्केत किया, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें आत्माके नित्यत्व और असङ्गत्वका प्रतिपादन करते हुए यह दिखलाया कि प्राणियोंके मरनेमें और जीवित रहनेमें जो भेद प्रतीत होता है, यह अज्ञानजनित है, आत्मज्ञानी धीर पुरुषोंमें यह भेदबुद्धि नहीं रहती; क्योंकि आत्मा सम, निर्विकार और नित्य है। तदनन्तर शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंके द्वारा भेदबुद्धि उत्पन्न करनेवाले शब्दादि समस्त विषय-संयोगोंको अनित्य बतलाकर अर्जुनको उन्हें सहन करनेके लिये–उनमें सम रहनेके लिये कहा (२।१४) और सुख-दुःखादिको सम समझनेवाले पुरुषकी प्रशंसा करके उसे परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बतलाया (२।१५)। इसके बाद सत्यासत्य वस्तुका निर्णय करके अर्जुनको युद्धके लिये आज्ञा देकर (२।१६–१८) अगले श्लोकोंमें आत्माको मरने-मारनेवाला माननेवालोंको अज्ञानी बतलाकर आत्माके निर्विकारत्व, अकर्तृत्व और नित्यत्वका प्रतिपादन करते हुए यह बात सिद्ध कर दी कि शरीरोंके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता; इसलिये इस मरने और जीनेमें विषमभाव करके तुम्हें किसी भी प्राणीके लिये किञ्चिन्मात्र भी शोक करना उचित नहीं है(२।१९-३०)। इस प्रकार उक्त प्रकरणमें सत्य और असत्य पदार्थोंके विवेचनद्वारा आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेसे होनेवाले समत्वका प्रतिपादन किया गया है।

प्रश्न–'इमाम्' पद किस बुद्धिका वाचक है और अब तू इसको योगके विषयमें सुन, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर–'इमाम्' पद भी उसी पूर्वश्लोकमें वर्णित समभावका वाचक है। अतः उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वही समभाव कर्मयोगके साधनमें किस प्रकार होता है, कर्मयोगीको किस प्रकार समभाव रखना चाहिये और उस समत्वका क्या फल है–ये सब बातें मैं अब अगले श्लोकसे तुम्हें बतलाना आरम्भ करता हूँ; अतएव तू उन्हें सुननेके लिये सावधान हो जा।

प्रश्न–यदि यही बात है तो ३१वेंसे ३७वें श्लोकतकका प्रकरण किसलिये है ?

उत्तर–यह प्रकरण अर्जुनको यह समझानेके लिये

है कि तुम क्षत्रिय हो, युद्ध तुम्हारा स्वधर्म है, उसका त्याग तुम्हारे लिये सर्वथा अनुचित है और उसका करना सर्वथा लाभप्रद है। और ३८वें श्लोकमें यह बात समझायी गयी है कि जब युद्ध करना ही है तो उसे ऐसी युक्तिसे करना चाहिये जिससे वह बन्धनका हेतु न बन सके। इसीलिये ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनों ही साधनोंमें समभावसे युक्त होना आवश्यक बतलाया गया है। और इस श्लोकमें उसका दोनों प्रकारके साधनोंसे देहली-दीपकन्यायसे सम्बन्ध दिखलाया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'कर्मबन्धम्' पदका क्या अर्थ है और उपर्युक्त समत्वबुद्धिसे उसका नाश कर देना क्या है ?

उत्तर—जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंसे यह जीव बँधा है। तथा इस मनुष्यशरीरमें पुनः अहंता, ममता, आसक्ति और कामनासे नये-नये कर्म करके और भी अधिक जकड़ा जाता है। अतः यहाँ इस जीवात्माको बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें घुमानेके और नाना प्रकारकी योनियोंमें उत्पन्न करनेके हेतुभूत जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके सञ्चित संस्कारसमुदायका वाचक 'कर्मबन्धम्' पद है। कर्मयोगकी विधिसे समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके तथा सिद्धि और असिद्धिमें समभाव होकर यानी राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकारोंसे रहित होकर जो इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए तथा वर्तमानमें किये जानेवाले समस्त कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्तिको नष्ट कर देना—उन कर्मोंको भूने हुए बीजकी भाँति भस्म कर देना है—यही उपर्युक्त बुद्धिसे कर्मबन्धनको सर्वथा नष्ट कर डालना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करके अब उसका रहस्यपूर्ण महत्त्व बतलाते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है। बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उबार लेता है॥४०॥

प्रश्न—इस कर्मयोगमें आरम्भका नाश नहीं है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि यदि मनुष्य इस कर्मयोगके साधनका आरम्भ करके उसके पूर्ण होनेके पहले बीचमें ही त्याग कर दे तो जिस प्रकार किसी खेती करनेवाले मनुष्यके खेतमें बीज बोकर उसकी रक्षा न करनेसे या उसमें जल न सींचनेसे वे बीज नष्ट हो जाते हैं और जम जानेपर यथासमय अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं, उस प्रकार इस कर्मयोगके आरम्भका नाश नहीं होता, इसके संस्कार साधकके अन्तःकरणमें स्थित हो जाते हैं और वे साधकको दूसरे जन्ममें जबरदस्ती पुनः साधनमें लगा देते हैं (६।४३-४४)। इसका विनाश नहीं होता, इसीलिये भगवान्‌ने कर्मयोगको सत् कहा है (१७।२७)।

प्रश्न—इसमें प्रत्यवाय यानी उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जहाँ कामनायुक्त कर्म होता है, वहाँ उसके अच्छे-बुरे

फलकी सम्भावना होती है; इसमें कामनाका सर्वथा अभाव है, इसलिये इसमें प्रत्यवाय (अर्थात् विपरीत फल) भी नहीं होता। सकामभावसे देव, पितृ, मनुष्य आदिकी सेवामें किसी कारणवश त्रुटि हो जानेपर उनके रुष्ट होनेसे साधकका अनिष्ट भी हो सकता है; किन्तु स्वार्थरहित यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि कर्मोंके पालनमें त्रुटि रहनेपर भी उसका विपरीत फलरूप अनिष्ट नहीं होता। अथवा जैसे रोगनाशके लिये सेवन की हुई ओषधि अनुकूल न पड़नेसे रोगका नाश करनेवाली न होकर रोगको बढ़ानेवाली हो जाती है, उस प्रकार इस कर्मयोगके साधनका विपरीत परिणाम नहीं होता (६।४०)। अर्थात् यदि वह पूर्ण न होनेके कारण इस जन्ममें साधकको परमपदकी प्राप्ति न करा सके तो भी उसके पालन करनेवाले मनुष्यको न तो पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप या इस जन्ममें होनेवाले आनुषङ्गिक हिंसादिके फलस्वरूप तिर्यक्योनि या नरकोंका ही भोग करना पड़ता है और न अपने पूर्वकृत शुभ कर्मोंके फलरूप इस लोक या परलोकके सुखभोगसे वञ्चित ही रहना पड़ता है। वह पुरुष पुण्यवानोंके उत्तम लोकोंको ही प्राप्त होता है और वहाँ बहुत कालतक निवास करके पुनः श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है (६।४१) पहलेके अभ्याससे और पुनः उस साधनमें प्रवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—'प्रत्यवायो न विद्यते' का कर्मयोगमें विघ्न (बाधा, रुकावट) नहीं आता, ऐसा अर्थ ले लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—पूर्वजन्मके पापके कारण विषयभोगोंका एवं प्रमादी, विषयी और नास्तिक पुरुषोंका संग होनेसे साधनमें विघ्न तो आ सकता है; किन्तु निष्काम कर्मका परिणाम बुरा नहीं होता। इसलिये विपरीत फलरूप दोष नहीं होता, यही अर्थ लेना ठीक है।

प्रश्न—'अस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें 'योग' के नामसे जिसका वर्णन किया गया है, यह उसी कर्मयोगका वाचक है।

प्रश्न—कर्मयोग किसको कहते हैं ?

उत्तर—शास्त्रविहित उत्तम क्रियाका नाम 'कर्म' है और समभावका नाम 'योग' है (२।४८); अतः ममता-आसक्ति, काम-क्रोध और लोभ-मोह आदिसे रहित होकर जो समतापूर्वक अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करना है, वही कर्मयोग है। इसीको समत्वयोग, बुद्धियोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म और मत्कर्म भी कहते हैं।

प्रश्न—'इस 'कर्मयोग'रूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन महान् भयसे उबार लेता है' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि यह कर्मयोगका साधन यदि अपनी पूर्ण सीमातक पहुँच जाता है, तब तो वह मनुष्यको उसी क्षण परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति करा देता है। अतः इसके पूर्ण साधनके महत्त्वका तो कहना ही क्या है, पर यदि मनुष्य इसका कुछ आंशिक साधन कर लेता है अर्थात् समत्वकी अटल स्थिति न होकर यदि मनुष्यके द्वारा थोड़े-से भी कर्तव्य-कर्मका आचरण समभावसे हो जाता है और वह थोड़ा-सा भी समभाव यदि अन्तकालमें स्थिर हो जाता है, तब तो उसी समय मनुष्यको निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति करा देता है (२।७२); नहीं तो वह जन्मान्तरमें साधकको पुनः साधनमें प्रवृत्त करके परम गतिकी प्राप्ति करा देता है (६।४१—४५)। इस प्रकार यथासमय उसका अवश्य उद्धार कर देता है। सकामभावसे हजारों वर्षोंतक किये हुए बड़े-से-बड़े

यज्ञ, दान, तप, तीर्थसेवन और व्रत, उपवास आदि कर्म भी मनुष्यका संसारसे उद्धार नहीं कर सकते और समभावसे किये हुए शास्त्रविहित भिक्षाटन, युद्ध, कृषि-वाणिज्य, सेवा और शिल्प आदि छोटे-से-छोटे जीविकाके कर्म भी भावपूर्ण होनेपर क्षणमात्रमें संसारसे उद्धार करनेवाले बन जाते हैं। अतः कल्याण-साधनमें 'कर्म' की अपेक्षा 'भाव' की ही प्रधानता है।

प्रश्न—जब कि यह कर्मयोगका थोड़ा-सा साधन वृद्धिको प्राप्त होनेपर ही महान् भयसे उद्धार करता है, तब फिर थोड़ेका क्या महत्त्व रहा?

उत्तर—निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है। अतएव वह अपने परिणामको सिद्ध किये विना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें साधकको पूर्ण निष्काम बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है—यही उसका महत्त्व है।

प्रश्न—यदि कर्मयोगका थोड़ा-सा साधन भी महान् भयसे उद्धार करनेवाला है, तब उसका पूर्ण साधन करनेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—थोड़ा-सा साधन भी उद्धार करनेवाला तो है—इसमें कोई सन्देह नहीं, पर उसमें समयका नियम नहीं है; पता नहीं, वह इस जन्ममें उद्धार करे या जन्मान्तरमें; क्योंकि वह थोड़ा-सा साधन क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर पूर्ण होनेपर ही उद्धार करेगा। अतएव शीघ्र कल्याण चाहनेवाले प्रयत्नशील मनुष्योंको तो तत्परता और उत्साहके साथ पूर्णरूपमें ही समत्व प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

प्रश्न—महान् भय किसे कहते हैं और उससे रक्षा करना क्या है?

उत्तर—जीवोंको सबसे अधिक भय मृत्युसे होता है; अतः अनन्त कालतक पुनः-पुनः जन्मते और मरते रहना ही महान् भय है। इसी जन्म-मृत्युरूप महान् भयको भगवान्ने आगे चलकर मृत्युसंसारसागरके नामसे कहा है (१२।७)। जैसे समुद्रमें अनन्त लहरें होती हैं, उसी प्रकार इस संसारसमुद्रमें भी जन्म-मृत्युकी अनन्त लहरें उठती और शान्त होती रहती हैं। समुद्रकी लहरें तो चाहे गिन भी ली जा सकती हों; पर जबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता तबतक कितनी बार मरना पड़ेगा? इसकी गणना कोई भी नहीं कर सकता। ऐसे इस मृत्युरूप संसारसमुद्रसे पार कर देना—सदाके लिये जन्म-मृत्युसे छुड़ाकर इस प्रपञ्चसे सर्वथा अतीत सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे मिला देना ही महान् भयसे रक्षा करना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगका महत्त्व बतलाकर अब उसके आचरणकी विधि बतलानेके लिये पहले उस कर्मयोगमें परम आवश्यक जो सिद्ध कर्मयोगीकी निश्चयात्मिका स्थायी समत्वबुद्धि है, उसका और कर्मयोगमें बाधक जो सकाम मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न बुद्धियाँ हैं, उनका भेद बतलाते हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

हे अर्जुन! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किन्तु अस्थिर विचारवाले विवेकहीन सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं॥४१॥

प्रश्न—'व्यवसायात्मिका' विशेषणके सहित 'बुद्धिः' पद यहाँ किस बुद्धिका वाचक है और वह एक ही है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिस बुद्धिका निश्चय एक और अटल है, जो केवलमात्र एक परमात्माका ही निश्चय करनेवाली है और उसीमें स्थिर हो गयी है, उन्चालीसवें श्लोकमें जिस बुद्धिसे युक्त होनेका फल कर्मबन्धनसे मुक्त होना बतलाया है, उस स्थायी समभावरूप निश्चयात्मिका बुद्धिका वाचक यहाँ 'व्यवसायात्मिका' विशेषणके सहित 'बुद्धिः' पद है; क्योंकि इस प्रकरणमें जगह-जगह इसी अर्थमें 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग हुआ है तथा 'वह बुद्धि एक ही है' यह कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि इसमें नाना भोगोंकी प्राप्तिका उद्देश्य न रहकर एक सच्चिदानन्द परमात्माका ही निश्चय रहता है। इसीको स्थिरबुद्धि और समबुद्धि भी कहते हैं।

प्रश्न—'अव्यवसायिनाम्' पद कैसे मनुष्योंका वाचक है और उनकी बुद्धियोंको बहुत भेदोंवाली और अनन्त बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनमें उपर्युक्त निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं है, अज्ञानजनित विषमभावके कारण जिनका अन्तःकरण मोहित हो रहा है, उन विवेकहीन भोगासक्त मनुष्योंका वाचक 'अव्यवसायिनाम्' पद है। उनकी बुद्धियोंको बहुत भेदोंवाली और अनन्त बतलाकर यह दिखलाया गया है कि सकामभावसे यज्ञादि कर्म करनेवाले मनुष्योंके भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहते हैं; कोई एक किसी भोगकी प्राप्तिके लिये किसी प्रकारका कर्म करता है, तो दूसरा उससे भिन्न किन्हीं दूसरे ही भोगोंकी प्राप्तिके लिये दूसरे ही प्रकारका कर्म करता है। इसके सिवा वे किसी एक उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्ममें भी अनेक प्रकारके भोगोंकी कामना किया करते हैं और संसारके समस्त पदार्थोंमें और घटनाओंमें उनका विषमभाव रहता है। किसीको प्रिय समझते हैं, किसीको अप्रिय समझते हैं। एक ही पदार्थको किसी अंशमें प्रिय समझते हैं और किसी अंशमें अप्रिय समझते हैं। इस प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंमें, व्यक्तियोंमें और घटनाओंमें उनकी अनेक प्रकारसे विषमबुद्धि रहती है और उसके अनन्त भेद होते हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगीके लिये अवश्य धारण करनेयोग्य निश्चयात्मिका बुद्धिका और त्याग करनेयोग्य सकाम मनुष्योंकी बुद्धियोंका स्वरूप बतलाकर अब तीन श्लोकोंमें सकामभावको त्याज्य बतलानेके लिये सकाम मनुष्योंके स्वभाव, सिद्धान्त और आचार-व्यवहारका वर्णन करते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

हे अर्जुन ! जो भोगोंमें तन्मय हो रहे हैं, जो कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखनेवाले हैं, जिनकी बुद्धिमें स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्गसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा कहनेवाले हैं—वे अविवेकीजन भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली और इस प्रकारकी जिस पुष्पित यानी दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहा करते हैं, उस वाणीद्वारा हरे हुए चित्तवाले जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्माके स्वरूपमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ॥ ४२-४३-४४ ॥

प्रश्न—'कामात्मान:' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—यहाँ 'काम' शब्द भोगोंका वाचक है; उन भोगोंमें अत्यन्त आसक्त होकर उनका चिन्तन करते-करते जो तन्मय हो जाते हैं, जो उनके पीछे अपने मनुष्यत्वको सर्वथा भूले रहते हैं—ऐसे भोगासक्त मनुष्योंको 'कामात्मान:' कहते हैं।

प्रश्न—'वेदवादरता:' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—वेदोंमें इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये बहुत प्रकारके भिन्न-भिन्न काम्य कर्मोंका विधान किया गया है और उन कर्मोंके भिन्न-भिन्न फल बतलाये गये हैं; वेदके उन वचनोंमें और उनके द्वारा बतलाये हुए फलरूप भोगोंमें जिनकी अत्यन्त आसक्ति है, उन मनुष्योंका वाचक यहाँ 'वेदवादरता:' पद है। वेदोंमें जो संसारमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाले और परमात्माके यथार्थस्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले वचन हैं, उनमें प्रेम रखनेवाले मनुष्योंका वाचक यहाँ 'वेदवादरता:' पद नहीं है; क्योंकि जो उन वचनोंमें प्रीति रखनेवाले और उनको समझनेवाले हैं, वे यह नहीं कहते कि स्वर्गप्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है—इससे बढ़कर कुछ है ही नहीं। अतएव यहाँ 'वेदवादरता:' पद उन्हीं मनुष्योंका वाचक है जो इस रहस्यको नहीं जानते कि समस्त वेदोंका वास्तविक अभिप्राय परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन करना है, वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य एक परमेश्वर ही है (१५। १५) और इस रहस्यको न समझनेके कारण ही वेदोक्त सकाम कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्त हो रहे हैं।

प्रश्न—'स्वर्गपरा:' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो स्वर्गको ही परम प्राप्य वस्तु समझते हैं, जिनकी बुद्धिमें स्वर्गसे बढ़कर कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु है ही नहीं, इसी कारण जो परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंसे सर्वथा विमुख रहते हैं, उनको 'स्वर्गपरा:' कहते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'नान्यदस्तीति वादिन:' इस विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—जो अविवेकीजन भोगोंमें ही रचे-पचे रहते हैं, उनकी दृष्टिमें स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोकके सुख और स्वर्गादि परलोकके सुखोंके अतिरिक्त मोक्ष आदि कोई वस्तु है ही नहीं, जिसकी प्राप्तिके लिये चेष्टा की जाय। स्वर्गकी प्राप्तिको ही वे सर्वोपरि परम ध्येय मानते हैं और वेदोंका तात्पर्य भी वे इसीमें समझते हैं; अतएव वे इसी सिद्धान्तका कथन एवं प्रचार भी करते हैं। यही भाव 'नान्यदस्तीति वादिन:' इस विशेषणसे व्यक्त किया गया है।

प्रश्न—ऐसे मनुष्योंको 'अविपश्चित:', विवेकहीन कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—उनको विवेकहीन कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि वे सत्यासत्य वस्तुका विवेचन करके अपने कर्तव्यका निश्चय करते तो इस प्रकार भोगोंमें नहीं फँसते। अतएव मनुष्यको विवेकपूर्वक अपने कर्तव्यका निश्चय करना चाहिये।

प्रश्न—'वाचम्' के साथ 'इमाम्', 'याम्' और 'पुष्पिताम्' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—'इमाम्' और 'याम्' विशेषणोंसे यह भाव दिखलाया गया है कि वे अपनेको पण्डित माननेवाले मनुष्य जो दूसरोंको ऐसा कहा करते हैं कि स्वर्गके भोगोंसे बढ़कर अन्य कुछ है ही नहीं। एवं भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली और जन्मरूप कर्मफल देनेवाली जिस वेदवाणीका वे वर्णन करते हैं, वही वाणी उनके और उनका उपदेश सुननेवालोंके चित्तका अपहरण करनेवाली होती है तथा 'पुष्पिताम्' विशेषणसे यह भाव दिखलाया है कि उस वाणीमें यद्यपि वास्तवमें विशेष महत्त्व नहीं है, वह नाशवान् भोगोंके नाममात्र क्षणिक सुखका ही वर्णन करती है तथापि वह टेसूके फूलकी भाँति ऊपरसे बड़ी रमणीय और सुन्दर होती है, इस कारण सांसारिक मनुष्य उसके प्रलोभनमें पड़ जाते हैं ?

प्रश्न—यहाँ 'व्यवसायात्मिका' विशेषणके सहित 'बुद्धिः' पद किसका वाचक है और जिनका चित्त उपर्युक्त पुष्पिता वाणीद्वारा हरा गया है एवं जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्माके स्वरूपमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इकतालीसवें श्लोकमें जिसके लक्षण बतलाये गये हैं, उसी निश्चयात्मिका बुद्धिका वाचक यहाँ 'व्यवसायात्मिका' विशेषणके सहित 'बुद्धिः' पद है। तथा उपर्युक्त वाक्यसे यहाँ यह भाव दिखलाया है कि उन मनुष्योंका चित्त भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त रहनेके कारण हर समय अत्यन्त चञ्चल रहता है और वे अत्यन्त स्वार्थपरायण होते हैं; अतएव उनकी बुद्धि केवल परमात्माके स्वरूपका निश्चय करनेवाली और उसीमें स्थिर रहनेवाली नहीं होती तथा इसी कारण उनके अन्तःकरणमें समताका भाव उत्पन्न नहीं होता।

सम्बन्ध—इस प्रकार भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त सकाम मनुष्योंमें निश्चयात्मिका बुद्धिके न होनेकी बात कहकर अब कर्मयोगका उपदेश देनेके उद्देश्यसे पहले भगवान् अर्जुनको उपर्युक्त भोग और आसक्तिसे रहित होकर समभावसे सम्पन्न होनेके लिये कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

हे अर्जुन! सब वेद उपर्युक्त प्रकारसे तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं; इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्षशोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्यवस्तु परमात्मामें स्थित, योगक्षेमको न चाहनेवाला और जीते हुए मनवाला हो॥४५॥

प्रश्न—'त्रैगुण्यविषयाः' पदका क्या अर्थ है और वेदोंको 'त्रैगुण्यविषयाः' कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यको 'त्रैगुण्य' कहते हैं। अतः समस्त भोग और ऐश्वर्यमय पदार्थों और उनकी प्राप्तिके उपायभूत समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'त्रैगुण्य' शब्द है; उन सबका अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित जिनमें वर्णन हो, उनको 'त्रैगुण्यविषयाः' कहते हैं। यहाँ वेदोंको 'त्रैगुण्यविषयाः' बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें कर्मकाण्डका वर्णन अधिक होनेके कारण वेद 'त्रैगुण्यविषय' हैं।

प्रश्न—'निस्त्रैगुण्य' होना क्या है ?

उत्तर—तीनों गुणोंके कार्यरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें तथा उनके साधनभूत समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और कामनासे सर्वथा रहित हो जाना ही 'निस्त्रैगुण्य' होना है। यहाँ स्वरूपसे समस्त कर्मोंका त्याग कर देना निस्त्रैगुण्य होना नहीं है; क्योंकि स्वरूपसे समस्त कर्मोंका और समस्त विषयोंका त्याग कोई भी मनुष्य नहीं कर सकता (३।५); यह शरीर भी तो तीनों गुणोंका ही कार्य है, जिसका त्याग बनता ही नहीं ? इसलिये यही समझना चाहिये कि शरीरमें और उसके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें अहंता, ममता, आसक्ति और कामनासे रहित होना ही यहाँ निस्त्रैगुण्य अर्थात् तीनों गुणोंके कार्यसे रहित होना है।

प्रश्न—'द्वन्द्व' किनको कहते हैं और उनसे रहित होना क्या है ?

उत्तर—सुख-दुःख, लाभ-हानि, कीर्त्ति-अकीर्त्ति, मान-अपमान, अनुकूल-प्रतिकूल आदि परस्परविरोधी युग्म पदार्थोंका नाम द्वन्द्व है और इन सबके संयोग-वियोगमें सदा ही सम रहना, इनके द्वारा विचलित या मोहित न किया जाना अर्थात् हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदिसे रहित रहना ही इनसे रहित होना है।

प्रश्न—'नित्यसत्त्व' क्या है और उसमें स्थित होना क्या है ?

उत्तर—सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही नित्यसत्त्व—सत्य वस्तु हैं; अतएव नित्य अविनाशी सर्वज्ञ परम पुरुष परमेश्वरके स्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए उनमें अटलभावसे स्थित हो जाना ही नित्य वस्तुमें स्थित होना है।

प्रश्न—'नित्यसत्त्वस्थः' का अर्थ यदि निरन्तर सत्त्व-गुणमें स्थित होना मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—ऐसा अर्थ भी बन सकता है, इसमें हानिकी कोई बात नहीं है; किन्तु उपर्युक्त अर्थमें और भी अच्छा भाव है, क्योंकि कर्मयोगका अन्तिम परिणाम समस्त गुणोंसे अतीत होकर परमात्माको प्राप्त कर लेना कहा गया है।

प्रश्न—'योगक्षेम' किसको कहते हैं और अर्जुनको निर्योगक्षेम होनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिको योग कहते हैं और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम क्षेम है; सांसारिक भोगोंकी कामनाका त्याग कर देनेके बाद भी शरीरनिर्वाहके लिये मनुष्यकी योगक्षेममें वासना रहा करती है, अतएव उस वासनाका भी सर्वथा त्याग करानेके लिये यहाँ अर्जुनको 'निर्योगक्षेम' होनेको कहा गया है। अभिप्राय यह है कि तुम ममता और आसक्तिसे सर्वथा रहित हो जाओ, किसी भी वस्तुकी प्राप्ति या रक्षाको चाहनेवाले मत बनो।

प्रश्न—'आत्मवान्' किसको कहते हैं और अर्जुनको 'आत्मवान्' होनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक यहाँ 'आत्मा' पद है। मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ जब-तक मनुष्यके वशमें नहीं हो जाते, उसके अपने नहीं बन जाते, उसके शत्रु बने रहते हैं, तबतक वह 'आत्मवान्' नहीं है। अतएव जिसने अपने मन, बुद्धि और समस्त इन्द्रियों-को भलीभाँति वशमें कर लिया है, उसको 'आत्मवान्' यानी 'आत्मावाला' कहना चाहिये। जिसका मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीर वशमें किया हुआ नहीं है, उसको 'समत्वयोग' का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है और जिसके मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें हैं, वह साधन करनेसे सहजमें ही समत्वयोगको पा सकता है (६।३६)। इसलिये भगवान्ने यहाँ अर्जुनको 'आत्मवान्' होनेके लिये कहा है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनको यह बात कही गयी कि सब वेद तीनों गुणोंके कार्यका प्रतिपादन करनेवाले हैं और तुम तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगोंसे अतीत हो जाओ । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकारसे निस्त्रैगुण्य हो जानेपर पुरुषकी क्या स्थिति होती है ? इसपर कहते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मको तत्त्वसे जाननेवाले ब्राह्मणका समस्त वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रह जाता है ॥ ४६ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें जलाशयके दृष्टान्तसे क्या बात कही गयी है ?

उत्तर—इस श्लोकमें जलाशयका दृष्टान्त देकर भगवान्ने ज्ञानी महात्माओंकी आत्यन्तिक तृप्तिका वर्णन किया है । अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यको अमृतके समान स्वादु और गुणकारी अथाह जलसे भरा हुआ जलाशय मिल जाता है, उसको जैसे जलके लिये (वापी, कूप, तडागादि) छोटे-छोटे जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसकी जलविषयक सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं, वैसे ही जो पुरुष समस्त भोगोंमें ममता, आसक्तिका त्याग करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको जान लेता है, जिसको परमानन्दके समुद्र पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है । अतः ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके पूर्णतया 'निस्त्रैगुण्य' हो जाना चाहिये ।

प्रश्न—सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयमें मनुष्यको जितने जलका प्रयोजन होता है, उतना जल वह ले लेता है, इसी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष अपने प्रयोजनके अनुसार वेदोंके अंशको ले लेता है—ऐसा अर्थ माननेमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर—ऐसा अर्थ भी बन सकता है, इसमें कोई हानिकी बात नहीं है; किन्तु उपर्युक्त अर्थका भाव और भी सुन्दर है, क्योंकि ब्रह्मको प्राप्त हुए ज्ञानी पुरुषका संसारमें कोई भी प्रयोजन नहीं रहता (३।१८)।

सम्बन्ध—इस प्रकार समत्वबुद्धिरूप कर्मयोगका और उसके फलका महत्त्व बतलाकर अब दो श्लोकोंमें भगवान् कर्मयोगका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं । इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥

प्रश्न—'कर्मणि' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है' इस कथनसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित हैं, उनका वाचक यहाँ 'कर्मणि' पद है। शास्त्रनिषिद्ध पापकर्मोंका वाचक 'कर्मणि' पद नहीं है; क्योंकि पापकर्मोंमें मनुष्य-का अधिकार नहीं है, उनमें तो वह राग-द्वेषके वशमें होकर प्रवृत्त हो जाता है, यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। इसीलिये वैसे कर्म करनेवालोंको नरकादिमें दुःख भुगताकर दण्ड दिया जाता है। यहाँ 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है' यह कहकर भगवान्‌ने ये भाव दिखलाये हैं—

(१) इस मनुष्यशरीरमें ही जीवको नवीन कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दी जाती है; अतः यदि वह अपने अधिकारके अनुसार परमेश्वरकी आज्ञाका पालन करता रहे और उन कर्मोंमें तथा उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके उन कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिका साधन बना ले तो वह सहजमें ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है। तुम्हें इस समय मनुष्यशरीर प्राप्त है, अतः तुम्हारा कर्मोंमें अधिकार है; इसलिये तुम्हें इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये।

(२) मनुष्यका कर्म करनेमें ही अधिकार है, उनका स्वरूपतः त्याग करनेमें वह स्वतन्त्र नहीं है; यदि वह अहंकारपूर्वक हठसे कर्मोंके स्वरूपतः त्यागकी चेष्टा भी करे तो भी सर्वथा त्याग नहीं कर सकता (३।५), क्योंकि उसका स्वभाव उसे जबरदस्ती कर्मोंमें लगा देता है (३।३३; १८।५९, ६०)। ऐसी परिस्थितिमें उसके द्वारा उस अधिकारका दुरुपयोग होता है तथा विहित कर्मोंके त्यागसे उसे शास्त्राज्ञाके त्यागका भी दण्ड भोगना पड़ता है। अतएव तुम्हें कर्तव्य-कर्म अवश्य करने चाहिये, उनका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये।

(३) जैसे सरकारके द्वारा लोगोंको आत्मरक्षाके लिये या प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पास नाना प्रकारके शस्त्र रखने और उनके प्रयोग करनेका अधिकार दिया जाता है और उसी समय उनके प्रयोगके नियम भी उनको बतला दिये जाते हैं, उसके बाद यदि कोई मनुष्य उस अधिकारका दुरुपयोग करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है और उसका अधिकार भी छीन लिया जाता है, वैसे ही जीवको जन्म-मृत्युरूप संसारबन्धनसे मुक्त होनेके लिये और दूसरोंका हित करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित यह मनुष्यशरीर देकर इसके द्वारा नवीन कर्म करनेका अधिकार दिया गया है। अतः जो इस अधिकारका सदुपयोग करता है वह तो कर्मबन्धनसे छूटकर परम-पदको प्राप्त हो जाता है और जो दुरुपयोग करता है वह दण्डका भागी होता है तथा उससे वह अधिकार छीन लिया जाता है अर्थात् उसे पुनः सूकर-कूकरादि योनियोंमें ढकेल दिया जाता है। इस रहस्यको समझकर मनुष्यको इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये।

प्रश्न—कर्मोंके फलोंमें तेरा कभी अधिकार नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मनुष्य कर्मोंका फल प्राप्त करनेमें कभी किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है; उसके कौन-से कर्मका क्या फल होगा और वह फल उसको किस जन्ममें और किस प्रकार प्राप्त होगा ? इसका न तो उसको कुछ पता है और न वह अपने इच्छानुसार समयपर उसे प्राप्त कर सकता है अथवा उससे बच ही सकता है। मनुष्य चाहता कुछ और है और होता कुछ और ही है। बहुत मनुष्य नाना प्रकारके भोगोंको भोगना

चाहते हैं, पर इसके लिये सुयोग मिलना उनके हाथकी बात नहीं है। अनेक तरहके संयोग-वियोग वे नहीं चाहते, पर बलात्कारसे हो जाते हैं; कर्मोंके फलका विधान करना सर्वथा विधाताके अधीन है, मनुष्यका उसमें कुछ भी उपाय नहीं चलता। अवश्य ही पुत्रेष्टि आदि शास्त्रीय यज्ञानुष्ठानोंके साङ्गोपाङ्ग पूर्ण होनेपर उनके फल प्राप्त होनेका निश्चित विधान है, और वैसे कर्म सकाम मनुष्य कर भी सकते हैं; परन्तु उनका यह विहित फल भी कर्मकर्त्ताके अधीन नहीं है, देवताके ही अधीन है। इसलिये इस प्रकार इच्छा करना कि अमुक वस्तुकी, धनैश्वर्यकी, मान-बड़ाई या प्रतिष्ठाकी अथवा स्वर्ग आदि लोकोंकी मुझे प्राप्ति हो, एक प्रकारसे अज्ञान ही है। साथ ही ये सब अत्यन्त ही तुच्छ तथा अल्पकालस्थायी अनित्य पदार्थ हैं, अतएव तुमको तो किसी भी फलकी कामना ही नहीं करनी चाहिये।

प्रश्न—तो क्या मुक्तिकी कामना भी नहीं करनी चाहिये?

उत्तर—मुक्तिकी कामना शुभेच्छा होनेके कारण मुक्तिमें सहायक है; यद्यपि इस इच्छाका भी न होना उत्तम है, परन्तु भगवान्‌के तत्त्व और मर्मको यथार्थरूपसे जाने बिना इस इच्छासे रहित होकर और ईश्वराज्ञाके पालनको कर्तव्य समझकर हेतुरहित कर्मोंका आचरण करना बहुत ही कठिन है। अतएव मुक्तिकी कामना करना अनुचित नहीं है। मुक्तिकी इच्छा न रखनेसे शीघ्र मुक्तिकी प्राप्ति होगी, इस प्रकारका भाव भी छिपी हुई मुक्तिकी इच्छा ही है।

प्रश्न—'कर्मफलका हेतु बनना' क्या है? और अर्जुनको कर्मफलका हेतु न बननेके लिये कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये हुए शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति, वासना, आशा, स्पृहा और कामना करना ही कर्मफलका हेतु बनना है; क्योंकि जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्त होता है उसीको उन कर्मोंका अच्छा-बुरा और मिश्रित फल मिलता है; कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देनेवालेको नहीं (१८।१२)। अत: अर्जुनको कर्मफलका हेतु न बननेके लिये कहकर भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये तुम अपने कर्तव्य-कर्मोंका अनुष्ठान ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके करो।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके कर्म करनेवाला मनुष्य क्या पापकर्मोंके फलका भी हेतु नहीं बनता?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाला मनुष्य किसी प्रकारके भी कर्मोंके फलका हेतु नहीं बनता। उसके शुभ और अशुभ सभी कर्मोंमें फल देनेकी शक्तिका अभाव हो जाता है। क्योंकि पापकर्मोंमें प्रवृत्तिका हेतु आसक्ति ही है; अत: आसक्ति, ममता और कामनाका सर्वथा अभाव हो जानेके बाद नवीन पाप तो उससे बनते नहीं और पहलेके किये हुए पाप ममता, आसक्ति-रहित कर्मोंके प्रभावसे भस्म हो जाते हैं। इस कारण वह पापकर्मोंके फलका हेतु नहीं बनता। और शुभ कर्मोंके फलका वह त्याग कर देता है, इस कारण उनके भी फलका हेतु नहीं बनता। इस प्रकार कर्म करनेवाले मनुष्यके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं (४।२३) और वह अनामय पदको प्राप्त हो जाता है (२।५१)।

प्रश्न—तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि

जिस प्रकार शास्त्रविहित कर्मोंसे विपरीत निषिद्ध कर्मोंका आचरण करना कर्माधिकारका दुरुपयोग करना है, उसी प्रकार वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिसके लिये जो अवश्यकर्तव्य है, उसका न करना भी उस अधिकारका दुरुपयोग करना है। विहित कर्मोंका त्याग किसी प्रकार भी न्यायसङ्गत नहीं है। अतः इनका मोहपूर्वक त्याग करना तामस त्याग है (१८।७) और शारीरिक क्लेशके भयसे त्याग करना राजस त्याग है (१८।८)। विहित कर्मोंका अनुष्ठान बिना किये मनुष्य कर्मयोगकी सिद्धिको भी नहीं पा सकता (३।४)। अतः तुम्हारी किसी भी कारणसे विहित कर्मोंका अनुष्ठान न करनेमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें यह बात कही गयी कि तुमको न तो कर्मोंके फलका हेतु बनना चाहिये और न कर्म न करनेमें ही आसक्त होना चाहिये अर्थात् कर्मोंका त्याग भी नहीं करना चाहिये। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि तो फिर किस प्रकार कर्म करना चाहिये ? इसलिये भगवान् कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥

हे धनञ्जय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर; समत्व ही योग कहलाता है॥४८॥

प्रश्न—सिद्धि और असिद्धिमें सम होनेपर आसक्तिका त्याग तो उसमें आ ही जाता है; फिर यहाँ अर्जुनको आसक्तिका त्याग करनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इस श्लोकमें भगवान्ने कर्मयोगके आचरण-की प्रक्रिया बतलायी है। कर्मयोगका साधक जब कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका त्याग कर देता है, तब उसमें राग-द्वेषका और उनसे होनेवाले हर्ष-शोकादिका अभाव हो जाता है। ऐसा होनेसे ही वह सिद्धि और असिद्धिमें सम रह सकता है। इन दोषोंके रहते सिद्धि और असिद्धिमें सम नहीं रहा जा सकता। तथा सिद्धि और असिद्धिमें अर्थात् किये जानेवाले कर्मके पूर्ण होने और न होनेमें तथा उसके अनुकूल और प्रतिकूल परिणाममें सम रहनेकी चेष्टा रखनेसे अन्तमें राग-द्वेष आदिका अभाव होता है। इस प्रकार आसक्तिके त्यागका और समताका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है एवं दोनों परस्पर एक-दूसरेके सहायक हैं; इसलिये भगवान्ने यहाँ आसक्तिका त्याग करके और सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर कर्म करनेके लिये कहा है।

प्रश्न—जब समत्वका ही नाम योग है, तब सिद्धि और असिद्धिमें सम होकर कर्म करनेके अन्तर्गत ही योगमें स्थित होनेकी बात आ जाती है; फिर योगमें स्थित होनेके लिये अलग कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें समता रखते-रखते ही मनुष्यकी समभावमें अटल स्थिति होती है और समभावका स्थिर हो जाना ही कर्मयोग-की अवधि है। अतः यहाँ योगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि केवल सिद्धि और असिद्धिमें ही समत्व रखनेसे

काम नहीं चलेगा, प्रत्येक क्रियाके करते समय भी तुमको किसी भी पदार्थमें, कर्ममें या उसके फलमें अथवा किसी भी प्राणीमें विषमभाव न रखकर नित्य समभावमें स्थित रहना चाहिये।

प्रश्न—'समत्व ही योग कहलाता है' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने 'योग' पदका पारिभाषिक अर्थ बतलाया है। अभिप्राय यह है कि वास्तवमें योग समताका नाम है और किसी भी साधनके द्वारा समत्वको प्राप्त कर लेना ही योगी बनना है। अतएव तुमको कर्मयोगी बननेके लिये समभावमें स्थित होकर कर्म करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगकी प्रक्रिया बतलाकर अब सकामभावकी निन्दा और समभावका महत्त्व प्रकट करते हुए भगवान् अर्जुनको समताका आश्रय लेनेके लिये आज्ञा देते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

इस समत्वरूप बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणीका है। इसलिये हे धनञ्जय! तू समत्वबुद्धिमें ही रक्षाका उपाय ढूँढ़, अर्थात् बुद्धियोगका ही आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं ॥ ४९ ॥

प्रश्न—'बुद्धियोगात्' पद यहाँ किस योगका वाचक है? कर्मयोगका या ज्ञानयोगका?

उत्तर—जिसमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके समत्वबुद्धिपूर्वक कर्तव्य-कर्मोंका अनुष्ठान किया जाता है, उस कर्मयोगका वाचक यहाँ 'बुद्धियोगात्' पद है। क्योंकि उन्चालीसवें श्लोकमें 'योगे त्विमां शृणु' अर्थात् अब तुम मुझसे इस बुद्धिको योगमें सुनो, यह कहकर भगवान्‌ने कर्मयोगका वर्णन आरम्भ किया है, इस कारण यहाँ 'बुद्धियोगात्' पदका अर्थ 'ज्ञानयोग' माननेकी गुंजाइश नहीं है। इसके सिवा इस श्लोकमें फल चाहनेवालोंको कृपण बतलाया गया है और अगले श्लोकमें बुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगके लिये आज्ञा दी गयी है और यह कहा गया है कि बुद्धियुक्त मनुष्य कर्मफलका त्याग करके 'अनामय पद' को प्राप्त हो जाता है (२।५१); इस कारण भी यहाँ 'बुद्धियोगात्' पदका प्रकरणविरुद्ध 'ज्ञानयोग' अर्थ मानना नहीं बन सकता। क्योंकि ज्ञानयोगीके लिये यह कहना नहीं बनता कि वह कर्मफलका त्याग करके अनामय पदको प्राप्त होता है; वह तो अपनेको कर्मका कर्ता ही नहीं समझता, फिर उसके लिये फलत्यागकी बात ही कहाँ रह जाती है?

प्रश्न—बुद्धियोगकी अपेक्षा सकाम कर्मको अत्यन्त ही निम्नश्रेणीका बतलानेका क्या भाव है तथा यहाँ 'कर्म' पदका अर्थ निषिद्ध कर्म मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—समस्त कर्मोंको बुद्धियोगकी अपेक्षा अत्यन्त नीचा बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सकाम कर्मोंका फल नाशवान् क्षणिक सुखकी प्राप्ति है और कर्मयोगका फल परमात्माकी प्राप्ति है। अतः दोनोंमें दिन और रातकी भाँति महान् अन्तर है। यहाँ 'कर्म' पदका अर्थ निषिद्ध कर्म नहीं माना जा सकता,

क्योंकि वे सर्वथा त्याज्य हैं और उनका फल महान् दु:खोंकी प्राप्ति है। इसलिये उनकी तुलना बुद्धियोगका महत्त्व दिखलानेके लिये नहीं की जा सकती।

प्रश्न—'बुद्धौ' पद किसका वाचक है और अर्जुनको उसका आश्रय लेनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस समत्वबुद्धिका प्रकरण चल रहा है, उसीका वाचक यहाँ 'बुद्धौ' पद है; उसका आश्रय लेनेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हरेक कर्म करते समय तुम निरन्तर समभावमें स्थित रहनेकी चेष्टा करते रहो, यही कल्याणप्राप्तिका सुगम उपाय है।

प्रश्न—कर्मफलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जो मनुष्य कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामना करके कर्मफलप्राप्तिके कारण बन जाते हैं, वे दीन हैं अर्थात् दयाके पात्र हैं; इसलिये तुमको वैसा नहीं बनना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको समताका आश्रय लेनेकी आज्ञा देकर अब दो श्लोकोंमें उस समतारूप बुद्धिसे युक्त महापुरुषोंकी प्रशंसा करते हुए पुनः भगवान् अर्जुनको कर्मयोगका अनुष्ठान करनेकी आज्ञा देते हुए उसका फल बतलाते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥५०॥

समत्वबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है। इससे तू समत्वरूप योगके लिये ही चेष्टा कर; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है॥५०॥

प्रश्न—'समत्वबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जन्म-जन्मान्तरमें और इस जन्ममें किये हुए जितने भी पुण्यकर्म और पापकर्म संस्काररूपसे अन्त:करणमें सञ्चित रहते हैं, उन समस्त कर्मोंको समतारूप बुद्धिसे युक्त कर्मयोगी इसी लोकमें त्याग देता है—अर्थात् इस वर्तमान जन्ममें ही वह उन समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। उसका उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उसके कर्म पुनर्जन्मरूप फल नहीं दे सकते। क्योंकि नि:स्वार्थभावसे केवल लोकहितार्थ किये हुए कर्मोंसे उसके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं (४।२३)। इसी प्रकार उसके क्रियमाण पुण्य तथा पापकर्मका भी त्याग हो जाता है; क्योंकि पापकर्म तो उसके द्वारा स्वरूपसे ही छूट जाते हैं और शास्त्रविहित पुण्य-कर्मोंमें फलासक्तिका त्याग होनेसे वे कर्म 'अकर्म' बन जाते हैं (४।२०), अतएव उनका भी एक प्रकारसे त्याग ही हो गया।

प्रश्न—इससे तू समत्वरूप योगके लिये ही चेष्टा कर, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि

समत्वबुद्धिसे युक्त हुआ योगी जीवन्मुक्त हो जाता है, इसलिये तुम्हें भी वैसा ही बनना चाहिये।

प्रश्न—यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि कर्म स्वाभाविक ही मनुष्यको बन्धनमें डालनेवाले होते हैं और विना कर्म किये कोई मनुष्य रह नहीं सकता, कुछ-न-कुछ उसे करना ही पड़ता है; ऐसी परिस्थितिमें कर्मोंसे छूटनेकी सबसे अच्छी युक्ति समत्वयोग है। इस समत्वबुद्धिसे युक्त होकर कर्म करनेवाला मनुष्य इसके प्रभावसे उनके बन्धनमें नहीं आता। इसलिये कर्मोंमें 'योग' ही कुशलता है। साधनकालमें समत्व-बुद्धिसे कर्म करनेकी चेष्टा की जाती है और सिद्धावस्थामें समत्वमें पूर्ण स्थिति होती है। दोनोंको ही 'समत्वयोग' कहते हैं।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

क्योंकि समत्वबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परमपदको प्राप्त हो जाते हैं ॥५१॥

प्रश्न—'हि' पदका क्या भाव है?

उत्तर—'हि' पद हेतुवाचक है। इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि समत्वबुद्धि-पूर्वक कर्मोंका करना किस कारणसे कुशलता है, वह बात इस श्लोकमें बतलायी जाती है।

प्रश्न—'बुद्धियुक्ताः' पद किनका वाचक है और उनको 'मनीषिणः' कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—जो पूर्वोक्त समतारूप बुद्धिसे युक्त हैं अर्थात् जिनमें समभावकी अटल स्थिति हो गयी है, ऐसे कर्मयोगियोंका वाचक यहाँ 'बुद्धियुक्ताः' पद है। उनको 'मनीषिणः' कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि जो इस प्रकार समभावसे युक्त होकर अपने मनुष्य-जन्मको सफल कर लेते हैं, वे ही वास्तवमें बुद्धिमान् और ज्ञानी हैं; जो साक्षात् मुक्तिके द्वाररूप इस मनुष्यशरीरको पाकर भी भोगोंमें फँसे रहते हैं, वे बुद्धिमान् नहीं हैं (५।२२)।

प्रश्न—उन बुद्धियुक्त मनुष्योंका कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो जाना क्या है?

उत्तर—समतारूप योगके प्रभावसे उनका जो जन्म-जन्मान्तरमें और इस जन्ममें किये हुए समस्त कर्मोंके फलसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर बार-बार जन्मने और मरनेके चक्रसे सदाके लिये छूट जाना है, यही उनका कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके जन्म-बन्धनसे मुक्त हो जाना है। क्योंकि तीनों गुणोंके कार्यरूप सांसारिक पदार्थोंमें आसक्ति ही पुनर्जन्मका हेतु है (१३।२१), उसका उनमें सर्वथा अभाव हो जाता है; इस कारण उनका पुनर्जन्म नहीं हो सकता।

प्रश्न—ऐसे पुरुषोंका निर्विकार (अनामय) परम पदको प्राप्त हो जाना क्या है?

उत्तर—जहाँ राग-द्वेष आदि क्लेशोंका, शुभाशुभ कर्मोंका, हर्ष-शोकादि विकारोंका और समस्त दोषोंका सर्वथा अभाव है, जो इस प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा अतीत है, जो भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न भगवान्‌का परमधाम है, जहाँ पहुँचे हुए मनुष्य वापस नहीं लौटते, उस परमधामका वाचक 'अनामय पद' है। अतः भगवान्‌के परमधामको प्राप्त हो जाना, सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार या सगुण-साकार

परमात्माको प्राप्त हो जाना, परम गतिको प्राप्त हो जाना या अमृतत्वको प्राप्त हो जाना—यह सब एक ही बात है। वास्तवमें कोई भेद नहीं है, साधकोंकी मान्यताका ही भेद है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने कर्मयोगके आचरणद्वारा अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी; इसपर अर्जुनको यह जिज्ञासा हो सकती है कि अनामय परमपदकी प्राप्ति मुझे कब और कैसे हो सकती है? इसके लिये भगवान् दो श्लोकोंमें कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥५२॥

जिस कालमें तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुनी हुई और सुननेमें आनेवाली इस लोक और परलोकसम्बन्धी सभी बातोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा॥५२॥

प्रश्न—'मोहकलिल' क्या है? और बुद्धिका उसको भलीभाँति पार कर जाना किसे कहते हैं?

उत्तर—स्वजन-बान्धवोंके वधकी आशङ्कासे स्नेहवश अर्जुनके हृदयमें जो मोह उत्पन्न हो गया था, जिसे इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'कश्मल' बतलाया गया है, यहाँ 'मोहकलिल'से उसीका लक्ष्य है। और इसी 'मोहकलिल' के कारण अर्जुन 'धर्मसम्मूढचेता:' होकर अपना कर्तव्य निश्चय करनेमें असमर्थ हो गये थे। यह 'मोहकलिल' एक प्रकारका आवरणयुक्त 'मल' दोष है, जो बुद्धिको निश्चयभूमितक न पहुँचने देकर अपनेमें ही फँसाये रखता है।

सत्सङ्गसे उत्पन्न विवेकद्वारा नित्य-अनित्य और कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय करके ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागपूर्वक भगवत्परायण होकर निष्कामभावसे कर्म करते रहनेसे इस आवरणयुक्त मलदोषका जो सर्वथा नाश हो जाना है, यही बुद्धिका मोहरूपी कलिलको पार कर जाना है।

प्रश्न—'व्यतितरिष्यति'का क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान् यह सूचित करते हैं कि तुम्हारा यह मोह स्वाभाविक नहीं है, बन्धु-बान्धवोंके स्नेहवश तुम्हारी बुद्धि इस मोहमें फँस गयी है; इस मोहके हटते ही तुम्हारी वह बुद्धि भलीभाँति अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो जायगी।

प्रश्न—'श्रुत' और 'श्रोतव्य'—इन दोनों शब्दोंसे किसका लक्ष्य है? और उनसे वैराग्यको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—इस लोक और परलोकके भोगैश्वर्यादि तथा उनके साधनोंके सम्बन्धमें अबसे पहले जितनी बातें सुनी जा चुकी हैं, उनका नाम 'श्रुत' है और भविष्यमें जो सुनी जा सकती हैं, उन्हें 'श्रोतव्य' कहते हैं। उन सबको नि:सार समझकर उनसे जो मनका सर्वथा हट जाना है, यही उनसे निर्वेदको प्राप्त होना है। भगवान् कहते हैं कि मोहके नाश होनेपर जब तुम्हारी बुद्धि सम्यक् प्रकारसे स्वाभाविक स्थितिमें पहुँच जायगी, तब तुम्हें इन सभी बातोंसे तथा इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंसे यथार्थ वैराग्य हो जायगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥५३॥

भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्माके स्वरूपमें अचल और स्थिर होकर ठहर जायगी, तब तू भगवत्प्राप्तिरूप योगको प्राप्त हो जायगा ॥ ५३ ॥

प्रश्न–'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि' का क्या स्वरूप है ?

उत्तर–इहलोक और परलोकके भोगैश्वर्य और उनकी प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे बुद्धिमें विक्षिप्तता आ जाती है; इसके कारण वह एक निश्चयपर निश्चलरूपसे नहीं टिक सकती, अभी एक बातको अच्छी समझती है, तो कुछ ही समय बाद दूसरी बातको अच्छी मानने लगती है। ऐसी विक्षिप्त और अनिश्चयात्मिका बुद्धिको यहाँ 'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि' कहा गया है। यह बुद्धिका विक्षेपदोष है।

प्रश्न–उसका परमात्माके स्वरूपमें अचल और स्थिर होकर ठहर जाना क्या है ?

उत्तर–भगवत्परायण होकर मन-इन्द्रियोंको वशमें करके जो बुद्धिका विक्षेपदोषसे भी सर्वथा रहित होकर योगके द्वारा एकमात्र परमात्माके स्वरूपमें ही स्थायी-रूपसे निश्चल होकर टिक जाना है, यही उसका परमात्माके स्वरूपमें अचल और स्थिर होकर ठहर जाना है।

प्रश्न–उस समय 'योग'का प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर–यहाँ 'योग' शब्द परमात्माके साथ नित्य और पूर्ण संयोगका अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है। क्योंकि यह मल, विक्षेप और आवरणदोषसे रहित विवेक-वैराग्यसम्पन्न और परमात्माके स्वरूपमें निश्चलरूपसे स्थित बुद्धिका फल है। तथा इसके बाद ही अर्जुनने परमात्मा-को प्राप्त स्थितप्रज्ञ पुरुषोंके लक्षण पूछे हैं, इससे भी यही सिद्ध होता है।

प्रश्न–पचासवें श्लोकमें तो योगका अर्थ समत्वयोग किया गया है और यहाँ उसे परमात्माकी प्राप्तिका वाचक माना गया है; इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर–वहाँ योगरूपी साधनके लिये चेष्टा करनेकी बात कही गयी है, और यहाँ 'स्थिरबुद्धि' होनेके बाद फलरूपमें प्राप्त होनेवाले योगकी बात है। इसीसे यहाँ 'योग' शब्दको परमात्माकी प्राप्तिका वाचक माना गया है। गीतामें 'योग' और 'योगी' शब्द निम्नलिखित कुछ उदाहरणोंके अनुसार प्रसङ्गानुकूल विभिन्न अर्थोंमें आये हैं।

योग

(१) भगवत्प्राप्तिरूप योग—अ० ६।२३–इसके पूर्व-श्लोकमें परमानन्दकी प्राप्ति और इसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव बतलाया गया है, इससे यह योग परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है। अ० ६। ३३, ३६में भी इसी अर्थमें योग शब्द आये हैं।

(२) ध्यानयोग—अ० ६।१९–वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरताका वर्णन होनेके कारण यहाँ 'योग' शब्द ध्यानयोगका वाचक है।

(३) कर्मयोग—अ० २।४८–योगमें स्थित होकर, आसक्तिरहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यहाँ 'योग' शब्द कर्मयोगका वाचक है।

(४) भगवत्प्रभावरूप योग—अ०९।५–इसमें आश्चर्य-जनक प्रभाव दिखलानेका वर्णन होनेसे यह शक्ति अथवा प्रभावका वाचक है।

(५) भक्तियोग—अ० १४।२६–निरन्तर अव्यभिचार-रूपसे भजन करनेका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योग' शब्द भक्तियोगका वाचक है। यहाँ तो स्पष्ट 'भक्तियोग' शब्दका उल्लेख ही हुआ है।

(६) अष्टाङ्गयोग—अ० ४।२८–यहाँ 'योग' शब्दका अर्थ 'सांख्ययोग' अथवा 'कर्मयोग' नहीं लिया जा सकता, क्योंकि ये दोनों शब्द व्यापक हैं।

यहाँ यज्ञके नामसे जिन साधनोंका वर्णन है वे सभी इन दोनों योगोंके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिये 'योग' शब्दका अर्थ 'अष्टाङ्गयोग' ही लेना ठीक मालूम होता है।

(७) सांख्ययोग—अ० १३।२४–इसमें सांख्ययोगके विशेषणके रूपमें आनेसे यह सांख्ययोगका वाचक है।

इसी प्रकार अन्य स्थलोंमें भी प्रसङ्गानुसार समझ लेना चाहिये।

योगी

(१) ईश्वर—अ० १०।१७–भगवान् श्रीकृष्णका सम्बोधन होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द ईश्वरका वाचक है।

(२) आत्मज्ञानी—अ० ६।३२–अपने समान सबको देखनेका वर्णन होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द आत्मज्ञानीका वाचक है।

(३) सिद्ध भक्त—अ० १२।१४–परमात्मामें मन, बुद्धि लगानेका वर्णन होनेसे तथा 'मद्भक्त' का विशेषण होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द सिद्ध भक्तका वाचक है।

(४) कर्मयोगी—अ० ५।११–आसक्तिको त्यागकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द कर्मयोगीका वाचक है।

(५) सांख्ययोगी—अ० ५।२४–अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है।

(६) भक्तियोगी—अ० ८।१४–अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के स्मरणका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द भक्तियोगीका वाचक है।

(७) साधकयोगी—अ० ६।४५–अनेक जन्मोंके बाद सिद्धि मिलनेका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द साधकयोगी अर्थात् साधकमात्रका वाचक है।

(८) ध्यानयोगी—अ० ६।१०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द ध्यानयोगीका वाचक है।

(९) सकामकर्मी–अ० ८।२५–वापस लौटनेका उल्लेख होनेसे यहाँ 'योगी' शब्द सकाम कर्मीका वाचक है।

सम्बन्ध–पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने यह बात कही कि जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदलको सर्वथा पार कर जायगी तथा तुम इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंसे विरक्त हो जाओगे, तुम्हारी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें निश्चल होकर ठहर जायगी, तब तुम परमात्माको प्राप्त हो जाओगे। इसपर परमात्माको प्राप्त स्थितप्रज्ञ सिद्धयोगीके लक्षण और आचरण जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥५४॥

अर्जुन बोले—हे केशव! समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञ अर्थात् स्थिरबुद्धिवाले भगवत्प्राप्त पुरुषका क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?॥५४॥

प्रश्न—यहाँ 'केशव' सम्बोधनका क्या भाव है?

उत्तर—क, अ, ईश और व—इन चारोंके मिलनेसे 'केशव' पद बनता है। अतः क—ब्रह्मा, अ—विष्णु, ईश—शिव, ये तीनों जिसके व—वपु अर्थात् स्वरूप हों, उसको

केशव कहते हैं। यहाँ अर्जुन भगवान्‌को 'केशव' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि आप समस्त जगत्‌के सृजन, संरक्षण और संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान् साक्षात् सर्वज्ञ परमेश्वर हैं; अतः आप ही मेरे प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर दे सकते हैं।

प्रश्न—'स्थितप्रज्ञस्य' पदके साथ 'समाधिस्थस्य' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे यह बात कही थी कि जब तुम्हारी बुद्धि समाधिमें अर्थात् परमात्माके स्वरूपमें अचल भावसे ठहर जायगी, तब तुम योगको प्राप्त होओगे। उसके अनुसार यहाँ अर्जुन भगवान्‌से उस सिद्ध पुरुषके लक्षण जानना चाहते हैं, जो परमात्माको प्राप्त हो चुका है और जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें सदाके लिये अचल और स्थिर हो गयी है। यही भाव स्पष्ट करनेके लिये 'स्थितप्रज्ञस्य' के साथ 'समाधिस्थस्य' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—उपर्युक्त अवस्था परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषकी अक्रिय-अवस्था माननी चाहिये अथवा सक्रिय-अवस्था?

उत्तर—दोनों ही अवस्थाएँ माननी चाहिये; अर्जुनने भी यहाँ दोनोंकी ही बातें पूछी हैं—'किं प्रभाषेत' और 'किं व्रजेत' से सक्रियकी और 'किमासीत' से अक्रियकी।

प्रश्न—'भाषा' शब्दका अर्थ 'वाणी' न करके 'लक्षण' कैसे किया?

उत्तर—स्थिरबुद्धि पुरुषकी वाणीके विषयमें 'किं प्रभाषेत' अर्थात् वह कैसे बोलता है—इस प्रकार अलग प्रश्न किया गया है, इस कारण यहाँ 'भाषा' शब्दका अर्थ 'वाणी' न करके 'भाष्यते कथ्यते अनया इति भाषा'—जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप बतलाया जाय, उस लक्षणका नाम 'भाषा' है—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'भाषा' का अर्थ 'लक्षण' किया गया है; प्रचलित भाषामें भी 'परिभाषा' शब्द लक्षणका ही पर्याय है। उसी अर्थमें यहाँ 'भाषा' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है? कैसे बैठता है? कैसे चलता है? इन प्रश्नोंमें क्या साधारण बोलने, बैठने और चलनेकी बात है या और कुछ विशेषता है?

उत्तर—परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषकी सभी बातोंमें विशेषता होती है; अतएव उसका साधारण बोलना, बैठना और चलना भी विलक्षण ही होता है। किन्तु यहाँ साधारण बोलने, बैठने और चलनेकी बात नहीं है; यहाँ बोलनेसे तात्पर्य है—उसके वचन मनके किन भावोंसे भावित होते हैं? बैठनेसे तात्पर्य है—व्यवहाररहित कालमें उसकी कैसी अवस्था होती है? और चलनेसे तात्पर्य है—उसके आचरण कैसे होते हैं?

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हुए सिद्ध योगीके विषयमें चार बातें पूछी हैं; इन चारों बातोंका उत्तर भगवान्‌ने अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त दिया है, बीचमें प्रसङ्गवश दूसरी बातें भी कही हैं। इस अगले श्लोकमें अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥

प्रश्न—'सर्वान्' विशेषणके सहित 'कामान्' पद किनका वाचक है ? और उनका भलीभाँति त्याग कर देना क्या है ?

उत्तर—इस लोक या परलोकके किसी भी पदार्थके संयोग या वियोगकी जो किसी भी निमित्तसे किसी भी प्रकारकी मन्द या तीव्र कामनाएँ मनुष्यके अन्तःकरणमें हुआ करती हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'सर्वान्' विशेषणके सहित 'कामान्' पद है। इनके वासना, स्पृहा, इच्छा और तृष्णा आदि अनेक भेद हैं। इन सबका लेशमात्र भी न रहने देना, किसी भी वस्तुकी किञ्चिन्मात्र भी किसी प्रकारकी भी कामनाका न रहने देना उनका सर्वथा त्याग कर देना है।

प्रश्न—वासना, स्पृहा, इच्छा और तृष्णामें क्या अन्तर है ?

उत्तर—शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा आदि अनुकूल पदार्थोंके बने रहनेकी और प्रतिकूल पदार्थोंके नष्ट हो जानेकी जो राग-द्वेषजनित सूक्ष्म कामना है, जिसका स्वरूप विकसित नहीं होता, उसे 'वासना' कहते हैं। किसी अनुकूल वस्तुके अभावका बोध होनेपर जो चित्तमें ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम नहीं चलेगा—इस 'अपेक्षा' रूप कामनाका नाम 'स्पृहा' है। यह कामनाका वासनाकी अपेक्षा विकसित रूप है। जिस अनुकूल वस्तुका अभाव होता है, उसके मिलनेकी और प्रतिकूलके विनाशकी या न मिलनेकी प्रकट कामनाका नाम 'इच्छा' है; यह कामनाका पूर्ण विकसित रूप है और स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ यथेष्ट प्राप्त रहते हुए भी जो उनके अधिकाधिक बढ़नेकी इच्छा है, उसको 'तृष्णा' कहते हैं। यह कामनाका लोभमें परिणत बहुत स्थूल रूप है।

प्रश्न—यहाँ 'कामान्' के साथ 'मनोगतान्' विशेषण देनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि कामनाका वासस्थान मन है (३।४०); अतएव बुद्धिके साथ-साथ जब मन परमात्मामें अटल स्थिर हो जाता है, तब इन सबका सर्वथा अभाव हो जाता है। इसलिये यह समझना चाहिये कि जबतक साधकके मनमें रहनेवाली कामनाओंका सर्वथा अभाव नहीं हो जाता, तबतक उसकी बुद्धि स्थिर नहीं है।

प्रश्न—आत्मासे आत्मामें ही सन्तुष्ट रहना क्या है ?

उत्तर—अन्तःकरणमें स्थित समस्त कामनाओंका सर्वथा अभाव हो जानेके बाद समस्त दृश्य जगत्से सर्वथा अतीत नित्य, शुद्ध, बुद्ध आत्माके यथार्थ स्वरूपको प्रत्यक्ष करके जो उसीमें नित्य तृप्त हो जाना है—यही आत्मासे आत्मामें ही सन्तुष्ट रहना है। तीसरे अध्यायके सतरहवें श्लोकमें भी महापुरुषके लक्षणोंमें आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही सन्तुष्ट रहनेकी बात कही गयी है।

प्रश्न—उस समय वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि कर्मयोगका साधन करते-करते जब योगीकी उपर्युक्त स्थिति हो जाय, तब समझना चाहिये कि उसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हो गयी है अर्थात् वह योगी परमात्माको प्राप्त हो चुका है।

सम्बन्ध—स्थितप्रज्ञके विषयमें अर्जुनने चार बातें पूछी हैं, उनमेंसे पहला प्रश्न इतना व्यापक है कि उसके बादके तीनों प्रश्नोंका उसमें अन्तर्भाव हो जाता है। इस दृष्टिसे तो अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त उस एक ही प्रश्नका उत्तर है; पर अन्य तीन प्रश्नोंका भेद समझनेके लिये ऐसा समझना चाहिये कि अब दो श्लोकोंमें 'स्थित-प्रज्ञ कैसे बोलता है' इस दूसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रश्न—'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें उद्वेगका सर्वथा अभाव दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि जिसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिर हो जाती है, उस भगवत्प्राप्त पुरुषको साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या है, भारी-से-भारी दुःख भी उस स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते (६। २२)। शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका आकस्मिक वियोग, बिना ही कारण संसारमें महान् अपमान एवं तिरस्कार और निन्दादिका हो जाना, इसके सिवा और भी जितने महान् दुःखोंके कारण हैं, वे सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग नहीं उत्पन्न कर सकते। इस कारण उसके वचनोंमें भी सर्वथा उद्वेगका अभाव होता है; यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा मन या वाणीसे कहीं उद्वेगका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें उद्वेग नहीं है, वह तो लीलामात्र है।

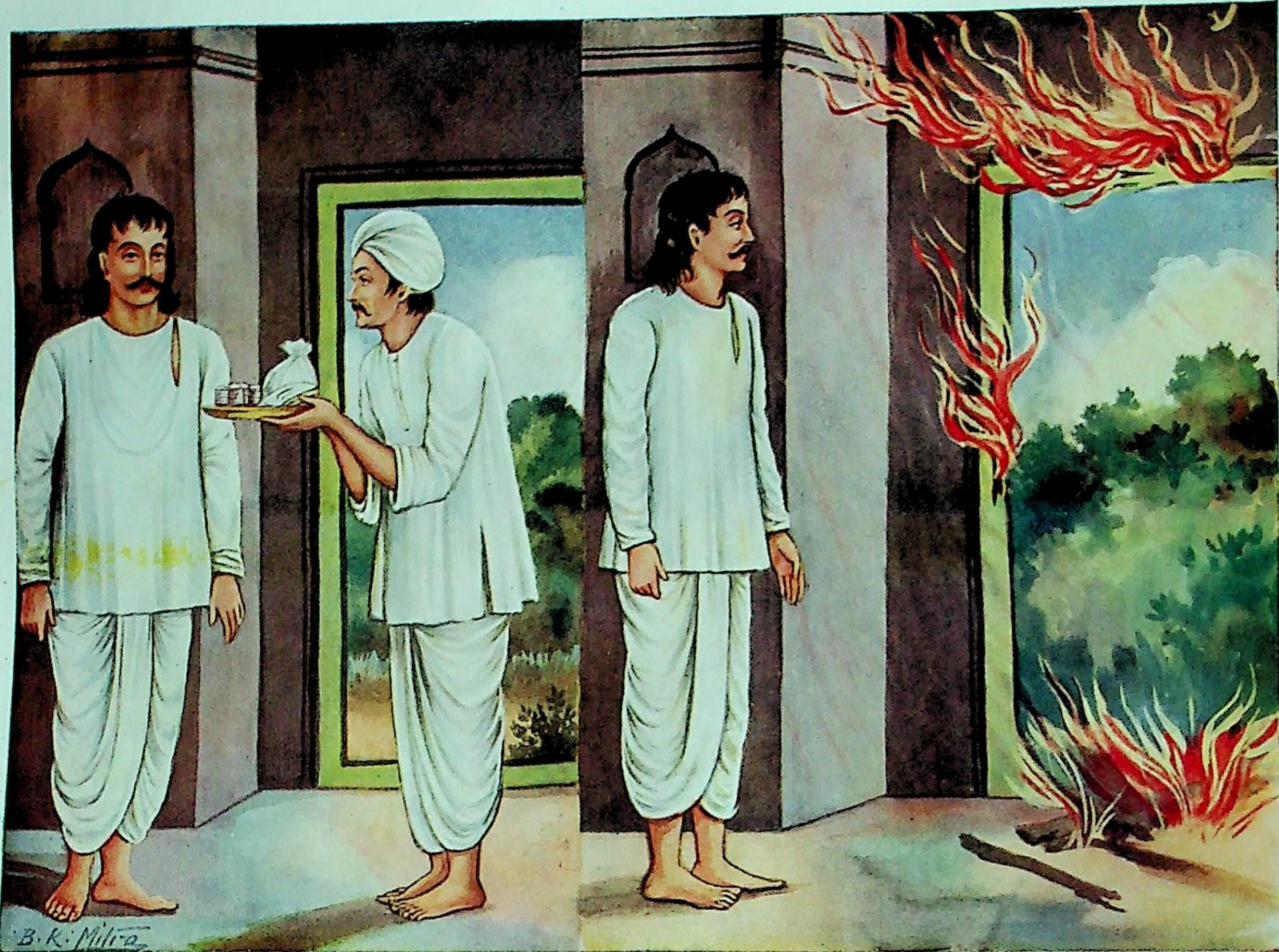
प्रश्न—'सुखेषु विगतस्पृहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि मनुष्यके अन्तःकरणमें स्पृहारूपी दोषका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह दुःख और सुख दोनोंमें सदा ही सम रहता है (१२। १३; १४। २४), जिस प्रकार बड़े-से-बड़ा दुःख उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़े-से-बड़ा सुख भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहाका भाव नहीं उत्पन्न कर सकता; इस कारण उसकी वाणीमें स्पृहाके दोषका भी सर्वथा अभाव होता है। यदि लोकसंग्रहके लिये उसके द्वारा मन या वाणीसे कहीं स्पृहाका भाव दिखलाया जाय तो वह वास्तवमें स्पृहा नहीं है, लीलामात्र है।

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित, शान्त और सरल होती है। लोकसंग्रहके लिये उसके मन

स्थितप्रज्ञ



यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् । नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (२।५७)

या वाणीकी क्रियाद्वारा आसक्ति, भय या क्रोधका भाव दिखलाया जा सकता है; पर वास्तवमें उसके मन या वाणीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं रहता। केवल वाणीको उपर्युक्त समस्त विकारोंसे रहित करके बोलना तो किसी भी धैर्ययुक्त बुद्धिमान् पुरुषके लिये भी सम्भव है; पर उसके अन्तःकरणमें विकार हुए विना नहीं रह सकते, इस कारण यहाँ भगवान्‌ने 'स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है ?' इस प्रश्नके उत्तरमें उसकी वाणीकी ऊपरी क्रिया न बतलाकर उसके मनके भावोंका वर्णन किया है। अतः इससे यह समझना चाहिये कि स्थिरबुद्धि योगीकी वाणी उसके अन्तः-करणके अनुरूप सर्वथा निर्विकार और शुद्ध होती है।

प्रश्न—ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त योगी ही वास्तवमें 'मुनि' अर्थात् वाणीका संयम करनेवाला है और वही स्थिर-बुद्धि है; जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें विकार भरे हैं, वह वाणीका संयमी होनेपर भी स्थिरबुद्धि नहीं हो सकता।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—'सर्वत्र अनभिस्नेहः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे स्थिरबुद्धि योगीमें अभिस्नेहका अर्थात् ममतापूर्वक होनेवाली सांसारिक आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र और कुटुम्बवालोंमें ममता और आसक्ति रखते हैं, दिन-रात उनमें मोहित हुए रहते हैं तथा उनके हरेक वचनमें उस मोहयुक्त स्नेहके भाव टपकते रहते हैं, स्थिरबुद्धि योगीमें ऐसा नहीं होता। उसके अन्तःकरणमें विशुद्ध प्रेम भरा रहता है; इस कारण उसका समस्त प्राणियोंमें समभावसे हेतुरहित प्रेम रहता है (१२।१३), किसी भी प्राणीमें ममता और आसक्तियुक्त प्रेम नहीं रहता। इसलिये उसकी वाणी भी ममता और आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित, शुद्ध प्रेममयी होती है। आसक्ति ही काम-क्रोध आदि सारे विकारोंकी मूल है। इसलिये आसक्तिके अभावसे अन्य सारे विकारोंका अभाव समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—'शुभाशुभम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जिनको प्रिय और अप्रिय तथा अनुकूल और प्रतिकूल कहते हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'शुभाशुभम्' पद है। वास्तवमें स्थिरबुद्धि योगीका संसारकी किसी भी वस्तुमें अनुकूल या प्रतिकूल भाव नहीं रहता; केवल व्यावहारिक दृष्टिसे जो उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल दिखलायी देती हो उसे शुभ और जो प्रतिकूल दिखलायी देती हो उसे अशुभ बतलानेके लिये यहाँ 'शुभाशुभम्' पद दिया गया है। इसके साथ 'तत्' पदका दो बार प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसी

अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुएँ अनन्त हैं; उनमेंसे जिस-जिस वस्तुके साथ उस योगीका अनिच्छा या परेच्छासे संयोग होता है, उस-उसके संयोगमें उसका कैसा भाव रहता है—यही यहाँ बतलाया गया है।

प्रश्न—'न अभिनन्दति'का क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर साधारण मनुष्योंके अन्तःकरणमें बड़ा हर्ष होता है, अतएव वे हर्षमें मग्न होकर वाणीद्वारा बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और उस वस्तुकी स्तुति किया करते हैं; किन्तु स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त अनुकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (५।२०)। इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता। यदि उसके अन्तःकरण या वाणी-द्वारा लोकसंग्रहके लिये कोई हर्षका भाव प्रकट किया जाता है या स्तुति की जाती है तो वह हर्षका विकार नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न—'न द्वेष्टि'का क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्योंको बड़ा भारी हर्ष होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल वस्तुके प्राप्त होनेपर वे उससे द्वेष करते हैं, उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ होता है, वे उस वस्तुकी द्वेषभरी निन्दा किया करते हैं; पर स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता। उस वस्तुके संयोगसे किसी प्रकारका जरा-सा भी उद्वेग या विकार नहीं होता। उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (५।२०)। इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता। ऐसे महापुरुषकी वाणी-द्वारा यदि लोकसंग्रहके लिये किसी प्राणी या वस्तुको कहीं बुरा बतलाया जाता है या उसकी निन्दा की जाती है तो वह वास्तवमें निन्दा नहीं है, क्योंकि उसका किसीमें द्वेषभाव नहीं है।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो महापुरुष उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न हों, जिनके अन्तः-करण और इन्द्रियोंमें किसी भी वस्तु या प्राणीके संयोग-वियोगमें किसी भी घटनासे किसी प्रकारका तनिक भी विकार कभी न होता हो, उनको स्थिरबुद्धि योगी समझना चाहिये।

प्रश्न—इन दो श्लोकोंमें बोलनेकी बात तो स्पष्टरूपसे कहीं नहीं आयी है; फिर यह कैसे समझा जा सकता है कि इनमें 'वह कैसे बोलता है?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है?

उत्तर—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि यहाँ साधारण बोलनेकी बात नहीं है। केवल वाणीकी बात हो, तब तो कोई भी दम्भी या पाखण्डी मनुष्य भी रटकर अच्छी-से-अच्छी वाणी बोल सकता है। यहाँ तो यथार्थमें मनके भावोंकी प्रधानता है। इन दो श्लोकोंमें बतलाये हुए मानसिक भावोंके अनुसार, इन भावोंसे भावित जो वाणी होती है, उसीसे भगवान्‌का तात्पर्य है। इसीलिये इनमें वाणीकी स्पष्ट बात न कहकर मानसिक भावोंकी बात कही गयी है।

सम्बन्ध—'स्थिरबुद्धिवाला योगी कैसे बोलता है ?' इस दूसरे प्रश्नका उत्तर समाप्त करके अब भगवान् 'वह कैसे बैठता है ?' इस तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए यह दिखलाते हैं कि स्थितप्रज्ञ पुरुषकी इन्द्रियोंका सर्वथा उसके वशमें हो जाना और आसक्तिसे रहित होकर अपने-अपने विषयोंसे उपरत हो जाना ही स्थितप्रज्ञ पुरुषका बैठना है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

और कछुआ सब ओरसे अपने अङ्गोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

प्रश्न—कछुएकी भाँति इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेना क्या है ?

उत्तर—जिस प्रकार कछुआ अपने समस्त अङ्गोंको सब ओरसे सङ्कुचित करके स्थिर हो जाता है, उसी प्रकार ध्यानकालमें जो वशमें की हुई समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको इन्द्रियोंके समस्त भोगोंसे हटा लेना है, किसी भी इन्द्रियको किसी भी भोगकी ओर आकर्षित न होने देना तथा उन इन्द्रियोंमें मन और बुद्धिको विचलित करनेकी शक्ति न रहने देना है—यही कछुए-की भाँति इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटा लेना है। ऊपरसे इन्द्रियोंके स्थानोंको बंद करके स्थूल विषयोंसे इन्द्रियोंको हटा लेनेपर भी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ विषयोंकी ओर दौड़ती रहती हैं, इसी कारण साधारण मनुष्य स्वप्नमें और मनोराज्यमें इन्द्रियोंद्वारा सूक्ष्म विषयोंका उपभोग करता रहता है; यहाँ 'सर्वशः' पदका प्रयोग करके इस प्रकारके विषयोपभोगसे भी इन्द्रियोंको सर्वथा हटा लेनेकी बात कही गयी है।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया है कि जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकारसे ऐसी वशमें की हुई हैं कि उनमें मन और बुद्धिको विषयोंकी ओर आकर्षित करनेकी जरा भी शक्ति नहीं रह गयी है और इस प्रकारसे वशमें की हुई अपनी इन्द्रियोंको जो सर्वथा विषयोंसे हटा लेता है, उसीकी बुद्धि स्थिर रह सकती है। जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती; क्योंकि इन्द्रियाँ मन और बुद्धिको बलात्कारसे विषय-सेवनमें लगा देती हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञके बैठनेका प्रकार बतलाकर अब उसमें होनेवाली शङ्काओंका समाधान करनेके लिये अन्य प्रकारसे किये जानेवाले इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा स्थितप्रज्ञके इन्द्रियसंयमकी विलक्षणता दिखलाते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है ॥ ५९ ॥

प्रश्न–यहाँ 'निराहारस्य' विशेषणके सहित 'देहिनः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर–संसारमें जो भोजनका परित्याग कर देता है, उसे 'निराहार' कहते हैं; परन्तु यहाँ 'निराहारस्य' पदका प्रयोग इस अर्थमें नहीं है, क्योंकि यहाँ 'विषयाः' पदमें बहुवचनका प्रयोग करके समस्त विषयोंके निवृत्त हो जानेकी बात कही गयी है। भोजनके त्यागसे तो केवल जिह्वा-इन्द्रियके विषय–रसकी ही निवृत्ति होती है; शब्द, स्पर्श, रूप और गन्धकी निवृत्ति नहीं होती। अतः यह समझना चाहिये कि जिस इन्द्रियका जो विषय है, वही उसका आहार है–इस दृष्टिसे जो सभी इन्द्रियोंके द्वारा समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका ग्रहण करना छोड़ देता है, ऐसे देहाभिमानी मनुष्यका वाचक यहाँ 'निराहारस्य' विशेषणके सहित 'देहिनः' पद है।

प्रश्न–ऐसे मनुष्यके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–इससे यह भाव दिखलाया गया है कि विषयोंका परित्याग कर देनेवाला अज्ञानी भी ऊपरसे तो कछुएकी भाँति अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा सकता है; किन्तु उसकी उन विषयोंमें आसक्ति बनी रहती है, आसक्तिका नाश नहीं होता। इस कारण उसकी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ विषयोंकी ओर दौड़ती रहती हैं और उसके अन्तःकरणको स्थिर नहीं होने देतीं। निम्नलिखित उदाहरणोंसे यह बात ठीक समझमें आ सकती है।

रोग या मृत्युके भयसे अथवा अन्य किसी हेतुसे विषयासक्त मनुष्य किसी एक विषयका या अधिक विषयोंका त्याग कर देता है। वह जैसे जब जिस विषयका परित्याग करता है तब उस विषयकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही समस्त विषयोंका त्याग करनेसे समस्त विषयोंकी निवृत्ति भी हो सकती है; परन्तु वह निवृत्ति हठ, भय या अन्य किसी कारणसे आसक्ति रहते ही होती है, ऐसी निवृत्तिसे वस्तुतः आसक्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

दम्भी मनुष्य लोगोंको दिखलानेके लिये किसी समय जब बाहरसे दसों इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंका परित्याग कर देता है तब ऊपरसे तो विषयोंकी निवृत्ति हो जाती है, परन्तु आसक्ति रहनेके कारण मनके द्वारा वह इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है (३। ६); अतः उसकी आसक्ति पूर्ववत् ही बनी रहती है।

भौतिक सुखोंकी कामनावाला मनुष्य अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये या अन्य किसी प्रकारके विषय-सुखकी प्राप्तिके लिये ध्यानकालमें या समाधि-अवस्थामें दसों इन्द्रियोंके विषयोंका ऊपरसे भी त्याग कर देता है और मनसे भी उनका चिन्तन नहीं करता तो भी उन भोगोंमें उसकी आसक्ति बनी रहती है, आसक्तिका नाश नहीं होता।

इस प्रकार स्वरूपसे विषयोंका परित्याग कर देनेपर विषय तो निवृत्त हो सकते हैं, पर उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती; और यही ज्ञानी और अज्ञानीके इन्द्रिय-संयममें भेद है।

प्रश्न–यहाँ 'रस' का अर्थ आस्वादन अथवा मनके

द्वारा उपभोग मानकर 'उसका रस निवृत्त नहीं होता' इस वाक्यका अर्थ यदि यह मान लिया जाय कि ऐसा पुरुष स्वरूपसे विषयोंका त्यागी होकर भी मनसे उनके उपभोगका आनन्द लेता रहता है, तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—उपर्युक्त वाक्यका ऐसा अर्थ लिया तो जा सकता है; किन्तु इस प्रकार मनके द्वारा विषयोंका आस्वादन विषयोंमें आसक्ति होनेपर ही होता है, अतः 'रस' का अर्थ 'आसक्ति' लेनेसे यह बात उसके अन्तर्गत ही आ जाती है। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार मनके द्वारा विषयोंका उपभोग परमात्माके साक्षात्कारसे पूर्व हठ, विवेक एवं विचारके द्वारा भी रोका जा सकता है; परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर तो उसके मूल आसक्तिका भी नाश हो जाता है और इसीमें परमात्माके साक्षात्कारकी चरितार्थता है, विषयोंका मनसे उपभोग हटानेमें नहीं। अतः 'रस' का अर्थ जो ऊपर किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—'अस्य' पद किसका वाचक है और 'इसकी आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'अस्य' पद, यहाँ जिसका प्रकरण चल रहा है उस स्थितप्रज्ञ योगीका वाचक है तथा उपर्युक्त कथनसे यहाँ यह दिखलाया गया है कि उस स्थितप्रज्ञ योगीको परमानन्दके समुद्र परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके कारण उसकी किसी भी सांसारिक पदार्थमें जरा भी आसक्ति नहीं रहती। क्योंकि आसक्तिका कारण अविद्या है,* उस अविद्याका परमात्माके साक्षात्कार होनेपर अभाव हो जाता है। साधारण मनुष्योंको मोहवश इन्द्रियोंके भोगोंमें सुखकी प्रतीति हो रही है, इसी कारण उनकी उन भोगोंमें आसक्ति है; पर वास्तवमें भोगोंमें सुखका लेश भी नहीं है। उनमें जो कुछ सुख प्रतीत हो रहा है, वह भी उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माके आनन्दके किसी अंशका आभासमात्र ही है। जैसे अँधेरी रातमें चमकनेवाले नक्षत्रोंमें जिस प्रकाशकी प्रतीति होती है वह प्रकाश सूर्यके ही प्रकाशका आभास है और सूर्यके उदय हो जानेपर उनका प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला सुख आनन्दमय परमात्माके आनन्दका ही आभास है; अतः जिस मनुष्यको उस परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको इन भोगोंमें सुखकी प्रतीति ही नहीं होती (२। ६९) और न उनमें उसकी किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति ही रहती है।

क्योंकि परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे ? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है।

इस प्रकार आसक्ति न रहनेके कारण स्थितप्रज्ञके संयममें केवल विषयोंकी ही निवृत्ति नहीं होती, मूलसहित आसक्तिका भी सर्वथा अभाव हो जाता है; यह उसकी विशेषता है।

---

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योग० २। ३)

अज्ञान, चिज्जडग्रन्थि यानी जड और चेतनकी एकता-सी प्रतीत होना, आसक्ति, द्वेष और मरण-भय—इन पाँचोंकी 'क्लेश' संज्ञा है।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्······। (योग० २। ४)

उपर्युक्त इनमें कारणरूप अविद्या है अर्थात् अज्ञानसे ही इन चारोंकी उत्पत्ति होती है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे आसक्तिका नाश न होकर केवल विषयोंकी निवृत्ति होनेसे असंयमी मनुष्यकी बुद्धि और मन स्थिर क्यों नहीं होते ? इसपर कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे अर्जुन ! क्योंकि आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं ॥६०॥

प्रश्न—'हि' पदका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—'हि' पद यहाँ देहली-दीपकन्यायसे इस श्लोकका पूर्वश्लोकसे तथा अगले श्लोकके साथ भी सम्बन्ध बतलाता है । पिछले श्लोकमें यह बात कही गयी कि विषयोंका केवल स्वरूपसे त्याग करनेवाले पुरुषके विषय ही निवृत्त होते हैं, उनमें उसका राग निवृत्त नहीं होता । इसपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि रागके निवृत्त न होनेसे क्या हानि है । इसके उत्तरमें इस श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जबतक मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति बनी रहती है, तबतक उस आसक्तिके कारण उसकी इन्द्रियाँ उसे बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं; अतएव उसकी मनसहित बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाती और चूँकि इन्द्रियाँ इस प्रकार बलात्कारसे मनुष्यके मनको हर लेती हैं, इसीलिये अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि इन सब इन्द्रियोंको वशमें करके मनुष्यको समाहितचित्त एवं मेरे परायण होकर ध्यानमें स्थित होना चाहिये । इस प्रकार 'हि' पदसे पिछले और अगले दोनों श्लोकोंके साथ इस श्लोकका सम्बन्ध बतलाया गया है ।

प्रश्न—'इन्द्रियाणि' पदके साथ 'प्रमाथीनि' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'प्रमाथीनि' विशेषणका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जबतक मनुष्यकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो जातीं और जबतक उसकी इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति रहती है, तबतक इन्द्रियाँ मनुष्यके मनको बार-बार विषयसुखका प्रलोभन देकर उसे स्थिर नहीं होने देतीं, उसका मन्थन ही करती रहती हैं ।

प्रश्न—यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद किस मनुष्यका वाचक है और 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—जो पुरुष शास्त्रोंके श्रवण-मननसे और विवेक-विचारसे विषयोंके दोषोंको जान लेता है और उनसे इन्द्रियोंको हटानेका यत्न भी करता रहता है, किन्तु जिसकी विषयासक्तिका नाश नहीं हो सका है, ऐसे बुद्धिमान् यत्नशील साधकका वाचक यहाँ 'यततः' और 'विपश्चितः'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुषस्य' पद है; इनके सहित 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया है कि जब ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ विषयासक्तिके कारण ऐसे बुद्धिमान् विवेकी यत्नशील मनुष्यके मनको भी बलात्कारसे विषयोंमें प्रवृत्त कर देती हैं, तब साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है । अतएव स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्यको आसक्तिका सर्वथा त्याग करके इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार इन्द्रियसंयमकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके अब भगवान् साधकका कर्तव्य बतलाते हुए पुनः इन्द्रियसंयमको स्थितप्रज्ञ-अवस्थाका हेतु बतलाते हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६१ ॥

प्रश्न–यहाँ इन्द्रियोंके साथ 'सर्वाणि' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–समस्त इन्द्रियोंको वशमें करनेकी आवश्यकता दिखलानेके लिये 'सर्वाणि' विशेषण दिया गया है, क्योंकि वशमें न की हुई एक इन्द्रिय भी मनुष्यके मन-बुद्धिको विचलित करके साधनमें विघ्न उपस्थित कर देती है (२।६७)। अतएव परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले पुरुषको सम्पूर्ण इन्द्रियोंको ही भलीभाँति वशमें करना चाहिये ।

प्रश्न–'समाहितचित्त' और 'भगवत्परायण' होकर ध्यानमें बैठनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर–इन्द्रियोंका संयम हो जानेपर भी यदि मन वशमें नहीं होता तो मनके द्वारा विषय-चिन्तन होकर साधकका पतन हो जाता है और मन-बुद्धिके लिये परमात्माका आधार न रहनेसे वे स्थिर नहीं रह सकते । इस कारण समाहितचित्त और भगवत्परायण होकर परमात्माके ध्यानमें बैठनेके लिये कहा गया है । छठे अध्यायके ध्यानयोगके प्रसङ्गमें भी यही बात कही गयी है (६ । १४) । इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्माके ध्यानमें लगे हुए मनुष्यकी बुद्धि स्थिर हो जाती है और उसको शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

प्रश्न–जिसकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–श्लोकके पूर्वार्द्धमें इन्द्रियोंको वशमें करके तथा संयतचित्त और भगवत्परायण होकर ध्यानमें बैठनेके लिये कहा गया, उसी कथनके हेतुरूपसे इस उत्तरार्द्धका प्रयोग हुआ है । अतः इसका यह भाव समझना चाहिये कि ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके मन और इन्द्रियोंको संयमित कर बुद्धिको परमात्माके स्वरूपमें स्थिर करना चाहिये; क्योंकि जिसके मनसहित इन्द्रियाँ वशमें की हुई होती हैं, उसी साधककी बुद्धि स्थिर हो सकती है; जिसके मनसहित इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती । अतः मन और इन्द्रियोंको वशमें करना मनुष्यके लिये परम आवश्यक है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेसे और भगवत्परायण न होनेसे मनुष्यका किस प्रकार पतन हो जाता है ?—यह बात अब दो श्लोकोंमें बतलायी जाती है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

प्रश्न—विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यकी उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस मनुष्यकी भोगोंमें सुख और रमणीयता बुद्धि है, जिसका मन वशमें नहीं है और जो परमात्माका चिन्तन नहीं करता, ऐसा मनुष्य जब इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करके इन्द्रियोंको रोककर बैठता है, तो परमात्मामें प्रेम और उनका आश्रय न रहनेके कारण उसके मनद्वारा इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन होता रहता है। इस प्रकार विषयोंका चिन्तन करते-करते उन विषयोंमें उसकी अत्यन्त आसक्ति हो जाती है। तब फिर उसके हाथकी बात नहीं रहती, उसका मन विचलित हो जाता है।

प्रश्न—विषयोंके चिन्तनसे क्या सभी पुरुषोंके मनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है ?

उत्तर—जिन पुरुषोंको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है, उनके लिये तो विषयचिन्तनसे आसक्ति होनेका कोई प्रश्न ही नहीं रहता। 'परं दृष्ट्वा निवर्तते' से भगवान् ऐसे पुरुषोंमें आसक्तिका अत्यन्ताभाव बतला चुके हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभीके मनोंमें न्यूनाधिकरूपमें आसक्ति उत्पन्न हो सकती है।

प्रश्न—उपर्युक्त आसक्तिसे कामनाका उत्पन्न होना क्या है ? और कामनासे क्रोधका उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—विषयोंका चिन्तन करते-करते जब मनुष्यकी उनमें अत्यन्त आसक्ति हो जाती है, उस समय उसके मनमें नाना प्रकारके भोग प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा जागृत हो उठती है; यही आसक्तिसे कामनाका उत्पन्न होना है तथा उस कामनामें किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित होनेपर जो उस विघ्नके कारणमें द्वेषबुद्धि होकर क्रोध उत्पन्न हो जाता है, यही कामनासे क्रोधका उत्पन्न होना है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

तथा क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ॥ ६३ ॥

प्रश्न—क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त मूढभावका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जिस समय मनुष्यके अन्तःकरणमें क्रोधकी वृत्ति जाग्रत् होती है, उस समय उसके अन्तःकरणमें विवेकशक्तिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह कुछ भी आगा-पीछा नहीं सोच सकता। क्रोधके वश होकर जिस कार्यमें प्रवृत्त होता है, उसके परिणामका उसको कुछ भी खयाल नहीं रहता। यही क्रोधसे उत्पन्न सम्मोहका अर्थात् अत्यन्त मूढभावका स्वरूप है।

प्रश्न—उक्त सम्मोहसे उत्पन्न होनेवाले 'स्मृतिविभ्रम' का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जब क्रोधके कारण मनुष्यके अन्तःकरणमें

मूढ़भाव बढ़ जाता है, तब उसकी स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, उसे यह ध्यान नहीं रहता कि किस मनुष्यके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ? मुझे क्या करना चाहिये ? क्या न करना चाहिये ? मैंने अमुक कार्य किस प्रकार करनेका निश्चय किया था और अब क्या कर रहा हूँ ? इसलिये पहले सोची-विचारी हुई बातोंको वह काममें नहीं ला सकता, उसकी स्मृति छिन्न-भिन्न हो जाती है। यही सम्मोहसे उत्पन्न हुए स्मृति-विभ्रमका स्वरूप है।

प्रश्न—उपर्युक्त स्मृतिविभ्रमसे बुद्धिका नष्ट हो जाना और उस बुद्धिनाशसे मनुष्यका अपनी स्थितिसे गिर जाना क्या है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे स्मृतिमें विभ्रम होनेसे अन्तःकरणमें किसी कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय करनेकी शक्तिका न रहना ही बुद्धिका नष्ट हो जाना है। ऐसा होनेसे मनुष्य अपने कर्तव्यका त्याग कर अकर्तव्यमें प्रवृत्त हो जाता है—उसके व्यवहारमें कटुता, कठोरता, कायरता, हिंसा, प्रतिहिंसा, दीनता, जडता और मूढता आदि दोष आ जाते हैं। अतएव उसका पतन हो जाता है, वह शीघ्र ही अपनी पहलेकी स्थितिसे नीचे गिर जाता है और मरनेके बाद नाना प्रकारकी नीच योनियोंमें या नरकमें पड़ता है; यही बुद्धिनाशसे उसका अपनी स्थितिसे गिर जाना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेवाले मनुष्यके पतनका क्रम बतलाकर अब भगवान् 'स्थितप्रज्ञ योगी कैसे चलता है' इस चौथे प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हुए पहले दो श्लोकोंमें जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें होते हैं, ऐसे साधकद्वारा विषयोंमें विचरण किये जानेका प्रकार और उसका फल बतलाते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

परन्तु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है ॥६४॥

प्रश्न—'तु' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकोंमें जिसके मन, इन्द्रिय वशमें नहीं हैं, ऐसे विषयी मनुष्यकी अवनतिका वर्णन किया गया और अब दो श्लोकोंमें उससे विलक्षण जिसके मन, इन्द्रिय वशमें किये हुए हैं, ऐसे विरक्त साधककी उन्नतिका वर्णन किया जाता है। इस भेदका द्योतक यहाँ 'तु' पद है।

प्रश्न—'विधेयात्मा' पद कैसे साधकका वाचक है ?

उत्तर—जिसका अन्तःकरण भलीभाँति वशमें किया हुआ है, ऐसे साधकका वाचक यहाँ 'विधेयात्मा' पद है।

प्रश्न—ऐसे साधकका अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करना क्या है ?

उत्तर—साधारण मनुष्योंकी इन्द्रियाँ स्वतन्त्र होती हैं, उनके वशमें नहीं होतीं; उन इन्द्रियोंमें राग-द्वेष भरे रहते हैं। इस कारण उन इन्द्रियोंके वश होकर भोगोंको भोगनेवाला मनुष्य उचित-अनुचितका विचार न करके जिस किसी प्रकारसे भोग-सामग्रियोंके संग्रह करने और भोगनेकी चेष्टा करता है और उन भोगोंमें राग-द्वेष करके सुखी-दुखी होता रहता है; उसे आध्यात्मिक सुखका अनुभव नहीं होता; किन्तु उपर्युक्त साधककी इन्द्रियाँ उसके वशमें होती हैं और उनमें राग-द्वेषका

अभाव होता है—इस कारण वह अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार योग्यतासे प्राप्त हुए भोगोंमें विना राग-द्वेषके विचरण करता है; उसका देखना-सुनना, खाना-पीना, उठना-बैठना, बोलना-बतलाना, चलना-फिरना और सोना-जागना आदि समस्त इन्द्रियोंके व्यवहार नियमित और शास्त्रविहित होते हैं; उसकी सभी क्रियाओंमें राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ आदि विकारोंका अभाव होता है। यही उसका अपने वशमें की हुई राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करना है।

प्रश्न—पहले (५९वें श्लोकमें) यह कहा जा चुका है कि परमात्माका साक्षात्कार हुए विना रागका नाश नहीं होता और यहाँ राग-द्वेषरहित होकर विषयोंमें विचरण करनेसे प्रसादको प्राप्त होकर स्थिरबुद्धि होनेकी बात कही गयी है। यहाँके इस कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि परमात्माकी प्राप्तिसे पूर्व भी राग-द्वेषका नाश सम्भव है। अतएव इन दोनों कथनोंमें जो विरोध प्रतीत होता है, उसका समन्वय कैसे हो सकता है?

उत्तर—दोनोंमें कोई विरोध नहीं है, वहाँ (५९वें श्लोकमें) राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव है और यहाँ विवेकके द्वारा राग-द्वेषके सम्पूर्णतया त्यागकी साधना है, साधन करते-करते अन्तमें परमात्माकी प्राप्ति होनेपर राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

प्रश्न—इन्द्रियोंसे विषयोंका संयोग न होने देना यानी बाहरसे विषयोंका त्याग, इन्द्रियोंका संयम और इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित हो जाना—इन तीनोंमें कौन श्रेष्ठ है और भगवत्प्राप्तिमें विशेष सहायक है?

उत्तर—तीनों ही भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक हैं; किन्तु इनमें बाह्य विषय-त्यागकी अपेक्षा इन्द्रियसंयम और इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित होना विशेष उपयोगी और श्रेष्ठ है।

यद्यपि बाह्य विषयोंका त्याग भी भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक है, परन्तु जबतक इन्द्रियसंयम और राग-द्वेषका त्याग न हो तबतक केवल बाह्य विषयोंके त्यागसे विषयोंकी पूर्ण निवृत्ति नहीं हो सकती और न कोई सिद्धि ही प्राप्त होती है तथा ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषयका त्याग किये विना इन्द्रियसंयम हो ही नहीं सकता। क्योंकि भगवान्‌की पूजा, सेवा, जप आदि दूसरे उपायोंसे सहज ही इन्द्रिय-संयम हो जाता है एवं इन्द्रिय-संयम हो जानेपर अनायास ही विषयोंका त्याग किया जा सकता है। इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं, वह चाहे जब, चाहे जिस विषयका त्याग कर सकता है। इसलिये बाह्य विषय-त्यागकी अपेक्षा इन्द्रियसंयम श्रेष्ठ है।

इस प्रकार इन्द्रियसंयम भी भगवत्प्राप्तिमें सहायक है; परन्तु इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हुए विना केवल इन्द्रिय-संयमसे विषयोंकी पूर्णतया निवृत्ति होकर वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती और ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषय-त्याग तथा इन्द्रियसंयम हुए विना इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हो ही न सकता हो। ईश्वरकृपा और भजन-ध्यान आदिसे राग-द्वेषका नाश हो सकता है और जिसके इन्द्रियोंके राग-द्वेषका नाश हो गया है, उसके लिये बाह्य विषयोंका त्याग और इन्द्रियसंयम अनायास अपने-आप ही हो जा सकता है। जिसका इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेष नहीं है, वह पुरुष यदि बाह्यरूपसे विषयोंका त्याग न करे तो विषयोंमें विचरण करता हुआ ही विषयोंसे पूर्णतया निवृत्त होकर वस्तुतः परमात्माको प्राप्त कर सकता है; इसलिये इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित होना विषयोंके त्याग और इन्द्रियसंयमसे भी श्रेष्ठ है।

प्रश्न—'प्रसादम्' पद यहाँ किसका वाचक है?

उत्तर—वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा विना राग-द्वेषके व्यवहार करनेसे साधकका अन्तःकरण शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है, इस कारण उसमें आध्यात्मिक सुख और शान्तिका अनुभव होता है (१८।३७); उस सुख

और शान्तिका वाचक यहाँ 'प्रसादम्' पद है। इस सुख और शान्तिके हेतुरूप अन्तःकरणकी पवित्रताको और भगवान्‌के अर्पण की हुई वस्तु अन्तःकरणको पवित्र करनेवाली होती है, इस कारण उसको भी प्रसाद कहते हैं; परन्तु अगले श्लोकमें उपर्युक्त पुरुषके लिये 'प्रसन्नचेतसः' पदका प्रयोग किया गया है, अतः यहाँ 'प्रसादम्' पदका अर्थ अन्तःकरणकी आध्यात्मिक प्रसन्नता मानना ही ठीक मालूम होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्त-वाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ॥६५॥

प्रश्न—अन्तःकरणकी प्रसन्नतासे सारे दुःखोंका अभाव कैसे हो जाता है ?

उत्तर—पापोंके कारण ही मनुष्योंको दुःख होता है और कर्मयोगके साधनसे पापोंका नाश होकर अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है तथा शुद्ध अन्तःकरणमें ही उपर्युक्त सात्त्विक प्रसन्नता होती है। इसलिये सात्त्विक प्रसन्नता-से सारे दुःखोंका अभाव बतलाना न्यायसङ्गत ही है (१८। ३६-३७)।

प्रश्न—'सर्वदुःखानाम्' पद किनका वाचक है और उनका अभाव हो जाना क्या है ?

उत्तर—अनुकूल पदार्थोंके वियोग और प्रतिकूल पदार्थोंके संयोगसे जो आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक नाना प्रकारके दुःख सांसारिक मनुष्योंको प्राप्त होते हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'दुःखानाम्' पद है। उपर्युक्त साधकको आध्यात्मिक सात्त्विक प्रसन्नताका अनुभव हो जानेके बाद उसे किसी भी वस्तुके संयोग-वियोगसे किञ्चिन्मात्र भी दुःख नहीं होता। वह सदा आनन्दमें मग्न रहता है। यही सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाना है।

प्रश्न—प्रसन्नचित्तवाले योगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर भलीभाँति परमात्मामें स्थिर हो जाती है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि अन्तःकरण-के पवित्र हो जानेपर जब साधकको आध्यात्मिक प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, तब उसका मन क्षणभर भी उस सुख और शान्तिका त्याग नहीं कर सकता। इस कारण उसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सब ओरसे हट जाती हैं और उसकी बुद्धि शीघ्र ही परमात्माके स्वरूपमें स्थिर हो जाती है। फिर उसके निश्चयमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती।

प्रश्न—अर्जुनका प्रश्न स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुषके विषयमें था। इस श्लोकमें साधकका वर्णन है, क्योंकि इसका फल प्रसादकी प्राप्तिके द्वारा शीघ्र ही बुद्धिका स्थिर होना बतलाया गया है। अतएव अर्जुनके चौथे प्रश्नका उत्तर इस श्लोकसे कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर—यद्यपि अर्जुनका प्रश्न साधकके सम्बन्धमें नहीं है, परन्तु अर्जुन साधक हैं और भगवान् उन्हें सिद्ध बनाना चाहते हैं। अतएव सुगमताके साथ उन्हें समझानेके लिये भगवान्‌ने पहले साधककी बात कहकर अन्तमें ७१वें श्लोकमें उसका सिद्धमें उपसंहार

कर दिया है। अर्जुनके प्रश्नका पूरा उत्तर तो उस उपसंहारमें ही है, उसकी भूमिकाका आरम्भ इन्हीं श्लोकोंसे हो जाता है। अतएव अर्जुनके चौथे प्रश्नका उत्तर यहींसे आरम्भ होता है, ऐसा ही मानना उचित है।

सम्बन्ध—इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तभावसे इन्द्रियोंद्वारा व्यवहार करनेवाले साधकको सुख, शान्ति और स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त होनेकी बात कहकर अब दो श्लोकोंद्वारा इससे विपरीत जिसके मन-इन्द्रिय जीते हुए नहीं हैं, ऐसे साधनरहित विषयासक्त मनुष्यमें सुख-शान्तिका अभाव दिखलाकर विषयोंके सङ्गसे उसकी बुद्धिके विचलित हो जानेका प्रकार बतलाते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है?॥ ६६ ॥

प्रश्न—'अयुक्तस्य' पद यहाँ कैसे मनुष्यका वाचक है?

उत्तर—जिसके मन और इन्द्रिय वशमें किये हुए नहीं हैं, जो इनको वशमें करनेका प्रयत्न भी नहीं करता है एवं जिसकी इन्द्रियोंके भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति है, ऐसे विषयासक्त अविवेकी मनुष्यका वाचक यहाँ 'अयुक्तस्य' पद है।

प्रश्न—अयुक्तमें बुद्धि नहीं होती—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि इकतालीसवें श्लोकमें वर्णित 'निश्चयात्मिका बुद्धि' उसमें नहीं होती; नाना प्रकारके भोगोंकी आसक्ति और कामनाके कारण उसका मन विक्षिप्त रहता है, इस कारण वह अपने कर्तव्यका निश्चय करके परमात्माके स्वरूपमें बुद्धिको स्थिर नहीं कर सकता।

प्रश्न—अयुक्तके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि मन और इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले विषयासक्त मनुष्यमें 'निश्चयात्मिका बुद्धि' नहीं होती, इसमें तो कहना ही क्या है; उसमें भावना भी नहीं होती। अर्थात् परमात्माके स्वरूपमें बुद्धिका स्थिर होना तो दूर रहा, उसमें आस्तिकबुद्धिका भी अभाव होता है तथा विषयोंके प्रति आसक्ति होनेके कारण वह परमात्मस्वरूपके चिन्तनका अभ्यास भी नहीं करता, उसका मन निरन्तर विषयोंमें ही रमण करता रहता है।

प्रश्न—भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि परम आनन्द और शान्तिके समुद्र परमात्माके स्मरणका अभ्यास न करनेके कारण श्रद्धाहीन मनुष्यका चित्त निरन्तर विक्षिप्त रहता है; उसमें राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-ईर्ष्या आदिके कारण हर समय जलन और व्याकुलता बनी रहती है। अतएव उसको शान्ति नहीं मिलती।

प्रश्न—शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है ?—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि चित्तमें शान्तिका प्रादुर्भाव हुए बिना कहीं किसी भी अवस्थामें किसी भी उपायसे मनुष्यको सच्चा सुख नहीं मिल सकता। विषय और इन्द्रियोंके संयोगमें तथा निद्रा, आलस्य और प्रमादमें भ्रमसे जो सुखकी प्रतीति होती है, वह वास्तवमें सुख नहीं है, वह तो दुःखका हेतु होनेसे वस्तुतः दुःख ही है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

क्योंकि वायु जलमें चलनेवाली नावको जैसे हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है ॥ ६७ ॥

प्रश्न—'हि' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि अयुक्त मनुष्यमें निश्चल बुद्धि, भावना, शान्ति और सुख नहीं होते; उसी बातको स्पष्ट करनेके लिये उन सबके न होनेका कारण इस श्लोकमें बतलाया गया है—इसी भावका द्योतक हेतुवाचक 'हि' पद है।

प्रश्न—जलमें चलनेवाली नौका और वायुका दृष्टान्त देकर यहाँ क्या बात कही गयी है ?

उत्तर—दार्ष्टान्तमें नौकाके स्थानमें बुद्धि है, वायुके स्थानमें जिसके साथ मन रहता है, वह इन्द्रिय है, जलाशयके स्थानमें संसाररूप समुद्र है और जलके स्थानमें शब्दादि समस्त विषयोंका समुदाय है। जलमें अपने गन्तव्य स्थानकी ओर जाती हुई नौकाको प्रबल वायु दो प्रकारसे विचलित करती है—या तो उसे पथभ्रष्ट करके जलकी भीषण तरङ्गोंमें भटकाती है या अगाध जलमें डुबो देती है; किन्तु यदि कोई चतुर मल्लाह उस वायुकी क्रियाको अपने अनुकूल बना लेता है तो फिर वह वायु उस नौकाको पथभ्रष्ट नहीं कर सकती, बल्कि उसे गन्तव्य स्थानपर पहुँचानेमें सहायता करती है। इसी प्रकार जिसके मन-इन्द्रिय वशमें नहीं हैं, ऐसा मनुष्य यदि अपनी बुद्धिको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल करना चाहता है तो भी उसकी इन्द्रियाँ उसके मनको आकर्षित करके उसकी बुद्धिको दो प्रकारसे विचलित करती हैं। इन्द्रियोंका बुद्धिरूप नौकाको परमात्मासे हटाकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिका उपाय सोचनेमें लगा देना, उसे भीषण तरङ्गोंमें भटकाना है और पापोंमें प्रवृत्त करके उसका अधःपतन करा देना, उसे डुबो देना है; परन्तु जिसके मन और इन्द्रिय वशमें रहते हैं, उसकी बुद्धिको वे विचलित नहीं करते वरं बुद्धिरूप नौकाको परमात्माके पास पहुँचानेमें सहायता करते हैं। चौंसठवें और पैंसठवें श्लोकोंमें भी यही बात कही गयी है।

प्रश्न—सब इन्द्रियोंद्वारा बुद्धिके विचलित किये जानेकी बात न कहकर एक इन्द्रियके द्वारा ही बुद्धिका विचलित किया जाना कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे इन्द्रियोंकी प्रबलता दिखलायी गयी है। अभिप्राय यह है कि सब इन्द्रियाँ मिलकर मनुष्यकी बुद्धिको विचलित कर दें, इसमें तो कहना ही क्या है; जिस इन्द्रियके साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय बुद्धिको विषयोंमें फँसाकर विचलित कर देती है। देखा भी जाता है कि एक कर्णेन्द्रियके वश होकर मृग, स्पर्शेन्द्रियके वश होकर हाथी, चक्षु-इन्द्रियके वश होकर

पतङ्ग, रसना-इन्द्रियके वश होकर मछली और घ्राणेन्द्रियके वशमें होकर भ्रमर—इस प्रकार केवल एक-एक इन्द्रियके वशमें होनेके कारण ये सब अपने प्राण खो बैठते हैं। इसी तरह मनुष्यकी बुद्धि भी एक-एक इन्द्रियके वशमें होकर मोहित हो जाती है।

प्रश्न—यहाँ 'यत्' और 'तत्' का सम्बन्ध 'मन' के साथ क्यों न माना जाय ?

उत्तर—यहाँ 'इन्द्रियाणाम्' पदमें निर्धारणे षष्ठी है, अतः इन्द्रियोंमेंसे जिस एक इन्द्रियके साथ मन रहता है उसीके साथ 'यत्' पदका सम्बन्ध मानना उचित है। और 'यत्'—'तत्'का नित्य सम्बन्ध है, अतः 'तत्'का सम्बन्ध भी इन्द्रियके साथ ही होगा। 'अनु विधीयते' में 'अनु' उपसर्ग नहीं, कर्मप्रवचनीयसंज्ञक अव्यय है, अतः उसके योगमें 'यत्' में द्वितीया विभक्ति हुई है और कर्मकर्तृप्रक्रियाके अनुसार 'विधीयते' का कर्मभूत 'मनः' पद ही कर्ताके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त अगले श्लोकमें 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके इन्द्रियोंको वशमें करनेवालेकी बुद्धि स्थिर बतलायी गयी है, इसलिये भी यहाँ 'यत्' और 'तत्' पदोंका इन्द्रियके साथ ही सम्बन्ध मानना अधिक युक्तिसङ्गत मालूम होता है।

प्रश्न—अकेला मन या अकेली इन्द्रिय बुद्धिके हरण करनेमें समर्थ है या नहीं ?

उत्तर—मनके साथ हुए विना अकेली इन्द्रिय बुद्धिको नहीं हर सकती; हाँ, मन इन्द्रियोंके विना अकेला भी बुद्धिको हर सकता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अयुक्त पुरुषकी बुद्धिके विचलित होनेका प्रकार बतलाकर अब पुनः स्थितप्रज्ञ-अवस्थाकी प्राप्तिमें सब प्रकारसे इन्द्रियसंयमकी विशेष आवश्यकता सिद्ध करते हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषकी अवस्थाका वर्णन करते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है ॥ ६८ ॥

प्रश्न—'तस्मात्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि जिसके मन और इन्द्रिय वशमें नहीं हैं, उस विषयासक्त मनुष्यकी इन्द्रियाँ उसके मनको विषयोंमें आकर्षित करके बुद्धिको विचलित कर देती हैं, स्थिर नहीं रहने देतीं। उसीको लक्ष्य करानेके लिये यहाँ 'तस्मात्' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'महाबाहो' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसकी भुजाएँ लंबी, मजबूत और बलिष्ठ हों, उसे 'महाबाहु' कहते हैं। यह सम्बोधन शूर-वीरताका द्योतक है। यहाँ इस सम्बोधनका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम बड़े शूरवीर हो, अतएव इन्द्रियों और मनको वशमें कर लेना तुम्हारे लिये कोई बड़ी बात नहीं है।

प्रश्न—इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सर्वप्रकारसे 'निगृहीत' कर लेना यानी रोक लेना क्या है ?

उत्तर—श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियोंके जितने भी शब्दादि विषय हैं, उन विषयोंमें बिना किसी रुकावटके प्रवृत्त हो जाना इन्द्रियोंका स्वभाव है; क्योंकि अनादि-कालसे जीव इन इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता आया है, इस कारण इन्द्रियोंकी उनमें आसक्ति हो गयी है। इन्द्रियोंकी इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको सर्वथा रोक देना, उनके विषयलोलुप स्वभावको परिवर्तित कर देना, उनमें विषयासक्तिका अभाव कर देना और मन-बुद्धिको विचलित करनेकी शक्ति न रहने देना—यही उनको उनके विषयोंसे सर्वथा निगृहीत कर लेना है। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ वशमें की हुई होती हैं, वह पुरुष जब ध्यानकालमें इन्द्रियोंकी क्रियाओंका त्याग कर देता है, उस समय उसकी कोई भी इन्द्रिय न तो किसी भी विषयको ग्रहण कर सकती है और न अपनी सूक्ष्म वृत्तियोंद्वारा मनमें विक्षेप ही उत्पन्न कर सकती है। उस समय वे मनमें तद्रूप-सी हो जाती हैं और व्युत्थानकालमें जब वह देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी क्रिया करता रहता है, उस समय वे बिना आसक्तिके नियमितरूपसे यथायोग्य शब्दादि विषयोंका ग्रहण करती हैं। किसी भी विषयमें उसके मनको आकर्षित नहीं कर सकतीं वरं मनका ही अनुकरण करती हैं। स्थितप्रज्ञ पुरुष लोकसंग्रहके लिये जिस इन्द्रियके द्वारा जितने समयतक जिस शास्त्रसम्मत विषयका ग्रहण करना उचित समझता है, वही इन्द्रिय उतने ही समयतक उसी विषयका ग्रहण करती है; उसके विपरीत कोई भी इन्द्रिय किसी भी विषयका ग्रहण नहीं कर सकती। इस प्रकार जो इन्द्रियोंपर पूर्ण आधिपत्य कर लेना है, उनकी स्वतन्त्रताको सर्वथा नष्ट करके उनको अपने अनुकूल बना लेना है—यही इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे निगृहीत कर लेना है।

प्रश्न—५८वें श्लोकका और इस श्लोकका उत्तरार्द्ध एक ही है; किन्तु वहाँ 'इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटा लेना' अर्थ किया गया है और यहाँ 'इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे निग्रह की हुई हैं' ऐसा अर्थ किया गया है। इन दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—५८वें श्लोकमें भगवान् अर्जुनके 'किमासीत'—'कैसे बैठता है', इस तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषकी अक्रिय-अवस्थाका वर्णन कर रहे हैं; इसीलिये वहाँ कछुएका दृष्टान्त देकर 'संहरते' पदसे 'विषयोंसे हटा लेना' कहा है। बाह्यरूपमें इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेना तो साधारण मनुष्यके द्वारा भी बन सकता है; परन्तु वहाँके हटा लेनेमें विलक्षणता है, क्योंकि वह स्थितप्रज्ञ पुरुषका लक्षण है। अतएव आसक्तिरहित मन और इन्द्रियोंका संयम भी इस हटा लेनेके साथ ही है और यहाँ भगवान् स्थितप्रज्ञकी स्वाभाविक अवस्थाका वर्णन करते हैं, इसीलिये यहाँ 'निगृहीतानि' पद आया है। विषयोंकी आसक्तिसे रहित होनेपर ही सब ओरसे मन-इन्द्रियोंका ऐसा निग्रह होता है। 'नि' उपसर्ग और 'सर्वशः' विशेषणसे भी यही सिद्ध होता है। अतः दोनोंकी वास्तविक स्थितिमें कोई अन्तर न होनेपर भी वहाँ अक्रिय-अवस्थाका वर्णन है और यहाँ सब समयकी साधारण अवस्थाका, यही दोनोंमें अन्तर है।

प्रश्न—उसकी बुद्धि स्थिर है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिसकी मनसहित समस्त इन्द्रियाँ उपर्युक्त प्रकारसे वशमें की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है; जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती।

सम्बन्ध—इस प्रकार मन और इन्द्रियोंके संयम न करनेमें हानि और संयम करनेमें लाभ दिखलाकर तथा स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त करनेके लिये राग-द्वेषके त्यागपूर्वक मनसहित इन्द्रियोंके संयमकी विशेष आवश्यकताका प्रतिपादन करके स्थितप्रज्ञ पुरुषकी अवस्थाका वर्णन किया गया। अब साधारण विषयासक्त मनुष्योंमें और मन-इन्द्रियोंका संयम करके परमात्माको प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि संयमी महापुरुषमें क्या अन्तर है, इस बातको रात और दिनके दृष्टान्तसे समझाते हुए उनकी स्वाभाविक स्थितिका वर्णन करते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है ॥६९॥

प्रश्न—यहाँ 'संयमी' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जो मन और इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्माको प्राप्त हो गया है, जिसका इस प्रकरणमें स्थितप्रज्ञके नामसे वर्णन हुआ है, उसीका वाचक यहाँ 'संयमी' पद है; क्योंकि उत्तरार्द्धमें उसीके लिये 'पश्यतः' पदका प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ 'ज्ञानी' होता है।

प्रश्न—यहाँ सम्पूर्ण प्राणियोंकी रात्रिके समान क्या है और उसमें स्थितप्रज्ञ योगीका जागना क्या है ?

उत्तर—अज्ञानी और ज्ञानियोंके अनुभवमें रात और दिनके सदृश अत्यन्त विलक्षणता है, यह भाव दिखलानेके लिये रात्रिके रूपकसे साधारण अज्ञानी मनुष्योंकी और ज्ञानीकी स्थितिका वर्णन किया गया है। इसलिये यहाँ रात्रिका अर्थ सूर्यास्तके बाद होनेवाली रात्रि नहीं है, किन्तु जैसे प्रकाशसे पूर्ण दिनको उल्लू अपने नेत्रदोषसे अन्धकारमय देखता है, वैसे ही अनादिसिद्ध अज्ञानके परदेसे अन्तःकरणरूप नेत्रोंकी विवेक-विज्ञानरूप प्रकाशन-शक्तिके आवृत रहनेके कारण अविवेकी मनुष्य स्वयं-प्रकाश नित्यबोध परमानन्दस्वरूप परमात्माको नहीं देख पाते। उस परमात्माकी प्राप्तिरूप सूर्यके प्रकाशित होनेसे जो परम शान्ति और नित्य आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव होता है वह वास्तवमें दिनकी भाँति प्रकाशमय होते हुए भी परमात्माके गुण, प्रभाव, रहस्य और तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानियोंके लिये रात्रि है यानी रात्रिके समान है, क्योंकि वे उस ओरसे सर्वथा सोये हुए हैं, उनको उस परमानन्दका कुछ पता ही नहीं है, यह परमात्माकी प्राप्ति ही यहाँ सम्पूर्ण प्राणियोंकी रात्रि है, यही रात्रि परमात्माको प्राप्त संयमी पुरुषके लिये दिनके समान है। स्थितप्रज्ञ पुरुषका जो उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करके निरन्तर उसीमें स्थित रहना है, यही उसका उस सम्पूर्ण प्राणियोंकी रात्रिमें जागना है।

प्रश्न—सम्पूर्ण प्राणियोंका जागना क्या है और वे जिसमें जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान कैसे है ?

उत्तर—यद्यपि इस लोक और परलोकमें जितने भी भोग हैं, सब नाशवान्, क्षणिक, अनित्य और दुःखरूप हैं, तथापि अनादिसिद्ध अन्धकारमय अज्ञानके कारण

विषयासक्त मनुष्य उनको नित्य और सुखरूप मानते हैं; उनकी दृष्टिमें विषय-भोगसे बढ़कर और कोई सुख ही नहीं है; इस प्रकार भोगोंमें आसक्त होकर उन्हें प्राप्त करनेकी चेष्टामें लगे रहना और उनकी प्राप्तिमें आनन्दका अनुभव करना, यही उन सम्पूर्ण प्राणियोंका उनमें जागना है। यह इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे तथा प्रमाद, आलस्य और निद्रासे उत्पन्न सुख रात्रिकी भाँति अज्ञानरूप अन्धकारमय होनेके कारण वास्तवमें रात्रि ही है; तो भी अज्ञानी प्राणी इसीको दिन समझकर इसमें वैसे ही जाग रहे हैं जैसे कोई नींदमें सोया हुआ मनुष्य स्वप्नके दृश्योंको देखता हुआ स्वप्नमें समझता है कि मैं जाग रहा हूँ। किन्तु परमात्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीके अनुभवमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती, जैसे स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यका स्वप्नके जगत्से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; वह इसके स्थानमें इसके अधिष्ठानरूप परमात्मतत्त्वको ही देखता है, अतएव उसके लिये समस्त सांसारिक भोग और विषयानन्दकी प्राप्ति रात्रिके समान है।

सम्बन्ध—इस प्रकार रात्रिके रूपकसे ज्ञानी और अज्ञानियोंकी स्थितिका भेद दिखलाकर अब समुद्रकी उपमासे यह भाव दिखलाते हैं कि ज्ञानी परम शान्तिको प्राप्त होता है और भोगोंकी कामनावाला अज्ञानी मनुष्य शान्तिको नहीं प्राप्त होता—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं ॥ ७० ॥

प्रश्न—स्थितप्रज्ञ ज्ञानीके साथ समुद्रकी उपमा देकर यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—किसी भी जड वस्तुकी उपमा देकर स्थितप्रज्ञ पुरुषकी वास्तविक स्थितिका पूर्णतया वर्णन करना सम्भव नहीं है; तथापि उपमाद्वारा उस स्थितिके किसी अंशका लक्ष्य कराया जा सकता है। अतः समुद्रकी उपमासे यह भाव समझना चाहिये कि जिस प्रकार समुद्र 'आपूर्यमाणम्' यानी अथाह जलसे परिपूर्ण हो रहा है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण है; जैसे समुद्रको जलकी आवश्यकता नहीं है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुषको भी किसी सांसारिक सुख-भोगकी तनिकमात्र भी आवश्यकता नहीं है, वह सर्वथा आप्तकाम है। जिस प्रकार समुद्रकी स्थिति अचल है, भारी-से-भारी आँधी-तूफान आनेपर या नाना प्रकारसे नदियोंके जलप्रवाह उसमें प्रविष्ट होनेपर भी वह अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता, मर्यादाका त्याग नहीं करता, उसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित योगीकी स्थिति भी सर्वथा अचल होती है, बड़े-से-बड़े सांसारिक सुख-दुःखोंका संयोग-वियोग होनेपर भी उसकी स्थितिमें जरा भी अन्तर नहीं पड़ता, वह सच्चिदानन्दघन परमात्मामें नित्य-निरन्तर अटल और एकरस स्थित रहता है।

प्रश्न—'सर्वे' विशेषणके सहित 'कामाः' पद यहाँ

किनका वाचक है और उनका समुद्रमें जलोंकी भाँति स्थितप्रज्ञमें समा जाना क्या है ?

उत्तर–यहाँ 'सर्वे' विशेषणके सहित 'कामाः' पद 'काम्यन्त इति कामाः' अर्थात् जिनके लिये कामना की जाय उनका नाम काम होता है—इस व्युत्पत्तिके अनुसार सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंका वाचक है, इच्छाओंका वाचक नहीं। क्योंकि स्थितप्रज्ञ पुरुषमें कामनाओंका तो सर्वथा अभाव ही हो जाता है, फिर उनका उसमें प्रवेश कैसे बन सकता है ? अतएव जैसे समुद्रको जलकी आवश्यकता न रहनेपर भी अनेक नद-नदियोंके जलप्रवाह उसमें प्रवेश करते रहते हैं, परन्तु नदी और सरोवरोंकी भाँति न तो समुद्रमें बाढ़ आती है और न वह अपनी स्थितिसे विचलित होकर मर्यादाका ही त्याग करता है, सारे-के-सारे जलप्रवाह उसमें विना किसी प्रकारकी विकृति उत्पन्न किये ही विलीन हो जाते हैं, वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुषको किसी भी सांसारिक भोगकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता न रहनेपर भी उसे प्रारब्धके अनुसार नाना प्रकारके भोग प्राप्त होते रहते हैं—अर्थात् उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके साथ प्रारब्धके अनुसार नाना प्रकारके अनुकूल और प्रतिकूल विषयोंका संयोग होता रहता है। परन्तु वे भोग उसमें हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, भय और उद्वेग या अन्य किसी प्रकारका कोई भी विकार उत्पन्न करके उसे उसकी अटल स्थितिसे या शास्त्रमर्यादासे विचलित नहीं कर सकते, उनके संयोगसे उसकी स्थितिमें कभी किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं पड़ता, वे विना किसी प्रकारका क्षोभ उत्पन्न किये ही उसके परमानन्दमय स्वरूपमें तद्रूप होकर विलीन हो जाते हैं—यही उनका समुद्रमें जलोंकी भाँति स्थितप्रज्ञमें समा जाना है।

प्रश्न–वही परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं,—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–इससे यह दिखलाया गया है कि जो उपर्युक्त प्रकारसे आप्तकाम है, जिसको किसी भी भोगकी जरा भी आवश्यकता नहीं है, जिसमें समस्त भोग प्रारब्धके अनुसार अपने-आप आ-आकर विलीन हो जाते हैं और जो स्वयं किसी भोगकी कामना नहीं करता, वही परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला मनुष्य कभी शान्तिको नहीं प्राप्त होता। क्योंकि उसका चित्त निरन्तर नाना प्रकारकी भोग-कामनाओंसे विक्षिप्त रहता है; और जहाँ विक्षेप है, वहाँ शान्ति कैसे रह सकती है ? वहाँ तो पद-पदपर चिन्ता, जलन और शोक ही निवास करते हैं।

प्रश्न–५८ से लेकर इस श्लोकतक अर्जुनके तीसरे प्रश्नका ही उत्तर माना जाय तो क्या आपत्ति है, क्योंकि इस श्लोकमें समुद्रकी भाँति अचल रहनेका उदाहरण दिया गया है ?

उत्तर–तीसरे प्रश्नका उत्तर यहाँ नहीं माना जा सकता, तीसरे प्रश्नका उत्तर ५८ वें श्लोकसे आरम्भ करके ६१ वें श्लोकमें समाप्त कर दिया गया है; इसीलिये उसमें 'आसीत' पद आया है। इसके बाद प्रसङ्गवश ६२ और ६३ वें श्लोकोंमें विषय-चिन्तनसे आसक्ति आदिके द्वारा अधःपतन दिखलाकर ६४ वें श्लोकसे चौथे प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हैं। 'चरन्' पदसे यह भेद स्पष्ट हो जाता है। इसी सिलसिलेमें नौकाके दृष्टान्तसे विषयासक्त अयुक्त पुरुषकी विचरती हुई इन्द्रियके द्वारा बुद्धिके हरण किये जानेकी बात आयी है। इसमें भी 'चरताम्' पद आया है। इसके अतिरिक्त इस श्लोकमें 'सर्वे कामाः प्रविशन्ति' पदोंसे यह कहा गया है कि सम्पूर्ण भोग उसमें प्रवेश करते हैं। अक्रिय अवस्थामें तो प्रवेशके सब द्वार ही बंद हैं, क्योंकि वहाँ इन्द्रियाँ विषयोंके संसर्गसे रहित हैं। यहाँ इन्द्रियोंका

व्यवहार है, इसीलिये भोगोंका उसमें प्रवेश सम्भव है। उसकी परमात्माके स्वरूपमें 'अचल' स्थिति है, परन्तु व्यवहारमें वह अक्रिय नहीं है। अतएव यहाँ चौथे प्रश्नका उत्तर मानना ही युक्तियुक्त है।

सम्बन्ध—'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है?' अर्जुनका यह चौथा प्रश्न परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके विषयमें ही था; किन्तु यह प्रश्न आचरणविषयक होनेके कारण उसके उत्तरमें श्लोक ६४से यहाँतक किस प्रकार आचरण करनेवाला मनुष्य शीघ्र स्थितप्रज्ञ बन सकता है, कौन नहीं बन सकता और जब मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है, उस समय उसकी कैसी स्थिति होती है—ये सब बातें बतलायी गयीं। अब उस चौथे प्रश्नका स्पष्ट उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषके आचरणका प्रकार बतलाते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है ॥ ७१ ॥

प्रश्न—'सर्वान्' विशेषणके सहित 'कामान्' पद किनका वाचक है और उनका त्याग कर देना क्या है?

उत्तर—इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंकी सब प्रकारकी कामनाओंका वाचक यहाँ 'सर्वान्' विशेषणके सहित 'कामान्' पद है तथा किसी भी भोगकी किञ्चिन्मात्र भी कामनाको मनमें न रहने देना—अन्तःकरणको सर्वथा कामनारहित बना देना ही उनका त्याग कर देना है। यहाँ 'कामान्' पद शब्दादि विषयोंका वाचक नहीं है, क्योंकि इसमें अर्जुनके चौथे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है और स्थितप्रज्ञ पुरुष किस प्रकार आचरण करता है यह बात बतलायी जाती है; अतः यदि यहाँ 'कामान्' पदका अर्थ शब्दादि विषय मान लिया जाय तो उनका सर्वथा त्याग करके विचरना नहीं बन सकता।

प्रश्न—'निरहङ्कारः', 'निर्ममः' और 'निःस्पृहः'—इन तीनों पदोंके अलग-अलग क्या भाव हैं तथा ऐसा होकर विचरना क्या है?

उत्तर—मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें जो साधारण अज्ञानी मनुष्योंका आत्माभिमान रहता है, जिसके कारण वे शरीरको ही अपना स्वरूप मानते हैं, अपनेको शरीरसे भिन्न नहीं समझते, अतएव शरीरके सुख-दुःखसे ही सुखी-दुखी होते हैं, उस देहाभिमानका नाम अहङ्कार है; उससे सर्वथा रहित हो जाना—यही 'निरहङ्कार' अर्थात् अहङ्काररहित हो जाना है। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, भाई और बन्धु-बान्धवोंमें तथा गृह, धन, ऐश्वर्य आदिमें, अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उन कर्मोंके फलरूप समस्त भोगोंमें साधारण मनुष्योंका ममत्व रहता है अर्थात् इन सबको वे अपना समझते हैं; इसी भावका नाम 'ममता' है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'निर्मम' अर्थात् ममतारहित हो जाना है।

किसी अनुकूल वस्तुका अभाव होनेपर मनमें जो ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है,

उसके विना काम न चलेगा, इस अपेक्षाका नाम स्पृहा है और इस अपेक्षासे सर्वथा रहित हो जाना ही 'निःस्पृह' अर्थात् स्पृहारहित होना है। स्पृहा कामनाका सूक्ष्म स्वरूप है, इस कारण समस्त कामनाओंके त्यागसे इसके त्यागको अलग बतलाया है।

इस प्रकार अहङ्कार, ममता और स्पृहासे रहित होकर अपने वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके अनुसार केवल लोकसंग्रहके लिये इन्द्रियोंके विषयोंमें विचरना अर्थात् देखना-सुनना, खाना-पीना, सोना-जागना आदि समस्त शास्त्रविहित चेष्टा करना ही समस्त कामनाओंका त्याग करके अहङ्कार, ममता और स्पृहासे रहित होकर विचरण करना है।

प्रश्न—यहाँ 'निःस्पृहः' पदका अर्थ आसक्तिरहित मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—स्पृहा आसक्तिका ही कार्य है, इसलिये यहाँ स्पृहाका अर्थ आसक्ति माननेमें कोई दोष तो नहीं है; परन्तु 'स्पृहा' शब्दका अर्थ वस्तुतः सूक्ष्म कामना है, आसक्ति नहीं। अतएव आसक्ति न मानकर इसे कामनाका ही एक स्वरूप मानना चाहिये।

प्रश्न—कामना और स्पृहासे रहित बतलानेके बाद फिर 'निर्ममः' और 'निरहङ्कारः' कहनेसे क्या प्रयोजन है?

उत्तर—यहाँ पूर्ण शान्तिको प्राप्त सिद्ध पुरुषका वर्णन है। इसीलिये उसे निष्काम और निःस्पृहके साथ ही निर्मम और निरहङ्कार भी बतलाया गया है। क्योंकि अधिकांशमें निष्काम और निःस्पृह होनेपर भी यदि किसी पुरुषमें ममता और अहङ्कार रहते हैं तो वह सिद्ध पुरुष नहीं है। और जो मनुष्य निष्काम, निःस्पृह एवं निर्मम होनेपर भी अहङ्काररहित नहीं है, वह भी सिद्ध नहीं है। अहङ्कारके नाशसे ही सबका नाश है। जबतक कारणरूप अहङ्कार बना है तबतक कामना, स्पृहा और ममता भी किसी-न-किसी रूपमें रह ही सकती हैं और जबतक किञ्चित् भी कामना, स्पृहा, ममता और अहङ्कार हैं तबतक पूर्ण शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। यहाँ 'शान्तिम् अधिगच्छति' वाक्यसे भी पूर्ण शान्तिकी ही बात सिद्ध होती है। इस प्रकारकी पूर्ण और नित्य शान्ति ममता और अहङ्कारके रहते कभी प्राप्त नहीं होती। इसलिये निष्काम और निःस्पृह कहनेके बाद भी निर्मम और निरहङ्कार कहना उचित ही है।

प्रश्न—ऐसा माननेसे तो एक 'निरहङ्कार' शब्द ही पर्याप्त था; फिर निष्काम, निःस्पृह और निर्मम कहनेकी क्यों आवश्यकता हुई?

उत्तर—यह ठीक है कि निरहङ्कार होनेपर कामना, स्पृहा और ममता भी नहीं रहती, क्योंकि अहङ्कार ही सबका मूल कारण है। कारणके अभावमें कार्यका अभाव अपने-आप ही सिद्ध है। तथापि स्पष्टरूपसे समझानेके लिये इन शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—वह शान्तिको प्राप्त है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस श्लोकमें परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके विचरनेकी विधि बतलाकर अर्जुनके स्थितप्रज्ञविषयक चौथे प्रश्नका उत्तर दिया गया है। अतः उपर्युक्त कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकारसे विषयोंमें विचरनेवाला पुरुष ही परम शान्तिस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त स्थितप्रज्ञ है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके चारों प्रश्नोंका उत्तर देनेके अनन्तर अब स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थितिका महत्त्व बतलाते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे अर्जुन ! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है; इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ॥७२॥

प्रश्न—'एषा' और 'ब्राह्मी'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'स्थितिः' पद किस स्थितिका वाचक है और उसको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—जो ब्रह्मविषयक स्थिति हो, उसे 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं और जिसका प्रकरण चलता हो, उसका द्योतक 'एषा' पद है; इसलिये यहाँ अर्जुनके पूछनेपर ५५वें श्लोकसे यहाँतक स्थितप्रज्ञ पुरुषकी जिस स्थितिका जगह-जगह वर्णन किया गया है, जो ब्रह्मको प्राप्त महापुरुषकी स्थिति है, उसीका वाचक 'एषा' और 'ब्राह्मी' विशेषणके सहित 'स्थितिः' पद है। तथा उपर्युक्त प्रकारसे अहङ्कार, ममता, आसक्ति, स्पृहा और कामनासे रहित होकर सर्वथा निर्विकार और निश्चल-भावसे सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें नित्य-निरन्तर निमग्न रहना ही उस स्थितिको प्राप्त होना है।

प्रश्न—इस स्थितिको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि ब्रह्म क्या है ? ईश्वर क्या है ? संसार क्या है ? माया क्या है ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? मेरा क्या कर्तव्य है ? और क्या कर रहा हूँ ?—आदि विषयोंका यथार्थ ज्ञान न होना ही मोह है; यह मोह जीवको अनादिकालसे है, इसीके कारण यह इस संसारचक्रमें घूम रहा है। पर जब अहंता, ममता, आसक्ति और कामनासे रहित होकर मनुष्य उपर्युक्त ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त कर लेता है, तब उसका यह अनादिसिद्ध मोह समूल नष्ट हो जाता है, अतएव फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होती।

प्रश्न—अन्तकालमें भी इस स्थितिमें स्थित होकर योगी ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य जीवित-अवस्थामें ही इस स्थितिको प्राप्त कर लेता है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या है, वह तो ब्रह्मानन्दको प्राप्त जीवन्मुक्त है ही; पर जो साधन करते-करते या अकस्मात् मरणकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित हो जाता है अर्थात् अहङ्कार, ममता, आसक्ति, स्पृहा और कामनासे रहित होकर अचल-भावसे परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाता है, वह भी ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—जो साधक कर्मयोगमें श्रद्धा रखनेवाला है और उसका मन यदि किसी कारणवश मृत्युकालमें समत्वभावमें स्थिर नहीं रहा तो उसकी क्या गति होगी ?

उत्तर—मृत्युकालमें रहनेवाला समत्वभाव तो साधक-का उद्धार तत्काल ही कर देता है, परन्तु मृत्युकालमें यदि समतासे मन विचलित हो जाय तो भी उसका अभ्यास व्यर्थ नहीं जाता; वह योगभ्रष्टकी गतिको प्राप्त होता है और समत्वभावके संस्कार उसे बलात् अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं (६।४०से४४) और फिर वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

तृतीयोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें नाना प्रकारके हेतुओंसे विहित कर्मोंकी अवश्यकर्त्तव्यता सिद्ध की गयी है तथा प्रत्येक मनुष्यको अपने-अपने वर्ण-आश्रमके लिये विहित कर्म किस प्रकार करने चाहिये, क्यों करने चाहिये, उनके न करनेमें क्या हानि है, करनेमें क्या लाभ है, कौन-से कर्म बन्धनकारक हैं और कौन-से मुक्तिमें सहायक हैं—इत्यादि बातें भलीभाँति समझाकर कर्मयोगका निरूपण किया गया है। इस प्रकार इस अध्यायमें कर्मयोगका विषय अन्यान्य अध्यायोंकी अपेक्षा अधिक और विस्तारपूर्वक वर्णित है एवं दूसरे विषयोंका समावेश बहुत ही कम हुआ है, जो कुछ हुआ है वह भी बहुत ही संक्षेपमें हुआ है; इसलिये इस अध्यायका नाम 'कर्मयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें भगवान्‌के अभिप्रायको न समझनेके कारण अर्जुनने भगवान्‌को मानो उलाहना देते हुए उनसे अपना ऐकान्तिक श्रेयः-साधन बतलानेके लिये प्रार्थना की है और उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने तीसरे श्लोकमें दो निष्ठाओंका वर्णन करके चौथे श्लोकमें किसी भी निष्ठामें स्वरूपसे कर्मोंका त्याग आवश्यक नहीं है, ऐसा सिद्ध किया है। पाँचवें श्लोकमें क्षणमात्रके लिये भी कर्मोंका सर्वथा त्याग असम्भव बतलाकर, छठे श्लोकमें केवल ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रिया न करनेवाले विषय-चिन्तक मनुष्यको मिथ्याचारी बतलाया है और सातवें श्लोकमें मनसे इन्द्रियोंका संयम करके इन्द्रियोंके द्वारा अनासक्तभावसे कर्म करनेवालेकी प्रशंसा की है। आठवें और नवें श्लोकोंमें कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्मोंका करना श्रेष्ठ बतलाया है तथा कर्मोंके विना शरीरनिर्वाहको असम्भव बतलाकर निःस्वार्थ और अनासक्तभावसे विहित कर्म करनेकी आज्ञा दी है। दसवेंसे बारहवें श्लोकतक प्रजापतिकी आज्ञा होनेके कारण कर्मोंकी अवश्यकर्त्तव्यता सिद्ध करते हुए तेरहवें श्लोकमें यज्ञशिष्ट अन्नसे सब पापोंका विनाश होना बतलाया है। चौदहवें और पन्द्रहवें श्लोकोंमें सृष्टि-चक्रका वर्णन करके सर्वव्यापी परमेश्वरको यज्ञरूप साधनमें नित्य प्रतिष्ठित बतलाया है। सोलहवें श्लोकमें उस सृष्टि-चक्रके अनुसार न बरतनेवालेकी निन्दा की है। सतरहवें और अठारहवें श्लोकोंमें आत्मनिष्ठ ज्ञानी महात्मा पुरुषके लिये कर्त्तव्यका अभाव बतलाकर कर्म करने और न करनेमें उसके प्रयोजनका अभाव बतलाया है और उन्नीसवें श्लोकमें उपर्युक्त हेतुओंसे कर्म करना आवश्यक सिद्ध करके एवं निष्काम कर्मका फल परमात्माकी प्राप्ति बतलाकर अर्जुनको अनासक्तभावसे कर्म करनेकी आज्ञा दी है। तदनन्तर बीसवें श्लोकमें जनकादिको कर्मोंसे सिद्धि प्राप्त होनेका प्रमाण देकर एवं लोकसंग्रहके लिये भी कर्म करना आवश्यक बतलाकर लोकसंग्रहकी सार्थकता सिद्ध की है। इक्कीसवेंमें श्रेष्ठ पुरुषके आचरण और उपदेशके अनुसार लोग चलते हैं, ऐसा कहकर बाईसवेंसे चौबीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने स्वयं अपना दृष्टान्त देते हुए कर्म करनेसे लाभ और न करनेसे हानि बतलायी है। पचीसवें और छब्बीसवें श्लोकोंमें ज्ञानी पुरुषके लिये भी लोकसंग्रहार्थ स्वयं कर्म करना और दूसरोंसे करवाना उचित बतलाकर सत्ताईसवें, अट्ठाईसवें

और उन्तीसवें श्लोकोंमें कर्मासक्त जनसमुदायकी अपेक्षा सांख्ययोगीकी विलक्षणताका प्रतिपादन करते हुए उनके प्रति सांख्ययोगीका कर्तव्य बतलाया गया है। तीसवें श्लोकमें अर्जुनको आशा, ममता और सन्तापका सर्वथा त्याग करके भगवदर्पणबुद्धिसे युद्ध करनेकी आज्ञा देकर इकतीसवें श्लोकमें उस सिद्धान्तके अनुसार चलनेवाले श्रद्धालु पुरुषों-का मुक्त होना और बत्तीसवेंमें उसके अनुसार न चलनेवाले दोषदर्शियोंका पतन होना बतलाया है। उसके बाद तैंतीसवें श्लोकमें प्रकृतिके अनुसार स्वरूपसे क्रिया न करनेमें समस्त मनुष्योंकी असमर्थता सिद्ध करते हुए चौंतीसवें श्लोकमें राग-द्वेषके वशमें न होनेकी प्रेरणा की है और पैंतीसवें श्लोकमें परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्मको कल्याणकारक एवं परधर्मको भयावह बतलाया है। छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनके यह पूछनेपर कि 'बलात्कारसे मनुष्यको पापमें प्रवृत्त कौन करता है', सैंतीसवें श्लोकमें कामरूप वैरीको समस्त पापाचरणका मूल कारण बतलाया है और अड़तीसवेंसे इकतालीसवें श्लोकतक उस कामको ज्ञानका आवरण करनेवाला महान् शत्रु बतलाकर एवं उसके निवासस्थानोंका वर्णन करके इन्द्रिय-संयमपूर्वक उसका नाश करनेके लिये कहा है। फिर बियालीसवें श्लोकमें इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे आत्माको अतिशय श्रेष्ठ बतलाकर तैंतालीसवें श्लोकमें बुद्धिके द्वारा मनका संयम करके कामको मारनेकी आज्ञा देते हुए अध्यायकी समाप्ति की है।

सम्बन्ध—दूसरे अध्यायमें भगवान्ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (२।११) से लेकर 'देही नित्यमवध्योऽयम्' (२।३०) तक आत्मतत्त्वका निरूपण करते हुए सांख्ययोगका प्रतिपादन किया और 'बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' (२।३९) से लेकर 'तदा योगमवाप्स्यसि' (२।५३) तक समत्वबुद्धिरूप कर्मयोगका वर्णन किया। इसके पश्चात् ५४वें श्लोकसे अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने समत्व-बुद्धिरूप कर्मयोगके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुषके लक्षण, आचरण और महत्त्वका प्रतिपादन किया। वहाँ कर्मयोगकी महिमा कहते हुए भगवान्ने ४७वें और ४८वें श्लोकोंमें कर्मयोगका स्वरूप बतलाकर अर्जुनको कर्म करनेके लिये कहा, ४९वेंमें समत्वबुद्धिरूप कर्मयोगकी अपेक्षा सकाम कर्मका स्थान बहुत ही नीचा बतलाया, ५०वेंमें समत्वबुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगमें लगनेके लिये कहा, ५१वेंमें समत्वबुद्धियुक्त ज्ञानी पुरुषको अनामयपदकी प्राप्ति बतलायी। इस प्रसङ्गको सुनकर अर्जुन उसका यथार्थ अभिप्राय निश्चित नहीं कर सके। 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' मान लेनेसे उन्हें भ्रम हो गया, भगवान्के वचनोंमें 'कर्म' की अपेक्षा 'ज्ञान' की प्रशंसा प्रतीत होने लगी, एवं वे वचन उनको स्पष्ट न दिखायी देकर मिले हुए-से जान पड़ने लगे। अतएव भगवान्से उनका स्पष्टीकरण करवानेकी और अपने लिये निश्चित श्रेयः-साधन जाननेकी इच्छासे अर्जुनने पूछा—

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! यदि आपको कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयङ्कर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? ॥ १ ॥

प्रश्न—कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ऐसा इससे पूर्व भगवान्‌ने कहाँ कहा है ? यदि नहीं कहा, तो अर्जुनके प्रश्नका आधार क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌ने तो कहीं नहीं कहा, किन्तु अर्जुनने भगवान्‌के वचनोंका मर्म और तत्त्व न समझनेके कारण 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' से यह बात समझ ली कि भगवान् 'बुद्धियोग'से ज्ञानका लक्ष्य कराते हैं और उस ज्ञानकी अपेक्षा कर्मोंको अत्यन्त तुच्छ बतला रहे हैं। वस्तुतः वहाँ 'बुद्धियोग' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' नहीं है; 'बुद्धियोग' वहाँ समत्वबुद्धिसे होनेवाले 'कर्मयोग'का वाचक है और 'कर्म' शब्द सकाम कर्मोंका। क्योंकि उसी श्लोकमें भगवान्‌ने फल चाहनेवालोंको 'कृपणाः फलहेतवः' कहकर अत्यन्त दीन बतलाया है और उन सकाम कर्मोंको तुच्छ बतलाकर 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'से समत्वबुद्धिसे होनेवाले कर्मयोगका आश्रय ग्रहण करनेके लिये आदेश दिया है; परन्तु अर्जुनने इस तत्त्वको नहीं समझा, इसीसे उनके मनमें उपर्युक्त प्रश्नकी अवतारणा हुई।

प्रश्न—'बुद्धि' शब्दका अर्थ यहाँ भी पूर्वकी भाँति समत्वबुद्धिरूप कर्मयोग क्यों न लिया जाय ?

उत्तर—यहाँ तो अर्जुनका प्रश्न है। वे भगवान्‌के यथार्थ तात्पर्यको न समझकर 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' ही समझे हुए हैं और इसीलिये वे उपर्युक्त प्रश्न कर रहे हैं। यदि अर्जुन बुद्धिका अर्थ समत्व-बुद्धिरूप कर्मयोग समझ लेते तो इस प्रकारके प्रश्नका कोई आधार ही नहीं रहता। अर्जुनने 'बुद्धि'का अर्थ 'ज्ञान' मान रक्खा है, अतएव यहाँ अर्जुनकी मान्यताके अनुसार 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' ठीक ही किया गया है।

प्रश्न—मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्‌के अभिप्रायको न समझनेके कारण अर्जुन यह माने हुए हैं कि जिन कर्मोंको भगवान्‌ने अत्यन्त तुच्छ बतलाया है, उन्हीं कर्मोंमें ('तस्माद्युध्यस्व भारत'—इसलिये तू युद्ध कर, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—तेरा कर्ममें ही अधिकार है, 'योगस्थः कुरु कर्माणि'—योगमें स्थित होकर कर्म कर—इत्यादि विधिवाक्योंसे) मुझे प्रवृत्त कराते हैं। इसीलिये वे उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌को मानो उलाहना-सा देते हुए पूछ रहे हैं कि आप मुझे इस युद्धरूप भयानक पापकर्ममें क्यों लगा रहे हैं।

प्रश्न—यहाँ 'जनार्दन' और 'केशव' नामसे भगवान्‌को अर्जुनने क्यों सम्बोधित किया ?

उत्तर—'सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषितसिद्धये इति जनार्दनः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार सब लोग जिनसे अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये याचना करते हैं, उनका नाम 'जनार्दन' होता है तथा 'क'—ब्रह्मा, 'अ'—विष्णु और 'ईश'—महेश, ये तीनों जिनके 'व'—वपु अर्थात् स्वरूप हैं, उनको 'केशव' कहते हैं। भगवान्‌को इन नामोंसे सम्बोधित करके अर्जुन यह सूचित कर रहे हैं कि 'मैं आपके शरणागत हूँ—मेरा क्या कर्तव्य है, यह बतलानेके लिये मैं आपसे पहले भी याचना कर चुका हूँ (२।७) और अब भी कर रहा हूँ; क्योंकि आप साक्षात् परमेश्वर हैं। अतएव मुझ याचना करनेवाले शरणागत जनको अपना निश्चित सिद्धान्त अवश्य बतलानेकी कृपा कीजिये।'

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

आप मिले हुए-से वचनोंसे मानो मेरी बुद्धिको मोहित कर रहे हैं। इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ॥ २॥

प्रश्न—आप मिले हुए-से वचनोंद्वारा मानो मेरी बुद्धिको मोहित कर रहे हैं, इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिन वचनोंमें कोई साधन निश्चित करके स्पष्टरूपसे नहीं बतलाया गया हो, जिनमें कई तरहकी बातोंका सम्मिश्रण हो, उनका नाम 'व्यामिश्र'—'मिले हुए वचन' है। ऐसे वचनोंसे श्रोताकी बुद्धि किसी एक निश्चयपर न पहुँचकर मोहित हो जाती है। भगवान्‌के वचनोंका तात्पर्य न समझनेके कारण अर्जुनको भी भगवान्‌के वचन मिले हुए-से प्रतीत होते थे; क्योंकि 'बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, तू बुद्धिका ही आश्रय ग्रहण कर' (२।४९) इस कथनसे तो अर्जुनने समझा कि भगवान् ज्ञानकी प्रशंसा और कर्मोंकी निन्दा करते हैं और मुझे ज्ञानका आश्रय लेनेके लिये कहते हैं तथा 'बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पापोंको यहीं छोड़ देता है' (२।५०) इस कथनसे यह समझा कि पुण्य-पापरूप समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवालेको भगवान् 'बुद्धियुक्त' कहते हैं। इसके विपरीत 'तेरा कर्ममें अधिकार है' (२।४७), 'तू योगमें स्थित होकर कर्म कर' (२।४८) इन वाक्योंसे अर्जुनने यह बात समझी कि भगवान् मुझे कर्मोंमें नियुक्त कर रहे हैं; इसके सिवा 'निस्त्रैगुण्यो भव', 'आत्मवान् भव' (२।४५) आदि वाक्योंसे कर्मका त्याग और 'तस्माद्युध्यस्व भारत' (२।१८), 'ततो युद्धाय युज्यस्व' (२।३८), 'तस्माद्योगाय युज्यस्व' (२।५०) आदि वचनोंसे उन्होंने कर्मकी प्रेरणा समझी। इस प्रकार उपर्युक्त वचनोंमें उन्हें विरोध दिखायी दिया। इसलिये उपर्युक्त वाक्यसे उन्होंने दो बार 'इव' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि वास्तवमें आप मुझे स्पष्ट और अलग-अलग ही साधन बतला रहे हैं, कोई बात मिलाकर नहीं कह रहे हैं तथा आप मेरे परम प्रिय और हितैषी हैं, अतएव मुझे मोहित भी नहीं कर रहे हैं वरं मेरे मोहका नाश करनेके लिये ही उपदेश दे रहे हैं; किन्तु अपनी अज्ञताके कारण मुझे ऐसा ही प्रतीत हो रहा है कि मानो आप मुझे परस्पर-विरुद्ध और मिले हुए-से वचन कहकर मेरी बुद्धिको मोहमें डाल रहे हैं।

प्रश्न—यदि अर्जुनको दूसरे अध्यायके ४९वें और ५०वें श्लोकोंको सुनते ही उपर्युक्त भ्रम हो गया था तो ५३वें श्लोकमें उस प्रकरणके समाप्त होते ही उन्होंने अपने भ्रमनिवारणके लिये भगवान्‌से पूछ क्यों नहीं लिया ? बीचमें इतना व्यवधान क्यों पड़ने दिया ?

उत्तर—यह ठीक है कि अर्जुनको वहीं शङ्का हो गयी थी, इसलिये ५४वें श्लोकमें ही उन्हें इस विषयमें पूछ लेना चाहिये था; किन्तु ५३वें श्लोकमें जब भगवान्‌ने यह कहा कि 'जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदलसे तर जायगी और परमात्माके स्वरूपमें स्थिर हो जायगी तब तुम भगवत्प्राप्तिरूप योगको प्राप्त होओगे', तब उसे सुनकर अर्जुनके मनमें परमात्माको प्राप्त स्थिरबुद्धियुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण जाननेकी प्रबल इच्छा जाग उठी। इस कारण उन्होंने अपनी इस पहली शङ्काको मनमें रखकर, पहले स्थितप्रज्ञके विषयमें प्रश्न कर दिये और उनका उत्तर मिलते ही इस शङ्काको भगवान्‌के सामने रख दिया।

यदि वे पहले इस प्रसङ्गको छेड़ देते तो स्थितप्रज्ञ-सम्बन्धी बातोंमें इससे भी अधिक व्यवधान पड़ जाता।

प्रश्न—उस एक बातको निश्चित करके कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि अबतक आपने मुझे जितना उपदेश दिया है, उसमें विरोधाभास होनेसे मैं अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सका हूँ। मेरी समझमें यह बात नहीं आयी है कि आप मुझे युद्धके लिये आज्ञा दे रहे हैं या समस्त कर्मोंका त्याग कर देनेके लिये; यदि युद्ध करनेके लिये कहते हैं तो किस प्रकार करनेके लिये कहते हैं और यदि कर्मोंका त्याग करनेके लिये कहते हैं तो उनका त्याग करनेके बाद फिर क्या करनेको आज्ञा देते हैं। इसलिये आप सब प्रकारसे सोच-समझकर मेरे कर्तव्यका निश्चय करके मुझे एक ऐसा निश्चित साधन बतला दीजिये कि जिसका पालन करनेसे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ।

प्रश्न—यहाँ 'श्रेयः' पदका अर्थ 'कल्याण' करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ श्रेयः-प्राप्तिसे अर्जुनका तात्पर्य इस लोक या परलोकके भोगोंकी प्राप्ति नहीं है, क्योंकि 'भूमिका निष्कण्टक राज्य और देवोंका आधिपत्य मेरे शोकको दूर नहीं कर सकते' (२। ८) यह बात तो उन्होंने पहले ही कह दी थी। अतएव श्रेयः-प्राप्तिसे उनका अभिप्राय शोक-मोहका सर्वथा नाश करके शाश्वती शान्ति और नित्यानन्द प्रदान करनेवाली नित्यवस्तुकी प्राप्तिसे है, इसीलिये यहाँ 'श्रेयः' पदका अर्थ 'कल्याण' किया गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनका निश्चित कर्तव्य भक्तिप्रधान कर्मयोग बतलानेके उद्देश्यसे पहले उनके प्रश्नका उत्तर देते हुए यह दिखलाते हैं कि मेरे वचन 'व्यामिश्र' अर्थात् 'मिले हुए' नहीं हैं, वरं सर्वथा स्पष्ट और अलग-अलग हैं—

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे होती है और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है॥ ३॥

प्रश्न—'अस्मिन् लोके' पद किस लोकका वाचक है ?

उत्तर—'अस्मिन् लोके' पद इस मनुष्यलोकका वाचक है, क्योंकि ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंमें मनुष्योंका ही अधिकार है।

प्रश्न—'निष्ठा' पदका क्या अर्थ है और उसके साथ 'द्विविधा' विशेषण देनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'निष्ठा' पदका अर्थ 'स्थिति' है। उसके साथ 'द्विविधा' विशेषण देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि प्रधानतासे साधनकी स्थितिके दो भेद होते हैं—एक स्थितिमें तो मनुष्य आत्मा और परमात्माका अभेद मानकर अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझता है; और दूसरीमें परमेश्वरको सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण जगत्‌के

कर्ता, हर्ता, स्वामी तथा अपनेको उनका आज्ञाकारी सेवक समझता है।

प्रकृतिसे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (३।२८), मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्त्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित हो जाना; किसी भी क्रियामें या उसके फलमें किञ्चिन्मात्र भी अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका न रहना तथा सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अपनेको अभिन्न समझकर निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाना अर्थात् ब्रह्मभूत (ब्रह्मस्वरूप) बन जाना (५।२४; ६।२७)—यह पहली निष्ठा है। इसका नाम ज्ञाननिष्ठा है। इस स्थितिको प्राप्त हो जानेपर योगी हर्ष, शोक और कामनासे अतीत हो जाता है, उसकी सर्वत्र समदृष्टि हो जाती है (१८।५४); उस समय वह सम्पूर्ण जगत्को आत्मामें स्वप्नवत् कल्पित देखता है और आत्माको सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त देखता है (६।२९)। इस निष्ठा या स्थितिका फल परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान है। यह यथार्थ ज्ञान ही 'ज्ञानकी परा निष्ठा' (१८।५०) या परमावधि है, इसीको परा भक्ति भी कहते हैं (१८।५४); क्योंकि योगनिष्ठाकी परमावधि भी यही है।

वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जिन कर्मोंका शास्त्रमें विधान है—जिनका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये अवश्य-कर्तव्य माना गया है—उन शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक, अपना कर्तव्य समझकर अनुष्ठान करना; उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके प्रत्येक कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें तथा उसके फलमें सदा ही सम रहना (२।४७-४८) एवं इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्त न होकर समस्त सङ्कल्पोंका त्याग करके योगारूढ़ हो जाना (६।४)—यह कर्मयोगकी निष्ठा है। तथा परमेश्वरको सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सबके सुहृद् और सबके प्रेरक समझकर और अपनेको सर्वथा उनके अधीन मानकर समस्त कर्म और उनका फल भगवान्के समर्पण करके (९।२७-२८), उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी पूजा समझकर जैसे वे करवावें, वैसे ही समस्त कर्म करना; उन कर्मोंमें या उनके फलमें किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या कामना न रखना; भगवान्के प्रत्येक विधानमें सदा ही सन्तुष्ट रहना तथा निरन्तर उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना (१०।९; १२।६; १८।५७)—यह भक्तिप्रधान कर्मयोगकी निष्ठा है। उपर्युक्त कर्मयोगकी स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषमें राग-द्वेष और काम-क्रोधादि अवगुणोंका सर्वथा अभाव होकर उसकी सबमें समता हो जाती है, क्योंकि वह सबके हृदयमें अपने स्वामीको स्थित देखता है (१५।१५; १८।६१) और सम्पूर्ण जगत्को भगवान्का ही स्वरूप समझता है (७।७-१२; ९।१६-१९)। इस स्थितिका फल, जो भगवत्साक्षात्काररूप 'बुद्धियोग' है, वह योगकी परा निष्ठा है; उसीको 'तत्त्वज्ञान' भी कहते हैं, क्योंकि ज्ञाननिष्ठाकी परमावधि भी यही है। उपर्युक्त योगीपर दया करके भगवान् स्वयं ही उसे यह बुद्धियोग प्रदान करके अपने यथार्थ स्वरूपका दर्शन करा देते हैं (१०।१०)।

प्रश्न—'मया पुरा प्रोक्ता' अर्थात् दो प्रकारकी निष्ठाएँ मेरेद्वारा पहले कही गयी हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि ये दो प्रकारकी निष्ठाएँ मैंने आज तुम्हें नयी नहीं बतलायी हैं, सृष्टिके आदिकालमें और उसके

बाद भिन्न-भिन्न अवतारोंमें मैं इन दोनों निष्ठाओंका स्वरूप सनकादि ऋषियोंको तथा सूर्यको और मनु आदि राजाओंको भी अलग-अलग बतला चुका हूँ। वैसे ही तुमको भी मैंने दूसरे अध्यायके ११वें श्लोकसे लेकर तीसवें श्लोकतक अद्वितीय आत्माके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए सांख्ययोगकी दृष्टिसे युद्ध करनेके लिये कहा है (२।१८) और उन्चालीसवें श्लोकमें योगविषयक बुद्धिका वर्णन करनेकी प्रस्तावना करके ४०वेंसे ५३वें श्लोकतक फलसहित कर्मयोगका वर्णन करते हुए योगमें स्थित होकर युद्धादि कर्तव्य-कर्म करनेके लिये कहा है (२।४७-५०); तथा दोनोंका विभाग करनेके लिये उन्चालीसवें श्लोकमें स्पष्टरूपसे यह भी कह दिया है कि इसके पूर्व मैंने सांख्यविषयक उपदेश दिया है और अब योगविषयक उपदेश कहता हूँ। इसलिये मेरा कहना 'व्यामिश्र' अर्थात् 'मिला हुआ' नहीं है।

प्रश्न—'अनघ' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—जो पापरहित हो, उसे 'अनघ' कहते हैं। अर्जुनको 'अनघ' नामसे सम्बोधित करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो पापयुक्त या पापपरायण मनुष्य है, वह तो इनमेंसे किसी भी निष्ठाको नहीं पा सकता; पर तुम पापरहित हो, अतः तुम इनको सहज ही प्राप्त कर सकते हो, इसलिये मैंने तुमको यह विषय सुनाया है।

प्रश्न—सांख्ययोगियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे होती है और योगियोंकी कर्मयोगसे होती है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि उन दोनों प्रकारकी निष्ठाओंमेंसे जो सांख्ययोगियोंकी निष्ठा है, वह तो ज्ञानयोगका साधन करते-करते देहाभिमानका सर्वथा नाश होनेपर सिद्ध होती है और जो कर्मयोगियोंकी निष्ठा है, वह कर्मयोगका साधन करते-करते कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका अभाव होकर सिद्धि-असिद्धिमें समत्व होनेपर होती है। इस प्रकार इन दोनों निष्ठाओंके, पूर्वसंस्कार और रुचिके अनुसार, अलग-अलग अधिकारी होते हैं और ये दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र हैं।

प्रश्न—यदि कोई मनुष्य ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनोंका एक साथ सम्पादन करे, तो उसकी कौन-सी निष्ठा होती है ?

उत्तर—ये दोनों साधन परस्पर भिन्न हैं, अतः एक ही मनुष्य एक कालमें दोनोंका साधन नहीं कर सकता; क्योंकि सांख्ययोगके साधनमें आत्मा और परमात्मामें अभेद समझकर परमात्माके निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन रूपका चिन्तन किया जाता है और कर्मयोगमें फलासक्तिके त्यागपूर्वक कर्म करते हुए भगवान्‌को सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर समझकर उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका उपास्य-उपासक-भावसे चिन्तन किया जाता है। इसलिये दोनोंका अनुष्ठान एक साथ एक कालमें एक ही मनुष्यके द्वारा नहीं किया जा सकता।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने जो यह बात कही है कि सांख्यनिष्ठा ज्ञानयोगके साधनसे होती है और योगनिष्ठा कर्मयोगके साधनसे होती है, उसी बातको सिद्ध करनेके लिये अब यह दिखलाते हैं कि कर्तव्य-कर्मोंका स्वरूपतः त्याग किसी भी निष्ठाका हेतु नहीं है—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको यानी योगनिष्ठाको प्राप्त होता है और न केवल कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेसे सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठाको ही प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'नैष्कर्म्यम्' पद किसका वाचक है और मनुष्य कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको प्राप्त नहीं होता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—कर्मयोगकी जो परिपक्व स्थिति है—जिसका वर्णन पूर्वश्लोककी व्याख्यामें योगनिष्ठाके नामसे किया गया है, उसीका वाचक यहाँ 'नैष्कर्म्यम्' पद है । इस स्थितिको प्राप्त पुरुष समस्त कर्म करते हुए भी उनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है, उसके कर्म बन्धनके हेतु नहीं होते (४ । २२,४१); इस कारण उस स्थितिको 'नैष्कर्म्य' अर्थात् 'निष्कर्मता' कहते हैं । यह स्थिति मनुष्यको निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करनेसे ही मिलती है, बिना कर्म किये नहीं मिल सकती । इसलिये कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका उपाय कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर देना नहीं है, बल्कि उनको निष्कामभावसे करते रहना ही है—यही भाव दिखलानेके लिये कहा गया है कि 'मनुष्य कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको नहीं प्राप्त होता ।'

प्रश्न—कर्मयोगका स्वरूप तो कर्म करना ही है, उसमें कर्मोंका आरम्भ न करनेकी शङ्का नहीं होती; फिर कर्मोंका आरम्भ किये बिना 'निष्कर्मता' नहीं मिलती, यह कहनेकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—भगवान् अर्जुनको कर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग करनेके लिये कहते हैं और उसका फल कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाना बतलाते हैं (२ । ५१); इस कारण वह यह समझ सकता है कि यदि मैं कर्म न करूँ तो अपने-आप ही उनके बन्धनसे मुक्त हो जाऊँगा, फिर कर्म करनेकी जरूरत ही क्या है । इस भ्रमकी निवृत्तिके लिये पहले कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते समय भी भगवान्ने कहा है कि 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' अर्थात् तेरी कर्म न करनेमें आसक्ति नहीं होनी चहिये । तथा छठे अध्यायमें भी कहा है कि आरुरुक्षु मुनिके लिये कर्म करना ही योगारूढ होनेका उपाय है (६ । ३) । इसलिये शारीरिक परिश्रमके भयसे या अन्य किसी प्रकारकी आसक्तिसे मनुष्यमें जो अप्रवृत्तिका दोष आ जाता है, उसे कर्मयोगमें बाधक बतलानेके लिये ही भगवान्ने ऐसा कहा है ।

प्रश्न—यहाँ 'सिद्धिम्' पद किसका वाचक है और केवल कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जो ज्ञानयोगकी सिद्धि यानी परिपक्व स्थिति है, जिसका वर्णन पूर्वश्लोककी व्याख्यामें 'ज्ञाननिष्ठा' के नामसे किया गया है तथा जिसका फल तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति है, उसका वाचक यहाँ 'सिद्धिम्' पद है । इस स्थितिपर पहुँचकर साधक ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें आत्मा और परमात्माका किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं रहता, वह स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है; इसलिये इस स्थितिको 'सिद्धि' कहते हैं । यह ज्ञानयोगरूप सिद्धि अपने वर्णाश्रमके अनुसार करनेयोग्य कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान त्यागकर तथा समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनासे रहित होकर निरन्तर अभिन्नभावसे परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करनेसे ही सिद्ध होती है, कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेमात्रसे नहीं मिलती; क्योंकि अहंता, ममता और आसक्तिका नाश हुए बिना मनुष्यकी अभिन्नभावसे परमात्मामें स्थिर स्थिति नहीं हो सकती । बल्कि मन, बुद्धि और शरीरद्वारा होनेवाली किसी भी क्रियाका अपनेको कर्ता न समझकर उनका द्रष्टा—साक्षी रहनेसे (१४ । १९) उपर्युक्त स्थिति

प्राप्त हो जाती है। इसलिये सांख्ययोगीको भी वर्णाश्रमोचित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी चेष्टा न करके उनमें कर्तापन, ममता, आसक्ति और कामनासे रहित हो जाना चाहिये—यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि 'केवल कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती।'

प्रश्न—'अनारम्भात्' और 'संन्यसनात्'—इन दोनों पदोंका एक ही अभिप्राय है या भिन्न-भिन्न? यदि भिन्न-भिन्न है तो दोनोंमें क्या भेद है?

उत्तर—यहाँ भगवान्ने दोनों पदोंका प्रयोग भिन्न-भिन्न अभिप्रायसे किया है। क्योंकि 'अनारम्भात्' पदसे तो कर्मयोगीके लिये विहित कर्मोंके न करनेको योगनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक बतलाया है; किन्तु 'संन्यसनात्' पदसे सांख्ययोगीके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना सांख्यनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक नहीं बतलाया गया, केवल यही बात कही गयी है कि उसीसे उसे सिद्धि नहीं मिलती, सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उसे कर्तापनका त्याग करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदभावसे स्थित होना आवश्यक है। अतएव उसके लिये कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करना मुख्य बात नहीं है, भीतरी त्याग ही प्रधान है और कर्मयोगीके लिये स्वरूपसे कर्मोंका त्याग न करना विधेय है—यही दोनों पदोंके भावोंमें भेद है।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगीके लिये कर्तव्य-कर्मोंके न करनेको योगनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक और सांख्ययोगीके लिये सिद्धिकी प्राप्तिमें केवल स्वरूपसे बाहरी कर्मोंके त्यागको गौण बतलाकर, अब अर्जुनको कर्तव्य-कर्मोंमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे भिन्न-भिन्न हेतुओंसे कर्म करनेकी आवश्यकता सिद्ध करनेके लिये पहले कर्मोंके सर्वथा त्यागको अशक्य बतलाते हैं—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी विना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है॥ ५॥

प्रश्न—कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी विना कर्म किये नहीं रहता, इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि उठना, बैठना, खाना, पीना, सोना, जागना, सोचना, मनन करना, स्वप्न देखना, ध्यान करना और समाधिस्थ होना—ये सब-के-सब 'कर्म'के अन्तर्गत हैं। इसलिये जबतक शरीर रहता है तबतक मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुसार कुछ-न-कुछ कर्म करता ही रहता है। कोई भी मनुष्य क्षणभर भी कभी स्वरूपसे कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता। अतः उनमें कर्तापनका त्याग कर देना या ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग कर देना ही उनका सर्वथा त्याग कर देना है।

प्रश्न—यहाँ 'कश्चित्' पदमें गुणातीत ज्ञानी पुरुष भी सम्मिलित है या नहीं?

उत्तर—गुणातीत ज्ञानी पुरुषका गुणोंसे या उनके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतः वह गुणोंके वशमें होकर कर्म करता है, यह कहना नहीं बन

सकता । इसलिये गुणातीत ज्ञानी पुरुष 'कश्चित्' पदके अन्तर्गत नहीं आता । तथापि मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिका सङ्घातरूप जो उसका शरीर लोगोंकी दृष्टिमें वर्तमान है, उसके द्वारा उसके और लोगोंके प्रारब्धानुसार नाममात्रके कर्म तो होते ही हैं; किन्तु कर्तापनका अभाव होनेके कारण वे कर्म वास्तवमें कर्म नहीं हैं । हाँ, उसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिके सङ्घातको 'कश्चित्'के अंदर मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि वह गुणोंका कार्य होनेसे गुणोंसे अतीत नहीं है, बल्कि उस शरीरसे सर्वथा अतीत हो जाना ही ज्ञानीका गुणातीत हो जाना है ।

प्रश्न—'सर्वः' पद किनका वाचक है और उनका गुणोंके वशमें होकर कर्म करनेके लिये बाध्य होना क्या है ?

उत्तर—'सर्वः' पद समस्त प्राणियोंका वाचक होते हुए भी यहाँ उसे खास तौरपर मनुष्यसमुदायका वाचक समझना चाहिये क्योंकि कर्मोंमें मनुष्यका ही अधिकार है । और पूर्वजन्मोंके किये हुए कर्मोंके संस्कारजनित स्वभावके परवश होकर जो वर्णाश्रमोचित कर्म करना है, यही गुणोंके वश होकर कर्म करनेके लिये बाध्य होना है ।

प्रश्न—'गुणैः' पदके साथ 'प्रकृतिजैः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सांख्यशास्त्रमें गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति माना गया है, परन्तु भगवान्‌के मतमें तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं—इस बातको स्पष्ट करनेके लिये ही भगवान्‌ने यहाँ 'गुणैः' पदके साथ 'प्रकृतिजैः' विशेषण दिया है । इसी तरह कहीं-कहीं 'प्रकृतिसम्भवान्' (१३ । १९), कहीं 'प्रकृतिजान्' (१३ । २१), कहीं 'प्रकृतिसम्भवाः' (१४ । ५) और कहीं 'प्रकृतिजैः' (१८ । ४०) विशेषण देकर अन्यत्र भी जगह-जगह गुणोंको प्रकृतिका कार्य बतलाया है ।

प्रश्न—यहाँ 'प्रकृति' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—समस्त गुणों और विकारोंके समुदायरूप इस जड दृश्य जगत्‌की कारणभूता जो भगवान्‌की अनादिसिद्ध मूल प्रकृति है—जिसको अव्यक्त, अव्याकृत और महद्ब्रह्म भी कहते हैं—उसीका वाचक यहाँ 'प्रकृति' शब्द है ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता; इसपर यह शङ्का होती है कि इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठसे रोककर भी तो मनुष्य कर्मोंका त्याग कर सकता है । अतः ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रियाओंका त्याग कर देना कर्मोंका त्याग नहीं है, यह भाव दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ॥ ६ ॥

प्रश्न—यहाँ 'कर्मेन्द्रियाणि' पद किन इन्द्रियोंका वाचक है और उनका हठपूर्वक रोकना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'कर्मेन्द्रियाणि' पदका पारिभाषिक अर्थ नहीं है; इसलिये जिनके द्वारा मनुष्य बाहरकी क्रिया करता है अर्थात् शब्दादि विषयोंको ग्रहण करता है, उन श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण तथा वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—इन दसों इन्द्रियोंका वाचक है; क्योंकि गीतामें श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियोंके

लिये कहीं भी 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है। इसके सिवा यहाँ कर्मेन्द्रियोंका अर्थ केवल वाणी आदि पाँच इन्द्रियाँ मान लेनेसे श्रोत्र और नेत्र आदि इन्द्रियोंको रोकनेकी बात शेष रह जाती है और उसके रह जानेसे मिथ्याचारीका स्वाँग भी पूरा नहीं बनता; तथा वाणी आदि इन्द्रियोंको रोककर श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा वह क्या करता है, यह बात भी यहाँ बतलानी आवश्यक हो जाती है। किन्तु भगवान्‌ने वैसी कोई बात नहीं कही है; इसलिये यहाँ 'कर्मेन्द्रियाणि' पदको दसों इन्द्रियोंका ही वाचक मानना ठीक है और हठसे सुनना, देखना आदि उनकी क्रियाओंको रोक देना ही उनको हठपूर्वक रोकना है।

प्रश्न—यदि कोई साधक भगवान्‌का ध्यान करनेके लिये या इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये हठसे इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकनेकी चेष्टा करता है और उस समय उसका मन वशमें न होनेके कारण उसके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है, तो क्या वह भी मिथ्याचारी है?

उत्तर—वह मिथ्याचारी नहीं है, वह तो साधक है; क्योंकि मिथ्याचारीकी भाँति मनसे विषयोंका चिन्तन करना उसका उद्देश्य नहीं है। वह तो मनको भी रोकना ही चाहता है; पर आदत, आसक्ति और संस्कारवश उसका मन जबरदस्ती विषयोंकी ओर चला जाता है। अतः उसमें उसका कोई दोष नहीं है, आरम्भकालमें ऐसा होना स्वाभाविक है।

प्रश्न—यहाँ 'संयम्य' पदका अर्थ 'वशमें कर लेना' मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—इन्द्रियोंको वशमें कर लेनेवाला मिथ्याचारी नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियोंको वशमें कर लेना तो योगका अङ्ग है। इसलिये 'संयम्य' का अर्थ जो ऊपर किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—'इन्द्रियार्थान्' पद किनका वाचक है?

उत्तर—दसों इन्द्रियोंके शब्दादि समस्त विषयोंका वाचक यहाँ 'इन्द्रियार्थान्' पद है। अ० ५ श्लो० ९ में भी इसी अर्थमें 'इन्द्रियार्थेषु' पदका प्रयोग हुआ है।

प्रश्न—वह मिथ्याचारी कहलाता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे इन्द्रियोंको रोकनेवाला मनुष्य मछलियोंको धोखा देनेके लिये स्थिरभावसे खड़े रहनेवाले कपटी बगुलेकी भाँति बाहरसे दूसरा ही भाव दिखलाता है और मनमें दूसरा ही भाव रखता है; अतः उसका आचरण मिथ्या होनेसे वह मिथ्याचारी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार केवल ऊपरसे इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेनेको मिथ्याचार बतलाकर, अब आसक्तिका त्याग करके इन्द्रियोंद्वारा निष्कामभावसे कर्तव्यकर्म करनेवाले योगीकी प्रशंसा करते हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ दसों इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है॥७॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' पदका क्या भाव है?

उत्तर—ऊपरसे कर्मोंका त्याग करनेवालेकी अपेक्षा स्वरूपसे कर्म करते रहकर इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले योगीकी विलक्षणता बतलानेके लिये यहाँ 'तु' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'इन्द्रियाणि' और 'कर्मेन्द्रियैः'—

इन दोनों पदोंसे कौन-सी इन्द्रियोंका ग्रहण है ?

उत्तर—यहाँ दोनों ही पद समस्त इन्द्रियोंके वाचक हैं। क्योंकि न तो केवल पाँच इन्द्रियोंको वशमें करनेसे इन्द्रियोंका वशमें करना ही सिद्ध होता है और न केवल पाँच इन्द्रियोंसे कर्मयोगका अनुष्ठान ही हो सकता है; क्योंकि देखना, सुनना आदिके बिना कर्मयोगका अनुष्ठान सम्भव नहीं। इसलिये उपर्युक्त दोनों पदोंसे सभी इन्द्रियोंका ग्रहण है। इस अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने 'इन्द्रियाणि' पदके साथ 'नियम्य' पदका प्रयोग करके सभी इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात कही है।

प्रश्न—यहाँ 'नियम्य' पदका अर्थ 'वशमें करना' न लेकर 'रोकना' लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—'रोकना' अर्थ यहाँ नहीं बन सकता; क्योंकि इन्द्रियोंको रोक लेनेपर फिर उनसे कर्मयोगका आचरण नहीं किया जा सकता।

प्रश्न—कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करना क्या है ?

उत्तर—समस्त विहित कर्मोंमें तथा उनके फलरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें राग-द्वेषका त्याग करके एवं सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर, वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि विषयोंका ग्रहण करते हुए जो यज्ञ, दान, तप, सेवा, अध्ययन, अध्यापन, लेन-देनरूप व्यापार एवं खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना, उठना-बैठना आदि समस्त इन्द्रियोंके कर्म शास्त्रविधिके अनुसार करते रहना है, यही कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करना है। दूसरे अध्यायके ६४वें श्लोकमें इसीका फल प्रसादकी प्राप्ति और समस्त दु:खोंका नाश बतलाया गया है।

प्रश्न—'स विशिष्यते' का क्या भाव है ? क्या यहाँ कर्मयोगीको पूर्वश्लोकमें वर्णित मिथ्याचारीकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया गया है ?

उत्तर—'स विशिष्यते' से यहाँ कर्मयोगीको समस्त साधारण मनुष्योंसे श्रेष्ठ बतलाकर उसकी प्रशंसा की गयी है। यहाँ इसका अभिप्राय कर्मयोगीको पूर्ववर्णित केवल मिथ्याचारीकी अपेक्षा ही श्रेष्ठ बतलाना नहीं है, क्योंकि पूर्वश्लोकमें वर्णित मिथ्याचारी तो आसुरीसम्पदावाला दम्भी है। उसकी अपेक्षा तो सकामभावसे विहित कर्म करनेवाला मनुष्य ही बहुत श्रेष्ठ है; फिर दैवीसम्पदायुक्त कर्मयोगीको मिथ्याचारीकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाना तो किसी वेश्याकी अपेक्षा सती स्त्रीको श्रेष्ठ बतलानेकी भाँति कर्मयोगीकी स्तुतिमें निन्दा करनेके समान है। अत: यहाँ यही मानना ठीक है कि 'स विशिष्यते' से कर्मयोगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर उसकी प्रशंसा की गयी है।

सम्बन्ध—अर्जुनने जो यह पूछा था कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं, उसके उत्तरमें ऊपरसे कर्मोंका त्याग करनेवाले मिथ्याचारीकी निन्दा और कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अब उन्हें कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

प्रश्न—'नियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किस कर्मका वाचक है और उसे करनेके लिये आज्ञा देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म शास्त्रमें कर्तव्य बतलाये गये हैं, उन सभी शास्त्रविहित स्वधर्मरूप कर्तव्यकर्मोंका वाचक यहाँ 'नियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है; उसे करनेके लिये आज्ञा देकर भगवान्‌ने अर्जुनके उस भ्रमको दूर किया है, जिसके कारण वे भगवान्‌के वचनोंको मिले हुए समझ रहे थे और साथ ही उन्होंने जो अपना निश्चित कर्तव्य बतलानेके लिये कहा था, उसका भी उत्तर दे दिया है। अभिप्राय यह है कि तुम्हारी जिज्ञासाके अनुसार मैं तुम्हें तुम्हारा निश्चित कर्तव्य बतला रहा हूँ। उपर्युक्त कारणोंसे किसी प्रकार भी तुम्हारे लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना हितकर नहीं है, अतः तुम्हें शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मरूप स्वधर्मका अवश्यमेव पालन करना चाहिये। युद्ध करना तुम्हारा स्वधर्म है; इसलिये वह देखनेमें हिंसात्मक और क्रूरतापूर्ण होनेपर भी वास्तवमें तुम्हारे लिये घोर कर्म नहीं है, बल्कि निष्कामभावसे किये जानेपर वह उल्टा कल्याणका हेतु है। इसलिये तुम संशय छोड़कर युद्ध करनेके लिये खड़े हो जाओ।

प्रश्न—कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने अर्जुनके उस भ्रमका निराकरण किया है, जिसके कारण उन्होंने यह समझ लिया था कि भगवान्‌के मतमें कर्म करनेकी अपेक्षा उनका न करना श्रेष्ठ है। अभिप्राय यह है कि कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसके पापोंका प्रायश्चित्त होता है तथा कर्तव्यकर्मोंका त्याग करनेसे वह पापका भागी होता है एवं निद्रा, आलस्य और प्रमादमें फँसकर अधोगतिको प्राप्त होता है (१४ । १८); अतः कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना सर्वथा श्रेष्ठ है। सकामभावसे या प्रायश्चित्तरूपसे भी कर्तव्यकर्मोंका करना न करनेकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है; फिर उनका निष्कामभावसे करना श्रेष्ठ है, इसमें तो कहना ही क्या है ?

प्रश्न—कर्म न करनेसे तेरा शरीरनिर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सर्वथा कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके तो मनुष्य जीवित भी नहीं रह सकता, शरीरनिर्वाहके लिये उसे कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता है; ऐसी स्थितिमें विहित कर्मका त्याग करनेसे मनुष्यका पतन होना स्वाभाविक है। इसलिये कर्म न करनेकी अपेक्षा सब प्रकारसे कर्म करना ही उत्तम है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म भी तो बन्धनके हेतु माने गये हैं; फिर कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ कैसे है ? इसपर कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे अर्जुन ! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य-कर्म कर ॥ ९ ॥

प्रश्न—यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्य-समुदाय कर्मोंद्वारा बँधता है, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो कर्म मनुष्यके कर्तव्यरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही अनासक्तभावसे किये जाते हैं, किसी फलकी कामनासे नहीं किये जाते, वे शास्त्रविहित कर्म बन्धनकारक नहीं होते; बल्कि उन कर्मोंसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है। किन्तु ऐसे लोकोपकारक कर्मोंके अतिरिक्त जितने भी पुण्य-पापरूप कर्म हैं, वे सब पुनर्जन्मके हेतु होनेसे बाँधनेवाले हैं। मनुष्य स्वार्थबुद्धिसे जो कुछ भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका फल भोगनेके लिये उसे कर्मानुसार नाना योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है; और बार-बार जन्मना-मरना ही बन्धन है, इसलिये सकाम कर्मोंमें या पाप-कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य उन कर्मोंद्वारा बँधता है। अतएव मनुष्यको कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये निष्कामभावसे केवल कर्तव्य-पालनकी बुद्धिसे ही शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये।

प्रश्न—'अयं लोकः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मनुष्योंका ही कर्म करनेमें अधिकार है तथा मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही दूसरी योनियाँ मिलती हैं, उनमें पुण्य-पापरूप नये कर्म नहीं बनते। इस कारण अन्य योनियोंमें किये हुए कर्म बाँधनेवाले नहीं होते, केवल मनुष्ययोनिमें किये हुए ही कर्म बन्धनके हेतु होते हैं—यह भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'अयं लोकः' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—तू आसक्तिसे रहित होकर यज्ञके निमित्त भलीभाँति कर्म कर, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्म मनुष्यको बाँधनेवाले नहीं होते, बल्कि अनासक्तभावसे यज्ञके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके पूर्वसञ्चित समस्त पाप-पुण्य भी विलीन हो जाते हैं (४।२३); इसलिये तुम ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके केवल शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंकी परम्परा सुरक्षित रखनेके उद्देश्यसे निष्कामभावसे समस्त कर्मोंका उत्साहपूर्वक भलीभाँति आचरण करो।

प्रश्न—उपर्युक्त वाक्यमें 'मुक्तसङ्गः' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'मुक्तसङ्गः' विशेषणसे कर्मोंमें और उनके फलमें ममता और आसक्तिका त्याग करके कर्म करनेके लिये कहा गया है। अभिप्राय यह है कि कर्मफलका त्याग करनेके साथ-साथ कर्मोंमें और उनके फलमें ममता और आसक्तिका भी त्याग करना चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही कि यज्ञके निमित्त कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता; इसलिये यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ किसको कहते हैं, उसे क्यों करना चाहिये और उसके

लिये कर्म करनेवाला मनुष्य कैसे नहीं बँधता। अतएव इन बातोंको समझानेके लिये भगवान् ब्रह्माजीके वचनोंका प्रमाण देकर कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो॥१०॥

प्रश्न—'सहयज्ञाः' विशेषणके सहित 'प्रजाः' पद यहाँ किनका वाचक है और 'अनेन' पद किसका वाचक है?

उत्तर—जिनका यज्ञमें अर्थात् वर्णाश्रमोचित शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तप और सेवा आदि कर्मोंसे सिद्ध होनेवाले स्वधर्मके पालनमें अधिकार है; पूर्वश्लोकमें 'अयम्' विशेषणके सहित 'लोकः' पदसे जिनका वर्णन किया गया है—उन समस्त मनुष्योंका वाचक यहाँ 'सहयज्ञाः' विशेषणके सहित 'प्रजाः' पद है और उनके लिये वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके भेदसे भिन्न-भिन्न यज्ञ, दान, तप, प्राणायाम, इन्द्रिय-संयम, अध्ययन-अध्यापन, प्रजापालन, युद्ध, कृषि, वाणिज्य और सेवा आदि कर्तव्यकर्मोंसे सिद्ध होनेवाला जो स्वधर्मरूप यज्ञ है—उसका वाचक यहाँ 'अनेन' पद है।

प्रश्न—तुम लोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो, इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान् प्रजापतिने मनुष्योंको आशीर्वाद दिया है। उनका अभिप्राय यह है कि तुम लोगोंके लिये मैंने इस स्वधर्मरूप यज्ञकी रचना कर दी है; इसका साङ्गोपाङ्ग पालन करनेसे तुम्हारी उन्नति होती रहेगी, तुम्हारा पतन नहीं होगा और तुम लोग वर्तमान स्थितिसे ऊपर उठ जाओगे और यह यज्ञ इस लोकमें भी तुम्हारी समस्त आवश्यकताओंकी पूर्ति करता रहेगा।

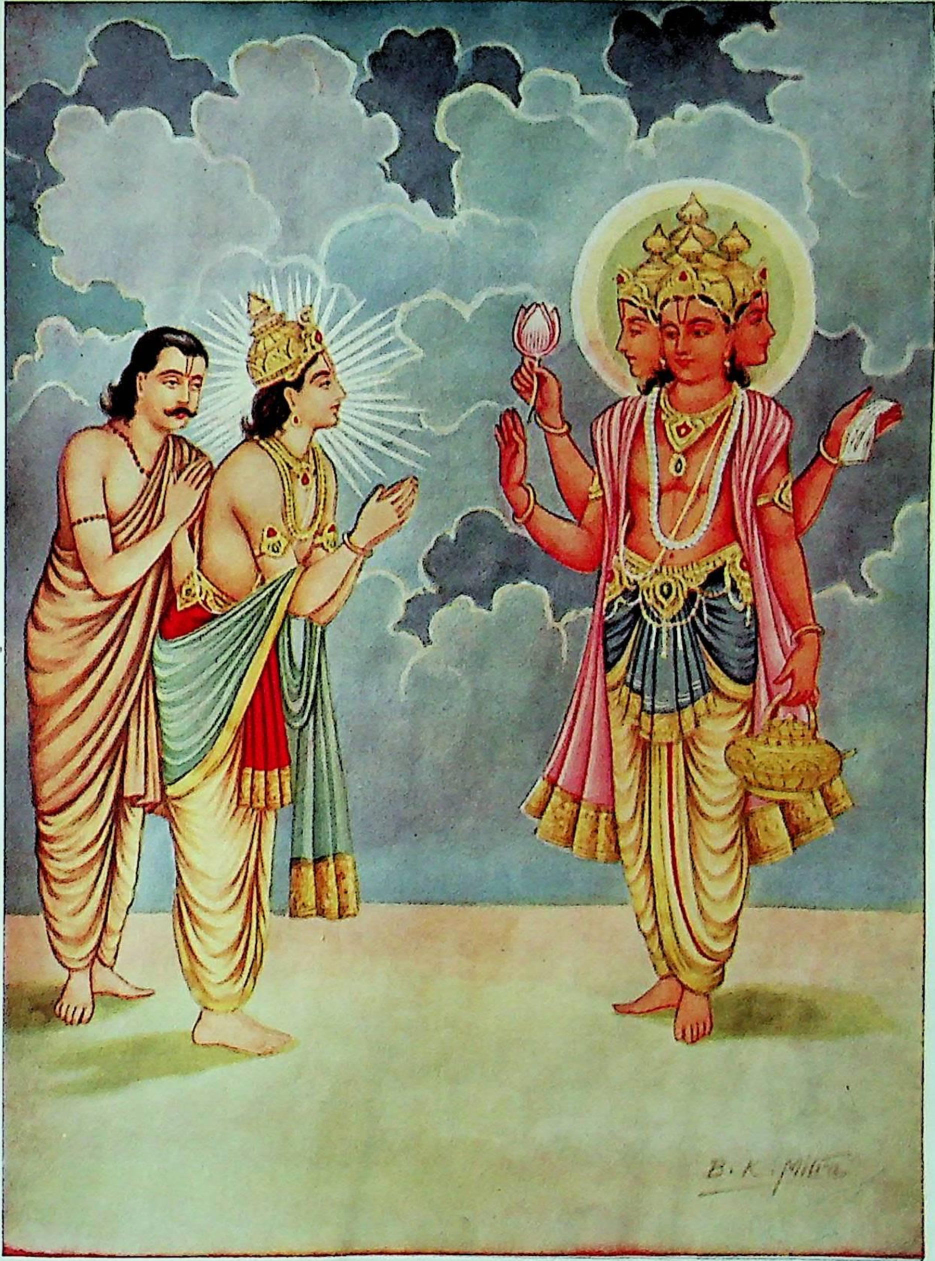
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

तुम लोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुम लोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे॥११॥

प्रश्न—'अनेन' पद यहाँ किसका वाचक है और उसके द्वारा देवताओंको उन्नत करना क्या है?

उत्तर—'अनेन' पद जिसका प्रकरण चल रहा है, उस स्वधर्मरूप यज्ञका ही वाचक है; किन्तु यहाँ जिस यज्ञमें वेद-मन्त्रोंद्वारा देवताओंको हविष्य दिया जाता है, उसको उपलक्षण बनाकर स्वधर्मपालनरूप यज्ञकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन किया गया है; इसलिये उपलक्षणरूपसे इसे हवनरूप यज्ञका वाचक समझना

प्रजापतिकी शिक्षा



सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ (३ । १०)

चाहिये और उस हवनरूप यज्ञके द्वारा देवताओंको हवि पहुँचाकर पुष्ट करना एवं उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करना ही उनको उन्नत करना है, ऐसा समझना चाहिये। एवं यह वर्णन उपलक्षणके रूपमें होनेके कारण यज्ञका अर्थ स्वधर्म समझकर अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार कर्तव्यपालनके द्वारा प्रत्येक ऋषि, पितर, भूत-प्रेत, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणियोंको सुख पहुँचाना, उनकी उन्नति करना भी इसीके अन्तर्गत समझना चाहिये।

प्रश्न—वे देवतालोग तुम लोगोंकी उन्नति करें, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार यज्ञके द्वारा देवताओंको पुष्ट करना तुम्हारा कर्तव्य है, उसी प्रकार तुम लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करके तुम लोगोंको उन्नत करना देवताओंका भी कर्तव्य है। इसलिये उनको भी मेरा यही उपदेश है कि वे अपने कर्तव्यका पालन करते रहें।

प्रश्न—निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेकी उन्नति करते हुए तुम लोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे ब्रह्माजीने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थका त्याग करके एक-दूसरेको उन्नत बनानेके लिये अपने कर्तव्यका पालन करनेसे तुम लोग इस सांसारिक उन्नतिके साथ-साथ परम कल्याणरूप मोक्षको भी प्राप्त हो जाओगे। अभिप्राय यह है कि यहाँ देवताओंके लिये तो ब्रह्माजीका यह आदेश है कि मनुष्य यदि तुम लोगोंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि न करें तो भी तुम कर्तव्य समझकर उनकी उन्नति करो और मनुष्योंके प्रति यह आदेश है कि देवताओंकी उन्नति और पुष्टिके लिये ही स्वार्थ-त्यागपूर्वक देवताओंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि कर्म करो। इसके सिवा अन्य ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदिको भी निःस्वार्थभावसे स्वधर्मपालनके द्वारा सुख पहुँचाओ।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥

यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुम लोगोंको विना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको विना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है॥१२॥

प्रश्न—यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुम लोगोंको इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे, इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि तुम लोगोंको अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये; फिर तुम लोगोंसे यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवतालोग तुमको सदा-सर्वदा सुखभोग और जीवननिर्वाहके लिये आवश्यक पदार्थ देते रहेंगे, इसमें सन्देहकी बात नहीं है; क्योंकि वे लोग अपना कर्तव्यपालन करनेके लिये बाध्य हैं।

प्रश्न—उनके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो मनुष्य उनको विना दिये ही भोगता है, वह चोर है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँतक प्रजापतिके वचनोंका अनुवाद कर अब भगवान् उपर्युक्त वाक्यसे यह भाव दिखलाते हैं कि इस प्रकार ब्रह्माजीके उपदेशानुसार वे देवतालोग

सृष्टिके आदिकालसे मनुष्योंको सुख पहुँचानेके लिये—उनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके निमित्त पशु, पक्षी, औषध, वृक्ष, तृण आदिके सहित सबकी पुष्टि कर रहे हैं और अन्न, जल, पुष्प, फल, धातु आदि मनुष्योपयोगी समस्त वस्तुएँ मनुष्योंको दे रहे हैं; जो मनुष्य उन सब वस्तुओंको उन देवताओंका ऋण चुकाये विना——उनका न्यायोचित स्वत्व उन्हें अर्पण किये विना स्वयं अपने काममें लाता है, वह वैसे ही कृतघ्न और चोर होता है, जैसे कोई स्नेहशील माता-पितादिसे पाला-पोसा हुआ पुत्र उनकी सेवा न करनेसे एवं उनके मरनेके बाद श्राद्ध-तर्पण आदि न करनेसे, किसीके द्वारा उपकार पाया हुआ मनुष्य यथासाध्य प्रत्युपकार न करनेसे अथवा कोई दत्तक पुत्र पिताके द्वारा प्राप्त सम्पत्तिका उपभोग करके माता-पिताकी सेवा न करनेसे कृतघ्न और चोर होता है।

प्रश्न—जब कि देवतालोग मनुष्योंद्वारा सन्तुष्ट किये जानेपर उनको आवश्यक भोग प्रदान करते हैं तो फिर उनसे पाये हुए भोगोंको यदि मनुष्य उन्हें वापस न भी दे तो वह चोर कैसे है?

उत्तर—सृष्टिके आरम्भकालसे ही मनुष्य यज्ञके द्वारा देवताओंको बढ़ाते आये हैं और देवतालोग मनुष्योंको इष्ट भोग प्रदान करते आये हैं। यह परम्परा सृष्टिके आरम्भसे ही चली आती है। इस परम्परागत आदान-प्रदानमें जिन मनुष्योंने पहले यज्ञादिके द्वारा देवताओंको बढ़ाया है और जो बढ़ा रहे हैं, वे तो चोर नहीं हैं; परन्तु दूसरे मनुष्योंके द्वारा बढ़ाये हुए देवताओंसे इष्ट भोग प्राप्त करके जो उनके लिये यज्ञादि नहीं करता, उसको चोर बतलाना तो उचित ही है। जैसे किसी दूसरे मनुष्यके द्वारा पुष्ट की हुई गौका दूध यदि कोई दूसरा ही मनुष्य यह कहकर पीता है कि गौओंकी सेवा मनुष्य ही करते हैं और मैं भी मनुष्य हूँ, तो वह चोर समझा जाता है—वैसे ही दूसरे मनुष्योंके द्वारा बढ़ाये हुए देवताओंसे भोग प्राप्त करके उनको विना दिये भोगनेवाला मनुष्य भी चोर माना जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार ब्रह्माजीके वचनोंका प्रमाण देकर भगवान्‌ने यज्ञादि कर्मोंकी कर्तव्यताका प्रतिपादन किया और साथ ही उनका पालन न करनेवालेको चोर बतलाकर उसकी निन्दा की; अब उन कर्तव्यकर्मोंका आचरण करनेवाले पुरुषोंकी प्रशंसा करते हुए उनसे विपरीत केवल शरीरपोषणके लिये ही कर्म करनेवाले पापियोंकी निन्दा करते हैं——

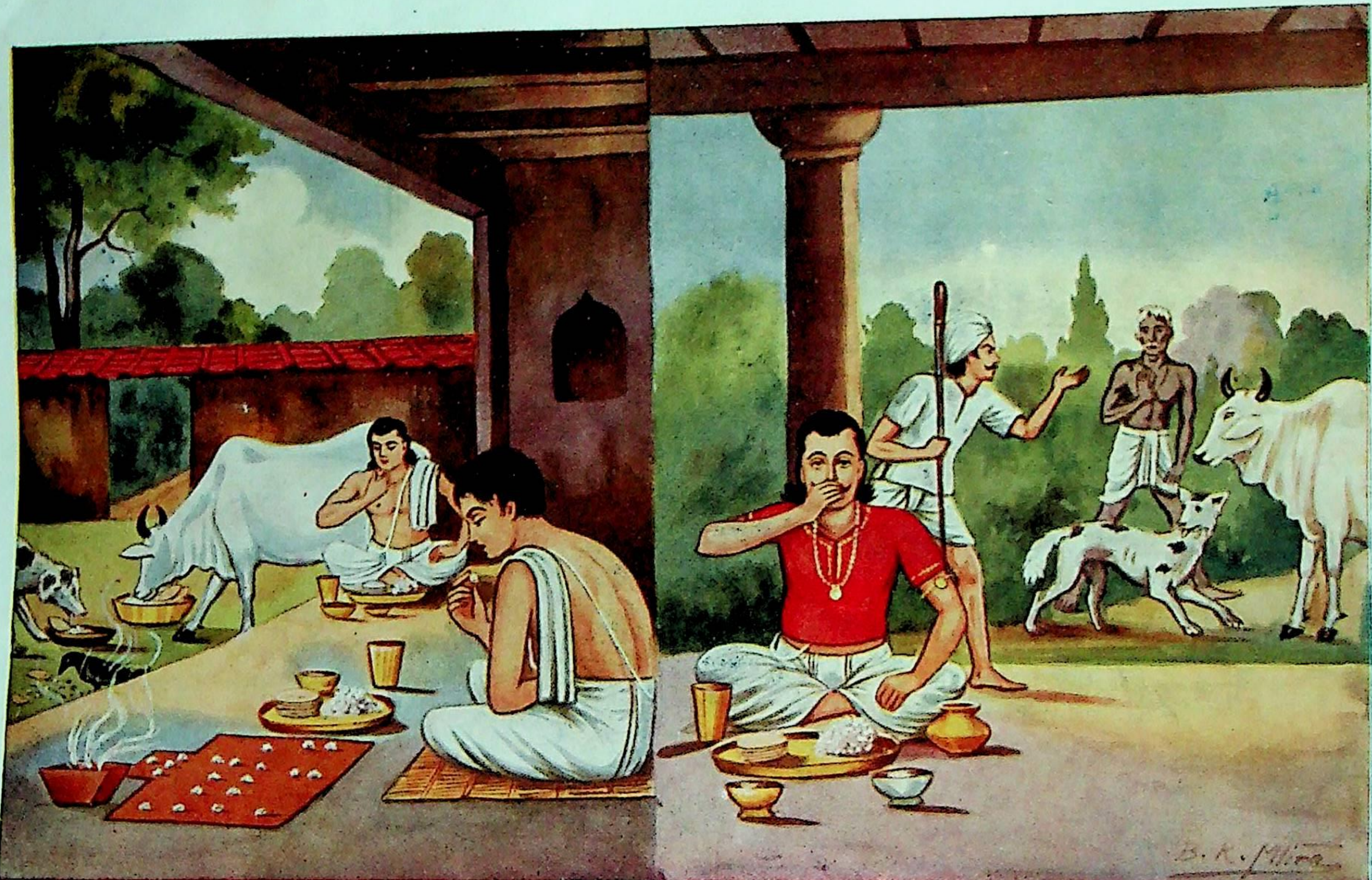
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। और जो पापी लोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं॥१३॥

प्रश्न—'यज्ञशिष्टाशिनः' पद किन मनुष्योंका वाचक है?

उत्तर—यहाँ 'यज्ञ' शब्दके द्वारा प्रधानरूपसे पञ्च-महायज्ञका लक्ष्य कराते हुए भगवान् उन सभी शास्त्रीय

अमृत-भोजन पाप-भोजन



यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ (३ । १३)

सत्कर्मोंकी बात कहते हैं, जो क्रियाओंसे सम्पादित होते हैं। सृष्टिकार्यके सुचारुरूपसे सञ्चालनमें और सृष्टिके जीवोंका भलीभाँति भरण-पोषण होनेमें पाँच श्रेणीके प्राणियोंका परस्पर सम्बन्ध है—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और भूतप्राणी। इन पाँचोंके सहयोगसे ही सबकी पुष्टि होती है। देवता समस्त संसारको इष्ट भोग देते हैं, ऋषि-महर्षि सबको ज्ञान देते हैं, पितरलोग सन्तानका भरण-पोषण करते और हित चाहते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करते हैं और पशु, पक्षी, वृक्षादि सबके सुखके साधनरूपमें अपनेको समर्पित किये रहते हैं। इन पाँचोंमें योग्यता, अधिकार और साधनसम्पन्न होनेके कारण सबकी पुष्टिका दायित्व मनुष्यपर है। इसीसे मनुष्य शास्त्रीय कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करता है। पञ्चमहायज्ञसे यहाँ लोकसेवारूप शास्त्रीय सत्कर्म ही विवक्षित हैं। मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी कमावे, उसमें इन सबका भाग समझे; क्योंकि वह सबकी सहायता और सहयोगसे ही कमाता-खाता है। इसीलिये जो यज्ञ करनेके बाद बचे हुए अन्नको अर्थात् इन सबको उनका प्राप्य भाग देकर उससे बचे हुए अन्नको खाता है, उसीको शास्त्रकार अमृताशी (अमृत खानेवाला) बतलाते हैं। जो ऐसा नहीं करता, दूसरोंका स्वत्व मारकर केवल अपने लिये ही कमाता-खाता है, वह पाप खाता है। विभिन्न क्रियाओंसे उपार्जित अन्नका भोजन उसके पकनेपर ही होता है और उस अन्नकी अग्निमें आहुति दिये विना देवयज्ञ और बलिवैश्वदेव सिद्ध नहीं होते, इसलिये यहाँ हवन और बलिवैश्वदेवको प्रधानता दी गयी है। परन्तु केवल हवन-बलिवैश्वदेवरूप कर्मसे ही पञ्चमहायज्ञोंकी पूर्ति नहीं हो जाती। यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाला वास्तवमें वही है, जो सबको अपनी कमाईका हिस्सा यथायोग्य देकर फिर बचे हुएको स्वयं काममें लाता है। ऐसे स्वार्थत्यागी कर्मयोगीका वाचक यहाँ 'यज्ञशिष्टाशिनः' पद है।

प्रश्न—'सन्तः' पद यहाँ साधकोंका वाचक है या सिद्धोंका ?

उत्तर—साधकोंका वाचक है; क्योंकि सिद्ध पुरुषोंमें पाप नहीं होते और यहाँ पापोंसे छूटनेकी बात कही गयी है।

प्रश्न—क्या 'सन्तः' पदका प्रयोग सिद्ध पुरुषोंके लिये नहीं हो सकता ? और क्या सिद्ध पुरुष यज्ञ नहीं करते ?

उत्तर—सिद्ध पुरुष तो संत हैं ही, परन्तु इस प्रकरणमें संतका अर्थ 'निःस्वार्थभावसे कर्म करनेवाले साधक' है। और सिद्ध पुरुष भी यज्ञ करते हैं; परन्तु वे पापोंसे छूटनेके लिये नहीं, वरं स्वाभाविक ही लोकसंग्रहार्थ करते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते' से क्या लेना चाहिये ?

उत्तर—मनुष्यके पूर्व पापोंका सञ्चय है, वर्तमानमें जीवननिर्वाहके लिये किये जानेवाले वैध अर्थोपार्जनमें भी मनुष्यसे आनुषङ्गिक पाप बनते हैं। 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८।४८) के न्यायसे खेती, व्यापार, शिल्प आदि प्रत्येक जीवनधारणके कार्यमें कुछ-न-कुछ हिंसा होती ही है। गृहस्थके घरमें भी प्रतिदिन चूल्हे, चक्की, झाड़ू, ओखली और जल रखनेके स्थानमें हिंसा होती है। इसके सिवा प्रमाद आदिके कारण अन्यान्य प्रकारसे भी अनेकों पाप बनते रहते हैं। जो पुरुष निःस्वार्थभावसे, केवल लोकसेवाकी दृष्टिको सामने रखकर, सब जीवोंको सुख पहुँचानेके लिये ही पञ्चमहायज्ञादि करता है और इसीमें जीवनधारणकी उपयोगिता मानकर अपने न्यायोपार्जित धनसे यथाशक्ति यथायोग्य

सबकी सेवारूपी यज्ञ करके उससे बचे-खुचे अन्नको केवल उनके सेवार्थ जीवनधारण करनेके लिये ही प्रसादरूपसे ग्रहण करता है, वह सत्पुरुष भूत और वर्तमानके सब पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है (यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ४।३१); इसीलिये ऐसे साधकको संत कहा गया है। और यहाँ 'सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते' से उपर्युक्त अर्थ ही लेना चाहिये।

घरमें होनेवाले नित्यके पाँच पापोंसे तो वह सकाम पुरुष भी छूट जाता है जो अपने सुखोपभोगकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करता है और प्रायश्चित्तरूप नित्य हवन, बलिवैश्वदेव आदि कर्म करके सबका स्वत्व उन्हें दे देता है; पर यहाँ कर्ताके लिये 'सन्तः' पद और 'किल्बिषैः' के साथ 'सर्व' विशेषण आनेसे यही समझना चाहिये कि इस प्रकार निष्कामभावसे पञ्चमहायज्ञादिका अनुष्ठान करनेवाला संत पुरुष तो भूत एवं वर्तमानके सभी पापोंसे छूट जाता है।

प्रश्न—जो अपने शरीरपोषणके लिये ही पकाते-खाते हैं, उन्हें पापी और उनके भोजनको पाप क्यों बतलाया गया ?

उत्तर—यहाँ पकाने-खानेके उपलक्ष्यसे इन्द्रियोंके द्वारा भोगे जानेवाले समस्त भोगोंकी बात कही गयी है। जो पुरुष इन भोगोंका उपार्जन और इनका यज्ञावशिष्ट उपभोग निष्कामभावसे केवल लोकसेवाके लिये करता है, वह तो उपर्युक्त प्रकारसे पापोंसे छूट जाता है; और जो केवल सकामभावसे सबका न्यायोचित भाग देकर उपार्जित भोगोंका उपभोग करता है, वह भी पापी नहीं है। परन्तु जो पुरुष केवल अपने ही सुखके लिये—अपने ही शरीर और इन्द्रियोंके पोषणके लिये भोगोंका उपार्जन करता है और अपने ही लिये उन्हें भोगता है, वह पुरुष पापसे पाप ही उपार्जन करता है और पापका ही उपभोग करता है; क्योंकि उसकी क्रियाएँ न तो यज्ञार्थ होती हैं और न वह अपने उपार्जनमेंसे सबको उनका यथायोग्य न्याय्य भाग ही देता है। इसलिये उसका उपार्जन और उपभोग दोनों ही पापमय होनेके कारण उसे पापी और उसके भोगोंको पाप कहा गया है (मनु० ३।११८)।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ न करके अपने शरीरपोषणके लिये कर्म करनेवाला पापी क्यों है ? इसपर कहते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥१५॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है॥ १४-१५॥

प्रश्न—'अन्न' शब्दका क्या अर्थ है और समस्त प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'अन्न' शब्द व्यापक अर्थमें है। इसलिये इसका अर्थ केवल गेहूँ, चना आदि अनाजमात्र ही नहीं है; किन्तु जिन भिन्न-भिन्न आहार करनेयोग्य स्थूल और सूक्ष्म पदार्थोंसे भिन्न-भिन्न प्राणियोंके शरीर आदिकी पुष्टि होती है, उन समस्त खाद्य पदार्थोंका वाचक यहाँ 'अन्न' शब्द है। अतः समस्त प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं—इस वाक्यका यह भाव है कि खाद्य पदार्थोंसे ही समस्त प्राणियोंके शरीरमें रज और वीर्य आदि बनते हैं, उस रज-वीर्यके संयोगसे ही भिन्न-भिन्न प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है तथा उत्पत्तिके बाद उनका पोषण भी खाद्य पदार्थोंसे ही होता है; इसलिये सब प्रकारसे प्राणियोंकी उत्पत्ति, वृद्धि और पोषणका हेतु अन्न ही है। श्रुतिमें भी कहा है—'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति' (तै० उ० ३। २), अर्थात् ये सब प्राणी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर अन्नसे ही जीते हैं।

प्रश्न—अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि संसारमें स्थूल और सूक्ष्म जितने भी खाद्य पदार्थ हैं, उन सबकी उत्पत्तिमें जल ही प्रधान कारण है; क्योंकि स्थूल या सूक्ष्मरूपसे जलका सम्बन्ध सभी जगह रहता है और जलका आधार वृष्टि ही है।

प्रश्न—वृष्टि यज्ञसे होती है, यह कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—सृष्टिमें जितने भी जीव हैं, उन सबमें मनुष्य ही ऐसा है जिसपर सब जीवोंके भरण-पोषण और संरक्षणका दायित्व है। मनुष्य अपने इस दायित्वको समझकर मन, वाणी, शरीरसे समस्त जीवोंके जीवनधारणादिरूप हितके लिये जो क्रियाएँ करता है, उन क्रियाओंसे सम्पादित होनेवाले सत्कर्मको यज्ञ कहते हैं। इस यज्ञमें हवन, दान, तप और जीविका आदि सभी कर्तव्यकर्मोंका समावेश हो जाता है। यद्यपि इनमें हवनकी प्रधानता होनेसे शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि अग्निमें आहुति देनेपर वृष्टि होती है और उस वृष्टिसे अन्नकी उत्पत्तिके द्वारा प्रजाकी उत्पत्ति होती है, किन्तु 'यज्ञ' शब्दसे यहाँ केवल हवन ही विवक्षित नहीं है। लोकोपकारार्थ होनेवाली क्रियाओंसे सम्पादित सत्कर्ममात्रका नाम यज्ञ है।

'वृष्टि यज्ञसे होती है' इस वाक्यका यह भाव समझना चाहिये कि मनुष्योंके द्वारा किये हुए कर्तव्यपालनरूप यज्ञसे ही वृष्टि होती है। हम कह सकते हैं कि अमुक देशमें यज्ञ नहीं होते, वहाँ वर्षा क्यों होती है। इसका उत्तर यह है कि वहाँ भी किसी-न-किसी रूपमें लोकोपकारार्थ सत्कर्म होते ही हैं। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि सृष्टिके आरम्भसे ही यज्ञ होते रहे हैं। उन यज्ञोंके फलस्वरूप वहाँ वृष्टि होती है और जबतक पूर्वार्जित यज्ञसमूह सञ्चित रहेगा—उसकी समाप्ति नहीं होगी—तबतक वृष्टि होती रहेगी; परन्तु मनुष्य यदि यज्ञ करना बंद कर देगा तो यह सञ्चय धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा और उसके बाद वृष्टि नहीं होगी, जिसके फलस्वरूप सृष्टिके जीवोंका शरीरधारण और भरण-पोषण कठिन हो जायगा, इसलिये कर्तव्यपालनरूप यज्ञ मनुष्यको अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—यज्ञ विहित कर्मसे उत्पन्न होता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि भिन्न-भिन्न मनुष्योंके लिये उनके वर्ण, आश्रम, स्वभाव और

परिस्थितिके भेदसे जो नाना प्रकारके यज्ञ शास्त्रमें बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय या शरीरकी क्रियाद्वारा ही सम्पादित होते हैं। विना शास्त्रविहित क्रियाके किसी भी यज्ञकी सिद्धि नहीं होती। चौथे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें इसी भावको स्पष्ट किया गया है।

प्रश्न–'ब्रह्मोद्भवम्' पदमें 'ब्रह्म' शब्दका क्या अर्थ है और कर्मको उससे उत्पन्न होनेवाला बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर–गीतामें 'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग प्रकरणानुसार 'परमात्मा', 'प्रकृति' (१४।३, ४), 'ब्रह्मा' (८।१७; ११।३७), 'वेद' (४।३२; १७।२४) और 'ब्राह्मण' (१८।४२)—इन सबके अर्थमें हुआ है। यहाँ कर्मोंकी उत्पत्तिका प्रकरण है और विहित कर्मोंका ज्ञान मनुष्यको वेद या वेदानुकूल शास्त्रोंसे ही होता है। इसलिये यहाँ 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वेद समझना चाहिये। इसके सिवा इस ब्रह्मको अक्षरसे उत्पन्न बतलाया गया है, इसलिये भी ब्रह्मका अर्थ वेद मानना ही ठीक है; क्योंकि परमात्मा तो स्वयं अक्षर है और प्रकृति अनादि है, अतः उनको अक्षरसे उत्पन्न कहना नहीं बनता और ब्रह्मा तथा ब्राह्मणका यहाँ प्रकरण नहीं है। कर्मोंको वेदसे उत्पन्न बतलाकर यहाँ यह भाव दिखलाया है कि किस मनुष्यके लिये कौन-सा कर्म किस प्रकार करना कर्तव्य है—यह बात वेद और शास्त्रोंद्वारा समझकर जो विधिवत् क्रियाएँ की जाती हैं, उन्हींसे यज्ञ सम्पादित होता है और ऐसी क्रियाएँ वेदसे या वेदानुकूल शास्त्रोंसे ही जानी जाती हैं। अतः यज्ञ सम्पादन करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको अपने कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

प्रश्न–'वेदको अक्षरसे उत्पन्न होनेवाला' कहनेका क्या अभिप्राय है, क्योंकि वेद तो अनादि माने जाते हैं?

उत्तर–परब्रह्म परमेश्वर नित्य हैं, इस कारण उनका विधानरूप वेद भी नित्य है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अतः यहाँ वेदको परमेश्वरसे उत्पन्न बतलानेका यह अभिप्राय नहीं है कि वेद पहले नहीं था और पीछेसे उत्पन्न हुआ है, किन्तु यह अभिप्राय है कि सृष्टिके आदिकालमें परमेश्वरसे वेद प्रकट होता है और प्रलयकालमें उन्हींमें विलीन हो जाता है। वेद अपौरुषेय है अर्थात् किसी मनुष्यका बनाया हुआ शास्त्र नहीं है। यह भाव दिखलानेके लिये ही यहाँ वेदको अक्षरसे यानी अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न होनेवाला बतलाया गया है। अतएव इस कथनसे वेदकी अनादिता ही सिद्ध की गयी है। इसी भावसे सतरहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें भी वेदको परमात्मासे उत्पन्न बतलाया गया है।

प्रश्न–'सर्वगतम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद यहाँ किसका वाचक है और हेतुवाचक 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके उसे यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–'सर्वगतम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद यहाँ सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरका वाचक है और 'तस्मात्' पदके प्रयोगपूर्वक उस परमेश्वरको यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित बतलाकर यह भाव दिखलाया गया है कि समस्त यज्ञोंकी विधि जिस वेदमें बतलायी गयी है, वह वेद भगवान्की वाणी है। अतएव उसमें बतलायी हुई विधिसे किये जानेवाले यज्ञमें समस्त यज्ञोंके अधिष्ठाता सर्वव्यापी परमेश्वर स्वयं विराजमान रहते हैं, अर्थात् यज्ञ साक्षात् परमेश्वरकी 'मूर्ति' है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको भगवान्के आज्ञानुसार अपने-अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार सृष्टिचक्रकी स्थिति यज्ञपर निर्भर बतलाकर और परमात्माको यज्ञमें प्रतिष्ठित कहकर, अब उस यज्ञरूप स्वधर्मके पालनकी अवश्यकर्तव्यता सिद्ध करनेके लिये उस सृष्टिचक्रके अनुकूल न चलनेवालेकी यानी अपना कर्तव्य-पालन न करनेवालेकी निन्दा करते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

प्रश्न—यहाँ 'चक्रम्' पद किसका वाचक है और उसके साथ 'एवं प्रवर्तितम्' विशेषण देनेका क्या भाव है तथा उसके अनुकूल बरतना क्या है ?

उत्तर—चौदहवें श्लोकके वर्णनानुसार 'चक्रम्' पद यहाँ सृष्टि-परम्पराका वाचक है; क्योंकि मनुष्यके द्वारा की जानेवाली शास्त्रविहित क्रियाओंसे यज्ञ होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, पुनः उन प्राणियोंके ही अन्तर्गत मनुष्यके द्वारा किये हुए कर्मोंसे यज्ञ और यज्ञसे वृष्टि होती है। इस तरह यह सृष्टिपरम्परा सदासे चक्रकी भाँति चली आ रही है। यही भाव दिखलानेके लिये 'चक्रम्' पदके साथ 'एवं प्रवर्तितम्' विशेषण दिया गया है। अपने-अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यका जो स्वधर्म है, जिसके पालन करनेका उसपर दायित्व है, उसके अनुसार अपने कर्तव्यका सावधानीके साथ पालन करना ही उस चक्रके अनुसार चलना है। अतएव आसक्ति और कामनाका त्याग करके केवल इस सृष्टि-चक्रकी सुव्यवस्था बनायी रखनेके लिये ही जो योगी अपने कर्तव्यका अनुष्ठान करता है, जिसमें किञ्चिन्मात्र भी अपने स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, वह उस स्वधर्मरूप यज्ञमें प्रतिष्ठित परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—इस सृष्टिचक्रके अनुकूल न बरतनेवाले मनुष्यको 'इन्द्रियाराम' और 'अघायु' कहनेका तथा उसके जीवनको व्यर्थ बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अपने कर्तव्यका पालन न करना ही उपर्युक्त सृष्टिचक्रके अनुकूल न चलना है। अपने कर्तव्यको भूलकर जो मनुष्य विषयोंमें आसक्त होकर निरन्तर इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें ही रमण करता है, जिस किसी प्रकारसे भोगोंके द्वारा इन्द्रियोंको तृप्त करना ही जिसका लक्ष्य बन जाता है; उसे 'इन्द्रियाराम' कहा गया है। इस प्रकार अपने कर्तव्यका त्याग कर देनेवाला मनुष्य भोगोंकी कामनासे प्रेरित होकर इच्छाचारी हो जाता है, अपने स्वार्थमें रत रहनेके कारण वह दूसरेके हित-अहितकी कुछ भी परवा नहीं करता—जिससे दूसरोंपर बुरा प्रभाव पड़ता है और सृष्टिकी व्यवस्थामें विघ्न उपस्थित हो जाता है। ऐसा होनेसे समस्त प्रजाको दुःख पहुँचता है। अतएव अपने कर्तव्यका पालन न करके सृष्टिमें दुर्व्यवस्था उत्पन्न करनेवाला मनुष्य बड़े भारी दोषका भागी होता है तथा वह अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये जीवनभर अन्यायपूर्वक धन और ऐश्वर्यका संग्रह करता रहता है, इसलिये उसे 'अघायु' कहा गया है। वह मनुष्य-जीवनके प्रधान लक्ष्यसे—संसारमें अपने कर्तव्य-पालनके द्वारा सब जीवोंको सुख पहुँचाते हुए परम कल्याणस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेना—इससे सर्वथा वञ्चित रह जाता है और अपने अमूल्य मनुष्य-जीवनको विषयभोगोंमें रत रहकर व्यर्थ खोता रहता है; इसलिये उसके जीवनको व्यर्थ बतलाया गया है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकारसे सृष्टि-चक्रके अनुसार चलनेका दायित्व किस श्रेणीके मनुष्योंपर है? अतएव परमात्माको प्राप्त सिद्ध महापुरुषके सिवा इस सृष्टिसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी मनुष्योंपर अपने-अपने कर्तव्यपालनका दायित्व है—यह भाव दिखलानेके लिये दो श्लोकोंमें ज्ञानी महापुरुषके लिये कर्तव्यका अभाव और उसका हेतु बतलाते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

प्रश्न—'तु' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकोंमें जिनके लिये स्वधर्मपालन अवश्यकर्तव्य बतलाया गया है एवं स्वधर्मपालन न करनेसे जिनको 'अघायु' कहकर जिनके जीवनको व्यर्थ बतलाया गया है, उन मनुष्योंसे शास्त्रके शासनसे ऊपर उठे हुए ज्ञानी महापुरुषोंको अलग करके उनकी स्थितिका वर्णन करनेके लिये यहाँ 'तु' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'आत्मरतिः', 'आत्मतृप्तः' और 'आत्मनि एव सन्तुष्टः'—इन तीनों विशेषणोंके सहित 'यः' पद किस मनुष्यका वाचक है तथा उसे 'मानवः' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त विशेषणोंके सहित 'यः' पद यहाँ सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महात्मा पुरुषका वाचक है और उसे 'मानवः' कहकर यह भाव दिखलाया है कि हरेक मनुष्य ही साधन करके ऐसा बन सकता है, क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है।

प्रश्न—'एव' अव्ययके सहित 'आत्मरतिः' विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—इस विशेषणसे यह भाव दिखलाया है कि परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषकी दृष्टिमें यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यके लिये स्वप्नकी सृष्टिकी भाँति हो जाता है। अतः उसकी किसी भी सांसारिक वस्तुमें किञ्चिन्मात्र भी प्रीति नहीं होती और वह किसी भी वस्तुमें रमण नहीं करता, केवलमात्र एक परमात्मामें ही अभिन्नभावसे उसकी अटल स्थिति हो जाती है। इस कारण उसके मन-बुद्धि भी संसारमें रमण न करके केवल परमात्माके स्वरूपका ही निश्चय और चिन्तन करते रहते हैं। यही उसका आत्मामें रमण करना है।

प्रश्न—'आत्मतृप्तः' विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि परमात्माको प्राप्त पुरुष पूर्णकाम हो जाता है, उसके लिये कोई भी वस्तु प्राप्त करनेयोग्य नहीं रहती तथा किसी भी सांसारिक वस्तुकी उसे किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती, वह परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे स्थित होकर सदाके लिये तृप्त हो जाता है।

प्रश्न—'आत्मनि एव सन्तुष्टः' विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि परमात्माको प्राप्त पुरुष नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही सन्तुष्ट

रहता है, संसारका कोई बड़े-से-बड़ा प्रलोभन भी उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता, उसे किसी भी हेतुसे या किसी भी घटनासे किञ्चिन्मात्र भी असन्तोष नहीं हो सकता, संसारकी किसी भी वस्तुसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वह सदाके लिये हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा अतीत होकर सच्चिदानन्दघन परमात्मामें निरन्तर सन्तुष्ट रहता है। ऐसा महापुरुष कोई विरला ही होता है।

प्रश्न—उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त महापुरुष परमात्माको प्राप्त है, अतएव उसके समस्त कर्तव्य समाप्त हो चुके हैं, वह कृतकृत्य हो गया है; क्योंकि मनुष्यके लिये जितना भी कर्तव्यका विधान किया गया है, उस सबका उद्देश्य केवलमात्र एक परम कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना है। अतएव वह उद्देश्य जिसका पूर्ण हो गया, उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता, उसके कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है।

प्रश्न—तो क्या ज्ञानी पुरुष कोई भी कर्म नहीं करता?

उत्तर—ज्ञानीका मन-इन्द्रियोंसहित शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इस कारण वह वास्तवमें कुछ भी नहीं करता; तथापि उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा पूर्वके अभ्याससे प्रारब्धके अनुसार लोकदृष्टिसे शास्त्रानुकूल कर्म होते रहते हैं। ऐसे कर्म ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनासे सर्वथा रहित होनेके कारण परम पवित्र और दूसरोंके लिये आदर्श होते हैं, ऐसा होते हुए भी यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ऐसे पुरुषपर शास्त्रका कोई शासन नहीं है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है। तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ॥ १८ ॥

प्रश्न—उस महापुरुषका कर्म करनेसे या न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, यह कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें जो यह बात कही गयी है कि ज्ञानी पुरुषको कोई कर्तव्य नहीं रहता, उसी बातको पुष्ट करनेके लिये इस वाक्यमें उसके लिये पुनः कर्तव्यके अभावका हेतु बतलाते हैं। अभिप्राय यह है कि वह महापुरुष निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें सन्तुष्ट रहता है, इस कारण न तो उसे किसी भी कर्मके द्वारा कोई भी लौकिक या पारलौकिक प्रयोजन सिद्ध करना शेष रहता है, और न इसी प्रकार कर्मोंके त्यागद्वारा ही कोई प्रयोजन सिद्ध करना शेष रहता है; क्योंकि उसकी समस्त आवश्यकताएँ समाप्त हो चुकी हैं, अब उसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा है। इस कारण उसके लिये न तो कर्मोंका करना विधेय है और न उनका न करना ही विधेय है, वह शास्त्रके शासनसे सर्वथा मुक्त है। यदि उसके मन, इन्द्रियोंके संघातरूप शरीरद्वारा कर्म किये जाते हैं तो उसे शास्त्र उन कर्मोंका त्याग करनेके लिये बाध्य नहीं करता और यदि नहीं किये जाते तो उसे शास्त्र कर्म करनेके

लिये बाध्य नहीं करता । अतएव ज्ञानीके लिये यह माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि ज्ञान होनेके बाद भी जीवन्मुक्तिका सुख भोगनेके लिये ज्ञानीको कर्मोंके त्याग या अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता है; क्योंकि ज्ञान होनेके अनन्तर मन और इन्द्रियोंके आरामरूप तुच्छ सुखसे उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता, वह सदाके लिये नित्यानन्दमें मग्न हो जाता है एवं स्वयं आनन्दरूप बन जाता है । अतः जो किसी सुख-विशेषकी प्राप्तिके लिये अपना 'ग्रहण' या 'त्याग' रूप कर्तव्य शेष मानता है, वह वास्तवमें ज्ञानी नहीं है, किन्तु किसी स्थिति-विशेषको ही ज्ञानकी प्राप्ति समझकर अपनेको ज्ञानी माननेवाला है । सतरहवें श्लोकमें बतलाये हुए लक्षणोंसे युक्त ज्ञानीमें ऐसी मान्यताके लिये स्थान नहीं है । इसी बातको सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌ने उत्तरगीतामें भी कहा है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥
(१।२२)

अर्थात् जो योगी ज्ञानरूप अमृतसे तृप्त और कृत-कृत्य हो गया है, उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है । यदि कुछ कर्तव्य है तो वह तत्त्वज्ञानी नहीं है ।

प्रश्न—सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि ज्ञानीका जैसे कर्म करने और न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, वैसे ही उसका स्थावर-जङ्गम किसी प्राणीसे भी किञ्चिन्मात्र भी कोई प्रयोजन नहीं रहता । अभिप्राय यह है कि जिसका देहाभिमान सर्वथा नष्ट नहीं हो गया है एवं जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन कर रहा है, ऐसा साधक यद्यपि अपने सुख-भोगके लिये कुछ भी नहीं चाहता तो भी शरीरनिर्वाहके लिये किसी-न-किसी रूपमें उसका अन्य प्राणियोंसे कुछ-न-कुछ स्वार्थका सम्बन्ध रहता है । अतएव उसके लिये शास्त्रके आज्ञानुसार कर्मोंका ग्रहण-त्याग करना कर्तव्य है । किन्तु सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्त ज्ञानीका शरीरमें अभिमान न रहनेके कारण उसे जीवनकी भी परवा नहीं रहती; ऐसी स्थितिमें उसके शरीरका निर्वाह प्रारब्धानुसार अपने-आप होता रहता है । अतएव उसका किसी भी प्राणीसे किसी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता; और इसीलिये उसका कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है ।

प्रश्न—ऐसी स्थितिमें उसके द्वारा कर्म किसलिये किये जाते हैं ?

उत्तर—कर्म किये नहीं जाते, प्रारब्धानुसार लोकदृष्टिसे उसके द्वारा लोकसंग्रहके लिये कर्म होते हैं; वास्तवमें उसका उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता । इसीलिये उन कर्मोंको 'कर्म' ही नहीं माना गया है ।

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने बहुत-से हेतु बतलाकर यह बात सिद्ध की कि जबतक मनुष्यको परम श्रेयरूप परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय तबतक उसके लिये स्वधर्मका पालन करना अर्थात् अपने वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका अनुष्ठान करना अवश्यकर्तव्य है और परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लिये किसी प्रकारका कर्तव्य न रहनेपर भी उसके मन-इन्द्रियोंद्वारा लोकसंग्रहके लिये प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं । अब उपर्युक्त वर्णनका लक्ष्य कराते हुए भगवान् अर्जुनको अनासक्तभावसे कर्तव्य-कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिये तू आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य-कर्मको भलीभाँति करता रह। क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥१९॥

प्रश्न—'तस्मात्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'तस्मात्' पद यहाँ पिछले श्लोकसे सम्बन्ध बतलाता है; इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यहाँतकके वर्णनमें मैंने जिन-जिन कारणोंसे स्वधर्मपालन करनेकी परमावश्यकता सिद्ध की है, उन सब बातोंपर विचार करनेसे यह बात प्रकट होती है कि सब प्रकारसे स्वधर्मका पालन करनेमें ही तुम्हारा हित है। इसलिये तुम्हें अपने वर्णधर्मके अनुसार कर्म करना ही चाहिये।

प्रश्न—'असक्तः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'असक्तः' पदसे भगवान् अर्जुनको समस्त कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें आसक्तिका त्याग करके कर्म करनेके लिये कहते हैं। आसक्तिका त्याग कहनेसे कामनाका त्याग उसके अन्तर्गत ही आ गया, क्योंकि आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है (२।६२)। इसलिये यहाँ फलेच्छाका त्याग अलग नहीं बतलाया गया।

प्रश्न—'सततम्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान् पहले यह बात कह आये हैं कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता (३।५); इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य निरन्तर कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। इसलिये यहाँ 'सततम्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम सदा-सर्वदा जितने भी कर्म करो उन समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिसे रहित होकर उनको करो, किसी समय कोई भी कर्म आसक्तिपूर्वक न करो।

प्रश्न—'कर्म' पदके साथ 'कार्यम्' विशेषण देनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे लिये वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जो कर्म कर्तव्य हैं, वे ही कर्म तुम्हें करने चाहिये; परधर्मके कर्म, निषिद्ध कर्म और व्यर्थ या काम्यकर्म नहीं करने चाहिये।

प्रश्न—'समाचर' क्रियाका क्या भाव है ?

उत्तर—'आचर' क्रियाके साथ 'सम्' उपसर्गका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उन कर्मोंका तुम सावधानीके साथ विधिपूर्वक यथायोग्य आचरण करो। ऐसा न करके असावधानी रखनेसे उन कर्मोंमें त्रुटि रह सकती है और उसके कारण तुम्हें परम श्रेयकी प्राप्तिमें विलम्ब हो सकता है।

प्रश्न—आसक्तिसे रहित होकर कर्म करनेवाला पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने उपर्युक्त कर्मयोगका फल बतलाया है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारसे आसक्तिका त्याग करके कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करनेवाला मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त होकर परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है, इस कर्मयोगका इतना महत्त्व है। इसलिये तुम्हें उपर्युक्त प्रकारसे कर्म अवश्यमेव करने चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने जो यह बात कही कि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसी बातको पुष्ट करनेके लिये जनकादिका प्रमाण देकर पुनः अर्जुनके लिये कर्म करना उचित बतलाते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥२०॥

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है ॥२०॥

प्रश्न—'जनकादयः' पदसे किन पुरुषोंका सङ्केत किया गया है और वे लोग भी 'कर्मोंके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे', इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—राजा जनकके समयसे लेकर भगवान्‌के उपदेशकालतक ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही कर्म करनेवाले अश्वपति, इक्ष्वाकु, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि जितने भी इस प्रकारके महापुरुष हो चुके थे, उन सबका सङ्केत 'जनकादयः' पदसे किया गया है। पूर्व श्लोकमें जो यह बात कही गयी कि आसक्तिसे रहित मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसीको प्रमाणद्वारा सिद्ध करनेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि पूर्व कालमें जनकादि प्रधान-प्रधान महापुरुष भी आसक्ति-रहित कर्मोंके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। अभिप्राय यह है कि आजतक बहुत-से महापुरुष ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके कर्मयोग-द्वारा परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं; यह कोई नयी बात नहीं है। अतः यह परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र और निश्चित मार्ग है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।

प्रश्न—परमात्माकी प्राप्ति तो तत्त्वज्ञानसे होती है, फिर यहाँ आसक्तिरहित कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिमें द्वार बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—आसक्तिरहित कर्मोंद्वारा जिसका अन्तः-करण शुद्ध हो जाता है, उसे परमात्माकी कृपासे तत्त्वज्ञान अपने-आप मिल जाता है (४।३८), जिससे वह तत्काल ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है (५।६)। इसलिये यहाँ आसक्तिरहित कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिमें द्वार बतलाया गया है।

प्रश्न—'लोकसंग्रह' किसे कहते हैं तथा यहाँ लोक-संग्रहको देखते हुए कर्म करना उचित बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सृष्टि-सञ्चालनको सुरक्षित बनाये रखना, उसकी व्यवस्थामें किसी प्रकारकी अड़चन पैदा न करके उसमें सहायक बनना लोकसंग्रह कहलाता है। अर्थात् समस्त प्राणियोंके भरण-पोषण और रक्षणका दायित्व मनुष्यपर है; अतः अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार कर्तव्य-कर्मोंका भलीभाँति आचरण करके जो दूसरे लोगोंको अपने आदर्शके द्वारा दुर्गुण-दुराचारसे हटाकर स्वधर्ममें लगाये रखना है—यही लोकसंग्रह है। यहाँ अर्जुनको लोकसंग्रहकी ओर देखते हुए भी कर्म करना उचित बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि कल्याण चाहने-वाले मनुष्यको परम श्रेयरूप परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये तो आसक्तिसे रहित होकर कर्म करना उचित है ही, इसके सिवा लोकसंग्रहके लिये भी मनुष्यको कर्म करते रहना उचित है; इसलिये तुम्हें लोकसंग्रहको देखकर अर्थात् 'यदि मैं कर्म न करूँगा तो मुझे आदर्श मान-कर मेरा अनुकरण करके दूसरे लोग भी अपने कर्तव्य-का त्याग कर देंगे, जिससे सृष्टिमें विप्लव हो जायगा और इसकी व्यवस्था बिगड़ जायगी; अतः सृष्टिकी

व्यवस्था बनाये रखनेके लिये मुझे अपना कर्तव्यपालन करना ही उचित है' यह सोचकर भी कर्म करना ही उचित है, उनका त्याग करना तुम्हारे लिये किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

प्रश्न—लोकसंग्रहार्थ कर्म परमात्माको प्राप्त ज्ञानी पुरुषद्वारा ही हो सकते हैं या साधक भी कर सकता है?

उत्तर—ज्ञानीके लिये अपना कोई कर्तव्य नहीं होता, इससे उसके तो सभी कर्म लोकसंग्रहार्थ ही होते हैं; परन्तु ज्ञानीको आदर्श मानकर साधक भी लोकसंग्रहार्थ कर्म कर सकता है। अवश्य ही वह पूर्णरूपसे नहीं कर सकता; क्योंकि जबतक अज्ञानकी पूर्णतया निवृत्ति नहीं हो जाती, तबतक किसी-न-किसी अंशमें स्वार्थ बना ही रहता है। और जबतक स्वार्थका तनिक भी सम्बन्ध है, तबतक पूर्णरूपसे केवल लोकसंग्रहार्थ कर्म नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है और उसकी दृष्टिमें कर्मका कोई महत्त्व ही नहीं है, तब उसका लोकसंग्रहार्थ कर्म करना केवल लोगोंको दिखलानेके लिये ही होता होगा?

उत्तर—ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य न होनेपर भी वह जो कुछ कर्म करता है, केवल लोगोंको दिखलानेके लिये नहीं करता। मनमें कर्मका कोई महत्त्व न हो और केवल ऊपरसे लोगोंको दिखलाने भरके लिये किया जाय, वह तो एक प्रकारका दम्भ है। ज्ञानीमें दम्भ रह नहीं सकता। अतएव वह जो कुछ करता है, लोकसंग्रहार्थ आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझकर ही करता है; उसमें न दिखौआपन है, न आसक्ति है, न कामना है और न अहङ्कार ही है। ज्ञानीके कर्म किस भावसे होते हैं, इसको कोई दूसरा नहीं जान पाता; इसीसे उसके कर्मोंमें अत्यन्त विलक्षणता मानी जाती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको लोकसंग्रहकी ओर देखते हुए कर्मोंका करना उचित बतलाया; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि कर्म करनेसे किस प्रकार लोकसंग्रह होता है? अतः यही बात समझानेके लिये कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥२१॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है॥२१॥

प्रश्न—यहाँ 'श्रेष्ठः' पद किस मनुष्यका वाचक है?

उत्तर—जो संसारमें अच्छे गुण और आचरणोंके कारण धर्मात्मा विख्यात हो गया है, जगत्के अधिकांश लोग जिसपर श्रद्धा और विश्वास करते हैं—ऐसे प्रसिद्ध माननीय महात्मा ज्ञानीका वाचक यहाँ 'श्रेष्ठः' पद है।

प्रश्न—श्रेष्ठ पुरुष जो-जो कर्म करता है, दूसरे मनुष्य भी उन-उन कर्मोंको ही किया करते हैं—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि संसारमें श्रेष्ठ माना जानेवाला महात्मा यदि अपने वर्ण-आश्रमके धर्मोंका भलीभाँति अनुष्ठान करता है तो दूसरे लोग भी उसकी देखा-देखी अपने-अपने

वर्णाश्रमके धर्मोंका पालन करनेमें श्रद्धापूर्वक लगे रहते हैं; इससे सृष्टिकी व्यवस्था सुचारुरूपसे चलती रहती है, किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती। किन्तु यदि कोई धर्मात्मा ज्ञानी पुरुष अपने वर्णाश्रमके धर्मोंका त्याग कर देता है तो लोगोंपर भी यही प्रभाव पड़ता है कि वास्तवमें कर्मोंमें कुछ नहीं रक्खा है; यदि कर्मोंमें ही कुछ सार होता तो अमुक महापुरुष उन सबको क्यों छोड़ते—ऐसा समझकर वे उस श्रेष्ठ पुरुषकी देखा-देखी अपने वर्ण-आश्रमके लिये विहित नियम और धर्मोंका त्याग कर बैठते हैं। ऐसा होनेसे संसारमें बड़ी गड़बड़ मच जाती है और सारी व्यवस्था टूट जाती है और इसका जिम्मेवार वह श्रेष्ठ महापुरुष ही होता है। अतएव महात्मा पुरुषको लोकसंग्रहकी ओर ध्यान रखते हुए भी अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सावधानीके साथ यथायोग्य समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये, कर्मोंकी अवहेलना या त्याग नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि श्रेष्ठ पुरुष स्वयं आचरण करके और लोगोंको शिक्षा देकर जिस बातको प्रामाणिक घोषित कर देता है अर्थात् लोगोंके अन्तःकरणमें विश्वास करा देता है कि अमुक कर्म अमुक मनुष्यको इस प्रकार करना चाहिये और अमुक कर्म इस प्रकार नहीं करना चाहिये, उसीके अनुसार साधारण मनुष्य चेष्टा करने लग जाते हैं। इसलिये माननीय श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषको सृष्टिकी व्यवस्था ठीक रखनेके उद्देश्यसे बड़ी सावधानीके साथ स्वयं कर्म करते हुए लोगोंको शिक्षा देकर उनको अपने-अपने कर्तव्यमें नियुक्त करना चाहिये। और इस बातका पूरा ध्यान रखना चाहिये कि उसके उपदेश या आचरणोंसे संसारकी व्यवस्था सुरक्षित रखनेवाले किसी भी वर्ण-आश्रमके धर्मकी या मानवधर्मकी परम्पराको किञ्चिन्मात्र भी धक्का न पहुँचे अर्थात् उन कर्मोंमें लोगोंकी श्रद्धा और रुचि कम न हो जाय।

प्रश्न—जब श्रेष्ठ पुरुषके आचरणोंका सब लोग अनुकरण करते हैं, तब यह कहनेकी आवश्यकता क्यों हुई कि वह जो कुछ 'प्रमाण' कर देता है, लोग उसीके अनुसार बरतते हैं ?

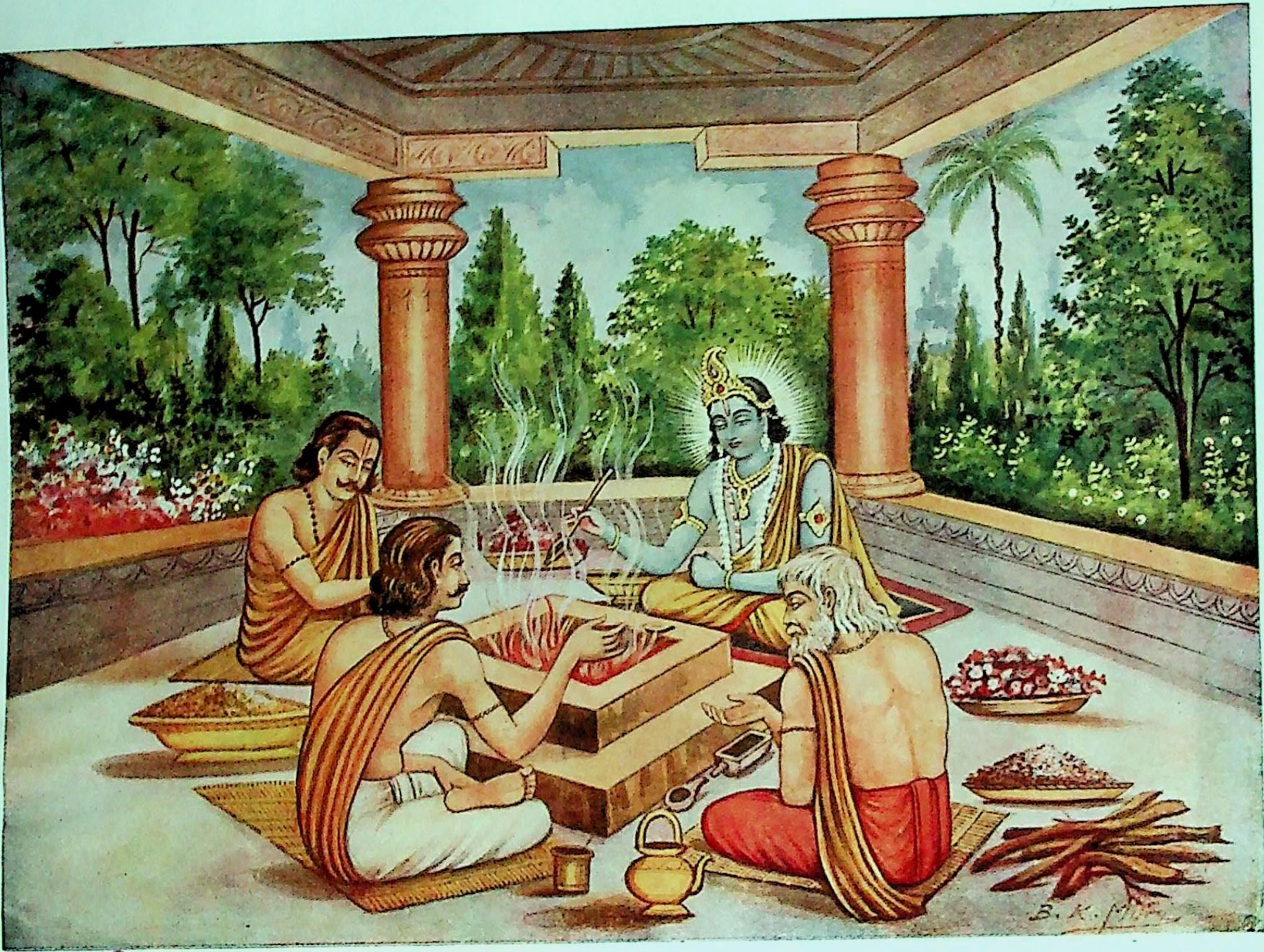
उत्तर—संसारमें सब लोगोंके कर्तव्य एक-से नहीं होते। देश, समाज और अपने-अपने वर्णाश्रम, समय एवं स्थितिके अनुसार सबके विभिन्न कर्तव्य होते हैं। श्रेष्ठ पुरुषके लिये यह सम्भव नहीं कि वह सबके योग्य कर्मोंको अलग-अलग स्वयं आचरण करके बतलावे। इसलिये श्रेष्ठ पुरुष जिन-जिन वैदिक और लौकिक क्रियाओंको वचनोंसे भी प्रमाणित कर देता है, उसीके अनुसार लोग बरतने लगते हैं। इसीसे वैसा कहा गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणोंको लोकसंग्रहमें हेतु बतलाकर अब भगवान् तीन श्लोकोंमें अपना उदाहरण देकर वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंके करनेकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ ॥ २२ ॥

लोक-संग्रह



न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन । नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ (३ । २२)

प्रश्न—अर्जुनको 'पार्थ' शब्दसे सम्बोधित करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—कुन्तीके दो नाम थे—'पृथा' और 'कुन्ती'। बाल्यावस्थामें जबतक वे अपने भाई वसुदेवके यहाँ रहीं तबतक उनका नाम 'पृथा' था और जब वे राजा कुन्तिभोजके यहाँ गोद चली गयीं तबसे उनका नाम 'कुन्ती' पड़ा । माताके इन नामोंके सम्बन्धसे ही अर्जुनको पार्थ और कौन्तेय कहा जाता है । यहाँ भगवान् अर्जुनको कर्ममें प्रवृत्त करते हुए परम स्नेह और आत्मीयताके सूचक 'पार्थ' नामसे सम्बोधित करके मानो यह कह रहे हैं कि 'मेरे प्यारे भैया ! मैं तुम्हें कोई ऐसी बात नहीं बतला रहा हूँ जो किसी अंशमें भी निम्नश्रेणीकी हो; तुम मेरे अपने भाई हो, मैं तुमसे वही कहता हूँ जो मैं स्वयं करता हूँ और जो तुम्हारे लिये परम श्रेयस्कर है ।'

प्रश्न—तीनों लोकोंमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये मनुष्योंके कर्तव्यका विधान होता है; किन्तु मैं स्वयं ही सबके कर्तव्यका विधान करनेवाला साक्षात् परमेश्वर हूँ । अतः मेरे लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं है ।

प्रश्न—मुझे इन तीनों लोकोंमें कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस लोककी तो बात ही क्या है, तीनों लोकोंमें कहीं भी ऐसी कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु नहीं है, जो मुझे प्राप्त न हो; क्योंकि मैं सर्वेश्वर और पूर्ण-काम हूँ ।

प्रश्न—तो भी मैं कर्मोंमें ही बरतता हूँ, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मुझे किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है और मेरे लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं है तो भी लोकसंग्रहकी ओर देखकर मैं सब लोगोंपर दया करके कर्मोंमें ही लगा हुआ हूँ, कर्मोंका त्याग नहीं करता । इसलिये किसी मनुष्यको ऐसा समझकर कर्मोंका त्याग नहीं कर देना चाहिये कि यदि मेरी भोगोंमें आसक्ति नहीं है और मुझे कर्मोंके फलरूपमें किसी वस्तुकी आवश्यकता ही नहीं है तो मैं कर्म किसलिये करूँ, या मुझे परम-पदकी प्राप्ति हो चुकी है तब फिर कर्म करनेकी क्या जरूरत है । क्योंकि अन्य किसी कारणसे कर्म करनेकी आवश्यकता न रहनेपर भी मनुष्यको लोकसंग्रहकी दृष्टिसे कर्म करना चाहिये ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

क्योंकि हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्यमात्र सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ २३ ॥

प्रश्न—'हि' पदका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने जो यह बात कही कि मेरे लिये सर्वथा कर्तव्यका अभाव होनेपर भी मैं कर्म करता हूँ, इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यदि आपके लिये कर्तव्य ही नहीं है तो फिर आप किसलिये कर्म करते हैं । अतः दो श्लोकोंमें भगवान्

अपने कर्मोंका हेतु बतलाते हैं। इसी बातका द्योतक यहाँ हेतुवाचक 'हि' पद है।

प्रश्न—'यदि' और 'जातु'—इन दोनों पदोंके प्रयोग-का क्या भाव है?

उत्तर—इनका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरा अवतार धर्मकी स्थापनाके लिये होता है, इस कारण मैं कभी किसी भी कालमें सावधानीके साथ साङ्गोपाङ्ग समस्त कर्मोंका अनुष्ठान न करूँ यानी उनकी अवहेलना कर दूँ—यह स्वप्नमें भी सम्भव नहीं है; तो भी अपने कर्मोंका हेतु समझानेके लिये यह बात कही जाती है कि 'यदि मैं कदाचित् सावधानीके साथ कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी भारी हानि हो जाय; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्‌का कर्ता, हर्ता और सञ्चालक एवं मर्यादापुरुषोत्तम होकर भी यदि मैं असावधानी करने लगूँ तो सृष्टिचक्रमें बड़ी भारी गड़बड़ी मच जाय।'

प्रश्न—मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि बहुत लोग तो मुझे बड़ा शक्तिशाली और श्रेष्ठ समझते हैं और बहुत-से मर्यादापुरुषोत्तम समझते हैं, इस कारण जिस कर्मको मैं जिस प्रकार करता हूँ, दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी उसे उसी प्रकार करते हैं अर्थात् मेरी नकल करते हैं। ऐसी स्थितिमें यदि मैं कर्तव्यकर्मोंकी अवहेलना करने लगूँ, उनमें सावधानीके साथ विधिपूर्वक न बरतूँ तो लोग भी उसी प्रकार करने लग जायँ और ऐसा करके स्वार्थ और परमार्थ दोनोंसे वञ्चित रह जायँ। अतएव लोगोंको कर्म करनेकी रीति सिखलानेके लिये मैं समस्त कर्मोंमें स्वयं बड़ी सावधानीके साथ विधिवत् बरतता हूँ, कभी कहीं भी जरा भी असावधानी नहीं करता।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं सङ्करताके करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ ॥ २४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'यदि मैं कर्म न करूँ' यह कहनेकी क्या आवश्यकता थी? क्योंकि पूर्वश्लोकमें यह बात कह ही दी गयी थी कि 'यदि मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ'। इसलिये इस पुनरुक्तिका क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें 'यदि मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ' इस वाक्यांशसे तो सावधानीके साथ विधिपूर्वक कर्म न करनेसे होनेवाली हानिका निरूपण किया गया है और इस श्लोकमें 'यदि मैं कर्म न करूँ' इस वाक्यांशसे कर्मोंके न करनेसे यानी उनका त्याग कर देनेसे होनेवाली हानि बतलायी गयी है। इसलिये यह पुनरुक्ति नहीं है। दोनों श्लोकोंमें अलग-अलग दो बातें कही गयी हैं।

प्रश्न—यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ, इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि मैं कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दूँ तो उन शास्त्रविहित कर्मोंको व्यर्थ समझकर दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी उनका परित्याग कर देंगे और राग-द्वेषके वश होकर एवं प्रकृतिके प्रवाहमें पड़कर मनमाने नीच कर्म करने लगेंगे तथा एक-दूसरेका अनुकरण करके सब-के-

सब स्वार्थपरायण, भ्रष्टाचारी और उच्छृङ्खल हो जायँगे। ऐसा होनेसे वे सांसारिक भोगोंमें आसक्त होकर अपने-अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये एक-दूसरेकी हानिकी परवा न करके अन्यायपूर्वक शास्त्रविरुद्ध लोकनाशक पापकर्म करने लगेंगे। इसके फलस्वरूप उनका मनुष्य-जन्म भ्रष्ट हो जायगा और मरनेके बाद उनको नीच योनियोंमें या नरकोंमें गिरना पड़ेगा।

प्रश्न—मैं सङ्करताके करनेवाला होऊँ, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'सङ्करस्य' पदसे सभी प्रकारकी सङ्करता विवक्षित है। वर्ण, आश्रम, जाति, समाज, स्वभाव, देश, काल, राष्ट्र और परिस्थितिकी अपेक्षासे सब मनुष्योंके अपने-अपने पृथक्-पृथक् पालनीय धर्म होते हैं; शास्त्र-विधिका त्याग करके नियमपूर्वक अपने-अपने धर्मका पालन न करनेसे सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है और सबके धर्मोंमें सङ्करता आ जाती है अर्थात् उनका मिश्रण हो जाता है। इस कारण सब अपने-अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट होकर बुरी स्थितिमें पहुँच जाते हैं—जिससे उनके धर्म, कर्म और जातिका नाश होकर प्रायः मनुष्यत्व ही नष्ट हो जाता है। अतः यहाँ भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि यदि मैं शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर दूँ तो फलतः अपने आदर्शके द्वारा इन लोगोंसे शास्त्रीय कर्मोंका त्याग करवाकर इनमें धर्म-नाशक सङ्करता उत्पन्न करनेमें मुझको कारण बनना पड़े।

प्रश्न—इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिस समय कर्तव्यभ्रष्ट हो जानेसे लोगोंमें सब प्रकारकी सङ्करता फैल जाती है, उस समय मनुष्य भोगपरायण और स्वार्थान्ध होकर भिन्न-भिन्न साधनोंसे एक-दूसरेका नाश करने लग जाते हैं, अपने अत्यन्त क्षुद्र और क्षणिक सुखोपभोगके लिये दूसरोंका नाश कर डालनेमें जरा भी नहीं हिचकते। इस प्रकार अत्याचार बढ़ जानेपर उसीके साथ-साथ नयी-नयी दैवी विपत्तियाँ भी आने लगती हैं—जिनके कारण सभी प्राणियोंके लिये आवश्यक खान-पान और जीवनधारणकी सुविधाएँ प्रायः नष्ट हो जाती हैं; चारों ओर महामारी, अनावृष्टि, जल-प्रलय, अकाल, अग्निकोप, भूकम्प और उल्कापात आदि उत्पात होने लगते हैं। इससे समस्त प्रजाका विनाश हो जाता है। अतः भगवान्ने 'मैं समस्त प्रजा-को नष्ट करनेवाला बनूँ' इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया है कि यदि मैं शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दूँ तो मुझे उपर्युक्त प्रकारसे लोगोंको उच्छृङ्खल बनाकर समस्त प्रजाका नाश करनेमें निमित्त बनना पड़े।

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन श्लोकोंमें अपने उदाहरणसे कर्मोंको सावधानीके साथ न करने और उनका त्याग करनेके कारण होनेवाले परिणामका वर्णन करके, लोकसंग्रहकी दृष्टिसे सबके लिये विहित कर्मोंकी अवश्य-कर्तव्यताका प्रतिपादन करनेके अनन्तर अब भगवान् उपर्युक्त लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ज्ञानीको कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे ॥२५॥

प्रश्न—यहाँ 'कर्मणि' पद किन कर्मोंका वाचक है ?

उत्तर—अपने-अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका वाचक यहाँ 'कर्मणि' पद है; क्योंकि भगवान् अज्ञानियों-को उन कर्मोंमें लगाये रखनेका आदेश देते हैं एवं ज्ञानीको भी उन्हींकी भाँति कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं, अतएव इनमें निषिद्ध कर्म या व्यर्थ कर्म सम्मिलित नहीं हैं।

प्रश्न—'कर्मणि सक्ताः' विशेषणके सहित 'अविद्वांसः' पद यहाँ किस श्रेणीके अज्ञानियोंका वाचक है ?

उत्तर—उपर्युक्त विशेषणके सहित 'अविद्वांसः' पद यहाँ शास्त्रोंमें, शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें श्रद्धा, प्रेम और आसक्ति रखनेवाले तथा शास्त्रविहित कर्मोंका विधिपूर्वक अपने-अपने अधिकारके अनुसार अनुष्ठान करनेवाले सकाम कर्मठ मनुष्योंका वाचक है। इनमें कर्मविषयक आसक्ति रहनेके कारण ये न तो कल्याणके साधक शुद्ध सात्त्विक कर्मयोगी पुरुषोंकी श्रेणीमें आ सकते हैं और न श्रद्धापूर्वक शास्त्र-विहित कर्मोंका आचरण करनेवाले होनेके कारण आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिवाले पापाचारी तामसी ही माने जा सकते हैं। अतएव इन लोगोंको उन सत्त्वगुण-मिश्रित राजस स्वभाववाले मनुष्योंकी श्रेणीमें ही समझना चाहिये, जिनका वर्णन दूसरे अध्यायमें (४२वें, ४३वें और ४४वें श्लोकोंमें) 'अविपश्चितः' पदसे, नवें अध्यायमें (२०वें, २१वें, २३वें और २४वें श्लोकोंमें) 'अन्यदेवता भक्ताः' पदसे और सातवें अध्यायमें (२०वेंसे २३वें श्लोकतक) 'अल्पमेधसाम्' के नामसे किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'यथा' और 'तथा'—इन दोनों पदोंका प्रयोग करके भगवान्‌ने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—स्वाभाविक स्नेह, आसक्ति और भविष्यमें उससे सुख मिलनेकी आशा होनेके कारण माता अपने पुत्रका जिस प्रकार सच्ची हार्दिक लगन, उत्साह और तत्परताके साथ लालन-पालन करती है, उस प्रकार दूसरा कोई नहीं कर सकता; इसी तरह जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनसे प्राप्त होनेवाले भोगोंमें स्वाभाविक आसक्ति होती है और उनका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें जिसका विश्वास होता है, वह जिस प्रकार सच्ची लगनसे श्रद्धा और विधिपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंको साङ्गोपाङ्ग करता है, उस प्रकार जिनकी शास्त्रोंमें श्रद्धा और शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं है, वे मनुष्य नहीं कर सकते। अतएव यहाँ 'यथा' और 'तथा' का प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव होनेपर भी ज्ञानी महात्माओंको केवल लोक-संग्रहके लिये कर्मासक्त मनुष्योंकी भाँति ही शास्त्र-विहित कर्मोंका श्रद्धा और विधिपूर्वक साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'विद्वान्' का अर्थ तत्त्वज्ञानी न मानकर शास्त्रज्ञानी मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—'विद्वान्' के साथ 'असक्तः' विशेषणका प्रयोग है, इस कारण इसका अर्थ केवल शास्त्रज्ञानी ही नहीं माना जा सकता; क्योंकि शास्त्रज्ञानमात्रसे कोई मनुष्य आसक्तिरहित नहीं हो जाता।

प्रश्न—'लोकसंग्रहं चिकीर्षुः' पदसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानीमें भी इच्छा रहती है; क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर—हाँ, रहती है; परन्तु यह अत्यन्त ही विलक्षण होती है। सर्वथा इच्छारहित पुरुषमें होनेवाली इच्छाका क्या स्वरूप होता है, यह समझाया नहीं जा सकता; इतना ही कहा जा सकता है कि उसकी यह इच्छा साधारण मनुष्योंको कर्मतत्पर बनाये

रखनेके लिये कहनेमात्रकी ही होती है। ऐसी इच्छा तो भगवान्में भी रहती है। अतएव यहाँ 'लोकसंग्रहं चिकीर्षुः' से यह भाव समझना चाहिये कि कहीं उसकी देखा-देखी दूसरे लोग अपने कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करके नष्ट-भ्रष्ट न हो जायँ, इस दृष्टिसे ज्ञानीके द्वारा केवल लोकहितार्थ उचित चेष्टा होती है; सिद्धान्ततः इसके अतिरिक्त उसके कर्मोंका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं रहता।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६॥

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे। किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे ॥२६॥

प्रश्न—'युक्तः' विशेषणके सहित 'विद्वान्' पद किसका वाचक है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें वर्णित परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित आसक्तिरहित तत्त्वज्ञानीका वाचक यहाँ 'युक्तः' विशेषणके सहित 'विद्वान्' पद है।

प्रश्न—शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है? क्या ऐसे मनुष्यको तत्त्वज्ञानका या कर्मयोगका उपदेश नहीं देना चाहिये?

उत्तर—किसीकी बुद्धिमें संशय या दुविधा उत्पन्न कर देना ही बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करना कहलाता है। अतएव कर्मासक्त मनुष्योंकी जो उन कर्मोंमें, कर्मविधायक शास्त्रोंमें और अदृष्ट भोगोंमें आस्तिकबुद्धि है, उस बुद्धिको विचलित करके उनके मनमें कर्मोंके और शास्त्रोंके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर देना ही उनकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करना है। अतः यहाँ भगवान् ज्ञानीको कर्मासक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करनेके लिये कहकर यह भाव दिखलाते हैं कि उन मनुष्योंको निष्काम कर्मका और तत्त्वज्ञानका उपदेश देते समय ज्ञानीको इस बातका पूरा खयाल रखना चाहिये कि उसके किसी आचार-व्यवहार और उपदेशसे उनके अन्तःकरणमें कर्तव्य-कर्मोंके या शास्त्रादिके प्रति किसी प्रकारकी अश्रद्धा या संशय उत्पन्न न हो जाय; क्योंकि ऐसा हो जानेसे वे ज्ञानके या निष्कामभावके नामपर, जो कुछ शास्त्रविहित कर्मोंका श्रद्धापूर्वक सकामभावसे अनुष्ठान कर रहे हैं, उसका भी परित्याग कर देंगे। इस कारण अपेक्षाकृत उन्नतिके बदले उनका वर्तमान स्थितिसे भी पतन हो जायगा। अतएव भगवान्के कहनेका यहाँ यह भाव नहीं है कि अज्ञानियोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये या निष्कामभावका तत्त्व नहीं समझाना चाहिये; उनका तो यहाँ यही कहना है कि अज्ञानियोंके मनमें न तो ऐसा भाव उत्पन्न होने देना चाहिये कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये या तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेके बाद कर्म अनावश्यक है, न यही भाव पैदा होने देना चाहिये कि फलकी इच्छा न हो तो कर्म करनेकी जरूरत ही क्या है और न इसी भ्रममें रहने देना चाहिये कि फलासक्तिपूर्वक सकामभावसे कर्म करके स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थ है, इससे बढ़कर मनुष्यका और कोई कर्तव्य ही नहीं है। बल्कि अपने आचरण तथा उपदेशोंद्वारा उनके अन्तःकरणसे आसक्ति और कामनाके भावोंको हटाते हुए उनको

निष्कामभावसे पूर्ववत् श्रद्धापूर्वक कर्म करनेमें लगाये रखना चाहिये।

प्रश्न—कर्मासक्त अज्ञानी तो पहलेसे कर्मोंमें लगे हुए रहते ही हैं; फिर यहाँ इस कथनका क्या अभिप्राय है कि विद्वान् स्वयं कर्मोंका भलीभाँति आचरण करता हुआ उनसे भी वैसे ही करावे ?

उत्तर—अज्ञानी लोग श्रद्धापूर्वक कर्मोंमें लगे रहते हैं, यह ठीक है; परन्तु जब उनको तत्त्वज्ञानकी या फलासक्तिके त्यागकी बात कही जाती है, तब उन बातोंका भाव ठीक-ठीक न समझनेके कारण वे भ्रमसे समझ लेते हैं कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये या फलासक्ति न रहनेपर कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, कर्मोंका दर्जा नीचा है। इस कारण कर्मोंके त्यागमें उनकी रुचि बढ़ने लगती है और अन्तमें वे मोहवश विहित कर्मोंका त्याग करके आलस्य और प्रमादके वश हो जाते हैं। इसलिये भगवान् उपर्युक्त वाक्यसे ज्ञानीके लिये यह बात कहते हैं कि उसको स्वयं अनासक्तभावसे कर्मोंका साङ्गोपाङ्ग आचरण करके सबके सामने ऐसा आदर्श रख देना चाहिये, जिससे किसीकी विहित कर्मोंमें कभी अश्रद्धा और अरुचि न हो सके और वे निष्कामभावसे या कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर कर्मोंका विधिपूर्वक आचरण करते हुए ही अपने मनुष्य-जन्मको सफल बना सकें।

सम्बन्ध—इस प्रकार दो श्लोकोंमें ज्ञानीके लिये लोकसंग्रहको लक्ष्यमें रखते हुए शास्त्रविहित कर्म करनेकी प्रेरणा करके अब तीन श्लोकोंमें कर्मासक्त जनसमुदायकी अपेक्षा सांख्ययोगीकी विलक्षणताका प्रतिपादन करते हुए उसे भी कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥२७॥

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं। तो भी जिसका अन्तःकरण अहङ्कारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है॥२७॥

प्रश्न—समस्त कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण ही बुद्धि, अहंकार, मन, आकाशादि पाँच सूक्ष्म महाभूत, श्रोत्रादि दस इन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय—इन तेईस तत्त्वोंके रूपमें परिणत होते हैं। ये सब-के-सब प्रकृतिके गुण हैं तथा इनमेंसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंका विषयोंको ग्रहण करना—अर्थात् बुद्धिका किसी विषयमें निश्चय करना, मनका किसी विषयको मनन करना, कानका शब्द सुनना, त्वचाका किसी वस्तुको स्पर्श करना, आँखोंका किसी रूपको देखना, जिह्वाका किसी रसको आस्वादन करना, घ्राणका किसी गन्धको सूँघना, वाणीका शब्द उच्चारण करना, हाथका किसी वस्तुको ग्रहण करना, पैरोंका गमन करना, गुदा और उपस्थका मल-मूत्र त्याग करना—कर्म हैं। इसलिये उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि संसारमें जिस प्रकारसे और जो कुछ भी क्रिया होती है, वह सब प्रकारसे उपर्युक्त गुणोंके

द्वारा ही की जाती है, निर्गुण-निराकार आत्माका उनसे वस्तुतः कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न—'अहंकारविमूढात्मा' कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—प्रकृतिके कार्यरूप उपर्युक्त बुद्धि, अहंकार, मन, महाभूत, इन्द्रियाँ और विषय—इन तेईस तत्त्वोंके संघातरूप शरीरमें जो अहंता है—उसमें जो दृढ़ आत्मभाव है, उसका नाम अहंकार है। इस अनादि-सिद्ध अहंकारके सम्बन्धसे जिसका अन्तःकरण अत्यन्त मोहित हो रहा है, जिसकी विवेकशक्ति लुप्त हो रही है एवं इसी कारण जो आत्म-अनात्मवस्तुका यथार्थ विवेचन करके अपनेको शरीरसे भिन्न शुद्ध आत्मा या परमात्माका सनातन अंश नहीं समझता—ऐसे अज्ञानी मनुष्यका वाचक यहाँ 'अहंकारविमूढात्मा' पद है। इसलिये यह ध्यान रहे कि आसक्तिरहित विवेकशील कर्मयोगका साधन करनेवाले साधकका वाचक 'अहंकारविमूढात्मा' पद नहीं है; क्योंकि उसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित नहीं है, बल्कि वह तो अहंकारका नाश करनेकी चेष्टामें लगा हुआ है।

प्रश्न—उपर्युक्त अज्ञानी मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे सम्बन्ध न होनेपर भी अज्ञानी मनुष्य तेईस तत्त्वोंके इस सङ्घातमें आत्माभिमान करके उसके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंसे अपना सम्बन्ध स्थापन करके अपनेको उन कर्मोंका कर्ता मान लेता है—अर्थात् मैं निश्चय करता हूँ, मैं संकल्प करता हूँ, मैं सुनता हूँ, देखता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, सोता हूँ, चलता हूँ, इत्यादि प्रकारसे हरेक क्रियाको अपने-द्वारा की हुई समझता है। इसी कारण उसका कर्मोंसे बन्धन होता है और उसको उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसारचक्रमें घूमना पड़ता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥२८॥

परन्तु हे महाबाहो! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता॥ २८॥

प्रश्न—'तु' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सत्ताईसवें श्लोकमें वर्णित अज्ञानीकी स्थितिसे ज्ञानयोगीकी स्थितिका अत्यन्त भेद है, यह दिखलानेके लिये 'तु' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—गुणविभाग और कर्मविभाग क्या है तथा उन दोनोंके तत्त्वको जानना क्या है ?

उत्तर—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप जो तेईस तत्त्व हैं, जिनका वर्णन पूर्वश्लोककी व्याख्यामें किया गया है, उन तेईस तत्त्वोंका समुदाय ही गुणविभाग है। ध्यान रहे कि अन्तःकरणके जो सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, जिनके सम्बन्धसे कर्मोंके सात्त्विक, राजस और तामस—ऐसे तीन भेद माने जाते हैं और जिनके सम्बन्धसे अमुक मनुष्य सात्त्विक है, अमुक राजस और अमुक तामस है—ऐसा कहा जाता है, वे गुणवृत्तियाँ भी गुणविभागके ही अन्तर्गत हैं।

उपर्युक्त गुणविभागसे जो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ की जाती हैं, जिनका वर्णन पूर्वश्लोककी व्याख्यामें किया जा चुका है, उन क्रियाओंमें कर्तृत्वाभिमान एवं

आसक्ति होनेसे मनुष्यका बन्धन होता है, उन समस्त क्रियाओंका समूह ही कर्मविभाग है। उपर्युक्त गुणविभाग और कर्मविभाग सब प्रकृतिका ही विस्तार है। अतएव ये सभी जड, क्षणिक, नाशवान् और विकारशील हैं, मायामय हैं, स्वप्नकी भाँति विना हुए ही प्रतीत हो रहे हैं। इस गुणविभाग और कर्मविभागसे आत्मा सर्वथा अलग है, आत्माका इनसे जरा भी सम्बन्ध नहीं है; वह सर्वथा निर्गुण, निराकार, निर्विकार, नित्य, शुद्ध, मुक्त और ज्ञानस्वरूप है—इस तत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग'के तत्त्वको जानना है।

प्रश्न—'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग'के तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली हरेक क्रियामें यही समझता है कि गुणोंके कार्यरूप मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि करण ही गुणोंके कार्यरूप अपने-अपने विषयोंमें बरत रहे हैं, मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस कारण वह किसी भी कर्ममें या कर्मफलरूप भोगोंमें आसक्त नहीं होता अर्थात् किसी भी कर्मसे या उसके फलसे अपना किसी प्रकारका भी सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। उनको अनित्य, जड, विकारी और नाशवान् तथा अपनेको सदा-सर्वदा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, अकर्ता और सर्वथा असङ्ग समझता है। ५ वें अध्यायके ८ वें और ९ वें श्लोकोंमें और १४ वें अध्यायके १९ वें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अज्ञानी और सांख्ययोगीकी स्थितिका भेद बतलाकर अब लोकसंग्रहके लिये ज्ञानयोगीको भी कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं—

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२९॥

प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानयोगी विचलित न करे॥ २९॥

प्रश्न—'प्रकृतेः गुणसम्मूढाः' यह विशेषण किस श्रेणीके मनुष्योंका लक्ष्य कराता है तथा वे गुणों और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—२५वें और २६वें श्लोकोंमें जिन कर्मासक्त अज्ञानियोंकी बात कही गयी है, यहाँ 'प्रकृतेः गुणसम्मूढाः' पद उन्हीं इस लोक और परलोकके भोगोंकी कामनासे श्रद्धा और आसक्तिपूर्वक कर्मोंमें लगे हुए सत्त्वमिश्रित रजोगुणी सकामी कर्मठ मनुष्योंका लक्ष्य करानेवाला है; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले जो शुद्ध सात्त्विक मनुष्य हैं, वे प्रकृतिके गुणोंसे मोहित नहीं हैं और जो निषिद्ध कर्म करनेवाले तामसी मनुष्य हैं, उनकी शास्त्रोंमें श्रद्धा न रहनेके कारण उनका न तो विहित कर्मोंमें प्रेम है और न वे विहित कर्म करते ही हैं। इसलिये उन तामसी मनुष्योंको कर्मोंसे विचलित न करनेके लिये कहना नहीं बनता, बल्कि उनसे तो शास्त्रोंमें श्रद्धा करवाकर निषिद्ध कर्म छुड़वाने

और विहित कर्म करवानेकी आवश्यकता होती है ।

तथा वे सकाम मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि गुणोंसे मोहित रहनेके कारण उन लोगोंको प्रकृतिसे अतीत सुखका कुछ भी ज्ञान नहीं है, वे सांसारिक भोगोंको ही सबसे बढ़कर सुखदायक समझते हैं; इसीलिये वे गुणोंके कार्यरूप भोगोंमें और उन भोगोंकी प्राप्तिके उपायभूत कर्मोंमें ही लगे रहते हैं, वे उन गुणोंके बन्धनसे छूटनेकी इच्छा या चेष्टा करते ही नहीं ।

प्रश्न—'तान्' पदके सहित 'अकृत्स्नविदः' और 'मन्दान्' पदसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इन तीनों पदोंसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त श्रेणीके सकाम मनुष्य यथार्थ तत्त्वको न समझनेपर भी शास्त्रोक्त कर्मोंमें और उनके फलमें श्रद्धा रखनेवाले होनेके कारण किसी अंशमें तो समझते ही हैं; इसलिये अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म मानकर मनमाना आचरण करनेवाले तामसी पुरुषोंसे वे बहुत अच्छे हैं। वे सर्वथा बुद्धिहीन नहीं हैं, अल्पबुद्धिवाले हैं; इसीलिये उनके कर्मोंका फल परमात्माकी प्राप्ति न होकर नाशवान् भोगोंकी प्राप्ति ही होता है ।

प्रश्न—'कृत्स्नवित्' पद किसका वाचक है और वह उन अज्ञानियोंको विचलित न करे, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जो पूर्वोक्त प्रकारसे गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको पूर्णतया समझकर आत्माको उनसे सर्वथा विलक्षण, निर्गुण, निराकार, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और ब्रह्मसे अभिन्न समझनेवाला है, ऐसे ज्ञानयोगीका वाचक यहाँ 'कृत्स्नवित्' पद है । और वह उन अज्ञानियोंको विचलित न करे—इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि कर्मोंमें लगे हुए अधिकारी सकाम मनुष्योंको 'कर्म अत्यन्त ही परिश्रमसाध्य हैं, कर्मोंमें रक्खा ही क्या है, यह जगत् मिथ्या है, कर्ममात्र ही बन्धनके हेतु हैं' ऐसा उपदेश देकर शास्त्रविहित कर्मोंसे हटाना या उनमें उनकी श्रद्धा और रुचि कम कर देना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा करनेसे उनके पतनकी सम्भावना है । इसलिये शास्त्रविहित कर्मोंमें, उनका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें और उनके फलमें उन लोगोंके विश्वासको स्थिर रखते हुए ही उन्हें यथार्थ तत्त्व समझाना चाहिये । साथ ही उन्हें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके श्रद्धा, धैर्य और उत्साहपूर्वक सात्त्विक कर्म (१८।२३) या सात्त्विक त्याग (१८।९) करनेकी रीति बतलानी चाहिये, जिससे वे अनायास ही उस तत्त्वको भलीभाँति समझ सकें ।

सम्बन्ध—अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान्ने उसे एक निश्चित कल्याणकारक साधन बतलानेके उद्देश्यसे चौथे श्लोकसे लेकर यहाँतक यह बात सिद्ध की कि मनुष्य किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, उसे अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप विहित कर्म करते ही रहना चाहिये । इस बातको सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने क्रमशः निम्नलिखित बातें कही हैं—

१—कर्म किये विना नैष्कर्म्यसिद्धिरूप कर्मनिष्ठा नहीं मिलती (३।४)।

२—कर्मोंका त्याग कर देनेमात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती (३।४)।

३—एक क्षणके लिये भी मनुष्य सर्वथा कर्म किये विना नहीं रह सकता (३।५)।

४—बाहरसे कर्मोंका त्याग करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है (३।६)।

५—मन-इन्द्रियोंको वशमें करके निष्कामभावसे कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है (३।७)।

६—कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है (३।८)।

७—विना कर्म किये शरीरनिर्वाह भी नहीं हो सकता (३।८)।

८—यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म बन्धन करनेवाले नहीं, बल्कि मुक्तिके कारण हैं (३।९)।

९—कर्म करनेके लिये प्रजापतिकी आज्ञा है, और निःस्वार्थभावसे उसका पालन करनेसे श्रेयकी प्राप्ति होती है (३।१०, ११)।

१०—कर्तव्यका पालन किये विना भोगोंका उपभोग करनेवाला चोर है (३।१२)

११—कर्तव्यपालन करके यज्ञशेषसे शरीरनिर्वाहके लिये भोजनादि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है (३।१३)।

१२—जो यज्ञादि न करके केवल शरीरपालनके लिये भोजन पकाता है, वह पापी है (३।१३)।

१३—कर्तव्य-कर्मके त्यागद्वारा सृष्टिचक्रमें बाधा पहुँचानेवाले मनुष्यका जीवन व्यर्थ और पापमय है (३।१६)।

१४—अनासक्तभावसे कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है (३।१९)।

१५—पूर्वकालमें जनकादिने भी कर्मोंद्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी (३।२०)।

१६—दूसरे मनुष्य श्रेष्ठ महापुरुषका अनुकरण करते हैं, इसलिये श्रेष्ठ महापुरुषको कर्म करना चाहिये (३।२१)।

१७—भगवान्‌को कुछ भी कर्तव्य नहीं है, तो भी वे लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हैं (३।२२)।

१८—ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, तो भी उसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये (३।२५)।

१९—ज्ञानीको स्वयं विहित कर्मोंका त्याग करके या कर्मत्यागका उपदेश देकर किसी प्रकार भी लोगोंको कर्तव्य-कर्मसे विचलित न करना चाहिये वरं स्वयं कर्म करना और दूसरोंसे करवाना चाहिये (३।२६)।

२०—ज्ञानयोगीको उचित है कि विहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करनेका उपदेश देकर कर्मासक्त मनुष्योंको विचलित न करे (३।२९)।

इस प्रकार कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करके अब भगवान् अर्जुनकी दूसरे श्लोकमें की हुई प्रार्थनाके अनुसार उसे परम कल्याणकी प्राप्तिका ऐकान्तिक और सर्वश्रेष्ठ निश्चित साधन बतलाते हुए युद्धके लिये आज्ञा देते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर ॥ ३० ॥

प्रश्न—'अध्यात्मचेतसा' किस चित्तका वाचक है और 'उसके द्वारा समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना' क्या है ?

उत्तर—सर्वान्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और स्वरूपको समझकर उनपर विश्वास करनेवाले और निरन्तर सर्वत्र उनका चिन्तन करते रहनेवाले चित्तका वाचक यहाँ 'अध्यात्मचेतसा' पद है । इस प्रकारके चित्तसे जो भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर तथा परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय, परम सुहृद् और परम दयालु समझकर, अपने अन्तःकरण और इन्द्रियोंसहित शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और जगत्‌के समस्त पदार्थोंको भगवान्‌के जानकर उन सबमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार यथायोग्य समस्त कर्म करवा रहे हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—इस प्रकार अपनेको सर्वथा भगवान्‌के अधीन समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये उन्हींकी प्रेरणासे जैसे वे करावें वैसे ही समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना, उन कर्मोंसे या उनके फलसे किसी प्रकारका भी अपना मानसिक सम्बन्ध न रखकर सब कुछ भगवान्‌का समझना—यही 'अध्यात्मचित्तसे समस्त कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण कर देना' है । इसी प्रकार भगवान्‌में समस्त कर्मोंका त्याग करनेकी बात १२वें अध्यायके ६ठे श्लोकमें तथा १८वें अध्यायके ५७ वें और ६६वें श्लोकोंमें भी कही गयी है ।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्म भगवान्‌में अर्पण कर देनेपर आशा, ममता और सन्तापका तो अपने-आप ही नाश हो जाता है; फिर यहाँ आशा, ममता और सन्तापसे रहित होकर युद्ध करनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्‌में अध्यात्मचित्तसे समस्त कर्म समर्पण कर देनेपर आशा, ममता और सन्ताप नहीं रहते—इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको आशा, ममता और सन्तापसे रहित होकर युद्ध करनेके लिये कहा है । अभिप्राय यह है कि तुम समस्त कर्मोंका भार मुझपर छोड़कर सब प्रकारसे आशा-ममता, राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकारोंसे रहित हो जाओ और ऐसे होकर मेरी आज्ञाके अनुसार युद्ध करो । इसलिये यह समझना चाहिये कि कर्म करते समय या उनका फल भोगते समय जबतक साधककी उन कर्मोंमें या भोगोंमें ममता, आसक्ति या कामना है अथवा उसके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार होते हैं, तबतक उसके समस्त कर्म भगवान्‌के समर्पित नहीं हुए हैं ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको उनके कल्याणका निश्चित साधन बतलाते हुए भगवान् उन्हें युद्ध करनेकी आज्ञा देकर अब उसका अनुष्ठान करनेवाले साधकोंके लिये उसके फलका वर्णन करते हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

प्रश्न—यहाँ 'ये' के सहित 'मानवाः' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह साधन किसी एक जातिविशेष या व्यक्ति-विशेषके लिये ही सीमित नहीं है । इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है । प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति या समाजका मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें समर्पण करके इस साधनका अनुष्ठान कर सकता है ।

प्रश्न—'श्रद्धावन्तः' और 'अनसूयन्तः'—इन दोनों पदोंका क्या भाव है ?

उत्तर—इन पदोंके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिन मनुष्योंकी मुझमें दोषदृष्टि है, जो मुझे साक्षात् परमेश्वर न समझकर साधारण मनुष्य मानते हैं और जिनका मुझपर विश्वास नहीं है, वे इस साधनके अधिकारी नहीं हैं । इस साधनका अनुष्ठान वे ही मनुष्य कर सकते हैं जो मुझमें कभी किसी प्रकारकी दोषदृष्टि नहीं करते और सदा श्रद्धा-भक्ति रखते हैं । अतएव इस साधनका अनुष्ठान करनेकी इच्छावालेको उपर्युक्त गुणोंसे सम्पन्न हो जाना चाहिये । इनके बिना इस साधनका अनुष्ठान करना तो दूर रहा, इसे समझना भी कठिन है ।

प्रश्न—'नित्यम्' पद 'मतम्'का विशेषण है या 'अनुतिष्ठन्ति'का ?

उत्तर—भगवान्‌का मत तो नित्य है ही, अतः उसका विशेषण मान लेनेमें भी कोई हानिकी बात नहीं है; पर यहाँ उसे 'अनुतिष्ठन्ति' क्रियाका विशेषण मानना अधिक उपयोगी माळूम होता है । अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त साधकको समस्त कर्म सदाके लिये भगवान्‌में समर्पित करके अपनी सारी क्रियाएँ उसी भावसे करनी चाहिये ।

प्रश्न—यहाँ 'अपि' पदका प्रयोग करके 'वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने अर्जुनको यह भाव दिखलाया है कि जब दूसरे मनुष्य भी समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणरूप कर्मबन्धनसे सदाके लिये मुक्त होकर परम कल्याणस्वरूप मुझ परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, तब तुम्हारे लिये तो कहना ही क्या है ?

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् अपने उपर्युक्त मतका अनुष्ठान करनेका फल बतलाकर अब उसके अनुसार न चलनेमें हानि बतलाते हैं—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ॥ ३२ ॥

प्रश्न—'तु' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें वर्णित साधकोंसे अत्यन्त विपरीत चलनेवाले मनुष्योंकी गति इस श्लोकमें बतलायी जाती है, इसी भावका द्योतक यहाँ 'तु' पद है।

प्रश्न—भगवान्‌में दोषारोपण करते हुए भगवान्‌के मतके अनुसार न बरतना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌को साधारण मनुष्य समझकर उनमें ऐसी भावना करना या दूसरोंसे ऐसा कहना कि 'ये अपनी पूजा करानेके लिये इस प्रकारका उपदेश देते हैं; समस्त कर्म इनके अर्पण कर देनेसे ही मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता' आदि-आदि—यह भगवान्‌में दोषारोपण करना है। और ऐसा समझकर भगवान्‌के कथनानुसार ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग न करना, कर्मोंको परमेश्वरके अर्पण न करके अपनी इच्छाके अनुसार कर्मोंमें बरतना और शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर देना—यही भगवान्‌में दोषारोपण करते हुए उनके मतके अनुसार न चलना है।

प्रश्न—'अचेतसः' पद किस श्रेणीके मनुष्योंका वाचक है और उनको सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित तथा नष्ट हुए समझनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—जिनके मन दोषोंसे भरे हैं, जिनमें विवेकका अभाव है और जिनका चित्त वशमें नहीं है, ऐसे मूर्ख और पामर मनुष्योंका वाचक 'अचेतसः' पद है। उनको सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए समझनेके लिये कहनेका यह भाव है कि ऐसे मनुष्योंकी बुद्धि विपरीत हो जाती है, वे लौकिक और पारलौकिक सब प्रकारके सुख-साधनोंको विपरीत ही समझने लगते हैं; इसी कारण वे विपरीत आचरणोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप उनका इस लोक और परलोकमें पतन हो जाता है, वे अपनी वर्तमान स्थितिसे भी भ्रष्ट हो जाते हैं और मरनेके बाद उनको अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये सूकर-कूकरादि नीच योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है या घोर नरकोंमें पड़कर भयानक यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि भगवान्‌के मतके अनुसार न चलनेवाला नष्ट हो जाता है; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यदि कोई भगवान्‌के मतके अनुसार कर्म न करके हठपूर्वक कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे तो वह नष्ट कैसे हो जायगा। इसपर भगवान् कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥३३॥

सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा॥३३॥

प्रश्न—सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस प्रकार समस्त नदियोंका जल जो स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर बहता है, उसके प्रवाहको हठपूर्वक रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार समस्त प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिके अधीन होकर प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए प्रकृतिकी ओर जा रहे हैं; इसलिये कोई भी मनुष्य हठपूर्वक सर्वथा कर्मोंका त्याग

नहीं कर सकता। हाँ, जिस तरह नदीके प्रवाहको एक ओरसे दूसरी ओर घुमा दिया जा सकता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने उद्देश्यका परिवर्तन करके उस प्रवाहकी चालको बदल सकता है यानी राग-द्वेषका त्याग करके उन कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक बना सकता है।

प्रश्न—'प्रकृति' शब्दका यहाँ क्या अर्थ है?

उत्तर—जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार जो स्वभावके रूपमें प्रकट होते हैं, उस स्वभावका नाम 'प्रकृति' है।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानवान्' शब्द किसका वाचक है?

उत्तर—परमात्माके यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले भगवत्-प्राप्त महापुरुषका वाचक यहाँ 'ज्ञानवान्' पद है।

प्रश्न—'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'अपि' पदके प्रयोगसे यह भाव दिखलाया है कि जब समस्त गुणोंसे अतीत ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, तब जो अज्ञानी मनुष्य प्रकृतिके अधीन हो रहे हैं, वे प्रकृतिके प्रवाहको हठपूर्वक कैसे रोक सकते हैं?

प्रश्न—क्या परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महापुरुषोंके स्वभाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं?

उत्तर—अवश्य ही सबके स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं, साधन और प्रारब्धके भेदसे स्वभावमें भेद होना अनिवार्य है।

प्रश्न—क्या ज्ञानीका भी पूर्वार्जित कर्मोंके संस्कार-रूप स्वभावसे कोई सम्बन्ध रहता है? यदि नहीं रहता तो इस कथनका क्या अभिप्राय है कि ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है?

उत्तर—ज्ञानीका वस्तुतः न तो कर्म-संस्कारोंसे किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध रहता है और न वह किसी प्रकारकी कोई क्रिया ही करता है; किन्तु उसके अन्तः-करणमें पूर्वार्जित प्रारब्धके संस्कार रहते हैं और उसीके अनुसार उसके बुद्धि, मन और इन्द्रियोंद्वारा प्रारब्ध-भोग और लोक-संग्रहके लिये बिना ही कर्ताके क्रियाएँ हुआ करती हैं; उन्हीं क्रियाओंका लोकदृष्टिसे ज्ञानीमें अध्यारोप करके कहा जाता है कि ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। ज्ञानीकी क्रियाएँ बिना कर्तापनके होनेसे राग-द्वेष और अहंता-ममतासे सर्वथा शून्य होती हैं; अतएव वे चेष्टामात्र हैं, उनकी संज्ञा 'कर्म' नहीं है—यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'चेष्टते' क्रियाका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—ज्ञानीके अन्तःकरणमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि विकार होते ही नहीं या उनसे उसका सम्बन्ध नहीं रहता? यदि उसका अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध न रहनेके कारण उस अन्तःकरणमें विकार नहीं होते तो शम, दम, तितिक्षा, दया, सन्तोष आदि सद्गुण भी उसमें नहीं होने चाहिये?

उत्तर—ज्ञानीका जब अन्तःकरणसे ही सम्बन्ध नहीं रहता तब उसमें होनेवाले विकारोंसे या सद्गुणोंसे सम्बन्ध कैसे रह सकता है? किन्तु उसका अन्तःकरण भी अत्यन्त पवित्र हो जाता है; निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते-करते जब अन्तःकरणमें मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है, तभी साधकको परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस कारण उस अन्तःकरणमें अविद्यामूलक अहंता, ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, दम्भ-कपट, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकार नहीं रह सकते; इनका उसमें सर्वथा अभाव हो जाता है। अतएव ज्ञानी महात्मा पुरुषके उस अत्यन्त निर्मल और परम पवित्र अन्तःकरणमें

केवल समता, सन्तोष, दया, क्षमा, निःस्पृहता, शान्ति आदि सद्गुणोंकी स्वाभाविक स्फुरणा होती है और उन्हींके अनुसार लोकसंग्रहके लिये उनके मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं। दुर्गुण और दुराचारोंका उसमें अत्यन्त अभाव हो जाता है। लोकसंग्रहके लिये यदि कदाचित् किसी ज्ञानीके अन्तःकरणमें काम-क्रोधादिका प्रादुर्भाव देखा जाय तो उसे केवल स्वाँगकी भाँति प्रतीतिमात्र समझना चाहिये, वह वास्तवमें दुर्गुण या दुराचार नहीं है।

प्रश्न—इतिहास और पुराणोंकी कथाओंमें ऐसे बहुत-से प्रसङ्ग आते हैं, जिनसे ज्ञानी सिद्ध महापुरुषोंके अन्तःकरणमें भी काम-क्रोधादि दुर्गुणोंका प्रादुर्भाव और इन्द्रियोंद्वारा उनके अनुसार क्रियाओंका होना सिद्ध होता है; उस विषयमें क्या समझना चाहिये ?

उत्तर—यदि किसीके अन्तःकरणमें सचमुच काम-क्रोधादि दुर्गुणोंका प्रादुर्भाव हुआ हो और उनके अनुसार क्रिया हुई हो तब तो वह भगवत्प्राप्त ज्ञानी महात्मा ही नहीं है; क्योंकि शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँ महापुरुषोंके लक्षण बतलाये गये हैं; उनमें राग-द्वेष और काम-क्रोध आदि दुर्गुण और दुराचारोंका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है (५।२६, २८; १२।१७)। हाँ, यदि लोक-संग्रहके लिये आवश्यक होनेपर उन्होंने स्वाँगकी भाँति ऐसी चेष्टा की हो तो उसकी गणना अवश्य ही दोषोंमें नहीं है।

प्रश्न—फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ? इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यही भाव दिखलाया है कि कोई भी मनुष्य हठपूर्वक क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (३।५), प्रकृति उससे जबरन् कर्म करा लेगी (१८।५९, ६०); अतः मनुष्यको विहित कर्मका त्याग करके कर्मबन्धनसे छूटनेका आग्रह न रखकर स्वभावनियत कर्म करते हुए ही कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय करना चाहिये। उसीमें मनुष्य सफल हो सकता है, विहित कर्मोंके त्यागसे तो वह स्वेच्छाचारी होकर उलटा पहलेसे भी अधिक कर्मबन्धनमें जकड़ा जाता है और उसका पतन हो जाता है।

प्रश्न—यदि सबको प्रकृतिके अनुसार कर्म करने ही पड़ते हैं, मनुष्यकी कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं है तो फिर विधि-निषेधात्मक शास्त्रका क्या उपयोग है ? स्वभावके अनुसार मनुष्यको शुभाशुभ कर्म करने ही पड़ेंगे और उन्हींके अनुसार उसकी प्रकृति बनती जायगी, ऐसी अवस्थामें मनुष्यका उत्थान कैसे हो सकता है ?

उत्तर—शास्त्रविरुद्ध असत् कर्म होते हैं राग-द्वेषादिके कारण और शास्त्रविहित सत्कर्मोंके आचरणमें श्रद्धा, भक्ति आदि सद्गुण प्रधान कारण हैं। राग-द्वेष, काम-क्रोधादि दुर्गुणोंका त्याग करनेमें और श्रद्धा, भक्ति आदि सद्गुणोंको जाग्रत् करके उन्हें बढ़ानेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। अतएव दुर्गुणोंका त्याग करके भगवान्में और शास्त्रोंमें श्रद्धा-भक्ति रखते हुए भगवान्की प्रसन्नताके लिये कर्मोंका आचरण करना चाहिये। इस आदर्शको सामने रखकर कर्म करनेवाले मनुष्यके द्वारा निषिद्ध कर्म तो होते ही नहीं, शुभ कर्म होते हैं; वे भी मुक्तिप्रद ही होते हैं, बन्धनकारक नहीं। अभिप्राय यह है कि कर्मोंको रोकनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, उसे कर्म तो करने ही पड़ेंगे; परन्तु सद्गुणोंका आश्रय लेकर अपनी प्रकृतिका सुधार करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं। ज्यों-ज्यों प्रकृतिमें सुधार होगा त्यों-ही-त्यों क्रियाएँ अपने-आप ही विशुद्ध होती चली जायँगी। अतएव भगवान्की शरण होकर अपने स्वभावका सुधार करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार सबको प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, तो फिर कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके भोगमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अर्थे' पदसे सम्बन्ध रखनेवाले 'इन्द्रियस्य' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण—इन सबका ग्रहण करनेके लिये एवं उनमेंसे प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें अलग-अलग राग-द्वेषकी स्थिति दिखलानेके लिये यहाँ 'अर्थे' पदसे सम्बन्ध रखनेवाले 'इन्द्रियस्य' पदका दो बार प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि अन्तःकरणके सहित समस्त इन्द्रियोंके जितने भी भिन्न-भिन्न विषय हैं, जिनके साथ इन्द्रियोंका संयोग-वियोग होता रहता है, उन सभी विषयोंमें राग और द्वेष दोनों ही अलग-अलग छिपे रहते हैं।

प्रश्न—यहाँ यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि 'इन्द्रियके अर्थमें इन्द्रियके राग-द्वेष छिपे रहते हैं, तो क्या हानि है ?

उत्तर—ऐसी क्लिष्ट कल्पना कर लेनेपर भी इस अर्थसे भाव ठीक नहीं निकलता ; क्योंकि इन्द्रियाँ भी अनेक हैं और उनके विषय भी अनेक हैं; फिर एक ही इन्द्रियके विषयमें एक ही इन्द्रियके रागद्वेष स्थित हैं, यह कहना कैसे सार्थक हो सकता है ? इसलिये 'इन्द्रियस्य-इन्द्रियस्य' अर्थात् 'प्रति-इन्द्रियस्य'—इस प्रकार प्रयोग मानकर ऊपर बतलाया हुआ अर्थ मानना ही ठीक मालूम होता है।

प्रश्न—प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष दोनों कैसे छिपे हुए हैं और उनके वशमें न होना क्या है ?

उत्तर—जिस वस्तु, प्राणी या घटनामें मनुष्यको सुखकी प्रतीति होती है, जो उसके अनुकूल होता है, उसमें उसकी आसक्ति हो जाती है—इसीको 'राग' कहते हैं और जिसमें उसे दुःखकी प्रतीति होती है, जो उसके प्रतिकूल होता है, उसमें उसका द्वेष हो जाता है। वास्तवमें किसी भी वस्तुमें सुख और दुःख नहीं हैं, मनुष्यकी भावनाके अनुसार एक ही वस्तु किसीको सुखप्रद प्रतीत होती है और किसीको दुःखप्रद। तथा एक ही मनुष्यको जो वस्तु एक समय सुखप्रद प्रतीत होती है, वही दूसरे समय दुःखप्रद प्रतीत होने लग जाती है। अतएव प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग-द्वेष छिपे हुए हैं यानी सभी वस्तुओंमें राग और द्वेष दोनों ही रहा करते हैं; क्योंकि जब-जब मनुष्यका उनके साथ संयोग-वियोग होता है, तब-तब राग-द्वेषका प्रादुर्भाव होता देखा जाता है।

अतएव शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करते हुए मन और इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संयोग-वियोग होते समय किसी भी वस्तु, प्राणी, क्रिया

या घटनामें प्रिय और अप्रियकी भावना न करके, सिद्धि-असिद्धि, जय-पराजय और लाभ-हानि आदिमें समभावसे युक्त रहना, तनिक भी हर्ष-शोक न करना—यही राग-द्वेषके वशमें न होना है; क्योंकि राग-द्वेषके वशमें होनेसे ही मनुष्यकी सबमें विषम बुद्धि होकर अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि विकार हुआ करते हैं। अतः मनुष्यको परमेश्वरकी शरण ग्रहण करके इन राग-द्वेषोंसे सर्वथा अतीत हो जाना चाहिये।

प्रश्न—राग और द्वेष—ये दोनों मनुष्यके कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु कैसे हैं?

उत्तर—मनुष्य अज्ञानवश राग, द्वेष—इन दोनोंके वश होकर विनाशशील भोगोंको सुखके हेतु समझकर कल्याणमार्गसे भ्रष्ट हो जाता है। राग-द्वेष साधकको धोखा देकर विषयोंमें फँसा लेते हैं और उसके कल्याणमार्गमें विघ्न उपस्थित करके मनुष्यजीवनरूप अमूल्य धनको लूट लेते हैं। इस कारण वह मनुष्यजन्म-के परम फलसे वञ्चित रह जाता है और राग-द्वेषके वश होकर विषयभोगोंके लिये स्वधर्मका त्याग, परधर्मका ग्रहण या नाना प्रकारके निषिद्ध कर्मोंका आचरण करता है; इसके फलस्वरूप मरनेके बाद भी उसकी दुर्गति होती है। इसीलिये इनको परिपन्थी यानी सत्-मार्गमें विघ्न करनेवाले शत्रु बतलाया गया है।

प्रश्न—ये राग-द्वेष साधकके कल्याणमार्गमें किस प्रकार बाधा डालते हैं?

उत्तर—जिस प्रकार अपने निश्चित स्थानपर जानेके लिये राह चलनेवाले किसी मुसाफिरको मार्गमें विघ्न करनेवाले लुटेरोंसे भेंट हो जाय और वे मित्रताका-सा भाव दिखलाकर और उसके साथी गाड़ीवान आदिसे मिलकर उनके द्वारा उसकी विवेकशक्तिमें भ्रम उत्पन्न कराकर उसे मिथ्या सुखोंका प्रलोभन देकर अपनी बातोंमें फँसा लें और उसे अपने गन्तव्य स्थानकी ओर न जाने देकर उसके विपरीत जंगलमें ले जायँ और उसका सर्वस्व लूटकर उसे गहरे गड्ढेमें गिरा दें, उसी प्रकार ये राग-द्वेष कल्याणमार्गमें चलनेवाले साधकसे भेंट करके मित्रताका भाव दिखलाकर उसके मन और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं और उसकी विवेकशक्तिको नष्ट करके तथा उसे सांसारिक विषय-भोगोंके सुखका प्रलोभन देकर पापाचारमें प्रवृत्त कर देते हैं। इससे उसका साधनक्रम नष्ट हो जाता है और पापोंके फलस्वरूप उसे घोर नरकोंमें पड़कर भयानक दुःखोंका उपभोग करना होता है।

सम्बन्ध—यहाँ अर्जुनके मनमें यह बात आ सकती है कि मैं यह युद्धरूप घोर कर्म न करके यदि भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह करता हुआ शान्तिमय कर्मोंमें लगा रहूँ तो सहज ही राग-द्वेपसे छूट सकता हूँ, फिर आप मुझे युद्ध करनेके लिये आज्ञा क्यों दे रहे हैं? इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥३५॥

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है॥ ३५॥

प्रश्न—'सु-अनुष्ठितात्' विशेषणके सहित 'परधर्मात्' पद किस धर्मका वाचक है और उसकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्मको अति उत्तम बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—जिस धर्ममें अहिंसा और शान्ति आदि गुण अधिक हों तथा जिसका अनुष्ठान साङ्गोपाङ्ग किया जाय, उसको 'सु-अनुष्ठित' कहते हैं। वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी बहुलता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म अधिक गुणयुक्त हैं। अतः जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किन्तु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों, वैसे कर्मोंका वाचक यहाँ 'स्वनुष्ठितात्' विशेषणके सहित 'परधर्मात्' पद है। उस परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्मको अति उत्तम बतलाकर यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे देखनेमें कुरूप और गुणहीन होनेपर भी स्त्रीके लिये अपने पतिका सेवन करना ही कल्याणप्रद है, उसी प्रकार देखनेमें सद्‌गुणोंसे हीन होनेपर तथा अनुष्ठानमें अङ्गवैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है। फिर जो स्वधर्म सर्वगुणसम्पन्न है और जिसका साङ्गोपाङ्ग पालन किया जाता है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

प्रश्न—'स्वधर्मः' पद किस धर्मका वाचक है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म शास्त्रने नियत कर दिये हैं, उसके लिये वही स्वधर्म है। अभिप्राय यह है कि झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, ठगी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं और काम्यकर्म भी किसीके लिये अवश्यकर्तव्य नहीं हैं, इस कारण उनकी गणना भी यहाँ किसीके स्वधर्मोंमें नहीं है। इनके सिवा जिस वर्ण या आश्रमके जो विशेष धर्म बतलाये गये हैं, जिनमें एकके सिवा दूसरे वर्ण-आश्रमवालोंका अधिकार नहीं है, वे उन-उन वर्ण-आश्रमवालोंके पृथक्-पृथक् स्वधर्म हैं; जिन कर्मोंमें द्विजमात्रका अधिकार बतलाया गया है, वे वेदाध्ययन और यज्ञादि कर्म द्विजोंके लिये स्वधर्म हैं और जिनमें सभी वर्ण-आश्रमोंके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है, वे ईश्वरकी भक्ति, सत्य-भाषण, माता-पिताकी सेवा, मन-इन्द्रियोंका संयम, ब्रह्मचर्यपालन, अहिंसा, अस्तेय, सन्तोष, दया, दान, क्षमा, पवित्रता और विनय आदि सामान्य धर्म सबके स्वधर्म हैं।

प्रश्न—जिस मनुष्यसमुदायमें वर्णाश्रमकी व्यवस्था नहीं है और जो वैदिक सनातनधर्मको नहीं मानते, उनके लिये स्वधर्म और परधर्मकी व्यवस्था कैसे हो सकती है ?

उत्तर—वास्तवमें तो वर्णाश्रमकी व्यवस्था समस्त मनुष्यसमुदायमें होनी चाहिये और वैदिक सनातनधर्म भी सभी मनुष्योंके लिये मान्य होना चाहिये। अतः जिस मनुष्यसमुदायमें वर्ण-आश्रमकी व्यवस्था नहीं है, उनके लिये स्वधर्म और परधर्मका निर्णय करना कठिन है; तथापि इस समय धर्म-सङ्कट उपस्थित हो रहा है और गीतामें मनुष्यमात्रके लिये उद्धारका मार्ग बतलाया गया है, इस आशयसे ऐसा माना जा सकता है कि जिस मनुष्यका जिस जाति या समुदायमें जन्म होता है, जिन माता-पिताके रज-वीर्यसे उसका शरीर बनता है, जन्मसे लेकर कर्तव्य समझनेकी योग्यता आनेतक जैसे संस्कारोंमें उसका पालन-पोषण होता है तथा पूर्व-जन्मके जैसे कर्म-संस्कार होते हैं, उसीके अनुकूल उसका स्वभाव बनता है और उस स्वभावके अनुसार ही जीविकाके कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है। अतः जिस मनुष्यसमुदायमें वर्णाश्रमकी

व्यवस्था नहीं है, उसमें उनके स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिसके लिये जो विहित कर्म है अर्थात् उनकी इस लोक और परलोककी उन्नतिके लिये किसी महापुरुषके द्वारा जो कर्म उपयुक्त माने गये हैं, अच्छी नीयतसे कर्तव्य समझकर जिनका आचरण किया जाता है, जो किसी भी दूसरेके धर्म और हितमें बाधक नहीं हैं तथा मनुष्यमात्रके लिये जो सामान्य धर्म माने गये हैं, वही उसका स्वधर्म है और उससे विपरीत जो दूसरोंके लिये विहित है और उसके लिये विहित नहीं है, वह परधर्म है।

प्रश्न—'स्वधर्मः' पदके साथ 'विगुणः' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'विगुणः' पद गुणोंकी कमीका द्योतक है। क्षत्रियका स्वधर्म युद्ध करना, दुष्टोंको दण्ड देना आदि है; उसमें अहिंसा और शान्ति आदि गुणोंकी कमी मालूम होती है। इसी तरह वैश्यके 'कृषि' आदि कर्मोंमें भी हिंसा आदि दोषोंकी बहुलता है, इस कारण ब्राह्मणोंके शान्तिमय कर्मोंकी अपेक्षा वे विगुण यानी गुणहीन हैं एवं शूद्रके कर्म वैश्यों और क्षत्रियोंकी अपेक्षा भी निम्नश्रेणीके हैं। इसके सिवा उन कर्मोंके पालनमें किसी अङ्गका छूट जाना भी गुणकी कमी है। उपर्युक्त प्रकारसे स्वधर्ममें गुणोंकी कमी रहनेपर भी वह परधर्मकी अपेक्षा कल्याणप्रद है, यही भाव दिखलानेके लिये 'स्वधर्मः' के साथ 'विगुणः' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि यदि स्वधर्मपालनमें किसी तरहकी आपत्ति न आवे और जीवनभर मनुष्य उसका पालन कर ले तो उसे अपने भावानुसार स्वर्गकी या मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है, इसमें तो कहना ही क्या है; किसी प्रकारकी आपत्ति आनेपर वह अपने धर्मसे न डिगे और उसके कारण उसका मरण हो जाय तो वह मरण भी उसके लिये कल्याण करनेवाला हो जाता है। इतिहासों और पुराणोंमें ऐसे बहुत उदाहरण मिलते हैं, जिनमें स्वधर्मपालनके लिये मरनेवालोंका एवं मरणपर्यन्त कष्ट स्वीकार करनेवालोंका कल्याण होनेकी बात कही गयी है।

राजा दिलीपने दीनरक्षारूप क्षात्रधर्मका पालन करते हुए एक गौके बदले अपना शरीर सिंहको समर्पित करके अभीष्ट प्राप्त किया; राजा शिबिने शरणागतरक्षारूप स्वधर्मका पालन करनेके लिये एक कबूतरके बदलेमें अपने शरीरका मांस बाजको देकर मरना स्वीकार किया और उससे उनको साक्षात् परमात्माकी प्राप्ति हुई; प्रह्लादने भगवद्भक्तिरूप स्वधर्मका पालन करनेके लिये अनेकों प्रकारके मृत्युके साधनोंको सहर्ष स्वीकार किया और इससे उनका परम कल्याण हो गया। इसी प्रकारके और भी बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। महाभारतमें कहा गया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥
(स्वर्गा० ५।६३)

अर्थात् 'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

इसलिये मरण-सङ्कट उपस्थित होनेपर भी मनुष्यको चाहिये कि वह हँसते-हँसते मृत्युको वरण कर ले, पर स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे। इसीमें उसका सब प्रकारसे कल्याण है।

प्रश्न—दूसरेका धर्म भय देनेवाला है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया है कि दूसरेके धर्मका पालन यदि सुखपूर्वक होता हो तो भी वह भय देनेवाला है। उदाहरणार्थ—शूद्र और वैश्य यदि अपनेसे उच्च वर्णवालोंके धर्मका पालन करने लगें तो उच्च वर्णोंसे अपनी पूजा करानेके कारण और उनकी वृत्तिच्छेद करनेके दोषके कारण वे पापके भागी बन जाते हैं और फलतः उनको नरक भोगना पड़ता है; इसी प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रिय यदि अपनेसे हीन वर्णवालोंके धर्मका अवलम्बन कर लें तो उनका उस वर्णसे पतन हो जाता है एवं विना आपत्तिकालके दूसरोंकी वृत्तिसे निर्वाह करनेपर दूसरोंकी वृत्तिच्छेदके पापका भी फल उन्हें भोगना पड़ता है। इसी तरह आश्रम-धर्म तथा अन्य सब धर्मोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। अतएव किसी भी मनुष्यको अपने कल्याणके लिये परधर्मके ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। दूसरेका धर्म देखनेमें चाहे कितना ही गुणसम्पन्न क्यों न हो, वह जिसका धर्म है, उसीके लिये है; दूसरेके लिये तो वह भय देनेवाला ही है, कल्याणकारक नहीं।*

सम्बन्ध—मनुष्यका स्वधर्मपालन करनेमें ही कल्याण है, परधर्मका सेवन और निषिद्ध कर्मोंका आचरण करनेमें सब प्रकारसे हानि है। इस बातको भलीभाँति समझ लेनेके बाद भी मनुष्य अपने इच्छा, विचार और धर्मके विरुद्ध पापाचारमें किस कारण प्रवृत्त हो जाते हैं—इस बातके जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥३६॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है? ॥ ३६ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान्‌ने पहले यह बात कही थी कि यत्न करनेवाले बुद्धिमान् मनुष्यके मनको भी इन्द्रियाँ बलात्कारसे विचलित कर देती हैं (२।६०)। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि बुद्धिमान्, विवेकशील मनुष्य प्रत्यक्षमें और अनुमानसे पापोंका बुरा परिणाम देखकर विचारद्वारा उनमें प्रवृत्त होना ठीक नहीं समझता, अतः वह इच्छापूर्वक पापकर्म नहीं करता; तथापि बलात्कारसे उसके द्वारा रोगीसे कुपथ्य-सेवनकी भाँति पाप-कर्म बन जाते हैं। इसलिये उपर्युक्त प्रश्नके द्वारा अर्जुन भगवान्‌से इस बातका निर्णय कराना चाहते हैं कि इस मनुष्यको बलात्कारसे पापोंमें लगानेवाला

* मनुस्मृतिमें भी यही बात कही है—

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः। परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥ (१०।९७)

'गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है; परन्तु भलीभाँति पालन किया हुआ पर-धर्म श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि दूसरेके धर्मसे जीवन धारण करनेवाला मनुष्य जातिसे तुरंत ही पतित हो जाता है।'

कौन है ? क्या स्वयं परमेश्वर ही लोगोंको पापोंमें नियुक्त करते हैं, जिसके कारण वे उनसे हट नहीं सकते, अथवा प्रारब्धके कारण बाध्य होकर उन्हें पाप करने पड़ते हैं, अथवा इसका कोई दूसरा ही कारण है ?

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे—

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ॥ ३७ ॥

प्रश्न—'कामः' और 'क्रोधः'—इन दोनों पदोंके साथ-साथ दो बार 'एषः' पदके प्रयोगका क्या भाव है तथा 'रजोगुणसमुद्भवः' विशेषणका सम्बन्ध किस पदके साथ है ?

उत्तर—चौंतीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी थी कि प्रत्येक इन्द्रियोंके विषयोंमें रहनेवाले राग और द्वेष ही इस मनुष्यको लूटनेवाले डाकू हैं; उन्हीं दोनोंके स्थूल रूप काम-क्रोध हैं—यह भाव दिखलानेके लिये तथा इन दोनोंमें भी 'काम' प्रधान है, क्योंकि यह रागका स्थूल रूप है और इसीसे 'क्रोध' की उत्पत्ति होती है (२ । ६२)—यह दिखलानेके लिये 'कामः' और 'क्रोधः', इन दोनों पदोंके साथ 'एषः' पदका प्रयोग किया गया है । कामकी उत्पत्ति रागसे होती है, इस कारण 'रजोगुणसमुद्भवः' विशेषण 'कामः' पदसे ही सम्बन्ध रखता है ।

प्रश्न—यदि 'काम' और 'क्रोध' दोनों ही मनुष्यके शत्रु हैं तो फिर भगवान्ने पहले दोनोंके नाम लेकर फिर अकेले कामको ही शत्रु समझनेके लिये कैसे कहा ?

उत्तर—पहले बतलाया जा चुका है कि कामसे ही क्रोधकी उत्पत्ति होती है । अतः कामके नाशके साथ ही उसका नाश अपने-आप ही हो जाता है । इसलिये भगवान्ने इस प्रकरणमें इसके बाद केवल 'काम' का ही नाम लिया है । परन्तु कोई यह न समझ ले कि पापोंका हेतु केवल काम ही है, क्रोधका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; इसलिये प्रकरणके आरम्भमें कामके साथ क्रोधको भी गिना दिया है ।

प्रश्न—कामकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है या रागसे ?

उत्तर—रजोगुणसे रागकी वृद्धि होती है और रागसे रजोगुणकी । अतः इन दोनोंका एक ही स्वरूप माना गया है (१४ । ७) । इसलिये कामकी उत्पत्तिके दोनों ही कारण हैं ।

प्रश्न—कामको 'महाशनः' यानी बहुत खानेवाला कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया है कि यह काम भोगोंको भोगते-भोगते कभी तृप्त नहीं होता । जैसे घृत और ईंधनसे अग्नि बढ़ती है, उसी प्रकार मनुष्य जितने ही अधिक भोग भोगता है, उतनी ही अधिक उसकी भोग-तृष्णा बढ़ती जाती है । इसलिये मनुष्यको यह कभी न समझना चाहिये कि भोगोंका प्रलोभन देकर मैं साम और दाननीतिसे कामरूप वैरीपर विजय प्राप्त कर

दूँगा, इसके लिये तो दण्डनीतिका ही प्रयोग करना चाहिये ।

प्रश्न–कामको 'महापाप्मा' यानी बड़ा पापी कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर–इससे यह भाव दिखलाया गया है कि सारे अनर्थोंका कारण यह काम ही है । मनुष्यको विना इच्छा पापोंमें नियुक्त करनेवाला न तो प्रारब्ध है और न ईश्वर ही है, यह काम ही इस मनुष्यको नाना प्रकारके भोगोंमें आसक्त करके उसे बलात्कारसे पापोंमें प्रवृत्त कराता है; इसलिये यह महान् पापी है ।

प्रश्न–इसीको तू इस विषयमें वैरी जान, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो हमें जबरदस्ती ऐसी स्थितिमें ले जाय कि जिसका परिणाम महान् दुःख या मृत्यु हो, उसको अपना शत्रु समझना चाहिये और यथासम्भव शीघ्र-से-शीघ्र उसका नाश कर डालना चाहिये । यह 'काम' मनुष्यको उसकी इच्छाके विना ही जबरदस्ती पापोंमें लगाकर उसे जन्म-मरणरूप और नरक-भोगरूप महान् दुःखोंका भागी बनाता है । अतः कल्याण-मार्गमें इसीको अपना महान् शत्रु समझना चाहिये । ईश्वर तो परम दयालु और प्राणियोंके सुहृद् हैं, वे किसीको पापोंमें कैसे नियुक्त कर सकते हैं और प्रारब्ध पूर्वकृत कर्मोंके भोगका नाम है, उसमें किसीको पापोंमें प्रवृत्त करनेकी शक्ति नहीं है । अतः पापोंमें प्रवृत्त करनेवाला वैरी दूसरा कोई नहीं है, यह 'काम' ही है।

सम्बन्ध–पूर्वश्लोकमें समस्त अनर्थोंका मूल और इस मनुष्यको विना इच्छाके पापोंमें लगानेवाला वैरी कामको बतलाया । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यह काम मनुष्यको किस प्रकार पापोंमें प्रवृत्त करता है । अतः अब तीन श्लोकोंद्वारा यह समझाते हैं कि यह मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित करके उसे अन्धा बनाकर पापोंके गड्ढेमें ढकेल देता है—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जिस प्रकार धूएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है ॥ ३८ ॥

प्रश्न–धूआँ, मल और जेर—इन तीनोंके दृष्टान्तसे कामके द्वारा ज्ञानको आवृत बतलाकर यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर–इससे यह दिखलाया गया है कि यह काम ही मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषोंके रूपमें परिणत होकर मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित किये रहता है । यहाँ धूएँके स्थानमें 'विक्षेप' को समझना चाहिये । जिस प्रकार धूआँ चञ्चल होते हुए भी अग्निको ढक लेता है, उसी प्रकार 'विक्षेप' चञ्चल होते हुए भी ज्ञानको ढके रहता है; क्योंकि विना एकाग्रताके अन्तःकरणमें ज्ञानशक्ति प्रकाशित नहीं हो सकती, वह दबी रहती है । मलके स्थानमें 'मल' दोषको समझना चाहिये । जैसे दर्पणपर मैल जम जानेसे उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता,

उसी प्रकार पापोंके द्वारा अन्तःकरणके अत्यन्त मलिन हो जानेपर उसमें वस्तु या कर्तव्यका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता। इस कारण मनुष्य उसका यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता। एवं जेरके स्थानमें 'आवरण' को समझना चाहिये। जैसे जेरसे गर्भ सर्वथा आच्छादित रहता है, उसका कोई अंश भी दिखलायी नहीं देता, वैसे ही आवरणसे ज्ञान सर्वथा ढका रहता है। जिसका अन्तःकरण अज्ञानसे मोहित रहता है, वह मनुष्य निद्रा और आलस्यादिके सुखमें फँसकर किसी प्रकारका विचार करनेमें प्रवृत्त ही नहीं होता। यह काम ही मनुष्यके अन्तःकरणमें नाना प्रकारके भोगोंकी तृष्णा बढ़ाकर उसे विक्षिप्त बनाता है, यही मनुष्यसे नाना प्रकारके पाप करवाकर अन्तःकरणमें मलदोषकी वृद्धि करता है और यही उसकी निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यतामें सुख-बुद्धि करवाकर उसे सर्वथा विवेकशून्य बना देता है। इसीलिये यहाँ इसको तीनों प्रकारसे ज्ञानका आच्छादन करनेवाला बतलाया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'तेन' पदका अर्थ काम और 'इदम्' पदका अर्थ ज्ञान किस आधारपर किया गया है?

उत्तर—इसके पहले श्लोकमें कामको वैरी समझनेके लिये कहा है और अगले श्लोकमें भगवान्‌ने स्वयं कामसे ज्ञानको आवृत बतलाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि इस श्लोकमें 'तेन' सर्वनाम 'काम' का और 'इदम्' सर्वनाम 'ज्ञान' का वाचक है। इसी आधारपर दोनों पदोंका उपर्युक्त अर्थ किया गया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें 'तेन' पद 'काम' का और 'इदम्' पद 'ज्ञान' का वाचक है—इस बातको स्पष्ट करते हुए उस कामको अग्निकी भाँति कभी पूर्ण न होनेवाला बतलाते हैं—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

और हे अर्जुन! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीके द्वारा मनुष्यका ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥

प्रश्न—'अनलेन' और 'दुष्पूरेण' विशेषणोंका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'बस, और कुछ भी नहीं चाहिये' ऐसे तृप्तिके भावका वाचक 'अलम्' अव्यय है; इसका जिसमें अभाव हो, उसे 'अनल' कहते हैं। अग्निमें चाहे जितना घृत और ईंधन क्यों न डाला जाय, उसकी तृप्ति कभी नहीं होती; इसीलिये अग्निका नाम 'अनल' है। जो किसी प्रकार पूर्ण न हो, उसे 'दुष्पूर' कहते हैं। अतः यहाँ उपर्युक्त विशेषणोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि यह 'काम' भी अग्निकी भाँति 'अनल' और 'दुष्पूर' है। मनुष्य जैसे-जैसे विषयोंको भोगता है, वैसे-ही-वैसे अग्निकी भाँति उसका 'काम' बढ़ता रहता है, उसकी तृप्ति नहीं होती। राजा ययातिने बहुत-से भोगोंको भोगनेके बाद अन्तमें कहा था—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(श्रीमद्भा० ९। १९। १४)

'विषयोंके उपभोगसे 'काम' कभी शान्त नहीं होता, बल्कि घृतसे अग्निकी भाँति और अधिक ही बढ़ता जाता है।'

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानिनः' पद किन ज्ञानियोंका वाचक है और कामको उनका 'नित्य वैरी' बतलानेका क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञानिनः' पद यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले विवेकशील साधकोंका वाचक है। यह कामरूप शत्रु उन साधकोंके अन्तःकरणमें विवेक, वैराग्य और निष्कामभावको स्थिर नहीं होने देता, उनके साधनमें बाधा उपस्थित करता रहता है। इस कारण इसको ज्ञानियोंका 'नित्य वैरी' बतलाया गया है। वास्तवमें तो यह काम सभीको अधोगतिमें ले जानेवाला होनेके कारण सभीका वैरी है; परन्तु अविवेकी मनुष्य विषयोंको भोगते समय भोगोंमें सुख-बुद्धि होनेके कारण भ्रमसे इसे मित्रके सदृश समझते हैं और इसके तत्त्वको जाननेवाले विवेकियोंको यह प्रत्यक्ष ही हानिकर दीखता है। इसीलिये इसको अविवेकियोंका नित्य वैरी न बतलाकर ज्ञानियोंका नित्य वैरी बतलाया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'कामरूपेण' पद किस कामका वाचक है?

उत्तर—जो काम दुर्गुणोंकी श्रेणीमें गिना जाता है, जिसका त्याग करनेके लिये गीतामें जगह-जगह कहा गया है (२।७१; ६।२४), सोलहवें अध्यायमें जिसको नरकका द्वार बतलाया गया है (१६।२१), उस सांसारिक विषय-भोगोंकी कामनारूप कामका वाचक यहाँ 'कामरूपेण' पद है। भगवान्‌से मिलनेकी, उनका भजन-ध्यान करनेकी अथवा सात्त्विक कर्मोंके अनुष्ठान करनेकी जो शुभ इच्छा है, उसका नाम काम नहीं है; वह तो मनुष्यके कल्याणमें हेतु है और इस विषय-भोगोंकी कामनारूप कामका नाश करनेवाली है, वह साधककी शत्रु कैसे हो सकती है? इसलिये गीतामें 'काम' शब्दका अर्थ सांसारिक इष्टानिष्ट भोगोंके संयोग-वियोगकी कामना ही समझना चाहिये। इसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिये कि चौंतीसवें श्लोकमें या अन्यत्र कहीं जो 'राग', 'आसक्ति' या 'सङ्ग' शब्द आये हैं, वे भी भगवद्विषयक अनुरागके वाचक नहीं हैं, कामोत्पादक भोगासक्तिके ही वाचक हैं।

प्रश्न—'ज्ञानम्' पद किस ज्ञानका वाचक है और इसको कामके द्वारा ढका हुआ बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञानम्' पद यथार्थ-ज्ञानका वाचक है और उसको कामके द्वारा ढका हुआ बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि जैसे जेरसे आवृत रहनेपर भी बालक उस जेरको चीरकर उसके बाहर निकलनेमें समर्थ होता है और अग्नि जैसे प्रज्वलित होकर अपना आवरण करनेवाले धूएँका नाश कर देता है, उसी प्रकार जिस समय किसी संत महापुरुषके या शास्त्रोंके उपदेशसे निर्गुण-निराकार परमात्माके तत्त्वका ज्ञान जाग्रत् हो जाता है, उस समय वह कामसे आवृत होनेपर भी कामका नाश करके स्वयं प्रकाशित हो उठता है। अतः काम उसको आवृत करनेवाला होनेपर भी वस्तुतः उसकी अपेक्षा सर्वथा बलहीन ही है।

सम्बन्ध—इस प्रकार कामके द्वारा ज्ञानको आवृत बतलाकर अब उसे मारनेका उपाय बतलानेके उद्देश्यसे पहले उसके द्वारा जीवात्माके मोहित किये जानेका प्रकार बतलाते हुए उसका वासस्थान बतलाते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है॥ ४०॥

प्रश्न—'इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सब इस 'काम' के वासस्थान कहे जाते हैं' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया है कि मन, बुद्धि और इन्द्रिय मनुष्यके वशमें न रहनेके कारण उनपर यह 'काम' अपना अधिकार जमाये रखता है। अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमेंसे इस कामरूप वैरीको शीघ्र ही निकाल देना या वहीं रोककर उसे नष्ट कर देना चाहिये; नहीं तो यह घरमें घुसे हुए चोरकी भाँति मनुष्यजीवनरूप अमूल्य धनको चुरा लेगा अर्थात् नष्ट कर देगा।

प्रश्न—यह 'काम' मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि यह 'काम' मनुष्यके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर उसकी विवेक-शक्तिको नष्ट कर देता है और भोगोंमें सुख दिखलाकर उसे पापोंमें प्रवृत्त कर देता है। जिससे मनुष्यका अधःपतन हो जाता है। इसलिये उसको शीघ्र ही सचेत हो जाना चाहिये।

यह बात एक कल्पित दृष्टान्तके द्वारा समझायी जाती है।

चेतनसिंह नामके एक राजा थे। उनके प्रधान मन्त्रीका नाम था ज्ञानसागर। प्रधान मन्त्रीके अधीनस्थ एक सहकारी मन्त्री था, उसका नाम था चञ्चलसिंह। राजा अपने मन्त्री और सहकारी मन्त्रीसहित अपनी राजधानी मध्यपुरीमें रहते थे। राज्य दस जिलोंमें बँटा हुआ था और प्रत्येक जिलेमें एक जिलाधीश अधिकारी नियुक्त था। राजा बहुत ही विचारशील, कर्मप्रवण और सुशील थे। उनके राज्यमें सभी सुखी थे। राज्य दिनोंदिन उन्नत हो रहा था। एक समय उनके राज्यमें जगमोहन नामक एक ठगोंका सरदार आया। वह बड़ा ही कुचक्री और जालसाज था, अंदर कपटरूप जहरसे भरा होनेपर भी उसकी बोली बहुत मीठी थी। वह जिससे बात करता, उसीको मोह लेता। वह आया एक व्यापारीके वेशमें और उसने जिलाधीशोंसे मिलकर उनसे राज्यभरमें अपना व्यापार चलानेकी अनुमति माँगी। जिलाधीशोंको काफी लालच दिया। वे लालचमें तो आ गये परन्तु अपने अफसरोंकी अनुमति विना कुछ कर नहीं सकते थे। जालसाज व्यापारी जगमोहनकी सलाहसे वे सब मिलकर उसे अपने अफसर सहकारी मन्त्री चञ्चलसिंहके पास ले गये; ठग व्यापारीने उसको खूब प्रलोभन दिया, फलतः चञ्चलसिंह भी जगमोहनकी मीठी-मीठी बातोंमें फँस गया। चञ्चलसिंह उसे अपने उच्च अधिकारी ज्ञानसागरके पास ले गया। ज्ञानसागर था तो बुद्धिमान्; परन्तु वह कुछ दुर्बल हृदयका था, ठीक मीमांसा करके किसी निश्चयपर नहीं पहुँचता था। इसीसे वह अपने सहकारी चञ्चलसिंह और दसों जिलाधीशोंकी बातोंमें आ जाया करता था। वे इससे अनुचित लाभ भी उठाते थे। आज चञ्चलसिंह और जिलाधीशोंकी बातोंपर विश्वास करके वह भी ठग व्यापारीके चक्करमें आ गया। उसने लाइसेंस देना स्वीकार कर लिया, पर कहा कि महाराजा चेतनसिंह-जीकी मंजूरी विना सारे राज्यके लिये लाइसेंस नहीं दिया जा सकता। आखिर ठग व्यापारीकी सलाहसे वह उसे राजाके पास ले गया। ठग बड़ा चतुर था। उसने राजाको बड़े-बड़े सब्जबाग दिखलाये। राजा भी लोभमें आ गये और उन्होंने जगमोहनको अपने राज्यमें सर्वत्र अबाध व्यापार चलाने और कोठियाँ खोलनेकी अनुमति दे दी। जगमोहनने जिला-अफसरों तथा दोनों

मन्त्रियोंको कुछ दे-लेकर सन्तुष्ट कर लिया और सारे राज्यमें अपना जाल फैला दिया। जब सर्वत्र उसका प्रभाव फैल गया, तब तो वह बिना बाधा प्रजाको लूटने लगा। जिलाधीशोंसहित दोनों मन्त्री लालचमें पड़े हुए थे ही, राजाको भी लूटका हिस्सा देकर उसने अपने वशमें कर लिया। और छल-कौशल और मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें राजाको तथा विषयलोलुप सब अफसरोंको कुमार्गगामी बनाकर उसने सबको शक्तिहीन, अकर्मण्य और दुर्व्यसनप्रिय बना दिया और चुपके-चुपके तेजीके साथ अपना बल बढ़ाकर उसने सारे राज्यपर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार राजाका सर्वस्व लूटकर अन्तमें उन्हें पकड़कर नजरकैद कर दिया।

यह दृष्टान्त है, इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिये। राजा चेतनसिंह 'जीवात्मा' है, प्रधान मन्त्री ज्ञानसागर 'बुद्धि' है, सहकारी मन्त्री चञ्चलसिंह 'मन' है, मध्यपुरी राजधानी 'हृदय' है। दसों जिलाधीश 'दस इन्द्रियाँ' हैं, दस जिले इन्द्रियोंके 'दस स्थान' हैं, ठगोंका सरदार जगमोहन 'काम' है। विषय-भोगोंके सुखका प्रलोभन ही सबको लालच देना है। विषय-भोगोंमें फँसाकर जीवात्माको सच्चे सुखके मार्गसे भ्रष्ट कर देना ही उसे लूटना है और उसके ज्ञानको आवृत करके सर्वथा मोहित कर देना और मनुष्यजीवनके परम लाभसे वञ्चित रहनेको बाध्य कर डालना ही नजर-कैद करना है।

अभिप्राय यह है कि यह कल्याणविरोधी दुर्जय शत्रु काम इन्द्रिय, मन और बुद्धिको विषयभोगरूप मिथ्या सुखका प्रलोभन देकर उन सबपर अपना अधिकार जमाकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा विषय-सुखरूप लोभसे जीवात्माके ज्ञानको ढककर उसे मोहमय संसाररूप कैदखानेमें डाल देता है। और परमात्माकी प्राप्तिरूप वास्तविक धनसे वञ्चित करके उसके अमूल्य मनुष्यजीवनका नाश कर डालता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार कामरूप वैरीके अत्याचारका और वह जहाँ छिपा रहकर अत्याचार करता है, उन वासस्थानोंका परिचय कराकर, अब भगवान् अर्जुनको उस कामरूप वैरीको मारनेकी युक्ति बतलाते हुए उसे मार डालनेके लिये आज्ञा देते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥४१॥

इसलिये हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल॥४१॥

प्रश्न—'तस्मात्' और 'आदौ'—इन दोनों पदोंका प्रयोग करके इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—'तस्मात्' पद हेतुवाचक है, इसके सहित 'आदौ' पदका प्रयोग करके इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि 'काम' ही समस्त अनर्थोंका मूल है और यह पहले इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर उनके द्वारा मन-बुद्धिको मोहित करके जीवात्माको मोहित करता है; इसके निवासस्थान मन, बुद्धि और इन्द्रिय हैं; इसलिये पहले इन्द्रियोंपर अपना अधिकार करके इस कामरूप शत्रुको अवश्य मार डालना चाहिये। इसके वासस्थानोंको रोक लेनेसे ही

इस कामरूप शत्रुको मारनेमें सुगमता होगी। अतएव पहले इन्द्रियोंको और फिर मनको रोकना चाहिये।

प्रश्न–इन्द्रियोंको किस उपायसे वशमें करना चाहिये ?

उत्तर–अभ्यास और वैराग्य, इन दो उपायोंसे इन्द्रियाँ वशमें हो सकती हैं—ये ही दो उपाय मनको वशमें करनेके लिये बतलाये गये हैं (६।३५)। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाले राजस सुखको (१८।३८) तथा निद्रा, आलस्य और प्रमादजनित तामस सुखको (१८।३९) वास्तवमें क्षणिक, नाशवान् और दुःखरूप समझकर इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंसे विरक्त रहना वैराग्य है। और परमात्माके नाम, गुण, रूप, चरित्रके श्रवण, कीर्तन, मनन आदिमें और लोकसेवाके कार्योंमें इन्द्रियोंको लगाना एवं धारण-शक्तिके द्वारा उनकी क्रियाओंको शास्त्रके अनुकूल बनाना तथा उनमें स्वेच्छाचारिताका दोष पैदा न होने देनेकी चेष्टा करना अभ्यास है। इन दोनों ही उपायोंसे इन्द्रियोंको और मनको वशमें किया जा सकता है।

प्रश्न–ज्ञान और विज्ञान—इन दोनों शब्दोंका यहाँ क्या अर्थ है और कामको इनका नाश करनेवाला बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–भगवान्‌के निर्गुण-निराकार तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'ज्ञान' तथा सगुण-निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'विज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान और विज्ञानकी यथार्थ प्राप्तिके लिये हृदयमें जो आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है, उसको यह महान् कामरूप शत्रु अपनी मोहिनी शक्तिके द्वारा नित्य-निरन्तर दबाता रहता है अर्थात् उस आकाङ्क्षाकी जागृतिसे उत्पन्न ज्ञानविज्ञानके साधनोंमें बाधा पहुँचाता रहता है, इसी कारण ये प्रकट नहीं हो पाते, इसीलिये कामको उनका नाश करनेवाला बतलाया गया है। 'नाश' शब्दके दो अर्थ होते हैं—एक तो अप्रकट कर देना और दूसरा वस्तुका अभाव कर देना; यहाँ अप्रकट कर देनेके अर्थमें ही 'नाश' शब्दका प्रयोग हुआ है, क्योंकि पूर्वश्लोकोंमें भी ज्ञानको कामसे आवृत (ढका हुआ) बतलाया गया है। ज्ञान और विज्ञानको समूल नष्ट करनेकी तो काममें शक्ति नहीं है, क्योंकि कामकी उत्पत्ति अज्ञानसे हुई है। अतः ज्ञान-विज्ञानके एक बार प्रकट हो जानेपर तो अज्ञानका ही समूल नाश हो जाता है, फिर तो ज्ञान-विज्ञानके नाशका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

सम्बन्ध–पूर्वश्लोकमें इन्द्रियोंको वशमें करके कामरूप शत्रुको मारनेके लिये कहा गया। इसपर यह शङ्का होती है कि जब इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर कामका अधिकार है और उनके द्वारा कामने जीवात्माको मोहित कर रक्खा है तो ऐसी स्थितिमें वह इन्द्रियोंको वशमें करके कामको कैसे मार सकता है। इस शङ्काको दूर करनेके लिये भगवान् आत्माके यथार्थ स्वरूपका लक्ष्य कराते हुए आत्मबलकी स्मृति कराते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है ॥ ४२ ॥

प्रश्न—इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर कहते हैं, यह बात किस आधारपर मानी जा सकती है ?

उत्तर—कठोपनिषद्में शरीरको रथ और इन्द्रियोंको घोड़े बतलाया है (१ । ३ । ३, ४); रथकी अपेक्षा घोड़े श्रेष्ठ और चेतन हैं एवं रथको अपने इच्छानुसार ले जा सकते हैं। इसी तरह स्थूल शरीर देखनेमें आता है, इन्द्रियाँ देखनेमें नहीं आतीं; इसलिये वे इससे सूक्ष्म हैं। इन्द्रियाँ ही स्थूल देहको चाहे जहाँ ले जाती हैं, अतः उससे बलवान् और चेतन हैं।

इसके सिवा स्थूल शरीरकी अपेक्षा इन्द्रियोंकी श्रेष्ठता, सूक्ष्मता और बलवत्ता प्रत्यक्ष भी देखनेमें आती हैं।

प्रश्न—कठोपनिषद् (१ । ३ । १०, ११) में कहा है कि इन्द्रियोंकी अपेक्षा अर्थ पर हैं, अर्थोंकी अपेक्षा मन पर है, मनसे बुद्धि पर है, बुद्धिसे महत्तत्त्व पर है, समष्टिबुद्धिरूप महत्तत्त्वसे अव्यक्त पर है और अव्यक्तसे पुरुष पर है; इस पुरुषसे पर अर्थात् श्रेष्ठ और सूक्ष्म कुछ भी नहीं है। यही सबकी अन्तिम सीमा है और यही परम गति है। परन्तु यहाँ भगवान्‌ने अर्थ, महत्तत्त्व और अव्यक्तको छोड़कर कहा है, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌ने यहाँ इस प्रकरणका वर्णन साररूपसे किया है, इसलिये उन तीनोंका नाम नहीं लिया; क्योंकि कामको मारनेके लिये अर्थ, महत्तत्त्व और अव्यक्तकी श्रेष्ठता बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं, केवल आत्माका ही महत्त्व दिखलाना है।

प्रश्न—कठोपनिषद्में इन्द्रियोंकी अपेक्षा अर्थोंको श्रेष्ठ कैसे बतलाया ?

उत्तर—यहाँ 'अर्थ' शब्दका अभिप्राय इन्द्रियोंकी कारणरूपा पञ्चतन्मात्राएँ हैं; तन्मात्राएँ इन्द्रियोंसे सूक्ष्म और उनकी कारण हैं, इसलिये उनको पर कहना उचित ही है।

प्रश्न—यहाँ भगवान्‌ने इन्द्रियोंकी अपेक्षा मनको और मनकी अपेक्षा बुद्धिको पर अर्थात् श्रेष्ठ, सूक्ष्म और बलवान् बतलाया है, किन्तु दूसरे अध्यायमें कहा है कि 'यत्न करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं (२।६०)' तथा यह भी कहा है कि 'विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे जिसके साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय मनुष्यकी बुद्धिको हर लेती है (२।६७)।' इन वचनोंसे मनकी अपेक्षा इन्द्रियोंकी प्रबलता सिद्ध होती है और बुद्धिकी अपेक्षा भी मनकी सहायतासे इन्द्रियोंकी प्रबलता सिद्ध होती है। इस प्रकार पूर्वापरमें विरोध-सा प्रतीत होता है, इसका समाधान करना चाहिये।

उत्तर—कठोपनिषद्में रथके दृष्टान्तसे यह विषय भलीभाँति समझाया गया है; वहाँ कहा है कि आत्मा रथी है, बुद्धि उसका सारथी है, शरीर रथ है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और शब्दादि विषय ही मार्ग हैं।* यद्यपि वास्तवमें रथीके अधीन सारथी,

* आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
(कठ० उ० १ । ३ । ३-४)

'तू आत्माको रथी और शरीरको रथ जान तथा बुद्धिको सारथि और मनको लगाम समझ। विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको घोड़े बतलाते हैं और विषयोंको उनके मार्ग कहते हैं, तथा शरीर, इन्द्रिय एवं मनसे युक्त आत्माको 'भोक्ता' कहते हैं।'

भोगोंकी ओर—
न वशमें किये हुए बुद्धि-मन-शरीर



भगवान्‌की ओर—
वशमें किये हुए बुद्धि-मन-शरीर



इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ (३ । ४२)

सारथीके अधीन लगाम और लगामके अधीन घोड़ोंका होना ठीक ही है; तथापि जिसका बुद्धिरूप सारथी विवेकज्ञानसे सर्वथा शून्य है, मनरूप लगाम जिसकी नियमानुसार पकड़ी हुई नहीं है, ऐसे जीवात्मारूप रथीके इन्द्रियरूप घोड़े उच्छृङ्खल होकर उसे दुष्ट घोड़ोंकी भाँति बलात्कारसे उल्टे (विषय) मार्गमें ले जाकर गड्ढेमें डाल देते हैं।* इससे यह सिद्ध होता है कि जबतक बुद्धि, मन और इन्द्रियोंपर जीवात्माका आधिपत्य नहीं होता, वह अपने सामर्थ्यको भूलकर उनके अधीन हुआ रहता है, तभीतक इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिको धोखा देकर सबको बलात्कारसे उल्टे मार्गमें घसीटती हैं अर्थात् इन्द्रियाँ पहले मनको विषयसुखका प्रलोभन देकर उसे अपने अनुकूल बना लेती हैं, मन और इन्द्रियाँ मिलकर बुद्धिको अपने अनुकूल बना लेते हैं और ये सब मिलकर आत्माको भी अपने अधीन कर लेते हैं; परन्तु वास्तवमें तो इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन, मनकी अपेक्षा बुद्धि और सबकी अपेक्षा आत्मा ही बलवान् है; इसलिये वहाँ (कठोपनिषद्में) कहा है कि जिसका बुद्धिरूप सारथी विवेकशील है, मनरूप लगाम जिसकी नियमानुसार अपने अधीन है, उसके इन्द्रियरूप घोड़े भी श्रेष्ठ घोड़ोंकी भाँति वशमें होते हैं तथा ऐसे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंवाला पवित्रात्मा मनुष्य उस परमपदको पाता है, जहाँ जाकर वह वापस नहीं लौटता†। गीताके छठे अध्यायमें भी जीते हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे युक्त अपने आत्माको मित्र और विना जीते हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियोंवालेको अपने शत्रुके समान बतलाया है (६।६)। अतः विना जीती हुई इन्द्रियाँ वास्तवमें मन-बुद्धिकी अपेक्षा निर्बल होती हुई भी प्रबल हुई रहती हैं, इस आशयसे दूसरे अध्यायका कथन है और यहाँ उनकी वास्तविक स्थिति बतलायी गयी है। अतएव पूर्वापरमें कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'परतः' पदका अर्थ 'अत्यन्त पर' किया गया है; इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—कठोपनिषद्में जहाँ यह विषय आया है,

---

* यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥
(क० उ० १।३।५)

'किन्तु जो बुद्धिरूप सारथी सर्वदा अविवेकी और असंयत चित्तसे युक्त होता है, उसके अधीन इन्द्रियाँ वैसे ही नहीं रहतीं, जैसे सारथीके अधीन दुष्ट घोड़े।'

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥
(क० उ० १।३।७)

'और जो (बुद्धिरूपी सारथी) विज्ञानवान् नहीं है, जिसका मन निगृहीत नहीं है और जो सदा अपवित्र है, वह उस पदको प्राप्त नहीं कर सकता वरं वह संसारको ही प्राप्त होता है।'

† यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
(क० उ० १।३।६)

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥
(क० उ० १।३।८)

'परन्तु जो बुद्धिरूपी सारथी विवेकशील (कुशल) तथा सदा समाहितचित्त है, उसके अधीन इन्द्रियाँ वैसे ही रहती हैं, जैसे सारथीके अधीन उत्तम शिक्षित घोड़े।'

'तथा जो विज्ञानवान् है, निगृहीत मनवाला है और सदा पवित्र रहता है, वह उस पदको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे फिर वह उत्पन्न नहीं होता यानी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता।'

वहाँ बुद्धिसे पर महत्तत्त्वको, उससे पर अव्यक्तको और अव्यक्तसे भी पर पुरुषको बतलाया गया है तथा यह भी कहा गया है कि यही पराकाष्ठा है—परत्वकी अन्तिम अवधि है, इससे पर कुछ भी नहीं है।* उसी श्रुतिके भावको स्पष्ट दिखलानेके लिये यहाँ 'परतः'का 'अत्यन्त पर' अर्थ किया गया है। आत्मा सबका आधार, कारण, प्रकाशक और प्रेरक तथा सूक्ष्म, व्यापक, श्रेष्ठ और बलवान् होनेके कारण उसे 'अत्यन्त पर' कहना उचित ही है।

प्रश्न—यहाँ 'काम' का प्रकरण चल रहा है। अगले श्लोकमें भी कामको मारनेके लिये भगवान् कहते हैं। अतः इस श्लोकमें आया हुआ 'सः' कामका वाचक मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—यहाँ कामको मारनेका प्रकरण अवश्य है, परन्तु उसे श्रेष्ठ बतलानेका प्रकरण नहीं है। उसे मारनेकी शक्ति आत्मामें मौजूद है। मनुष्य यदि अपने आत्मबलको समझ जाय तो वह बुद्धि, मन और इन्द्रियोंपर सहज ही अपना पूर्ण अधिकार स्थापन करके कामको मार सकता है, इस बातको समझानेके लिये इस श्लोककी प्रवृत्ति हुई है। यदि इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे 'काम' को अत्यन्त श्रेष्ठ माना जायगा तो उनके द्वारा कामको मारनेके लिये कहना ही असङ्गत होगा। इसके सिवा 'सः' पदका अर्थ काम मानना कठोपनिषद्के वर्णनसे भी विरुद्ध पड़ेगा। अतः यहाँ 'सः' पद कामका वाचक नहीं है, किन्तु दूसरे अध्यायमें जिसका लक्ष्य करके कहा है कि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' उस परतत्त्वका अर्थात् नित्य शुद्ध-बुद्धस्वरूप आत्माका ही वाचक है।

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्माके स्वरूपका वर्णन करके अब भगवान् पूर्वश्लोकके वर्णनानुसार आत्माको सर्वश्रेष्ठ समझकर कामरूप वैरीको मारनेके लिये आज्ञा देते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ॥ ४३ ॥

प्रश्न—यहाँ बुद्धिसे पर आत्माको समझकर कामको मारनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—मनुष्योंका ज्ञान अनादिकालसे अज्ञान-द्वारा आवृत हो रहा है; इस कारण वे अपने

---

* इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
(क० उ० १।३।१०-११)

'इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप तन्मात्राएँ) पर (श्रेष्ठ, सूक्ष्म और बलवान्) हैं, अर्थोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) पर है। महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूल प्रकृति) पर है और अव्यक्तसे पुरुष पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है, वही पराकाष्ठा (अन्तिम अवधि) है और वही परम गति है।'

आत्मस्वरूपको भूले हुए हैं, स्वयं सबसे श्रेष्ठ होते हुए भी अपनी शक्तिको भूलकर कामरूप वैरीके वशमें हो रहे हैं। लोकप्रसिद्धिसे और शास्त्रोंद्वारा सुनकर भी लोग आत्माको वास्तवमें सबसे श्रेष्ठ नहीं मानते; यदि आत्मस्वरूपको भलीभाँति समझ लें तो रागरूप कामका सहज ही नाश हो जाय। अतएव आत्मस्वरूपको समझना ही इसे मारनेका प्रधान उपाय है। इसीलिये भगवान्‌ने आत्माको बुद्धिसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ समझकर कामको मारनेके लिये कहा है। आत्मतत्त्व बहुत ही गूढ़ है। महापुरुषोंद्वारा समझाये जानेपर कोई सूक्ष्मदर्शी मनुष्य ही इसे समझ सकता है। कठोपनिषद्‌में कहा है कि 'सब भूतोंके अंदर छिपा हुआ यह आत्मा उनके प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल सूक्ष्मदर्शी पुरुष ही अत्यन्त तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिद्वारा इसे प्रत्यक्ष कर सकते हैं।'*

प्रश्न–यहाँ 'आत्मानम्' का अर्थ मन और 'आत्मना' का अर्थ 'बुद्धि' किस कारणसे किया गया है?

उत्तर–शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीव—इन सभीका वाचक आत्मा है। उनमेंसे सर्वप्रथम इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये ४१वें श्लोकमें कहा जा चुका। शरीर इन्द्रियोंके अन्तर्गत आ ही गया, जीवात्मा स्वयं वशमें करनेवाला है। अब बचे मन और बुद्धि, बुद्धिको मनसे बलवान् कहा है; अतः इसके द्वारा मनको वशमें किया जा सकता है। इसीलिये 'आत्मानम्' का अर्थ 'मन' और 'आत्मना' का अर्थ 'बुद्धि' किया गया है।

प्रश्न–बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करनेकी क्या रीति है?

उत्तर–भगवान्‌ने छठे अध्यायमें मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बतलाये हैं (६।३५)। प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें मनुष्यका स्वाभाविक राग-द्वेष रहता है, विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होते समय जब-जब राग-द्वेषका अवसर आवे तब-तब बड़ी सावधानीके साथ बुद्धिसे विचार करते हुए राग-द्वेषके वशमें न होनेकी चेष्टा रखनेसे शनैः-शनैः राग-द्वेष कम होते चले जाते हैं। यहाँ बुद्धिसे विचार कर इन्द्रियोंके भोगोंमें दुःख और दोषोंका बार-बार दर्शन कराकर मनकी उनमें अरुचि उत्पन्न कराना वैराग्य है और व्यवहारकालमें स्वार्थके त्यागकी और ध्यानके समय मनको परमेश्वरके चिन्तनमें लगानेकी चेष्टा रखना और मनको भोगोंकी प्रवृत्तिसे हटाकर परमेश्वरके चिन्तनमें बारबार नियुक्त करना अभ्यास है।

प्रश्न–जब कि आत्मा स्वयं सबसे प्रबल है तब बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके कामको मारनेके लिये भगवान्‌ने कैसे कहा? आत्मा स्वयं ही कामरूप महान् वैरीको मार सकता है।

उत्तर–अवश्य ही आत्मामें अनन्त बल है, वह कामको मार सकता है। वस्तुतः उसीके बलको पाकर सब बलवान् और क्रियाशील होते हैं; परन्तु वह अपने महान् बलको भूल रहा है और जैसे प्रबल शक्तिशाली सम्राट् अज्ञानवश अपने बलको भूलकर अपनी अपेक्षा सर्वथा बलहीन क्षुद्र नौकर-चाकरोंके अधीन होकर उनकी हाँ-में-हाँ मिला देता है, वैसे ही आत्मा भी अपनेको बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अधीन मानकर उनके कामप्रेरित उच्छृङ्खलतापूर्ण मनमाने कार्योंमें मूक अनुमति दे रहा है। इसीसे उन बुद्धि, मन और

* एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥
(क० उ० १।३।१२)

इन्द्रियोंके अंदर छिपा हुआ काम जीवात्माको विषयोंका प्रलोभन देकर उसे संसारमें फँसाता रहता है। यदि आत्मा अपने स्वरूपको समझकर, अपनी शक्तिको पहचानकर बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको रोक ले, उन्हें मनमाना कार्य करनेकी अनुमति न दे और चोरकी तरह बसे हुए कामको निकाल-बाहर करनेके लिये बलपूर्वक आज्ञा दे दे, तो, न मन, बुद्धि और इन्द्रियोंकी शक्ति है कि वे कुछ कर सकें और न काममें ही सामर्थ्य है कि वह क्षणभरके लिये भी वहाँ टिक सके। सचमुच यह आश्चर्य ही है कि आत्मासे ही सत्ता, स्फूर्ति और शक्ति पाकर, उसीके बलसे बलवान् होकर ये सब उसीको दबाये हुए हैं और मनमानी कर रहे हैं। अतएव यह आवश्यक है कि आत्मा अपने स्वरूपको और अपनी शक्तिको पहचानकर बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको वशमें करे। काम इन्हींमें बसता है और ये उच्छृङ्खल हो रहे हैं। इनको वशमें कर लेनेपर काम सहज ही मर सकता है। कामको मारनेका वस्तुतः अक्रिय आत्माके लिये यही तरीका है। इसीलिये बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके कामको मारनेके लिये कहा गया है।

प्रश्न—कामरूप वैरीको दुर्जय बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वस्तुतः काममें कोई बल नहीं है। यह आत्माके बलसे बलवान् हुए बुद्धि, मन और इन्द्रियोंमें रहनेके लिये जगह पा जानेके कारण ही उनके बलसे बलवान् हो गया है तथा जबतक बुद्धि, मन और इन्द्रिय अपने वशमें नहीं हो जाते तबतक उनके द्वारा आत्माका बल कामको प्राप्त होता रहता है। इसीलिये काम अत्यन्त प्रबल माना जाता है और इसीलिये उसे 'दुर्जय' कहा गया है; परन्तु कामका यह दुर्जयत्व तभीतक है जबतक आत्मा अपने स्वरूपको पहचानकर बुद्धि, मन और इन्द्रियको अपने वशमें न कर ले।

प्रश्न—यहाँ 'महाबाहो' सम्बोधन किस अभिप्रायसे दिया गया है ?

उत्तर—'महाबाहो' शब्द बड़ी भुजावाले बलवान्का वाचक है और यह शौर्यसूचक शब्द है। भगवान् श्रीकृष्ण कामको 'दुर्जय' बतलाकर उसे मारनेकी आज्ञा देते हुए अर्जुनको 'महाबाहो' नामसे सम्बोधित कर आत्माके अनन्त बलकी याद दिला रहे हैं और साथ ही यह भी सूचित कर रहे हैं कि 'समस्त अनन्ताचिन्त्य दिव्य शक्तियोंका अनन्त भाण्डार मैं,—जिसकी शक्तिका क्षुद्र-सा अंश पाकर देवता और लोकपाल समस्त विश्वका सञ्चालन करते हैं और जिसकी शक्तिके करोड़वें कलांश-भागको पाकर जीव अनन्त-शक्तिवाला बन सकता है—वह स्वयं मैं जब तुम्हें कामको मारनेमें समर्थ शक्तिसम्पन्न मानकर आज्ञा दे रहा हूँ, तब काम कितना ही दुर्जय और दुर्धर्ष वैरी क्यों न हो, तुम बड़ी आसानीसे उसे मारकर उसपर विजय प्राप्त कर सकते हो।' इसी अभिप्रायसे यह सम्बोधन दिया गया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

चतुर्थोऽध्यायः

अध्यायका नाम

यहाँ 'ज्ञान' शब्द परमार्थ-ज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञानका, 'कर्म' शब्द कर्मयोग अर्थात् कर्ममार्गका और 'संन्यास' शब्द सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानमार्गका वाचक है; विवेकज्ञान और शास्त्रज्ञान भी 'ज्ञान' शब्दके अन्तर्गत हैं। इस चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने अपने अवतरित होनेके रहस्य और तत्त्वके सहित कर्मयोग तथा संन्यासयोगका और इन सबके फलस्वरूप जो परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान है, उसका वर्णन किया है; इसलिये इस अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें कर्मयोगकी परम्परा बतलाकर तीसरे श्लोकमें उसकी प्रशंसा की गयी है। चौथे श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से जन्मविषयक प्रश्न किया है, इसपर भगवान्‌ने पाँचवेंमें अपने और अर्जुनके बहुत जन्म होनेकी बात कहकर छठे, सातवें और आठवें श्लोकोंमें अपने अवतारके तत्त्व, रहस्य, समय और निमित्तोंका वर्णन किया है। नवें और दसवें श्लोकोंमें भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझनेका और भगवान्‌के आश्रित होनेका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है। ग्यारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने 'मुझको जो जैसे भजता है, वैसे ही उसको मैं भजता हूँ' यह बात कही है। बारहवेंमें अन्य देवताओंकी उपासनाका लौकिक फल शीघ्र प्राप्त होनेका वर्णन किया है। तेरहवेंमें भगवान्‌ने अपनेको समस्त जगत्‌का कर्त्ता होते हुए भी अकर्ता समझनेके लिये कहकर चौदहवेंमें अपने कर्मोंकी दिव्यता और उसके जाननेका फल कर्मोंसे न बँधना बतलाते हुए पन्द्रहवेंमें भूतकालीन मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर अर्जुनको निष्कामभावसे कर्म करनेकी आज्ञा दी है। सोलहवेंसे अठारहवें श्लोकतक कर्मोंका रहस्य बतलानेकी प्रतिज्ञा करके कर्मोंके तत्त्वको दुर्विज्ञेय कहकर कर्मोंमें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेवालेकी प्रशंसा की है और उन्नीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म दर्शन करनेवाले महापुरुषोंके और साधकोंके भिन्न-भिन्न लक्षण और आचरणोंका वर्णन करते हुए उनकी प्रशंसा की है। चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक ब्रह्मयज्ञ, दैवयज्ञ और अभेददर्शनरूप यज्ञ आदि यज्ञोंका वर्णन करके सभी यज्ञकर्त्ताओंको यज्ञवेत्ता और निष्पाप बतलाया है तथा इकतीसवें श्लोकमें उन यज्ञोंसे बचे हुए अमृतमय भोजनके फलस्वरूप सनातन ब्रह्मके प्राप्त होनेकी और यज्ञ न करनेवालेके लिये दोनों लोकोंमें सुख न होनेकी बात कही गयी है। बत्तीसवेंमें उपर्युक्त प्रकारके सभी यज्ञोंको क्रियाद्वारा सम्पादित होनेयोग्य बतलाकर तैंतीसवें श्लोकमें द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञको उत्तम बतलाया है। चौंतीसवें और पैंतीसवेंमें अर्जुनको ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर तत्त्वज्ञान सीखनेकी बात कहकर तत्त्वज्ञानकी प्रशंसा की है। छत्तीसवेंमें ज्ञाननौकाद्वारा पापसमुद्रसे पार होना बतलाया है। सैंतीसवेंमें ज्ञानको अग्निकी भाँति कर्मोंको भस्म करनेवाला बतलाकर, अड़तीसवेंमें ज्ञानकी महान् पवित्रताका वर्णन करते हुए शुद्धान्तःकरण कर्मयोगीको अपने-आप तत्त्वज्ञानके मिलनेकी बात कही है। उनचालीसवेंमें

श्रद्धादि गुणोंसे युक्त पुरुषको ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी और ज्ञानका फल परम शान्ति बतलाकर चालीसवेंमें अज्ञ, अश्रद्धालु और संशयात्मा पुरुषकी निन्दा करते हुए इकतालीसवेंमें संशयरहित कर्मयोगीके कर्मबन्धनसे मुक्त होनेकी बात कही है और बियालीसवेंमें अर्जुनको ज्ञान-खड्गद्वारा अज्ञानजनित संशयका सर्वथा नाश करके कर्मयोगमें डटे रहनेके लिये आज्ञा देते हुए युद्ध करनेकी प्रेरणा करके इस अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—तीसरे अध्यायके ४थे श्लोकसे लेकर २९वें श्लोकतक भगवान्‌ने बहुत प्रकारसे विहित कर्मोंके आचरणकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके ३०वें श्लोकमें अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोगकी विधिसे ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके भगवदर्पणबुद्धिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी। उसके बाद ३१वेंसे ३५वें श्लोकतक उस सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेवालोंकी प्रशंसा और न करनेवालोंकी निन्दा करके राग-द्वेषके वशमें न होनेके लिये कहते हुए स्वधर्मपालनपर जोर दिया। फिर ३६वें श्लोकमें अर्जुनके पूछनेपर ३७वेंसे अध्यायसमाप्तिपर्यन्त कामको सारे अनर्थोंका हेतु बतलाकर बुद्धिके द्वारा इन्द्रियों और मनको वशमें करके उसे मारनेकी आज्ञा दी; परन्तु कर्मयोगका तत्त्व बड़ा ही गहन है, इसलिये अब भगवान् पुनः उसके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें बतलानेके उद्देश्यसे उसीका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले तीन श्लोकोंमें उस कर्मयोगकी परम्परा बतलाकर उसकी अनादिता सिद्ध करते हुए प्रशंसा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा॥ १॥

प्रश्न—यहाँ 'इमम्' विशेषणके सहित 'योगम्' पद किस योगका वाचक है—कर्मयोगका या सांख्ययोगका?

उत्तर—दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकमें कर्मयोगका वर्णन आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने उस अध्यायके अन्ततक कर्मयोगका भलीभाँति प्रतिपादन किया। इसके बाद तीसरे अध्यायमें अर्जुनके पूछनेपर कर्म करनेकी आवश्यकतामें बहुत-सी युक्तियाँ बतलाकर तीसवें श्लोकमें उन्हें भक्तिसहित कर्मयोगके अनुसार युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी और इस कर्मयोगमें मनको वशमें करना बहुत आवश्यक समझकर अध्यायके अन्तमें भी बुद्धिद्वारा मनको वशमें करके कामरूप शत्रुको मारनेके लिये कहा।

इससे मालूम होता है कि तीसरे अध्यायके अन्ततक कर्मयोगका ही अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित प्रतिपादन किया गया है और 'इमम्' पद, जिसका प्रकरण चल रहा हो, उसीका वाचक होना चाहिये। अतएव यह समझना चाहिये कि यहाँ 'इमम्' विशेषण-के सहित 'योगम्' पद 'कर्मयोग' का ही वाचक है।

सूर्यको उपदेश



इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । (४ । १)

इसके सिवा इस योगकी परम्परा बतलाते हुए भगवान्‌ने यहाँ जिन 'सूर्य' और 'मनु' आदिके नाम गिनाये हैं, वे सब गृहस्थ और कर्मयोगी ही हैं तथा इस अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें भूतकालीन मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर भी भगवान्‌ने अर्जुनको कर्म करनेके लिये आज्ञा दी है, इससे भी यहाँ 'इमम्' विशेषणके सहित 'योगम्' पदको कर्मयोगका ही वाचक मानना उपयुक्त मालूम होता है ।

प्रश्न–तीसरे अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने 'आत्मानम् आत्मना संस्तभ्य'—आत्माके द्वारा आत्माको निरुद्ध करके—इस कथनसे मानो समाधिस्थ होनेके लिये कहा है और 'युज समाधौ' के अनुसार 'योग' शब्दका अर्थ भी समाधि होता ही है; अतः यहाँ योगका अर्थ मन-इन्द्रियोंका संयम करके समाधिस्थ हो जाना मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर–वहाँ भगवान्‌ने आत्माके द्वारा आत्माको निरुद्ध करके अर्थात् बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके कामरूप दुर्जय शत्रुका नाश करनेके लिये आज्ञा दी है। कर्मयोगमें निष्काम भाव ही मुख्य है, वह कामका नाश करनेसे ही सिद्ध हो सकता है तथा मन और इन्द्रियोंको वशमें करना कर्मयोगीके लिये परमावश्यक माना गया है (२।६४)। अतएव बुद्धिके द्वारा मन-इन्द्रियोंको वशमें करना और कामको मारना—ये सब कर्मयोगके ही अङ्ग हैं और उपर्युक्त प्रथम प्रश्नके उत्तरके अनुसार वहाँ भगवान्‌का कहना कर्मयोगका साधन करनेके लिये ही है, इसलिये यहाँ योगका अर्थ हठयोग या समाधियोग न मानकर कर्मयोग ही मानना चाहिये ।

प्रश्न–इस योगको मैंने सूर्यसे कहा था, सूर्यने मनुसे कहा और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा—यहाँ इस बातके कहनेका क्या उद्देश्य है ?

उत्तर–मालूम होता है कि इस योगकी परम्परा बतलानेके लिये, एवं यह योग सबसे प्रथम इस लोकमें क्षत्रियोंको प्राप्त हुआ था–यह दिखलाने तथा कर्मयोगकी अनादिता सिद्ध करनेके लिये ही भगवान्‌ने ऐसा कहा है ।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

हे परन्तप अर्जुन ! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना, किन्तु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया ॥ २ ॥

प्रश्न–इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि एक दूसरेसे शिक्षा पाकर कई पीढ़ियोंतक श्रेष्ठ राजा-लोग इस कर्मयोगका आचरण करते रहे; उस समय इसका रहस्य समझनेमें बहुत ही सुगमता थी, परन्तु अब वह बात नहीं रही ।

प्रश्न–'राजर्षि' किसको कहते हैं ?

उत्तर–जो राजा भी हो और ऋषि भी हो अर्थात् जो राजा होकर वेदमन्त्रोंके अर्थका तत्त्व जाननेवाला हो, उसे 'राजर्षि' कहते हैं ।

प्रश्न–इस योगको राजर्षियोंने जाना, इस कथनका क्या यह अभिप्राय है कि दूसरोंने उसे नहीं जाना ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इसमें दूसरोंके जाननेका निषेध नहीं किया गया है। हाँ, इतना अवश्य है कि कर्मयोगका तत्त्व समझनेमें राजर्षियोंकी प्रधानता मानी गयी है; इसीसे इतिहासोंमें यह बात मिलती है कि दूसरे लोग भी कर्मयोगका तत्त्व राजर्षियोंसे सीखा करते थे। अतएव यहाँ भगवान्‌के कहनेका यही अभिप्राय माळूम होता है कि राजालोग पहलेहीसे इस कर्मयोगका अनुष्ठान करते आये हैं और तुम भी राजवंशमें उत्पन्न हो, इसलिये तुम्हारा भी इसीमें अधिकार है और यही तुम्हारे लिये सुगम भी होगा।

प्रश्न—बहुत कालसे वह योग इस लोकमें प्रायः नष्ट हो गया, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जबतक वह परम्परा चलती रही तबतक तो कर्मयोगका इस पृथ्वीलोकमें प्रचार रहा। उसके बाद ज्यों-ज्यों लोगोंमें भोगोंकी आसक्ति बढ़ने लगी त्यों-ही-त्यों कर्मयोगके अधिकारियोंकी संख्या घटती गयी; इस प्रकार ह्रास होते-होते अन्तमें कर्मयोगकी वह कल्याणमयी परम्परा नष्ट हो गयी; इसलिये उसके तत्त्वको समझनेवाले और धारण करनेवाले लोगोंका इस लोकमें बहुत काल पहलेसे ही प्रायः अभाव-सा हो गया है।

प्रश्न—पहले श्लोकमें तो 'योगम्' के साथ 'अव्ययम्' विशेषण देकर इस योगको अविनाशी बतलाया और यहाँ कहते हैं कि वह नष्ट हो गया; इस परस्परविरोधी कथनका क्या अर्थ है? यदि वह अविनाशी है, तो उसका नाश नहीं होना चाहिये और यदि नाश होता है, तो वह अविनाशी नहीं हो सकता। अतएव इसका समाधान करना चाहिये।

उत्तर—परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं—सभी नित्य हैं; इनका कभी अभाव नहीं होता। जब परमेश्वर नित्य हैं, तब उनकी प्राप्तिके लिये उन्हींके द्वारा निश्चित किये हुए अनादि नियम अनित्य नहीं हो सकते। जब-जब जगत्‌का प्रादुर्भाव होता है, तब-तब भगवान्‌के समस्त नियम भी साथ-ही-साथ प्रकट हो जाते हैं और जब जगत्‌का प्रलय होता है, उस समय नियमोंका भी तिरोभाव हो जाता है; परन्तु उनका अभाव कभी नहीं होता। इस प्रकार इस कर्मयोगकी अनादिता सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकमें उसे अविनाशी कहा गया है। अतएव इस श्लोकमें जो यह बात कही गयी कि वह योग बहुत कालसे नष्ट हो गया है—इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि बहुत समयसे इस पृथ्वीलोकमें उसका तत्त्व समझनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंका अभाव-सा हो गया है, इस कारण वह अप्रकाशित हो गया है, उसका इस लोकमें तिरोभाव हो गया है; यह नहीं कि उसका अभाव हो गया है, क्योंकि सत् वस्तुका कभी अभाव नहीं होता। सृष्टिके आदिमें पूर्वश्लोकके कथनानुसार भगवान्‌से इसका प्रादुर्भाव होता है; फिर बीचमें विभिन्न कारणोंसे कभी उसका अप्रकाश होता है तथा कभी प्रकाश और विकास! यों होते-होते प्रलयके समय वह अखिल जगत्‌के सहित भगवान्‌में ही विलीन हो जाता है। इसीको नष्ट या अदृश्य होना कहते हैं; वास्तवमें वह अविनाशी है, अतएव उसका कभी अभाव नहीं होता।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह योग बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य विषय है ॥ ३ ॥

प्रश्न—तू मेरा भक्त और सखा है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि शरणागतिके साथ व्याकुलताभरी जिज्ञासाने तुमको अधिकारी बना दिया, यह तो ठीक ही है; परन्तु तुम तो मेरे चिरकालके अनुगत भक्त और प्रिय सखा हो; अतएव तुम तो विशेष अधिकारी हो। इसलिये अब मैं तुमसे कुछ भी छिपा न रक्खूँगा।

प्रश्न—वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यमें 'सः एव' और 'पुरातनः'—इन पदोंके प्रयोगसे इस योगकी अनादिता सिद्ध की गयी है; 'ते' पदसे अर्जुनके अधिकारका निरूपण किया गया है और 'अद्य' पदसे इस योगके उपदेशका अवसर बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस योगको मैंने पहले सूर्यसे कहा था और जिसकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है, उसी पुरातन योगको आज इस युद्धक्षेत्रमें तुम्हें अत्यन्त व्याकुल और अनन्य-शरण जानकर तथा सुयोग्य अधिकारी समझकर शोककी निवृत्तिपूर्वक कल्याणकी प्राप्ति करानेके लिये मैंने तुमसे कहा है। शरणागतिके साथ-साथ अन्तस्तलकी व्याकुलताभरी जिज्ञासा ही एक ऐसी साधना है जो मनुष्यको परम-गुरु भगवान्‌के द्वारा हितोपदेश प्राप्त करनेका अधिकारी बना देती है। तुमने आज अपने इस अधिकारको सचमुच सिद्ध कर दिया (२ । ७); ऐसा पहले कभी नहीं किया था। इसीसे मैंने तुम्हारे सामने यह रहस्य खोला है।

प्रश्न—यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह योग सब प्रकारके दुःखोंसे और बन्धनोंसे छुड़ाकर परमानन्दस्वरूप मुझ परमेश्वरको सुगमतापूर्वक प्राप्त करा देनेवाला है, इसलिये अत्यन्त ही उत्तम और बहुत ही गोपनीय है; अनधिकारीके सामने यह कदापि प्रकट नहीं किया जाता। तुमको परम अधिकारी समझकर ही इसका उपदेश किया गया है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त वर्णनसे मनुष्यको स्वाभाविक ही यह शङ्का हो सकती है कि भगवान् श्रीकृष्ण तो अभी द्वापरयुगमें प्रकट हुए हैं और सूर्यदेव, मनु एवं इक्ष्वाकु बहुत पहले हो चुके हैं; तब इन्होंने इस योगका उपदेश सूर्यके प्रति कैसे दिया ? अतएव इसके समाधानके साथ ही भगवान्‌के अवतार-तत्त्वको भलीप्रकार समझनेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अर्वाचीन—अभी हालका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्पके आदिमें हो चुका था; तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपहीने कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था ? ॥ ४ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यद्यपि अर्जुन इस बातको पहलेहीसे जानते थे कि श्रीकृष्ण कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, बल्कि दिव्य मानवरूपमें प्रकट सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही हैं; क्योंकि उन्होंने राजसूय यज्ञके समय भीष्मजीसे भगवान्‌की महिमा सुनी थी (महा० सभा० ३८ । २३) और अन्य ऋषियोंसे भी इस विषयकी बहुत बातें सुन रक्खी थीं । इसीसे वनमें उन्होंने स्वयं भगवान्‌से उनके महत्त्वकी चर्चा की थी (महा० वन० १२) । इसके सिवा शिशुपाल आदिके वध करनेमें और अन्यान्य घटनाओंमें भगवान्‌का अद्भुत प्रभाव भी उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था । तथापि भगवान्‌के मुखसे उनके अवतारका रहस्य सुननेकी और सर्व-साधारणके मनमें होनेवाली शङ्काओंको दूर करानेकी इच्छासे यहाँ अर्जुनका प्रश्न है । अर्जुनके पूछनेका भाव यह है कि आपका जन्म हालमें कुछ ही वर्षों पूर्व श्रीवसुदेवजीके घर हुआ है, इस बातको प्रायः सभी जानते हैं और सूर्यकी उत्पत्ति सृष्टिके आदिमें अदितिके गर्भसे हुई थी; ऐसी स्थितिमें इसका रहस्य समझे विना यह असम्भव-सी बात कैसे मानी जा सकती है कि आपने यह योग सूर्यसे कहा था। अतएव कृपा करके मुझे इसका रहस्य समझाकर कृतार्थ कीजिये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर अपने अवतार-तत्त्वका रहस्य समझानेके लिये अपनी सर्वज्ञता प्रकट करते हुए भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे परन्तप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं । उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ ॥ ५ ॥

प्रश्न—मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं और तुम अभी हुए हैं, पहले नहीं थे—ऐसी बात नहीं है । हमलोग अनादि और नित्य हैं । मेरा नित्य स्वरूप तो है ही; उसके अतिरिक्त मैं मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह और वामन आदि अनेक रूपोंमें पहले प्रकट हो चुका हूँ । मेरा यह वसुदेवके घरमें होनेवाला प्राकट्य अर्वाचीन होनेपर भी इसके पहले होनेवाले अपने विविध रूपोंमें मैंने न मालूम कितने पुरुषोंको कितने प्रकारके उपदेश दिये हैं । इसलिये मैंने जो यह बात कही है कि यह योग पहले सूर्यसे मैंने ही कहा था, इसमें तुम्हें कोई आश्चर्य और असम्भावना नहीं माननी चाहिये; इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि कल्पके आदिमें मैंने नारायणरूपसे सूर्यको यह योग कहा था ।

प्रश्न—उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनमें भगवान्‌ने अपनी सर्वज्ञताका और जीवोंकी अल्पज्ञताका दिग्दर्शन कराया है । भाव

यह है कि मैंने किन-किन कारणोंसे किन-किन रूपोंमें प्रकट होकर किस-किस समय क्या-क्या लीलाएँ की हैं, उन सबको तुम सर्वज्ञ न होनेके कारण नहीं जानते; तुम्हें मेरे और अपने पूर्वजन्मोंकी स्मृति नहीं है, इसी कारण तुम इस प्रकार प्रश्न कर रहे हो; किन्तु मुझसे जगत्‌की कोई भी घटना छिपी नहीं है; भूत, वर्तमान और भविष्य सभी मेरे लिये वर्तमान हैं। मैं सभी जीवोंको और उनकी सब बातोंको भलीभाँति जानता हूँ (७।२६), क्योंकि मैं सर्वज्ञ हूँ; अतः जो यह कह रहा हूँ कि मैंने ही कल्पके आदिमें इस योगका उपदेश सूर्यको दिया था, इस विषयमें तुम्हें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—भगवान्‌के मुखसे यह बात सुनकर कि अबतक मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, यह जाननेकी इच्छा होती है कि आपका जन्म किस प्रकार होता है और आपके जन्ममें तथा अन्य लोगोंके जन्ममें क्या भेद है। अतएव इस बातको समझानेके लिये भगवान् अपने जन्मका तत्त्व बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ॥ ६॥

प्रश्न—'अजः', 'अव्ययात्मा' और भूतानामीश्वरः'—इन तीनों पदोंके साथ 'अपि' और 'सन्' का प्रयोग करके यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ—वास्तवमें मेरा जन्म और विनाश कभी नहीं होता, तो भी मैं साधारण व्यक्तिकी भाँति जन्मता और विनष्ट होता-सा प्रतीत होता हूँ; इसी तरह समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी एक साधारण व्यक्ति-सा ही प्रतीत होता हूँ। अभिप्राय यह है कि मेरे अवतार-तत्त्वको न समझनेवाले लोग जब मैं मत्स्य, कच्छप, वराह और मनुष्यादि रूपमें प्रकट होता हूँ, तब मेरा जन्म हुआ मानते हैं और जब मैं अन्तर्धान हो जाता हूँ, उस समय मेरा मरण समझ लेते हैं तथा जब मैं उस रूपमें दिव्य लीला करता हूँ, तब मुझे अपने-जैसा ही साधारण व्यक्ति समझकर मेरा तिरस्कार करते हैं (९।११)। वे बेचारे इस बातको नहीं समझ पाते कि ये सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही जगत्‌का कल्याण करनेके लिये इस रूपमें प्रकट होकर दिव्य लीला कर रहे हैं; क्योंकि मैं उस समय अपनी योगमायाके परदेमें छिपा रहता हूँ (७।२५)।

प्रश्न—यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद किसका तथा 'आत्ममायया' किसका वाचक है और इन दोनोंमें क्या भेद है?

उत्तर—भगवान्‌की शक्तिरूपा जो मूलप्रकृति है, जिसका वर्णन नवम अध्यायके ७वें और ८वें श्लोकोंमें किया गया है और जिसे चौदहवें अध्यायमें 'महद्ब्रह्म' कहा गया है, उसी 'मूलप्रकृति' का वाचक यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद है तथा भगवान् अपनी जिस योगशक्तिसे समस्त जगत्‌को धारण किये हुए हैं, जिस असाधारण शक्तिसे वे नाना प्रकारके

रूप धारण करके लोगोंके सम्मुख प्रकट होते हैं और जिसमें छिपे रहनेके कारण लोग उनको पहचान नहीं सकते तथा सातवें अध्यायके २५वें श्लोकमें जिसको योगमायाके नामसे कहा है—उसका वाचक यहाँ 'आत्ममायया' पद है। 'मूल प्रकृति'को अपने अधीन करके अर्थात् प्रकृति-परवश न होकर अपनी योगशक्तिके द्वारा ही भगवान् अवतीर्ण होते हैं।

मूलप्रकृति संसारको उत्पन्न करनेवाली है और भगवान्‌की यह योगमाया उनकी अत्यन्त प्रभावशालिनी, ऐश्वर्यमयी शक्ति है। यही इन दोनोंका भेद है।

प्रश्न—मैं अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने साधारण जीवोंसे अपने जन्मकी विलक्षणता दिखलायी है। अभिप्राय यह है कि जैसे जीव प्रकृतिके वशमें होकर अपने-अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करते हैं और सुख-दुःख भोग करते हैं, उस प्रकारका मेरा जन्म नहीं है। मैं अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर स्वयं ही अपनी योगमायासे समय-समयपर दिव्य लीला करनेके लिये यथावश्यक रूप धारण किया करता हूँ; मेरा वह जन्म स्वतन्त्र और दिव्य होता है, जीवोंकी भाँति कर्मवश नहीं होता।

प्रश्न—साधारण जीवोंके जन्मने-मरनेमें और भगवान्‌के प्रकट और अन्तर्धान होनेमें क्या अन्तर है?

उत्तर—साधारण जीवोंके जन्म और मृत्यु उनके कर्मोंके अनुसार होते हैं, उनके इच्छानुसार नहीं होते। उनको माताके गर्भमें रहकर कष्ट भोगना पड़ता है। जन्मके समय वे माताकी योनिसे शरीरसहित निकलते हैं। उसके बाद शनैः-शनैः वृद्धिको प्राप्त होकर उस शरीरका नाश होनेपर मर जाते हैं। पुनः कर्मानुसार दूसरी योनिमें जन्म धारण करते हैं; किन्तु भगवान्‌का प्रकट और अन्तर्धान होना इससे अत्यन्त विलक्षण है और वह उनकी इच्छापर निर्भर है; वे चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें प्रकट और अन्तर्धान हो सकते हैं; एक क्षणमें छोटेसे बड़े बन जाते हैं और बड़ेसे छोटे बन जाते हैं एवं इच्छानुसार रूपका परिवर्त्तन कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि वे प्रकृतिसे बँधे नहीं हैं, प्रकृति ही उनकी इच्छाका अनुगमन करती है। इसलिये जैसे ग्यारहवें अध्यायमें अर्जुनकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने पहले विश्वरूप धारण कर लिया, फिर उसे छिपाकर वे चतुर्भुज रूपसे प्रकट हो गये, उसके बाद मनुष्यरूप हो गये—इसमें जैसे एक रूपसे प्रकट होना और दूसरे रूपको छिपा लेना, जन्मना-मरना नहीं है—उसी प्रकार भगवान्‌का किसी भी रूपमें प्रकट होना और उसे छिपा लेना जन्मना-मरना नहीं है, केवल लीलामात्र है।

प्रश्न—भगवान् श्रीकृष्णका जन्म तो माता देवकीके गर्भसे साधारण मनुष्योंकी भाँति ही हुआ होगा, फिर लोगोंके जन्ममें और भगवान्‌के प्रकट होनेमें क्या भेद रहा?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। श्रीमद्भागवतका वह प्रकरण देखनेसे इस शङ्काका अपने-आप ही समाधान हो जायगा। वहाँ बतलाया गया है कि उस समय माता देवकीने अपने सम्मुख शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए चतुर्भुज दिव्य देवरूपसे प्रकट भगवान्‌को देखा और उनकी स्तुति की। फिर माता देवकीकी प्रार्थनासे भगवान्‌ने शिशुरूप धारण किया।* अतः उनका जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति माता देवकीके गर्भसे नहीं

* उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्। शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥ (श्रीमद्भा० १०।३।३०)
'हे विश्वात्मन्! शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मकी शोभासे युक्त इस चार भुजाओंवाले अपने अलौकिक—दिव्य रूपको अब छिपा लीजिये।'

हुआ, वे अपने-आप ही प्रकट हुए थे। जन्मधारणकी लीला करनेके लिये ऐसा भाव दिखलाया गया था मानो साधारण मनुष्योंकी भाँति भगवान् दस महीनोंतक माता देवकीके गर्भमें रहे और समयपर उनका जन्म हुआ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे उनके जन्मका तत्त्व सुननेपर यह जिज्ञासा होती है कि आप किस-किस समय और किन-किन कारणोंसे इस प्रकार अवतार धारण करते हैं। इसपर भगवान् अपने अवतारका अवसर बतलाते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ ॥ ७ ॥

प्रश्न—'यदा' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—भगवान्‌के अवतारका कोई निश्चित समय नहीं होता कि अमुक युगमें, अमुक वर्षमें, अमुक महीनेमें और अमुक दिन भगवान् प्रकट होंगे तथा यह भी नियम नहीं है कि एक युगमें कितनी बार किस रूपमें भगवान् प्रकट होंगे। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'यदा' पदका दो बार प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिके कारण जब जिस समय भगवान् अपना प्रकट होना आवश्यक समझते हैं, तभी प्रकट हो जाते हैं।

प्रश्न—वह धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि किस प्रकारकी होती है, जिसके होनेपर भगवान् अवतार धारण करते हैं?

उत्तर—किस प्रकारकी धर्म-हानि और पाप-वृद्धि होनेपर भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं, उसका स्वरूप वास्तवमें भगवान् ही जानते हैं; मनुष्य इसका पूर्ण निर्णय नहीं कर सकता। पर अनुमानसे ऐसा माना जा सकता है कि ऋषिकल्प, धार्मिक, ईश्वरप्रेमी, सदाचारी पुरुषों तथा निरपराधी, निर्बल प्राणियोंपर बलवान् और दुराचारी मनुष्योंका अत्याचार बढ़ जाना तथा उसके कारण लोगोंमें सद्‌गुण और सदाचारका अत्यन्त ह्रास होकर दुर्गुण और दुराचारका अधिक फैल जाना ही धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिका स्वरूप है। सत्य-युगमें हिरण्यकशिपुके शासनमें जब दुर्गुण और दुराचारोंकी वृद्धि हो गयी, निरपराधी लोग सताये जाने लगे,

---

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया। पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३ । ४७)

'ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि चुप हो गये और माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तत्काल एक साधारण बालक-से हो गये।'

लोगोंके ध्यान, जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ, दानादि शुभ कर्म एवं उपासना बलात्कारसे बंद कर दिये गये, देवताओंको मार-पीटकर उनके स्थानोंसे निकाल दिया, प्रह्लाद-जैसे भक्तको बिना अपराध नाना प्रकारके कष्ट दिये गये, उसी समय भगवान्‌ने नृसिंहरूप धारण किया था और भक्त प्रह्लादका उद्धार करके धर्मकी स्थापना की थी। इसी प्रकार दूसरे अवतारोंमें भी पाया जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अपने अवतारका अवसर बतलानेपर यह जाननेकी इच्छा हो सकती है कि भगवान् अवतार क्यों धारण करते हैं ? इसपर अब भगवान् अपने अवतारका उद्देश्य बतलाते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ ॥ ८ ॥

प्रश्न—'साधु' शब्द यहाँ कैसे मनुष्योंका वाचक है और उनका परित्राण या उद्धार करना क्या है ?

उत्तर—जो पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि समस्त सामान्य धर्मोंका तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्यापन, प्रजापालन आदि अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका भलीभाँति पालन करते हैं; दूसरोंका हित करना ही जिनका स्वभाव है; जो सद्‌गुणोंके भण्डार और सदाचारी हैं तथा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीलादिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करनेवाले भक्त हैं—उनका वाचक यहाँ 'साधु' शब्द है। ऐसे पुरुषोंपर जो दुष्ट-दुराचारियोंके द्वारा भीषण अत्याचार किये जाते हैं—उन अत्याचारोंसे उन्हें सर्वथा मुक्त कर देना, उनको उत्तम गति प्रदान करना, अपने दर्शन आदिसे उनके समस्त सञ्चित पापोंका समूल विनाश करके उनका परम कल्याण कर देना, अपनी दिव्य लीलाका विस्तार करके उनके श्रवण, मनन, चिन्तन और कीर्तन आदिके द्वारा सुगमतासे लोगोंके उद्धारका मार्ग खोल देना आदि सभी बातें साधु पुरुषोंका परित्राण अर्थात् उद्धार करनेके अन्तर्गत हैं।

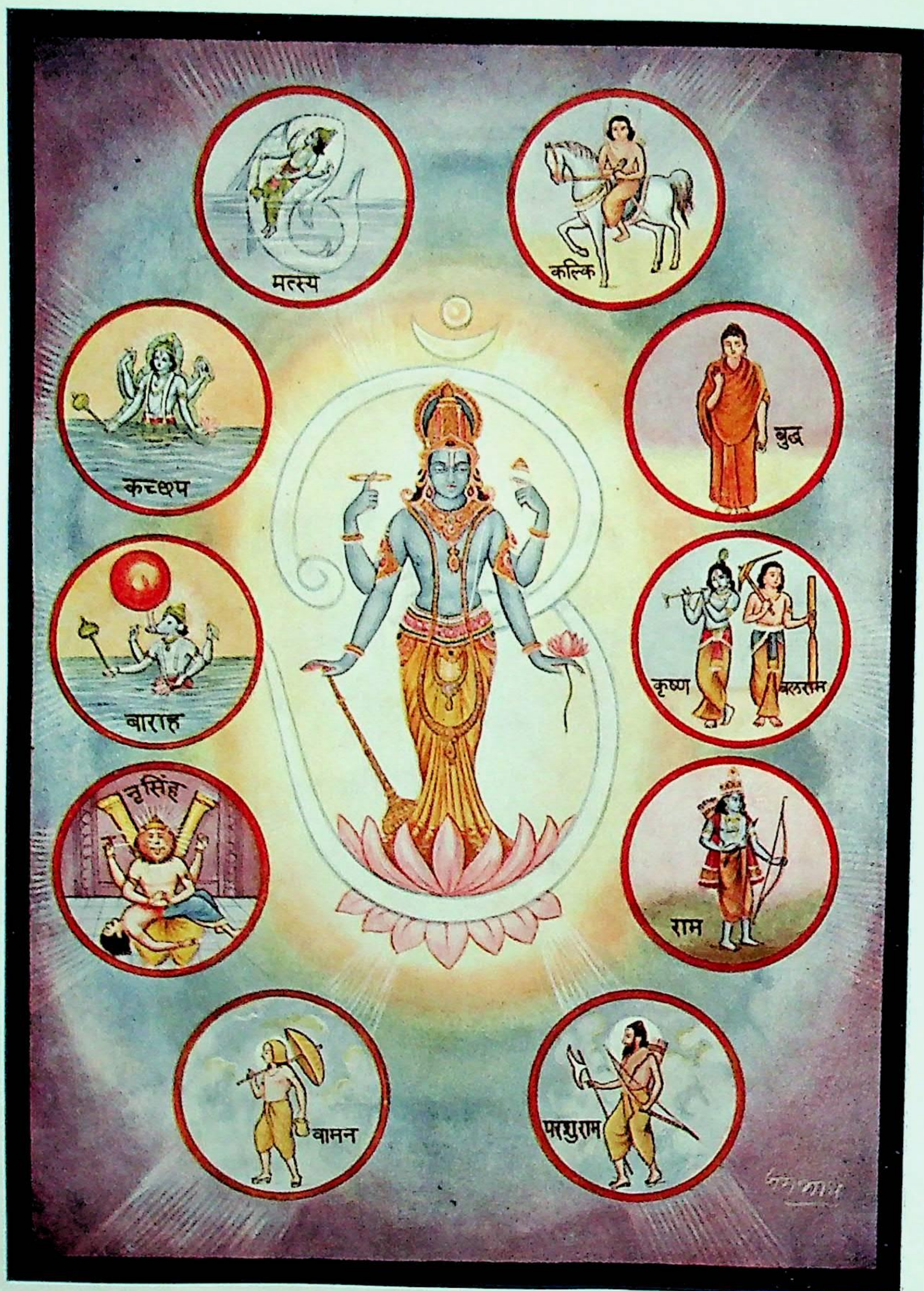
प्रश्न—यहाँ 'दुष्कृताम्' पद कैसे मनुष्योंका वाचक है और उनका विनाश करना क्या है ?

उत्तर—जो मनुष्य निरपराध, सदाचारी और भगवान्‌के भक्तोंपर अत्याचार करनेवाले हैं; जो झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्गुण और दुराचारोंके भण्डार हैं; जो नाना प्रकारसे अन्याय करके धनका संग्रह करनेवाले तथा नास्तिक हैं; भगवान् और वेद-शास्त्रोंका विरोध करना ही जिनका स्वभाव हो गया है—ऐसे आसुर स्वभाववाले दुष्ट पुरुषोंका वाचक यहाँ 'दुष्कृताम्' पद है। ऐसे दुष्ट प्रकृतिके दुराचारी मनुष्योंकी बुरी आदत छुड़ानेके लिये या उन्हें पापोंसे मुक्त करनेके लिये उनको किसी प्रकारका दण्ड देना, युद्धके द्वारा या अन्य किसी प्रकारसे उनका इस शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करना या करा देना आदि सभी बातें उनका विनाश करनेके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—भगवान् तो परम दयालु हैं; वे उन दुष्टोंको समझा-बुझाकर उनके स्वभावका सुधार क्यों नहीं कर देते, उनको इस प्रकारका दण्ड क्यों देते हैं ?

उत्तर—उनको दण्ड देने और मार डालनेमें

अवतार



परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (४।८)

(आसुर शरीरसे उनका सम्बन्ध-विच्छेद करानेमें) भी भगवान्‌की दया भरी है, क्योंकि उस दण्ड और मृत्युद्वारा भी भगवान् उनके पापोंका नाश ही करते हैं। भगवान्‌के दण्ड-विधानके सम्बन्धमें यह कभी न समझना चाहिये कि उससे भगवान्‌की दयालुतामें किसी प्रकारकी जरा-सी भी त्रुटि आती है। जैसे—अपने बच्चेके हाथ, पैर आदि किसी अङ्गमें फोड़ा हो जानेपर माता-पिता पहले औषधका प्रयोग करते हैं; पर जब यह माल्रम हो जाता है कि अब औषधसे इसका सुधार न होगा, देर करनेसे इसका जहर दूसरे अङ्गोंमें भी फैल जायगा, तब वे तुरंत ही अन्य अङ्गोंको बचानेके लिये उस दूषित हाथ-पैर आदिका आपरेशन करवाते हैं और आवश्यकता होनेपर उसे कटवा भी देते हैं। इसी प्रकार भगवान् भी दुष्टोंकी दुष्टता दूर करनेके लिये पहले उनको समझानेकी चेष्टा करते हैं, दण्डका भय भी दिखलाते हैं; पर जब इससे काम नहीं चलता, उनकी दुष्टता बढ़ती ही जाती है, तब उनको दण्ड देकर या मरवाकर उनके पापोंका फल भुगताते हैं अथवा जिनके पूर्वसञ्चित कर्म अच्छे होते हैं, किन्तु किसी विशेष निमित्तसे या कुसङ्गके कारण जो इस जन्ममें दुराचारी हो जाते हैं, उनको अपने ही हाथों मारकर भी मुक्त कर देते हैं। इन सभी क्रियाओंमें भगवान्‌की दया भरी रहती है।

प्रश्न—धर्मकी स्थापना करना क्या है?

उत्तर—स्वयं शास्त्रानुकूल आचरण कर, विभिन्न प्रकारसे धर्मका महत्त्व दिखलाकर और लोगोंके हृदयोंमें प्रवेश करनेवाली अप्रतिम प्रभावशालिनी वाणीके द्वारा उपदेश-आदेश देकर सबके अन्तःकरणमें वेद, शास्त्र, परलोक, महापुरुष और भगवान्‌पर श्रद्धा उत्पन्न कर देना तथा सद्गुणोंमें और सदाचारोंमें विश्वास तथा प्रेम उत्पन्न करवाकर लोगोंमें इन सबको दृढतापूर्वक भलीभाँति धारण करा देना आदि सभी बातें धर्मकी स्थापनाके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—साधुओंका परित्राण, दुष्टोंका संहार और धर्मकी स्थापना—इन तीनोंकी एक साथ आवश्यकता होनेपर ही भगवान्‌का अवतार होता है या किसी एक या दो निमित्तोंसे भी हो सकता है?

उत्तर—ऐसा नियम नहीं है कि तीनों ही कारण एक साथ उपस्थित होनेपर ही भगवान् अवतार धारण करें; किसी भी एक या दो उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये भी भगवान् अवतार धारण कर सकते हैं।

प्रश्न—भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं, वे बिना अवतार लिये भी तो ये सब काम कर सकते हैं; फिर अवतारकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यह बात सर्वथा ठीक है कि भगवान् बिना ही अवतार लिये अनायास ही सब कुछ कर सकते हैं और करते भी हैं ही; किन्तु लोगोंपर विशेष दया करके अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा सुगमतासे लोगोंको उद्धारका सुअवसर देनेके लिये एवं अपने प्रेमी भक्तोंको अपनी दिव्य लीलादिका आस्वादन करानेके लिये भगवान् साकाररूपसे प्रकट होते हैं। उन अवतारोंमें धारण किये हुए रूपका तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम, माहात्म्य और दिव्य कर्मोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके लोग सहज ही संसार-समुद्रसे पार हो सकते हैं। यह काम बिना अवतारके नहीं हो सकता।

प्रश्न—मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि मैं प्रत्येक युगमें जब-जब आवश्यकता होती है, तब-तब बार-बार प्रकट होता हूँ; किसी युगमें नहीं होता, या एक युगमें एक बार ही होता हूँ—ऐसा कोई नियम नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् अपने दिव्य जन्मोंके अवसर और उद्देश्यका वर्णन करके अब उन जन्मोंकी और उनमें किये जानेवाले कर्मोंकी दिव्यताको तत्त्वसे जाननेका फल बतलाते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करता, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

प्रश्न—भगवान्‌का जन्म दिव्य है, इस बातको तत्त्वसे समझना क्या है ?

उत्तर—सर्वशक्तिमान्, पूर्णब्रह्म परमेश्वर वास्तवमें जन्म और मृत्युसे सर्वथा अतीत हैं । उनका जन्म जीवोंकी भाँति नहीं है; वे अपने भक्तोंपर अनुग्रह करके अपनी दिव्य लीलाओंके द्वारा उनके मनको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये, दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा उनको सुख पहुँचानेके लिये, संसारमें अपनी दिव्य कीर्ति फैलाकर उसके श्रवण, कीर्तन और स्मरणद्वारा लोगोंके पापोंका नाश करनेके लिये तथा जगत्‌में पापाचारियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये जन्म-धारणकी केवल लीला-मात्र करते हैं । उनका वह जन्म निर्दोष और अलौकिक है, जगत्‌का कल्याण करनेके लिये ही भगवान् इस प्रकार मनुष्यादिके रूपमें लोगोंके सामने प्रकट होते हैं; उनका वह विग्रह प्राकृत उपादानोंसे बना हुआ नहीं होता—वह दिव्य, चिन्मय, प्रकाशमान, शुद्ध और अलौकिक होता है; उनके जन्ममें गुण और कर्म-संस्कार हेतु नहीं होते; वे मायाके वशमें होकर जन्म धारण नहीं करते, किन्तु अपनी प्रकृतिके अधिष्ठाता होकर योगमायासे मनुष्यादिके रूपमें केवल लोगोंपर दया करके ही प्रकट होते हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना अर्थात् इसमें किञ्चिन्मात्र भी असम्भावना और विपरीत भावना न रखकर पूर्ण विश्वास करना और साकाररूपमें प्रकट भगवान्‌को साधारण मनुष्य न समझकर सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, साक्षात् सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा समझना भगवान्‌के जन्मको तत्त्वसे दिव्य समझना है । इस अध्यायके छठे श्लोकमें यही बात समझायी गयी है । सातवें अध्यायके २४वें और २५वें श्लोकोंमें और नवें अध्यायके ११वें तथा १२वें श्लोकोंमें इस तत्त्वको न समझकर भगवान्‌को साधारण मनुष्य समझनेवालोंकी निन्दा की गयी है एवं दसवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें इस तत्त्वको समझनेवालेकी प्रशंसा की गयी है ।

जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌के जन्मकी दिव्यताको तत्त्वसे समझ लेता है, उसके लिये भगवान्‌का एक क्षणका वियोग भी असह्य हो जाता है । भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्यप्रेम होनेके कारण उसके द्वारा भगवान्‌का अनन्यचिन्तन होता रहता है ।

प्रश्न—भगवान्‌के कर्म दिव्य हैं, इस बातको तत्त्वसे समझना क्या है ?

उत्तर—भगवान् सृष्टि-रचना और अवतार-लीलादि जितने भी कर्म करते हैं, उनमें उनका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है; केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वे मनुष्यादि अवतारोंमें नाना प्रकारके

कर्म करते हैं (३ । २२-२३)। भगवान् अपनी प्रकृतिद्वारा समस्त कर्म करते हुए भी उन कर्मोंके प्रति कर्तृत्वभाव न रहनेके कारण वास्तवमें न तो कुछ भी करते हैं और न उनके बन्धनमें पड़ते हैं; भगवान्‌की उन कर्मोंके फलमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहा नहीं होती (४।१३-१४)। भगवान्‌के द्वारा जो कुछ भी चेष्टा होती है, लोकहितार्थ ही होती है (४ । ८); उनके प्रत्येक कर्ममें लोगोंका हित भरा रहता है। वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी होते हुए भी सर्वसाधारणके साथ अभिमानरहित दया और प्रेमपूर्ण समताका व्यवहार करते हैं (९ । २९); जो कोई मनुष्य जिस प्रकार उनको भजता है, वे स्वयं उसे उसी प्रकार भजते हैं (४ । ११); अपने अनन्य भक्तोंका योगक्षेम भगवान् स्वयं चलाते हैं (९ । २२), उनको दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं (१० । १०-११) और भक्ति-रूपी नौकापर बैठे हुए भक्तोंका संसारसमुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेके लिये स्वयं उनके कर्णधार बन जाते हैं (१२ । ७)। इस प्रकार भगवान्‌के समस्त कर्म आसक्ति, अहङ्कार और कामनादि दोषोंसे सर्वथा रहित, निर्मल और शुद्ध तथा केवल लोगोंका कल्याण करने एवं नीति, धर्म, शुद्ध प्रेम और न्याय आदिका जगत्‌में प्रचार करनेके लिये ही होते हैं; इन सब कर्मोंको करते हुए भी भगवान्‌का वास्तवमें उन कर्मों-से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वे उनसे सर्वथा अतीत और अकर्ता हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना, इसमें किञ्चिन्मात्र भी असम्भावना या विपरीत भावना न रहकर पूर्ण विश्वास हो जाना ही भगवान्‌के कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य समझना है। इस प्रकार जान लेनेपर उस जाननेवालेके कर्म भी शुद्ध और अलौकिक हो जाते हैं—अर्थात् फिर वह भी सबके साथ दया, समता, धर्म, नीति, विनय और निष्काम प्रेमभावका बर्ताव करता है।

प्रश्न—भगवान्‌के जन्म और कर्म दोनोंकी दिव्यताको समझ लेनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है या इनमेंसे किसी एककी दिव्यताके ज्ञानसे भी हो जाती है ?

उत्तर—दोनोंमेंसे किसी एककी दिव्यता जान लेनेसे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है (४। १४; १०।३); फिर दोनोंकी दिव्यता समझ लेनेसे हो जाती है, इसमें तो कहना ही क्या है ?

प्रश्न—इस प्रकार जाननेवाला पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता, मुझे ही प्राप्त होता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—वह पुनर्जन्मको न प्राप्त होकर किस भावको प्राप्त होता है, उसकी कैसी स्थिति होती है—इस जिज्ञासाकी पूर्ति-के लिये भगवान्‌ने यह कहा है कि वह मुझको (भगवान्‌को) ही प्राप्त होता है। और जो भगवान्‌को प्राप्त हो गया उसका पुनर्जन्म नहीं होता, यह सिद्धान्त ही है (८।१६)।

प्रश्न—यहाँ जन्म-कर्मोंकी दिव्यता जाननेवालेको शरीरत्यागके बाद भगवान्‌की प्राप्ति होनेकी बात कही गयी; तो क्या उसे इसी जन्ममें भगवान् नहीं मिलते ?

उत्तर—इस जन्ममें नहीं मिलते, ऐसी बात नहीं है। वह भगवान्‌के जन्म-कर्मोंकी दिव्यताको जिस समय पूर्णतया समझ लेता है, वस्तुतः उसी समय उसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल जाते हैं; पर मरनेके बाद उसका पुनर्जन्म नहीं होता, वह भगवान्‌के परम धामको चला जाता है—यह विशेष भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि वह शरीरत्यागके बाद मुझे ही प्राप्त होता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के जन्म और कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य समझ लेना ही ज्ञानरूप तप है और इस ज्ञानरूप तपका जो फल पूर्वश्लोकमें बतलाया गया है, वह अनादिपरम्परासे चला आ रहा है—इस बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

पहले भी, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ॥१०॥

प्रश्न—'वीतरागभयक्रोधाः' पद कैसे पुरुषोंका वाचक है और यहाँ इस विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—आसक्तिका नाम राग है; किसी प्रकारके दुःखकी सम्भावनासे जो अन्तःकरणमें घबड़ाहट होती है, उस विकारका नाम 'भय' है; और अपना अपकार करनेवालेपर तथा नीतिविरुद्ध या अपने मनके विरुद्ध बर्ताव करनेवालेपर होनेवाले उत्तेजनापूर्ण भावका नाम 'क्रोध' है; इन तीनों विकारोंका जिन पुरुषोंमें सर्वथा अभाव हो गया हो, उनका वाचक 'वीतरागभयक्रोधाः' पद है। भगवान्के दिव्य जन्म और कर्मोंका तत्त्व समझ लेनेवाले मनुष्यका भगवान्में अनन्य प्रेम हो जाता है, इसलिये भगवान्को छोड़कर उनकी किसी भी पदार्थमें जरा भी आसक्ति नहीं रहती; भगवान्का तत्त्व समझ लेनेसे उनको सर्वत्र भगवान्का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण वे सदाके लिये सर्वथा निर्भय हो जाते हैं; उनके साथ कोई कैसा भी बर्ताव क्यों न करे, उसे वे भगवान्की इच्छासे ही हुआ समझते हैं और संसारकी समस्त घटनाओंको भगवान्की लीला समझते हैं—अतएव किसी भी निमित्तसे उनके अन्तःकरणमें क्रोधका विकार नहीं होता। इस प्रकार भगवान्के जन्म और कर्मोंका तत्त्व जाननेवाले भक्तोंमें भगवान्की दयासे सब प्रकारके दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव होता है, यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'वीतरागभयक्रोधाः' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'मन्मयाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्में अनन्य प्रेम हो जानेके कारण जिनको सर्वत्र एक भगवान्-ही-भगवान् दीखने लग जाते हैं, उनका वाचक 'मन्मयाः' पद है। इस विशेषणका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि जो भगवान्के जन्म और कर्मोंको दिव्य समझकर भगवान्को पहचान लेते हैं, उन ज्ञानी भक्तोंका भगवान्में अनन्य प्रेम हो जाता है; अतः वे निरन्तर भगवान्में तन्मय हो जाते हैं और सर्वत्र भगवान्को ही देखते हैं (६।३०; ७।१९)।

प्रश्न—'मामुपाश्रिताः' का क्या भाव है ?

उत्तर—जो भगवान्की शरण ग्रहण कर लेते हैं, सर्वथा उनपर निर्भर हो जाते हैं, सदा उनमें ही सन्तुष्ट रहते हैं, जिनका अपने लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता और जो सब कुछ भगवान्का समझकर उनकी आज्ञाका पालन करनेके उद्देश्यसे उनकी सेवाके रूपमें ही समस्त कर्म करते हैं—ऐसे पुरुषोंका वाचक 'मामुपाश्रिताः' पद है। इस विशेषणका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि भगवान्के ज्ञानी भक्त सब प्रकारसे उनके शरणापन्न होते हैं, वे सर्वथा उन्हींपर निर्भर रहते हैं, शरणागतिके समस्त भावोंका उनमें पूर्ण विकास होता है।

प्रश्न—'ज्ञानतपसा' पदका अर्थ आत्मज्ञानरूप तप न मानकर भगवान्के जन्म-कर्मोंका ज्ञान माननेका क्या अभिप्राय है और उस ज्ञानतपसे पवित्र होना क्या है ?

उत्तर—यहाँ सांख्ययोगका प्रसङ्ग नहीं है, भक्तिका प्रकरण है तथा पूर्वश्लोकमें भगवान्के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझनेका फल भगवान्की प्राप्ति बतलाया गया है; उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है। इस कारण यहाँ 'ज्ञानतपसा' पदमें ज्ञानका अर्थ आत्मज्ञान न मानकर भगवान्के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझ लेना-रूप ज्ञान ही माना गया है। इस ज्ञानरूप तपके प्रभाव-से मनुष्यका भगवान्में अनन्यप्रेम हो जाता है, उसके समस्त पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं, अन्तःकरणमें सब प्रकारके दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और समस्त कर्म भगवान्के कर्मोंकी भाँति दिव्य हो जाते हैं—यही उसका ज्ञानरूप तपसे पवित्र हो जाना है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने यह बात कही कि मेरे जन्म और कर्मोंको जो दिव्य समझ लेते हैं, उन अनन्यप्रेमी भक्तोंको मेरी प्राप्ति हो जाती है; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि उनको आप किस प्रकार और किस रूपमें मिलते हैं? इसलिये कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥

प्रश्न—जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे भक्तोंके भजनके प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं। अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भक्त मेरे पृथक्-पृथक् रूप मानते हैं और अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मेरा भजन-स्मरण करते हैं, अतएव मैं भी उनको उनकी भावनाके अनुसार उन-उन रूपोंमें ही दर्शन देता हूँ और उनके साथ वैसा ही बर्ताव करता हूँ। श्रीविष्णुरूपकी उपासना करनेवालोंको श्रीविष्णुरूपमें, श्रीरामरूपकी उपासना करनेवालोंको श्रीरामरूपमें, श्रीकृष्णरूपकी उपासना करनेवालोंको श्रीकृष्णरूपमें, श्रीशिवरूपकी उपासना करनेवालोंको श्रीशिवरूपमें, देवी-रूपकी उपासना करनेवालोंको देवीरूपमें और निराकार सर्वव्यापी रूपकी उपासना करनेवालोंको निराकार सर्वव्यापी रूपमें मिलता हूँ; इसी प्रकार जो मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वामन आदि अन्यान्य रूपोंकी उपासना करते हैं—उनको उन-उन रूपोंमें दर्शन देकर उनका उद्धार कर देता हूँ। इसके अतिरिक्त वे जिस-जिस भावसे मेरी उपासना करते हैं, मैं उनके उस-उस भावका ही अनुसरण करता हूँ। जो ग्वाल-बालोंकी भाँति मुझे अपना सखा मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ मैं मित्रके-जैसा व्यवहार करता हूँ। जो नन्द-यशोदाकी भाँति पुत्र मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ पुत्रके-जैसा बर्ताव करके उनका कल्याण करता हूँ। इसी प्रकार रुक्मिणीकी तरह पति समझकर भजनेवालों-के साथ पति-जैसा, हनूमान्की भाँति स्वामी समझकर भजनेवालोंके साथ स्वामी-जैसा और गोपियोंकी भाँति माधुर्यभावसे भजनेवालोंके साथ प्रियतम-जैसा बर्ताव करके मैं उनका कल्याण करता हूँ और उनको दिव्य लीला-रसका अनुभव कराता हूँ।

प्रश्न—सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि लोग मेरा अनुसरण करते हैं, इसलिये यदि मैं इस प्रकार प्रेम और सौहार्दका बर्ताव करूँगा तो दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी ऐसे ही निःस्वार्थभावका और दूसरोंके भावका अनुवर्तन करनेका बर्ताव सबके साथ करेंगे। अतएव इस नीतिका जगत्‌में प्रचार करनेके लिये भी ऐसा करना मेरा कर्तव्य है, क्योंकि जगत्‌में धर्मकी स्थापना करनेके लिये ही मैंने अवतार धारण किया है (४।७-८)।

सम्बन्ध—यदि यह बात है, तो फिर लोग भगवान्‌को न भजकर अन्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं? इसपर कहते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ॥ १२ ॥

प्रश्न—'इह मानुषे लोके' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यज्ञादि कर्मोंद्वारा इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करनेका अधिकार मनुष्ययोनिमें ही है, अन्य योनियोंमें नहीं—यह भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'इह' और 'मानुषे' के सहित 'लोके' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—कर्मोंका फल चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं, क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिनकी सांसारिक भोगोंमें आसक्ति है; जो अपने किये हुए कर्मोंका फल स्त्री, पुत्र, धन, मकान या मान-बड़ाईके रूपमें प्राप्त करना चाहते हैं—उनका विवेक-ज्ञान नाना प्रकारकी भोग-वासनाओंसे ढका रहनेके कारण वे मेरी उपासना न करके, कामना-पूर्तिके लिये इन्द्रादि देवताओंकी ही उपासना किया करते हैं (७।२०, २१, २२; ९।२३, २४); क्योंकि उन देवताओंका पूजन करनेवालोंको उनके कर्मोंका फल तुरंत मिल जाता है। देवताओंका यह स्वभाव है कि वे प्रायः इस बातको नहीं सोचते कि उपासकको अमुक वस्तु देनेमें उसका वास्तविक हित है या नहीं; वे देखते हैं कर्मानुष्ठानकी विधिवत् पूर्णता। साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान सिद्ध होनेपर वे उसका फल, जो उनके अधिकारमें होता है और जो उस कर्मानुष्ठानके फलरूपमें विहित है, दे ही देते हैं; किन्तु मैं ऐसा नहीं करता, मैं अपने भक्तोंका वास्तविक हित-अहित सोचकर उनकी भक्तिके फलकी व्यवस्था करता हूँ। मेरे भक्त यदि सकामभावसे भी मेरा भजन करते हैं तो भी मैं उनकी उसी कामनाको पूर्ण करता हूँ, जिसकी पूर्तिसे उनका विषयोंसे वैराग्य होकर मुझमें प्रेम और विश्वास बढ़ता है। अतएव सांसारिक मनुष्योंको मेरी भक्तिका फल शीघ्र मिलता हुआ नहीं दीखता और इसीलिये वे मन्दबुद्धि मनुष्य कर्मोंका फल शीघ्र प्राप्त करनेकी इच्छासे अन्य देवताओंका ही पृथक्-रूपसे पूजन किया करते हैं।

देवोपासना



काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ (४।१२)

सम्बन्ध—नवें श्लोकमें भगवान्‌के जन्म और कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य जाननेका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया। उसके पूर्व भगवान्‌के जन्मकी दिव्यताका विषय तो भलीभाँति समझाया गया, किन्तु भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताका विषय स्पष्ट नहीं हुआ; इसलिये अब भगवान् दो श्लोकोंमें अपने सृष्टि-रचनादि कर्मोंमें कर्तापन, विषमता और स्पृहाका अभाव दिखलाकर उन कर्मोंकी दिव्यताका विषय समझाते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥१३॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह, गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरेद्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्त्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्त्ता ही जान॥१३॥

प्रश्न—गुणकर्म क्या है और उसके विभागपूर्वक भगवान्‌द्वारा चारों वर्णोंके समूहकी रचना की गयी है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अनादिकालसे जीवोंके जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं और जिनका फलभोग नहीं हो गया है, उन्हींके अनुसार उनमें यथायोग्य सत्त्व, रज और तमोगुण-की न्यूनाधिकता होती है। भगवान् जब सृष्टि-रचनाके समय मनुष्योंका निर्माण करते हैं, तब उन गुणोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मणादि वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं। अर्थात् जिनमें सत्त्वगुण अधिक होता है उन्हें ब्राह्मण बनाते हैं, जिनमें सत्त्वमिश्रित रजोगुणकी अधिकता होती है उन्हें क्षत्रिय, जिनमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है उन्हें वैश्य और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान होते हैं, उन्हें शूद्र बनाते हैं। यही 'गुणविभाग' है। और इस प्रकार रचे हुए वर्णोंके लिये उनके स्वभावके अनुसार ही पृथक्-पृथक् कर्मोंका विधान कर देते हैं—अर्थात् ब्राह्मण शम-दमादि कर्मोंमें रत रहें, क्षत्रियमें शौर्य-तेज आदि हों, वैश्य कृषि-गोरक्षामें लगें और शूद्र सेवापरायण हों (१८।४१—४४)। इसी गुणकर्मविभागसे भगवान्‌के द्वारा चतुर्वर्णकी रचना होती है। यही व्यवस्था जगत्‌में बराबर चलती है। जबतक वर्णशुद्धि बनी रहती है, एक ही वर्णके स्त्री-पुरुषोंके संयोगसे संतान उत्पन्न होती है, विभिन्न वर्णोंके स्त्री-पुरुषोंके संयोगसे वर्णमें सङ्करता नहीं आती, तबतक इस व्यवस्थामें कोई गड़बड़ी नहीं होती। गड़बड़ी होनेपर भी वर्णव्यवस्था न्यूनाधिकरूपमें रहती ही है।

यहाँ कर्म और उपासनाका प्रकरण है। उसमें केवल मनुष्योंका ही अधिकार है। इसीलिये यहाँ मनुष्योंको उपलक्षण बनाकर कहा गया है। अतएव यह भी समझ लेना चाहिये कि देव, पितर और तिर्यक् आदि दूसरी-दूसरी योनियोंकी रचना भी भगवान् जीवोंके गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक ही करते हैं। इसलिये इन सृष्टि-रचनादि कर्मोंमें भगवान्‌की किञ्चिन्मात्र भी विषमता नहीं है, यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि मेरेद्वारा चारों वर्णोंकी रचना उनके गुण और कर्मोंके विभाग-पूर्वक की गयी है।

प्रश्न—ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग जन्मसे मानना चाहिये या कर्मसे?

उत्तर—जन्म और कर्म दोनोंसे ही मानना चाहिये परन्तु इन दोनोंमें प्रधानता जन्मकी ही है। यदि माता-पिता एक वर्णके हों और किसी प्रकारसे भी जन्ममें सङ्करता न आवे तो सहज ही कर्ममें भी प्रायः सङ्करता नहीं आती। परन्तु सङ्गदोष, आहारदोष और दूषित शिक्षा-दीक्षादि कारणोंसे कर्ममें कहीं कुछ व्यतिक्रम भी हो जाय तो जन्मसे वर्ण माननेपर वर्णरक्षा हो सकती है। तथापि कर्म-शुद्धिकी कम आवश्यकता नहीं है। कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वर्णकी रक्षा बहुत ही कठिन हो जाती है।

प्रश्न—इस समय जब कि वर्णव्यवस्था नष्ट हो गयी है, तब जन्मसे वर्ण न मानकर मनुष्योंके आचरणोंके अनुसार ही उनके वर्ण मान लिये जायँ तो क्या हानि है ?

उत्तर—ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि प्रथम तो वर्णव्यवस्थामें कुछ शिथिलता आनेपर भी वह नष्ट नहीं हुई है, दूसरे, जीवोंका कर्मफल भुगतानेके लिये ईश्वर ही उनके पूर्व-कर्मानुसार उन्हें विभिन्न वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं। ईश्वरके विधानको बदलनेका मनुष्यमें अधिकार नहीं है। तीसरे, आचरण देखकर वर्णकी कल्पना करना भी असम्भव ही है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न बालकोंके आचरणोंमें बड़ी विभिन्नता देखी जाती है, एक ही मनुष्य दिनभरमें कभी ब्राह्मण-का-सा तो कभी शूद्रका-सा कर्म करता है, ऐसी अवस्थामें वर्णका निश्चय कैसे हो सकेगा ? फिर ऐसा होनेपर नीचा कौन बनना चाहेगा ? खान-पान और विवाहादिमें अड़चनें पैदा होंगी, फलतः वर्णविप्लव हो जायगा और वर्णव्यवस्थाकी स्थितिमें बड़ी भारी बाधा उपस्थित हो जायगी। अतएव जन्म और कर्म दोनोंसे ही वर्ण मानना चाहिये, केवल कर्मसे नहीं।

प्रश्न—चौदहवें अध्यायमें भगवान्‌ने सत्त्वगुणमें स्थित या सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवालोंको देवलोककी, राजस-स्वभाव या रजोगुणकी वृद्धिमें मरनेवालोंको मनुष्ययोनिकी एवं तमोगुणी स्वभाववालों या तमोगुणकी वृद्धिमें मरनेवालोंको तिर्यक्-योनिकी प्राप्ति बतलायी है; अतः यहाँ सत्त्वप्रधानको ब्राह्मण, रजःप्रधानको क्षत्रिय आदि। इस प्रकार विभाग मान लेनेसे उस कथनके साथ विरोध आता है ?

उत्तर—वास्तवमें कोई विरोध नहीं है। राजस-स्वभाववालों और रजोगुणकी वृद्धिमें मरनेवालोंको मनुष्य-योनिकी प्राप्ति होती है यह सत्य है। इससे मनुष्य-योनिकी रजोगुणप्रधानता सूचित होती है परन्तु रजोगुणप्रधान मनुष्ययोनिमें सभी मनुष्य समान गुणवाले नहीं होते। उसमें गुणोंके अवान्तर भेद होते ही हैं और उसीके अनुसार जो सत्त्वगुणप्रधान होता है उसका ब्राह्मणवर्णमें, सत्त्वमिश्रित रजःप्रधानका क्षत्रिय-वर्णमें, तमोमिश्रित रजःप्रधानका वैश्यवर्णमें, रजोमिश्रित तमःप्रधानका शूद्रवर्णमें और सत्त्व-रजके प्रकाशसे रहित केवल तमःप्रधानका उससे भी निम्नकोटिकी योनियोंमें जन्म होता है।

प्रश्न—नवें अध्यायके दसवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने अपनी प्रकृतिको समस्त जगत्‌की रचनेवाली बतलाया है और यहाँ स्वयं अपनेको सृष्टिका रचयिता बतलाते हैं—इसमें जो विरोध प्रतीत होता है, उसका क्या समाधान है ?

उत्तर—इसमें कोई विरोध नहीं है। उस श्लोकमें भी केवल प्रकृतिको जगत्‌की रचना करनेवाली नहीं बतलाया है, अपितु भगवान्‌की अध्यक्षतामें प्रकृति जगत्‌की रचना करती है—ऐसा कहा गया है। क्योंकि प्रकृति जड होनेके कारण उसमें भगवान्‌की सहायताके विना गुण-कर्मोंका विभाग करने और सृष्टिके रचनेका सामर्थ्य ही नहीं है। अतएव गीतामें जहाँ प्रकृतिको रचनेवाली बतलाया है, वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि भगवान्‌के सकाशसे उनकी अध्यक्षतामें ही प्रकृति जगत्‌की रचना करती है। और जहाँ भगवान्‌को सृष्टिका रचयिता बतलाया गया है, वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि भगवान् स्वयं नहीं रचते, अपनी प्रकृतिके द्वारा ही वे रचना करते हैं।

प्रश्न—जगत्‌के रचनादि कर्मोंका कर्त्ता होनेपर भी 'तू मुझे अकर्त्ता ही जान' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताका भाव प्रकट किया गया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का किसी भी कर्ममें राग-द्वेष या कर्त्तापन नहीं होता। वे सदा ही उन कर्मोंसे सर्वथा अतीत हैं, उनके सकाशसे उनकी प्रकृति ही समस्त कर्म करती है। इस कारण लोकव्यवहारमें भगवान् उन कर्मोंके कर्त्ता माने जाते हैं; वास्तवमें भगवान् सर्वथा उदासीन हैं, कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है (९।९-१०)—

यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने यह बात कही है। जब फलासक्ति और कर्त्तापनसे रहित होकर कर्म करनेवाले ज्ञानी भी कर्मोंके कर्त्ता नहीं समझे जाते और उन कर्मोंके फलसे उनका सम्बन्ध नहीं होता, तब फिर भगवान्की तो बात ही क्या है; उनके कर्म तो सर्वथा अलौकिक ही होते हैं।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ॥१४॥

प्रश्न—कर्मोंसे लिप्त होना क्या है? तथा कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस कथनसे भगवान्ने क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—कर्म करनेवाले मनुष्यमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कार रहनेके कारण उसके द्वारा किये हुए कर्म संस्काररूपसे उसके अन्तःकरणमें सञ्चित हो जाते हैं तथा उनके अनुसार उसे पुनर्जन्म-की और सुख-दुःखोंकी प्राप्ति होती है—यही उसका उन कर्मोंसे लिप्त होना है। यहाँ भगवान् उपर्युक्त कथनसे यह भाव दिखलाते हैं कि कर्मोंके फलरूप किसी भी भोगमें मेरी जरा भी स्पृहा नहीं है—अर्थात् मुझे किसी भी वस्तुकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है (३।२२)। मेरेद्वारा जो कुछ भी कर्म होते हैं—सब ममता, आसक्ति, फलेच्छा और कर्त्तापनके बिना केवल लोकहितार्थ (४।८) ही होते हैं; मेरा उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। इस कारण मेरे समस्त कर्म दिव्य हैं और इसीलिये वे मुझे बन्धनमें नहीं डालते।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्को तत्त्वसे जानना क्या है और इस प्रकारसे जाननेवाला मनुष्य कर्मोंसे क्यों नहीं बँधता?

उत्तर—१३वें और इस १४वें श्लोकके वर्णनानुसार जो यह समझ लेना है कि विश्व-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् वास्तवमें अकर्त्ता ही हैं—उन कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; उनके कर्मोंमें विषमताका लेशमात्र भी नहीं है; कर्मफलमें उनकी किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति, ममता या कामना नहीं है, अतएव उनको वे कर्म बन्धनमें नहीं डाल सकते—यही भगवान्को उपर्युक्त प्रकारसे तत्त्वतः जानना है। और इस प्रकार भगवान्के कर्मोंका रहस्य यथार्थरूपसे समझ लेनेवाले महात्माके कर्म भी भगवान्की ही भाँति ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कारके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं; इसीलिये वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता। अतएव यह समझना चाहिये कि जिन मनुष्योंकी कर्मोंमें और उनके फलोंमें ममता तथा आसक्ति है, वे वस्तुतः भगवान्के कर्मोंकी दिव्यताको जानते ही नहीं।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् अपने कर्मोंकी दिव्यता और उनका तत्त्व जाननेका महत्त्व बतलाकर, अब मुमुक्षु पुरुषोंके उदाहरणपूर्वक उसी प्रकार निष्कामभावसे कर्म करनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं। इसलिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही कर ॥१५॥

प्रश्न–'मुमुक्षु' किसको कहते हैं तथा पूर्वकालके मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर इस श्लोकमें क्या बात समझायी गयी है ?

उत्तर–जो मनुष्य जन्म-मरणरूप संसारबन्धनसे मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, जो सांसारिक भोगोंको दुःखमय और क्षणभङ्गुर समझकर उनसे विरक्त हो गया है और जिसे इस लोक या परलोकके भोगोंकी इच्छा नहीं है—उसे 'मुमुक्षु' कहते हैं। अर्जुन भी मुमुक्षु थे, वे कर्मबन्धनके भयसे स्वधर्मरूप कर्तव्यकर्मका त्याग करना चाहते थे; अतएव भगवान्ने इस श्लोकमें पूर्वकालके मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर यह बात समझायी है कि कर्मोंको छोड़ देनेमात्रसे मनुष्य उनके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता; इसी कारण पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी मेरे कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व समझकर मेरी ही भाँति कर्मोंमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कारका त्याग करके निष्कामभावसे अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार उनका आचरण ही किया है। अतएव तुम भी यदि कर्मबन्धनसे मुक्त होना चाहते हो तो तुम्हें भी पूर्वज मुमुक्षुओंकी भाँति निष्कामभावसे स्वधर्मरूप कर्तव्य-कर्मका पालन करना ही उचित है, उसका त्याग करना उचित नहीं।

सम्बन्ध–इस प्रकार अर्जुनको भगवान्ने निष्कामभावसे कर्म करनेकी आज्ञा दी। किन्तु कर्म-अकर्मका तत्त्व समझे विना मनुष्य भलीभाँति कर्म नहीं कर सकता; इसलिये अब भगवान् ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कारके विना किये जानेवाले दिव्य कर्मोंका तत्त्व भलीभाँति समझानेके लिये कर्मतत्त्वकी दुर्विज्ञेयता और उसके जाननेका महत्त्व प्रकट करते हुए उसे कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ?—इस प्रकार इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ १६ ॥

प्रश्न–यहाँ 'कवयः' पद किन पुरुषोंका वाचक है और उनका कर्म-अकर्मके निर्णयमें मोहित हो जाना क्या है ? तथा इस वाक्यमें 'अपि' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–यहाँ 'कवयः' पद शास्त्रोंके जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंका वाचक है। शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओंसे कर्मका तत्त्व समझाया गया है, उसे देख-सुनकर भी बुद्धिका इस प्रकार

ठीक-ठीक निर्णय न कर पाना कि अमुक भावसे की हुई अमुक क्रिया अथवा क्रियाका त्याग तो कर्म है तथा अमुक भावसे की हुई अमुक क्रिया या उसका त्याग अकर्म है—यही उनका कर्म-अकर्मके निर्णयमें मोहित हो जाना है। इस वाक्यमें 'अपि' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जब बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी इस विषयमें मोहित हो जाते हैं—ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते, तब साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? अतः कर्मोंका तत्त्व बड़ा ही दुर्विज्ञेय है।

प्रश्न—यहाँ जिस कर्मतत्त्वका वर्णन करनेकी भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की है, उसका वर्णन इस अध्यायमें कहाँ किया गया है? उसको तत्त्वसे जानना क्या है? और उसे जानकर कर्मबन्धनसे मुक्ति कैसे हो जाती है?

उत्तर—उपर्युक्त कर्मतत्त्वका वर्णन इस अध्यायमें १८ वेंसे ३२वें श्लोकतक किया गया है; उस वर्णनसे इस बातको ठीक-ठीक समझ लेना कि किस भावसे किया हुआ कौन-सा कर्म या कर्मका त्याग मनुष्यके पुनर्जन्मरूप बन्धनका हेतु बनता है और किस भावसे किया हुआ कौन-सा कर्म या कर्मका त्याग मनुष्यके पुनर्जन्मरूप बन्धनका हेतु नहीं बनता—यही उसे तत्त्वसे जानना है। इस तत्त्वको समझ लेनेवाले मनुष्य-द्वारा कोई भी ऐसा कर्म या कर्मका त्याग नहीं किया जा सकता जो कि बन्धनका हेतु बन सके; उसके सभी कर्त्तव्य-कर्म ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कारके बिना केवल भगवदर्थ या लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं। इस कारण उपर्युक्त कर्मतत्त्वको जानकर मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

सम्बन्ध—यहाँ स्वभावतः मनुष्य मान सकता है कि शास्त्रविहित करनेयोग्य कर्मोंका नाम कर्म है और क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग कर देना ही अकर्म है—इसमें मोहित होनेकी कौन-सी बात है और इन्हें जानना क्या है? किन्तु इतना जान लेनेमात्रसे ही वास्तविक कर्म-अकर्मका निर्णय नहीं हो सकता, कर्मोंके तत्त्वको भलीभाँति समझनेकी आवश्यकता है। इस भावको स्पष्ट करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥१७॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है॥ १७॥

प्रश्न—कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि साधारणतः मनुष्य यही जानते हैं कि शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका नाम कर्म है; किन्तु इतना जान लेने-मात्रसे कर्मका स्वरूप नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उसके आचरणमें भावका भेद होनेसे उसके स्वरूपमें भेद हो जाता है। अतः किस भावसे, किस प्रकार की हुई कौन-सी क्रियाका नाम कर्म है? एवं किस स्थितिमें किस मनुष्यका कौन-सा शास्त्रविहित कर्म किस

प्रकार करना चाहिये—इस बातको शास्त्रके ज्ञाता तत्त्वज्ञ महापुरुष ही ठीक-ठीक जानते हैं। अतएव अपने अधिकारके अनुसार वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मोंको आचरणमें लानेके लिये तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंद्वारा उन कर्मोंको समझना चाहिये और उनकी प्रेरणा और आज्ञाके अनुसार उनका आचरण करना चाहिये।

प्रश्न—अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि साधारणतः मनुष्य यही समझते हैं कि मन, वाणी और शरीरद्वारा की जानेवाली क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग कर देना ही अकर्म यानी कर्मोंसे रहित होना है; किन्तु इतना समझ लेनेमात्रसे अकर्मका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जा सकता; क्योंकि भावके भेदसे इस प्रकारका अकर्म भी कर्म या विकर्मके रूपमें बदल जाता है और जिसको लोग कर्म समझते हैं, वह भी अकर्म या विकर्म हो जाता है। अतः किस भावसे किस प्रकार की हुई कौन-सी क्रिया या उसके त्यागका नाम अकर्म है एवं किस स्थितिमें किस मनुष्यको किस प्रकार उसका आचरण करना चाहिये, इस बातको तत्त्वज्ञानी महापुरुष ही ठीक-ठीक जान सकते हैं। अतएव कर्मबन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छावाले मनुष्योंको उन महापुरुषोंसे इस अकर्मका स्वरूप भी भलीभाँति समझकर उनके कथनानुसार साधन करना चाहिये।

प्रश्न—विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि साधारणतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्मोंका नाम ही विकर्म है—यह प्रसिद्ध है; पर इतना जान लेनेमात्रसे विकर्मका स्वरूप यथार्थ नहीं जाना जा सकता, क्योंकि शास्त्रके तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानी पुण्यको भी पाप मान लेते हैं और पापको भी पुण्य मान लेते हैं। वर्ण, आश्रम और अधिकारके भेदसे जो कर्म एकके लिये विहित होनेसे कर्तव्य (कर्म) है, वही दूसरेके लिये निषिद्ध होनेसे पाप (विकर्म) हो जाता है—जैसे सब वर्णोंकी सेवा करके जीविका चलाना शूद्रके लिये विहित कर्म है, किन्तु वही ब्राह्मणके लिये निषिद्ध कर्म है; जैसे दान लेकर, वेद पढ़ाकर और यज्ञ कराकर जीविका चलाना ब्राह्मणके लिये कर्तव्य-कर्म है, किन्तु दूसरे वर्णोंके लिये पाप है; जैसे गृहस्थके लिये न्यायोपार्जित द्रव्यसंग्रह करना और ऋतुकालमें स्वपत्नीगमन करना धर्म है, किन्तु दूसरे आश्रमवालोंके लिये काञ्चन और कामिनीका आसक्तिपूर्वक दर्शन-स्पर्श करना भी पाप है। अतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि जो सर्वसाधारणके लिये निषिद्ध हैं तथा अधिकारभेदसे जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिये निषिद्ध हैं—उन सबका त्याग करनेके लिये विकर्मके स्वरूपको भलीभाँति समझना चाहिये। इसका स्वरूप भी तत्त्ववेत्ता महापुरुष ही ठीक-ठीक बतला सकते हैं।

प्रश्न—कर्मकी गति गहन है, इस कथनका तथा 'हि' अव्ययके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'हि' अव्यय यहाँ हेतुवाचक है। इसका प्रयोग करके उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि कर्मका तत्त्व बड़ा ही गहन है। कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? विकर्म क्या है ?—इसका निर्णय हरेक मनुष्य नहीं कर सकता; जो विद्या-बुद्धिकी दृष्टिसे पण्डित और बुद्धिमान् हैं, वे भी कभी-कभी इसके निर्णय करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। अतः कर्मके तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले महापुरुषोंसे इसका तत्त्व समझना आवश्यक है।

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रोताके अन्तःकरणमें रुचि और श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्मतत्त्वको गहन एवं उसका जानना आवश्यक बतलाकर अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् कर्मका तत्त्व समझाते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है ॥१८॥

प्रश्न—कर्ममें अकर्म देखना क्या है ? तथा इस प्रकार देखनेवाला मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्म करनेवाला कैसे है ?

उत्तर—लोकप्रसिद्धिमें मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके व्यापारमात्रका नाम कर्म है; उनमेंसे जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म हैं उनको कर्म कहते हैं और शास्त्रनिषिद्ध पापकर्मोंको विकर्म कहते हैं । शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म सर्वथा त्याज्य हैं, इसलिये उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी । अतः यहाँ, जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म हैं, उनमें अकर्म देखना क्या है—इसी बातपर विचार करना है । यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीरनिर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं—उन सबमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहङ्कारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दुःखादि फल भुगतानेके और पुनर्जन्मके हेतु नहीं बनते बल्कि मनुष्यके पूर्वकृत समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश करके उसे संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले होते हैं—इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है । इस प्रकार कर्ममें अकर्म देखनेवाला मनुष्य आसक्ति, फलेच्छा और ममताके त्यागपूर्वक ही कर्तव्य-कर्मोंका यथायोग्य आचरण करता है । अतः वह कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, इसलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है; उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, इस लिये वह योगी है और उसे कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता—वह कृतकृत्य हो जाता है, इसलिये वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है ।

प्रश्न—अकर्ममें कर्म देखना क्या है ? तथा इस प्रकार देखनेवाला मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्म करनेवाला कैसे है ?

उत्तर—लोकप्रसिद्धिमें मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; यह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहङ्कारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है; इतना ही नहीं, कर्तव्य-कर्मोंकी अवहेलनासे या दम्भाचारके लिये किया जानेपर तो यह विकर्म (पाप) के रूपमें बदल जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है । इस रहस्यको समझनेवाला मनुष्य किसी भी वर्णाश्रमोचित कर्मका त्याग न तो शारीरिक कष्टके भयसे करता है, न राग-द्वेष अथवा मोहवश और न मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा या अन्य किसी फलकी प्राप्तिके लिये ही करता है । इसलिये वह न तो कभी अपने कर्तव्यसे गिरता है और न किसी प्रकारके त्यागमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा या अहङ्कारका सम्बन्ध जोड़कर पुनर्जन्मका ही भागी बनता है; इसीलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है । उसका परम पुरुष परमेश्वरसे संयोग हो जाता है, इसलिये वह योगी है और उसके लिये

कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, इसलिये वह समस्त कर्म करनेवाला है।

प्रश्न—कर्मसे क्रियमाण, विकर्मसे विविध प्रकारके सञ्चित कर्म और अकर्मसे प्रारब्ध कर्म लेकर कर्ममें अकर्म देखनेका यदि यह अर्थ किया जाय कि क्रियमाण कर्म करते समय यह देखे कि भविष्यमें यही कर्म प्रारब्ध कर्म (अकर्म) बनकर फलभोगके रूपमें उपस्थित होंगे और अकर्ममें कर्म देखनेका यह अर्थ किया जाय कि प्रारब्धरूप फलभोगके समय उन दुःखादि भोगोंको अपने पूर्वकृत क्रियमाण कर्मोंका ही फल समझे और इस प्रकार समझकर पापकर्मोंका त्याग करके शास्त्रविहित कर्मोंको करता रहे, तो क्या आपत्ति है? क्योंकि सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्मोंके ये ही तीन भेद प्रसिद्ध हैं?

उत्तर—ठीक है, ऐसा मानना बहुत लाभप्रद है और बड़ी बुद्धिमानी है; किन्तु ऐसा अर्थ मान लेनेसे 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः', 'गहना कर्मणो गतिः', 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्', 'स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्', 'तमाहुः पण्डितं बुधाः', 'नैव किञ्चित्करोति सः' आदि वचनोंकी सङ्गति नहीं बैठती। अतएव यह अर्थ लाभप्रद होनेपर भी प्रकरणविरुद्ध है।

प्रश्न—कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेवाला साधक भी मुक्त हो जाता है या सिद्ध पुरुष ही इस प्रकार देख सकता है?

उत्तर—मुक्त पुरुषके जो स्वाभाविक लक्षण होते हैं, वे ही साधकके लिये साध्य होते हैं। अतएव मुक्त पुरुष तो स्वभावसे ही इस तत्त्वको जानता है और साधक उनके उपदेशद्वारा जानकर उस प्रकार साधन करनेसे मुक्त हो जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि—'मैं तुझे वह कर्म-तत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तू कर्म-बन्धनसे छूट जायगा।'

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मदर्शनका महत्त्व बतलाकर अब पाँच श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न शैलीसे उपर्युक्त कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मदर्शनपूर्वक कर्म करनेवाले पुरुषोंकी असङ्गताका वर्णन करके उस विषयको स्पष्ट करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और सङ्कल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

प्रश्न—'समारम्भाः' पदका क्या अर्थ है और इसके साथ 'सर्वे' विशेषण जोड़नेका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अपने-अपने वर्णाश्रम और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिसके लिये जो यज्ञ, दान, तप तथा जीविका और शरीरनिर्वाहके योग्य शास्त्रसम्मत कर्तव्य-कर्म हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'समारम्भाः' पद है। क्रियामात्रको आरम्भ कहते हैं; ज्ञानीके कर्म शास्त्र-निषिद्ध या व्यर्थ नहीं होते—यह भाव दिखलानेके लिये 'आरम्भ'के साथ 'सम्' उपसर्गका प्रयोग किया गया है तथा 'सर्वे' विशेषणसे यह भाव दिखलाया गया है कि साधनकालमें मनुष्यके समस्त कर्म बिना कामना और सङ्कल्पके नहीं होते, किसी-किसी कर्ममें कामना और

सङ्कल्पका संयोग भी हो जाता है; पर कर्मयोगका साधन करते-करते जो सिद्ध हो गया है, उस महापुरुषके तो सभी कर्म, कामना और सङ्कल्पसे रहित ही होते हैं; उसका कोई भी कर्म कामना और सङ्कल्पसे युक्त या शास्त्रविरुद्ध नहीं होता।

प्रश्न—'कामसङ्कल्पवर्जिताः' इस पदमें आये हुए 'काम' और 'सङ्कल्प' शब्दोंका क्या अर्थ है तथा इनसे रहित कर्म कौन-से हैं?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग-सुख आदि इस लोक और परलोकके जितने भी विषय (पदार्थ) हैं, उनमेंसे किसीकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा करनेका नाम 'काम' है तथा किसी विषयकी ईश्वरसे भिन्न सत्ता समझकर ममता, अहङ्कार, राग-द्वेष एवं रमणीयत्व-बुद्धिसे उसको स्मरण करनेका नाम 'सङ्कल्प' है। कामना सङ्कल्पका कार्य है और सङ्कल्प उसका कारण है। विषयोंका स्मरण करनेसे ही उनमें आसक्ति होकर कामनाकी उत्पत्ति होती है (२।६२)। जिन कर्मोंमें किसी वस्तुके संयोग-वियोगकी किञ्चिन्मात्र भी कामना नहीं है; जिनमें ममता, अहङ्कार और आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जो केवल लोकसंग्रहके लिये चेष्टामात्र किये जाते हैं—वे सब कर्म काम और सङ्कल्पसे रहित हैं।

प्रश्न—उपर्युक्त पदमें आये हुए 'सङ्कल्प' शब्दका अर्थ यदि स्फुरणामात्र मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—कोई भी कर्म विना स्फुरणाके नहीं हो सकता; पहले स्फुरणा होकर ही मन, वाणी और शरीरद्वारा कर्म किये जाते हैं। अन्य कर्मोंकी तो बात ही क्या है, विना स्फुरणाके तो खाना-पीना और चलना-फिरना आदि शरीरनिर्वाहके कर्म भी नहीं हो सकते; फिर इस श्लोकमें 'समारम्भाः' पदसे बतलाये हुए शास्त्रविहित कर्म कैसे हो सकते हैं? इस कारण यहाँ 'सङ्कल्प' का अर्थ स्फुरणामात्र मानना उचित नहीं प्रतीत होता।

प्रश्न—'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्' पदमें 'ज्ञानाग्नि' शब्द किसका वाचक है? और उसके द्वारा कर्मोंका दग्ध हो जाना क्या है?

उत्तर—कर्मयोगके अनुष्ठानसे उत्पन्न परमात्माके यथार्थ ज्ञानका वाचक यहाँ 'ज्ञानाग्नि' शब्द है। जैसे अग्नि ईंधनको भस्म कर डालता है, वैसे ही ज्ञान भी समस्त कर्मोंको भस्म कर देता है (४।३७)—इस प्रकार अग्निकी उपमा देनेके लिये उसे यहाँ 'ज्ञानाग्नि' नाम दिया गया है। जैसे अग्निद्वारा भुने हुए बीज केवल नाममात्रके ही बीज रह जाते हैं, उनमें अङ्कुरित होनेकी शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जो समस्त कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्तिका सर्वथा नष्ट हो जाना है—यही उन कर्मोंका ज्ञानरूप अग्निसे भस्म हो जाना है।

प्रश्न—यहाँ 'बुधाः' पद किनका वाचक है और उपर्युक्त प्रकारसे जो 'ज्ञानाग्निदग्धकर्मा' हो गया है, उसे वे 'पण्डित' कहते हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'बुधाः' पद यहाँ तत्त्वज्ञानी महात्माओंका वाचक है और उपर्युक्त पुरुषको वे पण्डित कहते हैं—इस कथनसे उपर्युक्त सिद्ध योगीकी विशेष प्रशंसा की गयी है। अभिप्राय यह है कि कर्मोंमें ममता, आसक्ति, अहङ्कार और उनसे अपना किसी प्रकारका कोई प्रयोजन न रहनेपर भी उनका स्वरूपतः त्याग न करके लोकसंग्रहके लिये समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको विधिपूर्वक भलीभाँति करते रहना बहुत ही धीरता, वीरता, गम्भीरता और बुद्धिमत्ताका काम है; इसलिये ज्ञानीलोग भी उसे पण्डित (तत्त्वज्ञानी महात्मा) कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥

प्रश्न—समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करना क्या है ?

उत्तर—यज्ञ, दान और तप तथा जीविका और शरीरनिर्वाहके जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उनमें जो मनुष्यकी स्वाभाविक आसक्ति होती है—जिसके कारण वह उन कर्मोंको किये बिना नहीं रह सकता और कर्म करते समय उनमें इतना संलग्न हो जाता है कि ईश्वरकी स्मृति या अन्य किसी प्रकारका ज्ञानतक नहीं रहता—ऐसी आसक्तिसे सर्वथा रहित हो जाना, किसी भी कर्ममें मनका तनिक भी आसक्त न होना—कर्मोंमें आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना है। और उन कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले इस लोक या परलोकके जितने भी भोग हैं—उन सबमें जरा भी ममता, आसक्ति और कामनाका न रहना कर्मोंके फलमें आसक्तिका त्याग कर देना है ।

प्रश्न—इस प्रकार आसक्तिका त्याग करके 'निराश्रय' और 'नित्यतृप्त' हो जाना क्या है ?

उत्तर—आसक्तिका सर्वथा त्याग करके शरीरमें अहङ्कार और ममतासे सर्वथा रहित हो जाना और किसी भी सांसारिक वस्तुके या मनुष्यके आश्रित न होना अर्थात् अमुक वस्तु या मनुष्यसे ही मेरा निर्वाह होता है, यही आधार है, इसके बिना काम ही नहीं चल सकता—इस प्रकारके भावोंका सर्वथा अभाव हो जाना ही 'निराश्रय' हो जाना है । ऐसा हो जानेपर मनुष्यको किसी भी सांसारिक पदार्थकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती, वह पूर्णकाम हो जाता है; उसे परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके कारण वह निरन्तर आनन्दमें मग्न रहता है, उसकी स्थितिमें किसी भी घटनासे कभी जरा भी अन्तर नहीं पड़ता । यही उसका 'नित्यतृप्त' हो जाना है ।

प्रश्न—'कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि न एव किञ्चित्करोति सः' इस वाक्यमें 'अभि' उपसर्गके तथा 'अपि' और 'एव' अव्ययोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अभि' उपसर्गसे यह बात दिखलायी गयी है कि ऐसा मनुष्य भी अपने वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित सब प्रकारके कर्म भलीभाँति सावधानी और विवेकके सहित विस्तारपूर्वक कर सकता है । 'अपि' अव्ययसे यह भाव दिखलाया गया है कि ममता, अहङ्कार और फलासक्तियुक्त मनुष्य तो कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता और यह नित्यतृप्त पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ भी उनके बन्धनमें नहीं पड़ता । तथा 'एव' अव्ययसे यह भाव दिखलाया गया है कि उन कर्मोंसे उसका जरा भी सम्बन्ध नहीं रहता । अतः वह समस्त कर्म करता हुआ भी वास्तवमें अकर्त्ता ही बना रहता है । इस प्रकार इस श्लोकमें यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेवाले मुक्त पुरुषके लिये उसके पूर्णकाम हो जानेके कारण कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता (३ । १७); उसे किसी भी वस्तुकी, किसी रूपमें भी आवश्यकता नहीं

रहती । अतएव वह जो कुछ कर्म करता है या किसी क्रियासे उपरत हो जाता है, सब शास्त्रसम्मत और बिना आसक्तिके केवल लोकसंग्रहार्थ ही करता है; इसलिये उसके कर्म वास्तवमें 'कर्म' नहीं होते ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें यह बात कही गयी कि ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कारके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये शास्त्रसम्मत यज्ञ, दान और तप आदि समस्त कर्म करता हुआ भी ज्ञानी पुरुष वास्तवमें कुछ भी नहीं करता । इसलिये वह कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता । इसपर यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाले तो नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मोंका त्याग नहीं करते, निष्कामभावसे सब प्रकारके शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका अनुष्ठान करते रहते हैं—इस कारण वे किसी पापके भागी नहीं बनते; किन्तु जो मनुष्य शास्त्रविहित यज्ञ-दानादि कर्मोंका अनुष्ठान न करके अपने वर्णाश्रमके अनुसार केवल शरीरनिर्वाहमात्रके लिये आवश्यक शौच-स्नान और खान-पान आदि कर्म ही करता है, वह तो पापका भागी होता होगा । ऐसी शङ्काकी निवृत्तिके लिये भगवान् कहते हैं—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगोंकी सामग्रीका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता ॥ २१ ॥

प्रश्न—'निराशीः', 'यतचित्तात्मा' और 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः'—इन तीन विशेषणोंके प्रयोगका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस मनुष्यको किसी भी सांसारिक वस्तुकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है; जो किसी भी कर्मसे या मनुष्यसे किसी प्रकारके भोग-प्राप्तिकी किञ्चिन्मात्र भी आशा या इच्छा नहीं रखता; जिसने सब प्रकारकी इच्छा, कामना, वासना आदिका सर्वथा त्याग कर दिया है—उसे 'निराशीः' कहते हैं; जिसका अन्तःकरण और समस्त इन्द्रियोंसहित शरीर वशमें है—अर्थात् जिसके मन और इन्द्रिय राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण उनपर शब्दादि विषयोंके सङ्गका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता और जिसका शरीर भी जैसे वह उसे रखना चाहता है वैसे ही रहता है—वह 'यतचित्तात्मा' है; और जिसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं है तथा जिसने समस्त भोगसामग्रियोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग कर दिया है, वह 'त्यक्तसर्वपरिग्रह' है ।

इन तीनों विशेषणोंका प्रयोग करके इस श्लोकमें यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकार बाह्य वस्तुओंसे सम्बन्ध न रखकर निरन्तर अन्तरात्मामें सन्तुष्ट रहनेवाले महापुरुषका कर्म करने और न करनेसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता (३ । १७-१८); इसलिये यदि वह यज्ञ-दानादि कर्मोंका अनुष्ठान न करके केवल शरीरसम्बन्धी ही कर्म करता है, तो भी वह पापका भागी नहीं होता । क्योंकि उसका वह त्याग, आसक्ति या फलकी इच्छासे अथवा

अहङ्कारपूर्वक मोहसे किया हुआ नहीं है; वह तो आसक्ति, फलेच्छा और अहङ्कारसे रहित सर्वथा शास्त्रसम्मत त्याग है, अतएव सब प्रकारसे संसारका हित करनेवाला है।

प्रश्न—यहाँ 'शारीरम्' और 'केवलम्' विशेषणोंके सहित 'कर्म' पद कौन-से कर्मोंका वाचक है और 'किल्बिषम्' पद किसका वाचक है तथा उसको प्राप्त न होना क्या है?

उत्तर—'शारीरम्' और 'केवलम्' विशेषणोंके सहित 'कर्म' पद यहाँ शौच-स्नान, खान-पान और शयन आदि केवल शरीरनिर्वाहसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओंका वाचक है तथा 'किल्बिषम्' पद यहाँ यज्ञदानादि विहित कर्मोंके त्यागसे होनेवाले प्रत्यवाय——पापका तथा शरीर-निर्वाहके लिये की जानेवाली क्रियाओंमें होनेवाले 'हिंसा' आदि पापोंका वाचक है। उपर्युक्त पुरुषको न तो यज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठान न करनेसे होनेवाला प्रत्यवायरूप पाप लगता है और न शरीरनिर्वाहके लिये की जानेवाली क्रियाओंमें होनेवाले पापोंसे ही उसका सम्बन्ध होता है; यही उसका 'किल्बिष' को प्राप्त न होना है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें यह बात सिद्ध की गयी कि परमात्माको प्राप्त सिद्ध महापुरुषोंका कर्म करने या न करनेसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, अतः वे कर्म करते हुए या उनका त्याग करते हुए—सभी अवस्थाओंमें कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हैं। अब भगवान् यह बात दिखलाते हैं कि कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मदर्शनपूर्वक कर्म करनेवाला साधक पुरुष भी कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता——

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥२२॥

जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता॥२२॥

प्रश्न—'यदृच्छालाभ' क्या है और उसमें सन्तुष्ट रहना क्या है?

उत्तर—अपनी इच्छासे या परेच्छासे प्रारब्धानुसार जो अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह 'यदृच्छालाभ' है; इस 'यदृच्छालाभ' में सदा ही आनन्द मानना, न किसी अनुकूल पदार्थकी प्राप्ति होनेपर उसमें राग करना, उसके बने रहने या बढ़नेकी इच्छा करना; और न प्रतिकूलकी प्राप्तिमें द्वेष करना, उसके नष्ट हो जानेकी इच्छा करना—और दोनोंको ही प्रारब्ध या भगवान्‌का विधान समझकर निरन्तर शान्त और प्रसन्नचित्त रहना—यही 'यदृच्छालाभ' में सदा सन्तुष्ट रहना है।

प्रश्न—'विमत्सरः' का क्या भाव है और इसका प्रयोग यहाँ किसलिये किया गया है?

उत्तर—विद्या, बुद्धि, धन, मान, बड़ाई या अन्य किसी भी वस्तु या गुणके सम्बन्धसे दूसरोंकी उन्नति देखकर जो ईर्ष्या (डाह) का भाव होता है—इस विकारका नाम 'मत्सरता' है; उसका जिसमें सर्वथा अभाव हो गया हो, वह 'विमत्सर' है। अपनेको विद्वान्

और बुद्धिमान् समझनेवालोंमें भी ईर्ष्याका दोष छिपा रहता है; जिनमें मनुष्यका प्रेम होता है, ऐसे अपने मित्र और कुटुम्बियोंके साथ भी ईर्ष्याका भाव हो जाता है। इसलिये 'विमत्सरः' विशेषणका प्रयोग करके यहाँ कर्मयोगीमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे अलग ईर्ष्याके दोषका भी अभाव दिखलाया गया है।

प्रश्न—द्वन्द्वोंसे अतीत होना क्या है ?

उत्तर—हर्ष-शोक और राग-द्वेष आदि युग्म विकारोंका नाम द्वन्द्व है; उनसे सम्बन्ध न रहना अर्थात् इस प्रकारके विकारोंका अन्तःकरणमें न रहना ही उनसे अतीत हो जाना है।

प्रश्न—सिद्धि और असिद्धिका यहाँ क्या अर्थ है और उसमें सम रहना क्या है ?

उत्तर—यज्ञ, दान और तप आदि किसी भी कर्तव्य-कर्मका निर्विघ्नतासे पूर्ण हो जाना उसकी सिद्धि है; और किसी प्रकार विघ्न-बाधाके कारण उसका पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इसी प्रकार जिस उद्देश्यसे कर्म किया जाता है, उस उद्देश्यका पूर्ण हो जाना सिद्धि है और पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इस प्रकारकी सिद्धि और असिद्धिमें भेदबुद्धिका न होना अर्थात् सिद्धिमें हर्ष और आसक्ति आदि तथा असिद्धिमें द्वेष और शोक आदि विकारोंका न होना, दोनोंमें एक-सा भाव रहना ही सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना है।

प्रश्न—ऐसा पुरुष कर्म करता हुआ भी नहीं बँधता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—कर्म करनेमें मनुष्यका अधिकार है (२।४७), क्योंकि यज्ञ (कर्म) सहित प्रजाकी रचना करके प्रजापतिने मनुष्योंको कर्म करनेकी आज्ञा दी है (३।१०); अतएव उसके अनुसार कर्म न करनेसे मनुष्य पापका भागी होता है (३।१६)। इसके सिवा मनुष्य कर्मोंका सर्वथा त्याग कर भी नहीं सकता (३।५), अपनी प्रकृतिके अनुसार कुछ-न-कुछ कर्म सभीको करने पड़ते हैं। अतएव इसका यह भाव समझना चाहिये कि जिस प्रकार केवल शरीरसम्बन्धी कर्मोंको करनेवाला परिग्रहरहित पुरुष अन्य कर्मोंका आचरण न करनेपर भी कर्म न करनेके पापसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्मयोगी विहित कर्मोंका अनुष्ठान करके भी उनसे नहीं बँधता।

सम्बन्ध—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त प्रकारसे किये हुए कर्म बन्धनके हेतु नहीं बनते, इतनी ही बात है या उनका और भी कुछ महत्त्व है। इसपर कहते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे केवल यज्ञसम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं ॥२३॥

प्रश्न—आसक्तिका सर्वथा नष्ट हो जाना क्या है ?

उत्तर—कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें तनिक भी आसक्ति या कामनाका न रहना, आसक्तिका सर्वथा नष्ट हो जाना है। यही भाव पूर्वश्लोकोंमें 'कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा', 'निराशीः' और 'सिद्धौ च असिद्धौ समः' से दिखलाया गया है।

प्रश्न--'मुक्तस्य' का क्या भाव है ?

उत्तर--जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके संघातरूप शरीरमें जरा भी आत्माभिमान या ममत्व नहीं रहा है, जो देहाभिमानसे सर्वथा मुक्त हो गया है--उसका वाचक यहाँ 'मुक्तस्य' पद है ।

प्रश्न--'ज्ञानावस्थितचेतसः' का क्या भाव है ?

उत्तर--जिसकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण प्रत्येक क्रिया करते समय जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके अनुभवमें लगा रहता है, कभी किसी भी कारणसे भगवान्‌को नहीं भूलता--ऐसे पुरुषका वाचक 'ज्ञानावस्थितचेतसः' पद है ।

प्रश्न--'यज्ञाय आचरतः' इस पदमें 'यज्ञ' शब्द किसका वाचक है और उसके लिये कर्मोंका आचरण करना क्या है ?

उत्तर--अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यका जो कर्तव्य है, वही उसके लिये यज्ञ है । उस कर्तव्यरूप यज्ञका सम्पादन करनेके लिये ही जो कर्मोंका करना है--अर्थात् किसी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध न रखकर केवल कर्तव्यरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही जो कर्मोंका आचरण करना है, वही यज्ञके लिये कर्मोंका आचरण करना है । तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें आया हुआ 'यज्ञार्थात्' विशेषणके सहित 'कर्मणः' पद भी ऐसे ही कर्मोंका वाचक है ।

प्रश्न--'समग्रम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और उनका विलीन हो जाना क्या है ?

उत्तर--इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए जितने भी कर्म संस्काररूपसे मनुष्यके अन्तःकरणमें सञ्चित रहते हैं और जो उसके द्वारा उपर्युक्त प्रकारसे नवीन कर्म किये जाते हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'समग्रम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है; उन सबका अभाव हो जाना अर्थात् उनमें किसी प्रकारका बन्धन करनेकी शक्तिका न रहना ही उनका विलीन हो जाना है । इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्म उसको बाँधनेवाले नहीं होते, इतना ही नहीं; किन्तु जैसे किसी घासकी ढेरीमें आगमें जलाकर गिराया हुआ घास स्वयं भी जलकर नष्ट हो जाता है और उस घासकी ढेरीको भी भस्म कर देता है--वैसे ही आसक्ति, फलेच्छा और ममताके अभावरूप अग्निमें जलाकर किये हुए कर्म पूर्वसञ्चित समस्त कर्मोंके सहित विलीन हो जाते हैं, फिर उसके किसी भी कर्ममें किसी प्रकारका फल देनेकी शक्ति नहीं रहती ।

सम्बन्ध--पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि यज्ञके लिये कर्म करनेवाले पुरुषके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं। वहाँ केवल अग्निमें हविका हवन करना ही यज्ञ है और उसके सम्पादन करनेके लिये की जानेवाली क्रिया ही यज्ञके लिये कर्म करना है, इतनी ही बात नहीं है; परमात्माकी प्राप्तिके लिये वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिसका जो कर्तव्य है, वही उसके लिये यज्ञ है और उसका पालन करनेके लिये आवश्यक क्रियाओंका निःस्वार्थ बुद्धिसे करना ही उस यज्ञके लिये कर्म करना है--इसी भावको सुस्पष्ट करनेके लिये अब भगवान् सात श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न मनुष्योंद्वारा किये जानेवाले परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप कर्तव्य-कर्मोंका विभिन्न यज्ञोंके नामसे वर्णन करते हैं--

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्त्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले पुरुषद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

प्रश्न–इस श्लोकमें क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर–इस श्लोकमें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो० उ० ३ । १४ । १) के अनुसार सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप साधनको यज्ञका रूप दिया गया है । अभिप्राय यह है कि कर्ता, कर्म और करण आदिके भेदसे भिन्न-भिन्न रूपमें प्रतीत होनेवाले समस्त पदार्थोंको ब्रह्मरूपसे देखनेका जो अभ्यास है–यह अभ्यासरूप कर्म भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन होनेके कारण यज्ञ ही है । इस यज्ञमें स्रुवा, हवि, हवन करनेवाला और हवनरूप क्रियाएँ आदि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं होतीं; उसकी दृष्टिमें सब कुछ ब्रह्म ही होता है । क्योंकि ऐसा यज्ञ करनेवाला पुरुष जिन मन, बुद्धि आदिके द्वारा वह समस्त जगत्को ब्रह्म समझनेका अभ्यास करता है, उनको, अपनेको, इस अभ्यासरूप क्रियाको या अन्य किसी भी वस्तुको ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझता, सबको ब्रह्मरूप ही देखता है; इसलिये उसकी उनमें किसी प्रकारकी भी भेदबुद्धि नहीं रहती ।

प्रश्न–इस रूपकमें 'अर्पणम्' पदका अर्थ यदि हवन करनेकी क्रिया मान ली जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर–'हुतम्' पद हवन करनेकी क्रियाका वाचक है । अतः 'अर्पणम्' पदका अर्थ भी क्रिया मान लेनेसे पुनरुक्तिका दोष आता है । नवें अध्यायके १६वें श्लोकमें भी 'हुतम्' पदका ही अर्थ 'हवनकी क्रिया' माना गया है । अतः जिसके द्वारा कोई वस्तु अर्पित की जाय, अर्प्यते अनेन—इस करण-व्युत्पत्तिके अनुसार 'अर्पणम्' पदका अर्थ जिसके द्वारा घृत आदि द्रव्य अग्निमें छोड़े जाते हैं, ऐसे स्रुवा आदि पात्र मानना ही उचित मालूम पड़ता है ।

प्रश्न–ब्रह्मकर्ममें स्थित होना क्या है और उसके द्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–निरन्तर सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि करते रहना, किसी-को भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझना—यही ब्रह्मकर्ममें स्थित होना है तथा इस प्रकारके साधनका फल निःसन्देह परब्रह्म परमात्माकी ही प्राप्ति होती है, ऐसा समझनेवाला साधक दूसरे फलका भागी नहीं होता—यही भाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है कि उसके द्वारा प्राप्त किया जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है ।

सम्बन्ध–इस प्रकार ब्रह्मकर्मरूप यज्ञका वर्णन करके अब अगले श्लोकमें देवपूजनरूप यज्ञका और आत्मा-परमात्माके अभेददर्शनरूप यज्ञका वर्णन करते हैं—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मारूप यज्ञका हवन किया करते हैं ॥ २५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'योगिनः' पद किन योगियोंका वाचक है और उसके साथ 'अपरे' विशेषणका प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—यहाँ 'योगिनः' पद ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म करनेवाले साधकोंका वाचक है तथा इन साधकोंको पूर्वश्लोकमें वर्णित ब्रह्मकर्म करनेवालोंसे अलग करनेके लिये यानी इनका साधन पूर्वोक्त साधनसे भिन्न है और दोनों साधनोंके अधिकारी भिन्न-भिन्न होते हैं, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'योगिनः' पदके साथ 'अपरे' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'दैवम्' विशेषणके सहित 'यज्ञम्' पद किस कर्मका वाचक है और उसका भलीभाँति अनुष्ठान करना क्या है तथा इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें भगवान्‌के कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ब्रह्मा, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र और वरुणादि जो शास्त्रसम्मत देव हैं—उनके लिये हवन करना, उनकी पूजा करना, उनके मन्त्रका जप करना, उनके निमित्तसे दान देना और ब्राह्मण-भोजन करवाना आदि समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'दैवम्' विशेषणके सहित 'यज्ञम्' पद है और अपना कर्तव्य समझकर बिना ममता, आसक्ति और फलेच्छाके केवल परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे इन सबका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शास्त्रविधिके अनुसार पूर्णतया अनुष्ठान करना ही दैवयज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करना है। इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो इस प्रकारसे देवोपासना करते हैं, उनकी क्रिया भी यज्ञके लिये ही कर्म करनेके अन्तर्गत है।

प्रश्न—ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना क्या है ?

उत्तर—अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण शरीरकी उपाधिसे आत्मा और परमात्माका भेद अनादिकालसे प्रतीत हो रहा है; इस अज्ञानजनित भेद-प्रतीतिको ज्ञानाभ्यासद्वारा मिटा देना अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे सुने हुए तत्त्वज्ञानका निरन्तर मनन और निदिध्यासन करते-करते नित्यविज्ञानानन्दघन, गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको एक कर देना—विलीन कर देना ही ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है। इस प्रकारका यज्ञ करनेवाले ज्ञानयोगियोंकी दृष्टिमें एक निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके सिवा अपनी या अन्य किसीकी भी किञ्चिन्मात्र सत्ता नहीं रहती, इस त्रिगुणमय संसारसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। उनके लिये संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

प्रश्न—पूर्वश्लोकमें वर्णित ब्रह्मकर्मसे इस अभेद-दर्शनरूप यज्ञका क्या भेद है ?

उत्तर—दोनों ही साधन सांख्ययोगियोंद्वारा किये जाते हैं और दोनोंमें ही अग्निस्थानीय परब्रह्म परमात्मा है, इस कारण दोनोंकी एकता-सी प्रतीत होती है तथा दोनोंका फल अभिन्नभावसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति होनेके कारण वास्तवमें कोई भेद भी नहीं है, केवल साधनकी प्रणालीका भेद है; उसीको स्पष्ट करनेके लिये दोनोंका वर्णन अलग-अलग किया गया है। पूर्वश्लोकमें वर्णित साधनमें तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

(छान्दो० उ० ३।१४।१) इस श्रुतिवाक्यके अनुसार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि करनेका वर्णन है और उपर्युक्त साधनमें समस्त जगत्‌के सम्बन्धका अभाव करके आत्मा और परमात्मामें अभेददर्शनकी बात कही गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार देवयज्ञ और अभेददर्शनरूप यज्ञका वर्णन करनेके अनन्तर अब इन्द्रियसंयमरूप यज्ञका और विषयहवनरूप यज्ञका वर्णन करते हैं—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं ॥२६॥

प्रश्न—संयमको अग्नि बतलानेका क्या भाव है और उसमें बहुवचनका प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—इन्द्रियसंयमरूप साधनको यज्ञका रूप देनेके लिये यहाँ संयमके साथ 'अग्नि' शब्दका समास किया गया है और प्रत्येक इन्द्रियका संयम अलग-अलग होता है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उसमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—संयमरूप अग्निमें श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको हवन करना क्या है ?

उत्तर—दूसरे अध्यायमें कहा गया है कि इन्द्रियाँ बड़ी प्रमथनशील हैं, ये बलात्कारसे साधकके मनको डिगा देती हैं (२।६०); इसलिये समस्त इन्द्रियों-को अपने वशमें कर लेना—उनकी स्वतन्त्रताको मिटा देना, उनमें मनको विचलित करनेकी शक्ति न रहने देना तथा उन्हें सांसारिक भोगोंमें प्रवृत्त न होने देना ही इन्द्रियोंको संयमरूप अग्निमें हवन करना है। तात्पर्य यह है कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिकाको वशमें करके प्रत्याहार करना—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि बाहर-भीतरके विषयोंसे विवेकपूर्वक उन्हें हटाकर उपरत होना ही श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमरूप अग्निमें हवन करना है। इसका सुस्पष्टभाव दूसरे अध्यायके ५८वें श्लोकमें कछुएके दृष्टान्तसे बतलाया गया है।

प्रश्न—तीसरे अध्यायके छठे श्लोकमें जिस इन्द्रिय-संयमको मिथ्याचार बतलाया गया है, उसमें और यहाँके इन्द्रियसंयममें क्या भेद है ?

उत्तर—वहाँ केवल इन्द्रियोंको देखने-सुनने तथा खाने-पीने आदि बाह्य विषयोंसे रोक लेनेको ही संयम कहा गया है, इन्द्रियोंको वशमें करनेको नहीं; क्योंकि वहाँ मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन होते रहनेकी बात स्पष्ट है। किन्तु यहाँ वैसी बात नहीं है; यहाँ इन्द्रियोंको वशमें कर लेनेका नाम 'संयम' है। वशमें की हुई इन्द्रियोंमें मनको विषयोंमें प्रवृत्त करनेकी शक्ति नहीं रहती। इसलिये जो इन्द्रियोंको वशमें किये विना ही केवल दम्भाचारसे इन्द्रियोंको विषयोंसे रोक रखता है, उसके मनसे विषयोंका चिन्तन होता रहता है और जो परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिये इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है, उसके मनसे विषयोंका चिन्तन नहीं होता; निरन्तर परमात्माका ही चिन्तन होता है। यही मिथ्याचारीके संयमका और यथार्थ संयमका भेद है।

प्रश्न—यहाँ 'इन्द्रिय' शब्दके साथ 'अग्नि' शब्दका समास किसलिये किया गया है? और 'इन्द्रियाग्निषु' पदमें बहुवचनके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—आसक्तिरहित इन्द्रियोंद्वारा निष्कामभावसे विषयसेवनरूप साधनको यज्ञका रूप देनेके लिये यहाँ 'इन्द्रिय' शब्दके साथ 'अग्नि' शब्दका समास किया गया है और प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा अनासक्तभावसे अलग-अलग विषयोंका सेवन किया जाता है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उसमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—शब्दादि विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करना क्या है ?

उत्तर—वशमें की हुई और राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार योग्यतासे प्राप्त विषयोंका ग्रहण करके उनको इन्द्रियोंमें विलीन कर देना (२ । ६४) अर्थात् उनका सेवन करते समय या दूसरे समय अन्तःकरणमें या इन्द्रियोंमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न करनेकी शक्ति न रहने देना ही शब्दादि विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करना है। अभिप्राय यह है कि कानोंके द्वारा निन्दा और स्तुतिको या अन्य किसी प्रकारके अनुकूल या प्रतिकूल शब्दोंको सुनते हुए, नेत्रोंके द्वारा अच्छे-बुरे दृश्योंको देखते हुए, जिह्वाके द्वारा अनुकूल और प्रतिकूल रसको ग्रहण करते हुए—इसी प्रकार अन्य समस्त इन्द्रियोंद्वारा भी प्रारब्धके अनुसार योग्यतासे प्राप्त समस्त विषयोंका अनासक्त-भावसे सेवन करते हुए अन्तःकरणमें समभाव रखना, भेदबुद्धिजनित राग-द्वेष और हर्षशोकादि विकारोंका न होने देना—अर्थात् उन विषयोंमें जो मन और इन्द्रियों-को विक्षिप्त (विचलित) करनेकी शक्ति है, उसका नाश करके उनको इन्द्रियोंमें विलीन करते रहना—यही शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करना है। क्योंकि विषयोंमें आसक्ति, सुख और रमणीय बुद्धि न रहनेके कारण वे विषयभोग साधकपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते, वे स्वयं अग्निमें घासकी भाँति भस्म हो जाते हैं।

सम्बन्ध—अब आत्मसंयमयोगरूप यज्ञका वर्णन करते हैं—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

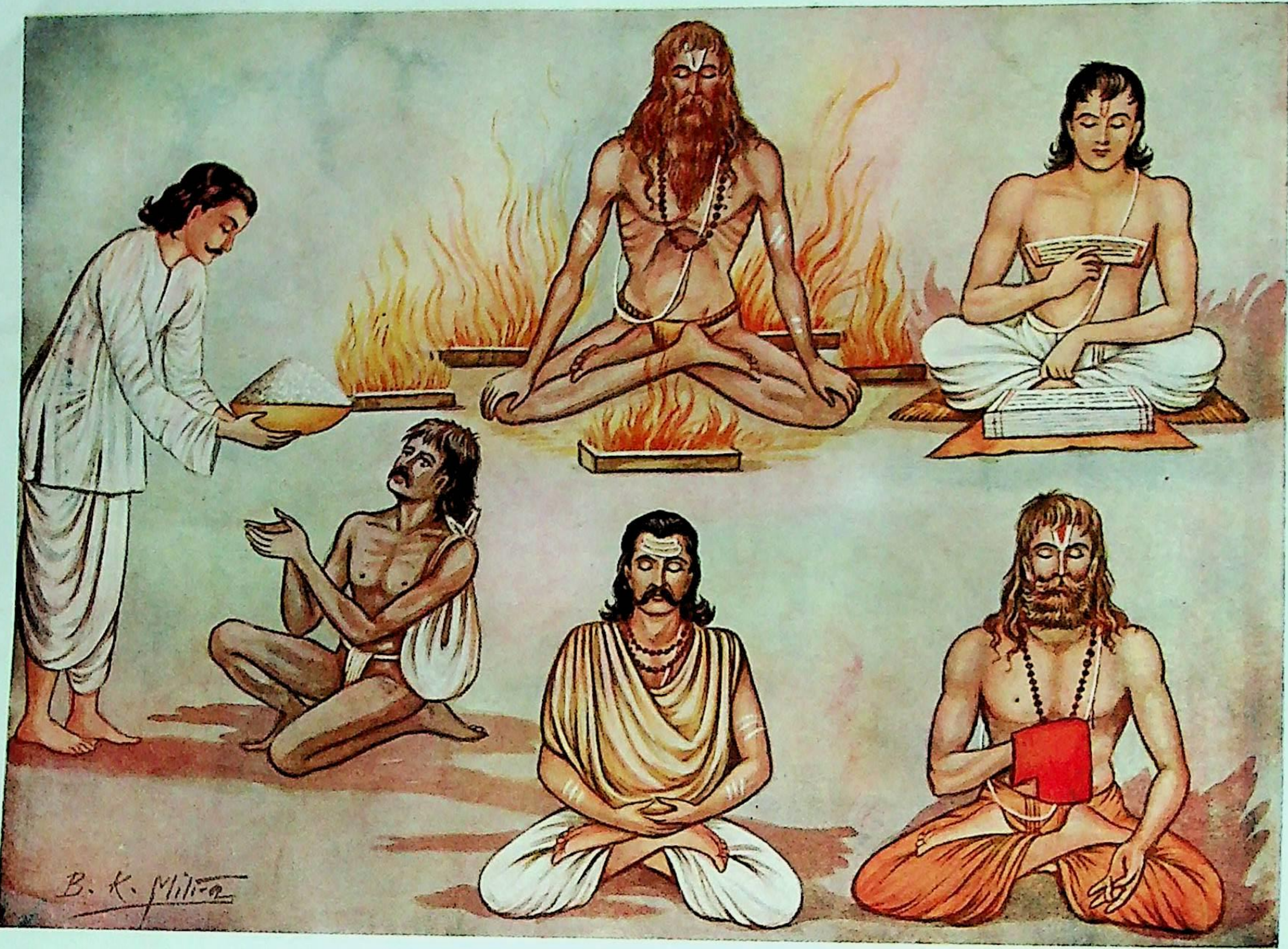
दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं ॥ २७ ॥

प्रश्न—यहाँ 'आत्मसंयमयोग' किस योगका वाचक है और उसके साथ 'अग्नि' शब्दका समास किसलिये किया गया है तथा 'ज्ञानदीपिते' विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'आत्मसंयमयोग' समाधियोगका वाचक है। उस समाधियोगको यज्ञका रूप देनेके लिये उसके साथ 'अग्नि' शब्दका समास किया गया है तथा सुषुप्तिसे समाधिकी भिन्नता दिखलानेके लिये—अर्थात् समाधि-अवस्थामें विवेक-विज्ञानकी जागृति रहती है, शून्यताका नाम समाधि नहीं है—यह भाव दिखलाने और यज्ञके रूपकमें उस समाधियोगको प्रज्वलित अग्निकी भाँति ज्ञानसे प्रकाशित बतलानेके लिये 'ज्ञानदीपिते' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—उपर्युक्त समाधियोगका स्वरूप तथा उसमें इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको हवन करना क्या है ?

विविध यज्ञ



द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ (४ । २८)

उत्तर—ध्यानयोग अर्थात् ध्येयमें मनका निरोध दो प्रकारसे होता है—एकमें तो प्राणोंका और इन्द्रियोंका निरोध करके उसके बाद मनका ध्येयवस्तुमें निरोध किया जाता है और दूसरेमें, पहले मनके द्वारा ध्येयका चिन्तन करते-करते ध्येयमें मनकी एकाग्रतारूप ध्यानावस्था होती है, तदनन्तर ध्यानकी गाढ़ स्थिति होकर ध्येयमें मनका निरोध हो जाता है; यही समाधि-अवस्था है। उस समय प्राणोंकी और इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रिया अपने-आप रुक जाती है। यहाँ इस दूसरे प्रकारसे किये जानेवाले ध्यानयोगका वर्णन है। इसलिये परमात्माके सगुण-साकार या निर्गुण-निराकार—किसी भी रूपमें अपनी-अपनी मान्यता और भावनाके अनुसार विधिपूर्वक मनका निरोध कर देना ही समाधियोगका स्वरूप है। इस प्रकारके ध्यानयोगमें जो मनोनिग्रहपूर्वक इन्द्रियोंकी देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना, आस्वादन करना एवं ग्रहण करना, त्याग करना, बोलना और चलना-फिरना आदि तथा प्राणोंकी श्वास-प्रश्वास और हिलना-डुलना आदि समस्त क्रियाओंको विलीन करके समाधिस्थ हो जाना है—यही आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें इन्द्रियोंकी और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंका हवन करना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार समाधियोगके साधनको यज्ञका रूप देकर अब अगले श्लोकमें द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ और स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं ॥२८॥

प्रश्न—द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ किस क्रियाका वाचक है? इसे करनेका अधिकार किनका है तथा यहाँ 'द्रव्ययज्ञाः' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार न्यायसे प्राप्त द्रव्यको ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके यथायोग्य लोकसेवामें लगाना अर्थात् उपर्युक्त भावसे बावली, कुएँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना; भूखे, अनाथ, रोगी, दुखी, असमर्थ, भिक्षु आदि मनुष्योंकी यथावश्यक अन्न, वस्त्र, जल, औषध, पुस्तक आदि वस्तुओंद्वारा सेवा करना; विद्वान् तपस्वी वेदपाठी सदाचारी ब्राह्मणोंको गौ, भूमि, वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थोंका यथायोग्य अपनी शक्तिके अनुसार दान करना—इसी तरह अन्य सब प्राणियोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे यथाशक्ति द्रव्यका व्यय करना 'द्रव्ययज्ञ' है। इस यज्ञके करनेका अधिकार केवल गृहस्थोंको ही है; क्योंकि द्रव्यका संग्रह करके परोपकारमें उसके व्यय करनेका अधिकार संन्यास आदि अन्य आश्रमोंमें नहीं है। यहाँ भगवान्ने 'द्रव्ययज्ञ' शब्दका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे लोकसेवामें द्रव्य लगानेके लिये निःस्वार्थभावसे कर्म करना भी यज्ञार्थ कर्म करनेके अन्तर्गत है।

प्रश्न—'तपोयज्ञ' किस कर्मको कहते हैं? और इसमें किसका अधिकार है?

उत्तर—परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे अन्तःकरण

और इन्द्रियोंको पवित्र करनेके लिये ममता, आसक्ति और फलेच्छाके त्यागपूर्वक व्रत-उपवासादि करना; स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना; मौन धारण करना; अग्नि और सूर्यके तेजको तथा वायुको सहन करना; एक वस्त्र या दो वस्त्रोंसे अधिकका त्याग कर देना; अन्नका त्याग कर देना, केवल फल या दूध खाकर ही शरीरका निर्वाह करना; वनवास करना आदि जो शास्त्रविधिके अनुसार तितिक्षासम्बन्धी क्रियाएँ हैं— उन सबका वाचक यहाँ 'तपोयज्ञ' है। इसमें वानप्रस्थ-आश्रमवालोंका तो पूर्ण अधिकार है ही, दूसरे आश्रमवाले मनुष्य भी शास्त्रविधिके अनुसार इसका पालन कर सकते हैं। अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार सभी आश्रमवाले इसके अधिकारी हैं।

प्रश्न—यहाँ 'योगयज्ञ' शब्द किस कर्मका वाचक है तथा यहाँ 'योगयज्ञाः' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ वास्तवमें 'योगयज्ञ' किस कर्मका वाचक है, यह तो भगवान् ही जानते हैं; क्योंकि इसके विशेष लक्षण यहाँ नहीं बतलाये गये हैं। किन्तु अनुमानसे यह प्रतीत होता है कि चित्तवृत्ति-निरोधरूप जो 'अष्टाङ्गयोग' है सम्भवतः उसीका वाचक यहाँ 'योगयज्ञ' शब्द है। अतएव यहाँ 'योगयज्ञाः' पदके प्रयोगका यह भाव समझना चाहिये कि बहुत-से साधक परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे आसक्ति, फलेच्छा और ममताका त्याग करके इस अष्टाङ्गयोगरूप यज्ञका ही अनुष्ठान किया करते हैं। उनका वह योगसाधनारूप कर्म भी यज्ञार्थ कर्मके अन्तर्गत है, अतएव उन लोगोंके भी समस्त कर्म विलीन होकर उनको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न—उपर्युक्त अष्टाङ्गयोगके आठ अङ्ग कौन-कौन-से हैं?

उत्तर—पातञ्जलयोगदर्शनमें इनका वर्णन इस प्रकार आता है—

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।' (२।२९)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।

इनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार—ये पाँच बहिरङ्ग और धारणा, ध्यान, समाधि—ये तीन अन्तरङ्ग साधन हैं—इन तीनोंके समुदायको 'संयम' भी कहते हैं—

'त्रयमेकत्र संयमः।' (योग० ३।४)

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।' (योग० २।३०)

किसी भी प्राणीको किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र कभी कष्ट न देना (अहिंसा); हितकी भावनासे कपटरहित प्रिय शब्दोंमें यथार्थभाषण (सत्य); किसी प्रकारसे भी किसीके स्वत्व (हक) को न चुराना और न छीनना (अस्तेय); मन, वाणी और शरीरसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा-सर्वदा सब प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना (ब्रह्मचर्य); और शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त भोग्यसामग्रीका कभी संग्रह न करना (अपरिग्रह)—इन पाँचोंका नाम यम है।

'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।' (योग० २।३२)

सब प्रकारसे बाहर और भीतरकी पवित्रता (शौच); प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा सन्तुष्ट रहना (सन्तोष); एकादशी आदि व्रत-उपवास करना (तप); कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन तथा ईश्वरके नाम और गुणोंका कीर्तन (स्वाध्याय); सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करके

उनकी आज्ञाका पालन करना (ईश्वरप्रणिधान)–इन पाँचोंका नाम नियम है ।

'स्थिरसुखमासनम् ।' (योग० २।४६)

सुखपूर्वक स्थिरतासे बैठनेका नाम आसन* है ।

'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।' (योग० २।४९)

आसनके सिद्ध हो जानेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिके रोकनेका नाम प्राणायाम है । बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है; इन दोनोंके रोकनेका नाम प्राणायाम है ।

'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।' (योग० २।५०)

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले–ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं ।

भीतरके श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक रखना 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है । इसकी विधि यह है—आठ प्रणव (ॐ) से रेचक करके सोलहसे बाह्य कुम्भक करना और फिर चारसे पूरक करना—इस प्रकारसे रेचक-पूरकके सहित बाहर कुम्भक करनेका नाम बाह्यवृत्ति प्राणायाम है ।

बाहरके श्वासको भीतर खींचकर भीतर रोकनेको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं । इसकी विधि यह है कि चार प्रणवसे पूरक करके सोलहसे आभ्यन्तर कुम्भक करे, फिर आठसे रेचक करे । इस प्रकार पूरक-रेचकके सहित भीतर कुम्भक करनेका नाम आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम है ।

बाहर या भीतर, जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणोंके रोकनेका नाम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है । चार प्रणवसे पूरक करके आठसे रेचक करे; इस प्रकार पूरक-रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं प्राणोंको रोकनेका नाम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है ।

इनके और भी बहुत-से भेद हैं; जितनी संख्या और जितना काल पूरकमें लगाया जाय, उतनी ही संख्या और उतना ही काल रेचक और कुम्भकमें भी लगा सकते हैं ।

प्राणवायुके लिये नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिकाके भीतरके भागतकका नाम 'आभ्यन्तर देश' है और नासिकापुटसे बाहर सोलह अङ्गुलतक 'बाहरी देश' है । जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभितक श्वासको खींचता है, वह सोलह अङ्गुलतक बाहर फेंके; जो हृदयतक अंदर खींचता है, वह बारह अङ्गुलतक बाहर फेंके; जो कण्ठतक श्वासको खींचता है, वह आठ अङ्गुल बाहर निकाले और जो नासिकाके अंदर ऊपरी अन्तिम भागतक ही श्वास खींचता है, वह चार अङ्गुल बाहरतक श्वास फेंके । इसमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवालेको 'सूक्ष्म' और पूर्व-पूर्ववालेको 'दीर्घ' समझना चाहिये ।

प्राणायाममें संख्या और कालका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण इनके नियममें व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये ।

जैसे चार प्रणवसे पूरक करते समय एक सेकण्ड

* आसन अनेकों प्रकारके हैं । उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं । इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो, परन्तु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीके मध्यभागमें रखनी चाहिये । आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं । जो पुरुष जिस आसनसे सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, उसके लिये वही आसन उत्तम है ।

समय लगा तो सोलह प्रणवसे कुम्भक करते समय चार सेकण्ड और आठ प्रणवसे रेचक करते समय दो सेकण्ड समय लगना चाहिये । मन्त्रकी गणनाका नाम 'संख्या या मात्रा' है, उसमें लगनेवाले समयका नाम 'काल' है । यदि सुखपूर्वक हो सके तो साधक ऊपर बतलाये काल और मात्राको दूनी, तिगुनी, चौगुनी या जितनी चाहे यथासाध्य बढ़ा सकता है । काल और मात्राकी अधिकता एवं न्यूनतासे भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और सङ्कल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम 'चतुर्थ प्राणायाम' है । पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए प्राणायामोंमें प्राणोंके निरोधसे मनका संयम है और यहाँ मन और इन्द्रियोंके संयमसे प्राणोंका संयम है । यहाँ प्राणोंके रुकनेका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं—तथा काल और संख्याका भी विधान नहीं है ।

'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।' (योग० २ । ५४)

अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है ।

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।' (योग० ३ । १)

चित्तको किसी एक देशविशेषमें स्थिर करनेका नाम धारणा है । अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर—किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना या लगा देना धारणा कहलाता है ।

यहाँ विषय परमेश्वरका है; इसलिये धारणा, ध्यान और समाधि परमेश्वरमें ही करने चाहिये ।

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।' (योग० ३ । २)

उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तुमें चित्तवृत्तिकी एकतानताका नाम ध्यान है । अर्थात् चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे ध्येय वस्तुमें ही लगा रहना ध्यान कहलाता है ।

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।' (योग० ३ । ३)

वह ध्यान ही समाधि हो जाता है, जिस समय केवल ध्येय स्वरूपका (ही) भान होता है और अपने स्वरूपके भानका अभाव-सा रहता है । ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने-आपका भी ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है—उस स्थितिका नाम समाधि है । ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय—यह त्रिपुटी रहती है । समाधिमें केवल अर्थमात्र वस्तु—ध्येय वस्तु ही रहती है अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनोंकी एकता हो जाती है ।

प्रश्न—२७वें श्लोकमें बतलाये हुए आत्मसंयमयोगरूप यज्ञमें और इसमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—वहाँ धारणा-ध्यान-समाधिरूप अन्तरङ्ग साधनकी प्रधानता है; यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारकी नहीं । ये सब अपने-आप ही उनमें आ जाते हैं । और यहाँ सभी साधनोंको क्रमसे करनेके लिये कहा गया है ।

प्रश्न—यहाँ 'योग' शब्दसे कर्मयोग और ज्ञानयोग न लेकर अष्टाङ्गयोग क्यों लिया गया ?

उत्तर—भगवत्प्राप्तिमें साधन होनेके कारण यहाँ सभी यज्ञ कर्मयोग और ज्ञानयोग——इन दो निष्ठाओंके अन्तर्गत ही आ जाते हैं। इसलिये यहाँ 'योग' शब्दसे मुख्यतासे केवल ज्ञानयोग या कर्मयोग नहीं लिया जा सकता।

प्रश्न—'यतयः' पदका अर्थ चतुर्थाश्रमी संन्यासी न करके प्रयत्नशील पुरुष करनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान सभी आश्रमवाले कर सकते हैं; इसलिये यहाँ 'यतयः' पदका अर्थ प्रयत्नशील किया गया है। यह बात अवश्य है कि संन्यास-आश्रममें नित्य-नैमित्तिक और जीविका आदिके कर्मोंका अभाव रहनेके कारण वे इसका अनुष्ठान अधिकतासे कर सकते हैं। पर उनमें भी जो यत्नशील होते हैं, वे ही ऐसा कर सकते हैं; अतः 'यतयः' पदका यहाँ 'प्रयत्नशील' अर्थ लेना ही ठीक मालूम होता है। इसके सिवा ब्रह्मचर्याश्रममें भी स्वाध्यायकी प्रधानता है और स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवालोंके लिये ही 'यतयः' पदका प्रयोग हुआ है; इसलिये भी उसका अर्थ यहाँ संन्यासी नहीं किया गया।

प्रश्न—'संशितव्रताः' पदका क्या अर्थ है और इसको 'यतयः' पदका विशेषण न मानकर श्लोकके पूर्वार्द्धमें उल्लिखित तपोयज्ञ करनेवालोंसे भिन्न प्रकारके तप करनेवाले पुरुषोंका वाचक माननेमें क्या आपत्ति है?

उत्तर—जिन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सदाचारका पालन करनेके नियम भलीभाँति धारण कर रक्खे हों तथा जो राग-द्वेष और अभिमानादि दोषोंसे रहित हों और दृढ़ हों—ऐसे पुरुषोंको 'संशितव्रताः' कहते हैं। 'संशितव्रताः' पदमें 'यज्ञ' शब्द नहीं है, इसलिये उसे भिन्न प्रकारका यज्ञ करनेवालोंका वाचक न मानकर 'यतयः' का विशेषण मानना ही उचित मालूम होता है।

प्रश्न—'स्वाध्यायज्ञानयज्ञ' किस कर्मका वाचक है और उसे 'स्वाध्याययज्ञ' न कहकर 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञ' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिन शास्त्रोंमें भगवान्‌के तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका तथा उनके साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका वर्णन है—ऐसे शास्त्रोंका अध्ययन करना, भगवान्‌की स्तुतिका पाठ करना, उनके नाम और गुणोंका कीर्तन करना तथा वेद और वेदाङ्गोंका अध्ययन करना स्वाध्याय है। ऐसा स्वाध्याय अर्थ-ज्ञानके सहित होनेसे तथा ममता, आसक्ति और फलेच्छाके अभावपूर्वक किये जानेसे 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञ' कहलाता है। इस पदमें स्वाध्यायके साथ 'ज्ञान' शब्दका समास करके यह भाव दिखलाया है कि परमात्माके ज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेसे स्वाध्यायरूप कर्म भी ज्ञानयज्ञ ही है। इसलिये गीताके अध्ययनको भी भगवान्‌ने 'ज्ञानयज्ञ' नाम दिया है (१८।७०)।

सम्बन्ध—द्रव्ययज्ञादि चार प्रकारके यज्ञोंका संक्षेपमें वर्णन करके अब दो श्लोकोंमें प्राणायामरूप यज्ञोंका वर्णन करते हुए सब प्रकारके यज्ञ करनेवाले साधकोंकी प्रशंसा करते हैं—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं ॥ २९-३० ॥

प्रश्न—यहाँ 'जुह्वति' क्रियाके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—प्राणायामके साधनको यज्ञका रूप देनेके लिये 'जुह्वति' क्रियाका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि प्राणायामरूप साधन करना भी यज्ञ ही है। अतएव ममता, आसक्ति और फलेच्छाके त्यागपूर्वक, परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे प्राणायाम करना भी यज्ञार्थ कर्म होनेसे मनुष्यको कर्मबन्धनसे मुक्त करनेवाला और परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है।

प्रश्न—अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करना क्या है?

उत्तर—योगका विषय बड़ा ही दुर्विज्ञेय और गहन है। इसे अनुभवी योगीलोग ही जानते हैं और वे ही भलीभाँति समझा सकते हैं। अतएव इस विषयमें जो कुछ निवेदन किया जाता है, वह शास्त्रदृष्टिसे युक्तियों-द्वारा समझी हुई बात ही लिखी जाती है। शास्त्रोंमें प्राणायामके बहुत-से भेद बतलाये गये हैं; उनमेंसे किसको लक्ष्य बनाकर भगवान्‌का कहना है, यह वस्तुतः भगवान् ही जानते हैं। ध्यान रहे कि शास्त्रोंमें अपानका स्थान गुदा और प्राणका स्थान हृदय बतलाया गया है। बाहरकी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास कहलाता है, इसीको अपानकी गति मानते हैं; क्योंकि अपानका स्थान अधः है और बाहरकी वायुके भीतर प्रवेश करते समय उसकी गति शरीरमें नीचेकी ओर रहती है। इसी तरह भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास कहलाता है, इसीको प्राणकी गति मानते हैं; क्योंकि प्राणका स्थान ऊपर है और भीतरकी वायुके नासिकाद्वारा बाहर निकलते समय उसकी गति शरीरमें ऊपरकी ओर होती है। उपर्युक्त प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय अपानवायु है और हविस्थानीय प्राणवायु है। अतएव यह समझना चाहिये कि जिसे पूरक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँ अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करना है। क्योंकि जब साधक पूरक प्राणायाम करता है तो बाहरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरमें ले जाता है; तब वह बाहरकी वायु हृदयमें स्थित प्राणवायुको साथ लेकर नाभिमेंसे होती हुई अपानमें विलीन हो जाती है। इस साधनमें बार-बार बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर वहीं रोका जाता है, इसलिये इसे आभ्यन्तर कुम्भक भी कहते हैं।

प्रश्न—प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करना क्या है?

उत्तर—इस दूसरे प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय प्राणवायु है और हविस्थानीय अपानवायु है। अतः समझना चाहिये कि जिसे रेचक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँपर प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करना है। क्योंकि जब साधक रेचक प्राणायाम करता है तो वह भीतरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरसे बाहर निकालकर रोकता है; उस समय पहले हृदयमें स्थित प्राणवायु बाहर आकर स्थित हो जाती है और पीछेसे अपानवायु आकर उसमें विलीन होती है। इस साधनमें बार-बार भीतरकी वायुको बाहर निकालकर वहीं रोका जाता है, इस कारणसे इसे बाह्य कुम्भक भी कहते हैं।

प्रश्न—'नियताहाराः' विशेषणका क्या अर्थ है?

उत्तर—जो योगशास्त्रमें बतलाये हुए नियमोंके अनुसार प्राणायामके उपयुक्त परिमित और सात्त्विक

भोजन करनेवाले हैं (१७।८)–अर्थात् न तो योगशास्त्रके नियमसे अधिक खाते हैं और न उपवास ही करते हैं, ऐसे पुरुषोंको 'नियताहाराः' कहते हैं; क्योंकि उपयुक्त आहार करनेवालेका ही योग सिद्ध होता है (६।१७), अधिक भोजन करनेवालेका और सर्वथा भोजनका त्याग कर देनेवालेका योग सिद्ध नहीं होता—यह बात आगे कही गयी है (६।१६)।

प्रश्न–'प्राणायामपरायणाः' विशेषणका क्या अर्थ है ?

उत्तर–जो प्राणोंके नियमन करनेमें अर्थात् बार-बार प्राणोंको रोकनेका अभ्यास करनेमें तत्पर हों और इसीको परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान साधन मानते हों, ऐसे पुरुषोंको 'प्राणायामपरायणाः' कहते हैं।

प्रश्न–यहाँ 'नियताहाराः' और 'प्राणायामपरायणाः' इन दोनों विशेषणोंका सम्बन्ध तीनों प्रकारके प्राणायाम करनेवालोंसे न मानकर केवल प्राणोंमें प्राणोंका हवन करनेवालोंके साथ माननेका क्या अभिप्राय है ? क्या दूसरे दोनों साधक नियताहारी और प्राणायामपरायण नहीं होते ?

उत्तर–उपर्युक्त प्राणायामरूप यज्ञ करनेवाले सभी योगी नियताहारी और प्राणायामपरायण कहे जा सकते हैं। अतएव इन दोनों विशेषणोंका सम्बन्ध सबके साथ माननेमें भावतः कोई आपत्तिकी बात नहीं है। परन्तु उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्ने 'अपरे' पदका दो बार प्रयोग करके इन विशेषणोंका सम्बन्ध 'केवल कुम्भक' करनेवालोंसे ही रक्खा है, इसीसे व्याख्यामें उन्हींके साथ उक्त विशेषणोंका सम्बन्ध माना गया है। किन्तु भावतः प्राणमें अपानका हवन करनेवाले और अपानमें प्राणका हवन करनेवाले साधकोंके साथ भी इन विशेषणोंका सम्बन्ध समझ सकते हैं।

प्रश्न–तीसवें श्लोकमें 'प्राण' शब्दमें बहुवचनका प्रयोग क्यों किया गया है ? तथा प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें हवन करना क्या है ?

उत्तर–शरीरके भीतर रहनेवाली वायुके पाँच भेद माने जाते हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। इनमें प्राणका स्थान हृदय, अपानका गुदा, समानका नाभि, उदानका कण्ठ और व्यानका समस्त शरीर माना गया है। इन पाँचों वायुभेदोंको 'पञ्चप्राण' भी कहते हैं। अतएव यहाँ पाँचों वायुभेदोंको जीतकर इन सबका निरोध करनेके साधनको यज्ञका रूप देनेके लिये प्राणशब्दमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है। इस साधनमें अग्नि और हवन करने योग्य द्रव्य दोनोंके स्थानमें प्राणोंको ही रक्खा गया है। इसलिये समझना चाहिये कि जिस प्राणायाममें प्राण और अपान—इन दोनोंकी गति रोक दी जाती है अर्थात् न तो पूरक प्राणायाम किया जाता है और न रेचक, किन्तु श्वास और प्रश्वासको बंद करके प्राण-अपान आदि समस्त वायु-भेदोंको अपने-अपने स्थानोंमें ही रोक दिया जाता है—वही यहाँ प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंका प्राणोंमें हवन करना है। इस साधनमें न तो बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर रोका जाता है और न भीतरकी वायुको बाहर लाकर; अपने-अपने स्थानोंमें स्थित पञ्च वायुभेदोंको वहीं रोक दिया जाता है। इसलिये इसे 'केवल कुम्भक' कहते हैं।

प्रश्न–उपर्युक्त त्रिविध प्राणायामरूप यज्ञमें जप करना आवश्यक है या नहीं ? यदि आवश्यक है तो प्रणव (ॐ) का ही जप करना चाहिये या किसी दूसरे नामका भी जप किया जा सकता है ?

उत्तर–प्रणव (ॐ) सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माका वाचक है (१७।२३); किसी भी उत्तम क्रियाके प्रारम्भमें इसका उच्चारण करना कर्तव्य माना

गया है (१७।२४)। इसलिये इस प्रकरणमें जितने भी यज्ञोंका वर्णन है, उन सभीमें भगवान्‌के नामका सम्बन्ध अवश्य जोड़ देना चाहिये। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रणवके स्थानमें श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव आदि जिस नाममें जिसकी रुचि और श्रद्धा हो, उसी नामका प्रयोग किया जा सकता है। क्योंकि उस परब्रह्म परमात्माके सभी नामोंका फल श्रद्धाके अनुसार लाभप्रद होता है। यहाँ सभी साधनोंको यज्ञका रूप दिया गया है और विना मन्त्रके यज्ञको तामस माना गया है (१७।१३); इसलिये भी मन्त्रस्थानीय भगवन्नामका प्रयोग परमावश्यक है। उपर्युक्त प्राणायामरूप यज्ञमें एक, दो, तीन आदि संख्याके प्रयोगसे या चुटकीके प्रयोगसे मात्रा आदिका ज्ञान रक्खा जानेसे मन्त्रकी कमी रह जाती है; इसलिये वह सात्त्विक यज्ञ नहीं होता। अतः यही समझना चाहिये कि प्राणायामरूप यज्ञमें नामका जप परमावश्यक है। साथ-साथ इष्टदेवताका ध्यान भी करते रहना चाहिये।

प्रश्न—उपर्युक्त सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—तेईसवें श्लोकमें जो यह बात कही गयी थी कि यज्ञके लिये कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषके समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं, वही बात इस कथनसे स्पष्ट की गयी है। अभिप्राय यह है कि २४वें श्लोकसे लेकर यहाँतक जिन यज्ञ करनेवाले साधक पुरुषोंका वर्णन हुआ है, वे सभी ममता, आसक्ति और फलेच्छासे रहित होकर यज्ञार्थ उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करके उनके द्वारा पूर्वसञ्चित कर्मसंस्काररूप समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश कर देनेवाले हैं; इसलिये वे यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले हैं। जो मनुष्य उपर्युक्त साधनोंमेंसे कितने ही साधनोंको सकामभावसे किसी सांसारिक फलकी प्राप्तिके लिये करते हैं, वे यद्यपि न करनेवालोंसे बहुत अच्छे हैं, परन्तु यज्ञके तत्त्वको समझकर यज्ञार्थ कर्म करनेवाले नहीं हैं; अतएव वे कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं होते।

सम्बन्ध—इस प्रकार यज्ञ करनेवाले साधकोंकी प्रशंसा करके अब उन यज्ञोंके करनेसे होनेवाले लाभ और न करनेसे होनेवाली हानि दिखलाकर भगवान् उपर्युक्त प्रकारसे यज्ञ करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञसे बचे हुए प्रसादरूप अमृतको खानेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। और यज्ञ न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है ? ॥ ३१ ॥

प्रश्न—यहाँ यज्ञसे बचा हुआ अमृत क्या है और उसको खाना क्या है ?

उत्तर—लोकप्रसिद्धिमें देवताओंके निमित्त अग्निमें घृतादि पदार्थोंका हवन करना यज्ञ है और उससे

बचा हुआ हविष्यान्न ही यज्ञशिष्ट अमृत है। इसी तरह स्मृतिकारोंने जिन पञ्चमहायज्ञादिका वर्णन किया है, उनमें देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणिमात्रके लिये यथाशक्ति विधिपूर्वक अन्नका विभाग कर देनेके बाद बचे हुए अन्नको यज्ञशिष्ट अमृत कहते हैं; किन्तु यहाँ भगवान्ने उपर्युक्त यज्ञके रूपकमें परमात्माकी प्राप्तिके ज्ञान, संयम, तप, योग, स्वाध्याय, प्राणायाम आदि ऐसे साधनोंका भी वर्णन किया है जिनमें अन्नका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करनेसे साधकोंका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें जो प्रसादरूप प्रसन्नताकी उपलब्धि होती है (२। ६४-६५; १८।३६-३७), वही यज्ञसे बचा हुआ अमृत है, क्योंकि वह अमृतस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है तथा उस विशुद्ध भावसे उत्पन्न सुखमें नित्यतृप्त रहना ही यहाँ उस अमृतको खाना है।

प्रश्न—उपर्युक्त परमात्मप्राप्तिके साधनरूप यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंको सनातन परब्रह्मकी प्राप्ति इसी जन्ममें हो जाती है या जन्मान्तरमें होती है?

उत्तर—यह उनके साधनकी स्थितिपर निर्भर है। जिसके साधनमें भावकी कमी नहीं होती, उसको तो इसी जन्ममें और बहुत ही शीघ्र सनातन परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है; जिसके साधनमें किसी प्रकारकी त्रुटि रह जाती है, उसको उस कमीकी पूर्ति होनेपर होती है; परन्तु उपर्युक्त साधन व्यर्थ कभी नहीं होते, इनके साधकोंको परमात्माकी प्राप्तिरूप फल अवश्य मिलता है (६। ४०)—यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह सामान्य बात कही है कि वे लोग सनातन परब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—सनातन परब्रह्मकी प्राप्तिसे सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति मानी जाय या निर्गुणकी?

उत्तर—सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दो नहीं हैं, सच्चिदानन्दघन परमेश्वर ही सगुण ब्रह्म हैं और वे ही निर्गुण ब्रह्म हैं। अपनी भावना और मान्यताके अनुसार साधकोंकी दृष्टिमें ही सगुण और निर्गुणका भेद है, वास्तवमें नहीं। सनातन परब्रह्मकी प्राप्ति होनेके बाद कोई भेद नहीं रहता।

प्रश्न—यहाँ 'अयज्ञस्य' पद किस मनुष्यका वाचक है और उसके लिये यह लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक तो कैसे सुखदायक हो सकता है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—जो मनुष्य उपर्युक्त यज्ञोंमेंसे या इनके सिवा जो और भी अनेक प्रकारके साधनरूप यज्ञ शास्त्रोंमें वर्णित हैं, उनमेंसे कोई-सा भी यज्ञ सकाम या निष्कामभावसे—किसी प्रकार भी नहीं करता, उस मनुष्यजीवनके कर्तव्यका पालन न करनेवाले पुरुषका वाचक यहाँ 'अयज्ञस्य' पद है। उसको यह लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक तो कैसे सुखदायक हो सकता है—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त साधनोंका अधिकार पाकर भी उनमें न लगनेके कारण उसको मुक्ति तो मिलती ही नहीं, स्वर्ग भी नहीं मिलता और मुक्तिके द्वाररूप इस मनुष्यशरीरमें भी कभी शान्ति नहीं मिलती; क्योंकि परमार्थसाधनहीन मनुष्य नित्य-निरन्तर नाना प्रकारकी चिन्ताओंकी ज्वालासे जला करता है; फिर उसे दूसरी योनियोंमें तो, जो केवल भोगयोनिमात्र हैं और जिनमें सच्चे सुखकी प्राप्तिका कोई साधन ही नहीं है, शान्ति मिल ही कैसे सकती है? मनुष्यशरीरमें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका ही फल दूसरी योनियोंमें भोगा जाता है। अतएव जो इस मनुष्यशरीरमें अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसे किसी भी योनिमें सुख नहीं मिल सकता।

प्रश्न—इस लोकमें शास्त्रविहित उत्तम कर्म न करनेवालोंको और शास्त्रविपरीत कर्म करनेवालोंको भी स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिरूप सुखका मिलना तो देखा जाता है; फिर यह कहनेका क्या अभिप्राय है कि यज्ञ न करनेवालेको यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है ?

उत्तर—उपर्युक्त इष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिरूप सुखका मिलना भी पूर्वकृत शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका ही फल है, पापकर्मोंका नहीं । इस सुखको वर्तमान जन्ममें किये हुए पापकर्मोंका या शुभ कर्मोंके त्यागका फल कदापि नहीं समझना चाहिये । इसके सिवा, उपर्युक्त सुख वास्तवमें सुख भी नहीं है । अतएव भगवान्के कहनेका यहाँ यही अभिप्राय है कि साधनरहित मनुष्यको इस मनुष्यशरीरमें भी (जो कि परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिका द्वार है) उसकी मूर्खताके कारण सात्त्विक सुख या सच्चा सुख नहीं मिलता, वरं नाना प्रकारकी भोगवासनाके कारण निरन्तर शोक और चिन्ताओंके सागरमें ही डूबे रहना पड़ता है ।

प्रश्न—पुत्रका माता-पितादिकी सेवा करना, स्त्रीका पतिकी सेवा करना, शिष्यका गुरुकी सेवा करना और इसी प्रकार शास्त्रविहित अन्यान्य शुभ कर्मोंका करना यज्ञार्थ कर्म करनेके अन्तर्गत है या नहीं और उनको करनेवाला सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—उपर्युक्त सभी कर्म स्वधर्मपालनके अन्तर्गत हैं, अतएव जब स्वधर्मपालनरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये परमेश्वरकी आज्ञा मानकर निःस्वार्थभावसे किये जानेवाले युद्ध और कृषि-वाणिज्यादिरूप कर्म भी यज्ञके अन्तर्गत हैं और उनको करनेवाला मनुष्य भी सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब माता-पितादि गुरुजनोंको, गुरुको और पतिको परमेश्वरकी मूर्ति समझकर या उनमें परमात्माको व्याप्त समझकर अथवा उनकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझकर उन्हींको सुख पहुँचानेके लिये जो निःस्वार्थभावसे उनकी सेवा करना है, वह यज्ञके लिये कर्म करना है और उससे मनुष्यको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है—इसमें तो कहना ही क्या है ?

प्रश्न—इस प्रकरणमें जो भिन्न-भिन्न यज्ञोंके नामसे भिन्न-भिन्न प्रकारके साधन बतलाये गये हैं, वे ज्ञानयोगीके द्वारा किये जानेयोग्य हैं या कर्मयोगीके द्वारा ?

उत्तर—चौबीसवें श्लोकमें जो 'ब्रह्मयज्ञ' और पचीसवें श्लोकके उत्तरार्द्धमें जो आत्मा-परमात्माका अभेददर्शनरूप यज्ञ बतलाया गया है, उन दोनोंका अनुष्ठान तो ज्ञानयोगी ही कर सकता है, कर्मयोगी नहीं कर सकता; क्योंकि उनमें साधक परमात्मासे भिन्न नहीं रहता । उनको छोड़कर शेष सभी यज्ञोंका अनुष्ठान ज्ञानयोगी और कर्मयोगी दोनों ही कर सकते हैं, उनमें दोनोंके लिये ही किसी प्रकारकी अड़चन नहीं है ।

सम्बन्ध—सोलहवें श्लोकमें भगवान्ने यह बात कही थी कि मैं तुम्हें वह कर्मतत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम अशुभसे मुक्त हो जाओगे । उस प्रतिज्ञाके अनुसार १८वें श्लोकसे यहाँतक उस कर्मतत्त्वका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हैं—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान; इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

प्रश्न—इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैंने जो तुमको ये साधनरूप यज्ञ बतलाये हैं, इतने ही यज्ञ नहीं हैं, किन्तु इनके सिवा और भी बहुत प्रकारके यज्ञ यानी परमात्माकी प्राप्तिके साधन वेदमें बतलाये गये हैं; उन सबका अनुष्ठान तथा ममता, आसक्ति और फलेच्छाके त्यागपूर्वक करनेवाले साधक यज्ञके लिये कर्म करनेवाले ही हैं। अतएव उपर्युक्त यज्ञोंको करनेवाले पुरुषोंकी भाँति वे भी कर्मबन्धनमें न पड़कर सनातन परब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं।

प्रश्न—यहाँ यदि 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ ब्रह्मा या परमेश्वर मान लिया जाय और उसके अनुसार यज्ञोंको वेदवाणीमें विस्तृत न मानकर ब्रह्माके मुखमें या परमेश्वरके मुखमें विस्तृत मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है? क्योंकि 'प्रजापति ब्रह्माने यज्ञसहित प्रजाको उत्पन्न किया' यह बात तीसरे अध्यायके दसवें श्लोकमें आयी है और 'परमेश्वरके द्वारा ब्राह्मण, वेद और यज्ञोंकी रचना की गयी है' यह बात सतरहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें कही गयी है।

उत्तर—प्रजापति ब्रह्माकी उत्पत्ति भी परमेश्वरसे ही होती है; इस कारण ब्रह्मासे उत्पन्न होनेवाले वेद, ब्राह्मण और यज्ञादिको ब्रह्मासे उत्पन्न बतलाना अथवा परमेश्वरसे उत्पन्न बतलाना दोनों एक ही बात है। इसी तरह भिन्न-भिन्न यज्ञोंका विस्तारपूर्वक वर्णन वेदोंमें है और वेदोंका प्राकट्य ब्रह्मासे हुआ है तथा ब्रह्माकी उत्पत्ति परमेश्वरसे; इस कारण यज्ञोंको परमेश्वरसे या ब्रह्मासे उत्पन्न बतलाना अथवा वेदोंसे उत्पन्न बतलाना भी एक ही बात है। किन्तु अन्यत्र यज्ञोंको वेदसे उत्पन्न बतलाया गया है (३।१५) और उनका विस्तारपूर्वक वर्णन भी वेदोंमें है; इसलिये 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वेद मानकर जैसा अर्थ किया गया है, वही ठीक मालूम होता है।

प्रश्न—उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने कर्मोंके सम्बन्धमें तीन बातें समझनेके लिये कहा है—

(१) यहाँ जिन साधनरूप यज्ञोंका वर्णन किया गया है एवं इनके सिवा और भी जितने कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा ही होते हैं। उनमेंसे किसीका सम्बन्ध केवल मनसे है, किसीका मन और इन्द्रियोंसे एवं किसी-किसीका मन, इन्द्रिय और शरीर—इन सबसे है। ऐसा कोई भी यज्ञ नहीं है, जिसका इन तीनोंमेंसे किसीके साथ सम्बन्ध न हो। इसलिये साधकको चाहिये कि जिस साधनमें शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंकी क्रियाका या सङ्कल्प-विकल्प आदि मनकी क्रियाका त्याग किया जाता है, उस त्यागरूप साधनको भी कर्म ही समझे और उसे भी फल, कामना, आसक्ति तथा ममतासे रहित होकर ही करे; नहीं तो वह भी बन्धनका हेतु बन सकता है।

(२) 'यज्ञ' नामसे कहे जानेवाले जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म और परमात्माकी प्राप्तिके भिन्न-भिन्न साधन हैं, वे प्रकृतिके कार्यरूप मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा ही होनेवाले हैं; आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिये किसी भी कर्म या

साधनमें ज्ञानयोगीको कर्तापनका अभिमान नहीं करना चाहिये ।

(३) मन, इन्द्रिय और शरीरकी चेष्टारूप कर्मोंके बिना परमात्माकी प्राप्ति या कर्मबन्धनसे मुक्ति नहीं हो सकती (३।४); कर्मबन्धनसे छूटनेके जितने भी उपाय बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय और शरीर-की क्रियाद्वारा ही सिद्ध होते हैं । अतः परमात्माकी प्राप्ति और कर्मबन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छावाले मनुष्यों-को ममता, फलेच्छा और आसक्तिके त्यागपूर्वक किसी-न-किसी साधनमें अवश्य ही तत्पर हो जाना चाहिये ।

प्रश्न—इस प्रकार जानकर तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह बात कही है कि १८वें श्लोकसे यहाँतक मैंने जो तुमको कर्मोंका तत्त्व बतलाया है, उसके अनुसार समस्त यज्ञोंको उपर्युक्त प्रकारसे भलीभाँति तत्त्वसे जानकर तुम कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे । क्योंकि इस तत्त्वको समझकर कर्म करनेवाले पुरुषके कर्म बन्धनकारक नहीं होते, बल्कि पूर्वसञ्चित कर्मोंका भी नाश करके मुक्तिदायक हो जाते हैं ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकरणमें भगवान्‌ने कई प्रकारके यज्ञोंका वर्णन किया और यह बात भी कही कि इनके सिवा और भी बहुत-से यज्ञ वेद-शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं; इसलिये यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उन यज्ञोंमेंसे कौन-सा यज्ञ श्रेष्ठ है । इसपर भगवान् कहते हैं—

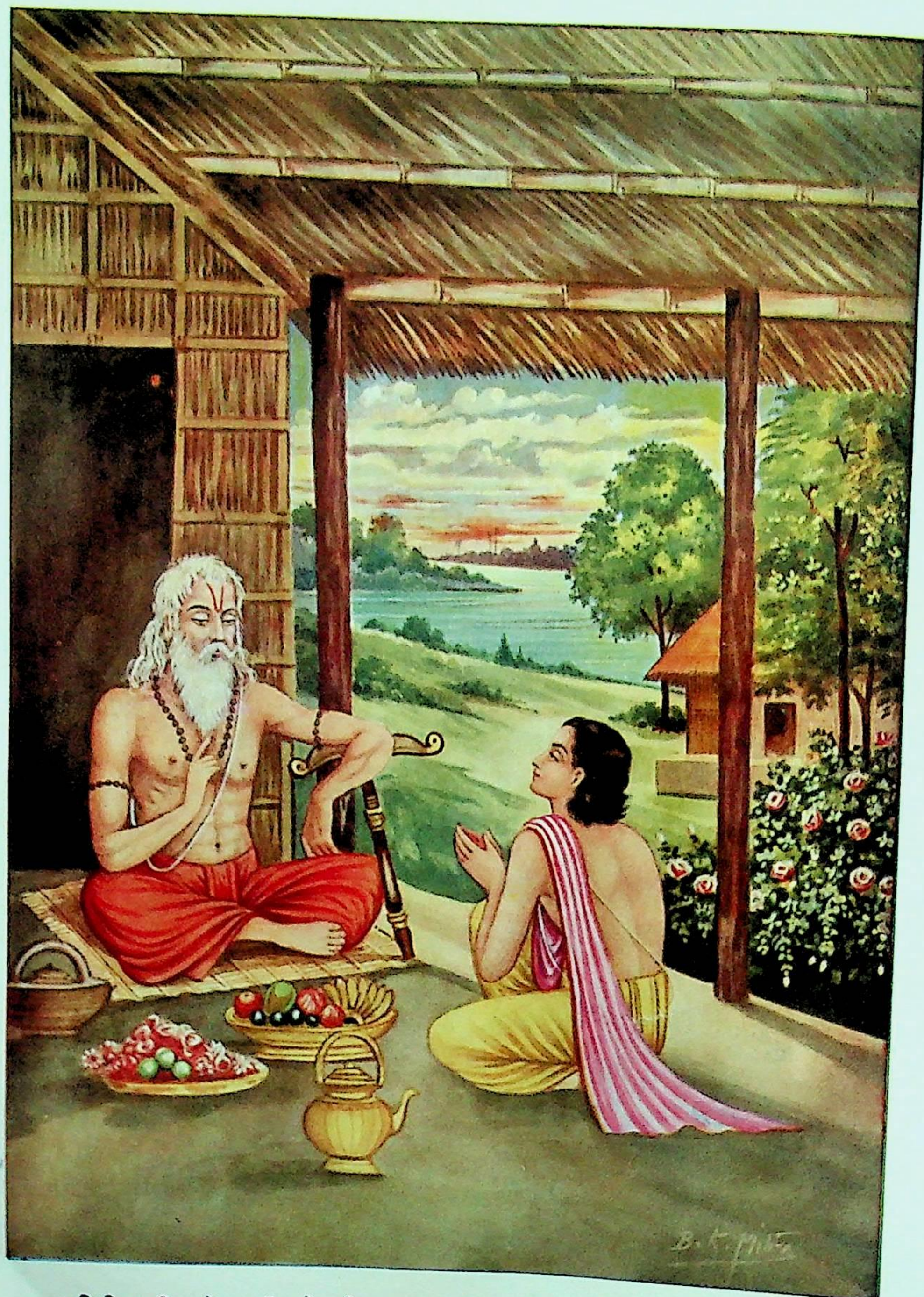
श्रेयान्‌ द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परन्तप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है, क्योंकि यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं ॥३३॥

प्रश्न—यहाँ द्रव्यमय यज्ञ किस यज्ञका वाचक है और ज्ञानयज्ञ किस यज्ञका ? तथा द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञको श्रेष्ठ बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस यज्ञमें द्रव्यकी अर्थात् सांसारिक वस्तुकी प्रधानता हो, उसे द्रव्यमय यज्ञ कहते हैं । अतः अग्निमें घृत, चीनी, दही, दूध, तिल, जौ, चावल, मेवा, चन्दन, कपूर, धूप, सुगन्धयुक्त ओषधियाँ आदि हविका विधिपूर्वक हवन करना; दान देना; परोपकारके लिये कुँआ, बावड़ी, तालाब, धर्मशाला आदि बनवाना; बलि-वैश्वदेव करना आदि जितने सांसारिक पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रविहित शुभ कर्म हैं—वे सब द्रव्यमय यज्ञके अन्तर्गत हैं । उपर्युक्त साधनोंमें इसका वर्णन दैवयज्ञ और द्रव्ययज्ञके नामसे हुआ है । इनसे भिन्न जो विवेक, विचार और आध्यात्मिक ज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले साधन हैं, वे सब ज्ञानयज्ञके अन्तर्गत हैं । यहाँ द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञको श्रेष्ठ बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि कोई साधक अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित अग्निहोत्र, ब्राह्मण-भोजन, दान आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान न करके केवल आत्मसंयम, शास्त्राध्ययन, तत्त्वविचार और योगसाधन आदि विवेक-विज्ञानसम्बन्धी शुभ कर्मोंमेंसे किसी एकका भी अनुष्ठान करता है तो यह नहीं समझना चाहिये कि वह शुभ कर्मोंका त्यागी है, बल्कि यही समझना चाहिये

गुरु-शिष्य



तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(अ० ४ । ३४)

कि वह उनकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ कार्य कर रहा है। क्योंकि द्रव्ययज्ञ भी ममता, आसक्ति और फलेच्छा-का त्याग कर ज्ञानपूर्वक किये जानेपर ही मुक्तिका हेतु होता है, नहीं तो उल्टा बन्धनका हेतु बन जाता है और उपर्युक्त साधनोंमें लगे हुए मनुष्य तो स्वरूपसे भी विषयोंका त्याग करते हैं, इसलिये उनके कार्य सबके लिये अधिक लाभप्रद हैं। यथार्थ ज्ञान (तत्त्वज्ञान) की प्राप्तिमें भावकी प्रधानता है, सांसारिक वस्तुओंके विस्तारकी नहीं। इसीलिये यहाँ द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञको श्रेष्ठ बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ 'अखिलम्' और 'सर्वम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किसका वाचक है और 'सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकरणमें जितने प्रकारके साधन-रूप कर्म बतलाये गये हैं तथा इनके सिवा और भी जितने शुभ कर्मरूप यज्ञ वेद-शास्त्रोंमें वर्णित हैं, (४।३२) उन सबका वाचक यहाँ 'अखिलम्' और 'सर्वम्' विशेषणोंके सहित 'कर्म' पद है। अतः 'सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं' इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इन समस्त साधनोंका बड़े-से-बड़ा फल परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना है। जिसको यथार्थ ज्ञानद्वारा परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसे कुछ भी प्राप्त होना शेष नहीं रहता।

प्रश्न—इस श्लोकमें आये हुए 'ज्ञानयज्ञ' और 'ज्ञान', इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ है या अलग-अलग ?

उत्तर—दोनोंका एक अर्थ नहीं है; 'ज्ञानयज्ञ' शब्द तो यथार्थ ज्ञानप्राप्तिके लिये किये जानेवाले साधनोंका वाचक है और 'ज्ञान' शब्द उसके फलरूप परमात्माके यथार्थ ज्ञान (तत्त्वज्ञान)का वाचक है। इस प्रकार दोनोंके अर्थमें भेद है।

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञानयज्ञकी और उसके फलरूप ज्ञानकी प्रशंसा करके अब भगवान् दो श्लोकोंमें ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हुए उसकी प्राप्तिका मार्ग और उसका फल बतलाते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भली-भाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तत्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—समस्त साधनोंके फलरूप जिस तत्त्वज्ञानकी पूर्वश्लोकमें प्रशंसा की गयी है और जो परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान है, उसका वाचक यहाँ 'तत्' पद है।

प्रश्न—उस ज्ञानको जाननेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि परमात्माके यथार्थ तत्त्वको विना जाने मनुष्य जन्म-मरणरूप कर्मबन्धनसे नहीं छूट सकता, अतः उसे अवश्य जान लेना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंसे ज्ञानको जाननेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌के द्वारा बार-बार परमात्मतत्त्वकी बात कही जानेपर भी उसे न समझनेसे अर्जुनमें श्रद्धाकी कुछ कमी सिद्ध होती है । अतएव उनकी श्रद्धा बढ़ानेके लिये अन्य आचार्योंसे ज्ञान सीखनेके लिये कहकर उन्हें चेतावनी दी गयी है ।

प्रश्न—'प्रणिपात' किसको कहते हैं ?

उत्तर—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सरलतासे दण्डवत् प्रणाम करना 'प्रणिपात' कहलाता है ।

प्रश्न—'सेवा' किसको कहते हैं ?

उत्तर—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आचार्यके पास निवास करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके मानसिक भावोंको समझकर हरेक प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना—ये सभी सेवाके अन्तर्गत हैं ।

प्रश्न—'परिप्रश्न' किसको कहते हैं ?

उत्तर—परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छासे श्रद्धा और भक्तिभावसे किसी बातको पूछना 'परिप्रश्न' है । अर्थात् मैं कौन हूँ ? माया क्या है ? परमात्माका क्या स्वरूप है ? मेरा और परमात्माका क्या सम्बन्ध है ? बन्धन क्या है ? मुक्ति क्या है ? और किस प्रकार साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है ?—इत्यादि अध्यात्मविषयक समस्त बातोंको श्रद्धा, भक्ति और सरलतापूर्वक पूछना ही 'परिप्रश्न' है; तर्क और वितण्डासे प्रश्न करना 'परिप्रश्न' नहीं है ।

प्रश्न—प्रणाम करनेसे, सेवा करनेसे और सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे तत्त्वज्ञानी तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे—इस कथनका क्या अभिप्राय है ? क्या ज्ञानीजन इन सबके बिना ज्ञानका उपदेश नहीं करते ?

उत्तर—उपर्युक्त कथनसे भगवान्‌ने ज्ञानकी प्राप्तिमें श्रद्धा, भक्ति और सरलभावकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया है । अभिप्राय यह है कि श्रद्धा-भक्तिरहित मनुष्यको दिया हुआ उपदेश उसके द्वारा ग्रहण नहीं होता; इसी कारण महापुरुषोंको प्रणाम, सेवा और आदर-सत्कारकी कोई आवश्यकता न होनेपर भी, अभिमानपूर्वक, उद्दण्डतासे, परीक्षाबुद्धिसे या कपटभावसे प्रश्न करनेवालेके सामने तत्त्वज्ञानसम्बन्धी बातें कहनेमें उनकी प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। अतएव जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करना हो, उसे चाहिये कि श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आचार्यके पास जाकर उनको आत्मसमर्पण करे, उनकी भलीभाँति सेवा करे और अवकाश देखकर उनसे परमात्माके तत्त्वकी बातें पूछे । ऐसा करनेसे जैसे बछड़ेको देखकर वात्सल्यभावसे गौके स्तनोंमें और बच्चेके लिये माके स्तनोंमें दूधका स्रोत बहने लग जाता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुषोंके अन्तःकरणमें उस अधिकारी-को उपदेश करनेके लिये ज्ञानका समुद्र उमड़ आता है । इसलिये श्रुतिमें भी कहा है—

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।' (मुण्ड० उ० १ । २ । १२)

अर्थात् उस तत्त्वज्ञानको जाननेके लिये वह (जिज्ञासु साधक) समिधा—यथाशक्ति भेंट हाथमें लिये हुए निरभिमान होकर वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषके पास जावे ।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानिनः' के साथ 'तत्त्वदर्शिनः' विशेषण देनेका और इसमें बहुवचनके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'ज्ञानिनः' के साथ 'तत्त्वदर्शिनः' विशेषण देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि परमात्माके तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वेदवेत्ता ज्ञानी महापुरुष ही उस तत्त्वज्ञानका उपदेश दे सकते हैं, केवल शास्त्रके

ज्ञाता या साधारण मनुष्य नहीं। तथा यहाँ बहुवचनका प्रयोग ज्ञानी महापुरुषको आदर देनेके लिये किया गया है, यह कहनेके लिये नहीं कि तुम्हें बहुत-से तत्त्वज्ञानी मिलकर ज्ञानका उपदेश करेंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥३५॥

—जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा॥३५॥

प्रश्न—यहाँ 'यत्' पद किसका वाचक है? उसको जानना क्या है? तथा 'इस प्रकारसे मोहको नहीं प्राप्त होगा' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'यत्' पद पूर्व श्लोकमें वर्णित ज्ञानी महापुरुषोंद्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञानका वाचक है और उस उपदेशके अनुसार परमात्माके स्वरूपको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेना ही उस ज्ञानको जानना है। तथा 'इस प्रकारसे मोहको नहीं प्राप्त होगा' इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस समय तुम जिस प्रकार मोहके वश होकर शोकमें निमग्न हो रहे हो (१।२८-४७; २।६, ८), महापुरुषोंद्वारा उपदिष्ट ज्ञानके अनुसार परमात्माका साक्षात् कर लेनेके बाद पुनः तुम इस प्रकारके मोहको नहीं प्राप्त होओगे। क्योंकि जैसे रात्रिके समय सब जगह फैला हुआ अन्धकार सूर्योदय होनेके बाद नहीं रह सकता, उसी प्रकार परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेके बाद 'मैं कौन हूँ? संसार क्या है? माया क्या है? ब्रह्म क्या है?' इत्यादि कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। फलतः शरीरको आत्मा समझकर उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्राणियोंमें और पदार्थोंमें ममता करना, शरीरकी उत्पत्ति-विनाशसे आत्माका जन्म-मरण समझकर उन सबके संयोग-वियोगमें सुखी-दुखी होना तथा अन्य किसी भी निमित्तसे राग-द्वेष और हर्ष-शोक करना आदि मोहजनित विकार जरा भी नहीं हो सकते। लौकिक सूर्य तो उदय होकर अस्त भी होता है और उसके अस्त होनेपर फिर अन्धकार हो जाता है; परन्तु यह ज्ञानसूर्य एक बार उदय होनेपर फिर कभी अस्त होता ही नहीं। परमात्माका यह तत्त्वज्ञान नित्य और अचल है, इसका कभी अभाव नहीं होता; इस कारण परमात्माका तत्त्व-ज्ञान होनेके बाद फिर मोहकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। श्रुति कहती है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(ईश० उ० ७)

अर्थात् जिस समय तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुए पुरुषके लिये समस्त प्राणी आत्मस्वरूप ही हो जाते हैं, उस समय उस एकत्वदर्शी पुरुषको कौन-सा शोक और कौन-सा मोह हो सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं हो सकता।

प्रश्न—ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे आत्माके अन्तर्गत देखना क्या है?

उत्तर—महापुरुषोंसे परमात्माके तत्त्वज्ञानका उपदेश पाकर आत्माको सर्वव्यापी, अनन्तस्वरूप समझना तथा समस्त प्राणियोंमें भेद-बुद्धिका अभाव होकर सर्वत्र आत्मभाव हो जाना—अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्‌को अपने अन्तर्गत स्मृतिमात्र देखता है, वास्तवमें अपनेसे भिन्न अन्य किसीकी सत्ता

नहीं देखता, उसी प्रकार समस्त जगत्को अपनेसे अभिन्न और अपने अन्तर्गत समझना सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषतासे आत्माके अन्तर्गत देखना है (६ । २९)। इस प्रकार आत्मज्ञान होनेके साथ ही मनुष्यके शोक और मोहका सर्वथा अभाव हो जाता है।

प्रश्न—इस प्रकार आत्मदर्शन हो जानेके बाद सम्पूर्ण भूतोंको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखना क्या है ?

उत्तर—सम्पूर्ण भूतोंको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखना पूर्वोक्त आत्मदर्शनरूप स्थितिका फल है; इसीको परमपदकी प्राप्ति, निर्वाण-ब्रह्मकी प्राप्ति और परमात्मामें प्रविष्ट हो जाना भी कहते हैं। इस स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषका अहंभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है; उस योगीकी पृथक् सत्ता नहीं रहती, केवल एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही रह जाता है। उसका समस्त भूतोंको परमात्मामें स्थित देखना भी शास्त्रदृष्टिसे कहनेमात्रको ही है; क्योंकि उसके लिये द्रष्टा और दृश्यका भेद ही नहीं रहता, तब कौन देखता है और किसको देखता है ? यह स्थिति वाणीसे सर्वथा अतीत है, इसलिये वाणीसे इसका केवल सङ्केतमात्र किया जाता है। लोकदृष्टिमें उस ज्ञानीके जो मन, बुद्धि और शरीर आदि रहते हैं, उनके भावोंको लेकर ही ऐसा कहा जाता है कि वह समस्त प्राणियोंको सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें देखता है; क्योंकि वस्तुतः उसकी बुद्धिमें सम्पूर्ण जगत् जलमें बरफ, आकाशमें बादल और स्वर्णमें आभूषणोंकी भाँति ब्रह्मरूप ही हो जाता है, कोई भी पदार्थ या प्राणी ब्रह्मसे भिन्न नहीं रह जाता। छठे अध्यायके पचीसवें श्लोकमें मनको आत्मामें स्थित करनेकी बात कहकर सत्ताईसवें श्लोकमें उसका परिणाम जो योगीका 'ब्रह्मभूत' हो जाना तथा उन्तीसवें श्लोकमें योग-युक्तात्मा और सर्वत्र समदर्शी योगीका जो सब भूतोंको आत्मामें स्थित देखना और सब भूतोंमें आत्माको स्थित देखना बतलाया गया है, वह तो यहाँ 'द्रक्ष्यसि आत्मनि' से बतलायी हुई पहली स्थिति है और उस अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें जो ब्रह्मसंस्पर्शरूप अत्यन्त सुखकी प्राप्ति बतलायी गयी है, वह यहाँ 'अथो मयि' से बतलायी हुई, उस पहली स्थितिकी फलरूपा दूसरी स्थिति है। अठारहवें अध्यायमें भी भगवान्‌ने ज्ञानयोगके वर्णनमें चौवनवें श्लोकमें योगीका ब्रह्मभूत होना बतलाया है और पचपनवेंमें ज्ञानरूप परा-भक्तिके द्वारा उसका परमात्मामें प्रविष्ट होना बतलाया है। वही बात यहाँ दिखलायी गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार गुरुजनोंसे तत्त्वज्ञान सीखनेकी विधि और उसका फल बतलाकर अब उसका माहात्म्य बतलाते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पापोंको भलीभाँति लाँघ जायगा ॥ ३६ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें 'चेत्' और 'अपि' पदोंका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इन पदोंके प्रयोगसे भगवान्‌ने अर्जुनको यह बतलाया है कि तुम वास्तवमें पापी नहीं हो

(३।३), तुम तो दैवीसम्पदाके लक्षणोंसे युक्त (१६।५) तथा मेरे प्रिय भक्त और सखा हो (४।३); तुम्हारे अंदर पाप कैसे रह सकते हैं। परन्तु इस ज्ञानका इतना प्रभाव और माहात्म्य है कि यदि तुम अधिक-से-अधिक पापकर्मी होओ तो भी तुम इस ज्ञानरूप नौकाके द्वारा उन समुद्रके समान अथाह पापोंसे भी अनायास तर सकते हो। बड़े-से-बड़े पाप भी तुम्हें अटका नहीं सकते।

प्रश्न—जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ है, ऐसा अत्यन्त पापात्मा मनुष्य तो ज्ञानका अधिकारी भी नहीं माना जा सकता; तब फिर वह ज्ञाननौका-द्वारा पापोंसे कैसे तर जाता है ?

उत्तर—'चेत्' और 'अपि'—इन पदोंका प्रयोग होनेसे यहाँ इस शङ्काकी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि भगवान्के कहनेका यहाँ यह भाव है कि पापी ज्ञानका अधिकारी नहीं होता, इस कारण उसे ज्ञानरूप नौकाका मिलना असम्भव-सा है; पर मेरी कृपासे या महापुरुषोंकी दयासे—किसी भी कारणसे यदि उसे ज्ञान प्राप्त हो जाय तो फिर वह चाहे कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, उसका तत्काल ही पापोंसे उद्धार हो जाता है।

प्रश्न—यहाँ पापोंसे तरनेकी बात कहनेका क्या भाव है, क्योंकि सकामभावसे किये हुए पुण्यकर्म भी तो मनुष्यको बाँधनेवाले हैं ?

उत्तर—पुण्यकर्म भी सकामभावसे किये जानेपर बन्धनके हेतु होते हैं; अतः समस्त कर्मबन्धनोंसे सर्वथा छूटनेपर ही समस्त पापोंसे तरा जाता है, यह ठीक ही है। किन्तु पुण्यकर्मोंका त्याग करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है ही, उनके फलका त्याग तो वह जब चाहे तभी कर सकता है; परन्तु ज्ञानके बिना पापोंसे तर जाना उसके हाथकी बात नहीं है। इसलिये पापोंसे तरना कह देनेसे पुण्यकर्मोंके बन्धनसे मुक्त होनेकी बात उसके अन्तर्गत ही आ जाती है।

प्रश्न—ज्ञानरूप नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पापोंको भलीभाँति लाँघ जाना क्या है ?

उत्तर—जिस प्रकार नौकामें बैठकर मनुष्य अगाध जलराशिपर तैरता हुआ उसके पार चला जाता है, उसी प्रकार ज्ञानमें स्थित होकर (ज्ञानके द्वारा) अपनेको सर्वथा संसारसे असङ्ग, निर्विकार, नित्य और अनन्त समझकर जो अनन्त जन्मोंमें किये हुए और इस जन्ममें किये हुए समस्त पापसमुदायको अतिक्रमण कर जाना है—अर्थात् समस्त कर्मबन्धनोंसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाना है, यही ज्ञानरूप नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पापसमुदायको भलीभाँति लाँघ जाना है।

प्रश्न—इस श्लोकमें 'एव' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'एव' पद यहाँ निश्चयके अर्थमें है। उसका भाव यह है कि काठकी नौकामें बैठकर जलराशिपर तैरनेवाला मनुष्य तो कदाचित् उस नौकाके टूट जानेसे या उसमें छेद हो जाने अथवा तूफान आनेसे नौकाके साथ-ही-साथ स्वयं भी जलमें डूब सकता है। पर यह ज्ञानरूप नौका नित्य है; इसका अवलम्बन करनेवाला मनुष्य निःसन्देह पापोंसे तर जाता है, उसके पतनकी जरा भी आशङ्का नहीं रहती।

सम्बन्ध—कोई भी दृष्टान्त परमार्थविषयको पूर्णरूपसे नहीं समझा सकता, उसके एक अंशको ही समझानेके लिये उपयोगी होता है; अतएव पूर्वश्लोकमें बतलाये हुए ज्ञानके प्रभाव और महत्त्वको अग्निके दृष्टान्तसे पुनः स्पष्ट करते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है ॥ ३७ ॥

प्रश्न--इस श्लोकमें अग्निकी उपमा देते हुए ज्ञानरूप अग्निके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंका भस्ममय किया जाना बतलाकर क्या बात कही गयी है ?

उत्तर--इससे यह बात समझायी गयी है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि समस्त काष्टादि ईंधनके समुदाय-को भस्मरूप बनाकर उसे नष्ट कर देता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानरूप अग्नि जितने भी शुभाशुभ कर्म हैं, उन सबको--अर्थात् उनके फलरूप सुख-दुःख-भोगोंके तथा उनके कारणरूप अविद्या और अहंता-ममता, राग-द्वेष आदि समस्त विकारोंके सहित समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है । श्रुतिमें भी कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

(मु० उ० २।२।८)

अर्थात् उस परावर परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जड-चेतनकी एकतारूप हृदयग्रन्थि-का भेदन हो जाता है; जड देहादिमें जो अज्ञानसे आत्माभिमान हो रहा है, उसका तथा समस्त संशयोंका नाश हो जाता है; फिर परमात्माके स्वरूप-ज्ञानके विषयमें किसी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी संशय या भ्रम नहीं रहता और समस्त कर्म फलसहित नष्ट हो जाते हैं ।

इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्' विशेषणसे भी यही बात कही गयी है ।

इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए समस्त कर्म संस्काररूपसे मनुष्यके अन्तःकरणमें एकत्रित रहते हैं, उनका नाम 'सञ्चित' कर्म है । उनमेंसे जो वर्तमान जन्ममें फल देनेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं, उनका नाम 'प्रारब्ध' कर्म है और वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्मोंको 'क्रियमाण' कहते हैं । उपर्युक्त तत्त्वज्ञानरूप अग्निके प्रकट होते ही समस्त पूर्वसञ्चित संस्कारोंका अभाव हो जाता है । मन, बुद्धि और शरीरसे आत्माको असङ्ग समझ लेनेके कारण उन मन, इन्द्रिय और शरीरादिके साथ प्रारब्ध भोगोंका सम्बन्ध होते हुए भी ज्ञानीसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता; इस कारण वे भी उसके लिये नष्ट हो जाते हैं । और क्रियमाण कर्मोंमें उसका कर्तृत्वाभिमान तथा ममता, आसक्ति और वासना न रहनेके कारण उनके संस्कार नहीं बनते; इसलिये वे कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं हैं ।

इस प्रकार उसके समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है और जब कर्म ही नष्ट हो जाते हैं, तब उनका फल तो हो ही कैसे सकता है ? और बिना सञ्चित संस्कारोंके उसमें राग-द्वेष तथा हर्ष-शोक आदि विकारोंकी वृत्तियाँ भी कैसे हो सकती हैं ? अतएव उसके समस्त विकार और समस्त कर्मफल भी कर्मोंके साथ ही नष्ट हो जाते हैं ।

सम्बन्ध—इस प्रकार ३४वें श्लोकसे यहाँतक तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंकी सेवा करके तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेके लिये कहकर भगवान्‌ने उसके फलका वर्णन करते हुए उसका माहात्म्य बतलाया । इसपर यह जिज्ञासा होती है

कि यह तत्त्वज्ञान ज्ञानी महापुरुषोंसे श्रवण करके विधिपूर्वक मनन और निदिध्यासनादि ज्ञानयोगके साधनोंद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है या इसकी प्राप्तिका कोई दूसरा मार्ग भी है; इसपर अगले श्लोकमें पुनः उस ज्ञानकी महिमा प्रकट करते हुए भगवान् कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है ॥३८॥

प्रश्न—इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि इस जगत्में यज्ञ, दान, तप, सेवा-पूजा, व्रत-उपवास, प्राणायाम, शम-दम, संयम और जप-ध्यान आदि जितने भी साधन तथा गङ्गा, यमुना, त्रिवेणी आदि जितने भी तीर्थ मनुष्यके पापोंका नाश करके उसे पवित्र करनेवाले हैं, उनमेंसे कोई भी इस यथार्थ ज्ञानकी बराबरी नहीं कर सकता; क्योंकि वे सब इस तत्त्वज्ञानके साधन हैं और यह ज्ञान उन सबका फल (साध्य) है; वे सब इस ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहायक होनेके कारण ही पवित्र माने गये हैं। इससे मनुष्य परमात्माके यथार्थ स्वरूपको भलीभाँति जान लेता है; अतएव झूठ, कपट, चोरी आदि पापोंका, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, अहंता-ममता आदि समस्त विकारोंका और अज्ञानका सर्वथा अभाव हो जानेसे वह परम पवित्र बन जाता है। उसके मन, इन्द्रिय और शरीर भी अत्यन्त पवित्र हो जाते हैं; इस कारण श्रद्धापूर्वक उस महापुरुषका दर्शन, स्पर्श, वन्दन, चिन्तन आदि करनेवाले तथा उसके साथ वार्तालाप करनेवाले दूसरे मनुष्य भी पवित्र हो जाते हैं। इसलिये संसारमें परमात्माके तत्त्व-ज्ञानके समान पवित्र वस्तु दूसरी कुछ भी नहीं है।

प्रश्न—'इह' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'इह' पदके प्रयोगसे यह भाव दिखलाया गया है कि प्रकृतिके कार्यरूप इस जगत्में ज्ञानके समान कुछ भी नहीं है, सबसे बढ़कर पवित्र करनेवाला ज्ञान ही है। किन्तु जो इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, गुणोंके समुद्र, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकारस्वरूप परमेश्वर इस प्रकृतिके अध्यक्ष हैं, जिनके स्वरूपका साक्षात् करानेवाला होनेसे ही ज्ञानकी पवित्रता है, वे सबके सुहृद्, सर्वाधार परमात्मा तो परम पवित्र हैं; उनसे बढ़कर यहाँ ज्ञानको पवित्र नहीं बतलाया गया है। क्योंकि परमात्माके समान ही दूसरा कोई नहीं है, तब उनसे बढ़कर कोई कैसे हो सकता है ? इसीलिये अर्जुनने कहा भी है—'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।' (१०।१२) अर्थात् आप परब्रह्म, परमधाम और परम पवित्र हैं तथा भीष्मजीने भी कहा है—'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्।' अर्थात् वे परमेश्वर पवित्र करनेवालोंमें अतिशय पवित्र और कल्याणोंमें भी परम कल्याणस्वरूप हैं (महा० अनु० १४९।१०)।

प्रश्न—'योगसंसिद्धः' पद किसका वाचक है और 'वह उस ज्ञानको समयपर अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कर्मयोगका आचरण करते-करते राग-द्वेषके नष्ट हो जानेसे जिसका अन्तःकरण स्वच्छ हो गया है,

जो कर्मयोगमें भलीभाँति सिद्ध हो गया है; जिसके समस्त कर्म ममता, आसक्ति और फलेच्छाके बिना भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के ही लिये होते हैं— उसका वाचक यहाँ 'योगसंसिद्धः' पद है। अतएव योगसंसिद्ध पुरुष उस ज्ञानको अपने-आप आत्मामें पा लेता है—इस वाक्यसे यह भाव समझना चाहिये कि जिस समय उसका साधन अपनी सीमातक पहुँच जाता है, उसी क्षण परमेश्वरके अनुग्रहसे उसके अन्तःकरणमें अपने-आप उस ज्ञानका प्रकाश हो जाता है। अभिप्राय यह है कि उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उसे न तो कोई दूसरा साधन करना पड़ता है और न ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ज्ञानियोंके पास निवास ही करना पड़ता है; बिना किसी दूसरे प्रकारके साधन और सहायताके केवल कर्मयोगके साधनसे ही उसे वह ज्ञान भगवान्‌की कृपासे अपने-आप ही मिल जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार तत्त्वज्ञानकी महिमा कहते हुए उसकी प्राप्तिके सांख्ययोग और कर्मयोग—दो उपाय बतलाकर, अब भगवान् उस ज्ञानकी प्राप्तिके पात्रका निरूपण करते हुए उस ज्ञानका फल परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥३९॥

प्रश्न—'श्रद्धावान्' पद कैसे पुरुषका वाचक है और वह ज्ञानको प्राप्त होता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—वेद, शास्त्र, ईश्वर और महापुरुषोंके वचनोंमें तथा परलोकमें जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास है एवं उन सबमें परम पूज्यता और उत्तमताकी भावना है— उसका नाम श्रद्धा है; और ऐसी श्रद्धा जिसमें हो, उसका वाचक 'श्रद्धावान्' पद है। अतः उपर्युक्त कथनका यहाँ यह भाव है कि ऐसा श्रद्धावान् मनुष्य ही ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर प्रणाम, सेवा और विनययुक्त प्रश्न आदिके द्वारा उनसे उपदेश प्राप्त करके ज्ञानयोगके साधनसे या कर्मयोगके साधनसे उस तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर सकता है; श्रद्धारहित मनुष्य उस ज्ञानकी प्राप्तिका पात्र नहीं होता।

प्रश्न—बिना श्रद्धाके भी मनुष्य महापुरुषोंके पास जाकर प्रणाम, सेवा और प्रश्न कर सकता है; फिर ज्ञानकी प्राप्तिमें श्रद्धाको प्रधानता देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—बिना श्रद्धाके उनकी परीक्षाके लिये, अपनी विद्वत्ता दिखलानेके लिये और मान-प्रतिष्ठाके उद्देश्यसे या दम्भाचरणके लिये भी मनुष्य महात्माओंके पास जाकर प्रणाम, सेवा और प्रश्न तो कर सकता है, पर इससे उसको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि बिना श्रद्धाके किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि सभी साधनोंको व्यर्थ बतलाया गया है (१७।२८)। इसलिये ज्ञानकी प्राप्तिमें श्रद्धा ही प्रधान हेतु है। जितनी अधिक श्रद्धासे ज्ञानके साधनका अनुष्ठान किया जाता है, उतना ही अधिक शीघ्र वह साधन ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है।

प्रश्न—ज्ञान-प्राप्तिमें यदि श्रद्धाकी प्रधानता है, तब फिर यहाँ श्रद्धावान्‌के साथ 'तत्परः' विशेषण देनेकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—साधनकी तत्परतामें भी श्रद्धा ही कारण है और तत्परता श्रद्धाकी कसौटी है । श्रद्धाकी कमीके कारण साधनमें अकर्मण्यता और आलस्य आदि दोष आ जाते हैं । इससे अभ्यास तत्परताके साथ नहीं होता । श्रद्धाके तत्त्वको न जाननेवाले साधकगण अपनी थोड़ी-सी श्रद्धाको भी बहुत मान लेते हैं; पर उससे कार्यकी सिद्धि नहीं होती, तब वे अपने साधनमें तत्परताकी त्रुटिकी ओर ध्यान न देकर यह समझ लेते हैं कि श्रद्धा होनेपर भी भगवत्प्राप्ति नहीं होती । किन्तु ऐसा समझना उनकी भूल है । वास्तवमें बात यह है कि साधनमें जितनी श्रद्धा होती है, उतनी ही तत्परता होती है । जैसे एक मनुष्यका धनमें प्रेम है, वह कोई व्यापार करता है । यदि उसको यह विश्वास होता है कि इस व्यापारसे मुझे धन मिलेगा, तो वह उस व्यापारमें इतना तत्पर हो जाता है कि खाना-पीना, सोना, आराम करना आदिके व्यतिक्रम होनेपर तथा शारीरिक क्लेश होनेपर भी उसे उसमें कष्ट नहीं मालूम होता; बल्कि धनकी वृद्धिसे उत्तरोत्तर उसके चित्तमें प्रसन्नता ही होती है । इसी प्रकार अन्य सभी बातोंमें विश्वाससे ही तत्परता होती है । इसलिये परम शान्ति और परम आनन्द-दायक, सगुण-निर्गुणरूप, नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मा-की प्राप्तिका साक्षात् द्वार जो परमात्माके तत्त्वका ज्ञान है, उसमें और उसके साधनमें श्रद्धा होनेके बाद साधनमें अतिशय तत्परताका होना स्वाभाविक ही है । यदि साधनमें तत्परताकी कमी है तो समझना चाहिये कि श्रद्धाकी अवश्य कमी है । इसी बातको जनानेके लिये 'श्रद्धावान्' के साथ 'तत्परः' विशेषण दिया गया।

प्रश्न—श्रद्धा और तत्परता दोनों होनेपर तो ज्ञानकी प्राप्ति होनेमें कोई शङ्का ही नहीं रहती, फिर श्रद्धावान्‌के साथ दूसरा विशेषण 'संयतेन्द्रियः' देनेकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यास करनेसे पापोंका नाश एवं संसारके विषय-भोगोंमें वैराग्य होकर मनसहित इन्द्रियोंका संयम हो जाता है और फिर परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान भी हो जाता है; किन्तु इस बातके रहस्यको न जानने-वाला साधक थोड़े-से अभ्यासको ही तीव्र अभ्यास मान लेता है; उससे कार्यकी सिद्धि होती नहीं, इसलिये वह निराश होकर उसको छोड़ बैठता है । अतएव साधक-को सावधान करनेके लिये 'संयतेन्द्रियः' विशेषण देकर यह बात बतलायी गयी है कि जबतक इन्द्रिय और मन अपने काबूमें न आ जायँ तबतक श्रद्धापूर्वक कटिबद्ध होकर उत्तरोत्तर तीव्र अभ्यास करते रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यासकी कसौटी इन्द्रियसंयम ही है । जितना ही श्रद्धापूर्ण तीव्र अभ्यास किया जाता है, उत्तरोत्तर उतना ही इन्द्रियोंका संयम होता जाता है । अतएव इन्द्रियसंयमकी जितनी कमी है, उतनी ही साधनमें कमी समझनी चाहिये और साधनमें जितनी कमी है, उतनी ही श्रद्धामें त्रुटि समझनी चाहिये—इसी बातको जनानेके लिये 'संयतेन्द्रियः' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—ज्ञानको प्राप्त होकर वह विना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे सूर्योदय होनेके साथ ही उसी क्षण अन्धकारका नाश होकर सब पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार परमात्माके तत्त्वका ज्ञान होनेपर उसी क्षण अज्ञानका नाश होकर परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है (५ । १६) । अभिप्राय यह है कि अज्ञान और उसके कार्यरूप वासनाओंके सहित राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका तथा शुभाशुभ कर्मोंका अत्यन्त अभाव,

परमात्माके तत्त्वका ज्ञान एवं परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति—ये सब एक ही कालमें होते हैं और विज्ञानानन्दघन परमात्माकी साक्षात् प्राप्तिको ही यहाँ परम शान्तिके नामसे कहा गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रद्धावान्‌को ज्ञानकी प्राप्ति और उस ज्ञानसे परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाकर अब श्रद्धारहित, अज्ञानी और संशयात्माकी निन्दा करते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

विवेकहीन तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है। उनमें भी संशययुक्त पुरुषके लिये तो न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है ॥ ४० ॥

प्रश्न—'अज्ञः', 'अश्रद्दधानः' और 'संशयात्मा'—ये तीनों पद अलग-अलग किनके वाचक हैं और 'संशयात्माके लिये तो न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—जिसमें सत्य-असत्य और आत्म-अनात्म पदार्थोंका विवेचन करनेकी शक्ति नहीं है तथा जो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य आदिका निर्णय नहीं कर सकता, ऐसे विवेक-ज्ञानरहित अज्ञानी मनुष्यका वाचक यहाँ 'अज्ञः' पद है; जिसकी ईश्वर और परलोकमें, उनकी प्राप्तिके उपाय बतलानेवाले शास्त्रोंमें, महापुरुषोंमें और उनके द्वारा बतलाये हुए साधनोंमें एवं उनके फलमें श्रद्धा नहीं है—उसका वाचक 'अश्रद्दधानः' पद है तथा ईश्वर और परलोकके विषयमें या अन्य किसी भी विषयमें जो कुछ भी निश्चय नहीं कर सकता, प्रत्येक विषयमें संशययुक्त रहता है—उसका वाचक 'संशयात्मा' पद है। इन तीनोंमेंसे 'संशयात्मा' अधिक दुखी होता है—यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह कहा गया है कि संशयात्माके लिये 'यह लोक', 'परलोक' और 'सुख', कुछ भी नहीं है।

अभिप्राय यह है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ मनुष्यके प्राप्त करनेयोग्य पदार्थ माने गये हैं। इनमेंसे चौथा पुरुषार्थ (मोक्ष) तो तीनोंमेंसे किसीको नहीं मिलता, उससे तो तीनों ही भ्रष्ट हो जाते हैं। जिसमें केवल अज्ञताका दोष होता है और श्रद्धाका अभाव नहीं होता तथा जो हरेक बातमें संशय भी नहीं करता—ऐसा मूर्ख मनुष्य श्रद्धाके बलसे शुभ कर्मोंका आचरण करके धर्मका सञ्चय कर सकता है; इससे उसे परलोकमें सुख मिल सकता है, इस लोकमें उसकी कीर्ति हो सकती है और प्रारब्धके अनुसार उसको धन तथा भोगोंसे भी सांसारिक सुख मिल सकता है। इसी तरह जिसमें श्रद्धाका अभाव होता है, पर विवेक-शक्तिका अभाव नहीं होता और जो संशययुक्त भी नहीं होता, वह हरेक विषयमें विपरीत निश्चय कर लेता है; इस कारण उसे न तो मोक्ष मिलता है और न बिना श्रद्धाके धर्मका ही संग्रह हो सकता है, जिससे परलोकके भोगोंका सुख भी उसे नहीं मिलता, पर बुद्धिमान् होनेके कारण और संशययुक्त न होनेके कारण धन और भोगोंसे प्राप्त होनेवाले सुखोंको वह प्रारब्धानुसार भलीभाँति भोग सकता है। इन दोनोंसे विलक्षण जो संशयात्मा है—जिसका किसी भी विषयमें एक निश्चय नहीं होता, प्रत्येक बातमें जिसको दुविधा बनी रहती है—उसमें विचार करनेकी शक्ति रहते हुए भी वह संशयात्मा होनेके कारण न तो किसी मोक्षविषयका

साधन करनेमें निश्चयपूर्वक लग सकता है, न परलोकके साधनरूप शुभ कर्मोंका ही पालन कर सकता है और न धनादिका उपार्जन करके सांसारिक सुख ही भोग सकता है। अमुक कार्य अवश्य ही करना है और उसे इस प्रकार करना है—ऐसा निश्चय वह कर ही नहीं पाता, उसे सभी कार्योंमें सदा सन्देह ही बना रहता है। इस कारण वह इसलोक और परलोकसे तथा भोगोंके सुखसे भी भ्रष्ट हो जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार विवेक और श्रद्धाके अभावको और संशयको ज्ञानप्राप्तिमें बाधक बतलाकर, अब विवेकद्वारा संशयका नाश करके कर्मयोगका अनुष्ठान करनेमें अर्जुनका उत्साह उत्पन्न करनेके लिये संशयरहित तथा स्वाधीन अन्तःकरणवाले कर्मयोगीकी प्रशंसा करते हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥४१॥

हे धनञ्जय! जिसने कर्मयोगकी विधिसे समस्त कर्मोंका परमात्मामें अर्पण कर दिया है और जिसने विवेकद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे स्वाधीन अन्तःकरणवाले पुरुषको कर्म नहीं बाँधते॥४१॥

प्रश्न—'योगसंन्यस्तकर्माणम्' इस पदमें 'योग' शब्दका अर्थ ज्ञानयोग मानकर इस पदका अर्थ ज्ञानयोगके द्वारा शास्त्रविहित समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवाला मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—यहाँ स्वरूपसे कर्मोंके त्यागका प्रकरण नहीं है। इस श्लोकमें जो यह बात कही गयी है कि 'योगद्वारा कर्मोंका संन्यास करनेवाले मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते', इसी बातको अगले श्लोकमें 'तस्मात्' पदसे आदर्श बतलाते हुए भगवान्‌ने अर्जुनको योगमें स्थित होकर युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी है। यदि इस श्लोकमें 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' पदका स्वरूपसे कर्मोंका त्याग अर्थ भगवान्‌को अभिप्रेत होता तो भगवान् ऐसा नहीं कहते। इसलिये यहाँ 'योगसंन्यस्तकर्माणम्'का अर्थ स्वरूपसे कर्मोंका त्याग कर देनेवाला न मानकर कर्मयोगके द्वारा समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर उन सबको परमात्मामें अर्पण कर देनेवाला त्यागी (३।३०; ५।१०) मानना ही उचित है; क्योंकि उक्त पदका अर्थ प्रकरणके अनुसार ऐसा ही जान पड़ता है।

प्रश्न—'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' पदमें 'ज्ञान' शब्दका क्या अर्थ है? गीतामें 'ज्ञान' शब्द किन-किन श्लोकोंमें किन-किन अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है?

उत्तर—उपर्युक्त पदमें 'ज्ञान' शब्द किसी भी वस्तुके स्वरूपका विवेचन करके तद्विषयक संशयका नाश कर देनेवाली विवेकशक्तिका वाचक है। 'ज्ञा अवबोधने' इस धात्वर्थके अनुसार ज्ञानका अर्थ 'जानना' है। अतः गीतामें प्रकरणके अनुसार 'ज्ञान'शब्द निम्नलिखित प्रकारसे भिन्न-भिन्न अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है।

(क) १२वें अध्यायके १२वें श्लोकमें ज्ञानकी अपेक्षा ध्यानको और उससे भी कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाया है। इस कारण वहाँ ज्ञानका अर्थ शास्त्र और श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव तथा स्वरूपकी बातोंको सुनकर उन्हें समझ लेना है।

(ख) १३वें अध्यायके १७वें श्लोकमें ज्ञेयके वर्णनमें विशेषणके रूपमें 'ज्ञान' शब्द आया है। इस कारण वहाँ ज्ञानका अर्थ परमेश्वरका नित्य विज्ञानानन्दघन स्वरूप ही है।

(ग) १८वें अध्यायके ४२वें श्लोकमें ब्राह्मणके

स्वाभाविक कर्मोंकी गणनामें 'ज्ञान' शब्द आया है, उसका अर्थ शास्त्रोंका अध्ययनाध्यापन माना गया है।

(घ) इस अध्यायके ३६वेंसे ३९वें श्लोकतक आये हुए सभी 'ज्ञान' शब्दोंका अर्थ परमात्माका तत्त्वज्ञान है; क्योंकि उसको समस्त कर्मकलापको भस्म कर डालनेवाला, समस्त पापोंसे तार देनेवाला, सबसे बढ़कर पवित्र, योगसिद्धिका फल और परमा शान्तिका कारण बतलाया है। इसी तरह ५वें अध्यायके १६वें श्लोकमें परमात्माके स्वरूपको साक्षात् करानेवाला और १४वें अध्यायके १ले और २रे श्लोकोंमें समस्त ज्ञानोंमें उत्तम बतलाया जानेके कारण 'ज्ञान' का अर्थ तत्त्वज्ञान है। दूसरी जगह भी प्रसङ्गसे ऐसा ही समझ लेना चाहिये।

(ङ) १८वें अध्यायके २१वें श्लोकमें नाना वस्तुओंको भिन्न-भिन्न जाननेका द्वार होनेसे ज्ञान शब्दका अर्थ 'व्यावहारिक ज्ञान' है, इसलिये उसे राजस ज्ञान कहा है।

(च) १३वें अध्यायके ११वें श्लोकमें तत्त्व-ज्ञानके साधनसमुदायका नाम 'ज्ञान' है।

(छ) ३रे अध्यायके ३रे श्लोकमें 'योग' शब्दके साथ रहनेसे 'ज्ञान' शब्दका अर्थ ज्ञानयोग यानी सांख्ययोग है। इसी तरह दूसरी जगह भी प्रसङ्गानुसार 'ज्ञान' शब्द सांख्ययोगके अर्थमें आया है।

इसी तरह और भी बहुत-से स्थलोंपर प्रसङ्गानुसार 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें हुआ है, उसे वहाँ देखना चाहिये।

प्रश्न—'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' पदमें 'ज्ञान' शब्दका अर्थ यदि 'तत्त्वज्ञान' मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेपर समस्त संशयोंका समूल नाश होकर तत्काल ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, फिर परमात्माकी प्राप्तिके लिये किसी दूसरे साधनकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये यहाँ ज्ञानका अर्थ तत्त्वज्ञान मानना ठीक नहीं है; क्योंकि तत्त्वज्ञान कर्मयोगका फल है और इसके अगले श्लोकमें भगवान् अर्जुनको ज्ञानके द्वारा अज्ञानजनित संशयका नाश करके कर्मयोगमें स्थित होनेके लिये कहते हैं। इसलिये यहाँ जैसा अर्थ किया गया है, वही ठीक मालूम होता है।

प्रश्न—विवेकज्ञानद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर देना क्या है?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सब आत्मा हैं या आत्मासे भिन्न हैं, जड हैं या चेतन, व्यापक हैं या एकदेशीय, कर्ता-भोक्ता जीवात्मा है या प्रकृति, आत्मा एक है या अनेक, यदि वह एक है तो कैसे है और अनेक है तो कैसे, जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यदि परतन्त्र है तो कैसे है और किसके परतन्त्र है, कर्म-बन्धनसे छूटनेके लिये कर्मोंको स्वरूपसे छोड़ देना ठीक है या कर्मयोगके अनुसार उनका करना ठीक है, अथवा सांख्ययोगके अनुसार साधन करना ठीक है—इत्यादि जो अनेक प्रकारकी शङ्काएँ तर्कशील मनुष्योंके अन्तःकरणमें उठा करती हैं, उन्हींका नाम संशय है।

इन समस्त शङ्काओंका विवेकज्ञानके द्वारा विवेचन करके एक निश्चय कर लेना अर्थात् किसी भी विषयमें संशययुक्त न रहना और अपने कर्तव्यको निर्धारित कर लेना, यही विवेकज्ञानद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर देना है।

प्रश्न—'आत्मवन्तम्' पदका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—आत्मशब्दवाच्य इन्द्रियोंके सहित अन्तः-करणपर जिसका पूर्ण अधिकार है, अर्थात् जिसके मन और इन्द्रिय वशमें किये हुए हैं—अपने काबूमें हैं, उस मनुष्यके लिये यहाँ 'आत्मवन्तम्' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त पुरुषको कर्म नहीं बाँधते, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त पुरुषके शास्त्रविहित कर्म ममता, आसक्ति और कामनासे सर्वथा रहित होते हैं; इस कारण उन कर्मोंमें बन्धन करनेकी शक्ति नहीं रहती।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अब अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर युद्ध करनेकी आज्ञा देकर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेकज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ४२ ॥

प्रश्न—'तस्मात्' पदका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—हेतुवाचक 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होनेके लिये उत्साहित किया है। अभिप्राय यह है कि पूर्वश्लोकमें वर्णित कर्मयोगमें स्थित मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, इसलिये तुम्हें वैसा ही बनना चाहिये।

प्रश्न—'भारत' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—'भारत' सम्बोधनसे सम्बोधित करके भगवान् राजर्षि भरतका चरित्र याद दिलाते हुए यह भाव दिखलाते हैं कि राजर्षि भरत बड़े भारी कर्मठ, साधनपरायण, उत्साही पुरुष थे। तुम भी उन्हींके कुलमें उत्पन्न हुए हो; अतः तुम्हें भी उन्हींकी भाँति वीरता, धीरता और गम्भीरतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करनेमें तत्पर रहना चाहिये।

प्रश्न—'एनम्' पदके सहित 'संशयम्' पद यहाँ किस संशयका वाचक है और उसके साथ 'अज्ञानसम्भूतम्' और 'हृत्स्थम्', इन विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—४०वें श्लोकमें 'संशयात्मा' पदमें और ४१वें श्लोकमें 'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' पदमें जिस संशयका उल्लेख हुआ है; जिसके रहते हुए मनुष्य सुख, शान्ति और परमात्माको नहीं पा सकता तथा जिसका स्वरूप ४१वें श्लोककी व्याख्यामें विस्तारपूर्वक बतलाया गया है— उसीका वाचक यहाँ 'एनम्' पदके सहित 'संशयम्' पद है। उसके साथ 'अज्ञानसम्भूतम्' विशेषण देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस संशयका कारण अविवेक है। अतः विवेकद्वारा अविवेकका नाश होते ही उसके साथ-साथ संशयका भी नाश हो जाता है। 'हृत्स्थम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि इसका स्थान हृदय यानी अन्तःकरण है; अतः जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, उसके लिये इसका नाश करना सहज है।

प्रश्न—अर्जुनको उस संशयका छेदन करनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ? क्या अर्जुनके अन्तःकरणमें भी ऐसा संशय था ?

उत्तर—पहले युद्धको उचित समझकर ही अर्जुन लड़नेके लिये तैयार होकर रणभूमिमें आये थे और उन्होंने भगवान्‌से दोनों सेनाओंके बीचमें अपना रथ खड़ा करनेको कहा था; फिर जब उन्होंने दोनों

सेनाओंमें उपस्थित अपने बन्धु-बान्धवोंको मरनेके लिये तैयार देखा तो मोहके कारण वे चिन्तामग्न हो गये और युद्धको पापकर्म समझने लगे (१।२८-४७)। इसपर भगवान्‌के द्वारा युद्ध करनेके लिये कहे जानेपर भी (२ । ३) वे अपना कर्तव्य निश्चय न कर सके और किङ्कर्तव्यविमूढ होकर कहने लगे कि 'मैं गुरुजनोंके साथ कैसे युद्ध कर सकूँगा (२ । ४); मेरे लिये क्या करना श्रेष्ठ है और इस युद्धमें किसकी विजय होगी, इसका कुछ भी पता नहीं है (२।६) तथा मेरे लिये जो कल्याणका साधन हो, वही आप मुझे बतलाइये, मेरा चित्त मोहित हो रहा है (२ । ७)।' इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अर्जुनके अन्तःकरणमें संशय विद्यमान था, उनकी विवेकशक्ति मोहके कारण कुछ दबी हुई थी; इसीसे वे अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सकते थे । इसके सिवा छठे अध्यायमें अर्जुनने कहा है कि मेरे इस संशयका छेदन करनेमें आप ही समर्थ हैं (६ । ३९) और गीताका उपदेश सुन चुकनेके बाद कहा है कि अब मैं सन्देहरहित हो गया हूँ (१८।७३)। एवं भगवान्‌ने भी जगह-जगह (८।७; १२।८) अर्जुनसे कहा है कि मैं जो कुछ तुम्हें कहता हूँ, उसमें संशय नहीं है; इसमें तुम शङ्का न करो । इससे भी यही सिद्ध होता है कि अर्जुनके अन्तःकरणमें संशय था और उसीके कारण वे अपने स्वधर्मरूप युद्धका त्याग करनेके लिये तैयार हो गये थे । इसलिये भगवान् यहाँ उन्हें उनके हृदयमें स्थित संशयका छेदन करनेके लिये कहकर यह भाव दिखलाते हैं कि मैं तुम्हें जो आज्ञा दे रहा हूँ, उसमें किसी प्रकारकी शङ्का न करके उसका पालन करनेके लिये तुम्हें तैयार हो जाना चाहिये ।

प्रश्न—यहाँ अर्जुनको अपने आत्माका संशय छेदन करनेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम मेरे भक्त और सखा हो, अतः तुम्हें उचित तो यह है कि दूसरोंके अन्तःकरणमें भी यदि कोई शङ्का हो तो उनको समझाकर उसका छेदन कर डालो; पर ऐसा न कर सको तो तुम्हें कम-से-कम अपने संशयका छेदन तो कर ही डालना चाहिये ।

प्रश्न—योगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा, यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने अध्यायका उपसंहार करते हुए यह भाव दिखलाया है कि मैं तुम्हें जो कुछ भी कहता हूँ, तुम्हारे हितके लिये ही कहता हूँ; अतः उसमें शङ्कारहित होकर तुम मेरे कथनानुसार कर्मयोगमें स्थित होकर फिर युद्धके लिये तैयार हो जाओ। ऐसा करनेसे तुम्हारा सब प्रकारसे कल्याण होगा ।



ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

पञ्चमोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस पञ्चम अध्यायमें कर्मयोग-निष्ठा और सांख्ययोग-निष्ठाका वर्णन है, सांख्ययोगका ही पर्यायवाची शब्द 'संन्यास' है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'कर्म-संन्यासयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें 'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग' की श्रेष्ठताके सम्बन्धमें अर्जुनका प्रश्न है। दूसरे श्लोकमें प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने सांख्ययोग और कर्मयोग दोनोंको ही कल्याणकारक बतलाकर 'कर्मसंन्यास'की अपेक्षा 'कर्मयोग'को श्रेष्ठ बतलाया है, तीसरेमें कर्मयोगीका महत्त्व बतलाकर चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें, 'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग'—दोनोंका फल एक ही होनेके कारण, दोनोंकी एकताका प्रतिपादन किया है। छठे श्लोकमें कर्मयोगके बिना सांख्ययोगका सम्पादन कठिन बतलाकर कर्मयोगका फल अविलम्ब ही ब्रह्मकी प्राप्ति होना कहा है। सातवें श्लोकमें कर्मयोगीकी निर्लिप्तताका प्रतिपादन करके आठवें और नवेंमें सांख्ययोगीके अकर्तापनका निर्देश किया है। तदनन्तर दसवें और ग्यारहवेंमें ब्रह्मार्पणबुद्धिसे कर्म करनेवालेकी प्रशंसा करके कर्मयोगियोंके कर्मोंको आत्मशुद्धिमें हेतु बतलाया है और बारहवेंमें कर्मयोगियोंको नैष्ठिकी शान्तिकी एवं सकामभावसे कर्म करनेवालोंको बन्धनकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहा है। तेरहवें श्लोकमें सांख्ययोगीकी स्थिति बतलाकर चौदहवें और पन्द्रहवेंमें निर्गुण ब्रह्मको कर्म, कर्तापन और कर्मोंके फल-संयोगका न रचनेवाला तथा किसीके भी पुण्य-पापको न ग्रहण करनेवाला कहकर यह बतलाया है कि अज्ञानके द्वारा ज्ञानके ढके जानेसे ही सब जीव मोहित हो रहे हैं। सोलहवेंमें ज्ञानका महत्त्व बतलाकर सतरहवेंमें ज्ञानयोगके एकान्त साधनका वर्णन किया है, फिर अठारहवेंसे बीसवें श्लोकतक परब्रह्म परमात्मामें निरन्तर अभिन्नभावसे स्थित रहनेवाले महापुरुषोंकी स्थिति और समदृष्टिका वर्णन करके उनको परमगति और अक्षय आनन्दका प्राप्त होना बतलाया है। इक्कीसवेंमें अक्षय आनन्दकी प्राप्तिके साधन बतलाये गये हैं। बाईसवें श्लोकमें संसर्गजनित भोगोंको दुःखके कारण और विनाशशील बतलाकर तथा बुद्धिमान् पुरुषके लिये उनमें आसक्त न होनेकी बात कहकर तेईसवेंमें काम-क्रोधके वेगको सहन कर सकनेवाले पुरुषको योगी और सुखी बतलाया है। चौबीसवेंसे छब्बीसवेंतक सांख्ययोगीकी अन्तिम स्थिति, ज्ञानी महापुरुषोंके लक्षण और उनको निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति बतलाकर सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकोंमें फलसहित ध्यानयोगका संक्षिप्त वर्णन किया गया है और अन्तमें उन्तीसवें श्लोकमें भगवान्को समस्त यज्ञोंके भोक्ता, सर्वलोकमहेश्वर और प्राणिमात्रके परम सुहृद् जान लेनेका फल परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—तीसरे और चौथे अध्यायमें अर्जुनने भगवान्के श्रीमुखसे अनेकों प्रकारसे कर्मयोगकी प्रशंसा सुनी और उसके सम्पादनकी प्रेरणा तथा आज्ञा प्राप्त की। साथ ही यह भी सुना कि 'कर्मयोगके द्वारा भगवत्स्वरूपका तत्त्वज्ञान अपने-आप ही हो जाता है' (४।३८); चौथे अध्यायके अन्तमें भी उन्हें भगवान्के द्वारा कर्मयोगके सम्पादनकी ही आज्ञा मिली। परन्तु बीच-बीचमें उन्होंने भगवान्के श्रीमुखसे ही 'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति' 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' आदि वचनोंद्वारा ज्ञानयोग अर्थात् कर्मसंन्यासकी प्रशंसा सुनी। इससे अर्जुन

यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन श्रेष्ठ है। अतएव अब भगवान‍्के श्रीमुखसे ही उसका निर्णय करानेके उद्देश्यसे अर्जुन उनसे प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे एक जो निश्चित किया हुआ कल्याणकारक हो, उसको मेरे लिये कहिये॥ १॥

प्रश्न—यहाँ 'कृष्ण' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'कृष्' धातुका अर्थ है—आकर्षण करना, खींचना और 'ण' आनन्दका वाचक है। भगवान् नित्यानन्दस्वरूप हैं, इसलिये वे सबको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इसीसे उनका नाम 'कृष्ण' है। यहाँ भगवान‍्को 'कृष्ण' नामसे सम्बोधित करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वर हैं, अतः मेरे इस प्रश्नका उत्तर देनेमें आप ही पूर्ण समर्थ हैं।

प्रश्न—यहाँ 'कर्म-संन्यास' का अर्थ, कर्मोंका स्वरूपतः त्याग क्यों नहीं मानना चाहिये?

उत्तर—चौथे अध्यायमें भगवान‍्ने कहीं भी कर्मोंके स्वरूपतः त्यागकी प्रशंसा नहीं की और न अर्जुनको ऐसा करनेके लिये कहीं आज्ञा ही दी; बल्कि इसके विपरीत स्थान-स्थानपर निष्कामभावसे कर्म करनेके लिये कहा है, (४। १५-४२) अतएव यहाँ कर्म-संन्यासका अर्थ कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं है। कर्म-संन्यासका अर्थ है—'सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझना (३। २८), निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित होना और सर्वदा-सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना (४। २४)।' यहाँ यही ज्ञानयोग है—यही कर्म-संन्यास है। चौथे अध्यायमें इसी प्रकारके ज्ञानयोगकी प्रशंसा की गयी है और उसीके आधारपर अर्जुनका यह प्रश्न है।

भगवान‍्ने यहाँ अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए 'संन्यास' और 'कर्मयोग' दोनोंको ही कल्याणकारक बतलाया है और चौथे तथा पाँचवें श्लोकोंमें इसी 'संन्यास' को 'सांख्य' एवं पुनः छठे श्लोकमें इसीको 'संन्यास' कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ 'कर्म-संन्यास' का अर्थ सांख्ययोग या ज्ञानयोग है, कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं है। इसके अतिरिक्त भगवान‍्के मतसे कर्मोंके स्वरूपतः त्यागमात्रसे ही कल्याण भी नहीं होता (३। ४), और कर्मोंका स्वरूपतः सर्वथा त्याग होना सम्भव भी नहीं है। (३।५, १८।११) इसलिये यहाँ कर्म-संन्यासका अर्थ ज्ञानयोग ही मानना चाहिये कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं।

प्रश्न—अर्जुनने तीसरे अध्यायके आरम्भमें यह पूछा ही था कि 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग'—इन दोनोंमेंसे मुझको एक साधन बतलाइये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त कर सकूँ। फिर यहाँ उन्होंने दुबारा वही प्रश्न किस अभिप्रायसे किया?

उत्तर—वहाँ अर्जुनने 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग'के विषयमें नहीं पूछा था, वहाँ तो अर्जुनके प्रश्नका यह भाव था कि 'यदि आपके मतमें कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर मुझे घोर कर्ममें क्यों लगा रहे हैं?

आपके वचनोंको मैं स्पष्ट समझ नहीं रहा हूँ, वे मुझे मिश्रित-से प्रतीत होते हैं अतएव मुझको एक बात बतलाइये।' परन्तु यहाँ तो अर्जुनका प्रश्न ही दूसरा है। यहाँ अर्जुन न तो कर्मकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ समझ रहे हैं और न भगवान्‌के वचनोंको वे मिश्रित-से ही मान रहे हैं। वरं वे स्वयं इस बातको स्वीकार करते हुए ही पूछ रहे हैं—'आप 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग' दोनोंकी प्रशंसा कर रहे हैं और दोनोंको पृथक्-पृथक् बतला रहे हैं। परन्तु अब यह बतलाइये कि इन दोनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन श्रेयस्कर है ?' इससे सिद्ध है कि अर्जुनने यहाँ तीसरे अध्यायवाला प्रश्न दुबारा नहीं किया है।

प्रश्न—भगवान्‌ने जब तीसरे अध्यायके १९ वें और ३० वें श्लोकोंमें, तथा चौथे अध्यायके १५ वें और ४२ वें श्लोकोंमें अर्जुनको कर्मयोगके अनुष्ठानकी स्पष्ट-रूपसे आज्ञा दे दी थी, तब फिर वे यहाँ यह बात किस प्रयोजनसे पूछ रहे हैं ?

उत्तर—यह तो ठीक है। परन्तु भगवान्‌ने चौथे अध्यायमें २४ वेंसे ३० वें श्लोकतक कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों ही निष्ठाओंके अनुसार कई प्रकारके विभिन्न साधनोंका यज्ञके नामसे वर्णन किया और वहाँ द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञकी प्रशंसा की (४।३३), तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंसे ज्ञानका उपदेश प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा की (४।३४), फिर यह भी स्पष्ट कहा कि 'कर्मयोगसे पूर्णतया सिद्ध होकर तुम तत्त्व-ज्ञानको स्वयं ही प्राप्त कर लोगे।' (४।३८) इस प्रकार दोनों ही साधनोंकी प्रशंसा सुनकर अर्जुन अपने लिये किसी एक कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सके। इसलिये यहाँ वे यदि भगवान्‌का निश्चित मत जाननेके लिये ऐसा प्रश्न करते हैं तो उचित ही करते हैं। यहाँ अर्जुन भगवान्‌से स्पष्टतया यह पूछना चाहते हैं कि 'हे आनन्दकन्द श्रीकृष्ण ! आप ही बतलाइये, मुझे यथार्थ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति, तत्त्वज्ञानियोंद्वारा श्रवण, मनन आदि साधनोंको जानकर 'ज्ञानयोग' की विधिसे करनी चाहिये या आसक्तिरहित होकर निष्कामभावसे भगव-दर्पित कर्मोंका सम्पादन करके 'कर्मयोग'की विधिसे ?

सम्बन्ध—अब भगवान् अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कर्मसंन्यास और कर्मयोग–ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परन्तु उन दोनोंमें भी कर्म-संन्याससे कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

प्रश्न—यहाँ 'संन्यास'का क्या अर्थ है ?

उत्तर—'सम्' उपसर्गका अर्थ है 'सम्यक् प्रकारसे' और 'न्यास' का अर्थ है 'त्याग'। ऐसा पूर्ण त्याग ही संन्यास है। यहाँ मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें, कर्तापनके अभिमानका और शरीर तथा समस्त संसारमें अहंता-ममताका पूर्णतया त्याग ही 'संन्यास' शब्दका अर्थ है। गीतामें संन्यास और 'संन्यासी' शब्दोंका प्रसंगानुसार विभिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। कहीं कर्मोंके भगवदर्पण करनेको 'संन्यास' कहा है (३।३०, १२।६, १८।५७), तो कहीं काम्यकर्मोंके त्यागको (१८।२); कहीं मनसे कर्मोंके त्यागको (५।१३), तो कहीं कर्मयोगको

(६ । २); कहीं कर्मोंके स्वरूपतः त्यागको (३ । ४, १८ । ७), तो कहीं सांख्ययोग अर्थात् ज्ञाननिष्ठाको (५ । १-२-६, १८ । ४९) 'संन्यास' कहा है। इसी प्रकार कहीं कर्मयोगीको 'संन्यासी' (१८ । १२) और 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' (९ । २८) कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि गीतामें 'संन्यास' शब्द सभी जगह एक ही अर्थमें व्यवहृत नहीं हुआ है। प्रकरणके अनुसार उसके पृथक्-पृथक् अर्थ होते हैं। यहाँ 'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग'का तुलनात्मक विवेचन है। भगवान्ने चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें 'संन्यास'को ही 'सांख्य' कहकर भलीभाँति स्पष्टीकरण भी कर दिया है। अतएव यहाँ 'संन्यास' शब्दका अर्थ 'सांख्ययोग' ही मानना युक्त है।

प्रश्न—भगवान्के द्वारा संन्यास (सांख्ययोग) और कर्मयोग—दोनोंको कल्याणकारक बतलाये जानेका यहाँ यदि यह अभिप्राय मान लिया जाय कि ये दोनों सम्मिलित होकर ही कल्याणरूप फल प्रदान करते हैं, तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—सांख्ययोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंका सम्पादन एक कालमें एक ही पुरुषके द्वारा नहीं किया जा सकता, क्योंकि कर्मयोगी साधनकालमें कर्मको, कर्मफलको, परमात्माको और अपनेको भिन्न-भिन्न मानकर कर्मफल और आसक्तिका त्याग करके ईश्वरार्पण-बुद्धिसे समस्त कर्म करता है (३ । ३०, ५ । १०, ९ । २७-२८, १२ । १० और १८ । ५६-५७)। और सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (३ । २८) अथवा इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरत रही हैं (५ । ८-९), ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहता है। कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५ । ११), सांख्ययोगी कर्ता नहीं मानता (५ । ८-९)। कर्मयोगी अपने कर्मोंको भगवान्के अर्पण करता है (९ । २७-२८), सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली अहंतारहित क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८ । १७)। कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे पृथक् मानता है (१२ । ६-७), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (१८ । २०)। कर्मयोगी प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८ । ६१), सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा किसीकी भी सत्ता नहीं मानता (१३ । ३०)। कर्मयोगी कर्मफल और कर्मकी सत्ता मानता है, सांख्ययोगी न तो ब्रह्मसे भिन्न कर्म और उनके फलकी सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है। इस प्रकार दोनोंकी साधनप्रणाली और मान्यतामें पूर्व और पश्चिमकी भाँति महान् अन्तर है। ऐसी अवस्थामें दोनों निष्ठाओंका साधन एक पुरुष एक कालमें नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त, यदि दोनों साधन मिलकर ही कल्याणकारक होते तो, न तो अर्जुनका यह पूछना ही बनता कि इनमेंसे जो एक सुनिश्चित कल्याणकारक साधन हो, वही मुझे बतलाइये और न भगवान्का यह उत्तर देना ही बनता कि कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है और जो स्थान सांख्ययोगियोंको मिलता है वही कर्मयोगियोंको भी मिलता है। अतएव यही मानना उचित है कि दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र हैं। यद्यपि दोनोंका एक ही फल यथार्थ तत्त्वज्ञानद्वारा परम कल्याणस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेना है, तथापि अधिकारिभेदसे साधनमें सुगम होनेके कारण अर्जुनके लिये सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।

प्रश्न—जब संन्यास (ज्ञानयोग) और कर्मयोग—दोनों ही अलग-अलग स्वतन्त्ररूपसे परम कल्याण करने-

वाले हैं तो फिर भगवान्‌ने यहाँ सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ क्यों बतलाया ?

उत्तर—कर्मयोगी कर्म करते हुए भी सदा संन्यासी ही है, वह सुखपूर्वक अनायास ही संसारबन्धनसे छूट जाता है (५। ३)। उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (५।६) । प्रत्येक अवस्थामें भगवान् उसकी रक्षा करते हैं (९ । २२) और कर्मयोगका थोड़ा-सा भी साधन संसाररूप महान् भयसे उद्धार कर देता है (२।४०)। किन्तु ज्ञानयोगका साधन क्लेशयुक्त है (१२ । ५), पहले कर्मयोगका साधन किये बिना उसका होना भी कठिन है (५ । ६) और पूर्णरूपसे साधन हुए बिना परब्रह्मकी प्राप्ति भी नहीं होती । इन्हीं सब कारणोंसे ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया गया है ।

सम्बन्ध—सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया । अब उसी बातको सिद्ध करनेके लिये अगले श्लोकमें कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'कर्मयोगी'को 'नित्यसंन्यासी' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कर्मयोगी न किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकांक्षा करता है । वह द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो जाता है । वास्तवमें संन्यास भी इसी स्थितिका नाम है । जो रागद्वेषसे रहित है, वही सच्चा संन्यासी है । अतएव यहाँ कर्मयोगीको 'नित्यसंन्यासी' कहकर भगवान् उसका महत्त्व प्रकट करते हैं कि समस्त कर्म करते हुए भी वह सदा संन्यासी ही है और सुखपूर्वक अनायास ही कर्मबन्धनसे छूट जाता है ।

प्रश्न—कर्मयोगी कर्मबन्धनसे सुखपूर्वक कैसे छूट जाता है ?

उत्तर—मनुष्यके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले अत्यन्त प्रबल शत्रु राग-द्वेष ही हैं । इन्हींके कारण मनुष्य कर्मबन्धनमें फँसता है । कर्मयोगी इनसे रहित होकर भगवदर्थ कर्म करता है, अतएव वह भगवान्‌की दयाके प्रभावसे अनायास ही कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है ।

प्रश्न—बन्धनसे छूटना किसे कहते हैं ?

उत्तर—अज्ञानमूलक शुभाशुभ कर्म और उनके फल ही बन्धन हैं । इनसे बँधा होनेके कारण ही जीव अनवरत जन्म और मृत्युके चक्रमें भटकता रहता है । इस जन्म-मरणरूप संसारसे सदाके लिये सम्बन्ध छूट जाना ही बन्धनसे छूटना है ।

सम्बन्ध—साधनमें सुगम होनेके कारण सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ सिद्ध करके अब भगवान्, दूसरे श्लोकमें दोनों निष्ठाओंका जो एक ही फल निःश्रेयस—परम कल्याण बतला चुके हैं, उसीके अनुसार दो श्लोकोंमें दोनों निष्ठाओंकी एकताका प्रतिपादन करते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

प्रश्न--'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग'को भिन्न बतलानेवाले बालक हैं---इस कथनसे भगवान्‌का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर--'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग' दोनों ही परमार्थतत्त्वके ज्ञानद्वारा परमपदरूप कल्याणकी प्राप्तिमें हेतु हैं। इस प्रकार दोनोंका फल एक होनेपर भी जो लोग कर्मयोगका दूसरा फल मानते हैं और सांख्ययोगका दूसरा; वे फलभेदकी कल्पना करके दोनों साधनोंको पृथक्-पृथक् माननेवाले लोग बालक हैं। क्योंकि दोनोंकी साधनप्रणालीमें भेद होनेपर भी फलमें एकता होनेके कारण वस्तुतः दोनोंमें एकता ही है।

प्रश्न--कर्मयोगका तो परमार्थज्ञानके द्वारा परमपदकी प्राप्तिरूप फल बतलाना उचित ही है, क्योंकि---'मैं उनको वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं (१० । १०); उनपर दया करनेके लिये ही मैं ज्ञानरूप दीपकके द्वारा उनका अन्धकार दूर कर देता हूँ (१० । ११); कर्मयोगसे शुद्धान्तःकरण होकर अपने-आप ही उस ज्ञानको प्राप्त कर लेता है (४ । ३८)' इत्यादि भगवान्‌के वचनोंसे यह सिद्ध ही है। परन्तु सांख्ययोग तो स्वयं ही तत्त्वज्ञान है। उसका फल तत्त्वज्ञानके द्वारा मोक्षका प्राप्त होना कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर--'सांख्ययोग' परमार्थतत्त्वका नाम नहीं है, तत्त्वज्ञानियोंसे सुने हुए उपदेशके अनुसार किये जानेवाले उसके साधनका नाम है। इसलिये उसका फल परमार्थज्ञानके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति बतलाना उचित ही है। भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायमें ४९ वें श्लोकसे ५५ वें तक ज्ञाननिष्ठाका वर्णन करते हुए ब्रह्मभूत होनेके पश्चात् अर्थात् ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थितिरूप सांख्ययोगको प्राप्त होनेके बाद उसका फल तत्त्वज्ञानरूप पराभक्ति, और उससे अपने स्वरूपके यथार्थ तत्त्वका ज्ञान होना बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्ययोगके साधनसे यथार्थ तत्त्वज्ञान होता है, तब मोक्षकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न--'पण्डित' शब्दका क्या अर्थ होता है ?

उत्तर--परमार्थ-तत्त्वज्ञानरूप बुद्धिका नाम पण्डा है, और वह जिसमें हो, उसे 'पण्डित' कहते हैं। अतएव यथार्थ तत्त्वज्ञानी सिद्ध महापुरुषका नाम 'पण्डित' है।

प्रश्न--एक ही निष्ठामें पूर्णतया स्थित पुरुष दोनोंके फलको कैसे प्राप्त कर लेता है ?

उत्तर--दोनों निष्ठाओंका फल एक ही है, और वह है---परमार्थज्ञानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति। अतएव यह कहना उचित ही है कि एकमें पूर्णतया स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है। यदि कर्मयोगका फल सांख्ययोग होता, और सांख्ययोगका फल परमात्म-साक्षात्काररूप मोक्षकी प्राप्ति होता, तो दोनोंमें फलभेद होनेके कारण ऐसा कहना नहीं बनता। क्योंकि ऐसा माननेसे सांख्ययोगमें पूर्णरूपसे स्थित पुरुष कर्मयोगके फलस्वरूप सांख्ययोगमें तो पहलेसे ही स्थित है, फिर वह कर्मयोगका फल क्या प्राप्त करेगा ? और कर्मयोगमें भलीभाँति स्थित पुरुष यदि सांख्ययोगमें स्थित होकर ही परमात्माको पाता है तो वह सांख्ययोगका फल सांख्ययोगके द्वारा ही पाता है, फिर यह कहना कैसे सार्थक होगा कि एक ही निष्ठामें भलीभाँति स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है। इसलिये यही प्रतीत होता है कि दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र हैं और दोनोंका एक ही फल है। इस प्रकार माननेसे ही भगवान्‌का यह कथन सार्थक होता है कि दोनोंमेंसे किसी एक

निष्ठामें भलीभाँति स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है। तेरहवें अध्यायमें २४ वें श्लोकमें भी भगवान्‌ने दोनोंको ही आत्मसाक्षात्कारके स्वतन्त्र साधन माना है।

प्रश्न—पहले श्लोकमें अर्जुनने कर्मसंन्यास और कर्मयोगके नामसे प्रश्न किया और दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने भी उन्हीं शब्दोंसे दोनोंको कल्याणकारक बतलाते हुए उत्तर दिया, फिर उसी प्रकरणमें यहाँ 'सांख्य' और 'योग' के नामसे दोनोंके फलकी एकता बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'कर्मसंन्यास'का अर्थ 'कर्मोंको स्वरूपसे छोड़ देना' और कर्मयोगका अर्थ 'जैसे-तैसे कर्म करते रहना' मानकर लोग भ्रममें न पड़ जायँ इसलिये उन दोनोंका शब्दान्तरसे वर्णन करके भगवान् यह स्पष्ट कर देते हैं कि कर्मसंन्यासका अर्थ है—'सांख्य' और कर्मयोगका अर्थ है—सिद्धि और असिद्धिमें समत्वरूप 'योग' (२।४८)। अतएव दूसरे शब्दोंका प्रयोग करके भगवान्‌ने यहाँ कोई नयी बात नहीं कही है।

प्रश्न—यहाँ 'अपि' से क्या भाव निकलता है?

उत्तर—भलीभाँति किये जानेपर दोनों ही साधन अपना फल देनेमें सर्वथा स्वतन्त्र और समर्थ हैं, यहाँ 'अपि' इसी बातका द्योतक है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥

ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है॥ ५॥

प्रश्न—जब सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों सर्वथा स्वतन्त्र मार्ग हैं और दोनोंकी साधनप्रणालीमें भी पूर्व और पश्चिम जानेवालोंके मार्गकी भाँति परस्पर भेद है, (जैसा कि दूसरे श्लोककी व्याख्यामें बतलाया गया है) तब दोनों प्रकारके साधकोंको एक ही फल कैसे मिल सकता है?

उत्तर—जैसे किसी मनुष्यको भारतवर्षसे अमेरिका न्यूयार्क शहरको जाना है, तो वह यदि ठीक रास्तेसे होकर यहाँसे पूर्व-ही-पूर्व दिशामें जाता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही-पश्चिमकी ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा। वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधनप्रणालीमें परस्पर भेद होनेपर भी जो मनुष्य किसी एक साधनमें दृढ़तापूर्वक लगा रहता है वह दोनोंके ही एकमात्र परम लक्ष्य परमात्मातक पहुँच ही जाता है।

सम्बन्ध—सांख्ययोग और कर्मयोगके फलकी एकता बतलाकर अब कर्मयोगकी साधनविषयक विशेषताको पुनः स्पष्ट करते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

परन्तु हे अर्जुन ! कर्मयोगके विना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥६॥

प्रश्न—'तु' का यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'तु' इस विलक्षणताका द्योतक है कि संन्यास (सांख्ययोग) और कर्मयोगका फल एक होनेपर भी साधनमें कर्मयोगकी अपेक्षा सांख्ययोग कठिन है ।

प्रश्न—इस प्रसंगमें भगवान्‌ने दो बार अर्जुनके लिये 'महाबाहो' सम्बोधन देकर कौन-सा भाव व्यक्त किया है ?

उत्तर—जिसके 'बाहु' महान् हों, उसे 'महाबाहु' कहते हैं । भाई और मित्रको भी 'बाहु' कहते हैं । अतएव भगवान् इस सम्बोधनसे यह भाव दिखलाते हुए अर्जुनको उत्साहित करते हैं कि तुम्हारे भाई महान् धर्मात्मा युधिष्ठिर हैं और मित्र साक्षात् परमेश्वर मैं हूँ, फिर तुम्हें किस बातकी चिन्ता है ? तुम्हारे लिये तो सभी प्रकारसे अतिशय सुगमता है ।

प्रश्न—जब सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही स्वतन्त्र मार्ग हैं तब फिर यहाँ यह बात कैसे कही गयी कि कर्मयोगके विना संन्यासका प्राप्त होना कठिन है ?

उत्तर—स्वतन्त्र साधन होनेपर भी दोनोंमें जो सुगमता और कठिनताका भेद है, उसीको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने ऐसा कहा है । मान लीजिये, एक मुमुक्षु पुरुष है, और वह यह मानता है कि 'समस्त दृश्य-जगत् स्वप्नके सदृश मिथ्या है, एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है । यह सारा प्रपञ्च मायासे उसी ब्रह्ममें अध्यारोपित है । वस्तुतः दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं ।' परन्तु उसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, उसमें राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादि दोष वर्तमान हैं । वह यदि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कोई चेष्टा न करके केवल अपनी मान्यता-के भरोसेपर ही सांख्ययोगके साधनमें लगना चाहेगा तो उसे दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे ३०वें तकमें और अठारहवें अध्यायके ४९वें श्लोकसे ५५वें तकमें बतलायी हुई 'सांख्यनिष्ठा' सहज ही नहीं प्राप्त हो सकेगी । क्योंकि जबतक शरीरमें अहंभाव है, भोगोंमें ममता है और अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राग-द्वेष वर्तमान हैं तबतक ज्ञाननिष्ठाका साधन होना—अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर निरन्तर सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार ब्रह्मके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहना—तो दूर रहा, इसका समझमें आना भी कठिन है । इसके अतिरिक्त संसारमें मिथ्या भावना हो जानेके कारण जगत्‌के नियन्त्रणकर्ता और कर्मफल-दाता भगवान्‌में, और स्वर्ग-नरकादि कर्मफलोंमें विश्वास न रहनेसे उसका परिश्रमसाध्य शुभकर्मोंको त्याग देना और विषयासक्ति आदि दोषोंके कारण पापमय भोगोंमें फँसकर कल्याणमार्गसे भ्रष्ट हो जाना भी बहुत सम्भव है । अतएव इस प्रकारकी धारणावाले मनुष्यके लिये, जो सांख्ययोगको ही परमात्म-साक्षात्कारका उपाय मानता है,—यह परम आवश्यक है कि वह सांख्ययोगके साधनमें लगनेसे पूर्व निष्कामभावसे यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंका आचरण करके अपने अन्तःकरणको रागद्वेषादि दोषोंसे रहित—परिशुद्ध कर ले, तभी उसका सांख्ययोगका साधन निर्विघ्नतासे सम्पादित हो सकता है और तभी उसे सुगमताके साथ सफलता भी मिल सकती है । यहाँ इसी अभिप्रायसे कर्मयोगके विना संन्यासका प्राप्त होना कठिन बतलाया है ।

प्रश्न—यहाँ 'मुनिः' विशेषणके साथ 'योगयुक्तः' का प्रयोग किसके लिये किया गया है और वह पर-ब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही कैसे प्राप्त हो जाता है ?

उत्तर—जो सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए, आसक्ति और फलेच्छाका

त्याग करके भगवदाज्ञानुसार समस्त कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता है और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, नाम-गुण और प्रभावसहित श्रीभगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करता है, उस भक्तियुक्त कर्मयोगीके लिये 'मुनिः' विशेषणके साथ 'योगयुक्तः' का प्रयोग हुआ है। ऐसा कर्मयोगी भगवान्‌की दयासे परमार्थज्ञानके द्वारा शीघ्र ही परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—यहाँ 'मुनिः' पदका अर्थ वाक्संयमी या काम-क्रोधादिसे रहित शुद्धान्तःकरण जितेन्द्रिय साधक मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करनेवाला कर्मयोगी वाक्संयमी, जितेन्द्रिय और शुद्धान्तःकरण तो होता ही है, इसमें आपत्तिकी कौन-सी बात है?

प्रश्न—'ब्रह्म' शब्दका अर्थ सगुण परमेश्वर है या निर्गुण परमात्मा?

उत्तर—सगुण और निर्गुण परमात्मा वस्तुतः विभिन्न वस्तु नहीं हैं। एक ही परमपुरुषके दो स्वरूप हैं। अतएव यही समझना चाहिये कि 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ सगुण परमेश्वर भी है और निर्गुण परमात्मा भी!

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त कर्मयोगीके लक्षणोंका वर्णन करते हुए उसके कर्मोंमें लिप्त न होनेकी बात कहते हैं—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता॥ ७॥

प्रश्न—'योगयुक्तः'के साथ 'विशुद्धात्मा' 'विजितात्मा' और 'जितेन्द्रियः' ये विशेषण किस अभिप्रायसे दिये गये हैं?

उत्तर—मन और इन्द्रियाँ यदि साधकके वशमें न हों तो उनकी स्वाभाविक ही विषयोंमें प्रवृत्ति होती है, और अन्तःकरणमें जबतक राग-द्वेषादि मल रहता है तबतक सिद्धि और असिद्धिमें समभाव रहना कठिन होता है। अतएव जबतक मन और इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें न हो जायँ और अन्तःकरण पूर्णरूपसे परिशुद्ध न हो जाय तबतक साधकको वास्तविक कर्मयोगी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये यहाँ उपर्युक्त विशेषण देकर यह समझाया गया है कि जिसमें ये सब बातें हों वही पूर्ण कर्मयोगी है, और उसीको शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न—'सर्वभूतात्मभूतात्मा' इस पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमेश्वर ही जिसका अन्तरात्मा है, और उसीकी प्रेरणाके अनुसार जो सम्पूर्ण कर्म करता रहता है, तथा भगवान्‌को छोड़कर शरीर, मन, बुद्धि और अन्य किसी भी वस्तुमें जिसका ममत्व नहीं है, वह 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' है।

प्रश्न—यहाँ 'अपि' का प्रयोग किस हेतुसे किया गया है?

उत्तर—सांख्ययोगी अपनेको किसी भी कर्मका कर्ता नहीं मानता; उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा सब क्रियाओंके होते रहनेपर भी वह यही समझता है कि

'मैं कुछ भी नहीं करता, गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।' इसलिये उसका तो कर्मसे लिप्त न होना ठीक ही है परन्तु अपनेको कर्ता समझनेवाला कर्मयोगी भी भगवान्की आज्ञानुसार और भगवान्के लिये सब कर्मोंको करता हुआ भी कर्मोंमें फलेच्छा और आसक्ति न रहनेके कारण उनसे नहीं बँधता। यह उसकी विशेषता है। इसी अभिप्रायसे 'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है।

सम्बन्ध—दूसरे श्लोकमें कर्मयोग और सांख्ययोगकी सूत्ररूपसे फलमें एकता बतलाकर सांख्ययोगकी अपेक्षा सुगमताके कारण कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया। फिर तीसरे श्लोकमें कर्मयोगीकी प्रशंसा करके, चौथे और पाँचवें श्लोकमें दोनोंके फलकी एकताका और स्वतन्त्रताका भलीभाँति प्रतिपादन किया। तदनन्तर छठे श्लोकके पूर्वार्धमें कर्मयोगके बिना सांख्ययोगका सम्पादन कठिन बतलाकर उत्तरार्धमें कर्मयोगकी सुगमताका प्रतिपादन करते हुए सातवें श्लोकमें कर्मयोगीके लक्षण बतलाये। इससे यह बात सिद्ध हुई कि दोनों साधनोंका फल एक होनेपर भी दोनों साधन परस्पर भिन्न हैं। अतः दोनोंका स्वरूप जाननेकी इच्छा होनेसे भगवान् पहले आठवें और नवें श्लोकमें सांख्ययोगीके व्यवहारकालके साधनका स्वरूप बतलाते हैं—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ॥ ८-९॥

प्रश्न—यहाँ 'तत्त्ववित्' और 'युक्तः' इन दोनों विशेषणपदोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण मृगतृष्णाके जल या स्वप्नके संसारकी भाँति मायामय है, केवल एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही सत्य है, उसीमें यह सारा प्रपञ्च मायासे अध्यारोपित है—इस प्रकार नित्यानित्य वस्तुके तत्त्वको समझकर जो पुरुष निरन्तर निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहता है वही 'तत्त्ववित्' और 'युक्त' है। सांख्ययोगके साधकको ऐसा ही होना चाहिये। यही समझानेके लिये ये दोनों विशेषण दिये गये हैं।

प्रश्न—यहाँ देखने-सुनने आदिकी सब क्रियाएँ करते रहनेपर भी मैं कुछ भी नहीं करता, इसका क्या भाव है?

उत्तर—जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य समझता है कि स्वप्नकालमें स्वप्नके शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियों-द्वारा मुझे जिन क्रियाओंके होनेकी प्रतीति होती थी, वास्तवमें न तो वे क्रियाएँ होती थीं और न मेरा उनसे कुछ भी सम्बन्ध ही था; वैसे ही तत्त्वको समझकर

निर्विकार अक्रिय परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहनेवाले सांख्ययोगीको भी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण और मन आदिके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंके करते समय यही समझना चाहिये कि ये सब मायामय मन, प्राण और इन्द्रिय ही अपने-अपने मायामय विषयोंमें विचर रहे हैं। वास्तवमें न तो कुछ हो रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है।

प्रश्न—तब तो जो मनुष्य राग-द्वेष और काम-क्रोधादि दोषोंके रहनेपर भी अपनी मान्यताके अनुसार सांख्ययोगी बने हुए हैं, वे भी कह सकते हैं कि हमारे मन-इन्द्रियके द्वारा जो कुछ भी भली-बुरी क्रियाएँ होती हैं, उनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसी अवस्थामें यथार्थ सांख्ययोगीकी पहचान कैसे होगी ?

उत्तर—कथनमात्रसे न तो कोई सांख्ययोगी ही हो सकता है, और न उसका कर्मोंसे सम्बन्ध ही छूट सकता है। सच्चे और वास्तविक सांख्ययोगीके ज्ञानमें तो सम्पूर्ण प्रपञ्च स्वप्नकी भाँति मायामय होता है, इसलिये उसकी किसी भी वस्तुमें किञ्चित् भी आसक्ति नहीं रहती। उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि दोष उसमें जरा भी नहीं रहते। ऐसी अवस्थामें निषिद्धाचरणका कोई भी हेतु न रहनेके कारण उसके विशुद्ध मन और इन्द्रियोंद्वारा जो भी चेष्टाएँ होती हैं, सब शास्त्रानुकूल और लोकहितके लिये ही होती हैं। वास्तविक सांख्ययोगीकी यही पहचान है। जबतक अपने अंदर राग-द्वेष और काम-क्रोधादिका कुछ भी अस्तित्व जान पड़े तबतक सांख्ययोगके साधकको अपने साधनमें त्रुटि ही समझनी चाहिये।

प्रश्न—सांख्ययोगी शरीरनिर्वाहमात्रके लिये केवल खान-पान आदि आवश्यक क्रिया ही करता है या वर्णाश्रमानुसार शास्त्रानुकूल सभी कर्म करता है ?

उत्तर—कोई खास नियम नहीं है। वर्ण, आश्रम, प्रकृति, प्रारब्ध, संग और अभ्यासका भेद होनेके कारण सभी सांख्ययोगियोंके कर्म एक-से नहीं होते। यहाँ 'पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्' और 'अश्नन्', इन पाँच पदोंसे आँख, कान, त्वचा, घ्राण और रसना, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी समस्त क्रियाएँ क्रमसे बतलायी गयी हैं। 'गच्छन्', 'गृह्णन्' और 'प्रलपन्' से पैर, हाथ और वाणीकी, एवं 'विसृजन्' से उपस्थ और गुदाकी, इस प्रकार पाँचों कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाएँ बतलायी गयी हैं। 'श्वसन्' पद प्राण-अपानादि पाँचों प्राणोंकी क्रियाओंका बोधक है। वैसे ही 'उन्मिषन् निमिषन्' पद कूर्म आदि पाँचों वायुभेदोंकी क्रियाओंके बोधक हैं और 'स्वपन्' पद अन्तःकरणकी क्रियाओंका बोधक है। इस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरणकी क्रियाओंका उल्लेख होनेके कारण सांख्ययोगीके द्वारा उसके वर्ण, आश्रम, प्रकृति, प्रारब्ध और संगके अनुसार शरीरनिर्वाह तथा लोकोपकारार्थ शास्त्रानुकूल खान-पान, व्यापार, उपदेश, लिखना, पढ़ना, सुनना, सोचना आदि सभी क्रियाएँ हो सकती हैं।

प्रश्न—तीसरे अध्यायके २८वें श्लोकमें कहा गया है कि 'गुण ही गुणोंमें बरतते हैं' तथा तेरहवें अध्यायके २९ वें श्लोकमें 'समस्त कर्म प्रकृतिद्वारा किये हुए' बतलाये गये हैं और यहाँ कहा गया है कि 'इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरतती हैं'—इस तीन प्रकारके वर्णनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इन्द्रिय और उनके समस्त विषय सत्त्वादि तीनों गुणोंके कार्य हैं, और तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं। अतएव, चाहे सब कर्मोंको प्रकृतिके द्वारा किये हुए बतलाया जाय, अथवा गुणोंका गुणोंमें या इन्द्रियोंका

इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरतना कहा जाय, बात एक ही है। सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये ही प्रसङ्गानुसार एक ही बात तीन प्रकारसे कही गयी है।

प्रश्न–इन्द्रियोंके साथ-साथ प्राण और मन-सम्बन्धी क्रियाओंका वर्णन करके भी केवल ऐसा ही माननेके लिये क्यों कहा कि 'इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरतती हैं?'

उत्तर–क्रियाओंमें इन्द्रियोंकी ही प्रधानता है। प्राणादिकी चेष्टा भी प्रायः इन्द्रियोंके ही सम्बन्धसे होती है। और मन भी आभ्यन्तर करण होनेसे इन्द्रिय ही है। इस प्रकार 'इन्द्रिय' शब्दमें सबका समावेश हो जाता है, इसलिये ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

प्रश्न–यहाँ 'एव' का प्रयोग किस उद्देश्यसे किया गया है?

उत्तर–कर्मोंमें कर्तापनका सर्वथा अभाव बतलानेके लिये यहाँ 'एव' शब्दका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि सांख्ययोगी किसी भी अंशमें कभी अपनेको कर्मोंका कर्ता नहीं माने।

सम्बन्ध–इस प्रकार सांख्ययोगीके साधनका स्वरूप बतलाकर अब दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें कर्मयोगीके साधनका स्वरूप बतलाते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

प्रश्न–सम्पूर्ण कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करना क्या है?

उत्तर–ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमानुकूल अर्थोपार्जनसम्बन्धी, और खान-पानादि शरीरनिर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबको ममताका सर्वथा त्याग करके, सब कुछ भगवान्‌का समझकर, उन्हींके लिये, उन्हींकी आज्ञा और इच्छाके अनुसार, जैसे वे करावें वैसे ही, कठपुतलीकी भाँति करते रहना चाहिये; इसीको ब्रह्ममें सब कर्मोंका अर्पण करना कहते हैं।

प्रश्न–आसक्तिको छोड़कर कर्म करना क्या है?

उत्तर–स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि भोगोंकी समस्त सामग्रियोंमें, स्वर्गादि लोकोंमें, शरीरमें, समस्त क्रियाओंमें एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा आदिमें सब प्रकारसे आसक्तिका त्याग करके उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करना ही आसक्ति छोड़कर कर्म करना है।

प्रश्न–कर्मयोगी तो शास्त्रविहित सत्कर्म ही करता है, वह पाप-कर्म तो करता ही नहीं, और बिना पाप-कर्म किये पापसे लिप्त होनेकी आशङ्का नहीं होती, फिर यह कैसे कहा गया कि वह पापोंसे लिप्त नहीं होता?

उत्तर–विहित कर्म भी सर्वथा निर्दोष नहीं होते। आरम्भमात्रमें ही हिंसादिके सम्बन्धसे कुछ-न-कुछ पाप हो ही जाते हैं। इसीलिये भगवान्‌ने 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८।४८) कहकर कर्मोंके आरम्भको सदोष बतलाया है। अतएव जो मनुष्य फल-कामना और आसक्तिके वश होकर भोग और आरामके लिये कर्म करता है, वह पापोंसे कभी बच नहीं सकता। कामना और आसक्ति ही

मनुष्यके बन्धनमें हेतु हैं, इसलिये जिसमें कामना और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है, वह पुरुष कर्म करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता—यह कहना ठीक ही है।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

प्रश्न—यहाँ 'केवलैः' इस विशेषणका क्या अभिप्राय है? इसका सम्बन्ध केवल इन्द्रियोंसे ही है, या मन, बुद्धि और शरीरसे भी?

उत्तर—यहाँ 'केवलैः' यह विशेषण ममताके अभावका द्योतक है और उपलक्षणके लिये इन्द्रियोंके विशेषणके रूपमें दिया गया है। अतएव मन, बुद्धि और शरीरसे भी इसका सम्बन्ध समझना चाहिये। अभिप्राय यह है कि कर्मयोगी मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियोंमें ममता नहीं रखते; वे इन सबको भगवान्‌की ही वस्तु समझते हैं। और लौकिक स्वार्थसे सर्वथा रहित होकर निष्कामभावसे भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार, जैसे वे कराते हैं वैसे ही, समस्त कर्तव्यकर्म करते रहते हैं।

प्रश्न—सब कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके अनासक्तरूपसे उनका आचरण करनेके लिये तो दसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कह ही दिया था, फिर यहाँ दुबारा वही आसक्तिके त्यागकी बात किस प्रयोजनसे कही?

उत्तर—कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करने तथा आसक्तिका त्याग करनेकी बात तो भगवान्‌ने अवश्य ही कह दी थी; परन्तु जैसे इसी अध्यायके आठवें और नवें श्लोकमें सांख्ययोगीके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाएँ किस भाव और किस प्रकारसे होती हैं—यह बतलाया था, वैसे ही कर्मयोगीकी क्रियाएँ किस भाव और किस प्रकारसे होती हैं, यह बात वहाँ नहीं बतलायी। अतएव यहाँ उसी बातको भलीभाँति समझानेके लिये भगवान् कहते हैं कि कर्मयोगी मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरादिमें एवं उनके द्वारा होनेवाली किसी भी क्रियामें ममता और आसक्ति न रखकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही कर्म करते हैं। इस प्रकार कर्मयोगीके कर्मका भाव और प्रकार बतलानेके लिये ही यहाँ पुनः आसक्तिके त्यागकी बात कही गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकारसे कर्म करनेवाला कर्मयोगी पापोंसे लिप्त नहीं होता और उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, यह सुननेपर इस बातकी जिज्ञासा होती है कि कर्मयोगका यह अन्तःकरणशुद्धिरूप इतना ही फल है, या इसके अतिरिक्त कुछ विशेष फल भी है, एवं इस प्रकार कर्म न करके सकामभावसे शुभ कर्म करनेमें क्या हानि है? अतएव अब इसी बातको स्पष्टरूपसे समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

कर्मयोगी कर्मोंके फलको परमेश्वरके अर्पण करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है ॥ १२ ॥

प्रश्न—आठवें श्लोकमें 'युक्त' शब्दका अर्थ सांख्ययोगी किया गया है। फिर यहाँ उसी 'युक्त' शब्दका अर्थ कर्मयोगी कैसे किया गया?

उत्तर—शब्दका अर्थ प्रकरणके अनुसार हुआ करता है। इसी न्यायसे गीतामें 'युक्त' शब्दका भी प्रयोग प्रसंगानुसार भिन्न-भिन्न अर्थोंमें हुआ है। 'युक्त' शब्द 'युज्' धातुसे बनता है, जिसका अर्थ जुड़ना होता है। दूसरे अध्यायके ६१ वें श्लोकमें 'युक्त' शब्द 'संयमी' के अर्थमें आया है, छठें अध्यायके ८ वें श्लोकमें 'तत्त्वज्ञानी' के लिये, सतरहवें श्लोकमें आहार-विहारके साथ होनेसे 'औचित्य' के अर्थमें और अठारहवें श्लोकमें 'योगी' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, तथा सातवें अध्यायके २२ वें श्लोकमें वही श्रद्धाके साथ होनेसे संयोगका वाचक माना गया है। इसी प्रकार इस अध्यायके आठवें श्लोकमें वह सांख्ययोगीके अर्थमें आया है। वहाँ समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं, ऐसा समझकर अपनेको कर्तापनसे रहित माननेवाले तत्त्वज्ञ पुरुषको 'युक्त' कहा गया है; इसलिये वहाँ उसका अर्थ 'सांख्ययोगी' ही मानना ठीक है। परन्तु यहाँ 'युक्त' शब्द सब कर्मोंके फलको भगवदर्थ त्याग करनेवालेके लिये आया है, अतएव यहाँ इसका अर्थ 'कर्मयोगी' ही मानना होगा।

प्रश्न—यहाँ 'नैष्ठिकी शान्ति' का अर्थ 'भगवत्प्राप्ति-रूप शान्ति' कैसे किया गया?

उत्तर—'नैष्ठिकी' शब्दका अर्थ 'निष्ठासे उत्पन्न होनेवाली' होता है। इसके अनुसार कर्मयोगनिष्ठासे सिद्ध होनेवाली भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको 'नैष्ठिकी शान्ति' कहना उचित ही है।

प्रश्न—यहाँ 'अयुक्त' शब्दका अर्थ प्रमादी, आलसी या कर्म नहीं करनेवाला न करके 'सकाम पुरुष' कैसे किया गया?

उत्तर—कामनाके कारण फलमें आसक्त होनेवाले पुरुषका वाचक होनेसे यहाँ 'अयुक्त' शब्दका अर्थ सकाम पुरुष मानना ही ठीक है।

प्रश्न—यहाँ 'बन्धन' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सकामभावसे किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार देव-मनुष्यादि योनियोंमें भटकना ही बन्धन है।

सम्बन्ध—यहाँ यह बात कही गयी कि 'कर्मयोगी' कर्मफलसे न बँधकर परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और 'सकाम पुरुष' फलमें आसक्त होकर जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ता है, किन्तु यह नहीं बतलाया कि सांख्ययोगीका क्या होता है? अतएव अब सांख्ययोगीकी स्थिति बतलाते हैं—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥

प्रश्न—जब सांख्ययोगी शरीर, इन्द्रिय और अन्तः-करणको मायामय समझता है, इनसे उसका कुछ सम्बन्ध ही नहीं रह जाता, तब उसे 'देही' और 'वशी' क्यों कहा गया ?

उत्तर—यद्यपि सांख्ययोगीका उसकी अपनी दृष्टिसे शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; वह सदा सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अभिन्नरूपसे स्थित रहता है; तथापि लोकदृष्टिमें तो वह शरीरधारी ही दीखता है। इसीलिये उसको 'देही' कहा गया है। इसी प्रकार चौदहवें अध्यायके २० वें श्लोकमें गुणातीतके वर्णनमें भी 'देही' शब्द आया है। और लोकदृष्टिसे उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंकी चेष्टाएँ नियमितरूपसे शास्त्रानुकूल और लोकसंग्रहके उपयुक्त होती हैं; इसलिये उसे 'वशी' कहा है।

प्रश्न—यहाँ 'एव' किस भावका द्योतक है ?

उत्तर—सांख्ययोगीका शरीर और इन्द्रियोंमें अहंभाव न रहनेके कारण उनके द्वारा होनेवाले कर्मोंमें वह कर्ता नहीं बनता; और ममत्व न रहनेके कारण वह करवाने-वाला भी नहीं बनता। अतः 'न कुर्वन्' और 'न कारयन्' के साथ 'एव' का प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि सांख्ययोगीमें अहंता-ममताका सर्वथा अभाव होनेके कारण वह किसी प्रकार भी शरीर, इन्द्रिय और मन आदिके द्वारा होनेवाले कर्मोंका करनेवाला या करवानेवाला नहीं बनता।

प्रश्न—यहाँ 'नवद्वारे पुरे आस्ते' अर्थात् 'नौ द्वारों-वाले शरीररूप पुरमें रहता है' ऐसा अन्वय न करके 'नवद्वारे पुरे सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' अर्थात् 'नौ द्वारवाले शरीररूप पुरमें सब कर्मोंको मनसे छोड़कर' इस प्रकार अन्वय क्यों किया गया ?

उत्तर—नौ द्वारवाले शरीररूप पुरमें रहनेका प्रतिपादन करना सांख्ययोगीके लिये कोई महत्त्वकी बात नहीं है, बल्कि उसकी स्थितिके विरुद्ध है। शरीररूप पुरमें तो साधारण मनुष्यकी भी स्थिति है ही, इसमें महत्त्वकी कौन-सी बात है ? इसके विरुद्ध शरीररूप पुरमें यानी इन्द्रियादि प्राकृतिक वस्तुओंमें कर्मोंके त्यागका प्रतिपादन करनेसे सांख्ययोगीका विशेष महत्त्व प्रकट होता है; क्योंकि सांख्ययोगी ही ऐसा कर सकता है, साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। अतएव जो अन्वय किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियादिके कर्मोंको इन्द्रियादिमें छोड़नेके लिये न कहकर नौ द्वारवाले शरीरमें छोड़नेके लिये क्यों कहा ?

उत्तर—दो आँख, दो कान, दो नासिका और एक मुख, ये सात ऊपरके द्वार, तथा उपस्थ और गुदा, ये दो नीचेके द्वार—इन्द्रियोंके गोलकरूप इन नौ द्वारोंका सङ्केत किये जानेसे यहाँ वस्तुतः सब इन्द्रियोंके कर्मोंको इन्द्रियोंमें ही छोड़नेके लिये कहा गया है। क्योंकि इन्द्रियादि समस्त कर्मकारकोंका आधार ही शरीर है, अतएव शरीरमें छोड़नेके लिये कहना कोई दूसरी बात नहीं है। जो बात आठवें और नवें श्लोकमें कही गयी है, वही यहाँ कही गयी है। केवल शब्दोंका अन्तर है। वहाँ इन्द्रियोंकी क्रियाओंका नाम बतलाकर कहा है, यहाँ उनके स्थानोंकी ओर सङ्केत करके कहा है। इतना ही भेद है। भावमें कोई भेद नहीं है।

प्रश्न—यहाँ मनसे कर्मोंको छोड़नेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—स्वरूपसे सब कर्मोंका त्याग कर देनेपर मनुष्यकी शरीरयात्रा भी नहीं चल सकती। इसलिये मनसे—विवेकबुद्धिके द्वारा कर्तृत्व-कारयितृत्वका त्याग करना ही सांख्ययोगीका त्याग है, इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये मनसे त्याग करनेके लिये कहा है।

प्रश्न—श्लोकार्थमें कहा गया है—'वह 'सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है', परन्तु मूल श्लोकमें ऐसी कोई बात नहीं आयी है; फिर अर्थमें यह वाक्य ऊपरसे क्यों जोड़ा गया ?

उत्तर—'आस्ते'—स्थित रहता है, इस क्रियाको आधारकी आवश्यकता है। मूल श्लोकमें उसके उपयुक्त शब्द न रहनेपर भावसे अध्याहार कर लेना उचित ही है। यहाँ सांख्ययोगीका प्रकरण है और सांख्ययोगी वस्तुतः सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही सुखपूर्वक स्थित हो सकता है, अन्यत्र नहीं। इसीलिये ऊपरसे यह वाक्य जोड़ा गया है।

सम्बन्ध—जब कि आत्मा वास्तवमें कर्म करनेवाला भी नहीं है, और इन्द्रियादिसे करवानेवाला भी नहीं है, तो फिर कर्म करने-करवानेवाला कौन है, और यह समस्त सृष्टिव्यापार कैसे चलता है ? इसपर कहते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

परमेश्वर भी न तो भूतप्राणियोंके कर्तापनको, न कर्मोंको और न कर्मोंके फलके संयोगको ही वास्तवमें रचता है; किन्तु परमात्माके सकाशसे प्रकृति ही बरतती है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं ॥ १४ ॥

प्रश्न—समस्त प्राणियोंके कर्तापन, कर्म और कर्मफलके संयोगकी व्यवस्था सृष्टिकर्ता परमेश्वर ही करते हैं; वे ही जीवोंके कर्मानुसार उनको अच्छी-बुरी योनियोंमें उत्पन्न करके उन्हें फिरसे नवीन कर्म करनेकी शक्ति प्रदान करते हैं और पूर्वकृत कर्मोंके फल सुख-दुःखादिका भोग कराते हैं—ऐसा वर्णन शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर पाया जाता है। फिर यहाँ यह कैसे कहा गया कि परमेश्वर इन सबकी रचना नहीं करता ?

उत्तर—शास्त्रोंमें जहाँ कहीं भी परमेश्वरको सृष्टि-रचनादि कर्मोंका कर्ता बतलाया गया है, वहाँ सगुण परमेश्वरके प्रसंगमें ही बतलाया गया है। और वहाँ भी प्रायः यह बात दिखलायी गयी है कि वास्तवमें भगवान् अकर्ता ही हैं (४।१३)। गीतामें जहाँ-जहाँ भगवान्को सृष्टि आदिका कर्ता बतलाया है, वहाँ प्रकृतिके द्वारा ही बतलाया है (९।७-८) और जहाँ-जहाँ प्रकृतिको कर्ता कहा है वहाँ भगवान्के सकाशसे कहा गया है (९।१०)। अतः यही बात समझनी चाहिये कि रचनादि कार्य सब प्रकृतिका ही किया हुआ है। भगवान् तो सर्वथा उदासीन और केवल साक्षीमात्र हैं (९।९)। इसलिये प्रकृतिके अधिष्ठाता सगुण परमेश्वरको भी सृष्टि-रचनादि कर्मोंका कर्ता बताना लीलासे ही है। जहाँ निर्गुण, निराकार एवं प्रकृतिसे पर परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन आता है, वहाँ सृष्टिरचनादि कर्मोंसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं माना जाता। यहाँ भी निर्गुण ब्रह्मका प्रकरण है। अतः यहाँ ऐसा कहनेमें कोई विरोध नहीं है कि परमात्मा किसीके कर्तृत्व, कर्म और कर्मफलके संयोगकी रचना नहीं करता।

प्रश्न—यहाँ 'स्वभाव' अर्थात् प्रकृति ही बरतती है, इस कथनका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—आत्माका कर्तापन, कर्म और कर्मोंके फलसे वास्तवमें कोई सम्बन्ध नहीं है और परमेश्वर भी किसीके कर्तृत्वादिकी रचना नहीं करते, तो फिर ये सब कैसे देखनेमें आ रहे हैं—इस जिज्ञासापर यह बात कही

गयी है कि रागद्वेषादि समस्त विकार, शुभाशुभ कर्म और उनके संस्कार, इन सबके रूपमें परिणत हुई प्रकृति ही सब कुछ करती है। प्राकृत जीवोंके साथ इसका अनादिसिद्ध संयोग है। इसीसे उनमें कर्तृत्व-भाव उत्पन्न हो रहा है, तथा इसीसे कर्म और कर्म-फलसे भी उनका सम्बन्ध हो रहा है। वास्तवमें आत्माका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है, यही इसका अभिप्राय है।

सम्बन्ध—शुभाशुभ कर्मोंका फल जैसे करनेवालेको मिलता है वैसे ही करवानेवालेको भी मिलता है। भगवान्‌की त्रिगुणमयी प्रकृति भगवान्‌के अधिष्ठातृत्वमें उन्हींके सकाशसे सृष्टिरचनादि समस्त कर्म करती है। अतः प्रकृतिके प्रेरक होनेके कारण परमात्मा भी पुण्य-पापके भागी तो होते ही होंगे, ऐसी शंकाको दूर करनेके लिये कहते हैं—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

सर्वव्यापी परमात्मा न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है; अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब जीव मोहित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

प्रश्न—सर्वव्यापी परमात्मा किसीके पुण्य-पापको ग्रहण नहीं करते, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जैसे सूर्य समस्त जगत्‌को प्रकाश देते हैं, परन्तु उनके प्रकाशकी सहायता लेकर किये जानेवाले पुण्य-पापरूप कर्मोंके फलसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्माकी चेतन-सत्ता सर्वत्र समभावसे व्याप्त है, उसीका आश्रय लेकर प्रकृति सब कुछ करती है, परमेश्वर सर्वथा उदासीन हैं। यद्यपि भगवान् प्रकृतिके सम्बन्धसे जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि करते हुए तथा प्रकृति और प्रकृतिके वशीभूत जीवोंद्वारा समस्त चेष्टा करवाते हुए-से प्रतीत होते हैं, तथापि वास्तवमें न तो वे स्वयं कुछ करते हैं और न प्रकृतिसे या जीवोंसे करवाते ही हैं। अतः वास्तवमें किसीके भी शुभाशुभ कर्म भगवान्‌पर लागू नहीं पड़ते। इस प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मामें पुण्य-पापोंके सम्बन्धका सर्वथा अभाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा है।

प्रश्न—इसी अध्यायके अन्तिम श्लोकमें और नवें अध्यायके २४ वें श्लोकमें तो भगवान्‌ने स्वयं यह कहा है कि सम्पूर्ण यज्ञ और तपोंका भोक्ता मैं हूँ। फिर यहाँ यह बात कैसे कही कि भगवान् किसीके शुभकर्म भी ग्रहण नहीं करते ?

उत्तर—वहाँ सगुण परमेश्वरका वर्णन है। इसलिये वहाँ भगवान्‌को सब यज्ञोंका भोक्ता कहना उचित ही है। क्योंकि सारा विश्व सगुण परमेश्वरका स्वरूप है। इसलिये देवतादिके रूपमें भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता हैं। किन्तु ऐसा होनेपर भी वास्तवमें भगवान् कर्म और कर्मफलसे सर्वथा सम्बन्धरहित हैं। इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये जहाँ निर्गुण, निराकार ब्रह्मका वर्णन आता है, वहाँ उनको मायाके सम्बन्धसे सर्वथा अतीत बतलाया जाता है। यहाँ निर्गुणका वर्णन है, इसलिये यहाँ उनके साथ पुण्य-पापके सम्बन्धका अभाव बतलाना उचित ही है।

प्रश्न—अज्ञानद्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इसीसे सब

जीव मोहित हो रहे हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ यह शंका होती है कि यदि वास्तवमें जीवोंका कर्तापन, उनके शुभाशुभ कर्म और कर्म-फलकी प्राप्ति—इन सबकी रचना परमात्माने नहीं की है, तथा भगवान् स्वयं कर्म करते भी नहीं और दूसरेसे करवाते भी नहीं, अतः उनके पुण्य-पापका भी परमात्मा-से सम्बन्ध नहीं है, सब कुछ प्रकृतिका ही खेल है, तब संसारमें जो सब जीव यह समझते हैं कि 'अमुक कर्म मैंने किया है', 'यह मेरा कर्म है', 'मुझे इसका फल मिलेगा', यह क्या बात है ? इसी शंकाका निराकरण करनेके लिये कहते हैं कि अनादि-सिद्ध अज्ञानद्वारा सब जीवोंका यथार्थ ज्ञान ढका हुआ है। इसीलिये वे अपने और परमात्माके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते। तथा परमात्माके निर्गुण-सगुणरूपके रहस्य-को न जाननेके कारण सृष्टिरचनादि कर्मोंके रहस्यको भी नहीं समझते। इसी हेतुसे वे अज्ञानवश अपनेमें और परमेश्वरमें कर्ता, कर्म और कर्मफलके सम्बन्धकी कल्पना करके मोहित हो रहे हैं।

सम्बन्ध—क्या सभी जीव अज्ञानसे मोहित हो रहे हैं ? कोई भी परमात्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता ? इसपर कहते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान परमात्माके ज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है ॥ १६ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पन्द्रहवें श्लोकमें यह बात कही कि अज्ञान-द्वारा ज्ञानके आवृत हो जानेके कारण सब जीव मोहित हो रहे हैं। यहाँ उन साधारण जीवोंसे आत्मतत्त्वके जाननेवाले ज्ञानियोंको पृथक् करनेके लिये 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'अज्ञानम्' के साथ 'तत्' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—१५ वें श्लोकमें जिस अज्ञानका वर्णन है, जिस अज्ञानके द्वारा अनादिकालसे सब जीवोंका ज्ञान आवृत है, जिसके कारण मोहित हुए सब जीव आत्मा और परमात्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते, उसी अज्ञानकी बात यहाँ कही जाती है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये अज्ञानके साथ 'तत्' विशेषण दिया गया है। अभिप्राय यह है कि जिन पुरुषोंका वह अनादि-सिद्ध अज्ञान सांख्ययोगके साधनसे प्राप्त परमात्माके यथार्थ ज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, वे मोहित नहीं होते।

प्रश्न—कर्मयोग और भक्तियोगद्वारा प्राप्त परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे भी अज्ञान नष्ट किया जा सकता है। फिर सांख्ययोगसे प्राप्त ज्ञान कहनेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यहाँ १३ वेंसे २९ वें श्लोकतक सांख्य-योगका ही प्रकरण है। इसलिये ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ सूर्यका दृष्टान्त देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस प्रकार सूर्य अन्धकारका सर्वथा नाश करके दृश्यमात्रको प्रकाशित कर देता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञान भी अज्ञानका सर्वथा नाश करके परमात्माके स्वरूपको भलीभाँति प्रकाशित कर देता है। जिनको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वे कभी, किसी भी अवस्थामें, मोहित नहीं होते।

सम्बन्ध—यथार्थ ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है, यह बात कहकर अब २६ वें श्लोकतक ज्ञानयोग-द्वारा परमात्माको प्राप्त होनेके साधन तथा परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंके लक्षण, आचरण, महत्त्व और स्थितिका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले यहाँ ज्ञानयोगके एकान्त साधनद्वारा परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

जिनका मन तद्रूप है, जिनकी बुद्धि तद्रूप है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

प्रश्न—मनका तद्रूप होना क्या है और सांख्ययोगके अनुसार किस तरह अभ्यास करते-करते मन तद्रूप होता है ?

उत्तर—सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का अभ्यास करनेवालेको चाहिये कि आचार्य और शास्त्रके उपदेशसे सम्पूर्ण जगत्को मायामय और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही सत्य वस्तु समझकर तथा सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंके चिन्तनको सर्वथा छोड़कर, मनको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल स्थित करनेके लिये उनके आनन्दमय स्वरूपका चिन्तन करे । बार-बार आनन्दकी आवृत्ति करता हुआ ऐसी धारणा करे कि पूर्णानन्द, अपार आनन्द, शान्तानन्द, घनानन्द, अचलानन्द, ध्रुवानन्द, नित्यानन्द, बोधस्वरूपानन्द, ज्ञानस्वरूपानन्द, परमानन्द, महान् आनन्द, अनन्त आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, चिन्मय आनन्द, एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न अन्य कोई वस्तु ही नहीं है—इस प्रकार निरन्तर मनन करते-करते सच्चिदानन्दघन परमात्मामें मनका अभिन्नभावसे निश्चल हो जाना मनका तद्रूप होना है ।

प्रश्न—बुद्धिका तद्रूप होना क्या है और मन तद्रूप होनेके बाद किस तरहके अभ्याससे बुद्धि तद्रूप होती है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे मनके तद्रूप हो जानेपर बुद्धिमें सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका प्रत्यक्षके सदृश निश्चय हो जाता है, उस निश्चयके अनुसार निदिध्यासन (ध्यान) करते-करते जो बुद्धिकी भिन्न सत्ता न रहकर उसका सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकाकार हो जाना है, वही बुद्धिका तद्रूप हो जाना है ।

प्रश्न—'तन्निष्ठा' अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थिति किस अवस्थाका नाम है, तथा मन और बुद्धि दोनोंके तद्रूप हो जानेके बाद वह कैसे होती है ?

उत्तर—जबतक मन और बुद्धि उपर्युक्त प्रकारसे परमात्मामें एकाकार नहीं हो जाते, तबतक सांख्ययोगीकी परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थिति नहीं होती; क्योंकि मन और बुद्धि परमात्मा और आत्माके भेदभ्रममें मुख्य कारण हैं । अतएव उपर्युक्त प्रकारसे मन-बुद्धिके परमात्मामें एकाकार हो जानेके बाद साधककी दृष्टिसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जाना, एवं ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटीका अभाव होकर केवलमात्र एक वस्तु सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही रह जाना सांख्ययोगीका तन्निष्ठ होना अर्थात् परमात्मामें एकीभावसे स्थित होना है ।

प्रश्न—'तत्परायणाः' यह पद किनका वाचक है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जानेपर जब सांख्ययोगीकी सच्चिदानन्द-

घन परमात्मामें अभिन्नभावसे निश्चल स्थिति हो जाती है, तब वस्तुतः परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता रहती ही नहीं। उसके मन, बुद्धि, प्राण आदि सब कुछ परमात्मरूप ही हो जाते हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानद्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेनेवाले पुरुषोंका वाचक यहाँ 'तत्परायणाः' पद है।

प्रश्न—यहाँ 'तत्' शब्दका अर्थ सच्चिदानन्दघन परमात्मा कैसे किया गया ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें 'परम्' के साथ 'तत्' विशेषण आया है। वहाँ यथार्थ ज्ञानद्वारा जिस परमतत्त्वका साक्षात्कार होना बतलाया गया है, उसीसे इस श्लोकका 'तत्' शब्द सम्बन्ध रखता है। अतएव प्रकरणके अनुसार उसका अर्थ 'सच्चिदानन्दघन परमात्मा' करना ही उचित है।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' पदमें आया हुआ 'ज्ञान' शब्द किस ज्ञानका वाचक है? 'कल्मष' शब्दका और 'निर्धूत' शब्दका क्या अर्थ है?

उत्तर—१६ वें श्लोकमें जिस ज्ञानको अज्ञानका नाशक और परमात्माको प्रकाशित करनेवाला बतलाया है, उस यथार्थ तत्त्वज्ञानका वाचक यहाँ 'ज्ञान' शब्द है। शुभाशुभ कर्म तथा राग-द्वेषादि अवगुण एवं विक्षेप और आवरण, इन सभीका वाचक 'कल्मष' शब्द है, क्योंकि ये सभी आत्माके बन्धनमें हेतु होनेके कारण 'कल्मष' अर्थात् पाप ही हैं। इन सबको भलीभाँति हटा देना—नष्ट कर देना, 'निर्धूत' शब्दका अर्थ है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारके साधनसे प्राप्त यथार्थ ज्ञानके द्वारा जिनके मल, विक्षेप और आवरणरूप समस्त पाप भलीभाँति नष्ट हो गये हैं, जिनमें उन पापोंका लेशमात्र भी नहीं रहा है, जो सर्वथा पापरहित हो गये हैं, वे 'ज्ञाननिर्धूतकल्मष' हैं।

प्रश्न—यहाँ 'अपुनरावृत्तिको प्राप्त होना' क्या है?

उत्तर—जिस पदको प्राप्त होकर योगी पुनः नहीं लौटता, जिसको १६ वें श्लोकमें 'तत्परम्' के नामसे कहा है, गीतामें जिसका वर्णन कहीं 'अक्षय सुख', कहीं 'निर्वाण ब्रह्म', कहीं 'उत्तम सुख', कहीं 'परम गति', कहीं 'परमधाम', कहीं 'अव्ययपद' और कहीं 'दिव्य परमपुरुष' के नामसे आया है, उस यथार्थ ज्ञानके फलरूप परमात्माको प्राप्त होना ही अपुनरावृत्तिको प्राप्त होना है।

सम्बन्ध—परमात्माकी प्राप्तिका साधन बतलाकर अब परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंके 'समभाव' का वर्णन करते हैं—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं ॥ १८ ॥

प्रश्न—यहाँ 'पण्डिताः' पद किन पुरुषोंका वाचक है?

उत्तर—'पण्डिताः' यह पद तत्त्वज्ञानी महात्मा सिद्ध पुरुषोंका वाचक है।

प्रश्न—विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें समदर्शनका क्या भाव है?

उत्तर—तत्त्वज्ञानी सिद्ध पुरुषोंका विषमभाव सर्वथा

समदर्शिता



विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (५। १८)

नष्ट हो जाता है। उनकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये उनका सर्वत्र समभाव हो जाता है। इसी बातको समझानेके लिये मनुष्योंमें उत्तम-से-उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मण, नीच-से-नीच चाण्डाल एवं पशुओंमें उत्तम गौ, मध्यम हाथी और नीच-से-नीच कुत्तेका उदाहरण देकर उनके समत्वका दिग्दर्शन कराया गया है। इन पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें विषमता सभीको करनी पड़ती है। जैसे गौका दूध सभी पीते हैं, पर कुतियाका दूध कोई भी मनुष्य नहीं पीता। वैसे ही हाथीपर सवारी की जा सकती है, कुत्तेपर नहीं की जा सकती। जो वस्तु शरीरनिर्वाहार्थ पशुओंके लिये उपयोगी होती है, वह मनुष्योंके लिये नहीं हो सकती। श्रेष्ठ ब्राह्मणका पूजन-सत्कारादि करनेकी शास्त्रोंकी आज्ञा है, चाण्डालके लिये नहीं है। अतः इनका उदाहरण देकर भगवान्‌ने यह बात समझायी है कि जिनमें व्यावहारिक विषमता अनिवार्य है, उनमें भी ज्ञानी पुरुषोंका समभाव ही रहता है। कभी किसी भी कारणसे कहीं भी उनमें विषमभाव नहीं होता।

प्रश्न—क्या सर्वत्र समभाव हो जानेके कारण ज्ञानी पुरुष सबके साथ व्यवहार भी एक-सा ही करते हैं ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। सबके साथ एक-सा व्यवहार तो कोई कर ही नहीं सकता। शास्त्रोंमें बतलाये हुए न्याययुक्त व्यवहारका भेद तो सबके साथ रखना ही चाहिये। ज्ञानी पुरुषोंकी यह विशेषता है कि वे लोकदृष्टिसे व्यवहारमें यथायोग्य आवश्यक भेद रखते हैं—ब्राह्मणके साथ ब्राह्मणोचित, चाण्डालके साथ चाण्डालोचित, इसी तरह गौ, हाथी और कुत्ते आदिके साथ यथायोग्य सद्व्यवहार करते हैं; परन्तु ऐसा करनेपर भी उनका प्रेम और परमात्मभाव सबमें समान ही रहता है। जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ और पैर आदि अंगोंके साथ भी बर्तावमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादिके सदृश भेद रखता है, जो काम मस्तक और मुखसे लेता है, वह हाथ और पैरोंसे नहीं लेता, जो हाथ-पैरोंका काम है वह सिरसे नहीं लेता और सब अंगोंके आदर, मान एवं शौचादिमें भी भेद रखता है, तथापि उनमें आत्मभाव—अपनापन समान होनेके कारण वह सभी अंगोंके सुख-दुःखका अनुभव समानभावसे ही करता है और सारे शरीरमें उसका प्रेम एक-सा ही रहता है, प्रेम और आत्मभावकी दृष्टिसे कहीं विषमता नहीं रहती। वैसे ही तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो जानेके कारण लोकदृष्टिसे व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहनेपर भी उसका आत्मभाव और प्रेम सर्वत्र सम रहता है। और इसीलिये, जैसे किसी भी अंगमें चोट लगनेपर या उसकी सम्भावना होनेपर मनुष्य उसके प्रतीकारकी चेष्टा करता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष भी व्यवहारकालमें किसी भी जीव या जीवसमुदायपर विपत्ति पड़नेपर बिना भेद-भावके उसके प्रतीकारकी यथायोग्य चेष्टा करता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार तत्त्वज्ञानीके समभावका वर्णन करके अब समभावको ब्रह्मका स्वरूप बतलाते हुए उसमें स्थित महापुरुषोंकी महिमाका वर्णन करते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

जिनका मन समत्वभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत

लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं ॥१९॥

प्रश्न—जिनका मन समतामें स्थित है, उन्होंने यहीं संसारको जीत लिया—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिनका मन उपर्युक्त प्रकारसे समतामें स्थित हो गया है अर्थात् जिनकी सर्वत्र समबुद्धि हो गयी है, उन्होंने यहीं—इसी वर्तमान जीवनमें संसारको जीत लिया; वे सदाके लिये जन्म-मरणसे छूटकर जीवन्मुक्त हो गये। लोकदृष्टिमें उनका शरीर रहते हुए भी वास्तवमें उस शरीरसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा।

प्रश्न—ब्रह्मको 'निर्दोष' और 'सम' बतलानेका क्या अभिप्राय है ? तथा 'हि' और 'तस्मात्' का प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंमें सब प्रकारके दोष भरे हैं, और समस्त संसार तीनों गुणोंका कार्य होनेसे दोषमय है। इन गुणोंके सम्बन्धसे ही विषमभाव तथा राग, द्वेष, मोह आदि समस्त अवगुणोंका प्रादुर्भाव होता है। 'ब्रह्म' नामसे कहा जानेवाला सच्चिदानन्दघन परमात्मा इन तीनों गुणोंसे सर्वथा अतीत है। इसलिये वह 'निर्दोष' और 'सम' है। इसी तरह तत्त्वज्ञानी भी तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। अतः उसके राग, द्वेष, मोह, ममता, अहंकार आदि समस्त अवगुणोंका और विषमभावका सर्वथा नाश होकर उसकी स्थिति समभावमें हो जाती है। 'हि' और 'तस्मात्' इन हेतुवाचक शब्दोंके प्रयोगका यह अभिप्राय है कि समभाव ब्रह्मका ही स्वरूप है; इसलिये जिनका मन समभावमें स्थित है, वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं। यद्यपि लोगोंको वे त्रिगुणमय संसार और शरीरमें स्थित दीखते हैं, तथापि उनकी स्थिति समभावमें होनेके कारण वास्तवमें उनका इस त्रिगुणमय संसार और शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; उनकी स्थिति तो ब्रह्ममें ही है।

प्रश्न—तमोगुण और रजोगुणको तो समस्त दोषोंका भण्डार बतलाना उचित ही है, क्योंकि गीतामें स्थान-स्थानपर भगवान्‌ने इन्हें समस्त अनर्थोंके हेतु बतलाकर इनका त्याग करनेके लिये कहा है; किन्तु सत्त्वगुण तो भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक है, उसकी गणना रज और तमके साथ करके उसे भी समस्त दोषोंका भण्डार कैसे कहा ?

उत्तर—यद्यपि रज और तमकी अपेक्षासे सत्त्वगुण श्रेष्ठ है तथा मनुष्यकी उन्नतिमें सहायक भी है, तथापि अहंकारयुक्त सुख एवं ज्ञानके सम्बन्धसे भगवान्‌ने इसको भी बन्धनका हेतु बतलाया है (१४।६)। वस्तुतः तीनों गुणोंसे सम्बन्ध छूटे बिना साधक सर्वथा निर्दोष नहीं होता और उसकी स्थिति पूर्णतया समभावमें नहीं होती। इसलिये यहाँ गुणातीतके प्रसंगमें सत्त्वगुणको भी सदोष बतलाना अनुचित नहीं है।

सम्बन्ध—अब निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त समदर्शी सिद्ध पुरुषके लक्षण बतलाते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ॥२०॥

प्रश्न--प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें हर्षित और उद्विग्न न होनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर--जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल होता है, उसे लोग 'प्रिय' कहते हैं। अज्ञानी पुरुषोंकी ऐसे अनुकूल पदार्थादिमें आसक्ति रहती है, इसलिये वे उनके प्राप्त होनेपर हर्षित होते हैं। परन्तु तत्त्वज्ञानीकी स्थिति समभावमें हो जानेके कारण उसकी किसी भी वस्तुमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं रहती; इसलिये जब उसे प्रारब्धके अनुसार किसी अनुकूल पदार्थकी प्राप्ति होती है, अर्थात् उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके साथ किसी प्रिय पदार्थका संयोग होता है तब वह हर्षित नहीं होता। क्योंकि मन, इन्द्रिय और शरीर आदिमें उसकी अहंता, ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है। इसी प्रकार जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके प्रतिकूल होता है उसे लोग 'अप्रिय' कहते हैं और अज्ञानी पुरुषोंका ऐसे पदार्थोंमें द्वेष होता है, इसलिये वे उनकी प्राप्तिमें घबड़ा उठते हैं और उन्हें बड़े भारी दुःखका अनुभव होता है। किन्तु ज्ञानी पुरुषमें द्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है; इसलिये उसके मन, इन्द्रिय और शरीरके साथ अत्यन्त प्रतिकूल पदार्थका संयोग होनेपर भी वह उद्विग्न यानी दुखी नहीं होता।

प्रश्न--यहाँ 'स्थिरबुद्धिः' इस विशेषणपदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर--भाव यह है कि तत्त्वज्ञानी सिद्ध पुरुषकी दृष्टिमें एक ब्रह्मके सिवा संसारमें और किसीकी सत्ता ही नहीं रहती। अतः उसकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है। लोकदृष्टिसे नाना प्रकारके मान-अपमान, सुख-दुःख आदिकी प्राप्ति होनेपर भी किसी भी कारणसे उसकी बुद्धि ब्रह्मकी स्थितिसे कदापि विचलित नहीं होती; वह प्रत्येक अवस्थामें सदा-सर्वदा एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें ही अचलभावसे स्थित रहती है।

प्रश्न--'असम्मूढः' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर--ज्ञानी पुरुषके अन्तःकरणमें संशय, भ्रम और मोहका लेश भी नहीं रहता। उसके सम्पूर्ण संशय अज्ञानसहित नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न--'ब्रह्मवित्'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर--सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वको वह भलीभाँति जान लेता है। 'ब्रह्म' क्या है, 'जगत्' क्या है, 'ब्रह्म' और 'जगत्'का क्या सम्बन्ध है, 'आत्मा' और 'परमात्मा' क्या है, 'जीव' और 'ईश्वर'का क्या भेद है, इत्यादि ब्रह्मसम्बन्धी किसी भी बातका जानना उसके लिये बाकी नहीं रहता। ब्रह्मका स्वरूप उसे प्रत्यक्ष हो जाता है। इसीलिये उसे 'ब्रह्मवित्' कहा जाता है।

प्रश्न--'ब्रह्मणि स्थितः' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर--ऐसा पुरुष जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति--इन तीनों अवस्थाओंमें सदा ब्रह्ममें ही स्थित है। अभिप्राय यह है कि कभी किसी भी अवस्थामें उसकी स्थिति शरीरमें नहीं होती। ब्रह्मके साथ उसकी एकता हो जानेके कारण कभी किसी भी कारणसे उसका ब्रह्मसे वियोग नहीं होता। उसकी सदा एक-सी स्थिति बनी रहती है। इसीसे उसे 'ब्रह्मणि स्थितः' कहा गया है।

सम्बन्ध--इस प्रकार ब्रह्ममें स्थित पुरुषके लक्षण बतलाये गये। अब ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके साधन और उसके फलकी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं---

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है ॥२१॥

प्रश्न—'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' किस पुरुषके लिये कहा गया है ?

उत्तर—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि जो इन्द्रियोंके विषय हैं, उनको 'बाह्य-स्पर्श' कहते हैं; जिस पुरुषने विवेकके द्वारा अपने मनसे उनकी आसक्तिको बिल्कुल नष्ट कर डाला है, जिसका समस्त भोगोंमें पूर्ण वैराग्य है और जिसकी उन सबमें उपरति हो गयी है, वह पुरुष 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' अर्थात् बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरण-वाला है।

प्रश्न—आत्मामें स्थित सुखको प्राप्त होनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'आत्मा' शब्द यहाँ अन्तःकरणका वाचक है। उस अन्तःकरणके अंदर सर्वव्यापी सच्चिदानन्द-घन परमात्माके नित्य और सतत ध्यानसे उत्पन्न सात्त्विक सुखका अनुभव करते रहना ही उस सुखको प्राप्त होना है।

इन्द्रियोंके भोगोंको ही सुखरूप माननेवाले मनुष्यको यह ध्यानजनित सुख नहीं मिल सकता। बाहरके भोगोंमें वस्तुतः सुख है ही नहीं, सुखका केवल आभासमात्र है। उसकी अपेक्षा वैराग्यका सुख कहीं बढ़कर है और वैराग्य-सुखकी अपेक्षा भी उपरतिका सुख तो बहुत ऊँचा है। परन्तु परमात्माके ध्यानमें अटल स्थिति प्राप्त होनेपर जो सुख प्राप्त होता है वह तो इन सबसे बढ़कर है। ऐसे सुखको प्राप्त होना ही आत्मामें स्थित सुखको पाना है।

प्रश्न—यहाँ 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' किसको कहा है और 'सः' का प्रयोग करके किसका संकेत किया गया है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे जो पुरुष इन्द्रियोंके समस्त विषयोंमें आसक्तिरहित होकर उपरतिको प्राप्त हो गया है, तथा परमात्माके ध्यानकी अटल स्थितिसे उत्पन्न महान् सुखका अनुभव करता है, उसे 'ब्रह्मयोग-युक्तात्मा' अर्थात् परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभेदभावसे स्थित कहा है। और पहले बतलाये हुए दोनों लक्षणोंके साथ इस 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा'की एकताका संकेत करनेके लिये 'सः' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—अक्षय सुख क्या है और उसको अनुभव करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—सदा एकरस रहनेवाला परमानन्दस्वरूप अविनाशी परमात्मा ही 'अक्षय सुख' है। और नित्य-निरन्तर ध्यान करते-करते उस परमात्माको जो अभिन्न-भावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, यही उसका अनुभव करना है। इस 'सुख'की तुलनामें कोई-सा भी सुख नहीं ठहर सकता। सांसारिक भोगोंमें जो सुखकी प्रतीति होती है, वह तो सर्वथा नगण्य और क्षणिक है। उसकी अपेक्षा वैराग्य और उपरतिके सुख—ध्यानजनित सुखमें हेतु होनेके कारण—अधिक स्थायी हैं और 'ध्यान-जनित सुख' परमात्माकी साक्षात् प्राप्तिका कारण होनेसे उनकी अपेक्षा भी अधिक स्थायी है; परन्तु साधनकालके इन सुखोंमेंसे किसीको भी अक्षय नहीं कहा जा सकता। 'अक्षय सुख' तो परमात्माका स्वरूप ही है।

सम्बन्ध—इस प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्तिके त्यागको परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु बतलाकर अब इस

श्लोकमें इन्द्रियोंके भोगोंको दुःखका कारण और अनित्य बतलाते हुए भगवान् उनमें आसक्तिरहित होनेके लिये संकेत करते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं । इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ॥ २२ ॥

प्रश्न—इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाले भोग केवल दुःखके ही हेतु हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जैसे पतंगे अज्ञानवश परिणाम न सोचकर दीपककी लौको सुखका कारण समझते हैं और उसे प्राप्त करनेके लिये उड़-उड़कर उसकी ओर जाते तथा उसमें पड़कर भयानक ताप सहते और अपनेको दग्ध कर डालते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य भोगोंको सुखके कारण समझकर तथा उनमें आसक्त होकर उन्हें भोगनेकी चेष्टा करते हैं और परिणाममें महान् दुःखोंको प्राप्त होते हैं । विषयोंको सुखके हेतु समझकर उन्हें भोगनेसे उनमें आसक्ति बढ़ती है, आसक्तिसे काम-क्रोधादि अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है और फिर उनसे भाँति-भाँतिके दुर्गुण और दुराचार आ-आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं । परिणाम यह होता है कि उनका जीवन पापमय हो जाता है और उसके फलस्वरूप उन्हें इहलोक और परलोकमें विविध प्रकारके भयानक ताप और यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं ।

विषयभोगके समय मनुष्य भ्रमवश जिन स्त्री-प्रसंगादि भोगोंको सुखका कारण समझता है, वे ही परिणाममें उसके बल, वीर्य, आयु तथा मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियोंकी शक्तिका क्षय करके और परलोकमें भीषण नरक-यन्त्रणादिकी प्राप्ति कराकर महान् दुःखके हेतु बन जाते हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि अज्ञानी मनुष्य जब दूसरेके पास अपनेसे अधिक भोगसामग्री देखता है, तब उसके मनमें ईर्ष्याकी आग जल उठती है, और वह उससे जलने लगता है ।

सुखरूप समझकर भोगे हुए विषय कहीं प्रारब्धवश नष्ट हो जाते हैं तो उनके संस्कार बार-बार उनकी स्मृति कराते हैं और मनुष्य उन्हें याद कर-करके शोकमग्न होता, रोता-बिलखता और पछताता है । इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि विषयोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाले भोग वास्तवमें सर्वथा दुःखके ही कारण हैं, उनमें सुखका लेश भी नहीं है । अज्ञानवश भ्रमसे ही वे सुखरूप प्रतीत होते हैं । इसीलिये उनको भगवान्ने 'दुःखके हेतु' बतलाया है ।

प्रश्न—भोगोंको 'आदि-अन्तवाले' बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इन्द्रियोंके भोगोंको स्वप्नकी या बिजलीकी चमककी भाँति अनित्य और क्षणभङ्गुर बतलानेके लिये ही उन्हें 'आदि-अन्तवाले' कहा गया है । वस्तुतः इनमें सुख है ही नहीं; परन्तु यदि अज्ञानवश सुखरूप प्रतीत होनेके कारण कोई इन्हें किसी अंशमें सुखके कारण मानें, तो वह सुख भी नित्य नहीं है, क्षणिक ही है ।

क्योंकि जो वस्तु स्वयं अनित्य होती है, उससे नित्य सुख नहीं मिल सकता । दूसरे अध्यायके १४ वें श्लोकमें भी भगवान्‌ने इन्द्रियोंके विषयोंको उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण अनित्य बतलाया है ।

प्रश्न—यहाँ अर्जुनको भगवान्‌ने 'कौन्तेय' सम्बोधन देकर क्या सूचित किया है ?

उत्तर—अर्जुनकी माता कुन्तीदेवी बड़ी ही बुद्धिमती, संयमशील, विवेकवती और विषय-भोगोंसे विरक्त रहनेवाली थीं; नारी होनेपर भी उन्होंने अपना सारा जीवन वैराग्ययुक्त धर्माचरण और भगवान्‌की भक्तिमें ही बिताया । अतएव इस सम्बोधनसे भगवान् अर्जुनको माता कुन्तीके महत्त्वकी याद दिलाते हुए यह सूचित करते हैं कि 'अर्जुन ! तुम उन्हीं धर्मशीला कुन्तीदेवीके पुत्र हो, तुम्हारे लिये तो इन विषयोंमें आसक्त होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है !'

प्रश्न—अज्ञानी मनुष्य विषय-भोगोंमें रमता है और विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता, इसमें क्या कारण है ?

उत्तर—विषय-भोग वास्तवमें अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखरूप ही हैं, परन्तु विवेकहीन अज्ञानी पुरुष इस बातको न जान-मानकर उनमें रमता है और भाँति-भाँतिके क्लेश भोगता है । परन्तु बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनकी अनित्यता और क्षणभङ्गुरता-पर विचार करता है तथा उन्हें काम-क्रोध, पाप-ताप आदि अनर्थोंमें हेतु समझता है और उनकी आसक्ति-के त्यागको अक्षय सुखकी प्राप्तिमें कारण समझता है । इसलिये वह उनमें नहीं रमता ।

सम्बन्ध—विषय-भोगोंको काम-क्रोधादिके निमित्तसे दुःखके हेतु बतलाकर अब मनुष्यशरीरका महत्त्व दिखलाते हुए भगवान् कामक्रोधादि दुर्जय शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले पुरुषकी प्रशंसा करते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है ॥ २३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'इह' और 'एव' इन अव्ययोंका प्रयोग किस अभिप्रायसे किया गया है ?

उत्तर—इन दोनोंका प्रयोग मनुष्यशरीरका महत्त्व प्रकट करनेके लिये किया गया है । देवादि योनियोंमें विलासिता और भोगोंकी भरमार है तथा तिर्यगादि योनियोंमें जड़ताकी विशेषता है; अतएव उन सब योनियोंमें काम-क्रोधपर विजय प्राप्त करनेका साधन नहीं हो सकता । 'इह' और 'एव' का प्रयोग करके भगवान् मानो सावधान करते हुए कहते हैं कि 'शरीर-नाशके पहले-पहले इस मनुष्य-शरीरमें ही साधनमें तत्पर होकर काम-क्रोधके वेगको शान्तिके साथ सहन करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये । असावधानी और लापरवाहीसे यदि यह दुर्लभ मनुष्यजीवन विषय-भोगोंके बटोरने और भोगनेमें ही बीत गया तो फिर सिर धुन-धुनकर पछताना पड़ेगा ।'

केनोपनिषद्‌में कहा है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।' (२ । ५)

अर्थात् 'यदि इस मनुष्यशरीरमें ही भगवान्‌को जान

लिया तो अच्छी बात है, यदि इस शरीरमें न जाना तो बड़ी भारी हानि है।'

प्रश्न—'प्राक् शरीरविमोक्षणात्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह बतलाया गया है कि शरीर नाशवान् है—इसका वियोग होना निश्चित है और यह भी पता नहीं कि यह किस क्षणमें नष्ट हो जायगा; इसलिये मृत्युकाल उपस्थित होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये, साथ ही साधन करके ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये जिससे कि बार-बार घोर आक्रमण करनेवाले ये काम-क्रोधरूपी महान् शत्रु अपना वेग उत्पन्न करके जीवनमें कभी विचलित ही न कर सकें। जैसे समुद्रमें सब नदियोंके जल अपने-अपने वेगसहित विलीन हो जाते हैं, वैसे ही ये काम-क्रोधादि शत्रु अपने वेगसहित विलीन होकर नष्ट ही हो जायँ—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न—काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेग क्या हैं और उन्हें सहन करनेमें समर्थ होना किसे कहते हैं ?

उत्तर—(पुरुषके लिये) स्त्री, (स्त्रीके लिये) पुरुष, (दोनोंहीके लिये) पुत्र, धन, मकान या स्वर्गादि जो कुछ भी देखे-सुने हुए मन और इन्द्रियोंके विषय हैं, उनमें आसक्ति हो जानेके कारण उनको प्राप्त करनेकी जो इच्छा होती है, उसका नाम 'काम' है और उसके कारण अन्तःकरणमें होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह कामसे उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इसी प्रकार मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके प्रतिकूल विषयोंकी प्राप्ति होनेपर अथवा इष्ट-प्राप्तिकी इच्छापूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर उस स्थितिके कारणभूत पदार्थ या जीवोंके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न होकर अन्तःकरणमें जो 'उत्तेजना'का भाव आता है; उसका नाम 'क्रोध' है; और उस क्रोधके कारण होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाला वेग है। इन वेगोंको शान्तिपूर्वक सहन करनेकी अर्थात् इन्हें कार्यान्वित न होने देकर इनको कारणसहित नष्ट कर देनेकी शक्ति प्राप्त कर लेना ही, इनको सहन करनेमें समर्थ होना है।

प्रश्न—यहाँ 'युक्तः' यह विशेषण किसके लिये दिया गया है ?

उत्तर—बार-बार आक्रमण करके भी काम-क्रोधादि शत्रु जिसको विचलित नहीं कर सकते—इस प्रकार जो काम-क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ है, उस मन-इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले सांख्ययोगके साधक पुरुषके लिये ही 'युक्तः' विशेषण दिया गया है ?

प्रश्न—ऐसे पुरुषको 'सुखी' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—संसारमें सभी मनुष्य सुख चाहते हैं परन्तु वास्तविक सुख क्या है और कैसे मिलता है, इस बातको न जाननेके कारण वे भ्रमसे भोगोंमें ही सुख समझ बैठते हैं, उन्हींकी कामना करते हैं और उन्हींको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। उसमें बाधा आनेपर वे क्रोधके वश हो जाते हैं। परन्तु नियम यह है कि काम-क्रोधके वशमें रहनेवाला मनुष्य कदापि सुखी नहीं हो सकता। जो कामनाके वश है, वह स्त्री-पुत्र और धन-मानादिकी प्राप्तिके लिये और जो क्रोधके वश है वह दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये भाँति-भाँतिके अनर्थोंमें और पापोंमें प्रवृत्त होता है। परिणाममें वह इस लोकमें रोग, शोक, अपमान, अपयश, आकुलता, अशान्ति, उद्वेग और नाना प्रकारके तापोंको तथा परलोकमें नरक, और पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि योनियोंमें भाँति-भाँतिके क्लेशोंको प्राप्त होता है। (१६ । १८-१९-२०) इस प्रकार वह सुख न पाकर

सदा दुःख ही पाता है। परन्तु जिन पुरुषोंने भोगोंको दुःखके हेतु और क्षणभङ्गुर समझकर काम-क्रोधादि शत्रुओंपर भलीभाँति विजय प्राप्त कर ली है और जो उनके पंजेसे पूर्णरूपेण छूट गये हैं, वे सदा सुखी ही रहते हैं। इसी अभिप्रायसे ऐसे पुरुषको 'सुखी' कहा गया है।

प्रश्न--यहाँ 'नरः' इस पदका प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर--सच्चा 'नर' वही है जो काम-क्रोधादि दुर्गुणोंको जीतकर भोगोंमें वैराग्यवान् और उपरत होकर सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त कर ले। 'नर' शब्द वस्तुतः ऐसे ही मनुष्यका वाचक है, फिर आकारमें चाहे वह स्त्री हो या पुरुष! अज्ञानविमोहित मनुष्य आसक्तिवश आपातरमणीय विषयोंके प्रलोभनमें फँसकर परमात्माको भूल जाता है और काम-क्रोधादिके परायण होकर नीच पशुओं और पिशाचोंकी भाँति आहार, निद्रा, मैथुन और कलहमें ही प्रवृत्त रहता है। वह 'नर' नहीं है, वह तो पशुसे भी गया-बीता बिना सींग-पूँछका अशोभन, निकम्मा और जगत्को दुःख देनेवाला जन्तुविशेष है। परमात्माको प्राप्त सच्चे 'नर'के गुण और आचरणको लक्ष्य बनाकर जो साधक काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर चुकते हैं वे भी 'नर' ही हैं, इसी भावसे यहाँ 'नर' शब्दका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न--जिसने काम-क्रोधको जीत लिया है तथा जिसे 'युक्त' और 'सुखी' कहा गया है, उस पुरुषको साधक ही क्यों मानना चाहिये? उसे सिद्ध मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर--केवल काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर लेनेमात्रसे ही कोई सिद्ध नहीं हो जाता। सिद्धमें तो काम-क्रोधादिकी गन्ध भी नहीं रहती। यह बात इसी अध्यायके २६ वें श्लोकमें भगवान्ने कही है। फिर यहाँ उसे 'सुखी' ही बतलाया गया है, यदि वह 'अक्षय सुख'को प्राप्त करनेवाला सिद्धपुरुष होता तो उसके लिये यहाँ 'परम सुखी' या अन्य कोई विलक्षण विशेषण दिया जाता। यहाँ वह उसी 'सात्त्विक' सुखका अनुभव करनेवाला पुरुष है जो २१ वें श्लोकके पूर्वार्द्धके अनुसार परमात्माके ध्यानमें प्राप्त होता है। इसलिये इस श्लोकमें वर्णित पुरुषको साधक ही समझना चाहिये।

सम्बन्ध--उपर्युक्त प्रकारसे बाह्य विषयोंको क्षणिक और दुःखोंका कारण समझकर तथा आसक्तिका त्याग करके जो काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर चुका है, अब ऐसे सांख्ययोगीकी अन्तिम स्थितिका फलसहित वर्णन किया जाता है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो पुरुष निश्चयपूर्वक अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

प्रश्न--'अन्तःसुखः' का क्या भाव है?

उत्तर--यहाँ 'अन्तः' शब्द सम्पूर्ण जगत्के अन्तःस्थित परमात्माका वाचक है, अन्तःकरणका नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि जो पुरुष बाह्य विषयभोगरूप

सांसारिक सुखोंको स्वप्नकी भाँति अनित्य समझ लेनेके कारण उनको सुख नहीं मानता किन्तु इन सबके अन्त:स्थित परम आनन्दस्वरूप परमात्मामें ही 'सुख' मानता है, वही 'अन्त:सुख:' अर्थात् परमात्मामें ही सुखवाला है।

प्रश्न—'अन्तराराम:' कहनेका क्या अर्थ है?

उत्तर—जो बाह्य विषय-भोगोंमें सत्ता और सुख-बुद्धि न रहनेके कारण उनमें रमण नहीं करता, और इन सबमें आसक्तिरहित होकर केवल परमात्मामें ही रमण करता है अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्मामें ही निरन्तर अभिन्नभावसे स्थित रहता है, वह 'अन्तराराम' कहलाता है।

प्रश्न—'अन्तर्ज्योति:' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—परमात्मा समस्त ज्योतियोंकी भी परम ज्योति है (१३।१७)। सम्पूर्ण जगत् उसीके प्रकाशसे प्रकाशित है। जो पुरुष निरन्तर अभिन्नभावसे ऐसे परम ज्ञानस्वरूप परमात्माका अनुभव करता हुआ उसीमें स्थित रहता है, जिसकी दृष्टिमें एक परमानन्दस्वरूप परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी बाह्य दृश्य वस्तुकी भिन्न सत्ता ही नहीं रही है, वही 'अन्तर्ज्योति' है।

जिनकी दृष्टिमें यह सारा जगत् सत्य भासता है, निद्रावश स्वप्न देखनेवालोंकी भाँति जो अज्ञानके वश होकर दृश्य जगत्का ही चिन्तन करते रहते हैं, वे 'अन्त-र्ज्योति' नहीं हैं; क्योंकि परम ज्ञानस्वरूप परमात्मा उनके लिये अदृश्य है।

प्रश्न—यहाँ 'एव' का क्या अर्थ है और उसका किस शब्दके साथ सम्बन्ध है?

उत्तर—यहाँ 'एव' अन्यकी व्यावृत्ति करनेवाला है। तथा इसका सम्बन्ध 'अन्त:सुख:' 'अन्तराराम:' और 'अन्तर्ज्योति:' इन तीनोंके साथ है। अभिप्राय यह है कि बाह्य दृश्यप्रपञ्चसे उस योगीका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि वह परमात्मामें ही सुख, रति और ज्ञानका अनुभव करता है।

प्रश्न—'ब्रह्मभूत:' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'ब्रह्मभूत:' पद सांख्ययोगीका विशेषण है। सांख्ययोगका साधन करनेवाला योगी अहंकार, ममता और काम-क्रोधादि समस्त अवगुणोंका त्याग करके निरन्तर अभिन्नभावसे परमात्माका चिन्तन करते-करते जब ब्रह्मरूप हो जाता है, जब उसका ब्रह्मके साथ किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं रहता, तब इस प्रकारकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त सांख्ययोगी 'ब्रह्मभूत' कहलाता है।

प्रश्न—'ब्रह्मनिर्वाणम्' यह पद किसका वाचक है और उसकी प्राप्ति क्या है?

उत्तर—'ब्रह्मनिर्वाणम्' पद सच्चिदानन्दघन, निर्गुण, निराकार, निर्विकल्प एवं शान्त परमात्माका वाचक है और अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष हो जाना ही उसकी प्राप्ति है। सांख्ययोगीकी जिस अन्तिम अवस्थाका 'ब्रह्मभूत' शब्दसे निर्देश किया गया है, यह उसीका फल है। श्रुतिमें भी कहा है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) अर्थात् 'वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है। इसीको परम शान्तिकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति और परमगतिकी प्राप्ति कहते हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार जो परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गये हैं, अब उन पुरुषोंके लक्षण दो श्लोकोंमें बतलाते हैं—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'क्षीणकल्मषाः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस जन्म, और जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार, राग-द्वेषादि दोष तथा उनकी वृत्तियोंके पुञ्ज, जो मनुष्यके अन्तःकरणमें इकट्ठे रहते हैं, बन्धनमें हेतु होनेके कारण सभी कल्मष—पाप हैं। परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इन सबका नाश हो जाता है। फिर उस पुरुषके अन्तःकरणमें दोषका लेशमात्र भी नहीं रहता। इस प्रकार 'मल' दोषका अभाव दिखलानेके लिये 'क्षीणकल्मषाः' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'छिन्नद्वैधाः' विशेषणका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'द्वैध' शब्द संशय या दुविधाका वाचक है, इसका कारण है—अज्ञान। परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर सम्पूर्ण संशय अपने कारण अज्ञानके सहित नष्ट हो जाते हैं। परमात्माको प्राप्त ऐसे पुरुषके निर्मल अन्तःकरणमें लेशमात्र भी विक्षेप और आवरणरूपी दोष नहीं रहते। इसी भावको दिखलानेके लिये 'छिन्नद्वैधाः' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'यतात्मानः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसका वशमें किया हुआ मन चञ्चलता आदि दोषोंसे सर्वथा रहित होकर परमात्माके स्वरूपमें तद्रूप हो जाता है उसको 'यतात्मा' कहते हैं।

प्रश्न—'सर्वभूतहिते रताः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—परमात्माका अपरोक्ष ज्ञान हो जानेके बाद अपने-परायेका भेद नहीं रहता, फिर उसकी सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मबुद्धि हो जाती है। इसलिये अज्ञानी मनुष्य जैसे अपने शरीरको आत्मा समझकर उसके हितमें रत रहता है, वैसे ही सबमें समभावसे आत्मबुद्धि होनेके कारण ज्ञानी महापुरुष स्वाभाविक ही सबके हितमें रत रहता है। इसी भावको दिखलानेके लिये 'सर्वभूतहिते रताः' विशेषण दिया गया है।

यह कथन भी लोकदृष्टिसे केवल ज्ञानीके आदर्श व्यवहारका दिग्दर्शन करानेके लिये ही है। वस्तुतः ज्ञानीके निश्चयमें न तो एक ब्रह्मके अतिरिक्त सर्व भूतोंकी पृथक् सत्ता ही रहती है और न वह अपनेको सबके हितमें रत रहनेवाला ही समझता है।

प्रश्न—यहाँ 'ऋषयः' पदका अर्थ 'ब्रह्मवेत्ता' कैसे किया गया ?

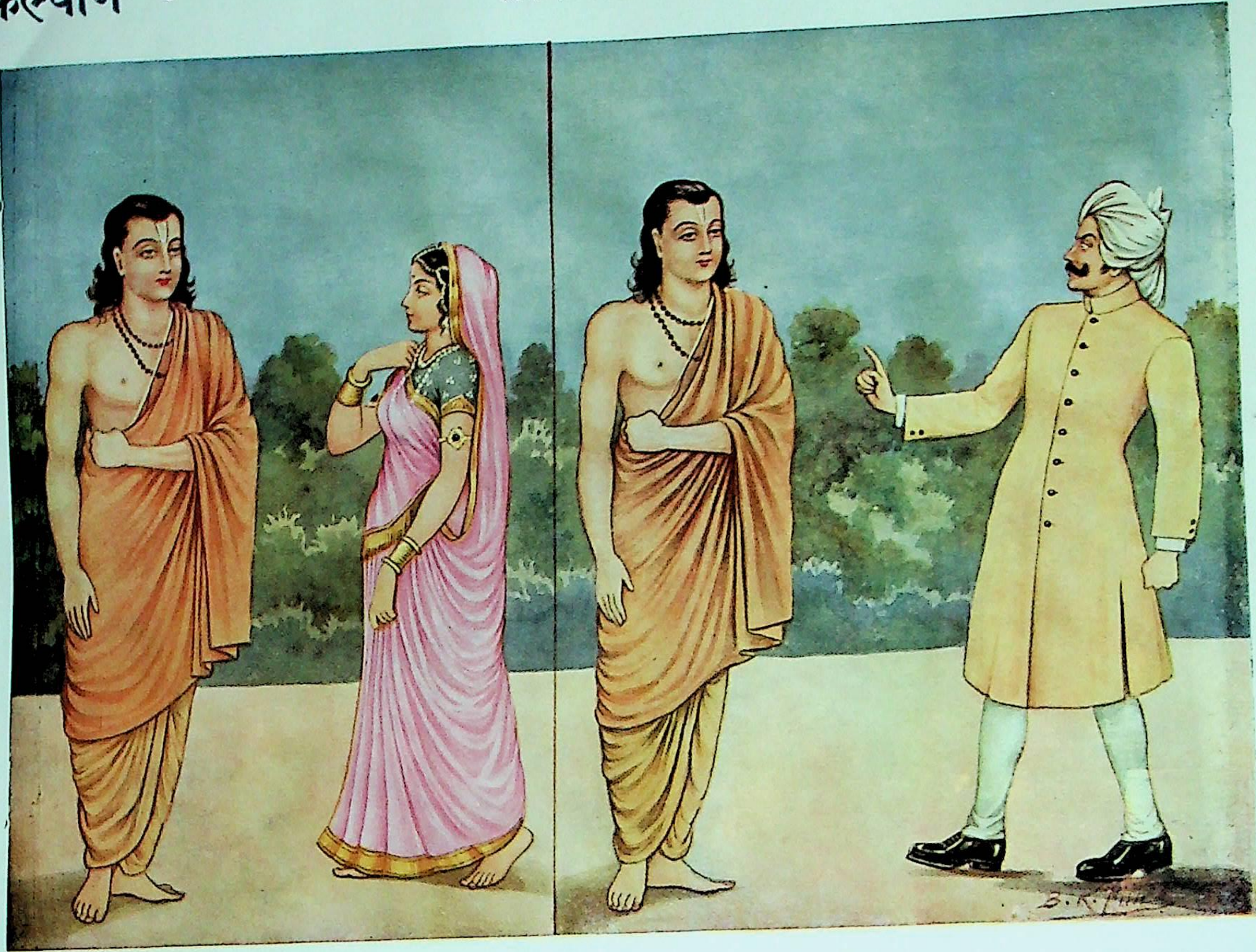
उत्तर—गत्यर्थक 'ऋष्' धातुका भावार्थ ज्ञान या तत्त्वार्थदर्शन है। इसके अनुसार यथार्थ तत्त्वको भलीभाँति समझनेवालेका नाम 'ऋषि' होता है। अतएव यहाँ 'ऋषि' का अर्थ ब्रह्मवेत्ता ही मानना ठीक है। 'क्षीणकल्मषाः' 'छिन्नद्वैधाः' और 'यतात्मानः' विशेषण भी इसी अर्थका समर्थन करते हैं।

श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

(मु० उ० २ । २ । ८)

काम-क्रोधपर विजय



कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् । अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ (५ । २६)

अर्थात् 'परात्परस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इस ज्ञानी पुरुषके हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है ।'

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं ॥ २६ ॥

प्रश्न—काम-क्रोधसे रहित बतलानेका क्या अभिप्राय है ? क्या ज्ञानी महात्माके मन-इन्द्रियोंद्वारा काम-क्रोधकी कोई क्रिया ही नहीं होती ?

उत्तर—ज्ञानी महापुरुषोंका अन्तःकरण सर्वथा परिशुद्ध हो जाता है, इसलिये उसमें काम-क्रोधादि विकार लेशमात्र भी नहीं रहते । ऐसे महात्माओंके मन और इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ भी क्रिया होती है, सब स्वाभाविक ही दूसरोंके हितके लिये ही होती है । व्यवहारकालमें आवश्यकतानुसार उनके मन और इन्द्रियोंद्वारा यदि शास्त्रानुकूल काम-क्रोधका बर्ताव किया जाय तो उसे नाटकमें स्वाँग धारण करके अभिनय करनेवालेके बर्तावके सदृश केवल लोकसंग्रहके लिये लीलामात्र ही समझना चाहिये ।

प्रश्न—यहाँ 'यति' शब्दका अर्थ यत्नशील साधक न करके ज्ञानी पुरुष क्यों किया गया ?

उत्तर—मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन दोष ज्ञानमें महान् प्रतिबन्धकरूप होते हैं । इन तीनों दोषोंका सर्वथा अभाव ज्ञानीमें ही होता है । यहाँ 'कामक्रोधवियुक्तानाम्' से मलदोषका, 'यतचेतसाम्' से विक्षेपदोषका और 'विदितात्मनाम्' से आवरणदोषका सर्वथा अभाव दिखलाकर परमात्माके पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी गयी है । इसलिये 'यति' शब्दका अर्थ यहाँ सांख्ययोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त तत्त्वज्ञानी ही मानना उचित है ।

प्रश्न—ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म ही परिपूर्ण हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महापुरुषोंके अनुभवमें ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, यहाँ-वहाँ, सर्वत्र नित्य-निरन्तर एक विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान हैं—एक अद्वितीय परमात्माके सिवा अन्य किसी भी पदार्थकी सत्ता ही नहीं है, इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि उनके लिये सभी ओरसे परमात्मा ही परिपूर्ण हैं ।

सम्बन्ध—कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनों साधनोंद्वारा परमात्माकी प्राप्ति और परमात्माको प्राप्त महापुरुषोंके लक्षण कहे गये । उक्त दोनों ही प्रकारके साधकोंके लिये वैराग्यपूर्वक मन-इन्द्रियोंको वशमें करके ध्यानयोगका साधन करना उपयोगी है; अतः अब संक्षेपमें फलसहित ध्यानयोगका वर्णन करते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

बाहरके विषयभोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपान वायुको सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं-ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है ॥ २७-२८ ॥

प्रश्न—बाहरके विषयोंको बाहर निकालनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—बाह्य विषयोंके साथ जीवका सम्बन्ध अनादिकालसे चला आ रहा है और उसके अन्तः-करणमें उनके असंख्य चित्र भरे पड़े हैं। विषयोंमें सुखबुद्धि और रमणीयता-बुद्धि होनेके कारण मनुष्य अनवरत विषय-चिन्तन करता रहता है और पूर्वसञ्चित संस्कार जग-जगकर उसके मनमें आसक्ति और कामना-की आग भड़काते रहते हैं। इसलिये किसी भी समय उसका चित्त शान्त नहीं हो पाता। यहाँतक कि वह कभी, ऊपरसे, विषयोंका त्याग करके एकान्त देशमें ध्यान करनेको बैठता है तो उस समय भी, विषयोंके संस्कार उसका पिण्ड नहीं छोड़ते। इसलिये वह परमात्माका ध्यान नहीं कर पाता। इसमें प्रधान कारण है—निरन्तर होनेवाला विषय-चिन्तन। और यह विषय-चिन्तन तबतक बन्द नहीं होता, जबतक विषयोंमें सुखबुद्धि बनी है। इसलिये यहाँ भगवान् कहते हैं कि विवेक और वैराग्यके बलसे सम्पूर्ण बाह्यविषयोंको क्षणभङ्गुर, अनित्य, दुःखमय और दुःखोंके कारण समझकर उनके संस्काररूप समस्त चित्रोंको अन्तःकरणसे निकाल देना चाहिये—उनकी स्मृतिको सर्वथा नष्ट कर देना चाहिये; तभी चित्त सुस्थिर और प्रशान्त होगा।

प्रश्न—नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें लगानेके लिये क्यों कहा ?

उत्तर—नेत्रोंके द्वारा चारों ओर देखते रहनेसे तो ध्यानमें स्वाभाविक ही विघ्न-विक्षेप होता है और उन्हें बन्द कर लेनेसे आलस्य और निद्राके वश हो जानेका भय है। इसीलिये ऐसा कहा गया है। इसके सिवा योगशास्त्रसम्बन्धी कारण भी हैं। कहते हैं कि भृकुटी-के मध्यमें द्विदल आज्ञाचक्र है। इसके समीप ही सप्त कोश हैं, उनमें अन्तिम कोशका नाम 'उन्मनी' है; वहाँ पहुँच जानेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती। इसीलिये योगीगण आज्ञाचक्रमें दृष्टि स्थिर किया करते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'प्राणापानौ' (प्राण और अपानवायु) के साथ 'नासाभ्यन्तरचारिणौ' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ प्राण और अपानकी गतिको सम करनेके लिये कहा गया है, न कि उनकी गतिको रोकनेके लिये। इसी कारण 'नासाभ्यन्तरचारिणौ' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—प्राण और अपानको सम करना क्या है और उनको किस प्रकार सम करना चाहिये ?

उत्तर—प्राण और अपानकी स्वाभाविक गति विषम है। कभी तो वे वाम नासिकामें विचरते हैं और कभी दक्षिण नासिकामें। वाममें चलनेको इडानाडीमें चलना और दक्षिणमें चलनेको पिङ्गलामें चलना कहते हैं। ऐसी अवस्थामें मनुष्यका चित्त चञ्चल रहता है। इस प्रकार विषमभावसे विचरनेवाले प्राण और अपानकी गतिको दोनों नासिकाओंमें समानभावसे कर देना उनको सम करना है। यही उनका सुषुम्णामें चलना है। सुषुम्णा नाडीपर चलते समय प्राण और अपानकी गति बहुत ही सूक्ष्म और शान्त रहती है। तब मनकी चञ्चलता और अशान्ति अपने-आप ही नष्ट हो जाती है और वह सहज ही परमात्माके ध्यानमें लग जाता है।

प्राण और अपानको सम करनेके लिये पहले वाम नासिकासे अपानवायुको भीतर ले जाकर प्राणवायुको दक्षिण नासिकासे बाहर निकालना चाहिये। फिर अपानवायुको दक्षिण नासिकासे भीतर ले जाकर प्राणवायुको वाम नासिकासे बाहर निकालना चाहिये। इस प्रकार प्राण और अपानके सम करनेका अभ्यास करते समय परमात्माके नामका जप करते रहना तथा वायुको बाहर निकालने और भीतर ले जानेमें ठीक बराबर समय लगाना चाहिये और उनकी गतिको समान और सूक्ष्म करते रहना चाहिये। इस प्रकार लगातार अभ्यास करते-करते जब दोनोंकी गति सम, शान्त और सूक्ष्म हो जाय, नासिकाके बाहर और भीतर कण्ठादि देशमें उनके स्पर्शका ज्ञान न हो, तब समझना चाहिये कि प्राण और अपान सम और सूक्ष्म हो गये हैं।

प्रश्न—इन्द्रिय, मन और बुद्धिको जीतनेका क्या स्वरूप है? और उन्हें कैसे एवं क्यों जीतना चाहिये?

उत्तर—इन्द्रियाँ चाहे जब, चाहे जिस विषयमें स्वच्छन्द चली जाती हैं, मन सदा चञ्चल रहता है और अपनी आदतको छोड़ना ही नहीं चाहता, एवं बुद्धि एक परम निश्चयपर अटल नहीं रहती—यही इनका स्वतन्त्र या उच्छृङ्खल हो जाना है। विवेक और वैराग्यके साथ-साथ सत्ताईसवें श्लोकमें बतलायी हुई प्रणालीके द्वारा इन्हें सुश्रृङ्खल, आज्ञाकारी और अन्तर्मुखी या भगवन्निष्ठ बना लेना ही इनको जीतना है। ऐसा कर लेनेपर इन्द्रियाँ स्वच्छन्दतासे विषयोंमें न रमकर हमारे इच्छानुसार जहाँ हम कहेंगे वहीं रुकी रहेंगी, मन हमारे इच्छानुसार एकाग्र हो जायगा और बुद्धि एक इष्ट निश्चयपर अचल और अटल रह सकेगी! ऐसा माना जाता है और यह ठीक ही है कि इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेनेसे प्रत्याहार (इन्द्रियवृत्तियोंका संयत होना), मनके वशमें कर लेनेपर धारणा (चित्तका एक देशमें स्थिर करना) और बुद्धिको अपने अधीन बना लेनेपर ध्यान (बुद्धिको एक ही निश्चयपर अचल रखना) सहज हो जाता है। इसलिये ध्यानयोगमें इन तीनोंको वशमें कर लेना बहुत ही आवश्यक है।

प्रश्न—'मोक्षपरायणः' पद किसका वाचक है?

उत्तर—जिसे परमात्माकी प्राप्ति, परमगति, परमपदकी प्राप्ति या मुक्ति कहते हैं उसीका नाम मोक्ष है। यह अवस्था मन-वाणीसे परे है। इतना ही कहा जा सकता है कि इस स्थितिमें मनुष्य सदाके लिये समस्त कर्मबन्धनोंसे सर्वथा छूटकर अनन्त और अद्वितीय परम कल्याणस्वरूप और परमानन्दस्वरूप हो जाता है। इस मोक्ष या परमात्माकी प्राप्तिके लिये जिस मनुष्यने अपने इन्द्रिय, मन और बुद्धिको सब प्रकारसे तन्मय बना दिया है, जो नित्य-निरन्तर परमात्माकी प्राप्तिके प्रयत्नमें ही संलग्न है, जिसका एकमात्र उद्देश्य केवल परमात्माको ही प्राप्त करना है और जो परमात्माके सिवा किसी भी वस्तुको प्राप्त करने योग्य नहीं समझता, वही 'मोक्षपरायण' है।

प्रश्न—यहाँ 'मुनिः' पद किसके लिये आया है?

उत्तर—'मुनि' मननशीलको कहते हैं, जो पुरुष ध्यानकालकी भाँति व्यवहारकालमें भी—परमात्माकी सर्वव्यापकताका दृढ़ निश्चय होनेके कारण—सदा परमात्माका ही मनन करता रहता है, वही 'मुनि' है।

प्रश्न—'विगतेच्छाभयक्रोधः' इस विशेषणका अभिप्राय क्या है?

उत्तर—इच्छा होती है—किसी भी अभावका अनुभव होनेपर; भय होता है—अनिष्टकी आशंकासे; तथा क्रोध होता है—कामनामें विघ्न पड़नेपर अथवा मनके अनुकूल कार्य न होनेपर। उपर्युक्त प्रकारसे ध्यानयोगका साधन

करते-करते जो पुरुष सिद्ध हो जाता है, उसे सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा परमात्माका अनुभव होता है, वह कहीं उनका अभाव देखता ही नहीं; फिर उसे इच्छा किस बातकी होती ? जब एक परमात्माके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं और नित्य सत्य सनातन अनन्त अविनाशी परमात्माके स्वरूपमें कभी कोई च्युति होती ही नहीं, तब अनिष्टकी आशंकाजनित भय भी क्यों होने लगा ? और परमात्माकी नित्य एवं पूर्ण प्राप्ति हो जानेके कारण जब कोई कामना या मनोरथ रहता ही नहीं, तब क्रोध भी किसपर और कैसे हो ? अतएव इस स्थितिमें उसके अन्तःकरणमें न तो व्यवहारकालमें और न स्वप्नमें, कभी किसी अवस्थामें भी, किसी प्रकारकी इच्छा ही उत्पन्न होती है, न किसी भी घटनासे किसी प्रकारका भय ही होता है और न किसी भी अवस्थामें क्रोध ही उत्पन्न होता है।

प्रश्न—यहाँ 'एव' का प्रयोग किस अर्थमें है और ऐसा पुरुष 'सदा मुक्त ही है' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'एव' यह अव्यय निश्चयका बोधक है। जो महापुरुष उपर्युक्त साधनोंद्वारा इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह ध्यानकालमें या व्यवहारकालमें, शरीर रहते या शरीर छूट जानेपर, सभी अवस्थाओंमें सदा मुक्त ही है—संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा छूटकर परमात्माको प्राप्त हो चुका है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

सम्बन्ध—अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने कर्मयोग और सांख्ययोगके स्वरूपका प्रतिपादन करके दोनों साधनोंद्वारा परमात्माकी प्राप्ति और सिद्ध पुरुषोंके लक्षण बतलाये। फिर दोनों निष्ठाओंके लिये उपयोगी होनेसे ध्यानयोगका भी संक्षेपमें वर्णन किया। अब जो मनुष्य इस प्रकार मन, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके कर्मयोग, सांख्ययोग या ध्यानयोगका साधन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं समझता हो, ऐसे साधकके लिये सुगमतासे परमपदकी प्राप्ति करानेवाले भक्तियोगका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

प्रश्न—'यज्ञ' और 'तप'से क्या समझना चाहिये, भगवान् उनके भोक्ता कैसे हैं और उनको भोक्ता जाननेसे मनुष्यको शान्ति कैसे मिलती है ?

उत्तर—अहिंसा, सत्य आदि धर्मोंका पालन, देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनोंका सेवन-पूजन, दीन-दुखी, गरीब और पीड़ित जीवोंकी स्नेह और आदरयुक्त सेवा और उनके दुःखनाशके लिये किये जानेवाले उपयुक्त साधन एवं यज्ञ, दान आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, सभीका समावेश 'यज्ञ' और 'तप' शब्दोंमें समझना चाहिये। भगवान् सबके आत्मा हैं (१० । २०); अतएव देवता, ब्राह्मण, दीन-दुखी आदिके रूपमें स्थित होकर भगवान् ही

समस्त सेवा-पूजादि ग्रहण कर रहे हैं। इसलिये वस्तुतः वे ही समस्त यज्ञ और तपोंके भोक्ता हैं (९।२४)। भगवान्‌के तत्त्व और प्रभावको न जाननेके कारण ही मनुष्य जिनकी सेवा-पूजा करते हैं, उन देव-मनुष्यादिको ही यज्ञ और सेवा आदिके भोक्ता समझते हैं, इसीसे वे अल्प और विनाशी फलके भागी होते हैं (७।२३) और उनको यथार्थ शान्ति नहीं मिलती। परन्तु जो पुरुष भगवान्‌के तत्त्व और प्रभावको जानता है, वह सबके अंदर आत्मरूपसे विराजित भगवान्‌को ही देखता है। इस प्रकार प्राणिमात्रमें भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण जब वह उनकी सेवा करता है, तब उसे यही अनुभव होता है कि मैं देव-ब्राह्मण यां दीन-दुखी आदिके रूपमें अपने परम पूजनीय, परम प्रेमास्पद सर्वव्यापी श्रीभगवान्‌की ही सेवा कर रहा हूँ। मनुष्य जिसको कुछ भी श्रेष्ठ या सम्मान्य समझता है, जिसमें थोड़ी भी श्रद्धा-भक्ति होती है, जिसके प्रति कुछ भी आन्तरिक सच्चा प्रेम होता है, उसकी सेवामें उसको बड़ा भारी आनन्द और विलक्षण शान्ति मिलती है। क्या पितृभक्त पुत्र, स्नेहमयी माता और प्रेमप्रतिमा पत्नी अपने पिता, पुत्र, और पतिकी सेवा करनेमें कभी थकते हैं? क्या सच्चे शिष्य या अनुयायी मनुष्य अपने श्रद्धेय गुरु या पथदर्शक महात्माकी सेवासे किसी भी कारणसे हटना चाहते हैं? जो पुरुष या स्त्री जिनके लिये गौरव, प्रभाव या प्रेमके पात्र होते हैं, उनकी सेवाके लिये उनके अंदर क्षण-क्षणमें नयी-नयी उत्साह-लहरी उत्पन्न होती है; ऐसा मन होता है कि इनकी जितनी सेवा की जाय उतनी ही थोड़ी है। वे इस सेवासे यह नहीं समझते कि हम इनका उपकार कर रहे हैं; उनके मनमें इस सेवासे अभिमान नहीं उत्पन्न होता, वरं ऐसी सेवाका अवसर पाकर वे अपना सौभाग्य समझते हैं और जितनी ही सेवा बनती है, उनमें उतनी ही विनयशीलता और सच्ची नम्रता बढ़ती है। वे अहसान तो क्या करें, उन्हें पद-पदपर यह डर रहता है कि कहीं हम इस सौभाग्यसे वञ्चित न हो जायँ। वे ऐसा इसीलिये करते हैं कि इससे उन्हें अपने चित्तमें अपूर्व शान्तिका अनुभव होता है; परन्तु यह शान्ति उन्हें सेवासे हटा नहीं देती, क्योंकि उनका चित्त निरन्तर आनन्दातिरेकसे छलकता रहता है और वे इस आनन्दसे न अघाकर उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक सेवा ही करना चाहते हैं। जब सांसारिक गौरव, प्रभाव और प्रेममें सेवा इतनी सच्ची, इतनी लगनभरी और इतनी शान्तिप्रद होती है, तब भगवान्‌का जो भक्त सबके रूपमें अखिल जगत्‌के परमपूज्य, देवाधिदेव, सर्वशक्तिमान्, परम गौरव तथा अचिन्त्य प्रभावके नित्य धाम अपने परम प्रियतम भगवान्‌को पहचानकर अपनी विशुद्ध सेवावृत्तिको हृदयके सच्चे विश्वास और अविरल प्रेमकी निरन्तर उन्हींकी ओर बहनेवाली पवित्र और सुधामयी मधुर धारामें पूर्णतया डुबा-डुबाकर उनकी पूजा करता है, तब उसे कितना और कैसा अलौकिक आनन्द तथा कितनी और कैसी अपूर्व दिव्य शान्ति मिलती होगी—इस बातको कोई नहीं बतला सकता। जिनको भगवत्कृपासे ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है, वे ही वस्तुतः इसका अनुभव कर सकते हैं।

प्रश्न—भगवान्‌को 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना क्या है, और ऐसा समझनेवालेको कैसे शान्ति मिलती है?

उत्तर—इन्द्र, वरुण, कुवेर, यमराज आदि जितने भी लोकपाल हैं तथा विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें अपने-अपने ब्रह्माण्डका नियन्त्रण करनेवाले जितने भी ईश्वर हैं, भगवान् उन सभीके स्वामी और महान् ईश्वर हैं। इसीसे श्रुतिमें कहा है—'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' 'उन ईश्वरोंके भी परम महेश्वरको' (श्वे० उ० ६।७)। अपनी

अनिर्वचनीय मायाशक्तिद्वारा भगवान् अपनी लीलासे ही सम्पूर्ण अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको यथायोग्य नियन्त्रणमें रखते हैं और ऐसा करते हुए भी वे सबसे ऊपर ही रहते हैं। इस प्रकार भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वरेश्वर समझना ही उन्हें 'सर्वलोक-महेश्वर' समझना है। इस प्रकार समझनेवाला भक्त भगवान्‌के महान् प्रभाव और रहस्यसे अभिज्ञ होनेके कारण क्षणभर भी उन्हें नहीं भूल सकता। वह सर्वथा निर्भय और निश्चिन्त होकर उनका अनन्य चिन्तन करता है। शान्तिमें विघ्न डालनेवाले काम-क्रोधादि शत्रु उसके पास भी नहीं फटकते। उसकी दृष्टिमें भगवान्‌से बढ़कर कोई भी नहीं होता। इसलिये वह उनके चिन्तनमें संलग्न होकर नित्य-निरन्तर परम शान्ति और आनन्दके महान् समुद्र भगवान्‌के ध्यानमें ही डूबा रहता है।

प्रश्न—भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् किस प्रकार हैं और उनको सुहृद् जाननेसे शान्ति कैसे मिलती है?

उत्तर—सम्पूर्ण जगत्‌में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो भगवान्‌को न प्राप्त हो और जिसके लिये भगवान्‌का कहीं किसीसे कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध हो। भगवान् तो सदा-सर्वदा सभी प्रकारसे पूर्णकाम हैं (३।२२); तथापि दयामयस्वरूप होनेके कारण वे स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबके हितकी व्यवस्था करते हैं और बार-बार अवतीर्ण होकर नाना प्रकारके ऐसे विचित्र चरित्र करते हैं, जिन्हें गा-गाकर ही लोग तर जाते हैं। उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित भरा रहता है। भगवान् जिनको मारते या दण्ड देते हैं उनपर भी दया ही करते हैं, उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे रहित नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं। लोग इस रहस्यको नहीं समझते, इसीसे वे लौकिक दृष्टिसे इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें सुखी-दुखी होते रहते हैं और इसीसे उन्हें शान्ति नहीं मिलती। जो पुरुष इस बातको जान लेता है और विश्वास कर लेता है कि 'भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे मंगलके लिये ही करते हैं।' वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको दयामय परमेश्वरका प्रेम और दयासे ओतप्रोत मंगलविधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। इसलिये उसे अटल शान्ति मिल जाती है। उसकी शान्तिमें किसी प्रकारकी भी बाधा उपस्थित होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता। संसारमें यदि किसी साधारण मनुष्यके प्रति, किसी शक्तिशाली उच्च-पदस्थ अधिकारी या राजा-महाराजाका सुहृद्भाव हो जाता है और वह मनुष्य यदि इस बातको जान लेता है, कि अमुक श्रेष्ठ शक्तिसम्पन्न पुरुष मेरा यथार्थ हित चाहते हैं और मेरी रक्षा करनेको प्रस्तुत हैं तो—यद्यपि उच्चपदस्थ अधिकारी या राजा-महाराजा सर्वथा स्वार्थरहित भी नहीं होते, सर्वशक्तिमान् भी नहीं होते और सबके स्वामी भी नहीं होते तथापि,—वह अपनेको बहुत भाग्यवान् समझकर एक प्रकारसे निर्भय और निश्चिन्त होकर आनन्दमें मग्न हो जाता है, फिर यदि सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वदर्शी, अनन्त अचिन्त्य गुणोंके समुद्र, परमप्रेमी परमेश्वर अपनेको हमारा सुहृद् बतलावें और हम इस बातपर विश्वास करके उन्हें सुहृद् मान लें तो हमें कितना अलौकिक आनन्द और कैसी अपूर्व शान्ति मिलेगी? इसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

प्रश्न—इस प्रकार जो भगवान्‌को यज्ञ-तपोंके भोक्ता, समस्त लोकोंके महेश्वर और समस्त प्राणियोंके सुहृद्—इन तीनों लक्षणोंसे युक्त जानता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है या इनमेंसे किसी एकसे युक्त समझनेवालेको भी शान्ति मिल जाती है?

उत्तर—भगवान्‌को इनमेंसे किसी एक लक्षणसे युक्त

समझनेवालेको भी शान्ति मिल जाती है, फिर तीनों लक्षणोंसे युक्त समझनेवालेकी तो बात ही क्या है ? क्योंकि जो किसी एक लक्षणको भी भलीभाँति समझ लेता है, वह अनन्यभावसे भजन किये विना रह ही नहीं सकता। भजनके प्रभावसे उसपर भगवत्कृपा बरसने लगती है और भगवत्कृपासे वह अत्यन्त ही शीघ्र भगवान्के स्वरूप, प्रभाव, तत्त्व तथा गुणोंको समझकर पूर्ण शान्तिको प्राप्त हो जाता है। अहा ! उस समय कितना आनन्द और कैसी शान्ति प्राप्त होती होगी, जब मनुष्य यह जानता होगा कि 'सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंसे पूजित भगवान्, जो समस्त यज्ञ-तपोंके एकमात्र भोक्ता हैं और सम्पूर्ण ईश्वरोंके तथा अखिल ब्रह्माण्डोंके परम महेश्वर हैं, मेरे परमप्रेमी मित्र हैं ! कहाँ क्षुद्रतम और नगण्य मैं, और कहाँ अपनी अनन्त अचिन्त्य महिमामें नित्यस्थित महान् महेश्वर भगवान् ! अहा ! मुझसे अधिक सौभाग्यवान् और कौन होगा ?' और उस समय वह हृदयकी किस अपूर्व कृतज्ञताको लेकर, किस पवित्र भाव-धारासे सिक्त होकर, किस आनन्दार्णवमें डूबकर भगवान्के पावन चरणोंमें सदाके लिये लोट पड़ता होगा !

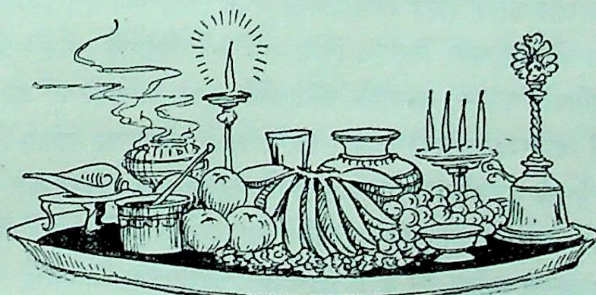
प्रश्न—भगवान् सब यज्ञ और तपोंके भोक्ता, सब लोकोंके महेश्वर और सब प्राणियोंके परम सुहृद् हैं—इस बातको समझनेका क्या उपाय है ? किस साधनसे मनुष्य इस प्रकार भगवान्के स्वरूप, प्रभाव, तत्त्व और गुणोंको भलीभाँति समझकर उनका अनन्य भक्त हो सकता है ?

उत्तर—श्रद्धा और प्रेमके साथ महापुरुषोंका संग, सत्-शास्त्रोंका श्रवण-मनन और भगवान्की शरण होकर अत्यन्त उत्सुकताके साथ उनसे प्रार्थना करनेपर उनकी दयासे मनुष्य भगवान्के इन प्रभाव और गुणोंको समझकर उनका अनन्य भक्त हो सकता है।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पदसे भगवान्ने अपने किस स्वरूपका लक्ष्य कराया है ?

उत्तर—जो परमेश्वर अज, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वर होते हुए भी समय-समयपर अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके लीला करनेके लिये योगमायासे संसारमें अवतीर्ण होते हैं और जो श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण होकर अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं, उन्हीं निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार और अव्यक्त-व्यक्तस्वरूप, सर्वरूप, परब्रह्म परमात्मा, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्वलोकमहेश्वर समग्र परमेश्वरको लक्ष्य करके 'माम्' पदका प्रयोग किया गया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

षष्ठोऽध्यायः

अध्यायका नाम

'कर्मयोग' और 'सांख्ययोग'—इन दोनों ही साधनोंमें उपयोगी होनेके कारण इस छठे अध्यायमें ध्यानयोगका भलीभाँति वर्णन किया गया है। ध्यानयोगमें शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका संयम करना परम आवश्यक है। तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—इन सबको 'आत्मा'के नामसे कहा जाता है और इस अध्यायमें इन्हींके संयमका विशेष वर्णन है, इसलिये इस अध्यायका नाम 'आत्मसंयमयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें कर्मयोगीकी प्रशंसा की गयी है। दूसरेमें 'संन्यास' और 'कर्मयोग'की एकताका प्रतिपादन करके, तीसरेमें कर्मयोगके साधन तथा फलका वर्णन है। चौथेमें योगारूढ पुरुषके लक्षण बतलाकर, पाँचवेंमें योगारूढावस्था प्राप्त करनेके लिये उत्साहित करते हुए मनुष्यके कर्तव्यका निरूपण किया गया है। छठेमें 'आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है', इसका रहस्य खोलकर, सातवेंमें शरीर, मन, इन्द्रियादिके जीतनेका फल बतलाया गया है। आठवें और नवेंमें परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षणोंका और महत्त्वका वर्णन है। दसवें श्लोकमें ध्यानयोगके लिये प्रेरणा करके फिर ग्यारहवेंसे चौदहवें श्लोकतक क्रमशः स्थान, आसन तथा ध्यानयोगकी विधिका निरूपण किया गया है। पन्द्रहवेंमें ध्यानयोगका फल बतलाकर, सोलहवें और सतरहवें श्लोकोंमें ध्यानयोगके उपयुक्त आहार-विहार तथा शयनादिके नियम और उनका फल बतलाया गया है। अठारहवें श्लोकमें ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण बतलाकर, उन्नीसवेंमें दीपकके दृष्टान्तसे योगीके चित्तकी स्थितिका वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् बीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक ध्यानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थिति-का वर्णन करके, तेईसवें श्लोकमें उस स्थितिका नाम 'योग' बतलाकर उसे प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा की गयी है। चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें अभेदरूपसे परमात्माके ध्यानयोगके साधनकी प्रणाली बतलाकर, छब्बीसवें श्लोकमें विषयोंमें विचरनेवाले मनको बार-बार खींच-खींचकर परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा की गयी है। सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकोंमें ध्यानयोगके फलस्वरूप ब्रह्मभूत होनेके उपरान्त फिर 'आत्यन्तिक सुख'की प्राप्ति बतलायी गयी है। उन्तीसवेंमें सांख्ययोगीके व्यवहारकालकी स्थिति बतलाकर, तीसवेंमें भक्तियोगका साधन करनेवाले योगीकी अन्तिम स्थितिका और उसके सर्वत्र भगवद्दर्शनका वर्णन किया गया है। इकतीसवें तथा बत्तीसवें श्लोकोंमें भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण और महत्त्वका निरूपण किया गया है। तैंतीसवें श्लोकमें अर्जुनने मनकी चञ्चलताके कारण समत्वयोगकी प्राप्तिको कठिन बतलाकर चौंतीसवेंमें मनके निग्रहको भी अत्यन्त कठिन बतलाया है। पैंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनकी उक्तिको स्वीकार करके मनके निग्रहका उपाय बतलाया है। छत्तीसवेंमें मनके वशमें न करनेपर योगकी दुष्प्राप्यता बतलाकर, वशमें करनेसे प्राप्त होनेकी बात कही गयी है। इसके बाद सैंतीसवें और अड़तीसवें श्लोकोंमें योगभ्रष्टकी गतिके सम्बन्धमें अर्जुनके प्रश्न हैं और उन्चालीसवेंमें अर्जुनने संशय-निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की है। तदनन्तर चालीसवेंसे पैंतालीसवें श्लोकतक अर्जुनके प्रश्नोंके

उत्तरमें भगवान्‌के द्वारा क्रमशः योगभ्रष्ट पुरुषोंकी दुर्गति न होनेका, स्वर्गादि लोकोंमें जाने तथा पवित्र धनवानोंके घर जन्म लेनेका, वैराग्यवान् योगभ्रष्टोंका ज्ञानवान् योगियोंके घरोंमें जन्मका और पूर्वदेहके बुद्धिसंयोगको अनायास ही प्राप्त करनेका, पवित्र धनियोंके घर जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टोंका भी पूर्वाभ्यासके बलसे भगवान्‌की ओर आकर्षित किये जानेका और अन्तमें योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टकी गतिका निरूपण किया गया है। इसके बाद छियालीसवें श्लोकमें योगकी महिमा बतलाकर अर्जुनको योगी बननेके लिये आज्ञा दी गयी है और सैंतालीसवें श्लोकमें सब योगियोंमें अपनेसे अनन्य प्रेम करनेवाले भक्त योगीकी प्रशंसा करके अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने 'कर्मसंन्यास' (सांख्ययोग) और 'कर्मयोग' इन दोनोंमेंसे कौन-सा एक साधन सुनिश्चित कल्याणप्रद है ?—यह बतलानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की। इसपर भगवान्‌ने दोनों साधनोंको कल्याणप्रद बतलाया और फलमें दोनोंकी समानता होनेपर भी साधनमें सुगमता होनेके कारण 'कर्मसंन्यास' की अपेक्षा 'कर्मयोग' की श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया। तदनन्तर दोनों साधनोंके स्वरूप, उनकी विधि और उनके फलका भलीभाँति निरूपण करके दोनोंके लिये ही अत्यन्त उपयोगी एवं परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान उपाय समझकर संक्षेपमें ध्यानयोगका भी वर्णन किया। परन्तु दोनोंमेंसे कौन-सा साधन करना चाहिये, इस बातकी न तो अर्जुनको स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा ही की गयी और न ध्यानयोगका ही अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित विस्तारसे वर्णन हुआ। इसलिये अब ध्यानयोगका अङ्गोंसहित विस्तृत वर्णन करनेके लिये छठे अध्यायका आरम्भ करते हैं और सबसे पहले अर्जुनको भक्तियुक्त कर्मयोगमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए ही प्रकरणका आरम्भ करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है; और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है॥ १॥

प्रश्न—यहाँ कर्मफलके आश्रयका त्याग बतलाया गया, आसक्तिके त्यागकी कोई बात इसमें नहीं आयी, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जिस पुरुषकी भोगोंमें या कर्मोंमें आसक्ति होती है, वह कर्मफलके आश्रयका सर्वथा त्याग कर ही नहीं सकता। आसक्ति होनेपर स्वाभाविक ही कर्मफलकी कामना होती है। अतएव कर्मफलके आश्रयका जिसमें त्याग है, उसमें आसक्तिका त्याग भी समझ लेना चाहिये। प्रत्येक स्थानपर सभी शब्दोंका प्रयोग नहीं हुआ करता। ऐसे स्थलोंपर उसी विषयमें अन्यत्र कही हुई बातका अध्याहार कर लेना चाहिये। जहाँ फलका त्याग बतलाया जाय परन्तु आसक्तिके त्यागकी चर्चा न हो (२।५१, १८।११) वहाँ आसक्तिका भी त्याग समझ

लेना चाहिये। इसी प्रकार जहाँ आसक्तिका त्याग कहा जाय पर फल-त्यागकी बात न हो (३।१९, ६।४) वहाँ फलका त्याग भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—कर्मफलके आश्रयको त्यागनेका क्या भाव है ?

उत्तर--स्त्री, पुत्र, धन, मान और बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गसुखादि परलोकके जितने भी भोग हैं, उन सभीका समावेश 'कर्मफल' में कर लेना चाहिये। साधारण मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी फलका आश्रय लेकर ही करता है। इसलिये उसके कर्म उसे बार-बार जन्म-मरणके चक्करमें गिरानेवाले होते हैं। अतएव इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखोंमें हेतु समझकर, समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इसीको कर्मफलके आश्रयका त्याग करना कहते हैं।

प्रश्न—करनेयोग्य कर्म कौन-से हैं और उन्हें कैसे करना चाहिये ?

उत्तर—अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान, तप, शरीर-निर्वाहसम्बन्धी तथा लोकसेवा आदिके लिये किये जानेवाले शुभ कर्म हैं, सभी करनेयोग्य कर्म हैं। और उन सबको यथाविधि तथा यथायोग्य, आलस्यरहित होकर, अपनी शक्तिके अनुसार कर्तव्यबुद्धिसे उत्साहपूर्वक सदा करते रहना चाहिये।

प्रश्न—उपर्युक्त पुरुष संन्यासी भी है और योगी भी है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि ऐसा कर्मयोगी पुरुष समस्त संकल्पोंका त्यागी होता है और उस यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाता है जो सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही निष्ठाओंका चरम फल है, इसलिये वह 'संन्यासित्व' और 'योगित्व' दोनों ही गुणोंसे युक्त माना जाता है।

प्रश्न—'न निरग्निः' का क्या भाव है ?

उत्तर—अग्निका त्याग करके संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लेनेवाले पुरुषको 'निरग्नि' कहते हैं। यहाँ 'न निरग्निः' कहकर भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि जिसने अग्निको त्यागकर संन्यास-आश्रमका तो ग्रहण कर लिया है परन्तु जो ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के लक्षणोंसे युक्त नहीं है, वह वस्तुतः संन्यासी नहीं है; क्योंकि उसने केवल अग्निका ही त्याग किया है, समस्त संकल्पोंका संन्यास—सम्यक् प्रकारसे त्याग नहीं किया।

प्रश्न—'न च अक्रियः' का क्या भाव है ?

उत्तर—समस्त क्रियाओंका सर्वथा त्याग करके 'ध्यानस्थ' हो जानेवाले पुरुषको 'अक्रिय' कहते हैं। यहाँ 'न च अक्रियः' से भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो सब क्रियाओंका त्याग करके ध्यान लगाकर तो बैठ गया है, परन्तु जिसके अन्तःकरणमें अहंता, ममता, राग, द्वेष, कामना आदि दोष वर्तमान हैं, वह भी वास्तवमें योगी नहीं है; क्योंकि उसने भी केवल बाहरी क्रियाओंका ही त्याग किया है, समस्त संकल्पोंका त्याग नहीं किया।

प्रश्न—जिस पुरुषने अग्निका सर्वथा त्याग करके संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लिया है और जिसमें ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के समस्त लक्षण (५।८, ९, १३, २४, २५, २६ के अनुसार) भलीभाँति प्रकट हैं, क्या वह संन्यासी नहीं है ?

उत्तर—क्यों नहीं ? ऐसे ही महापुरुष तो आदर्श संन्यासी हैं। इसी प्रकारके संन्यासी महात्माओंका महत्त्व प्रकट करनेके लिये ही तो ज्ञानयोगके लक्षणोंका

जिनमें विकास होता है, उन अन्य आश्रमवालोंको भी संन्यासी कहकर उनकी प्रशंसा की जाती है। इसके अतिरिक्त उन्हें संन्यासी बतलानेका और स्वारस्य ही क्या हो सकता है ?

प्रश्न—इसी प्रकार समस्त क्रियाओंका त्याग करके जो पुरुष निरन्तर ध्यानस्थ रहता है तथा जिसके अन्तःकरणमें ममता, राग, द्वेष और काम-क्रोधादिका सर्वथा अभाव हो गया है, वह सर्वसंकल्पोंका संन्यासी भी क्या योगी नहीं है ?

उत्तर—ऐसे सर्वसंकल्पोंके त्यागी महात्मा ही तो आदर्श योगी हैं।

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्ने कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्म करनेवालेको संन्यासी और योगी बतलाया। उसपर यह शंका हो सकती है कि यदि 'संन्यास' और 'योग' दोनों भिन्न-भिन्न स्थिति हैं तो उपर्युक्त साधक दोनोंसे सम्पन्न कैसे हो सकता है ? अतः इस शंकाका निराकरण करनेके लिये दूसरे श्लोकमें 'संन्यास' और 'योग'की एकताका प्रतिपादन करते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

हे अर्जुन ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तू योग जान। क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता॥ २॥

प्रश्न—जिसको 'संन्यास' कहते हैं उसीको तू 'योग' जान, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'संन्यास' शब्दका अर्थ है—शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका भाव मिटाकर केवल परमात्मामें ही अभिन्न-भावसे स्थित हो जाना। यह सांख्ययोगकी पराकाष्ठा है। तथा 'योग' शब्दका अर्थ है—ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागद्वारा होनेवाली 'कर्मयोग'की पराकाष्ठारूप नैष्कर्म्य-सिद्धि। दोनोंमें ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और सांख्ययोगी जिस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है, कर्मयोगी भी उसीको प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनोंमें ही समस्त संकल्पोंका त्याग है और दोनोंका एक ही फल है; इसलिये ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ 'संकल्प'का क्या अर्थ है और उसका 'संन्यास' क्या है ?

उत्तर—परमात्मासे पृथक् विषयोंकी सत्ता, ममता और राग-द्वेषसे संयुक्त सांसारिक पदार्थोंका चिन्तन करनेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है, उसको 'संकल्प' कहते हैं। इस प्रकारकी वृत्तिका सर्वथा अभाव हो जाना ही उसका 'संन्यास' है।

प्रश्न—संकल्पका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—संकल्पका पूर्णरूपसे त्याग हुए विना चित्तका परमात्मासे पूर्ण संयोग नहीं होता, इसलिये सङ्कल्पोंका त्याग सभीके लिये आवश्यक है। कोई एक साधक एकान्तदेशमें आसन-प्राणायामादिके द्वारा परमात्माके ध्यानका अभ्यास करते हैं, दूसरे निष्कामभावसे सदा-सर्वदा केवल भगवान्के लिये ही भगवदाज्ञानुसार कर्म करनेकी चेष्टा करते हैं, तीसरे समय-समयपर ध्यानका भी अभ्यास करते हैं और निष्कामभावसे कर्म भी करते हैं। इनमेंसे किन्हीं भी साधकको, जबतक

वे सङ्कल्पोंका सर्वथा त्याग नहीं कर देते, योगारूढ या योगी नहीं कहा जा सकता। साधक तभी योगारूढ होता है, जब वह समस्त कर्मोंमें और विषयोंमें आसक्ति-रहित होकर सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका त्याग कर चुकता है।

सांख्ययोगी भी वस्तुतः तभी सच्चा संन्यासी होगा, जब उसके चित्तमें सङ्कल्पमात्रका अभाव हो जायगा। इसीलिये श्लोकके पूर्वार्द्धमें दोनोंको एक समझनेके लिये कहा गया है।

सम्बन्ध—कर्मयोगकी प्रशंसा करके अब उसका साधन और फल बतलाते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

समत्वबुद्धिरूप कर्मयोगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ हो जानेपर उस योगारूढ पुरुषके लिये सर्वसङ्कल्पोंका अभाव ही कल्याणमें हेतु कहा जाता है॥ ३॥

प्रश्न—यहाँ 'मुनेः' इस पदसे किस पुरुषका ग्रहण करना चाहिये?

उत्तर—'मुनेः' यह पद यहाँ उस पुरुषके लिये विशेषणरूपमें आया है जो परमात्माकी प्राप्तिमें हेतुरूप योगारूढ-अवस्थाको प्राप्त करना चाहता है। अतएव इससे स्वभावसे ही परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करने-वाले मननशील साधकका ग्रहण करना चाहिये।

प्रश्न—योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें कौन-से कर्म हेतु हैं?

उत्तर—वर्ण, आश्रम और अपनी स्थितिके अनुकूल जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, फल और आसक्तिका त्याग करके किये जानेपर वे सभी योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें हेतु हो सकते हैं।

प्रश्न—योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें कर्मोंको हेतु क्यों बतलाया? कर्मोंका त्याग करके एकान्तमें ध्यानका अभ्यास करनेसे भी तो योगारूढावस्था प्राप्त हो सकती है?

उत्तर—एकान्तमें परमात्माके ध्यानका अभ्यास करना भी तो एक प्रकार कर्म ही है। और इस प्रकार ध्यानका अभ्यास करनेवाले साधकको भी शौच, स्नान और खान-पानादि शरीर-निर्वाहके योग्य क्रिया भी करनी ही पड़ती है। इसलिये अपने वर्ण, आश्रम, अधिकार और स्थितिके अनुकूल जिस समय जो कर्तव्य-कर्म हों, फल और आसक्तिका त्याग करके उनका आचरण करना योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें हेतु है—यह कहना ठीक ही है। इसीलिये तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भी कहा है कि कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य नैष्कर्म्य अर्थात् योगारूढ-अवस्थाको नहीं प्राप्त हो सकता।

प्रश्न—यहाँ 'शमः' इस पदका अर्थ स्वरूपतः क्रियाओंका त्याग न मानकर सर्व-संकल्पोंका अभाव क्यों माना गया?

उत्तर—दूसरे और चौथे श्लोकमें संकल्पोंके त्यागका प्रकरण है। 'शमः' पदका अर्थ भी मनको वशमें करके शान्त करना होता है। गीतामें अन्यत्र (१८।४२) भी 'शम' शब्दका इसी अर्थमें प्रयोग हुआ है। और मनके वशमें होकर शान्त हो जानेपर ही संकल्पोंका सर्वथा

अभाव होता है। इसके अतिरिक्त, कर्मोंका स्वरूपतः सर्वथा त्याग हो भी नहीं सकता। अतएव यहाँ 'शमः' का अर्थ सर्वसंकल्पोंका अभाव मानना ही ठीक है।

प्रश्न—योगारूढ पुरुषके 'शम' को कर्मोंका कारण माना जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—'शम' शब्द सर्वसंकल्पोंके अभावरूप शान्तिका वाचक है। इसलिये वह कर्मका कारण नहीं बन सकता। ज्ञानी महात्माके द्वारा जो कुछ चेष्टा होती है, उसमें तो उनके और लोगोंके प्रारब्ध ही हेतु हैं। अतः 'शम' को कर्मका हेतु मानना युक्तिसंगत नहीं है।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें 'योगारूढ' शब्द आया। अब उसका लक्षण जाननेकी आकाङ्क्षा होनेपर योगारूढ पुरुषके लक्षण बतलाते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है॥ ४॥

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें और कर्मोंमें केवल आसक्तिका त्याग बतलाया, कामनाका त्याग नहीं बतलाया। इसका क्या कारण है?

उत्तर—आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है (२। ६२)। यदि विषयोंमें और कर्मोंमें आसक्ति न रहे तो कामनाका अभाव तो अपने-आप ही हो जायगा। कारणके बिना कार्य हो ही नहीं सकता। अतएव आसक्तिके अभावमें कामनाका अभाव भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—'सर्वसंकल्पसंन्यास' का क्या अर्थ है? और समस्त संकल्पोंका त्याग हो जानेके बाद किसी भी विषयका ग्रहण या कर्मका सम्पादन कैसे सम्भव है?

उत्तर—यहाँ 'संकल्पोंके त्याग' का अर्थ स्फुरणामात्रका सर्वथा त्याग नहीं है, यदि ऐसा माना जाय तो योगारूढ-अवस्थाका वर्णन ही असम्भव हो जाय। जिसे वह अवस्था प्राप्त नहीं है, वह तो उसका तत्त्व नहीं जानता; और जिसे प्राप्त है, वह बोल नहीं सकता। फिर उसका वर्णन ही कौन करे? इसके अतिरिक्त, चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि 'जिस महापुरुषके समस्त कर्म कामना और संकल्पके बिना ही भलीभाँति होते हैं, उसे पण्डित कहते हैं' (४। १९)। और वहाँ जिस महापुरुषकी ऐसी प्रशंसा की गयी है, वह योगारूढ नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्थामें यह नहीं माना जा सकता कि संकल्परहित पुरुषके द्वारा कर्म नहीं होते। इससे यही सिद्ध होता है कि संकल्पोंके त्यागका अर्थ स्फुरणा या वृत्तिमात्रका त्याग नहीं है। परमात्माके अतिरिक्त विषयोंकी पृथक् सत्ता मानकर उनका जो ममता, राग और द्वेषपूर्वक चिन्तन किया जाता है, उसे 'संकल्प' कहते हैं। ऐसे संकल्पोंका पूर्णतया त्याग ही 'सर्वसंकल्पसंन्यास' है। ऐसा त्याग कर्मोंके सुचारुरूपसे सम्पादन होनेमें कोई बाधा नहीं देता। जिनकी बुद्धिमें भगवान्‌के सिवा जगत्‌की पृथक् सत्ता ही नहीं रह गयी है, उनके द्वारा भगवद्बुद्धिसे जो विषयोंका ग्रहण या त्याग होता है, उसे संकल्पजनित नहीं कहा जा सकता। ऐसे त्याग और ग्रहणरूप कर्म तो ज्ञानी महात्माओंके

द्वारा भी हो सकते हैं। ऐसे ही महात्माके लिये भगवान्ने कहा है कि 'वह सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है' (६ । ३१)।

प्रश्न—मनुष्य भोगोंकी प्राप्तिके लिये ही कर्म करता है और उनमें आसक्त होता है। अतएव शब्दादि विषयोंमें आसक्तिका अभाव बता देना ही यथेष्ट था, कर्मोंमें आसक्तिका अभाव बतलानेकी क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—भोगोंमें आसक्तिका त्याग होनेपर भी कर्मोंमें आसक्ति रहना सम्भव है, क्योंकि जिनका कोई फल नहीं है, ऐसे व्यर्थ कर्मोंमें भी प्रमादी मनुष्योंकी आसक्ति देखी जाती है। अतएव आसक्तिका सर्वथा अभाव दिखलानेके लिये ऐसा कहना ही चाहिये।

सम्बन्ध—परमपदकी प्राप्तिमें हेतुरूप योगारूढ-अवस्थाका वर्णन करके अब उसे प्राप्त करनेके लिये उत्साहित करते हुए भगवान् मनुष्यका कर्तव्य बतलाते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले, क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है ॥ ५ ॥

प्रश्न—अपनेद्वारा अपना उद्धार करना क्या है और अपनेको अधोगतिमें पहुँचाना क्या है?

उत्तर—जीव अज्ञानके वश होकर अनादिकालसे इस दुःखमय संसार-सागरमें गोते लगाता है और नाना प्रकारकी भली-बुरी योनियोंमें भटकता हुआ भाँति-भाँतिके भयानक कष्ट सहता रहता है। जीवकी इस दीन-दशाको देखकर दयामय भगवान् उसे साधनोपयोगी देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीर प्रदान करके एक बहुत सुन्दर अवसर देते हैं, जिसमें वह चाहे तो, साधनाके द्वारा एक ही जन्ममें संसार-समुद्रसे निकलकर सहज ही परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर ले। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह मानव-जीवनके दुर्लभ अवसरको व्यर्थ न जाने दे और कर्मयोग, सांख्ययोग तथा भक्तियोग आदि किसी भी साधनमें लगकर अपने जन्मको सफल बना ले। यही अपनेद्वारा अपना उद्धार करना है। इसके विपरीत राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-मोह आदि दोषोंमें फँसकर भाँति-भाँतिके दुष्कर्म करना और उनके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरके परमफल भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रहकर पुनः शूकर-कूकरादि योनियोंमें जानेका कारण बनना अपनेको अधोगतिमें ले जाना है। उपनिषद्में ऐसे मनुष्योंको आत्महत्यारा कहकर उनकी दुर्गतिका वर्णन किया गया है।*

यहाँ भगवान्ने अपनेद्वारा ही अपना उद्धार करनेकी बात कहकर जीवको यह आश्वासन दिया है कि 'तुम यह न समझो कि प्रारब्ध बुरा है, इसलिये तुम्हारी उन्नति होगी ही नहीं। तुम्हारा उत्थान-पतन प्रारब्धके अधीन नहीं है, तुम्हारे ही हाथमें है।

* असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

(ईश० उ० ३)

'वे कूकर-शूकरादि योनि तथा नरकरूप असुरसम्बन्धी लोक अज्ञानरूप अन्धकारसे ढके हुए हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं, वे मरनेपर उन असुर-लोकोंको प्राप्त होते हैं।'

साधना करो और अपनेको अवनतिके गड्ढेसे निकालकर उन्नतिके शिखरपर ले जाओ।' अतएव मनुष्यको बड़ी ही सावधानी तथा तत्परताके साथ सदा-सर्वदा अपने उत्थानकी, अभी जिस स्थितिमें है उससे ऊपर उठनेकी, राग-द्वेष, काम-क्रोध, भोग, आलस्य, प्रमाद और पापाचारका सर्वथा त्याग करके शम, दम, तितिक्षा, विवेक और वैराग्यादि सद्गुणोंका संग्रह करनेकी, विषय-चिन्तन छोड़कर श्रद्धा और प्रेमके साथ भगवच्चिन्तन करनेकी और भजन-ध्यान तथा सेवा-सत्संगादिके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधना करनी चाहिये। और जबतक भगवत्प्राप्ति न हो जाय तबतक एक क्षणके लिये भी, जरा भी पीछे हटना तथा रुकना नहीं चाहिये। भगवत्कृपाके बलपर धीरता, वीरता और दृढ़ निश्चयके साथ अपनेको जरा भी न डिगने देकर उत्तरोत्तर उन्नतिके पथपर ही अग्रसर होते रहना चाहिये। मनुष्य अपने स्वभाव और कर्मोंमें जितना ही अधिक सुधार कर लेता है, वह उतना ही उन्नत होता है। स्वभाव और कर्मोंका सुधार ही उन्नति या उत्थान है; तथा इसके विपरीत स्वभाव और कर्मोंमें दोषोंका बढ़ना ही अवनति या पतन है।

प्रश्न—यह मनुष्य आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मनुष्य सांसारिक सम्बन्धके कारण आसक्तिवश जिन लोगोंको अपना मित्र मानता है, वे तो बन्धनमें हेतु होनेसे वस्तुतः मित्र ही नहीं हैं। संत, महात्मा और निःस्वार्थ साधक, जो बन्धनसे छुड़ानेमें सहायक होते हैं, वे अवश्य ही सच्चे मित्र हैं; परन्तु उनकी यह मैत्री भी मनुष्यको तभी प्राप्त होती है, जब पहले वह स्वयं अपने मनसे उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम करता है, तथा उन्हें सच्चा मित्र मानता है और उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलता है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि यह आप ही अपना मित्र है। इसी प्रकार यह भी निश्चित है कि मनुष्य अपने मनमें किसीको शत्रु मानता है, तभी उसकी हानि होती है। नहीं तो ईर्ष्या, द्वेष या वैरसे कोई भी मनुष्य किसीकी कुछ भी पारमार्थिक हानि नहीं कर सकता। इसलिये शत्रु भी वस्तुतः वह स्वय ही है। वास्तवमें जो अपने उद्धारके लिये चेष्टा करता है, वह आप ही अपना मित्र है; और जो इसके विपरीत करता है, वही शत्रु है। इसलिये अपनेसे भिन्न दूसरा कोई भी अपना शत्रु या मित्र नहीं है।

सम्बन्ध—यह बात कही गयी कि मनुष्य आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। अब उसीको स्पष्ट करनेके लिये यह बतलाते हैं कि किन लक्षणोंसे युक्त मनुष्य आप ही अपना मित्र है और किन लक्षणोंसे युक्त आप ही अपना शत्रु है—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है; और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है॥ ६॥

प्रश्न—मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको जीतना क्या है ? ये किस प्रकार जीते जा सकते हैं ? जीते हुए शरीर, इन्द्रिय और मनके क्या लक्षण हैं ? एवं इनको जीतनेवाला मनुष्य आप ही अपना मित्र कैसे है ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय और मनको भलीभाँति अपने वशमें कर लेना ही इनको जीतना है। विवेकपूर्ण अभ्यास और वैराग्यके द्वारा ये वशमें हो सकते हैं । परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्य जिन साधनोंमें अपने शरीर, इन्द्रिय और मनको लगाना चाहे, उनमें जब वे अनायास ही लग जायँ और उसके लक्ष्यसे विपरीत मार्गकी ओर ताकें ही नहीं, तब समझना चाहिये कि ये वशमें हो चुके हैं । जिस मनुष्यके शरीर, इन्द्रिय और मन वशमें हो जाते हैं, वह अनायास ही संसार-समुद्रसे अपना उद्धार कर लेता है, एवं परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है; इसीलिये वह स्वयं अपना मित्र है ।

प्रश्न—जिसके शरीर, इन्द्रिय और मन जीते हुए नहीं हैं, उसको 'अनात्मा' कहनेका क्या अभिप्राय है ? एवं उसका शत्रुकी भाँति शत्रुताका आचरण क्या है ?

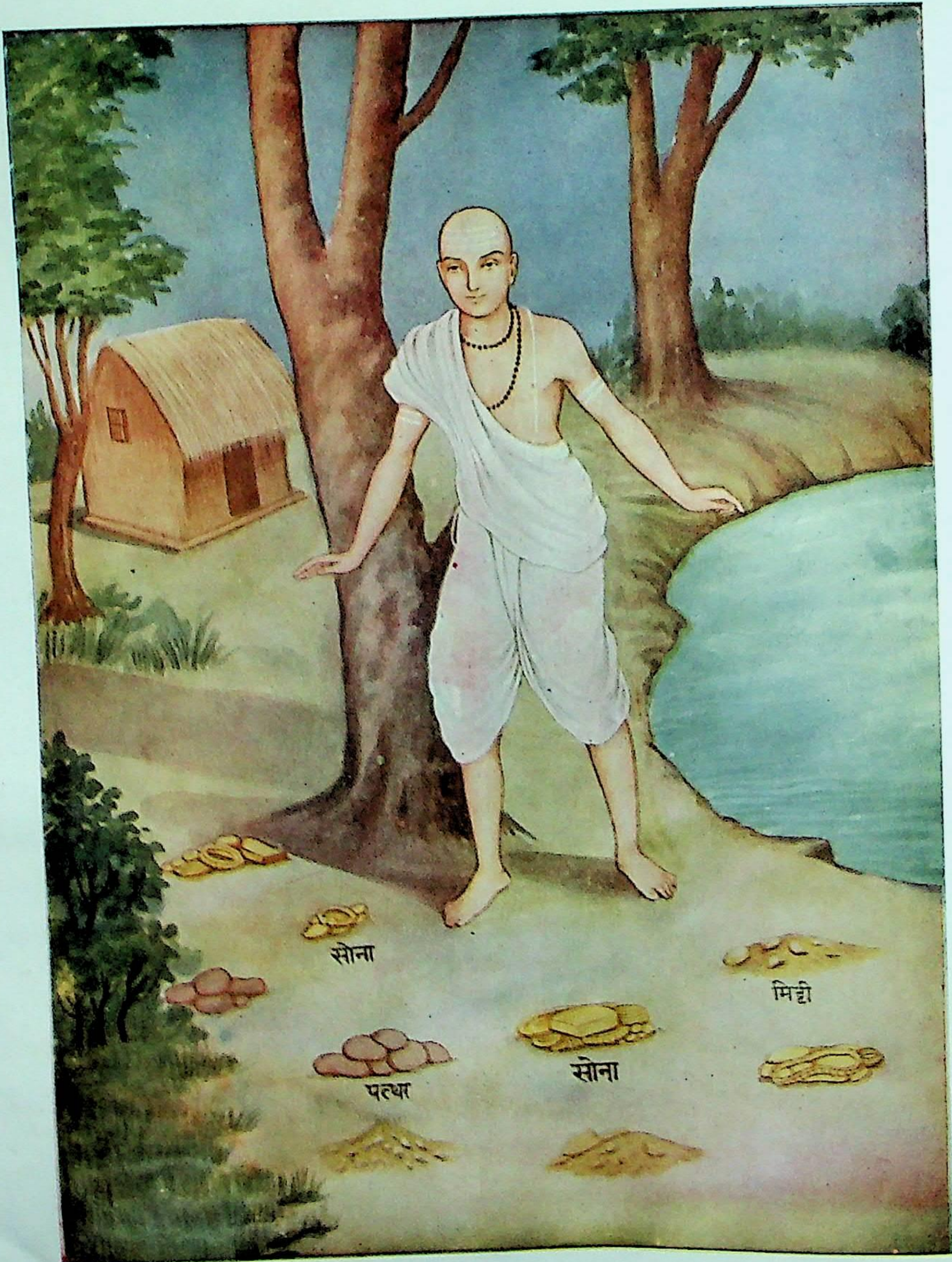
उत्तर—शरीर, इन्द्रिय और मन—इन सबका नाम आत्मा है । ये सब जिसके अपने नहीं हैं, उच्छृङ्खल हैं, और यथेच्छ विषयोंमें लगे रहते हैं; जो इन सबको अपने लक्ष्यके अनुकूल इच्छानुसार कल्याणके साधनमें नहीं लगा सकता, वह 'अनात्मा' है—आत्मवान् नहीं है । ऐसा मनुष्य स्वयं मन, इन्द्रिय आदिके वश होकर कुपथ्य करनेवाले रोगीकी भाँति अपने ही कल्याण-साधनके विपरीत आचरण करता है । वह अहन्ता, ममता, राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिके कारण प्रमाद, आलस्य और विषय-भोगोंमें फँसकर पाप-कर्मोंके कठिन बन्धनमें पड़ जाता है । और जैसे शत्रु किसीको सुखके साधनसे वञ्चित करके दुःख भोगनेको बाध्य करता है, वैसे ही वह अपने शरीर, इन्द्रिय और मनको कल्याणके साधनमें न लगाकर भोगोंमें लगाता है, तथा अपने-आपको बार-बार नरकादिमें डालकर और नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकाकर अनन्त कालतक भीषण दुःख भोगनेके लिये बाध्य करता है । यद्यपि अपने-आपमें किसीका द्वेष न होनेके कारण वास्तवमें कोई भी अपना बुरा नहीं चाहता, तथापि अज्ञानविमोहित मनुष्य आसक्तिके वश होकर दुःखको सुख और अहितको हित समझकर अपने यथार्थ कल्याणके विपरीत आचरण करने लगता है—इसी बातको दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है कि वह शत्रुकी भाँति शत्रुताका आचरण करता है ।

सम्बन्ध—जिसने मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र क्यों है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये अब शरीर, इन्द्रिय और मनरूप आत्माको वशमें करनेका फल बतलाते हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक्प्रकारसे स्थित हैं । अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं ॥ ७ ॥

समदर्शी योगी



ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ (६।८)

प्रश्न—शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मानापमानमें चित्तकी वृत्तियोंका शान्त रहना क्या है ?

उत्तर—यहाँ शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान शब्द उपलक्षणरूपसे हैं। अतएव इस प्रसंगमें शरीर, इन्द्रिय और मनसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी सांसारिक पदार्थोंका, भावोंका और घटनाओंका समावेश समझ लेना चाहिये। किसी भी पदार्थ, भाव या घटनाका संयोग या वियोग होनेपर अन्तःकरणमें राग, द्वेष, हर्ष, शोक, इच्छा, भय, ईर्ष्या, असूया, काम, क्रोध और विक्षेपादि किसी प्रकारका कोई विकार न हो; हर हालतमें सदा ही चित्त सम और शान्त रहे; इसीको 'शीतोष्ण, सुख-दुःख और मानापमानमें चित्तकी वृत्तियोंका भलीभाँति शान्त रहना' कहते हैं।

प्रश्न—'जितात्मनः' पदका क्या अर्थ है और इसका प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय और मनको जिसने पूर्णरूपसे अपने वशमें कर लिया है, उसका नाम 'जितात्मा' है; ऐसा पुरुष सदा-सर्वदा सभी अवस्थाओंमें प्रशान्त या निर्विकार रह सकता है और संसार-समुद्रसे अपना उद्धार करके परमात्माको प्राप्त कर सकता है, इसलिये वह स्वयं अपना मित्र है। यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'जितात्मनः' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'परमात्मा' पद किसका वाचक है और 'समाहितः'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'परमात्मा' पद सच्चिदानन्दघन पुरुषोत्तमका वाचक है और 'समाहितः' पदसे यह दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाले पुरुषके लिये परमात्मा सदा-सर्वदा और सर्वत्र प्रत्यक्ष स्थित है।

सम्बन्ध—मन-इन्द्रियोंके सहित शरीरको वशमें करनेका फल परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया। अतः परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर अब दो श्लोकोंद्वारा उसके लक्षणोंका वर्णन करते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्-प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है॥ ८॥

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा' पदसे किस पुरुषका लक्ष्य है ?

उत्तर—परमात्माके निर्गुण निराकार तत्त्वके प्रभाव तथा माहात्म्य आदिके रहस्यसहित यथार्थ ज्ञानको 'ज्ञान', और सगुण निराकार एवं साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, महत्त्व, गुण और प्रभाव आदिके यथार्थ ज्ञानको 'विज्ञान' कहते हैं। जिस पुरुषको परमात्माके साकार-निराकार तत्त्वका भलीभाँति ज्ञान हो गया है, जिसका अन्तःकरण उपर्युक्त दोनों तत्त्वोंके यथार्थ ज्ञानसे भलीभाँति तृप्त हो गया है, जिसमें अब कुछ भी जाननेकी इच्छा शेष नहीं रह गयी है, वह 'ज्ञानविज्ञान-तृप्तात्मा' है।

प्रश्न—यहाँ 'कूटस्थः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सुनारों या लोहारोंके यहाँ रहनेवाले लोहेके

'अहरन' या 'निहाई'को 'कूट' कहते हैं; उसपर सोना, चाँदी, लोहा आदि रखकर हथौड़ेसे कूटा जाता है। कूटते समय उसपर बार-बार गहरी चोट पड़ती है; फिर भी वह हिलता-डुलता नहीं, बराबर अचल रहता है। इसी प्रकार जो पुरुष तरह-तरहके बड़े-से-बड़े दु:खोंके आ पड़नेपर भी अपनी स्थितिसे तनिक भी विचलित नहीं होता, जिसके अन्त:करणमें जरा भी विकार उत्पन्न नहीं होता और जो सदा-सर्वदा अचलभावसे परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं।

प्रश्न—'विजितेन्द्रिय:'का क्या भाव है ?

उत्तर—संसारके सम्पूर्ण विषयोंको मायामय और क्षणिक समझ लेनेके कारण जिसकी किसी भी विषयमें जरा भी आसक्ति नहीं रह गयी है और इसलिये जिसकी इन्द्रियाँ विषयोंमें कोई रस न पाकर उनसे निवृत्त हो गयी हैं तथा लोकसंग्रहके लिये वह अपनी इच्छानुसार उन्हें यथायोग्य जहाँ लगाता है वहीं लगती हैं, न तो स्वच्छन्दतासे कहीं जाती हैं और न उसके मनमें किसी प्रकारका क्षोभ ही उत्पन्न करती हैं—इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ अपने अधीन हैं, वह पुरुष 'विजितेन्द्रिय' है।

प्रश्न—'समलोष्टाश्मकाञ्चन:' का क्या भाव है ?

उत्तर—मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण आदि समस्त पदार्थोंमें परमात्म-बुद्धि हो जानेके कारण जिसके लिये तीनों ही सम हो गये हैं; जो अज्ञानियोंकी भाँति सुवर्णमें आसक्त नहीं होता और मिट्टी, पत्थर आदिसे द्वेष नहीं करता, सबको एक ही समान समझता है, वह 'समलोष्टाश्मकाञ्चन' है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समानभाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥९॥

प्रश्न—'सुहृद्' और 'मित्र' में क्या भेद है ?

उत्तर—सम्बन्ध और उपकार आदिकी अपेक्षा न करके विना ही कारण स्वभावत: प्रेम और हित करनेवाले 'सुहृद्' कहलाते हैं तथा परस्पर प्रेम और एक दूसरेका हित करनेवाले 'मित्र' कहलाते हैं।

प्रश्न—'अरि' (वैरी) और 'द्वेष्य' (द्वेषपात्र) में क्या अन्तर है ?

उत्तर—अपना अपकार करनेवाले मनुष्यसे बदला लेनेके लिये उसका बुरा करनेकी इच्छा या चेष्टा करनेवाला 'वैरी' है और प्रतिकूल आचरण करनेके कारण जो द्वेषका पात्र हो, वह 'द्वेष्य' कहलाता है।

प्रश्न—'मध्यस्थ' और 'उदासीन' में क्या भेद है ?

उत्तर—परस्पर झगड़ा करनेवालोंमें मेल करानेकी चेष्टा करनेवालेको और पक्षपात छोड़कर उनके हितके लिये न्याय करनेवालेको 'मध्यस्थ' कहते हैं। तथा उनसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न रखनेवालेको 'उदासीन' कहते हैं ?

प्रश्न—यहाँ 'अपि' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सुहृद्, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ और साधु-सदाचारी पुरुषोंमें एवं अपने कुटुम्बियोंमें मनुष्यका प्रेम होना स्वाभाविक है। ऐसे ही वैरी, द्वेष्य और

पापियोंके प्रति द्वेष और घृणाका होना स्वाभाविक है। विवेकशील पुरुषोंमें भी इन लोगोंके प्रति स्वाभाविक रागद्वेष-सा देखा जाता है। ऐसे अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव-वाले मनुष्योंके प्रति राग-द्वेष और भेदबुद्धिका न होना बहुत ही कठिन बात है, यही भाव दिखलानेके लिये 'अपि'का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'समबुद्धिः' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सर्वत्र परमात्म-बुद्धि हो जानेके कारण उन उपर्युक्त अत्यन्त विलक्षण स्वभाववाले मित्र, वैरी, साधु और पापी आदिके आचरण, स्वभाव और व्यवहारके भेदका जिसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, जिसकी बुद्धिमें किसी समय, किसी भी परिस्थितिमें, किसी भी निमित्तसे भेदभाव नहीं आता—उसे 'समबुद्धि' समझना चाहिये।

सम्बन्ध—छठे श्लोकमें यह बात कही गयी कि जिसने शरीर, इन्द्रिय और मनरूप आत्माको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र है। फिर सातवें श्लोकमें उस 'जितात्मा' पुरुषके लिये परमात्माको प्राप्त होना तथा आठवें और नवें श्लोकोंमें परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण बतलाकर उसकी प्रशंसा की गयी। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि जितात्मा पुरुषको परमात्माकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये, वह किस साधनसे परमात्माको शीघ्र प्राप्त कर सकता है; इसपर ध्यानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमेश्वरके ध्यानमें लगावे ॥ १० ॥

प्रश्न—'निराशीः' का क्या भाव है?

उत्तर—इस लोक और परलोकके भोग्यपदार्थोंकी जो किसी भी अवस्थामें, किसी प्रकार भी, किञ्चिन्मात्र भी इच्छा या अपेक्षा नहीं करता, वह 'निराशीः' है।

प्रश्न—'अपरिग्रहः' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भोग-सामग्रीके संग्रहका नाम परिग्रह है, जो उससे रहित हो उसे 'अपरिग्रह' कहते हैं। वह यदि गृहस्थ हो तो किसी भी वस्तुका ममतापूर्वक संग्रह न रक्खे और यदि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी हो तो स्वरूपसे भी किसी प्रकारका शास्त्रप्रतिकूल संग्रह न करे। ऐसे पुरुष किसी भी आश्रममें रहें वे 'अपरिग्रह' ही हैं।

प्रश्न—यहाँ 'योगी' पद किसका वाचक है?

उत्तर—यहाँ भगवान् ध्यानयोगमें लगनेके लिये कह रहे हैं; अतः 'योगी' ध्यानयोगके अधिकारीका वाचक है, न कि सिद्ध योगीका।

प्रश्न—यहाँ 'एकाकी' विशेषण किसलिये दिया गया है?

उत्तर—बहुत-से मनुष्योंके समूहमें तो ध्यानका अभ्यास अत्यन्त कठिन है ही, एक भी दूसरे पुरुषका रहना बातचीत आदिके निमित्तसे ध्यानमें बाधक हो जाता है। अतएव अकेले रहकर ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। इसीलिये 'एकाकी' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—एकान्त स्थानमें स्थित होनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—वन, पर्वतगुफा आदि एकान्त देश ही ध्यानके लिये उपयुक्त है। जहाँ बहुत लोगोंका आना-जाना हो, वैसे स्थानमें ध्यानयोगका साधन नहीं बन सकता। इसीलिये ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ 'आत्मा' शब्द किसका वाचक है और उसको परमेश्वरके ध्यानमें लगाना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'आत्मा' शब्द मन-बुद्धिरूप अन्तःकरणका वाचक है और मन-बुद्धिको परमेश्वरमें तन्मय कर देना ही—उसको परमेश्वरके ध्यानमें लगाना है।

प्रश्न—'सततम्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'सततम्' पद 'युञ्जीत' क्रियाका विशेषण है और निरन्तरताका वाचक है। इसका अभिप्राय यह है कि ध्यान करते समय जरा भी अन्तराय न आने देना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर परमेश्वरका ध्यान करते रहना चाहिये, जिसमें ध्यानका तार टूटने ही न पावे।

सम्बन्ध—जितात्मा पुरुषको ध्यानयोगका साधन करनेके लिये कहा गया। अब उस ध्यानयोगका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए पहले स्थान और आसनका वर्णन करते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥११॥

शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं—ऐसे अपने आसनको, न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा, स्थिर स्थापन करके—॥११॥

प्रश्न—'शुचौ देशे' का क्या भाव है?

उत्तर—ध्यानयोगका साधन करनेके लिये ऐसा स्थान होना चाहिये, जो स्वभावसे ही शुद्ध हो और झाड़-बुहारकर, लीप-पोतकर अथवा धो-पोंछकर स्वच्छ और निर्मल बना लिया गया हो। गङ्गा, यमुना या अन्य किसी पवित्र नदीका तीर, पर्वतकी गुफा, देवालय, तीर्थस्थान अथवा बगीचे आदि, पवित्र वायुमण्डलयुक्त स्थानोंमेंसे जो सुगमतासे प्राप्त हो सकता हो और स्वच्छ, पवित्र तथा एकान्त हो—ध्यानयोगके लिये साधकको ऐसा ही कोई एक स्थान चुन लेना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'आसनम्' पद किसका वाचक है और उसके साथ 'नात्युच्छ्रितम्', 'नातिनीचम्' और 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' इस प्रकार तीन विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—काठ या पत्थरके बने हुए पाटे या चौकीको—जिसपर मनुष्य स्थिर भावसे बैठ सकता हो—यहाँ आसन कहा गया है। वह आसन यदि बहुत ऊँचा हो तो ध्यानके समय विघ्नरूपमें आलस्य या निद्रा आ जानेपर उससे गिरकर चोट लगनेका डर रहता है; और यदि अत्यन्त नीचा हो तो जमीनकी सरदी-गरमीसे एवं चींटी आदि सूक्ष्म जीवोंसे विघ्न होनेका डर रहता है। इसलिये 'नात्युच्छ्रितम्' और 'नातिनीचम्' विशेषण देकर यह बात कही गयी है कि वह आसन न बहुत ऊँचा होना चाहिये और न बहुत नीचा ही। काठ या पत्थरका आसन कड़ा रहता है, उसपर बैठनेसे पैरोंमें पीड़ा होनेकी सम्भावना है; इसलिये 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' विशेषण देकर यह बात समझायी गयी है कि उसपर पहले कुशा, फिर मृगचर्म और उसपर कपड़ा बिछाकर उसे कोमल बना लेना चाहिये। मृगचर्मके* नीचे

* मृगचर्म अपनी मौतसे मरे हुए मृगका होना चाहिये, जान-बूझकर मारे हुए मृगका नहीं होना चाहिये। हिंसासे प्राप्त चर्म साधनमें सहायक नहीं हो सकता।

कुशा रहनेसे वह शीघ्र खराब नहीं होगा और ऊपर कपड़ा रहनेसे उसके रोम शरीरमें नहीं लगेंगे। इसीलिये तीनोंके बिछानेका विधान किया गया है।

प्रश्न—'आत्मनः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त आसन अपना ही होना चाहिये। ध्यानयोगका साधन करनेके लिये किसी दूसरेके आसन-पर नहीं बैठना चाहिये।

प्रश्न—'स्थिरं प्रतिष्ठाप्य' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—काठ या पत्थरके बने हुए उपर्युक्त आसनको पृथ्वीपर भलीभाँति जमाकर टिका देना चाहिये, जिससे वह हिलने-डुलने न पावे; क्योंकि आसनके हिलने-डुलनेसे या खिसक जानेसे साधनमें विघ्न उप-स्थित होनेकी सम्भावना है।

सम्बन्ध—पवित्र स्थानमें आसन स्थापन करनेके बाद ध्यानयोगके साधकको क्या करना चाहिये, अब उसे बतलाते हैं—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें करके, तथा मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ॥ १२ ॥

प्रश्न—यहाँ आसनपर बैठनेका कोई खास प्रकार न बतलाकर सामान्यभावसे ही बैठनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'ध्यानयोग' के साधनके लिये बैठनेमें जिन नियमोंकी आवश्यकता है, उनका स्पष्टीकरण अगले श्लोकमें किया गया है। उनका पालन करते हुए, जो साधक स्वस्तिक, सिद्ध या पद्म आदि आसनोंमेंसे जिस आसनसे सुखपूर्वक अधिक समयतक स्थिर बैठ सकता हो, उसके लिये वही उपयुक्त है। इसीलिये यहाँ किसी आसन-विशेषका वर्णन न करके सामान्य-भावसे बैठनेके लिये ही कहा गया है।

प्रश्न—'यतचित्तेन्द्रियक्रियः' का क्या अभि-प्राय है ?

उत्तर—'चित्त' शब्द अन्तःकरणका बोधक है। मन और बुद्धिसे जो सांसारिक विषयोंका चिन्तन और निश्चय किया जाता है, उसका सर्वथा त्याग करके उनसे उपरत हो जाना ही अन्तःकरणकी क्रिया-को जीतना है। तथा 'इन्द्रिय' शब्द श्रवण आदि दसों इन्द्रियोंका बोधक है। इन सबको सुनने, देखने आदिसे रोक लेना ही उनकी क्रियाओंको जीतना है।

प्रश्न—मनको एकाग्र करना क्या है ?

उत्तर—ध्येय वस्तुमें मनकी वृत्तियोंको भलीभाँति लगा देना ही उसको एकाग्र करना है। यहाँ प्रकरणके अनुसार परमेश्वर ही ध्येय वस्तु हैं। अतएव यहाँ उन्हींमें मन लगानेके लिये कहा गया है। इसीलिये चौदहवें श्लोकमें 'मच्चित्तः' विशेषण देकर भगवान्‌ने इसी बातको स्पष्ट किया है।

प्रश्न—अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ध्यानयोगका अभ्यास करना चाहिये, इस कथनका क्या अभि-प्राय है ?

उत्तर—इसका अभिप्राय यह है कि ध्यानयोगके

अभ्यासका उद्देश्य किसी प्रकारकी सांसारिक सिद्धि या ऐश्वर्यको प्राप्त करना नहीं होना चाहिये। एकमात्र परमात्माको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही अन्तःकरणमें स्थित राग-द्वेष आदि अवगुणों और पापोंका, तथा विक्षेप एवं अज्ञानका नाश करनेके लिये ध्यानयोगका अभ्यास करना चाहिये।

प्रश्न—योगका अभ्यास करना क्या है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर, अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें करके और मनको परमेश्वरमें लगाकर निरन्तर अविच्छिन्नभावसे परमेश्वरका ही चिन्तन करते रहना—यही 'योग' का अभ्यास करना है।

सम्बन्ध—आसनपर बैठकर ध्यानयोगका साधन करनेके लिये कहा गया। अब उसीका स्पष्टीकरण करनेके लिये आसनपर कैसे बैठना चाहिये, साधकका भाव कैसा होना चाहिये, उसे किन-किन नियमोंका पालन करना चाहिये और किस प्रकार किसका ध्यान करना चाहिये, इत्यादि बातें दो श्लोकोंमें बतलायी जाती हैं—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर * होकर, अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ—॥ १३ ॥

प्रश्न—काया, सिर और गलेको 'सम' और 'अचल' धारण करना क्या है ?

उत्तर—यहाँ, जङ्घासे ऊपर और गलेसे नीचेके स्थानका नाम 'काया' है, गलेका नाम 'ग्रीवा' है और उससे ऊपरके अङ्गका नाम 'शिर' है। कमर या पेटको आगे-पीछे या दाहिने-बायें किसी ओर भी न झुकाना, अर्थात् रीढ़की हड्डीको सीधी रखना, गलेको भी किसी ओर न झुकाना और सिरको भी इधर-उधर न घुमाना—इस प्रकार तीनोंको एक सूतमें सीधा रखते हुए जरा भी न हिलने-डुलने देना, यही इन सबको 'सम' और 'अचल' धारण करना है।

प्रश्न—काया आदिके अचल धारण करनेके लिये कह देनेके बाद फिर स्थिर होनेके लिये क्यों कहा गया ? क्या इसमें कोई नयी बात है ?

उत्तर—काया, सिर और गलेको सम और अचल रखनेपर भी हाथ-पैर आदि दूसरे अङ्ग तो हिल ही सकते हैं। उनके लिये तो कुछ कहा नहीं गया। इसीलिये स्थिर होनेको कहा गया है। अभिप्राय यह है कि ध्यानके समय हाथ-पैरोंको किसी भी आसनके नियमानुसार रक्खा जा सकता है, पर उन्हें 'स्थिर' अवश्य रखना चाहिये। किसी भी अङ्गका हिलना ध्यानके लिये उपयुक्त नहीं है।

प्रश्न—'नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर अन्य दिशाओंको न देखता हुआ' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—दृष्टिको अपने नाककी नोकपर जमा रखना चाहिये। न तो नेत्रोंको बंद करना चाहिये और न इधर-उधर अन्य किसी अङ्गको या वस्तुको ही देखना चाहिये। नासिकाके अग्रभागको भी मन लगाकर 'देखना' विधेय नहीं है। विक्षेप न हो, इसलिये केवल दृष्टिमात्रको ही वहाँ लगाना है। मनको तो परमेश्वरमें लगाना है, न कि नाककी नोकपर !

* 'स्थिरसुखमासनम्' (योगद० २। ४६) 'अधिक कालतक सुखपूर्वक स्थिर बैठा जाय उसे आसन कहते हैं।'

प्रश्न—इस प्रकार आसन लगाकर बैठनेके लिये भगवान्ने क्यों कहा ?

उत्तर—ध्यानयोगके साधनमें निद्रा, आलस्य, विक्षेप एवं शीतोष्णादि द्वन्द्व विघ्न माने गये हैं। इन दोषोंसे बचनेका यह बहुत ही अच्छा उपाय है। काया, सिर और गलेको सीधा तथा नेत्रोंको खुला रखनेसे आलस्य और निद्राका आक्रमण नहीं हो सकता। नाककी नोकपर दृष्टि लगाकर इधर-उधर अन्य वस्तुओंको न देखनेसे बाह्य विक्षेपोंकी सम्भावना नहीं रहती और आसनके दृढ़ हो जानेसे शीतोष्णादि द्वन्द्वोंसे भी बाधा होनेका भय नहीं रहता। इसलिये ध्यानयोगका साधन करते समय इस प्रकार आसन लगाकर बैठना बहुत ही उपयोगी है। इसीलिये भगवान्ने ऐसा कहा है।

प्रश्न—इन तीनों श्लोकोंमें जो आसनकी विधि बतलायी गयी है, वह सगुण परमेश्वरके ध्यानके लिये है या निर्गुण ब्रह्मके ?

उत्तर—ध्यान सगुणका हो या निर्गुण ब्रह्मका, वह तो रुचि और अधिकार-भेदकी बात है। आसनकी यह विधि तो सभीके लिये आवश्यक है।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको वशमें करके मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे ॥ १४ ॥

प्रश्न—यहाँ ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित रहना क्या है ?

उत्तर—ब्रह्मचर्यका तात्त्विक अर्थ दूसरा होनेपर भी, वीर्यधारण उसका एक प्रधान अर्थ है; और यहाँ वीर्यधारण अर्थ ही प्रसङ्गानुकूल भी है। मनुष्यके शरीरमें वीर्य ही एक ऐसी अमूल्य वस्तु है जिसका भलीभाँति संरक्षण किये बिना शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक—किसी प्रकारका भी बल न तो प्राप्त होता है और न उसका सञ्चय ही होता है। इसीलिये आर्यसंस्कृतिके चारों आश्रमोंमें ब्रह्मचर्य प्रथम आश्रम है, जो तीनों आश्रमोंकी नींव है। ब्रह्मचर्य-आश्रममें ब्रह्मचारीके लिये बहुत-से नियम होते हैं, जिनके पालनसे वीर्यधारणमें बड़ी भारी सहायता मिलती है। ब्रह्मचर्यके पालनसे यदि वास्तवमें वीर्य भलीभाँति धारण हो जाय तो उस वीर्यसे शरीरके अंदर एक विलक्षण विद्युत्-शक्ति उत्पन्न होती है और उसका तेज इतना शक्तिशाली होता है कि उस तेजके कारण अपने-आप ही प्राण और मनकी गति स्थिर हो जाती है और चित्तका एकतान प्रवाह ध्येय वस्तुकी ओर स्वाभाविक ही होने लगता है। इस एकतानताका नाम ही ध्यान है। आजकल चेष्टा करनेपर भी लोग जो ध्यान नहीं कर पाते, उनका चित्त ध्येय वस्तुमें नहीं लगता, इसका एक मुख्यतम कारण यह भी है कि उन्होंने वीर्य-धारण नहीं किया है। यद्यपि विवाह होनेपर अपनी पत्नीके साथ संयमपूर्ण नियमित जीवन बिताना भी ब्रह्मचर्य ही है और उससे भी ध्यानमें बड़ी सहायता मिलती है; परन्तु जिसने पहलेसे ही ब्रह्मचारीके नियमोंका सुचारुरूपसे पालन किया है और ध्यानयोगकी साधनाके समयतक जिसके शुक्रका बाह्यरूपमें किसी प्रकार भी क्षरण नहीं हुआ है, उसको ध्यानयोगमें बहुत शीघ्र और बड़ी सुविधाके साथ सफलता मिल सकती है। मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमें तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें ब्रह्मचारीके लिये पालनीय व्रतोंका बड़ा सुन्दर विधान किया गया है, उनमें प्रधान ये हैं—

'ब्रह्मचारी नित्य स्नान करे, उबटन न लगावे, सुरमा न डाले, तेल न लगावे, इत्र-फुलेल आदि सुगन्धित वस्तुओंका व्यवहार न करे, फूलोंके हार और गहने न पहने, नाचना-गाना-बजाना न करे, जूते न पहने, छाता न लगावे, पलंगपर न सोवे, जूआ न खेले, स्त्रियोंको न देखे, स्त्रीसम्बन्धी चर्चातक कभी न करे, नियमित सादा भोजन करे, कोमल वस्त्र न पहने, देवता, ऋषि और गुरुका पूजन-सेवन करे, किसीसे विवाद न करे, किसीकी निन्दा न करे, सत्य बोले, किसीका तिरस्कार न करे, अहिंसाव्रतका पूर्ण पालन करे, काम, क्रोध और लोभका सर्वथा त्याग कर दे, अकेला सोवे, वीर्यपात कभी न होने दे और इन सब व्रतोंका भलीभाँति पालन करे ।' ये ब्रह्मचारीके व्रत हैं । भगवान्ने यहाँ 'ब्रह्मचारिव्रत'की बात कहकर आश्रमधर्मकी ओर भी संकेत किया है । जो अन्य आश्रमी लोग ध्यानयोगका साधन करते हैं, उनके लिये भी वीर्यधारण या वीर्यसंरक्षण बहुत ही आवश्यक है और वीर्यधारणमें उपर्युक्त नियम बड़े सहायक हैं । यही ब्रह्मचारीका व्रत है और दृढ़तापूर्वक इसका पालन करना ही उसमें स्थित होना है ।

प्रश्न—'विगतभीः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—परमात्मा सर्वत्र हैं और ध्यानयोगी परमात्माका ध्यान करके उन्हें देखना चाहता है, फिर वह डरे क्यों ? अतएव ध्यान करते समय साधकको निर्भय रहना चाहिये । मनमें जरा भी भय रहेगा तो एकान्त और निर्जन स्थानमें स्वाभाविक ही चित्तमें विक्षेप हो जायगा । इसलिये साधकको उस समय मनमें यह दृढ़ सत्य धारणा कर लेनी चाहिये कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् हैं और सर्वव्यापी होनेके कारण यहाँ भी सदा हैं ही, उनके रहते किसी बातका भय नहीं है । यदि कदाचित् प्रारब्धवश ध्यान करते-करते मृत्यु हो जाय, तो उससे भी परिणाममें परम कल्याण ही होगा ! सच्चा ध्यानयोगी इस विचारपर दृढ़ रहता है, इसीसे उसे 'विगतभीः' कहा गया है । श्रुति कहती है—

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ॥'
(तै० उ० २।९)

'आनन्दमय ब्रह्मको जाननेवाला किसीसे भय नहीं करता ।'

प्रश्न—'प्रशान्तात्मा'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ध्यान करते समय मनसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि दूषित वृत्तियोंको तथा सांसारिक संकल्प-विकल्पोंको सर्वथा दूर कर देना चाहिये । वैराग्यके द्वारा मनको सर्वथा निर्मल और शान्त करके ध्यानयोगका साधन करना चाहिये । यही भाव दिखलानेके लिये 'प्रशान्तात्मा' विशेषण दिया गया है ।

प्रश्न—'युक्तः' विशेषणका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ध्यान करते समय साधकको निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदि विघ्नोंसे बचनेके लिये खूब सावधान रहना चाहिये । ऐसा न करनेसे मन और इन्द्रियाँ उसे धोखा देकर ध्यानमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित कर सकती हैं । इसी बातको दिखलानेके लिये 'युक्तः' विशेषण दिया गया है ।

प्रश्न—मनको वशमें करना क्या है ?

उत्तर—एक जगह न रुकना और रोकते-रोकते भी बलात्कारसे विषयोंमें चले जाना मनका स्वभाव है । इस मनको वशमें किये विना ध्यानयोगका साधन नहीं बन सकता (६।३६) । इसलिये ध्यान करते समय मनको बाह्य विषयोंसे भलीभाँति हटाकर उसे अपने लक्ष्यकी ओर पूर्ण रूपसे लगाया जा सके, साधकोंको मनपर इतना अधिकार अवश्य प्राप्त करना चाहिये । इसीका नाम मनको वशमें करना है ।

प्रश्न—'मच्चित्तः' का क्या भाव है ?

उत्तर—ध्येय वस्तुमें चित्तके एकतान प्रवाहका नाम ध्यान है; वह ध्येय वस्तु क्या होनी चाहिये, यही बतलानेके लिये भगवान् कहते हैं कि तुम अपने चित्तको मुझमें लगाओ। चित्त सहज ही उस वस्तुमें लगता है, जिसमें यथार्थ प्रेम होता है; इसलिये ध्यान-योगीको चाहिये कि वह परम हितैषी, परम सुहृद्, परम प्रेमास्पद परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, सम्पूर्ण जगत्से प्रेम हटाकर, एकमात्र उन्हींको अपना ध्येय बनावे और अनन्यभावसे चित्तको उन्हींमें लगानेका अभ्यास करे।

प्रश्न—भगवान्के परायण होना क्या है ?

उत्तर—जो परमेश्वरको अपना ध्येय बनाकर उनके ध्यानमें चित्त लगाना चाहते हैं, वे उन्हींके परायण भी होंगे ही। अतएव 'मत्परः' पदसे भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि ध्यानयोगके साधकको यह चाहिये कि वह मुझको (भगवान्को) ही परम गति, परम ध्येय, परम आश्रय और परम महेश्वर तथा सबसे बढ़कर प्रेमास्पद मानकर निरन्तर मेरे ही आश्रित रहे और मुझीको अपना एकमात्र परम रक्षक, सहायक, स्वामी तथा जीवन, प्राण और सर्वस्व मानकर मेरे प्रत्येक विधानमें परम सन्तुष्ट रहे। इसीका नाम 'भगवान्के परायण' होना है।

प्रश्न—इस श्लोकमें बतलाया हुआ ध्यान सगुण परमेश्वरका है या निर्गुण ब्रह्मका ? और उस ध्यानको भेदभावसे करनेके लिये कहा गया है या अभेदभावसे ?

उत्तर—इस श्लोकमें 'मच्चित्तः' और 'मत्परः' पदोंका प्रयोग हुआ है और यह कर्मयोगका ही प्रकरण है। अतएव यहाँ निर्गुण ब्रह्मके तथा अभेदभावके ध्यानकी बात नहीं प्रतीत होती। इसलिये यही जान पड़ता है कि यहाँ उपास्य और उपासकका भेद रखते हुए सगुण परमेश्वरके ध्यानकी ही रीति बतलायी गयी है।

प्रश्न—यहाँ सगुणके ध्यानकी रीति बतलायी गयी है, यह तो ठीक है; परन्तु यह सगुण-ध्यान सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वरके निराकार रूपका है, या भगवान् श्रीशंकर, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण-प्रभृति साकाररूपों-मेंसे किसी एकका है ?

उत्तर—भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य*को समझकर मनुष्य अपनी रुचि, स्वभाव और अधिकार-के अनुसार जिस रूपमें सुगमतासे मन लगा सके, वह

---

* वस्तुतः भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यके लिये यह कहना तो बन ही नहीं सकता कि वे यही और इतने ही हैं। इस सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा जाता है, सब सूर्यको दीपक दिखलानेके समान ही है। तथापि उनके गुणादिका किञ्चित्-सा स्मरण, श्रवण और कीर्त्तन मनुष्यको पवित्रतम बनानेवाला है, इसीसे उनके गुणादिका शास्त्रकारगण वर्णन करते हैं। उन्हीं शास्त्रोंके आधारपर उनके गुणादिको इस प्रकार समझना चाहिये—

अनन्त और असीम तथा अत्यन्त ही विलक्षण समता, शान्ति, दया, प्रेम, क्षमा, माधुर्य, वात्सल्य, गम्भीरता, उदारता, सुहृदतादि भगवान्के 'गुण' हैं। सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, सामर्थ्य और असम्भवको भी सम्भव कर देना आदि भगवान्के 'प्रभाव' हैं। जैसे परमाणु, भाप, बादल, बूँदें और ओले आदि सब जल ही हैं, वैसे ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड-चेतन, स्थावर-जंगम, सत्-असत् आदि जो कुछ भी है तथा जो इससे भी परे है, वह सब भगवान् ही है। यह 'तत्त्व' है। भगवान्के दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, कीर्त्तन, अर्चन, वन्दन और स्तवन आदिसे पापी भी परम पवित्र हो जाते हैं; अज, अविनाशी, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र समभावसे स्थित भगवान् ही दिव्य अवतार धारण करके प्रकट होते हैं और उनके दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व आदि वस्तुतः इतने अचिन्त्य, असीम और दिव्य हैं कि उनके अपने सिवा उन्हें अन्य कोई जान ही नहीं सकता। यह उनका 'रहस्य' है।

उसी रूपका ध्यान कर सकता है। क्योंकि भगवान् एक हैं और सभी रूप उनके हैं। अतएव ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये कि यहाँ अमुक रूपविशेषके ध्यानके लिये ही कहा गया है।

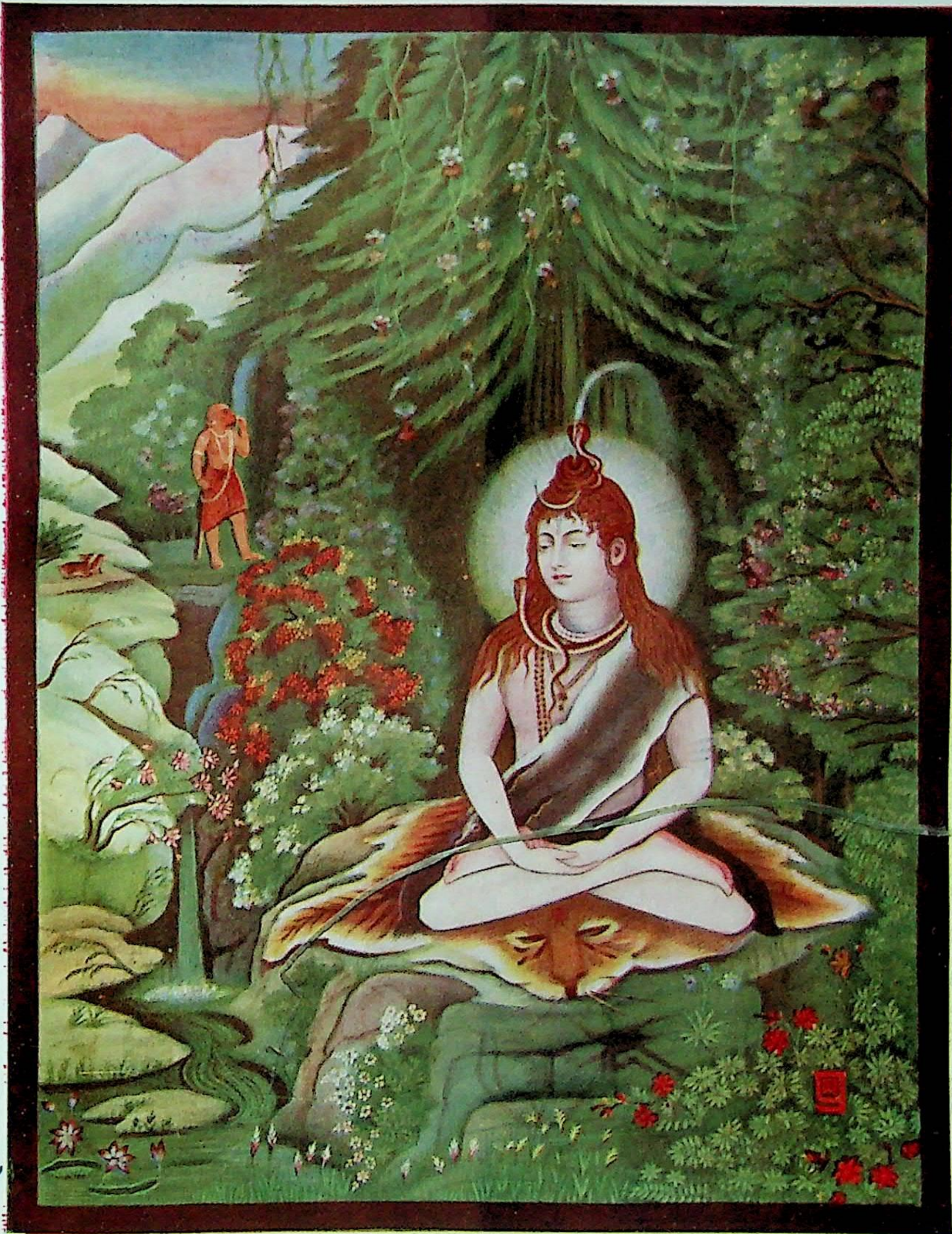
अब यहाँ साधकोंकी जानकारीके लिये ध्यानके कुछ स्वरूपोंका वर्णन किया जाता है।

ध्यानस्थ भगवान् शङ्करका ध्यान

हिमालयके गौरीशंकर शिखरपर सर्वथा एकान्त देशमें भगवान् शिव ध्यान लगाये पद्मासनसे विराजित हैं; उनका शरीर अत्यन्त गौरवर्ण है, उसपर हल्की-सी लालिमा छायी है। उनके शरीरका ऊपरका भाग निश्चल, सीधा और समुन्नत है। विशाल भालपर भस्मका सुन्दर त्रिपुण्ड्र शोभित हो रहा है, पिङ्गलवर्णका जटाजूट चूड़ाके समान ऊँचा करके सर्पके द्वारा बाँधा हुआ है। दोनों कानोंमें रुद्राक्षमाला है। ओढ़ी हुई रीछकी काली मृगछालाकी श्यामता नीलकण्ठकी प्रभासे और भी घनीभूत हो रही है। उनके तीनों नेत्र नासिकाके अग्रभागपर सुस्थिर हैं और इन नासिकाग्रपर स्थित नीचेकी ओर झुके हुए स्थिर और निस्पन्द नेत्रोंसे उज्ज्वल ज्योति निकलकर इधर-उधर छिटक रही है। दोनों हाथ गोदमें रक्खे हुए हैं, ऐसा जान पड़ता है मानो कमल खिल गया हो। उन्होंने समाधि अवस्थामें देहके अंदर रहनेवाले वायुसमूहको निरुद्ध कर रक्खा है, जिसे देखकर जान पड़ता है मानो वे जलपूर्ण और आडम्बर-रहित बरसनेवाले बादल हैं अथवा तरङ्गहीन प्रशान्त महासागर हैं, या निर्वात देशमें स्थित निष्कल ज्योतिर्मय दीपक हैं!

भगवान् विष्णुका ध्यान

अपने हृदयकमलपर या अपने सामने जमीनसे कुछ ऊँचेपर स्थित एक रक्तवर्णके सहस्रदल कमलपर भगवान् श्रीविष्णु सुशोभित हैं। नीलमेघके समान मनोहर नीलवर्ण है, सभी अंग परम सुन्दर हैं और भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे विभूषित हैं। श्रीअंगसे दिव्य गन्ध निकल रही है। अति शान्त और महान् सुन्दर मुखारविन्द है। विशाल और मनोहर चार लंबी भुजाएँ हैं। अत्यन्त सुन्दर और रमणीय ग्रीवा है, परम सुन्दर गोल कपोल हैं, मुखमण्डल मनोहर मन्द मुसकानसे सुशोभित है, लाल-लाल होंठ और अति सुन्दर नुकीली नासिका है। दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल झलमला रहे हैं। मनोहर चिबुक है। कमलके समान विशाल और प्रफुल्लित नेत्र हैं और उनसे स्वाभाविक ही दया, प्रेम, शान्ति, समता, ज्ञान, आनन्द और प्रकाशकी अजस्र धारा बह रही है। उन्नत कंधे हैं। मेघश्याम नील-पद्मवर्ण शरीरपर सुवर्णवर्ण पीताम्बर शोभायमान हैं। लक्ष्मीजीके निवासस्थान वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। दाहिने ऊपरके हाथमें सुन्दर अत्यन्त उज्ज्वल किरणोंसे युक्त चक्र है, नीचेके हाथमें कौमोदकी गदा है, बायें ऊपरके हाथमें सुन्दर श्वेत विशाल और विजयी पाञ्चजन्य शंख है और नीचेके हाथमें सुन्दर रक्तवर्ण कमल सुशोभित है। गलेमें रत्नोंका हार है, हृदयपर तुलसीयुक्त वनमाला, वैजयन्ती माला और कौस्तुभमणि विभूषित हैं। चरणोंमें रत्नजटित बजनेवाले नूपुर हैं और मस्तकपर देदीप्यमान किरीट है। विशाल, उन्नत और प्रकाशमान ललाटपर मनोहर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक है, हाथोंमें रत्नोंके कड़े, कमरमें रत्नजटित करधनी, भुजाओंमें बाजूबंद और हाथोंकी अँगुलियोंमें रत्नोंकी अँगूठियाँ सुशोभित हैं। काले घुँघराले केश बड़े ही मनोहर हैं। चारों ओर करोड़ों सूर्योंका-सा परन्तु शीतल प्रकाश छा रहा है और उसमेंसे आनन्दका अपार सागर उमड़ा चला आ रहा है।



ध्यानमग्न भगवान् शंकर

भगवान् श्रीरामका ध्यान

अत्यन्त सुन्दर मणिरत्नमय राज्यसिंहासन है, उसपर भगवान् श्रीरामचन्द्र श्रीसीताजीसहित विराजित हैं। नवीन दूर्वादलके समान श्यामवर्ण है, कमलदलके समान विशाल नेत्र हैं, बड़ा ही सुन्दर मुखमण्डल है, विशाल भालपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक है। घुँघराले काले केश हैं। मस्तकपर करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशयुक्त मुकुट सुशोभित है, मुनिमनमोहन महान् लावण्य है, दिव्य अंगपर पीताम्बर विराजित हैं। गलेमें रत्नोंके हार और दिव्य पुष्पोंकी माला है। देहपर चन्दन लगा है। हाथोंमें धनुष-बाण लिये हैं, लाल होंठ हैं, उनपर मीठी मुसकानकी छवि छा रही है। बायीं ओर श्रीसीताजी विराजिता हैं। इनका उज्ज्वल स्वर्णवर्ण है, नीली साड़ी पहने हुए हैं, करकमलमें रक्तकमल धारण किये हैं। दिव्य आभूषणोंसे सब अंग विभूषित हैं। बड़ी ही अपूर्व और मनोरम झाँकी है।

भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान

(१)

वृन्दावनमें श्रीयमुनाजीका तीर है, अशोक वृक्षोंके नये-नये पत्तोंसे सुशोभित कालिन्दीकुञ्जमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओंके साथ विराजमान हैं, नवीन मेघके समान श्याम आभायुक्त नीलवर्ण है। श्यामशरीर-पर सुवर्णवर्ण पीत वस्त्र ऐसा जान पड़ता है मानो श्याम घनघटामें इन्द्रधनुष शोभित हो। गलेमें सुन्दर वनमाला है, उससे सुन्दर पुष्पोंकी और तुलसीजीकी सुगन्ध आ रही है। हृदयपर वैजयन्ती माला सुशोभित है। सुन्दर काली घुँघराली अलकें हैं, जो कपोलोंतक लटकी हुई हैं। अत्यन्त रमणीय और त्रिभुवनमोहन मुखारविन्द है। बड़ी ही मधुर हँसी हँस रहे हैं। मस्तकपर मोरकी पाँखोंका मुकुट पहने हैं, कानोंमें कुण्डल झलमला रहे हैं, सुन्दर गोल कपोल कुण्डलोंके प्रकाशसे चमक रहे हैं। अंग-अंगसे सुन्दरता निखर रही है। कानोंमें कनेरके फूल धारण किये हुए हैं, अद्भुत धातुओंसे और चित्र-विचित्र नवीन पल्लवोंसे शरीरको सजा रक्खा है। वक्षः-स्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है, गलेमें कौस्तुभमणि है। भौंहें खिंची हुई हैं, लाल-लाल होंठ बड़े ही कोमल और सुन्दर हैं। बाँके और विशाल कमल-से नेत्र हैं, उनमेंसे आनन्द और प्रेमकी विद्युत्धारा निकल-निकलकर सबको अपनी ओर आकर्षित कर रही है, जिसके कारण सबके हृदयोंमें आनन्द और प्रेमका समुद्र-सा उमड़ रहा है। मनोहर त्रिभंगरूपसे खड़े हैं तथा अपनी चञ्चल और कोमल अंगुलियोंको वंशीके छिद्रोंपर फिराते हुए बड़े ही मधुरस्वरसे उसे बजा रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान

(२)

कुरुक्षेत्रका रणाङ्गण है, चारों ओर वीरोंके समूह युद्धके लिये यथायोग्य खड़े हैं। वहाँ अर्जुनका परम तेजोमय विशाल रथ है। रथकी विशाल ध्वजामें चन्द्रमा और तारे चमक रहे हैं। ध्वजापर महावीर श्रीहनुमान्‌जी विराजमान हैं, अनेकों पताकाएँ फहरा रही हैं। रथपर आगेके भागपर भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं; नील श्यामवर्ण है, सुन्दरताकी सीमा हैं, वीरवेष हैं, कवच पहने हुए हैं, देहपर पीताम्बर शोभा पा रहा है। मुखमण्डल अत्यन्त शान्त है। ज्ञानकी परम दीप्तिसे सब अंग जगमगा रहे हैं। विशाल और रक्ताभ नेत्रोंसे ज्ञानकी ज्योति निकल रही है। एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम है और दूसरा हाथ ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है। बड़ी ही शान्ति और धीरताके साथ अर्जुनको गीताका महान् उपदेश दे रहे हैं। होठोंपर मधुर मुसुकान छिटक रही है। नेत्रोंसे संकेत कर-करके अर्जुनकी शंकाओंका समाधान कर रहे हैं।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे किये हुए ध्यानयोगके साधनका फल बतलाते हैं—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'योगी' के साथ 'नियतमानसः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसका मन—अन्तःकरण भलीभाँति वशमें किया हुआ है, उसे 'नियतमानस' कहते हैं । ऐसा साधक ही उपर्युक्त प्रकारसे ध्यानयोगका साधन कर सकता है, यही बात दिखलानेके लिये 'योगी' के साथ 'नियतमानसः' विशेषण दिया गया है ।

प्रश्न—इस प्रकार आत्माको निरन्तर परमेश्वरके स्वरूपमें लगाना क्या है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे मन-बुद्धिके द्वारा निरन्तर तैलधाराकी भाँति अविच्छिन्नभावसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करना और उसमें अटलभावसे तन्मय हो जाना ही आत्माको परमेश्वरके स्वरूपमें लगाना है ।

प्रश्न—'मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यह उसी शान्तिका वर्णन है जिसे नैष्ठिकी शान्ति (५ । १२), शाश्वती शान्ति (९ । ३१) और परा शान्ति (१८ । ६२) कहते हैं और जिसका परमेश्वरकी प्राप्ति, परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, परम गतिकी प्राप्ति आदि नामोंसे वर्णन किया जाता है । यह शान्ति अद्वितीय अनन्त आनन्दकी अवधि है और यह परम दयालु, परम सुहृद्, आनन्दनिधि, आनन्दस्वरूप भगवान्‌में नित्य-निरन्तर अचल और अटलभावसे निवास करती है । ध्यानयोगका साधक इसी शान्तिको प्राप्त करता है ।

सम्बन्ध—ध्यानयोगका प्रकार और फल बतलाया गया; अब ध्यानयोगके लिये उपयोगी आहार, विहार और शयनादिके नियम किस प्रकारके होने चाहिये—यह जाननेकी आकांक्षापर भगवान् उसे दो श्लोकोंमें कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खानेवालेका, न बिल्कुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न बहुत जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

प्रश्न—यहाँ 'योग' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—परमात्माकी प्राप्तिके जितने भी उपाय हैं, सभीका नाम 'योग' है । किन्तु यहाँ 'ध्यानयोग' का प्रसङ्ग है, इसलिये यहाँ 'योग' शब्दको 'ध्यानयोग' का ही वाचक समझना चाहिये ।

प्रश्न—बहुत खानेवालेका और बिल्कुल ही न खानेवालेका ध्यानयोग क्यों नहीं सिद्ध होता ?

उत्तर—ठूँस-ठूँसकर खा लेनेसे नींद और आलस्य बढ़ जाते हैं; साथ ही पचानेकी शक्तिसे अधिक, पेटमें पहुँचा हुआ अन्न भाँति-भाँतिके रोग उत्पन्न करता

है। इसी प्रकार जो अन्नका सर्वथा त्याग करके कोरे उपवास करने लगता है, उसके इन्द्रिय, प्राण और मनकी शक्तिका बुरी तरह ह्रास हो जाता है; ऐसा होनेपर न तो आसनपर ही स्थिररूपसे बैठा जा सकता है और न परमेश्वरके स्वरूपमें मन ही लगाया जा सकता है। इस प्रकार ध्यानके साधनमें विघ्न उपस्थित हो जाता है। इसलिये ध्यानयोगीको न तो आवश्यकतासे और पचानेकी शक्तिसे अधिक खाना ही चाहिये और न कोरा उपवास ही करना चाहिये।

प्रश्न—बहुत सोनेवाले और बहुत जागनेवालेका ध्यानयोग सिद्ध नहीं होता, इसमें क्या हेतु है?

उत्तर—उचित मात्रामें नींद ली जाय तो उससे थकावट दूर होकर शरीरमें ताजगी आती है; परन्तु वही नींद यदि आवश्यकतासे अधिक ली जाय तो उससे तमोगुण बढ़ जाता है, जिससे अनवरत आलस्य घेरे रहता है और स्थिर होकर बैठनेमें कष्ट मालूम होता है। इसके अतिरिक्त अधिक सोनेमें मानवजीवनका अमूल्य समय तो नष्ट होता ही है। इसी प्रकार अधिक जागनेसे थकावट बनी रहती है। कभी ताजगी नहीं आती। शरीर, इन्द्रिय और प्राण शिथिल हो जाते हैं, शरीरमें कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं और सब समय नींद तथा आलस्य सताया करते हैं। इस प्रकार बहुत सोना और बहुत जागना दोनों ही ध्यानयोगके साधनमें विघ्न करनेवाले होते हैं। अतएव ध्यानयोगीको, शरीर स्वस्थ रहे और ध्यानयोगके साधनमें विघ्न उपस्थित न हो—इस उद्देश्यसे अपने शरीरकी स्थिति, प्रकृति, स्वास्थ्य और अवस्थाका खयाल रखते हुए न तो आवश्यकतासे अधिक सोना ही चाहिये, और न जबरदस्ती नींदका त्याग ही करना चाहिये।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥१७॥

प्रश्न—युक्त आहार-विहार करनेवाला किसे कहते हैं?

उत्तर—खान-पानकी वस्तुओंका नाम आहार है, और चलने-फिरनेकी क्रियाका नाम विहार है। ये दोनों जिसके उचित स्वरूपमें और उचित परिमाणमें हों, उसे युक्त आहार-विहार करनेवाला कहा जाता है। खाने-पीनेकी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिये जो अपने वर्ण और आश्रमधर्मके अनुसार सत्य और न्यायके द्वारा प्राप्त हों, शास्त्रानुकूल, सात्त्विक हों (१७।८), रजोगुण और तमोगुणको बढ़ानेवाली न हों, पवित्र हों, अपनी प्रकृति, स्थिति और रुचिके प्रतिकूल न हों तथा योगसाधनमें सहायता देनेवाली हों। उनका परिमाण भी उतना ही परिमित होना चाहिये, जितना अपनी शक्ति, स्वास्थ्य और साधनकी दृष्टिसे हितकर एवं आवश्यक हो। इसी प्रकार घूमना-फिरना भी उतना ही चाहिये जितना अपने लिये आवश्यक और हितकर हो।

ऐसे नियमित और उचित आहार-विहारसे शरीर, इन्द्रिय और मनमें सत्त्वगुण बढ़ता है, तथा उनमें निर्मलता, प्रसन्नता और चेतनताकी वृद्धि हो जाती है, जिससे ध्यानयोग सुगमतासे सिद्ध होता है।

प्रश्न—कर्मोंमें 'युक्त चेष्टा' करनेका क्या भाव है?

उत्तर--वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और वातावरण आदिके अनुसार जिसके लिये शास्त्रमें जो कर्तव्यकर्म बतलाये गये हैं, उन्हींका नाम कर्म है। उन कर्मोंका उचित स्वरूपमें और उचित मात्रामें यथायोग्य सेवन करना ही कर्मोंमें युक्त चेष्टा करना है। जैसे ईश्वर-भक्ति, देवपूजन, दीन-दुखियोंकी सेवा, माता-पिता आदि गुरुजनोंका पूजन, यज्ञ, दान, तप, जीविकानिर्वाहके कर्म और शौच-स्नानादि क्रियाएँ—ये सभी कर्म वे ही करने चाहिये, जो शास्त्र-विहित हों, साधु-सम्मत हों, किसीका अहित करनेवाले न हों, स्वावलम्बनमें सहायक हों, किसीको कष्ट पहुँचाने या किसीपर भार डालनेवाले न हों और ध्यानयोगमें सहायक हों। तथा इन कर्मोंका परिमाण भी उतना ही होना चाहिये, जितना जिसके लिये आवश्यक हो, जिससे न्यायपूर्वक शरीरनिर्वाह होता रहे और ध्यानयोगके लिये भी आवश्यकतानुसार पर्याप्त समय मिल जाय। ऐसा करनेसे शरीर, इन्द्रिय और मन स्वस्थ रहते हैं और ध्यानयोग सुगमतासे सिद्ध होता है।

प्रश्न--युक्त सोना और जागना क्या है ?

उत्तर--दिनके समय जागते रहना, रातके समय पहले तथा पिछले पहरमें जागना और बीचके दो पहरों-में सोना—साधारणतया इसीको उचित सोना-जागना माना जाता है। तथापि यह नियम नहीं है कि सबको बीचके छः घण्टे सोना ही चाहिये। ध्यानयोगीको अपनी प्रकृति और शरीरकी स्थितिके अनुकूल व्यवस्था कर लेनी चाहिये। रातको पाँच या चार ही घण्टे सोनेसे काम चल जाय, ध्यानके समय नींद या आलस्य न आवे और स्वास्थ्यमें किसी प्रकार गड़बड़ी न हो तो छः घण्टे न सोकर पाँच या चार ही घण्टे सोना चाहिये।

'युक्त' शब्दका यही भाव समझना चाहिये कि आहार, विहार, कर्म, सोना और जागना शास्त्रसे प्रतिकूल न हो और उतनी ही मात्रामें हो, जितना जिसकी प्रकृति, स्वास्थ्य और रुचिके खयालसे उपयुक्त और आवश्यक हो।

प्रश्न--'योग' के साथ 'दुःखहा' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर--'ध्यानयोग' सिद्ध हो जानेपर ध्यानयोगीको परमानन्द और परमशान्तिके अनन्त सागर परमेश्वरकी प्राप्ति हो जाती है, जिससे उसके सम्पूर्ण दुःख अपने कारणसहित सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं। फिर न तो उसे कभी भूलकर भी जन्म-मरणरूप संसार-दुःखका सामना करना पड़ता है और न उसे कभी स्वप्नमें भी चिन्ता, शोक, भय और उद्वेग आदि ही होते हैं। वह सर्वथा और सर्वदा आनन्दके महान् प्रशान्तसागरमें निमग्न रहता है। दुःखका आत्यन्तिक नाश करनेवाले इस फलका निर्देश करनेके लिये ही 'योग'के साथ 'दुःखहा' विशेषण दिया गया है।

सम्बन्ध--ध्यानयोगमें उपयोगी आहार-विहार आदि नियमोंका वर्णन करनेके बाद अब, साधन करते-करते जब साधक ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हो जाता है, उस समय उसके जो लक्षण होते हैं, उन्हें बतलाते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥ १८ ॥

प्रश्न—'चित्तम्' के साथ 'विनियतम्' विशेषण देनेका क्या प्रयोजन है ? और उसका परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित होना क्या है ?

उत्तर—भलीभाँति वशमें किया हुआ चित्त ही परमात्मामें अटलरूपसे स्थित हो सकता है, यही बात दिखलानेके लिये 'विनियतम्' विशेषण दिया गया है । ऐसे चित्तका प्रमाद, आलस्य और विक्षेपसे सर्वथा रहित होकर एकमात्र परमात्मामें ही निश्चलभावसे स्थित हो जाना—एक परमात्माके सिवा किसी भी वस्तुकी जरा भी स्मृति न रहना—यही उसका परमात्मामें भलीभाँति स्थित होना है ।

प्रश्न—सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित होना क्या है ?

उत्तर—परमशान्ति और परमानन्दके महान् समुद्र एकमात्र परमात्मामें ही अनन्य प्रेम और श्रद्धा हो जानेके कारण, एवं इस लोक और परलोकके अनित्य, क्षणिक और नाशवान् सम्पूर्ण भोगोंमें सर्वथा वैराग्य हो जानेके कारण किसी भी सांसारिक वस्तुकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता या आकांक्षाका न रहना ही—सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित होना है ।

प्रश्न—'युक्तः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'युक्तः' पद ध्यानयोगकी पूर्ण स्थितिका बोधक है । अभिप्राय यह है कि साधन करते-करते जब योगीमें उपर्युक्त दोनों लक्षण भलीभाँति प्रकट हो जायँ, तब समझना चाहिये कि वह ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हो चुका है ।

सम्बन्ध—वशमें किया हुआ चित्त ध्यानकालमें जब एकमात्र परमात्मामें ही अचल स्थित हो जाता है, उस समय उसकी कैसी अवस्था हो जाती है, यह जाननेकी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'दीप' शब्द किसका वाचक है और निश्चलताका भाव दिखलानेके लिये पर्वत आदि अचल पदार्थोंकी उपमा न देकर जीते हुए चित्तके साथ दीपककी उपमा देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'दीप' शब्द प्रकाशमान दीपशिखाका वाचक है । पर्वत आदि पदार्थ प्रकाशहीन हैं एवं स्वभावसे ही अचल हैं, इसलिये उनके साथ चित्तकी समानता नहीं है । परन्तु दीपशिखा चित्तकी भाँति प्रकाशमान और चञ्चल है, इसलिये उसीके साथ मनकी समानता है । जैसे वायु न लगनेसे दीपशिखा हिलती-डुलती नहीं, उसी प्रकार वशमें किया हुआ चित्त भी ध्यानकालमें सब प्रकारसे सुरक्षित होकर हिलता-डुलता नहीं, वह अविचल दीपशिखाकी भाँति समभावसे प्रकाशित रहता है । इसीलिये पर्वत आदि अप्रकाश अचल पदार्थोंकी उपमा न देकर दीपककी उपमा दी गयी है ।

प्रश्न—चित्तके साथ 'यत' शब्द न जोड़कर केवल 'चित्तस्य' कह देनेसे भी वही अर्थ हो सकता था, फिर 'यतचित्तस्य' के प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जीता हुआ चित्त ही इस प्रकार परमात्माके स्वरूपमें अचल ठहर सकता है, न वशमें किया हुआ नहीं ठहर सकता—इसी बातको दिखलानेके लिये 'यत' शब्द दिया गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषके और उसके जीते हुए चित्तके लक्षण बतला देनेके बाद, अब तीन श्लोकोंमें ध्यानयोगद्वारा सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है, और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही सन्तुष्ट रहता है; ॥ २० ॥

प्रश्न—'योगसेवा' शब्द किसका वाचक है और 'योगसेवा' से होनेवाले 'निरुद्ध चित्त' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ध्यानयोगके अभ्यासका नाम 'योगसेवा' है। उस ध्यानयोगका अभ्यास करते-करते जब चित्त एकमात्र परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, तब वह 'निरुद्ध' कहलाता है।

प्रश्न—इस प्रकार परमात्माके स्वरूपमें निरुद्ध हुए चित्तका उपरत होना क्या है ?

उत्तर—जिस समय योगीका चित्त परमात्माके स्वरूपमें सब प्रकारसे निरुद्ध हो जाता है, उसी समय उसका चित्त संसारसे सर्वथा उपरत हो जाता है; फिर उसके अन्तःकरणमें संसारके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। यद्यपि लोकदृष्टिमें उसका चित्त समाधिके समय संसारसे उपरत और व्यवहारकालमें संसारका चिन्तन करता हुआ-सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तवमें उसका संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता—यही उसके चित्तका सदाके लिये संसारसे उपरत हो जाना है।

प्रश्न—यहाँ 'यत्र' किसका वाचक है ?

उत्तर—जिस अवस्थामें ध्यानयोगके साधकका परमात्मासे संयोग हो जाता है अर्थात् उसे परमात्माका प्रत्यक्ष हो जाता है और संसारसे उसका सम्बन्ध सदाके लिये छूट जाता है, तथा तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने जिसका नाम 'योग' बतलाया है, उसी अवस्थाविशेषका वाचक यहाँ 'यत्र' है।

प्रश्न—यहाँ 'एव' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'एव' का प्रयोग यहाँ परमात्मदर्शनजनित आनन्दसे अतिरिक्त अन्य सांसारिक सन्तोषके हेतुओंका निराकरण करनेके लिये किया गया है। अभिप्राय यह है कि परमानन्द और परमशान्तिके समुद्र परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर योगी सदा-सर्वदा उसी आनन्दमें सन्तुष्ट रहता है, उसे किसी प्रकारके भी सांसारिक सुखकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती।

प्रश्न–जिस ध्यानसे परमात्माका साक्षात्कार होता है, उस ध्यानका अभ्यास कैसे करना चाहिये ?

उत्तर–एकान्त स्थानमें पहले बतलाये हुए प्रकारसे आसनपर बैठकर मनके समस्त संकल्पोंका त्याग करके इस प्रकार धारणा करनी चाहिये—

एक विज्ञान-आनन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही है। उसके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं, केवल एकमात्र वही परिपूर्ण है। उसका यह ज्ञान भी उसीको है, क्योंकि वही ज्ञानस्वरूप है। वह सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवद्य है। मन, बुद्धि, अहंकार, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि जो कुछ भी हैं, सब उस ब्रह्ममें ही आरोपित हैं और वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं। वह आनन्दमय है और अवर्णनीय है। उसका वह आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। वह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, विज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, ध्रुव है, अनामय है, बोधमय है, अनन्त है और शान्त है। इस प्रकार उसके आनन्दस्वरूपका चिन्तन करते हुए बार-बार ऐसी दृढ़ धारणा करते रहना चाहिये कि उस आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यदि कोई संकल्प उठे तो उसे भी आनन्दमयसे ही निकला हुआ, आनन्दमय ही समझकर आनन्दमयमें ही विलीन कर दे। इस प्रकार धारणा करते-करते जब समस्त संकल्प आनन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें विलीन हो जाते हैं और एक आनन्दघन परमात्माके अतिरिक्त किसी भी संकल्पका अस्तित्व नहीं रह जाता, तब साधककी आनन्दमय परमात्मामें अचल स्थिति हो जाती है। इस प्रकार नित्य-नियमित ध्यान करते-करते अपनी और संसारकी समस्त सत्ता जब ब्रह्मसे अभिन्न हो जाती है, जब सभी कुछ परमानन्द और परमशान्तिस्वरूप ब्रह्म बन जाता है, तब साधकको परमात्माका वास्तविक साक्षात्कार सहज ही हो जाता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं; ॥ २१ ॥

प्रश्न–यहाँ सुखके साथ 'आत्यन्तिकम्', 'अतीन्द्रियम्' और 'बुद्धिग्राह्यम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–१८ वें अध्यायमें ३६वेंसे ३९वें श्लोकतक जिन सात्त्विक, राजस और तामस, तीन प्रकारके सुखोंका वर्णन है, उनसे इस परमात्मदर्शनजनित सुखकी अत्यन्त विलक्षणता दिखलानेके लिये ही उपर्युक्त तीनों विशेषण दिये गये हैं। परमात्मदर्शनसे होनेवाला सुख सांसारिक सुखोंकी भाँति क्षणिक, नाशवान्, दुःखोंका हेतु और दुःखमिश्रित नहीं होता। वह सात्त्विक सुखकी अपेक्षा भी महान् और विलक्षण, सदा एकरस रहनेवाला और नित्य है। यही भाव दिखलानेके लिये 'आत्यन्तिकम्' विशेषण दिया गया है। वह सुख विषयजनित राजस सुखकी भाँति इन्द्रियोंद्वारा भोगा जानेवाला नहीं है, वह इन्द्रियातीत है–यही भाव दिखलानेके लिये 'अतीन्द्रियम्' विशेषण

दिया गया है। और उस सुखमें ज्ञानका नित्य प्रकाश रहता है; प्रमाद, आलस्य और निद्रादिसे होनेवाले तामस सुखकी भाँति उससे अन्तःकरण मोहित नहीं होता, बल्कि वह अज्ञानका सर्वथा नाश करनेवाला है—यही भाव दिखलानेके लिये 'बुद्धिग्राह्यम्' विशेषण दिया गया है।

परमात्माके ध्यानसे होनेवाला सात्त्विक सुख भी, इन्द्रियोंसे अतीत, बुद्धिग्राह्य और अक्षय सुखमें हेतु होनेसे अन्य सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है। किन्तु वह केवल ध्यानकालमें ही रहता है, सदा एकरस नहीं रहता; और वह चित्तका ही एक अवस्थाविशेष होता है, इसलिये उसे 'आत्यन्तिक' या अक्षय सुख नहीं कहा जा सकता। परमात्माके साक्षात्कारसे होनेवाला यह सुख तो उस ध्यानजनित सुखका फल है। अतएव यह उससे अत्यन्त विलक्षण है। इस प्रकार तीन विशेषण देकर यहाँ सब सुखोंकी अपेक्षा परमात्मदर्शनजनित सुखकी अत्यन्त विलक्षणता दिखलायी गयी है।

प्रश्न—परमात्मसाक्षात्कारका सुख तो तीनों गुणोंसे अतीत होता है, फिर उसे 'बुद्धिग्राह्य' कैसे कहा ?

उत्तर—यह सर्वथा सत्य है कि परमात्मदर्शनजनित सुख मायाकी सीमासे सर्वथा अतीत होनेके कारण बुद्धि वहाँतक नहीं पहुँच सकती, तथापि जैसे मलरहित स्वच्छ दर्पणमें आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही भजन-ध्यान और विवेक-वैराग्यादिके अभ्याससे अचल, सूक्ष्म और शुद्ध हुई बुद्धिमें उस सुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसीलिये उसे 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है।

प्रश्न—'तत्त्वसे विचलित न होने' का क्या तात्पर्य है और यहाँ 'एव' का प्रयोग किस अभिप्रायसे हुआ है ?

उत्तर—'तत्त्व' शब्द परमात्माके स्वरूपका वाचक है और उससे कभी अलग न होना ही—विचलित नहीं होना है। 'एव' से यह भाव निकलता है कि परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर योगीकी उनमें सदाके लिये अटल स्थिति हो जाती है, फिर वह कभी किसी भी अवस्थामें, किसी भी कारणसे, परमात्मासे अलग नहीं होता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता; ॥२२॥

प्रश्न—यहाँ 'यम्' पद किसका वाचक है और उसे प्राप्त कर लेनेके बाद दूसरे लाभको उससे अधिक नहीं मानता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अगले श्लोकमें जिसे दुःखोंके संयोगका वियोग कहा है, उस योगके नामसे कही जानेवाली परमात्मसाक्षात्काररूप अवस्थाविशेषका ही वाचक यहाँ 'यम्' पद है। इस स्थितिमें योगीको परमानन्द और परमशान्तिके निधान परमात्माकी प्राप्ति हो जानेसे वह पूर्णकाम हो जाता है। उसकी दृष्टिमें इहलोक और परलोकके सम्पूर्ण भोग, त्रिलोकीका राज्य और ऐश्वर्य, विश्वव्यापी मान और बड़ाई आदि जितने भी सांसारिक सुखके साधन हैं, सभी क्षणभङ्गुर, अनित्य, रसहीन, हेय, तुच्छ और नगण्य हो जाते हैं। अतः फिर वह संसारकी किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेयोग्य नहीं मानता।

प्रश्न—बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता, इसका क्या भाव है ?

उत्तर—परमात्माको प्राप्त योगीको जैसे बड़े-से-बड़े भोग और ऐश्वर्य रसहीन एवं तुच्छ प्रतीत होते हैं और जैसे वह उनकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता तथा न प्राप्त होने या नष्ट हो जानेपर लापरवाह रहता है, अपनी स्थितिसे जरा भी विचलित नहीं होता, उसी प्रकार महान् दुःखोंकी प्राप्तिमें भी अविचलित रहता है। यहाँ 'दुःखेन' के साथ 'गुरुणा' विशेषण देकर तथा 'अपि' का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि साधारण दुःखोंकी तो कोई बात ही नहीं, उन्हें तो धैर्यवान् और तितिक्षु पुरुष भी सहन कर सकता है; इस स्थितिको प्राप्त योगी तो अत्यन्त भयानक और असहनीय दुःखोंमें भी अपनी स्थितिपर सर्वथा अटल, अचल रहता है। शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे-भी-प्रिय वस्तुका अचानक वियोग और संसारमें अकारण ही महान् अपमान, तिरस्कार और निन्दा आदि जितने भी महान् दुःखोंके कारण हैं, सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसको अपनी स्थितिसे जरा भी नहीं डिगा सकते। इसका कारण यह है कि परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके बाद वास्तवमें उस योगीका इस शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता, वह शरीर केवल लोकदृष्टिमें उसका समझा जाता है। प्रारब्धके अनुसार उसके शरीर, इन्द्रिय और मनके साथ सांसारिक वस्तुओंका संयोग-वियोग होता है—शीत-उष्ण, मानापमान, स्तुति-निन्दा आदि अनुकूल और प्रतिकूल भोगपदार्थोंकी प्राप्ति और विनाश हो सकता है; परन्तु सुख-दुःखका कोई भोक्ता न रह जानेके कारण उसके अन्तःकरणमें कभी किसी भी अवस्थामें, किसी भी निमित्तवश, किसी भी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी विकार नहीं हो सकता। उसकी परमात्मामें नित्य अटल स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

सम्बन्ध—बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकमें परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस स्थितिके महत्त्व और लक्षणों-का वर्णन किया गया, अब उस स्थितिका नाम बतलाते हुए उसे प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा करते हैं।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है ॥ २३ ॥

प्रश्न—दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित स्थिति क्या है? क्या उस स्थितिको प्राप्त योगी सदा ध्यानावस्थामें ही स्थित रहता है? उसके शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण-द्वारा संसारका कार्य नहीं होता?

उत्तर—दुःखरूप संसारसे सदाके लिये सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही उसके संयोगसे रहित हो जाना है। उस स्थितिमें योगीके शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा चलना, फिरना, देखना, सुनना या मनन और निश्चय करना आदि कार्य होते ही नहीं हों—ऐसी बात नहीं है। उसके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभीसे प्रारब्धानुसार समस्त कर्म होते हैं; परन्तु उसके ज्ञानमें एकमात्र परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी न रह जानेके कारण उसका उन कर्मोंसे वस्तुतः कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। उसकी यह स्थिति ध्यानकालमें और व्युत्थानकालमें सदा एक-सी ही रहती है।

प्रश्न—यहाँ केवल 'दुःखवियोगम्' कह देनेसे ही

काम चल सकता था, फिर 'दुःखसंयोगवियोगम्' कहकर 'संयोग' शब्द अधिक देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–द्रष्टा और दृश्यका संयोग अर्थात् दृश्यप्रपञ्चसे आत्माका जो अज्ञानजनित अनादि सम्बन्ध है, बार-बार जन्म-मरणरूप दुःखकी प्राप्तिमें मूलकारण वही है। उसका अभाव हो जानेपर ही दुःखोंका भी सदाके लिये अभाव हो जाता है––यही बात दिखलानेके लिये 'संयोग' शब्दका प्रयोग किया गया है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें भी कहा है––'हेयं दुःखमनागतम्' (२।१६)। 'भविष्यमें प्राप्त होनेवाले जन्म-मरणरूप महान् दुःखका नाम हेय* है।' 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः' (२।१७)। 'द्रष्टा और दृश्यका संयोग ही हेयका कारण है।' 'तस्य हेतुरविद्या' (२।२४)। 'उस संयोगका कारण अज्ञान है।' 'तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्' (२।२५) 'उस (अविद्या) के अभाव (विनाश) से द्रष्टा और दृश्यके संयोगका भी अभाव (विनाश) हो जाता है; इसीका नाम 'हान' (हेयका त्याग) है और यही द्रष्टाकी कैवल्यरूप स्थिति है।'

प्रश्न–यहाँ 'तम्' के साथ 'योगसंज्ञितम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–ऊपरके तीन श्लोकोंमें परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस अवस्थाके महत्त्व और लक्षणोंका वर्णन किया गया है, उसका नाम 'योग' है––यही भाव दिखलानेके लिये 'तम्'के साथ 'योगसंज्ञितम्' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न–यहाँ 'विद्यात्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–'विद्यात्'का यह अभिप्राय है कि 'यत्रोपरमते चित्तम्' (६।२०) से लेकर यहाँतक जिस स्थितिका वर्णन किया गया है, उसे प्राप्त करनेके लिये सिद्ध महात्मा पुरुषोंके पास जाकर एवं शास्त्रका अभ्यास करके उसके स्वरूप, महत्त्व और साधनकी विधिको भलीभाँति जानना चाहिये।

प्रश्न–'अनिर्विण्णचेतसा' का क्या भाव है ?

उत्तर–साधनका फल प्रत्यक्ष न होनेके कारण थोड़ा-सा साधन करनेके बाद मनमें जो ऐसा भाव आया करता है कि 'न जाने यह काम कबतक पूरा होगा, मुझसे हो सकेगा या नहीं'––उसीका नाम 'निर्विण्णता' अर्थात् साधनसे ऊब जाना है। ऐसे भावसे रहित जो धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त है, उसे 'अनिर्विण्णचित्त' कहते हैं। अतः इसका यह भाव है कि साधकको अपने चित्तसे निर्विण्णताका दोष सर्वथा दूर कर देना चाहिये। योगसाधनमें अरुचि उत्पन्न करनेवाले और धैर्य तथा उत्साहमें कमी करनेवाले भावोंको अपने चित्तमें उठने ही न देना चाहिये और फिर ऐसे चित्तसे योगका साधन करना चाहिये।

प्रश्न–यहाँ निश्चयपूर्वक योगसाधन करना कर्तव्य है। इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–'निश्चय' यहाँ विश्वास और श्रद्धाका वाचक है। अभिप्राय यह है कि योगीको योगसाधनमें, उसका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें, आचार्योंमें और योगसाधनके फलमें पूर्णरूपसे श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये, एवं योगसाधनको ही अपने जीवनका मुख्य कर्तव्य मानकर और परमात्माकी प्राप्तिरूप योगसिद्धिको ही ध्येय बनाकर दृढ़तापूर्वक तत्परताके साथ उसके साधनमें संलग्न हो जाना चाहिये।

* जन्म-मरणरूप अनागत दुःख त्याग करने योग्य है, इसलिये उसका नाम 'हेय' रक्खा गया है।

ध्यानयोगी



शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः । संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
(अ० ६ । ११ से १३)

सम्बन्ध—परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका नाम 'योग' है, यह कहकर उसे प्राप्त करना निश्चित कर्तव्य बतलाया गया; अब दो श्लोकोंमें उसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये अभेदरूपसे परमात्माके ध्यानयोगका साधन करनेकी रीति बतलाते हैं—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर—॥ २४ ॥

प्रश्न—यहाँ कामनाओंको संकल्पसे उत्पन्न बतलाया गया है और दूसरे अध्यायके ६२ वें श्लोकमें कामनाकी उत्पत्ति आसक्तिसे बतलायी है । इस भेदका क्या कारण है ?

उत्तर—वहाँ संकल्पसे आसक्तिकी और आसक्तिसे कामनाकी उत्पत्ति बतलायी है । इससे वहाँ भी मूल कारण संकल्प ही है । अतएव वहाँके और यहाँके कथनमें कोई भेद नहीं है ।

प्रश्न—सब कामनाएँ कौन-सी हैं ? और उनका निःशेषतः त्याग क्या है ?

उत्तर—इस लोक और परलोकके भोगोंकी जितनी और जैसी—तीव्र, मध्य या मन्द कामनाएँ हैं, यहाँ 'सर्वान् कामान्' वाक्य उन सभीका बोधक है। इसमें स्पृहा, इच्छा, तृष्णा, आशा और वासना आदि कामनाके सभी भेद आ जाते हैं और इस कामनाकी उत्पत्ति संकल्पसे बतलायी गयी है, इसलिये 'आसक्ति' भी इसीके अन्तर्गत आ जाती है ।

सम्पूर्ण कामनाओंके निःशेषरूपसे त्यागका अर्थ है—किसी भी भोगमें किसी प्रकारसे भी जरा भी वासना, आसक्ति, स्पृहा, इच्छा, लालसा, आशा या तृष्णा न रहने पावे । बरतनमेंसे घी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें घीकी चिकनाहट शेष रह जाती है, अथवा डिबियामेंसे कपूर, केसर या कस्तूरी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें उनकी गन्ध रह जाती है, वैसे ही कामनाओंका त्याग कर देनेपर भी उसका सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है । उस शेष बचे हुए सूक्ष्म अंशका भी त्याग कर देना—कामनाका निःशेषतः त्याग है ।

प्रश्न—मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायको भलीभाँति रोकनेका क्या अर्थ है ?

उत्तर—इन्द्रियोंका स्वभाव ही विषयोंमें विचरण करना है । परन्तु ये किसी विषयको ग्रहण करनेमें तभी समर्थ होती हैं जब मन इनके साथ रहता है । मन यदि दुर्बल होता है तो ये उसे जबरदस्ती अपने साथ खींचे रखती हैं । परन्तु निर्मल और निश्चयात्मिका बुद्धिकी सहायतासे जब मनको एकाग्र कर लिया जाता है, तब मनका सहयोग न मिलनेसे ये विषय-विचरणमें असमर्थ हो जाती हैं । इसीलिये ११वेंसे लेकर १३वें श्लोकके वर्णनके अनुसार ध्यानयोगके साधनके लिये आसनपर बैठकर योगीको यह चाहिये कि वह विवेक और वैराग्यकी सहायतासे मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको सम्पूर्ण बाह्य विषयोंसे सब प्रकारसे सर्वथा हटा ले, किसी भी इन्द्रियको किसी भी विषयमें जरा भी न जाने देकर उन्हें सर्वथा अन्तर्मुखी बना दे । यही मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायका भलीभाँति रोकना है ।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २५ ॥

प्रश्न—शनैः-शनैः उपरतिको प्राप्त होना तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करना क्या है?

उत्तर—पिछले श्लोकमें मनके द्वारा इन्द्रियोंको बाह्य-विषयोंसे सर्वथा हटा लेनेकी बात कही गयी है। परन्तु जबतक मन विषयोंका चिन्तन करता है, तबतक न तो वह परमात्मामें अच्छी तरह एकाग्र हो सकता है और न वह इन्द्रियोंको भलीभाँति विषयोंसे खींच ही सकता है। विषय-चिन्तन करना मनका अनादिकालका अभ्यास है, उसे चिर-अभ्यस्त विषयचिन्तनसे हटाकर परमात्मामें लगाना है। मनका यह स्वभाव है कि उसका जिस वस्तुमें लगनेका अभ्यास हो जाता है, उसमें वह तदाकार हो जाता है, उससे सहज ही हटना नहीं चाहता। उसको हटानेका उपाय है—पहलेके अभ्याससे विरुद्ध नया तीव्र अभ्यास करना और कभी न ऊबनेवाली, लक्ष्यके निश्चयपर दृढ़तासे डटी रहनेवाली धीरजभरी बुद्धिके द्वारा उसे फुसलाकर, डाँटकर, रोककर और समझाकर नये अभ्यासमें लगाना। धीरज छोड़ देनेसे या जल्दी करनेसे काम नहीं चलता। बुद्धि दृढ़ रही और अभ्यास जारी रहा, तो कुछ ही समयमें मन पहले विषयसे सर्वथा हटकर नये विषयमें तदाकार हो जायगा; फिर इससे यह वैसे ही नहीं हटेगा, जैसे अभी उससे नहीं हटता है। इसीलिये भगवान् शनैः-शनैः उपरत होने तथा धैर्ययुक्त बुद्धिसे मनको परमात्मामें स्थित करनेके लिये कहकर यही भाव दिखला रहे हैं कि जैसे छोटा बच्चा हाथमें कैंची या चाकू पकड़ लेता है तब माता जैसे समझा-बुझाकर और आवश्यक होनेपर डाँट-डपटकर भी धीरे-धीरे उसके हाथसे चाकू या कैंची छीन लेती है, वैसे ही विवेक और वैराग्यसे युक्त बुद्धिके द्वारा मनको सांसारिक भोगोंकी अनित्यता और क्षणभंगुरता समझाकर और उनमें फँस जानेसे प्राप्त होनेवाले बन्धन और नरकादि यातनाओंका भय दिखलाकर उसे विषय-चिन्तनसे सर्वथा रहित कर देना चाहिये।

जबतक मन विषयचिन्तनका सर्वथा त्याग न कर दे, तबतक साधकको चाहिये कि प्रतिदिन आसनपर बैठकर पहले इन्द्रियोंको बाह्यविषयोंसे रोके, पीछे बुद्धिके द्वारा शनैः-शनैः मनको विषयचिन्तनसे रहित करनेकी चेष्टा करे और इसीके साथ-साथ धैर्यवती बुद्धिके द्वारा उसे परमात्मामें स्थित करता रहे। परमात्माके तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण जिस बुद्धिमें स्वाभाविक ही आसक्ति, संशय और भ्रम रहते हैं, वह बुद्धि न स्थिर होती है और न धैर्यवती ही होती है। और ऐसी बुद्धि अपना प्रभाव डालकर मनको परमात्माके ध्यानमें स्थिर भी नहीं कर सकती। सत्संगद्वारा परमात्माके तत्त्व और रहस्यको समझकर जब बुद्धि स्थिर हो जाती है, तब वह दृश्यवर्गको विषय न करके परमात्मामें ही रमण करती है। उस समय उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं रह जाता। तब वह मनको भलीभाँति विषयोंसे हटाकर उसे परमात्माके चिन्तनमें नियुक्त करके क्रमशः उसे तदाकार कर देती है। यही धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनका परमात्मामें स्थित कर देना है।

प्रश्न—परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे—इसका क्या भाव है?

उत्तर—मन जबतक परमात्मामें निरुद्ध होकर सर्वथा तद्रूप नहीं होता अर्थात् जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक मनका ध्येय वस्तुमें (परमात्मामें) ही निरन्तर लगे रहना निश्चित नहीं है। इसीलिये तीव्र अभ्यासकी आवश्यकता होती है। अतएव

भगवान्‌का यहाँ यह भाव प्रतीत होता है कि साधक जब ध्यान करने बैठे और अभ्यासके द्वारा जब उसका मन परमात्मामें स्थिर हो जाय, तब फिर ऐसा सावधान रहे कि जिसमें मन एक क्षणके लिये भी परमात्मासे हटकर दूसरे विषयमें न जा सके। साधककी यह सजगता अभ्यासकी दृढ़तामें बड़ी सहायक होती है। प्रतिदिन ध्यान करते-करते ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़े, त्यों-ही-त्यों मनको और भी सावधानीके साथ कहीं न जाने देकर विशेषरूपसे विशेष कालतक परमात्मामें स्थिर रक्खे।

प्रश्न—ध्यानके समय मनको परमात्माके स्वरूपमें कैसे लगाना चाहिये?

उत्तर—पहले बतलाये हुए प्रकारसे अभ्यास करता हुआ साधक एकान्तमें बैठकर ध्यानके समय मनको सर्वथा निर्विषय करके एकमात्र परमात्माके स्वरूपमें लगानेकी चेष्टा करे। मनमें जिस किसी वस्तुकी प्रतीति हो, उसको कल्पनामात्र जानकर तुरन्त ही त्याग दे। इस प्रकार चित्तमें स्फुरित वस्तुमात्रका त्याग करके क्रमशः शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी सत्ताका भी त्याग कर दे। सबका अभाव करते-करते जब समस्त दृश्य पदार्थ चित्तसे निकल जायँगे, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली एकमात्र वृत्ति रह जायगी। यह वृत्ति शुभ और शुद्ध है, परन्तु दृढ़ धारणाके द्वारा इसका भी बाध करना चाहिये। समस्त दृश्य-प्रपञ्चका अभाव हो जानेके बाद यह अपने-आप ही शान्त हो जायगी; इसके बाद जो कुछ बच रहता है, वही अचिन्त्य तत्त्व है। वह केवल है और समस्त उपाधियोंसे रहित अकेला ही परिपूर्ण है। उसका न कोई वर्णन कर सकता है, न चिन्तन। अतएव इस प्रकार दृश्य-प्रपञ्च और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार-का अभाव करके, अभाव करनेवाली वृत्तिका भी अभाव करके अचिन्त्य तत्त्वमें स्थित होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

सम्बन्ध—मनको परमात्मामें स्थिर करके परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी चिन्तन न करनेकी बात कही गयी; परन्तु यदि किसी साधकका चित्त पूर्वाभ्यासवश बलात्कारसे विषयोंकी ओर चला जाय तो उसे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥२६॥

यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे॥२६॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—मन बड़ा ही अस्थिर और चञ्चल है, यह सहजमें कहीं भी स्थिर नहीं होना चाहता। फिर नये अभ्याससे तो यह बार-बार भागता है। साधक बड़े प्रयत्नसे मनको परमात्मामें लगाता है, वह सोचता है मन परमात्मामें लगा है; परन्तु क्षणभरके बाद ही देखता है तो पता चलता है, न मालूम वह कहाँ—कितनी दूर चला गया। इसलिये पिछले श्लोकमें कहा है कि साधक सावधान रहे और परमात्माको छोड़कर इसे दूसरा चिन्तन करने ही न दे; परन्तु सावधान रहते-रहते भी जरा-सा मौका पाते ही यह चटसे निकल जायगा और ऐसा निकलकर भागेगा कि कुछ

देरतक तो पता ही न चलेगा कि यह कब और कहाँ गया। परमात्माको छोड़कर विषयोंकी ओर भागकर जानेमें अज्ञान तो असली कारण है ही, जिससे मोहित होकर यह आनन्द और शान्तिके अनन्त समुद्र, सच्चिदानन्दघन परमात्माको छोड़कर अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखजनक विषयोंमें दौड़-दौड़कर जाता है और उनमें रमता है; परन्तु उसकी अपेक्षा अत्यन्त गौण होनेपर भी साधनकी दृष्टिसे प्रधान कारण है—'विषय-चिन्तनका चिरकालीन अभ्यास'। इसलिये भगवान् कहते हैं कि ध्यानके समय साधकको ज्यों ही पता चले कि मन अन्यत्र विषयोंमें गया, त्यों ही बड़ी सावधानी और दृढ़ताके साथ बिना किसी मुरव्वत-मुलाहिजेके तुरंत उसे पकड़कर लावे और परमात्मामें लगावे। यों बार-बार विषयोंसे हटा-हटाकर उसे परमात्मामें लगानेका अभ्यास करे। मन चाहे हजार अनुनय-विनय करे, चाहे जैसी खुशामद करे और चाहे जितना लोभ, प्रेम या डर दिखावे, उसकी एक भी न सुने। उसे कुछ भी ढिलाई मिली कि उसकी उच्छृङ्खलता बढ़ी। इस अवस्थामें मनकी बात सुनकर उसे जरा भी कहीं रुकने देना, रोगीको मोहवश कुपथ्य देकर या बच्चेको पैनी छुरी सौंपकर उसे हाथसे खो देनेके समान ही होता है। सावधानी ही साधना है। साधक यदि इस अवस्थामें असावधान और अशक्त हो रहेगा तो उसका ध्यानयोग सफल नहीं होगा। अतएव उसे खूब सावधान रहना चाहिये और मनको पुनः-पुनः विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगाना चाहिये।

प्रश्न—पिछले श्लोकमें और इसमें दोनोंमें ही 'आत्मा' शब्दका अर्थ 'परमात्मा' किया गया है। इसका क्या कारण है?

उत्तर—यहाँ आत्मा और परमात्माके अभेदका प्रकरण है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये 'आत्मा' शब्दका अर्थ 'परमात्मा' किया गया है।

सम्बन्ध—चित्तको सब ओरसे हटाकर एक परमात्मामें ही स्थिर करनेसे क्या होगा, इसपर कहते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

प्रश्न—'प्रशान्तमनसम्' पद किसका वाचक है?

उत्तर—विवेक और वैराग्यके प्रभावसे विषय-चिन्तन छोड़कर और चञ्चलता तथा विक्षेपसे रहित होकर जिसका चित्त सर्वथा स्थिर और सुप्रसन्न हो गया है तथा इसके फलस्वरूप जिसकी परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थिति हो गयी है, ऐसे योगीको 'प्रशान्तमनाः' कहते हैं।

प्रश्न—'अकल्मषम्' का क्या अर्थ है?

उत्तर—मनुष्यको अधोगतिमें ले जानेवाले जो तमोगुण और तमोगुणके कार्यरूप प्रमाद, आलस्य, अतिनिद्रा, मोह, दुर्गुण, दुराचार आदि जितने भी 'मल' रूपी दोष हैं, सभीका समावेश 'कल्मष' शब्दमें कर लेना चाहिये। इस कल्मष अर्थात् पापसे जो सर्वथा रहित है, वही 'अकल्मष' है।

प्रश्न—यहाँ 'अकल्मषम्' पदका अर्थ यदि 'पापकर्म और सकाम पुण्यकर्म' दोनोंसे रहित मानें तो कोई हानि है ?

उत्तर—सकाम पुण्यकर्मोंका अभाव 'शान्तरजसम्' पदमें आ जाता है, इसलिये 'अकल्मषम्' पदसे केवल पापकर्मका अभाव मानना चाहिये।

प्रश्न—'शान्तरजसम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—आसक्ति, स्पृहा, कामना, लोभ, तृष्णा और सकामकर्म—इन सबकी रजोगुणसे ही उत्पत्ति होती है (१४।७, १४।१२), और यही रजोगुणको बढ़ाते भी हैं। अतएव जो पुरुष इन सबसे रहित है, उसीका वाचक 'शान्तरजसम्' पद है। चञ्चलतारूप विक्षेप भी रजोगुणका ही कार्य है, परन्तु उसका वर्णन 'प्रशान्तमनसम्' में आ गया है। इससे यहाँ पुनः नहीं बतलाया गया।

प्रश्न—'ब्रह्मभूतम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—मैं देह नहीं, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते साधककी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें दृढ़ स्थिति हो जाती है। इस प्रकार अभिन्नभावसे ब्रह्ममें स्थित पुरुषको 'ब्रह्मभूत' कहते हैं।

प्रश्न—यह 'ब्रह्मभूतम्' पद साधकका वाचक है या सिद्ध पुरुषका ?

उत्तर—'ब्रह्मभूतम्' पद उच्चश्रेणीके अभेदमार्गीय साधकका वाचक है। ऐसे साधकके रजोगुण और तमोगुण तो शान्त हो गये हैं, परन्तु वह गुणोंसे सर्वथा अतीत नहीं हो गया है। वह अपनी दृष्टिसे तो ब्रह्मके स्वरूपमें ही स्थित है, परन्तु वस्तुतः ब्रह्मको प्राप्त नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपमें दृढ़ स्थिति हो जानेपर शीघ्र ही तत्त्वज्ञानके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इसी कारण अगले श्लोकमें इस स्थितिका फल 'आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति' बतलाया गया है। यह 'आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति' ही ब्रह्मकी प्राप्ति है। पाँचवें अध्यायके २४ वें श्लोकमें भी इसी अर्थमें 'ब्रह्मभूतः' पद आया है और वहाँ उसका फल 'निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति' बतलाया गया है। अठारहवें अध्यायके ५४ वें श्लोकमें भी 'ब्रह्मभूत' पुरुषको पराभक्ति (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति बतलाकर उसके अनन्तर परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है (१८।५५)। अतएव यहाँ 'ब्रह्मभूतम्' पद सिद्ध पुरुषका वाचक नहीं है।

प्रश्न—'उत्तम सुखकी प्राप्ति' से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—तमोगुण और रजोगुणसे अतीत शुद्ध सत्त्वमें स्थित साधकके नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके ध्यानमें अभिन्नभावसे स्थित हो जानेपर उसे जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द मिलता है, उसीको यहाँ 'उत्तम सुख' कहा गया है। पाँचवें अध्यायके २४ वें श्लोकमें जिसे 'अन्तःसुख' कहा गया है तथा २१ वें के पूर्वार्धमें जिसे 'सुख' बतलाया गया है, उसीका पर्यायवाची शब्द यहाँ 'उत्तम सुख' है।

सम्बन्ध—परमात्माका अभेदरूपसे ध्यान करनेवाले ब्रह्मभूत योगीकी स्थिति बतलाकर, अब उसका फल बतलाते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दको अनुभव करता है ॥ २८ ॥

प्रश्न—'विगतकल्मषम्' विशेषणके साथ यहाँ 'योगी' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—पिछले श्लोकमें 'अकल्मषम्' का जो अर्थ किया गया है, वही अर्थ 'विगतकल्मषम्' का है। ऐसा पापरहित उच्चश्रेणीका साधक, जो अभेदभावसे परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान करता है और जिसको पिछले श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' कहा गया है, उसीको यहाँ 'योगी' बतलाया गया है।

प्रश्न—आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगानेका क्या भाव है ?

उत्तर—'मैं देह नहीं हूँ, मैं मायासे बद्ध—परिच्छिन्न नहीं हूँ, नित्यमुक्त शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ।' देहाभिमानसे रहित होकर दृढ़ निश्चयके साथ साधकका निरन्तर अभेदरूपसे इस प्रकार ब्रह्माकारवृत्तिसे ध्यानका अभ्यास करना ही आत्माको परमात्मामें लगाना है।

प्रश्न—बारहवें अध्यायके ५ वें श्लोकमें तो परमात्माकी प्राप्तिरूप निर्गुणविषयक गतिका दुःखपूर्वक प्राप्त होना बतलाया गया है और यहाँ ऐसा कहा गया है कि 'अव्यक्त परब्रह्मकी प्राप्ति सुखपूर्वक हो जाती है', इसमें क्या कारण है ?

उत्तर—जिसको 'मैं देह हूँ' ऐसा अभिमान है, उसको अव्यक्तविषयक गतिका प्राप्त होना सचमुच अत्यन्त कठिन है, बारहवें अध्यायमें 'देहवद्भिः' शब्दसे देहाभिमानीको लक्ष्य करके ही वैसा कहा गया है। परन्तु यहाँके साधकके लिये 'ब्रह्मभूतम्' विशेषण देकर भगवान्ने स्पष्ट कर दिया है कि यह देहाभिमानसे रहित है और ब्रह्ममें स्थित है। जिस साधकमें देहाभिमान नहीं रहता और जिसकी ब्रह्मके स्वरूपमें अभेदरूपसे स्थिति हो जाती है, उसको ब्रह्मकी प्राप्ति सुखपूर्वक होती ही है। अतएव अधिकारिभेदसे दोनों ही स्थलोंका कथन सर्वथा उचित है।

प्रश्न—परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दको अनुभव करता है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जगत्में जितने भी बड़े-से-बड़े सुख माने जाते हैं, वास्तवमें उनमें सच्चा सुख कोई है ही नहीं। क्योंकि उनमें एक भी ऐसा नहीं है, जो सबसे बढ़कर महान् हो और नित्य एक-सा बना रहे। इसीसे श्रुति कहती है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छा० उ० ७।२३।१)

'जो भूमा (महान् निरतिशय) है, वही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है। भूमा ही सुख है, और भूमाको ही विशेष रूपसे जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये।' 'अल्प' और 'भूमा' क्या है, इसको बतलाती हुई श्रुति फिर कहती है—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। (छा० उ० ७।२४।१)

'जहाँ अन्यको नहीं देखता, अन्यको नहीं सुनता, अन्यको नहीं जानता, वह भूमा है। और जहाँ अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है, अन्यको जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वही अमृत है। और जो अल्प है, वह मरणशील (नश्वर) है।'

जो आज है और कल नष्ट हो जायगा, वह तो यथार्थमें सुख ही नहीं है। परन्तु यदि उसको किसी अंशमें सुख मानें भी तो वह अत्यन्त ही तुच्छ और

नगण्य है। महर्षि याज्ञवल्क्य सुखोंका तुलनात्मक विवेचन करते हुए कहते हैं—समस्त भूमण्डलका साम्राज्य, मनुष्यलोकका पूर्ण ऐश्वर्य और स्त्री, पुत्र, धन, जमीन, स्वास्थ्य, सम्मान, कीर्ति आदि समस्त भोग्यपदार्थ जिसको प्राप्त हैं, वह मनुष्योंमें सबसे बढ़कर सुखी है; क्योंकि मनुष्योंको यही परमानन्द है। उससे सौगुना पितृलोकका आनन्द है, उससे सौगुना गन्धर्वलोकका आनन्द है, उससे सौगुना अपने कर्मफलसे देवता बने हुए लोगोंका आनन्द है, उससे सौगुना आजान देवताओंका आनन्द है, उससे सौगुना प्रजापतिलोकका आनन्द है, और उससे सौगुना ब्रह्मलोकका आनन्द है। वही पापरहित अकाम श्रोत्रियका आनन्द है, क्योंकि तृष्णारहित श्रोत्रिय प्रत्यक्ष ब्रह्मलोक ही है। (बृ० उ० ४।३।३३)। जो ब्रह्मको साक्षात् प्राप्त है, उसको तो वह अनन्त असीम अचिन्त्य आनन्द प्राप्त है, जिसकी किसीके साथ तुलना ही नहीं हो सकती। ऐसा वह निरतिशय आनन्द परब्रह्म परमात्माको प्राप्त पुरुषका अपना स्वरूप ही होता है। यही इस कथनका अभिप्राय है।

इसी अनन्त आनन्दमय आनन्दको २१ वें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख' और पाँचवें अध्यायके २१ वें श्लोकमें 'अक्षय सुख' बतलाया गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अभेदभावसे साधन करनेवाले सांख्ययोगीके ध्यानका और उसके फलका वर्णन करके अब उस साधकके व्यवहारकालकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है ॥२९॥*

प्रश्न—'योगयुक्तात्मा' पद किसका वाचक है?

उत्तर—सच्चिदानन्द, निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें जिसकी अभिन्नभावसे स्थिति हो गयी है, ऐसे ही ब्रह्मभूत योगीका वाचक यहाँ 'योगयुक्तात्मा' पद है। इसीका वर्णन पाँचवें अध्यायके २१वें श्लोकमें 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' के नामसे, तथा पाँचवेंके २४वें, छठेके २७वें और अठारहवेंके ५४वें श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' के नामसे हुआ है।

प्रश्न—ऐसे योगीका सबमें समभावसे देखना क्या है?

उत्तर—पाँचवें अध्यायके १८वें श्लोकमें ज्ञानी महात्माके समदर्शनका वर्णन आया है, उसी प्रकारसे यह योगी सबके साथ शास्त्रानुकूल यथायोग्य सद्व्यवहार करता हुआ नित्य-निरन्तर सभीमें अपने स्वरूपभूत एक ही अखण्ड चेतन आत्माको देखता है। यही उसका सबमें समभावसे देखना है।

* इसी आशयका ईशोपनिषद्का यह मन्त्र है—

'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥' (ईशा० उ० ६)

'परन्तु जो सब प्राणियोंको आत्मामें और सब प्राणियोंमें आत्माको ही देखता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता।'

प्रश्न—आत्माको सब भूतोंमें और सब भूतोंको आत्मामें स्थित कैसे देखा जाता है ?

उत्तर—जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वी आकाशसे ही उत्पन्न हैं, आकाश ही उनका परम आधार है, वे सब आकाशके ही एक अंशमें स्थित हैं और आकाश ही उन सबमें व्याप्त है, वैसे ही समस्त भूत आत्मासे ही उत्पन्न हैं, आत्मा ही उनका परम आधार है, वे सब आत्मामें ही स्थित हैं और आत्मा ही उन सबमें व्याप्त है। इस प्रकार, एकमात्र सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्मासे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है—यह समझना ही सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखना है।

प्रश्न—ध्यानके समय साधकको किस प्रकारकी धारणा करनी चाहिये ?

उत्तर—ध्यानके समय उपर्युक्त प्रकारसे ऐसी धारणा करनी चाहिये कि ये चन्द्र, सूर्य, दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिन, रात, देश, वेश, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सभी स्वप्नके दृश्योंकी भाँति मेरे ही संकल्पके अंदर बने हुए हैं और वस्तुतः मैं ही इन सबके अंदर व्याप्त हूँ। मुझ आत्मासे भिन्न और कुछ है ही नहीं। जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, सब मेरी ही कल्पना है और मैं परमात्मासे सर्वथा अभिन्न हूँ। बार-बार इस प्रकारकी दृढ़ धारणा करके समस्त जगत्‌को आत्ममय देखे। ऐसे ध्यानका अभ्यास करते-करते जब परमात्मासे भिन्न जगत्‌की सत्ता मिट जाती है, तब सहज ही परमात्म-साक्षात्कार हो जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगका साधन करनेवाले योगीका और सर्वत्र समदर्शनरूप उसकी अन्तिम स्थितिका वर्णन करनेके बाद, अब भक्तियोगका साधन करनेवाले योगीकी अन्तिम स्थितिका और उसके सर्वत्र भगवद्दर्शनका वर्णन करते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ॥ ३० ॥

प्रश्न—सम्पूर्ण भूतोंमें वासुदेवको और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूतोंको देखना क्या है ?

उत्तर—जैसे बादलमें आकाश और आकाशमें बादल है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें भगवान् वासुदेव हैं और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूत हैं—इस प्रकार अनुभव करना ही ऐसा देखना है।

प्रश्न—ऐसा देखना कार्य-कारणकी दृष्टिसे है या व्याप्य-व्यापककी अथवा आधेय-आधारकी दृष्टिसे ?

उत्तर—सभी दृष्टियोंसे ऐसा देखा जा सकता है; क्योंकि बादलोंमें आकाशकी भाँति भगवान् वासुदेव ही इस सम्पूर्ण चराचर संसारके महाकारण हैं, वही सबमें व्याप्त हैं, और वही सबके एकमात्र आधार हैं।

प्रश्न—वे परमेश्वर आकाशकी भाँति सम्पूर्ण चराचर संसारके महाकारण कैसे हैं और सर्वव्यापी तथा सर्वाधार किस प्रकार हैं ?

उत्तर—'आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः' (तै० उ० २।१) इस श्रुतिके अनुसार आकाशसे वायु, वायुसे तेज और तेजसे जलरूप बादलकी उत्पत्ति हुई। आकाश पञ्चमहाभूतोंमें पहला और इन सबका कारण है। इसकी उत्पत्तिका मूलकारण परम्परासे प्रकृति है, प्रकृति ही परमेश्वरकी अध्यक्षतामें सबकी रचना करती है; और वह प्रकृति परमेश्वरकी एक शक्तिविशेष है, इसलिये परमेश्वर उस प्रकृतिसे भिन्न नहीं हैं। इस दृष्टिसे सम्पूर्ण चराचर जगत् उन्हींसे उत्पन्न होता है। अतएव वे ही इसके महाकारण हैं। भगवान्ने स्वयं भी कहा है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (१०।८)

'मैं सबको उत्पन्न करनेवाला हूँ और मेरे सकाशसे ही सब चेष्टा करते हैं।'

इसी प्रकार जैसे आकाश बादलोंके सभी अंशोंमें सर्वथा परिपूर्ण—व्याप्त है, वैसे ही परमेश्वर समस्त चराचर संसारमें व्याप्त हैं। 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' (९।४) 'मुझ अव्यक्तमूर्ति परमात्मासे यह सारा जगत् व्याप्त है।'

और जैसे बादलोंका आधार आकाश है, आकाशके बिना बादल रहें ही कहाँ? एक बादल ही क्यों—वायु, तेज, जल आदि कोई भी भूत आकाशके आश्रय बिना नहीं ठहर सकता। वैसे ही इस सम्पूर्ण चराचर विश्वके एकमात्र परमाधार परमेश्वर ही हैं।

प्रश्न—भगवान्के साकाररूपमें समस्त जगत्को और समस्त जगत्में भगवान्के साकाररूपको कैसे देखा जा सकता है?

उत्तर—जिस प्रकार एक ही चतुर बहुरूपिया नाना प्रकारके वेश धारण करके आता है और जो उस बहुरूपियेसे और उसकी बोलचाल आदिसे परिचित है, वह सभी रूपोंमें उसे पहचान लेता है, वैसे ही समस्त जगत्में जितने भी रूप हैं, सब श्रीभगवान्के ही वेश हैं। हम उन्हें पहचानते नहीं हैं, इसीसे उनको भगवान्से भिन्न समझकर उनसे डरते-सकुचाते हैं, तथा उनकी सेवा नहीं करना चाहते; जो समस्त जगत्के सब प्राणियोंमें उनको पहचान लेते हैं, वे चाहे वेश-भेदके कारण बाहरसे व्यवहारमें भेद रक्खें परन्तु हृदयसे तो उनकी पूजा ही करते हैं। हमारे पिता या प्रियतम बन्धु किसी भी रूपमें आवें, यदि हम उन्हें पहचान लेते हैं तो फिर क्या उनके सेवा-सत्कारमें कुछ त्रुटि रखते हैं? इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—'सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'

जैसे श्रीबलदेवजीने व्रजमें बछड़ों, गोपबालकों और उनकी सब सामग्रियोंमें श्रीकृष्णके दर्शन किये थे,*

* व्रजकी बात है। एक दिन यमुनाजीके तीरपर भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओंके साथ भोजन करते-करते बाल-केलि करने लगे। कमरके कपड़ेमें बाँसुरी खोंस ली, बाईं बगलमें सींग और दाहिनीमें बेंत दबा ली, अङ्गुलियोंकी सन्धियोंमें खेलनेकी गोलियाँ दबा लीं, हाथमें माखन-भातका कौर ले लिया और सबके बीच खड़े होकर और हँसीकी बातें कहकर स्वयं हँसने तथा सब सखाओंको हँसाने लगे। ग्वालबाल सब-के-सब इस प्रेम-भोजमें तन्मय हो गये। इधर बछड़े दूर निकल गये। तब भगवान् उन्हें खोजनेके लिये हाथमें वैसे ही भोजनका कौर लिये दौड़े। ब्रह्माजी इस दृश्यको देखकर मोहित हो गये। उन्होंने बछड़े और बालकोंको हर लिया। ब्रह्माजीका काम जानकर, ग्वालबालों और बछड़ोंकी माताओंको सन्तुष्ट रखने तथा ब्रह्माजीको छकानेके लिये भगवान् स्वयं वैसे-के-वैसे बछड़े और बालक बन गये। जिस बछड़े और बालकका जैसा शरीर, जैसे हाथ-पैर, जैसी लकड़ी, जैसा सींग, बाँसुरी या छींका था, जैसे गहने-कपड़े थे, जैसे स्वभाव, गुण, आकार, अवस्था और नाम आदि थे और जिसका जैसा आहार-विहार था, वैसे ही बनकर सब जगत् 'हरिमय' है—इस बातको

और जैसे व्रजगोपियाँ अपनी प्रेमकी आँखोंसे सर्वदा और सर्वत्र श्रीकृष्णको देखा करती थीं, * वैसे ही भक्तको सर्वत्र भगवान् श्रीकृष्ण, राम, विष्णु, शङ्कर, शक्ति आदि, जो स्वरूप जिसका इष्ट हो, उसी भगवान्-के साकार स्वरूपके दर्शन करने चाहिये। यही भगवान्के साकाररूपको समस्त जगत्में देखना है।

इसी प्रकार, जैसे अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य शरीरमें †, यशोदा मैयाने बालकरूप भगवान् श्रीकृष्णके मुखमें ‡ और भक्त काकभुशुण्डिजीने भगवान् श्रीरामके उदरमें § समस्त विश्वको देखा था, वैसे ही भगवान्के

सार्थक कर दिया। श्रीबलदेवजीने पहले कुछ नहीं समझा; फिर जब उन्होंने देखा कि ग्वालबालोंकी माताओंका अपने बच्चोंपर पहलेसे बहुत अधिक स्नेह बढ़ गया है और जिन्होंने दूध पीना छोड़ दिया है उन बछड़ोंपर भी गायें बहुत अधिक स्नेह करती हैं, तब उन्हें सन्देह हुआ। और उन्होंने पहचाननेकी नज़रसे सबकी ओर देखा। तब उन्हें सभी बछड़े, उनके रक्षा करनेवाले गोपबालक तथा उनकी सब सामग्रियाँ प्रत्यक्ष श्रीकृष्णरूप दीख पड़ीं और वे चकित हो गये!

आगे चलकर ब्रह्माजीने भी सबको श्रीकृष्णरूप ही देखा, तब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करके उनसे क्षमा माँगी। (श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अ० १३)

* जित देखौं तित स्याममई है।

स्याम कुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घन घटा छई है॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
हौं बौरी, कै लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद सार काम बिजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनहुँ स्यामता बेल बई है॥
श्रुतिको अच्छर स्याम देखियत, दीप सिखा पर स्यामतई है।
नर देवन की कौन कथा है! अलख ब्रह्मछबि स्याममई है॥

† गीता एकादश अध्याय देखिये।

‡ भगवान् श्रीकृष्ण छोटे-से थे और अपनी विचित्र बाललीलासे माता यशोदा और व्रजवासी नर-नारियोंको अनुपम सुख दे रहे थे। एक दिन आपने मिट्टी खा ली। मैयाने डाँटकर कहा, 'क्यों रे ढीठ! तूने छिपकर मिट्टी क्यों खायी?' भगवान्ने रोनी-सी सूरत बनाकर और मुख फैलाकर कहा—'मैया! तुझे विश्वास नहीं होता तो तू मेरा मुख देख ले।' यशोदा तो देखकर चकित हो गयीं। भगवान्के छोटे-से मुखड़ेमें माताने समस्त चराचर जीव, आकाश, दसों दिशाएँ, पर्वत, द्वीप, समुद्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि, चन्द्रमा, तारे, इन्द्रियोंके देवता, इन्द्रियाँ, मन, शब्दादि सब विषय, मायाके तीनों गुण, जीव, उनके विचित्र शरीर और समस्त व्रजमण्डलको देखा! उन्होंने सोचा—मैं सपना तो नहीं देख रही हूँ? आखिर घबराकर प्रणाम करके उनके शरणागत हुईं। तब श्रीकृष्णचन्द्रने पुनः अपनी मोहिनी फैला दी, माताका दुलार उमड़ उठा और अपने श्यामललाको गोदमें उठाकर वे उनसे प्यार करने लगीं। (श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अ० ८)

§ काकभुशुण्डिजी भगवान् श्रीरामजीकी बाललीलाका आनन्द लूट रहे थे। एक दिन बालरूप श्रीरामजी घुटने और हाथोंके बलसे काकभुशुण्डिजीको पकड़ने दौड़े। वे उड़ चले, भगवान्ने उन्हें पकड़नेको भुजा फैलायीं। काकभुशुण्डिजी उड़ते-उड़ते ब्रह्मलोकतक गये, वहाँ भी उन्होंने श्रीरामजीकी भुजाको अपने पीछे देखा। उनमें और श्रीरामजीकी भुजामें दो अंगुलका बीच था। जहाँतक उनकी गति थी, वे गये; परन्तु रामजीकी भुजा पीछे ही रही। तब भुशुण्डिजीने व्याकुल होकर आँखें मूँद लीं, फिर आँखें खोलकर देखा तो अपनेको अवधपुरीमें पाया। श्रीरामजी हँसे और उनके हँसते ही ये तुरन्त उनके मुखमें प्रवेश कर गये। इसके आगेका वर्णन उन्हींकी वाणीमें सुनियेः—

उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥

किसी भी स्वरूपके अन्तर्गत समस्त विश्वको देखना चाहिये। यही भगवान्‌के सगुणरूपमें समस्त जगत्‌को देखना है।

प्रश्न—उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पहले प्रश्नके उत्तरके अनुसार जो समग्र जगत्‌में भगवान्‌को और भगवान्‌में सब जगत्‌को देखता है, उसकी दृष्टिसे भगवान् कभी ओझल नहीं होते और वह भगवान्‌की दृष्टिसे कभी ओझल नहीं होता। अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, औदार्य, आदिके अनन्त समुद्र, रसमय और आनन्दमय भगवान्‌के

कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रबि रजनीसा॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किंनर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥
जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्मांड महुँ रहउँ बरष सत एक।
एहि बिधि देखत फिरउँ मैं अंड कटाह अनेक॥
लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता।
नर गंधर्ब भूत बेताला। किंनर निसिचर पसु खग ब्याला॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती।
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनइ आना॥
अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनस अनेक अनूपा॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरऊ भिन्न भिन्न नर नारी॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता॥
प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा। देखउँ बालबिनोद अपारा॥
भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखउँ आन॥
सोइ सिसुपन सोइ सोभा सोइ कृपाल रघुबीर।
भुवन भुवन देखत फिरउँ प्रेरित मोह समीर॥
भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका॥
फिरत फिरत निज आश्रम आयउँ। तहँ पुनि रहि कछु काल गवाँयउँ॥
निज प्रभु जन्म अवध सुनि पायउँ। निर्भर प्रेम हरषि उठि धायउँ॥
देखउँ जन्म महोत्सव जाई। जेहि बिधि प्रथम कहा मैं गाई॥
राम उदर देखेउँ जग नाना। देखत बनइ न जाइ बखाना॥
तहँ पुनि देखउँ राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना॥
करउँ बिचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल ब्यापित मति मोरी॥
उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा॥
देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसतहीं मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर॥

देवदुर्लभ सच्चिदानन्दस्वरूपके साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद भक्त और भगवान्‌का संयोग सदाके लिये अविच्छिन्न हो जाता है ।

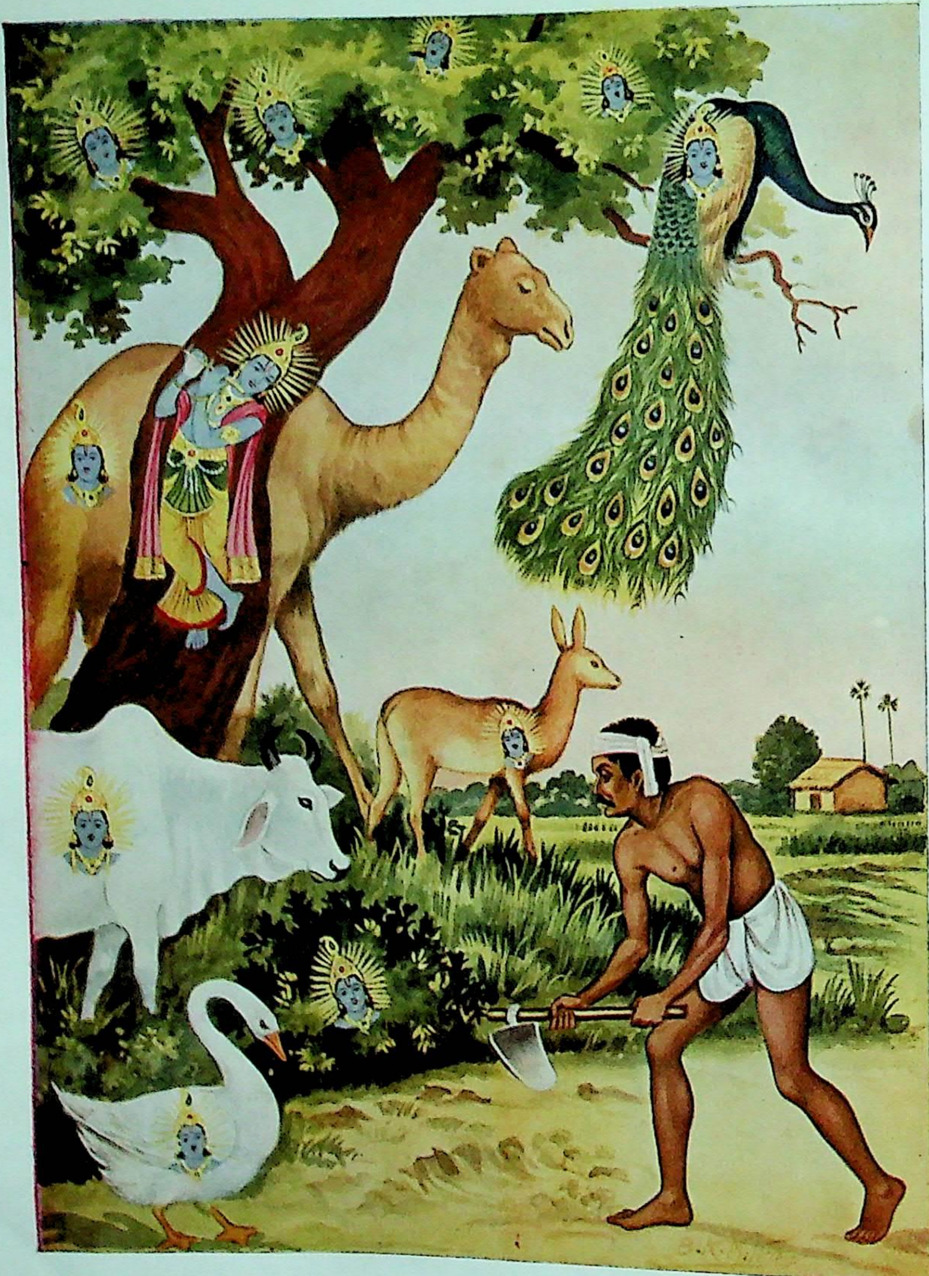
प्रश्न—भगवान्‌के सगुण साकार स्वरूपके दर्शनका साधन आरम्भमें किस प्रकार करना चाहिये और उस साधनकी अन्तिम स्थिति कैसी होती है ?

उत्तर—सबसे पहली बात है—सगुण साकार स्वरूपमें श्रद्धा होना । सगुण साकार स्वरूपके उपासकको यह निश्चय करना होगा कि 'मेरे इष्टदेव सर्वशक्तिमान् और सर्वोपरि हैं, वे ही निर्गुण-सगुण सब कुछ हैं ।' यदि साधक अपने इष्टकी अपेक्षा अन्य किसी भी स्वरूपको ऊँचा मानता है तो उसको अपने इष्टकी उपासनासे सर्वोच्च फल नहीं मिल सकता । इसके बाद, भगवान्‌के जिस स्वरूपमें अपनी इष्टबुद्धि दृढ़ हो, उसकी किसी अपने मनके अनुकूल मूर्ति या चित्रपटको सम्मुख रखकर और उसमें प्रत्यक्ष और चेतन-बुद्धि करके अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ उसकी विधिवत् पूजा करनी चाहिये और स्तवन-प्रार्थना तथा ध्यान आदिके द्वारा उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ाते रहना चाहिये । पूजाके समय दृढ़ श्रद्धाके द्वारा साधकको ऐसी प्रतीति करनी चाहिये कि भगवान्‌की मूर्ति जड़-मूर्ति नहीं है, वरं ये साक्षात् चलते-फिरते, हँसते-बोलते और खाते-पीते चेतन भगवान् हैं । यदि साधककी श्रद्धा सच्ची होगी, तो उस विग्रहमें ही उसके लिये भगवान्‌का चेतन अर्चावतार हो जायगा और नाना-प्रकारसे अपनी भक्तवत्सलताका प्रत्यक्ष परिचय देकर साधकके जीवनको सफल और आनन्दमय बना देगा ।* इसके बाद भगवत्कृपासे उसको अपने इष्टके प्रत्यक्ष दर्शन भी हो सकते हैं । दर्शनके लिये कोई निश्चित समयकी अवधि नहीं है । साधककी उत्कण्ठा और भगवत्कृपापर उसकी निर्भरता जैसी और जिस परिणाममें होती है, उसीके अनुसार शीघ्र या विलम्बसे उसे दर्शन हो सकते हैं । प्रत्यक्ष दर्शन होनेके बाद भगवत्कृपासे चाहे जब, और चाहे जहाँ,—सर्वदा और सर्वत्र दर्शन होने भी आसान हो जाते हैं । साक्षात् भगवद्दर्शन होनेपर साधककी कैसी स्थिति होती है, इसको तो वही जानता है, जिसे दर्शन हुए हों । दूसरा कुछ भी नहीं बता सकता ।

साकार भगवान्‌के दर्शन सर्वत्र हों—इसके लिये जो साधन किये जाते हैं, उसकी एक प्रणाली यह है कि जिस स्वरूपमें अपना इष्टभाव हो, उसके विग्रहकी या चित्रपटकी उपर्युक्त प्रकारसे पूजा तो करनी ही चाहिये । साथ ही एकान्तमें प्रतिदिन नियमपूर्वक उसके ध्यानका अभ्यास करके चित्तमें उस स्वरूपकी दृढ़ धारणा कर लेनी चाहिये । कुछ धारणा हो जानेपर एकान्त स्थानमें बैठकर और आँखें खुली रखकर आकाशमें मानसिक मूर्तिकी रचना करके उसे देखनेका अभ्यास करना चाहिये । भगवत्कृपाका आश्रय करके विश्वास, श्रद्धा और निश्चयके साथ बार-बार ऐसा अभ्यास किया जायगा तो कुछ ही समयके बाद आकाशमें इष्टकी सर्वाङ्गपूर्ण हँसती-बोलती हुई-सी मूर्ति दीखने लगेगी । यह अभ्याससाध्य बात है । चित्तकी वृत्तियोंको अपने इष्टस्वरूपके आकारवाली बना देनेका अभ्यास सिद्ध हो जानेपर जब कभी भी उक्त स्वरूपका अनन्य चिन्तन होगा, तभी चित्त उस रूपका निर्माण करके और उसमें तदाकार होकर आँखोंके सामने साधक जहाँ चाहेगा वहीं प्रकट हो जायगा । इस अभ्यासके दृढ़ हो जानेपर चलते-फिरते वृक्ष, बेल, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जो भी पदार्थ दीखें, मनके द्वारा उनके स्वरूपको हटाकर उनकी जगह इष्टमूर्तिकी दृढ़ धारणा करनी चाहिये ।

* मीराबाई आदि मध्यकालीन भक्तोंके जीवनमें ऐसे अर्चावतार हुए हैं ।

सब कार्योंमें भगवद्-दृष्टि



सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ (६।३१)

ऐसा करते-करते यहाँतक हो सकता है कि साधक प्रत्येक वस्तुमें, उस वस्तुके स्थानमें अपने इष्टकी मानसिक मूर्तिके दर्शन अनायास ही कर सकता है। इसके बाद भगवत्कृपासे उसे भगवान्‌के वास्तविक दर्शन भी हो सकते हैं और फिर वह प्रत्यक्ष और यथार्थरूपमें सर्वत्र भगवान्‌को देख सकता है।

सम्बन्ध—सर्वत्र भगवद्दर्शनसे भगवान्‌के साक्षात्कारकी बात कहकर अब दो श्लोकोंमें भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंके लक्षण और महत्त्वका निरूपण करते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—एकीभावमें स्थित होना क्या है ?

उत्तर—सर्वदा और सर्वत्र अपने एकमात्र इष्टदेव भगवान्‌का ध्यान करते-करते साधक अपनी भिन्न स्थितिको सर्वथा भूलकर इतना तन्मय हो जाता है कि फिर उसके ज्ञानमें एक भगवान्‌के सिवा और कुछ रह ही नहीं जाता। भगवत्प्राप्तिरूप ऐसी स्थितिको भगवान्‌में एकीभावसे स्थित होना कहते हैं।

प्रश्न—सब भूतोंमें स्थित भगवान्‌को भजना क्या है ?

उत्तर—जैसे भाप, बादल, कुहरा, बूँद और बर्फ आदिमें सर्वत्र जल भरा है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर विश्वमें एक भगवान् ही परिपूर्ण हैं—इस प्रकार जानना और प्रत्यक्ष देखना ही सब भूतोंमें स्थित भगवान्‌को भजना है। इस प्रकार भजन करनेवाले पुरुषको भगवान्‌ने सर्वोत्तम महात्मा कहा है (७।१९)। साथ ही इससे यह भाव भी निकलता है कि सब भूतोंमें जो भगवान् विराजमान हैं, उनकी शरीर, वचन और मनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक यथायोग्य सेवा करना, उन्हें सुख पहुँचाना और उनका यथार्थ हित करना भी सर्वभूतस्थित भगवान्‌का भजन करना है।

प्रश्न—वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिस पुरुषको भगवान् श्रीवासुदेवकी प्राप्ति हो गयी है, उसको प्रत्यक्षरूपसे सब कुछ वासुदेव ही दिखलायी देता है। ऐसी अवस्थामें उस भक्तके शरीर, वचन और मनसे जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, उसकी दृष्टिमें सब एकमात्र भगवान्‌के ही साथ होती हैं। वह हाथोंसे किसीकी सेवा करता है, तो वह भगवान्‌की ही सेवा करता है, किसीको मधुरवाणीसे सुख पहुंचाता है तो वह भगवान्‌को ही सुख पहुँचाता है, किसीको देखता है तो वह भगवान्‌को ही देखता है, किसीके साथ कहीं जाता है तो वह भगवान्‌के साथ भगवान्‌की ओर ही जाता है। इस प्रकार वह जो कुछ भी करता है, सब भगवान्‌में ही और भगवान्‌के ही साथ करता है। इसीलिये यह कहा गया है कि वह सब प्रकारसे बरतता हुआ (सब कुछ करता हुआ) भी भगवान्‌में ही बरतता है।

प्रश्न—सब भगवान् ही हैं, इस प्रकारका अनुभव हो जानेपर उसके द्वारा लोकोचित यथायोग्य व्यवहार कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—छुरी, कैंची, कढ़ाई, तार, सींकचे, हथौड़े, तलवार और बाण आदिमें एक लोहेका प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर भी जैसे उन सबका यथायोग्य व्यवहार किया जाता है, वैसे ही भगवत्प्राप्त भक्तके द्वारा सर्वत्र और सबमें भगवान्‌को देखते हुए ही सबके साथ शास्त्रानुकूल यथायोग्य व्यवहार हो सकता है। अवश्य ही साधारण मनुष्योंके और उसके व्यवहारमें बहुत बड़े महत्त्वका अन्तर हो जाता है। साधारण मनुष्यके द्वारा दूसरोंके साथ बड़ी सावधानीसे बहुत अच्छा व्यवहार किये जानेपर भी उनमें भगवद्बुद्धि न होकर परबुद्धि होनेसे तथा छोटा या बड़ा अपना कुछ-न-कुछ स्वार्थ होनेसे उसके द्वारा ऐसा व्यवहार होना सम्भव है, जिससे उनका अहित हो जाय; परन्तु सर्वत्र सबमें भगवद्दर्शन होते रहनेके कारण उस भक्तके द्वारा तो स्वाभाविक ही सबका हित ही होता है। उसके द्वारा ऐसा कोई कार्य किसी भी अवस्थामें नहीं बन सकता, जिससे वस्तुतः किसीका किंचित् भी अहित होता हो—

'अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत प्रभु निज मुख तें घट घट हौं बिहरौं॥'

अथवा—

उमा जे राम-चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

प्रश्न—यहाँ भगवान्‌के सब प्रकारसे बरतता हुआ आदि वाक्यका यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि 'वह अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, सब कुछ करता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।' तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—ऐसा अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि भगवत्प्राप्त ऐसे महात्मा पुरुषके द्वारा पापकर्म तो हो ही नहीं सकते। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'समस्त अनर्थोंका मूलकारण महापापी 'काम' है' (३।३७) और 'इस कामनाकी उत्पत्ति आसक्तिसे होती है' (२।६२), एवं 'परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके बाद इस रसरूपी आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाता है' (२।५९)। ऐसी अवस्थामें भगवत्प्राप्त पुरुषके द्वारा निषिद्ध कर्मों (पापों) का होना सम्भव नहीं है। इसके सिवा, भगवान्‌के इन वचनोंके अनुसार कि 'श्रेष्ठ पुरुष (ज्ञानी) जैसा आचरण करता है, अन्यान्य लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं' (३।२१), ज्ञानीपर स्वाभाविक ही एक दायित्व आ जाता है, इस कारणसे भी उसके द्वारा पापकर्मोंका बनना सम्भव नहीं है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३२॥

हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है॥३२॥

प्रश्न—अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखना क्या है?

उत्तर—जैसे मनुष्य अपने सारे अंगोंमें अपने आत्माको समभावसे देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर संसारमें अपने-आपको समभावसे देखना—अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखना है।

प्रश्न—चराचर सम्पूर्ण संसारमें सुख-दुःखको अपनी भाँति सम देखना क्या है?

उत्तर—जिस प्रकार अपने सारे अंगोंमें आत्मभाव समान होनेके कारण मनुष्य उनमें होनेवाले सुख-दुःखोंको समानभावसे देखता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्‌में आत्मभाव समान हो जानेके कारण

जो उनमें प्रतीत होनेवाले सुख-दु:खको समानभावसे देखना है, वही अपनी भाँति सबके सुख-दु:खको सम देखना है। अभिप्राय यह है कि सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जानेके कारण समस्त विराट् विश्व उसका स्वरूप बन जाता है। जगत्में उसके लिये दूसरा कुछ रहता ही नहीं। इसलिये जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दु:ख पहुँचाना नहीं चाहता, तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये ही अथक चेष्टा करता रहता है और ऐसा करके न वह कभी अपनेपर अपनेको कृपा करनेवाला मानकर बदलेमें कृतज्ञता चाहता है, न कोई अहसान करता है और न अपनेको 'कर्तव्यपरायण' समझकर अभिमान ही करता है, वह अपने सुखकी चेष्टा इसीलिये करता है कि उससे वैसा किये विना रहा ही नहीं जाता, यह उसका सहज स्वभाव होता है; ठीक वैसे ही वह योगी समस्त विश्वको कभी किसी प्रकार किञ्चित् भी दु:ख न पहुँचाकर सदा उसके सुखके लिये सहज स्वभावसे ही चेष्टा करता है।

[पाश्चात्य जगत्में, 'समस्त संसारके लोग अपनेको परस्पर भाई समझने लगें' यह 'विश्व-बन्धुत्व'का सिद्धान्त बहुत ऊँचा माना जाता है और वस्तुत: यह ऊँचा है भी। किन्तु भाई-भाईमें, स्वार्थकी भिन्नतासे किसी-न-किसी अंशमें कलह होनेकी सम्भावना रहती ही है; पर जहाँ आत्मभाव है—यह भाव है कि 'वह मैं ही हूँ', वहाँ स्वार्थभेद नहीं रह सकता और स्वार्थभेदके नाशसे परस्पर कलहकी कोई आशंका नहीं रह सकती। गीताकी शिक्षाको आज पाश्चात्य जगत्के विद्वान् भी इन्हीं सब सिद्धान्तोंके कारण सबसे ऊँची मानने लगे हैं।]

प्रश्न—ऐसे भगवत्प्राप्त योगी महापुरुषको समस्त चराचर जगत्के सुख-दु:खका वास्तवमें अनुभव होता है अथवा केवल प्रतीतिमात्र होती है ?

उत्तर—न अनुभव ही कह सकते हैं और न प्रतीति ही ! जब उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा दूसरी किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रह गया, तब दूसरा अनुभव तो किस बातका होता ? और केवल प्रतीतिमात्र ही होती तो उसके द्वारा दु:ख न पहुँचाने और सुख पहुँचानेकी चेष्टा ही कैसे बनती ? अतएव उस समय उसका वस्तुत: क्या भाव और कैसी दृष्टि होती है ? इसको वही जानता है। वाणीके द्वारा उसके भाव और दृष्टिकोणको व्यक्त नहीं किया जा सकता। फिर भी समझनेके लिये यह कहा जा सकता है कि उसको परमात्मासे भिन्न किसी वस्तुका कभी अनुभव नहीं होता, लोकदृष्टिमें केवल प्रतीतिमात्र होती है; तथापि उसके कार्य बड़े ही उत्तम, सुश्रृङ्खल और सुव्यवस्थित होते हैं।

प्रश्न—यदि वास्तवमें अनुभव नहीं होता तो फिर लोकदृष्टिमें प्रतीत होनेवाले दु:खोंकी निवृत्तिके लिये उसके द्वारा चेष्टा कैसे होती है ?

उत्तर—यही तो उसकी विशेषता है। कार्यका सम्पादन उत्तम-से-उत्तम रूपमें हो परन्तु न तो उसके लिये यथार्थमें उन कार्योंकी सत्ता ही हो, और न उसका उनमें कुछ प्रयोजन ही रहे। तथापि स्थूलरूपमें समझनेके लिये ऐसा कहा जा सकता है कि, जैसे बहुत-से छोटे बच्चे खेलते-खेलते तुच्छ और नगण्य कङ्कड़-पत्थरों, मिट्टीके ढेलों अथवा तिनकोंके लिये आपसमें लड़ने लगें और अज्ञानवश एक-दूसरेको चोट पहुँचाकर दुखी हो जायँ, तथा जैसे उनके इस झगड़ेको सर्वथा व्यर्थ और तुच्छ समझनेपर भी बुद्धिमान् पुरुष उनके बीचमें आकर उन्हें अच्छी तरह समझावें-बुझावें, उनकी अलग-अलग बातें सुनें और उनकी दु:खनिवृत्तिके लिये बड़ी ही बुद्धिमानीके साथ चेष्टा करें, वैसे ही भगवत्प्राप्त योगी पुरुष भी दु:खमें पड़े हुए विश्वकी दु:खनिवृत्तिके लिये चेष्टा करते हैं। जिन महापुरुषोंका जगत्के धन, मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति

आदि किसी भी वस्तुसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा, जिनकी दृष्टिमें कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा और वस्तुत: जिनके लिये एक परमात्माको छोड़कर अन्य किसीकी सत्ता ही नहीं रह गयी, उनकी अकथनीय स्थितिको, किसी भी दृष्टान्तके द्वारा, समझना असम्भव है; उनके लिये कोई भी लौकिक दृष्टान्त पूर्णांशमें लागू पड़ता ही नहीं। दृष्टान्त तो किसी एक अंश-विशेषको लक्ष्य करानेके लिये ही दिये जाते हैं।

प्रश्न--'योगी' के साथ 'परम:' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर--'परम:' विशेषण देकर भगवान् यह सूचित करते हैं कि यहाँ जिस 'योगी' का वर्णन है, वह साधक नहीं है, 'सिद्ध' योगी है। यह स्मरण रखना चाहिये कि भगवत्प्राप्त पुरुषमें--चाहे वह किसी भी मार्गसे प्राप्त हुआ हो--'समता' अत्यन्त आवश्यक है। भगवान्ने जहाँ-जहाँ भगवत्प्राप्त पुरुषका वर्णन किया है, वहाँ 'समता' को ही प्रधान स्थान दिया है। किसी पुरुषमें अन्यान्य बहुत-से सद्गुण हों, परन्तु यदि 'समता' न हो, तो यही समझना चाहिये कि उसे भगवत्प्राप्ति अभी नहीं हुई है; क्योंकि समताके विना राग-द्वेषका आत्यन्तिक अभाव और सम्पूर्ण प्राणियोंमें सहज सुहृदताका भाव नहीं हो सकता। जिनको 'समता' प्राप्त है, वे ही भगवत्प्राप्त श्रेष्ठ योगी हैं।

सम्बन्ध---भगवान्के समतासम्बन्धी उपदेशको सुनकर अर्जुन मनकी चञ्चलताके कारण उसमें अपनी अचल स्थिति होना बहुत कठिन समझकर कह रहे हैं—

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! जो यह योग आपने समत्वभावसे कहा है, मनके चञ्चल होनेसे मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देखता हूँ॥ ३३॥

प्रश्न--'अयं योग:' से किस 'योग' को लक्ष्य किया गया है ?

उत्तर--कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग या ज्ञानयोग आदि साधनोंके द्वारा जो पुरुष परमात्माको प्राप्त हो चुका है, उसकी 'नित्य समता' रूप स्थितिको ही यहाँ 'योग' कहा गया है।

प्रश्न--इस 'योग' से यहाँ 'ध्यानयोग' क्यों नहीं माना जा सकता, क्योंकि मनकी चञ्चलता तो ध्यान-योगमें ही बाधक है ?

उत्तर--यह ठीक है, परन्तु ३१वें और ३२वें श्लोकोंका प्रकरण ध्यानयोगका नहीं है। वह तो भगवत्प्राप्त पुरुषोंकी व्यवहारदशाका है। और अर्जुनका कथन भी उन्हीं दोनों श्लोकोंमें वर्णित समस्त साधनोंके फलस्वरूप 'समत्व' के लक्ष्यसे ही प्रतीत होता है। इसीलिये 'ध्यानयोग' अर्थ न मानकर 'समत्वयोग' माना गया है।

प्रश्न--इस 'समता'रूप स्थिर स्थितिकी प्राप्तिमें मनकी चञ्चलताको बाधक क्यों माना गया है ?

उत्तर—'चञ्चलता' चित्तके विक्षेपको कहते हैं, विक्षेपमें प्रधान कारण हैं—राग-द्वेष; और जहाँ राग-द्वेष हैं वहाँ 'समता' नहीं रह सकती! क्योंकि 'राग-द्वेष' से 'समता' का अत्यन्त विरोध है। इसीलिये 'समता' रूप स्थितिकी प्राप्तिमें चञ्चलताको बाधक माना गया है।

सम्बन्ध—समत्वयोगमें मनकी चञ्चलताको बाधक बतलाकर अब अर्जुन मनके निग्रहको अत्यन्त कठिन बतलाते हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥

क्योंकि हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन स्वभाववाला, बड़ा दृढ़ और बलवान् है। इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुके रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ॥३४॥

प्रश्न—चञ्चलताकी बात तो अर्जुन पिछले श्लोकमें कह ही चुके हैं, यहाँ उसीको फिरसे कहनेका क्या कारण है?

उत्तर—वहाँ अर्जुनने 'समत्व' योगकी स्थिर स्थितिमें मनकी चञ्चलताको बाधक बतलाया था, इससे स्वाभाविक ही उनसे कहा जा सकता था कि 'मनको वशमें कर लो, चञ्चलता दूर हो जायगी;' परन्तु अर्जुन मनको वशमें करना अत्यन्त कठिन समझते हैं, इसीलिये उन्होंने यहाँ पुनः मनको चञ्चल बतलाया है।

प्रश्न—'मन'के साथ 'प्रमाथि' विशेषण देनेका क्या कारण है?

उत्तर—इससे अर्जुन कहते हैं कि मन दीपशिखाकी भाँति चञ्चल तो है ही, परन्तु मथानीके सदृश प्रमथनशील भी है। जैसे दूध-दहीको मथानी मथ डालती है, वैसे ही मन भी शरीर और इन्द्रियोंको बिल्कुल क्षुब्ध कर डालता है।

प्रश्न—दूसरे अध्यायके ६०वें श्लोकमें इन्द्रियोंको प्रमथनशील बतलाया है, यहाँ मनको बतलाते हैं। इसका क्या कारण है?

उत्तर—विषयोंके संगसे दोनों ही एक-दूसरेको क्षुब्ध करनेवाले हैं और दोनों मिलकर तो बुद्धिको भी क्षुब्ध कर डालते हैं (२।६७)। इसीलिये दोनोंको 'प्रमाथी' कहा गया है।

प्रश्न—मनको 'बलवत्' क्यों बतलाया गया है?

उत्तर—इसीलिये बतलाया गया है कि यह स्थिर न रहकर सदा इधर-उधर भटकनेवाला और शरीर तथा इन्द्रियोंको विलो डालनेवाला तो है ही, साथ ही यह उन्मत्त गजराजकी भाँति बड़ा बलवान् भी है। जैसे बड़े पराक्रमी हाथीपर बार-बार अङ्कुश-प्रहार होनेपर भी कुछ असर नहीं होता, वह मनमानी करता ही रहता है, वैसे ही विवेकरूपी अङ्कुशके द्वारा बार-बार प्रहार करनेपर भी यह बलवान् मन विषयोंके बीहड़ वनसे निकलना नहीं चाहता!

प्रश्न—मनको दृढ़ बतलानेका क्या भाव है?

उत्तर—यह चञ्चल, प्रमाथी और बलवान् मन तन्तुनाग (गोह) के सदृश अत्यन्त दृढ़ भी है। यह जिस विषयमें रमता है, उसको इतनी मजबूतीसे पकड़ लेता है कि उसके साथ तदाकारताको ही प्राप्त हो जाता है। इसको 'दृढ़' बतलानेका यही भाव है।

प्रश्न—मनको वशमें करना मैं वायुके रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ—अर्जुनके इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे अर्जुन यह कहते हैं कि जो इतना चञ्चल और दुर्धर्ष है, उस मनको रोकना मेरे लिये अत्यन्त ही कठिन है। इसी कठिनताको सिद्ध करनेके लिये वे वायुका उदाहरण देकर बतलाते हैं कि जैसे शरीरमें

निरन्तर चलनेवाले श्वासोच्छ्वासरूपी वायुके प्रवाहको हठ, विचार, विवेक और बल आदि साधनोंके द्वारा रोक लेना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार मैं इस विषयोंमें निरन्तर विचरनेवाले, चञ्चल, प्रमथनशील, बलवान् और दृढ़ मनको रोकना भी अत्यन्त कठिन समझता हूँ।

प्रश्न—'कृष्ण' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भक्तोंके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करनेके कारण भी भगवान्‌का नाम 'कृष्ण' है। अर्जुन इस सम्बोधनके द्वारा मानो यह प्रार्थना कर रहे हैं कि 'हे भगवन् ! मेरा यह मन बड़ा ही चञ्चल है, मैं अपनी शक्तिसे इसको वशमें करना अत्यन्त कठिन समझता हूँ। और आपका तो स्वाभाविक गुण ही है मनको बरबस अपनी ओर खींच लेना। आपके लिये यह आसान काम है। अतएव कृपा करके इसको भी आप अपनी ओर आकृष्ट कर लीजिये !'

सम्बन्ध—मनोनिग्रहके सम्बन्धमें अर्जुनकी उक्तिको स्वीकार करते हुए भगवान् अब मनको वशमें करनेके उपाय बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥*

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है ॥ ३५॥

प्रश्न—निस्सन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है—भगवान्‌के इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान् अर्जुनकी उक्तिका समर्थन करके मनकी चञ्चलता और उसके निग्रहकी कठिनताको स्वीकार करते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'तु' का क्या भाव है ?

उत्तर—यद्यपि मनका वशमें होना बड़ा कठिन है, परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे यह सहज ही वशमें हो सकता है। यही दिखलाने और आश्वासन देनेके लिये 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—अभ्यास क्या है ?

उत्तर—मनको किसी लक्ष्य विषयमें तदाकार करनेके लिये, उसे अन्य विषयोंसे खींच-खींचकर बार-बार उस विषयमें लगाना पड़ता है। इस प्रकार बार-बार किये जानेवाले प्रयत्नका नाम ही अभ्यास है। यह प्रसंग परमात्मामें मन लगानेका है, अतएव परमात्माको अपना लक्ष्य बनाकर चित्तवृत्तियोंके प्रवाहको बार-बार उन्हींकी ओर लगानेका प्रयत्न करना यहाँ 'अभ्यास' है।†

प्रश्न—चित्तवृत्तियोंको परमात्माकी ओर लगानेका यह अभ्यास कैसे करना चाहिये ?

---

* ठीक इसी आशयका सूत्र पातञ्जल योगदर्शनमें है—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (यो० द० १-१२)। 'अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है।'

† 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (योग० द० १।१३)। 'उनमेंसे स्थितिके लिये प्रयत्न करनेका नाम अभ्यास है।'

उत्तर—परमात्मा ही सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर और सबसे बढ़कर एकमात्र परमतत्त्व हैं, तथा उन्हींको प्राप्त करना जीवनका परम लक्ष्य है—इस बातकी दृढ़ धारणा करके अभ्यास करना चाहिये। अभ्यासके अनेकों प्रकार शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) श्रद्धा और भक्तिके साथ धैर्यवती बुद्धिकी सहायतासे मनको बार-बार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें लगानेका अभ्यास करना (६ । २६)।

(२) जहाँ मन जाय, वहीं सर्वशक्तिमान् अपने इष्टदेव परमेश्वरके स्वरूपका चिन्तन करना।

(३) भगवान्की मानसपूजाका अभ्यास करना।

(४) वाणी, श्वास, नाडी, कण्ठ और मन आदिमेंसे किसीके भी द्वारा श्रीराम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति आदिके किसी भी अपने इष्टके नामको परम प्रेम और श्रद्धाके साथ भगवान्का ही नाम समझकर निष्कामभावसे उसका निरन्तर जप करना।

(५) शास्त्रोंके भगवत्-सम्बन्धी उपदेशोंका श्रद्धा और भक्तिके साथ बार-बार मनन करना और उनके अनुसार प्रयत्न करना।

(६) भगवत्प्राप्त महात्मा पुरुषोंका संग करके उनके अमृतमय वचनोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सुनना और तदनुसार चलनेकी चेष्टा करना (१३ । २५)।

(७) मनकी चञ्चलताका नाश होकर वह भगवान्में ही लग जाय, इसके लिये हृदयके सच्चे कातरभावसे भगवान्से प्रार्थना करना।

इनके अतिरिक्त और भी अनेकों प्रकार हैं। परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिये कि अभ्यास तभी सफल होगा, जब वह अत्यन्त आदर-बुद्धिसे, श्रद्धा और विश्वासपूर्वक, विना विरामके लगातार और लंबे समय-तक किया जायगा।* आज एक साधनमें मन लगानेकी चेष्टा की, कल दूसरा किया, कुछ दिन बाद और कुछ करने लगे, कहीं भी विश्वास नहीं जमाया; आज किया, कल नहीं, दो-चार दिन बाद फिर किया, फिर छोड़ दिया; अथवा कुछ समय करनेके बाद जी ऊब गया, धीरज जाता रहा, और उसे त्याग दिया। इस प्रकारके अभ्याससे सफलता नहीं मिलती।

प्रश्न—वैराग्यका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—इस लोक और परलोकके सम्पूण पदार्थोंमेंसे जब आसक्ति और समस्त कामनाओंका पूर्णतया नाश हो जाता है, तब उसे 'वैराग्य' कहते हैं।† वैराग्यवान् पुरुषके चित्तमें सुख या दुःख दोनोंहीसे कोई विकार नहीं होता। वह उस अचल और अटल आभ्यन्तरिक अनासक्ति या पूर्ण वैराग्यको प्राप्त होता है, जो किसी भी हालतमें उसके चित्तको किसी ओर नहीं खिंचने देता।

प्रश्न—'वैराग्य' कैसे हो सकता है ?

* 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।' (यो० द० १ । १४)

'किन्तु वह अभ्यास लंबे समयतक, निरन्तर तथा सत्कारपूर्वक सेवन करनेसे दृढ़भूमि होता है।'

† वैराग्यकी प्रायः इसीसे मिलती-जुलती व्याख्या महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें की है—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।' (यो० द० १ । १५)

'स्त्री धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है।'

'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।' (यो० द० १ । १६)

'प्रकृतिसे अत्यन्त विलक्षण पुरुषके ज्ञानसे तीनों गुणोंमें जो तृष्णाका अभाव हो जाना है, वह परवैराग्य या सर्वोत्तम वैराग्य है।'

उत्तर—वैराग्यके अनेकों साधन हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) संसारके पदार्थोंमें विचारके द्वारा रमणीयता, प्रेम और सुखका अभाव देखना।

(२) उन्हें जन्म-मृत्यु, जरा, व्याधि आदि दुःख, दोषोंसे युक्त, अनित्य और भयदायक मानना।

(३) संसारके और भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वका निरूपण करनेवाले सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना।

(४) परम वैराग्यवान् पुरुषोंका संग करना, संगके अभावमें उनके वैराग्यपूर्ण चित्र और चरित्रोंका स्मरण-मनन करना।

(५) संसारके टूटे हुए विशाल महलों, वीरान हुए नगरों और गाँवोंके खँडहरोंको देखना।

(६) एकमात्र ब्रह्मकी ही अखण्ड, अद्वितीय सत्ता-का बोध करके अन्य सबकी भिन्न सत्ताका अभाव कर देना।

(७) अधिकारी पुरुषोंके द्वारा भगवान्‌के अकथनीय गुण, प्रभाव, तत्त्व, प्रेम, रहस्य तथा उनके दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यका बार-बार श्रवण करना, उन्हें जानना और उनपर मुग्ध होना।

इसी प्रकारके और भी अनेकों साधन हैं।

प्रश्न—मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य दोनों ही साधनोंकी आवश्यकता है, या एकसे भी मन वशमें हो सकता है?

उत्तर—दोनोंकी आवश्यकता है। 'अभ्यास' चित्त-नदीकी धाराको भगवान्‌की ओर ले जानेवाला सुन्दर मार्ग है, और 'वैराग्य' उसकी विषयाभिमुखी गतिको रोकनेवाला बाँध है।

परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि ये दोनों एक-दूसरेके सहायक हैं। अभ्याससे वैराग्य बढ़ता है और वैराग्यसे अभ्यासकी वृद्धि होती है। अतएव एकका भी अच्छी तरह आश्रय लेनेसे मन वशमें हो सकता है।

प्रश्न—यहाँ अर्जुनको 'महाबाहो' सम्बोधन किस-लिये दिया गया है?

उत्तर—अर्जुन विश्वविख्यात वीर थे। देव, दानव और मनुष्य—सभी श्रेणियोंके महान् योद्धाओंको अर्जुनने अपने बाहुबलसे परास्त किया था। यहाँ भगवान् उनको इस वीरताका स्मरण कराकर मानो उत्साहित कर रहे हैं कि 'तुम्हारे-जैसे अतुल पराक्रमी वीरके लिये मनको इतना बलवान् मानकर उससे डरना और उत्साह छोड़ना उचित नहीं है। साहस करो, तुम उसे जीत सकते हो।'

सम्बन्ध—भगवान्‌ने मनको वशमें करनेके उपाय बतलाये। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि मनको वशमें न किया जाय तो क्या हानि है? इसपर भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है॥३६॥

प्रश्न—मनको वशमें न करनेवाले पुरुषके द्वारा इस समत्वयोगका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन क्यों है?

उत्तर—जो अभ्यास और वैराग्यके द्वारा अपने मनको वशमें नहीं कर लेते, उनके मनपर राग-द्वेषका अधिकार

रहता है और राग-द्वेषकी प्रेरणासे वह बंदरकी भाँति संसारमें ही इधर-उधर उछलता-कूदता रहता है। जब मन भोगोंमें इतना आसक्त होता है, तब उसकी बुद्धि भी बहुशाखावाली और अस्थिर ही बनी रहती है (२।४१-४४)। ऐसी अवस्थामें उसे 'समत्वयोग' की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसीलिये ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—वशमें हो जानेपर मनके क्या लक्षण होते हैं?

उत्तर—फिर इसकी चञ्चलता, प्रमथनशीलता, बलवत्ता और कठिन आग्रहकारिता दूर हो जाती है। सीधे, सरल, शान्त और अनुगत शिष्यकी भाँति यह इतना आज्ञाकारी हो जाता है कि फिर जब, जहाँ और जितनी देरतक इसे लगाया जाय, यह चुपचाप लग जाता है। न वहाँ लगनेमें जरा भी आनाकानी करता है, न इन्द्रियोंकी बात सुनकर कहीं जाना चाहता है, न अपनी इच्छासे हटता है, न ऊबता है और न उपद्रव ही मचाता है। बड़ी शान्तिके साथ इष्ट वस्तुमें इतना घुल-मिल जाता है कि फिर सहजमें यह भी पता नहीं लगता कि इसका अलग अस्तित्व भी है या नहीं। यही मनका वास्तवमें वशमें होना है।

प्रश्न—'तु' के प्रयोगका क्या कारण है?

उत्तर—मनको वशमें न करनेवाले पुरुषसे, वशमें करनेवालेकी विलक्षणता दिखलानेके लिये ही उसका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—मनको वशमें कर चुकनेवाले पुरुषको 'प्रयत्नशील' क्यों कहा गया?

उत्तर—मनके वशमें हो जानेके बाद भी यदि प्रयत्न न किया जाय—उस मनको परमात्मामें पूर्णतया लगानेका तीव्र साधन न किया जाय, तो उससे समत्वयोगकी प्राप्ति अपने-आप नहीं हो जाती। अतः 'प्रयत्न' की आवश्यकता सिद्ध करनेके लिये ही ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—मनके वशमें हो जानेपर समत्वरूप योगकी प्राप्तिके साधन क्या हैं?

उत्तर—अनेकों साधन हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) कामना और सम्पूर्ण विषयोंको त्यागकर विवेक और वैराग्यसे युक्त, पवित्र, स्थिर और परमात्म-मुखी बुद्धिके द्वारा मनको नित्य-निरन्तर विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें लगाकर उसके सिवा और किसीका भी चिन्तन न करना (६।२५)।

(२) सम्पूर्ण चराचर जगत्‌के बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, सब ओर एकमात्र सर्वव्यापक नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको ही परिपूर्ण देखना, अपने सहित समस्त दृश्यप्रपञ्चको भी परमात्माका ही स्वरूप समझना और जैसे आकाशमें स्थित बादलोंके ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर, एकमात्र आकाश ही परिपूर्ण हो रहा है तथा वह आकाश ही उसका उपादान कारण भी है, वैसे ही अपने सहित इस सारे ब्रह्माण्डको सब ओरसे परमात्माके द्वारा ओतप्रोत और परमात्माका ही स्वरूप समझना (१३।१५)।

(३) शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा संसारमें जो कुछ भी क्रिया हो रही है, वह गुणोंके द्वारा ही हो रही है, अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं, ऐसा समझकर अपनेको उन सब क्रियाओंसे सर्वथा पृथक् द्रष्टा—साक्षी समझना। और नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होकर समष्टिबुद्धिके द्वारा अपने उस निराकार अनन्त चेतनस्वरूपके अन्तर्गत संकल्पके आधारपर स्थित दृश्यवर्गको क्षणभङ्गुर देखना (५।८-९; १४।१९)।

(४) भगवान्‌के श्रीराम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति या विश्वरूप आदि किसी भी स्वरूपको सर्वोपरि, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं परम दयालु, प्रेमास्पद परमात्माका ही स्वरूप समझकर अपनी रुचिके अनुसार उनके चित्रपट या प्रतिमाकी स्थापना करके, अथवा मनके द्वारा अपने हृदयमें, या बाहर, भगवान्‌को प्रत्यक्षके सदृश निश्चय करके, अतिशय श्रद्धा और भक्तिके साथ निरन्तर उनमें मन लगाना तथा पत्र-पुष्प-फलादिके द्वारा अथवा अन्यान्य उचित प्रकारोंसे उनकी सेवा-पूजा करना।

(५) सिद्धि और असिद्धिमें समभाव रखते हुए, आसक्ति एवं फलेच्छाका त्याग करके शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करना (२।४८); या श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सब कुछ भगवान्‌का समझकर केवल भगवान्‌के लिये ही यज्ञ, दान, तप और सेवा आदि शास्त्रोक्त कर्मोंका आचरण करना (१२।१०); अथवा सम्पूर्ण कर्मोंको एवं अपने-आपको भगवान्‌में अर्पण करके, ममता और आसक्तिसे रहित होकर, निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए, कठपुतलीकी भाँति, भगवान् जैसे भी, जो कुछ भी करावें, प्रसन्नताके साथ करते रहना (१८।५७)।

इनके सिवा और भी बहुत-से साधन हैं, तथा जो साधन मनको वशमें करनेके बतलाये गये हैं, मनके वशमें होनेके बाद, श्रद्धा और प्रेमके साथ परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करनेपर उनके द्वारा भी समत्वयोगकी प्राप्ति हो सकती है।

सम्बन्ध—योगसिद्धिके लिये मनको वशमें करना परम आवश्यक बतलाया गया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि जिसका मन वशमें नहीं है, किन्तु योगमें श्रद्धा होनेके कारण जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसकी क्या गति होती है? इसीके लिये अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३७॥

अर्जुन बोले—हे श्रीकृष्ण! जो योगमें श्रद्धा रखनेवाला है किन्तु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित हो गया है, ऐसा साधक योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्साक्षात्कारको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है?॥३७॥

प्रश्न—यहाँ 'अयतिः' का अर्थ 'प्रयत्नरहित' या 'शिथिलप्रयत्न' न करके 'असंयमी' क्यों किया गया?

उत्तर—पिछले श्लोकमें जिसका मन वशमें नहीं है, उस 'असंयतात्मा' के लिये योगका प्राप्त होना कठिन बतलाया गया है। वही बात अर्जुनके इस प्रश्नका बीज है। इसके सिवा, श्रद्धालु पुरुषके प्रयत्नमें कमी रहनेकी शङ्का भी नहीं होती; इसी प्रकार, वशमें किये हुए मनके विचलित होनेकी भी शङ्का नहीं की जा सकती। इन्हीं सब कारणोंसे 'प्रयत्न न करनेवाला' और 'कम प्रयत्न करनेवाला' अर्थ न करके 'जिसका मन जीता हुआ नहीं है' ऐसे साधकके लक्ष्यसे 'असंयमी' अर्थ किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'योग' शब्द किसका वाचक है, उससे मनका विचलित हो जाना क्या है? एवं श्रद्धायुक्त

मनुष्यके मनका उस योगसे विचलित हो जानेमें क्या कारण है ?

उत्तर—यहाँ 'योग' शब्द परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले सांख्ययोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंका वाचक है। शरीरसे प्राणोंका वियोग होते समय मनसे जो साधनका लक्ष्य छूट जाना है, यही मनका योगसे विचलित हो जाना है और इस प्रकार मनके विचलित होनेमें मनकी चञ्चलता, आसक्ति, कामना, शरीरकी पीड़ा और बेहोशी आदि बहुत-से कारण हो सकते हैं।

प्रश्न—पूर्व श्लोकोंमें योगका अर्थ भगवत्प्राप्तिसे होनेवाला समभाव माना गया है और इस श्लोकमें वही 'योग' शब्द ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि साधनोंका वाचक माना गया है—इसका क्या कारण है ?

उत्तर—'योग' शब्दके अर्थ प्रकरणके अनुसार माने जाते हैं। तैंतीसवें श्लोकमें अर्जुनका प्रश्न पिछले श्लोकसे सम्बन्ध रखनेवाले समतारूप योगके विषयमें है और छत्तीसवें श्लोकमें भगवान्‌का उत्तर भी उसी विषयमें है। इसीलिये वहाँ 'योग' का अर्थ 'समभाव' माना गया है। परन्तु इस श्लोकमें अर्जुनका प्रश्न साधककी गतिके विषयमें है। इसीलिये यहाँ 'योग' का अर्थ साधन माना गया है।

प्रश्न—यहाँ 'योगसे विचलित होने' का अर्थ मृत्युके समय साधनका लक्ष्य छूट जाना न मानकर यदि अर्जुनके प्रश्नका यह अभिप्राय मान लिया जाय कि 'जो साधक कर्मयोग, ध्यानयोग आदिका साधन करते-करते उस साधनको छोड़कर विषय-भोगोंमें लग जाता है, उसकी क्या गति होती है ?' तो क्या हानि है ?

उत्तर—अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते समय भगवान्‌ने मरनेके बादकी गतिका वर्णन किया है और उस साधकके दूसरे जन्मकी ही बात कही है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ अर्जुनका प्रश्न मृत्युकालके सम्बन्धमें ही है। इसके सिवा 'गति' शब्द भी प्रायः मरनेके बाद होनेवाले परिणामका ही सूचक है, इससे भी यहाँ अन्तकालका प्रकरण मानना उचित जान पड़ता है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? ॥३८॥

प्रश्न—भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित होना एवं आश्रयरहित होना क्या है ?

उत्तर—मनकी चञ्चलता तथा विवेक और वैराग्यकी कमीके कारण भगवत्प्राप्तिके साधनसे मनका विचलित हो जाना और फलतः परमात्माकी प्राप्ति न होना ही पुरुषका भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित एवं आश्रयरहित होना है।

प्रश्न—छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति उभयभ्रष्ट होकर नष्ट हो जानेका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ अर्जुनका अभिप्राय यह है कि जीवनभर फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेसे स्वर्गादि भोग तो उसे मिलते नहीं और अन्तसमयमें परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे मन विचलित हो जानेके कारण भगवत्प्राप्ति भी नहीं होती। अतएव जैसे बादलका एक टुकड़ा उससे

पृथक् होकर पुनः दूसरे बादलसे संयुक्त न होनेपर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही वह साधक स्वर्गादि लोक और परमात्मा—दोनोंकी प्राप्तिसे वञ्चित होकर नष्ट तो नहीं हो जाता, उसकी कहीं अधोगति तो नहीं होती ?

सम्बन्ध—शंका उपस्थित करके, अब अर्जुन उसकी निवृत्तिके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं—

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है ॥३९॥

प्रश्न—अर्जुनके इस कथनका स्पष्टीकरण कीजिये ।

उत्तर—यहाँ अर्जुन मृत्युके बादकी गति जानना चाहते हैं । यह एक ऐसा रहस्य है, जिसका उद्घाटन बुद्धि और तर्कके बलपर कोई नहीं कर सकता । इसको वही जान सकते हैं जो कर्मके समस्त परिणाम, सृष्टिके सम्पूर्ण नियम और समस्त लोकोंके रहस्योंसे पूर्ण परिचित हों । लोक-लोकान्तरोंके देवता, सर्वत्र विचरण करनेकी सामर्थ्यवाले ऋषि-मुनि और तपस्वी तथा विभिन्न लोकोंकी घटनावलियोंको देख और जान सकनेकी सामर्थ्यवाले योगी किसी अंशतक इन बातोंको जानते हैं; परन्तु उनका ज्ञान भी सीमित ही होता है । इसका पूर्ण रहस्य तो सबके एकमात्र स्वामी श्रीभगवान् ही जानते हैं । भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावको अर्जुन पहलेसे ही जानते थे । फिर भगवान्ने अभी-अभी जो चौथे अध्यायमें अपनेको 'जन्मोंके जाननेवाले' (४।५), 'अजन्मा, अविनाशी तथा सब प्राणियोंके ईश्वर' (४।६), 'गुणकर्मानुसार सबके रचयिता' (४।१३) और पाँचवें अध्यायके अन्तमें 'सब लोकोंके महान् ईश्वर' बतलाया, इससे भगवान् श्रीकृष्णके परमेश्वरत्वमें अर्जुनका विश्वास और भी बढ़ गया । इसीसे वे यह कहकर कि—'आपके सिवा मुझे दूसरा कोई नहीं मिल सकता जो मेरे इस संशयको पूर्णरूपसे नष्ट कर सके, इस सन्देहके संमूल नाश करनेके लिये तो आप ही योग्य हैं'—भगवान्में अपना विश्वास प्रकट करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं कि आप सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण मर्यादाओंके निर्माता और नियन्त्रणकर्ता साक्षात् परमेश्वर हैं । अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके अनन्त जीवोंकी समस्त गतियोंके रहस्यका आपको पूरा पता है और समस्त लोक-लोकान्तरोंकी त्रिकालमें होनेवाली समस्त घटनाएँ आपके लिये सदा ही प्रत्यक्ष हैं । ऐसी अवस्थामें योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गतिका वर्णन करना आपके लिये बहुत ही आसान बात है । जब आप स्वयं कृपापूर्वक यहाँ उपस्थित हैं तो मैं और किससे पूछूँ, और वस्तुतः आपके सिवा इस रहस्यको दूसरा बतला ही कौन सकता है ? अतएव कृपापूर्वक आप ही इस रहस्यको खोलकर मेरे संशयजालका छेदन कीजिये ।

सम्बन्ध—अर्जुनने यह बात पूछी थी कि वह योगसे विचलित हुआ साधक उभयभ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? भगवान् अब उसका उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही। क्योंकि हे प्यारे ! आत्मोद्धारके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ॥ ४० ॥

प्रश्न—योगसे विचलित हुए साधकका इस लोक या परलोकमें कहीं भी नाश नहीं होता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—राग-द्वेष आदि विकारोंके वशमें होकर पापाचरणमें लग जाना इस लोकमें नष्ट होना है; और पापोंके फलस्वरूप नरकमें जाना या सूकर-कूकर और कृमि-कीट आदि नीच योनियोंको प्राप्त होना परलोकमें नष्ट होना है। भगवान्ने उपर्युक्त कथनसे यह भाव दिखलाया है कि योगसाधनमें लगे हुए श्रद्धायुक्त पुरुषकी शास्त्रोंमें और महापुरुषोंमें श्रद्धा होनेसे एवं योगसाधनके प्रभावसे क्रमशः अन्तःकरणकी शुद्धि होते रहनेके कारण उसके द्वारा इस लोकमें पापाचरण होना अथवा परलोकमें उसे नरकादि लोकोंकी अथवा नीच योनियोंकी प्राप्ति होना सम्भव नहीं है।

प्रश्न—'हि' अव्यय यहाँ किस अर्थमें है और उसके साथ यह कहनेका कि 'कल्याणके लिये साधन करनेवाले किसी भी मनुष्यकी दुर्गति नहीं होती' क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'हि' अव्यय यहाँ हेतुवाचक है। और इसके सहित उपर्युक्त कथनसे भगवान्ने साधकोंको यह आश्वासन दिया है कि जो साधक अपनी शक्तिके अनुसार श्रद्धापूर्वक कल्याणका साधन करता है, उसकी किसी भी कारणसे कभी दुर्गति नहीं हो सकती ! इसीलिये उसका इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी विनाश नहीं होता।

प्रश्न—संसारमें ऐसे बहुत-से मनुष्य देखे जाते हैं जो कल्याणके लिये सत्सङ्ग और भजन-ध्यानादि साधन भी करते हैं और उनके द्वारा पापकर्म भी होते रहते हैं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—निश्चय ही उनकी श्रद्धामें कुछ त्रुटि होनी चाहिये। नहीं तो जिनकी शास्त्रोंमें और महापुरुषोंमें श्रद्धा होती है, उन्हें इस बातपर पूर्ण विश्वास हो जाता है कि पापोंके फलस्वरूप भयानक दुःखोंकी और घोर नरकयन्त्रणाओंकी प्राप्ति होगी। साथ-ही-साथ भजन-ध्यानका अभ्यास चालू रहनेसे उनके अन्तःकरणकी भी शुद्धि होती चली जाती है। ऐसी अवस्थामें उनके द्वारा जान-बूझकर पाप किये जानेका कोई खास कारण नहीं रह जाता। बल्कि साधनमें लगनेसे पूर्व यदि कोई पापाचारी होते हैं तो सत्सङ्ग और भजन-ध्यानके प्रभावसे वे भी पापाचरणसे छूटकर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाते हैं। उनका क्रमशः उत्थान ही होता है, पतन नहीं हो सकता। (९। ३०-३१)

प्रश्न—'तात' सम्बोधनका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'तात' सम्बोधन देकर भगवान्ने यहाँ अर्जुनको यह आश्वासन दिया है कि 'तुम मेरे परम प्रिय सखा और भक्त हो, फिर तुम्हें किस बातका डर है ? जब मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवालेकी भी दुर्गति नहीं होती, उसे उत्तम गति ही प्राप्त होती है, तब तुम्हारे लिये तो कहना ही क्या है ?

सम्बन्ध—योगभ्रष्ट पुरुषकी दुर्गति तो नहीं होती, फिर उसकी क्या गति होती है ? यह जाननेकी इच्छा होनेपर भगवान् कहते हैं—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है ॥४१॥

प्रश्न—'योगभ्रष्ट' किसे कहते हैं ?

उत्तर—ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और कर्मयोग आदिका साधन करनेवाले जिस पुरुषका मन विक्षेप आदि दोष, विषयासक्ति अथवा रोगादिके कारण अन्तकालमें लक्ष्यसे विचलित हो जाता है, उसे 'योगभ्रष्ट' कहते हैं ।

प्रश्न—यहाँ कहा गया है कि योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकोंको प्राप्त होता और श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है । इससे यह स्पष्ट हो गया कि वह नरकादि लोकोंको और नीच योनियोंको तो नहीं प्राप्त होता, परन्तु पुण्यवानोंके स्वर्गादि लोकोंमें तथा धनियोंके घरोंमें भोगोंकी अधिकता होती है, इस कारण भोगोंमें आसक्त होकर भोगोंकी प्राप्तिके लिये आगे चलकर उसका पापकर्मोंमें प्रवृत्त होना तो सम्भव ही है । और यदि ऐसा हो सकता है तो ये दोनों गतियाँ परिणाममें उसके पतनमें ही हेतु होती हैं, फिर इसमें शुभगतिकी कौन-सी बात हुई ?

उत्तर—मृत्युलोकसे ऊपर ब्रह्मलोकतक जितने भी लोक हैं, सभी पुण्यवानोंके लोक हैं । उनमेंसे योगभ्रष्ट पुरुष योगरूपी महान् पुण्यके प्रभावसे ऐसे लोकोंमें नहीं जाते, जहाँ वे भोगोंमें फँसकर दुर्गतिको प्राप्त हो जायँ, और न ऐसे अपवित्र (हीन गुण और हीन आचरणवाले) धनियोंके घरोंमें ही जन्म लेते हैं जो उनकी दुर्गतिमें हेतु हों । इसीलिये 'श्रीमताम्'के साथ 'शुचीनाम्' विशेषण लगाकर पवित्र शुद्ध श्रेष्ठगुण और विशुद्ध आचरणवाले धनियोंके घर जन्म लेनेकी बात कही गयी है । यह शुभगति ही तो है ।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त गति भी उन्हीं योगभ्रष्टोंकी होती है, जिनके मनमें भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करते हुए भी इस लोक और परलोकके भोगोंकी आसक्ति छिपी रहती है । विरक्त योगभ्रष्टोंको तो भोगमयी गति ही नहीं प्राप्त होती ।

प्रश्न—बहुत वर्षोंतक पुण्यवानोंके लोकोंमें रहनेमें क्या हेतु है ?

उत्तर—बहुत वर्षोंतक वहाँ रहनेका कारण है—भोगोंमें आसक्ति । जिनमें आसक्ति अधिक होती है, वे अपेक्षाकृत अधिक समयतक वहाँ रहते हैं; और जिनमें कम होती है, वे कम समयतक । जिनमें भोगासक्ति नहीं होती, वे वैराग्यवान् योगभ्रष्ट तो सीधे योगियोंके कुलोंमें ही जन्म लेते हैं ।

सम्बन्ध—साधारण योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गति बतलाकर अब आसक्तिरहित उच्च श्रेणीके योगभ्रष्ट पुरुषोंकी विशेष गतिका वर्णन करते हैं—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है। परन्तु इस प्रकारका जो यह जन्म है सो संसारमें निःसन्देह अत्यन्त दुर्लभ है ॥४२॥

प्रश्न—'अथवा'का प्रयोग किस लिये किया गया है ?

उत्तर—योगभ्रष्ट पुरुषोंमेंसे जिनके मनमें विषयासक्ति होती है, वे तो स्वर्गादि लोकोंमें और पवित्र धनियोंके घरोंमें जन्म लेते हैं; परन्तु जो वैराग्यवान् पुरुष होते हैं, वे न तो किसी लोकमें जाते हैं और न उन्हें धनियोंके घरोंमें ही जन्म लेना पड़ता है। वे तो सीधे ज्ञानवान् सिद्ध योगियोंके घरोंमें ही जन्म लेते हैं। पूर्ववर्णित योगभ्रष्टोंसे इन्हें पृथक् करनेके लिये 'अथवा' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्ति तो सब योगभ्रष्टोंको होनी ही चाहिये। वहाँके सुखोंको भोगनेके बाद उनमेंसे कुछ तो पवित्र धनियोंके घरोंमें जन्म लेते हैं और कुछ योगियोंके घरोंमें। 'अथवा' से यदि यह भाव मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि जिन पुरुषोंका भोगोंमें यथार्थ वैराग्य है, उनके लिये स्वर्गादि लोकोंमें जाकर या धनियोंके घरोंमें जन्म लेकर बहुत वर्षोंतक वहाँ निवास करना और भोग भोगना तो दण्डके सदृश ही है। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिमें विलम्ब होना वैराग्यका फल नहीं हो सकता। इसलिये उपर्युक्त अर्थ मानना ही ठीक है।

प्रश्न—योगियोंके कुलोंमें ऐसे वैराग्यवान् पुरुष जन्म लेते हैं, इससे सिद्ध है कि वे योगी अवश्य ही गृहस्थ होते हैं; क्योंकि जन्म गृहस्थाश्रममें ही हो सकता है। और 'धीमताम्' का अर्थ करते हुए ऐसे योगियोंको ज्ञानी बतलाया गया है, तो क्या गृहस्थ भी ज्ञानी हो सकते हैं ?

उत्तर—भगवत्तत्त्वका यथार्थज्ञान सभी आश्रमोंमें हो सकता है। 'अनाश्रितः कर्मफलम्' (६।१) आदिसे गीतामें यह बात भलीभाँति प्रमाणित है, अन्यान्य शास्त्रोंमें भी इसके अनेकों उदाहरण मिल सकते हैं। महर्षि वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, व्यास, जनक, अश्वपति और रैक्व आदि महापुरुषोंने गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही ज्ञान प्राप्त किया था।

प्रश्न—'योगिनाम्' का अर्थ 'ज्ञानवान् योगी' न मानकर 'साधक योगी' मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—ऐसा माननेसे 'धीमताम्' शब्द व्यर्थ हो जायगा। इसके अतिरिक्त भगवान्ने 'दुर्लभतरम्' पदसे भी यह सूचित किया है कि ऐसा जन्म पवित्र श्रीमानोंके घरोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त दुर्लभ है। अतएव यहाँ 'धीमताम्' विशेषणसे युक्त 'योगिनाम्' इस पदका 'ज्ञानवान् सिद्ध योगियोंके' ऐसा ही अर्थ मानना ठीक है।

प्रश्न—योगियोंके कुलमें होनेवाले जन्मको अत्यन्त दुर्लभ क्यों बतलाया गया ?

उत्तर—परमार्थसाधन (योगसाधन) की जितनी सुविधा योगियोंके कुलमें जन्म लेनेपर मिल सकती है, उतनी स्वर्गमें, श्रीमानोंके घरमें अथवा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकती। योगियोंके कुलमें तदनुकूल वातावरणके प्रभावसे मनुष्य प्रारम्भिक जीवनमें ही योगसाधनमें लग सकता है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानीके कुलमें जन्म लेनेवाला अज्ञानी नहीं रहता, यह सिद्धान्त श्रुतियोंसे भी प्रमाणित है।* यदि महात्मा पुरुषोंकी

* नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। (मु० उ० ३।२।९)

महिमा और प्रभावकी दृष्टिसे देखा जाय तो महात्माओंके कुल- में जन्म होनेपर तो कहना ही क्या है, महात्माओंका संग ही दुर्लभ, अगम्य एवं अमोघ माना गया है *। इसलिये ऐसे जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बतलाना उचित ही है।

सम्बन्ध—योगिकुलमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषकी उस जन्ममें जैसी परिस्थिति होती है, अब उसे बतलाते हैं—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समत्वबुद्धियोगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है॥ ४३॥

प्रश्न—यहाँ 'तत्र' पद केवल योगियोंके कुलमें जन्मका ही निर्देश करता है, अथवा पवित्र श्रीमान् एवं ज्ञानवान् योगी—दोनोंके घरोंमें जन्मका?

उत्तर—पिछले ही श्लोकमें योगिकुलका वर्णन आ चुका है, तथा उस कुलमें जन्म लेनेमें देवादि शरीरोंका व्यवधान भी नहीं है। अतएव यहाँ 'तत्र'से योगिकुलका निर्देश मानना ही उचित प्रतीत होता है।

प्रश्न—तो क्या पवित्र श्रीमानोंके घर जन्म लेनेवाले 'बुद्धिसंयोग' को प्राप्त नहीं होते?

उत्तर—वे भी पूर्वाभ्यासके प्रभावद्वारा विषयभोगोंसे हटाये जाकर भगवान्‌की ओर खींचे जाते हैं—यह बात अगले श्लोकमें स्पष्ट की गयी है।

प्रश्न—पहले शरीरमें साधन किये हुए 'बुद्धिसंयोग' को प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदि साधनोंमेंसे किसी भी साधनद्वारा जितना 'समभाव' पूर्वजन्ममें प्राप्त हो चुका है, उसका इस जन्ममें अनायास ही जाग्रत् हो जाना 'बुद्धिसंयोग' को प्राप्त करना है।

प्रश्न—'ततः' पदका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'ततः' पदके प्रयोगसे यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि योगिकुलमें जन्म होने और वहाँ पूर्वसंस्कारोंसे सम्बन्ध हो जानेके कारण वह योगभ्रष्ट पुरुष पुनः अनायास ही योगसाधनमें लग जाता है।

सम्बन्ध—अब पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषकी परिस्थितिका वर्णन करते हुए योगसाधनकी प्रवृत्तिका महत्त्व बतलाते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

'इसके (ब्रह्मज्ञानीके) कुलमें कोई अब्रह्मवित् नहीं होता, वह शोक एवं पापसे तर जाता है। हृदयग्रन्थिसे विमुक्त होकर अमृत हो जाता है।'

* 'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।' (नारदभक्तिसूत्र ३९)—'परन्तु महात्माओंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निस्सन्देह भगवान्की ओर आकर्षित किया जाता है, तथा समत्वबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकामकर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है ॥ ४४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'सः' का अभिप्राय श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट क्यों माना गया ?

उत्तर—योगिकुलमें जन्म लेनेवाले वैराग्यवान् पुरुषके लिये भोगोंके वश होनेकी शंका नहीं हो सकती, अतएव उसके लिये 'अवशः अपि' इन पदोंका प्रयोग अनुकूल नहीं जान पड़ता। इसके सिवा योगिकुलमें अनायास सत्संगलाभ होनेके कारण, उसके लिये एकमात्र पूर्वाभ्यासको ही भगवान्की ओर आकर्षित होनेमें हेतु बतलाना उपयुक्त भी नहीं है। अतएव यह वर्णन श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषके सम्बन्धमें ही मानना उचित प्रतीत होता है।

प्रश्न—यहाँ 'अवशः'के साथ 'अपि'के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि यद्यपि पवित्र सदाचारी धनवानोंका घर साधारण धनियोंके घरकी भाँति भोगोंमें फँसानेवाला नहीं है, किन्तु वहाँ भी यदि किसी कारणसे योगभ्रष्ट पुरुष स्त्री, पुत्र, धन और मान-बड़ाई आदि भोगोंके वशमें हो जाय, तो भी पूर्वजन्मके अभ्यासके बलसे वह भगवत्प्राप्तिके साधनकी ओर लग जाता है।

प्रश्न—'पूर्वाभ्यासेन'के साथ 'एव' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भोगोंके वश हुए पुरुषको विषयजालसे छुड़ाकर भगवान्की ओर आकर्षित करनेमें पूर्वजन्मके अभ्यासके संस्कार ही प्रधान हेतु हैं, इसी अभिप्रायसे 'एव' का प्रयोग हुआ है।

प्रश्न—'जिज्ञासुः'के साथ 'अपि'के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'समत्वबुद्धिरूप योग' की प्रशंसा करनेके लिये यहाँ 'अपि' का प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि जो योगका जिज्ञासु है, योगमें श्रद्धा रखता है और उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, वह मनुष्य भी वेदोक्त सकामकर्मके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके भोगजनित सुखको पार कर जाता है तो फिर जन्म-जन्मान्तरसे योगका अभ्यास करनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन करके तथा योगके जिज्ञासुकी महिमा बतलाकर अब योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टकी गतिका पुनः प्रतिपादन करते हैं—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी तो पिछले अनेक जन्मोंके संस्कारबलसे इसी जन्ममें संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो तत्काल ही परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥४५॥

प्रश्न–यहाँ 'तु' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवालोंकी और योगके जिज्ञासुकी अपेक्षा योगिकुलमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिकी विलक्षणता दिखलानेके लिये ही 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न–'योगी' के साथ 'प्रयत्नाद् यतमानः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–४३वें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष उस जन्ममें योगसिद्धिकी प्राप्तिके लिये अधिक प्रयत्न करता है। इस श्लोकमें उसी योगीको परमगतिकी प्राप्ति बतलायी जाती है, इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'योगी' के साथ 'प्रयत्नाद् यतमानः' विशेषण दिया गया है; क्योंकि उसके प्रयत्नका फल वहाँ उस श्लोकमें नहीं बतलाया गया था, उसे यहाँ बतलाया गया है।

प्रश्न–'अनेकजन्मसंसिद्धः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–४३वें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि योगिकुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पूर्वजन्मोंमें किये हुए योगाभ्यासके संस्कारोंको प्राप्त हो जाता है, यहाँ उसी बातको स्पष्ट करनेके लिये 'अनेकजन्मसंसिद्धः' विशेषण दिया गया है। अभिप्राय यह है कि पिछले अनेक जन्मोंमें किया हुआ अभ्यास और इस जन्मका अभ्यास दोनों ही उसे योगसिद्धिकी प्राप्ति करानेमें अर्थात् साधनकी पराकाष्ठातक पहुँचानेमें हेतु हैं, क्योंकि पूर्वसंस्कारोंके बलसे ही वह विशेष प्रयत्नके साथ इस जन्ममें साधनका अभ्यास करके साधनकी पराकाष्ठा-को प्राप्त करता है।

प्रश्न–'संशुद्धकिल्बिषः' का क्या भाव है ?

उत्तर–जिसके समस्त पाप सर्वथा धुल गये हैं, उसे 'संशुद्धकिल्बिष' कहते हैं। इससे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकार अभ्यास करनेवाले योगीमें पापका लेश भी नहीं रहता।

प्रश्न–'ततः' का क्या भाव है ?

उत्तर–'ततः' पद यहाँ तत्पश्चात्के अर्थमें आया है। इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि साधनकी पराकाष्ठारूप संसिद्धिको प्राप्त होनेके पश्चात् तत्काल ही परमगतिकी प्राप्ति हो जाती है, फिर जरा भी विलम्ब नहीं होता।

प्रश्न–'परमगति' की प्राप्ति क्या है ?

उत्तर–परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होना ही परमगतिकी प्राप्ति है; इसीको परमपदकी प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति, और नैष्ठिकी शान्तिकी प्राप्ति भी कहते हैं।

सम्बन्ध—योगभ्रष्टकी गतिका विषय समाप्त करके, अब भगवान् योगीकी महिमा कहते हुए अर्जुनको योगी बननेके लिये आज्ञा देते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्र-ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकामकर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो ॥४६॥

प्रश्न—इस श्लोकमें 'योगी' शब्दका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदि किसी भी साधनसे साधनकी पराकाष्ठारूप 'समत्वयोग' को प्राप्त हुए पुरुषका नाम यहाँ 'योगी' है।

प्रश्न—यहाँ 'तपस्वी' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—सकामभावसे धर्मपालनके लिये विशेष क्रियाओंका या विषयभोगोंका त्याग करके जो मन, इन्द्रिय और शरीरसम्बन्धी समस्त कष्टोंको सहन किया जाता है, वही 'तप' है और उसे करनेवालेको यहाँ 'तपस्वी' कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानी' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञानी' न तो भगवत्प्राप्त तत्त्वज्ञानी पुरुषका वाचक है और न परमात्माकी प्राप्तिके लिये ज्ञानयोगका साधन करनेवाले ज्ञानयोगीका ही वाचक है। यहाँ तो 'ज्ञानी' केवल शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनुसार विवेकबुद्धिद्वारा समस्त पदार्थोंको समझनेवाले शास्त्रज्ञ पुरुषका वाचक है।

प्रश्न—यहाँ 'कर्मी' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यज्ञ, दान, पूजा, सेवा आदि शास्त्रविहित शुभ कर्मोंको स्त्री, पुत्र, धन और स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये सकामभावसे करनेवालेका नाम 'कर्मी' है।

प्रश्न—जब तपस्या करनेवाले और शास्त्रज्ञान-सम्पादन करनेवाले भी सकामभावसे युक्त ही हैं, तब उन्हें भी कर्मीके अन्तर्गत ही मानना उचित था; परन्तु ऐसा न मानकर उन्हें अलग क्यों बतलाया गया ?

उत्तर—यहाँ 'कर्मी' का प्रयोग इतने व्यापक अर्थमें नहीं हुआ है। सकामभावसे यज्ञ-दानादि शास्त्रविहित क्रिया करनेवालेका नाम ही 'कर्मी' है। इसमें क्रियाकी बहुलता है। तपस्वीमें क्रियाकी प्रधानता नहीं, मन और इन्द्रियके संयमकी प्रधानता है। और शास्त्रज्ञानीमें शास्त्रीय बौद्धिक आलोचनाकी प्रधानता है। भगवान्‌ने इसी विलक्षणताको ध्यानमें रखकर ही कर्मीमें तपस्वी और शास्त्रज्ञानीका अन्तर्भाव न करके उनका अलग निर्देश किया है।

प्रश्न—ज्ञानयोग और कर्मयोग—ये दो ही निष्ठाएँ मानी गयी हैं; फिर भक्तियोग, ध्यानयोग क्या इनसे पृथक् हैं ?

उत्तर—भक्तियोग कर्मयोगके ही अन्तर्गत है। जहाँ भक्तिप्रधान कर्म होता है, वहाँ उसका नाम भक्तियोग है और जहाँ कर्म प्रधान है, वहाँ उसे कर्मयोग कहते हैं। ध्यानयोग दोनों ही निष्ठाओंमें सहायक साधन है। वह अभेद-बुद्धिसे किया जानेपर ज्ञानयोगमें और भेद-बुद्धिसे किया जानेपर कर्मयोगमें सहायक होता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें योगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर भगवान्‌ने अर्जुनको योगी बननेके लिये कहा। किन्तु ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदि साधनोंमेंसे अर्जुनको कौन-सा साधन करना चाहिये ? इस बातका स्पष्टीकरण नहीं किया। अतः अब भगवान् अपनेमें अनन्यप्रेम करनेवाले योगी भक्तकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनको अपनी ओर आकर्षित करते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ॥ ४७ ॥

प्रश्न–यहाँ 'योगिनाम्' पदके साथ 'अपि'के प्रयोगका और 'सर्वेषाम्' यह विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–चौथे अध्यायमें २४वेंसे ३०वें श्लोकतक भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन यज्ञके नामसे बतलाये गये हैं, उनके अतिरिक्त और भी भगवत्प्राप्तिके जिन-जिन साधनोंका अबतक वर्णन किया गया है, उन सबकी पराकाष्ठाका नाम 'योग' होनेके कारण विभिन्न साधन करनेवाले बहुत प्रकारके 'योगी' हो सकते हैं। उन सभी प्रकारके योगियोंका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ 'योगिनाम्' पदके साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके 'सर्वेषाम्' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न–'श्रद्धावान्' पुरुषके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर–जो भगवान्की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनके अचिन्त्यानन्त दिव्य गुणोंमें तथा उनकी महिमा, शक्ति, प्रभाव और ऐश्वर्य आदिमें प्रत्यक्षके सदृश पूर्ण और अटल विश्वास रखता हो, उसे 'श्रद्धावान्' कहते हैं।

प्रश्न–'मद्गतेन' विशेषणके साथ 'अन्तरात्मना' पद किसका वाचक है ?

उत्तर–इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि मुझको ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वगुणाधार, सर्वशक्तिमान् और महान् प्रियतम जान लेनेसे जिसका मुझमें अनन्य प्रेम हो गया है और इसलिये जिसका मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण अचल, अटल और अनन्यभावसे मुझमें ही स्थित हो गया है, उस अन्तःकरणको 'मद्गत अन्तरात्मा' या मुझमें लगा हुआ अन्तरात्मा कहते हैं।

प्रश्न–यहाँ अनन्य प्रेमसे भगवान्में स्थित रहनेवाले मन-बुद्धिको ही 'मद्गत अन्तरात्मा' क्यों कहा गया है ? भय और द्वेष आदि कारणोंसे भी तो मन-बुद्धि भगवान्में लग सकते हैं ?

उत्तर–लग सकते हैं, और किसी भी कारणसे मन-बुद्धिके परमात्मामें लग जानेका फल परम कल्याण ही है। परन्तु यहाँका प्रसङ्ग प्रेमपूर्वक भगवान्में मन-बुद्धि लगानेका है; भय और द्वेषपूर्वक नहीं। क्योंकि भय और द्वेषसे जिसके मन-बुद्धि भगवान्में लग जाते हैं, उसको न तो श्रद्धावान् ही कहा जा सकता है, और न परम योगी ही माना जा सकता है। इसके बाद ही सातवें अध्यायके आरम्भमें ही भगवान्ने 'मय्यासक्तमनाः' कहकर अत्यन्त प्रेमका ही सङ्केत किया है। इसके अतिरिक्त गीतामें स्थान-स्थानपर (७।१७, ९।१४, १०।१०) प्रेमपूर्वक ही भगवान्में मन-बुद्धि लगानेकी प्रशंसा की गयी है। अतएव यहाँ ऐसा ही मानना उचित है।

प्रश्न–यहाँ 'माम्' पद भगवान्के सगुणरूपका वाचक है या निर्गुणका ?

उत्तर–यहाँ 'माम्' पद निरतिशय ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदिके परम आश्रय, सौन्दर्य, माधुर्य और औदार्यके अनन्त समुद्र, परम दयालु, परम सुहृद्, परम प्रेमी, दिव्य अचिन्त्यानन्दस्वरूप, नित्य, सत्य, अज और अविनाशी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वदिव्यगुणालङ्कृत, सर्वात्मा, अचिन्त्य महत्त्वसे महिमान्वित, चित्र-विचित्र लीलाकारी, लीलामात्र-से मायाद्वारा सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले तथा रससागर, रसमय, सगुण-निर्गुणरूप समग्र ब्रह्म आनन्दकन्द पुरुषोत्तमका वाचक है।

प्रश्न–यहाँ 'भजते' इस क्रियापदका क्या भाव है ?

उत्तर–सब प्रकार और सब ओरसे अपने मन-बुद्धिको भगवान्में लगाकर परम श्रद्धा और प्रेमके साथ, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, प्रत्येक क्रिया करते अथवा एकान्तमें स्थित रहते, निरन्तर

श्रीभगवान्‌का भजन-ध्यान करना ही 'भजते' का अर्थ है।

प्रश्न—वह मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है—भगवान्‌के इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—श्रीभगवान् यहाँपर अपने प्रेमी भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए मानो कहते हैं कि यद्यपि मुझे तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी आदि सभी साधक प्यारे हैं और इन सबसे भी वे योगी मुझे अधिक प्यारे हैं जो मेरी ही प्राप्तिके लिये साधन करते हैं, परन्तु जो मेरे समग्र रूपको जानकर मुझसे अनन्यप्रेम करता है, केवल मुझको ही अपना परम प्रेमास्पद मानकर, किसी बातकी अपेक्षा, आकांक्षा और परवा न रखकर अपने अन्तरात्माको दिन-रात मुझमें ही लगाये रखता है, मातृपरायण शिशुकी भाँति जो मुझको छोड़कर और किसीको जानता ही नहीं, वह तो मेरे हृदयका परम धन है। अपत्य-स्नेहसे जिसका हृदय परिपूर्ण है, जिसको दिन-रात अपने प्यारे बच्चेकी ओर देखते रहनेमें ही नित्य नया आनन्द मिलता है, ऐसी वात्सल्यस्नेहमयी अनन्त माताओंके हृदय मेरे जिस अचिन्त्यानन्त स्नेहमय हृदयसागरकी एक बूँदके बराबर भी नहीं हैं, उसी अपने हृदयसे मैं उसकी ओर देखता रहता हूँ, और उसकी प्रत्येक चेष्टा मुझको अपार सुख पहुँचानेवाली होती है। सारे जगत्‌को अनादिकालसे जितने प्रकारके जो-जो आनन्द मिलते आ रहे हैं, वे सब तो मुझ आनन्दसागरकी एक बूँदकी भी तुलनामें नहीं आ सकते। ऐसा अनन्त आनन्दका अपार अम्बुधि होकर भी मैं अपने उस 'मद्गतान्तरात्मा' भक्तकी चेष्टा देख-देखकर परम आनन्दको प्राप्त होता रहता हूँ। उसकी क्या बड़ाई करूँ ? वह मेरा अपना है, मेरा ही है, उससे बढ़कर मेरा प्रियतम और कौन है ? जो मेरा प्रियतम है, वही तो श्रेष्ठ है; इसलिये मेरे मनमें वही सर्वोत्तम भक्त है और वही सर्वोत्तम योगी है।



ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

सप्तमोऽध्यायः

षट्कका स्पष्टीकरण

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारह अध्यायोंमें यद्यपि कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगके क्रमसे छः-छः अध्यायोंके तीन षट्क माने जाते हैं, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इन षट्कोंमें केवल एक ही योगका वर्णन हो और दूसरेकी चर्चा ही न आयी हो। जिस षट्कमें जिस योगका प्रधानतासे वर्णन हुआ है, उसीके अनुसार उसका नाम रख लिया गया है। पहले षट्कका प्रथम अध्याय तो प्रस्तावनारूपमें है, उसमें तो इनमेंसे किसी भी योगका विषय नहीं है। दूसरेमें ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का विषय है, इसके बाद उन्चालीसवें श्लोकसे लेकर तीसरे अध्यायके अन्ततक कर्मयोगका विस्तृत वर्णन है। चौथे और पाँचवें अध्यायोंमें कर्मयोग और ज्ञानयोगका मिला हुआ वर्णन है, तथा छठे अध्यायमें प्रधानरूपसे ध्यानयोगका वर्णन है; साथ ही प्रसङ्गक्रमसे उसमें कर्मयोग आदिका भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार यद्यपि इस षट्कमें सभी विषयोंका मिश्रण है, तथापि दूसरे दोनों षट्कोंकी अपेक्षा इसमें कर्मयोगका वर्णन अधिक है। इसी दृष्टिसे इसको कर्मयोगप्रधान षट्क माना गया है।

सातवें अध्यायसे लेकर बारहवें अध्यायतकके, बीचके षट्कमें प्रसङ्गवश कहीं-कहीं दूसरे विषयोंकी चर्चा होनेपर भी प्रधानतासे भक्तियोगका ही विशद वर्णन है; इसलिये इस षट्कको तो भक्तिप्रधान मानना उचित ही है।

अन्तिम षट्कमें तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंमें स्पष्ट ही ज्ञानयोगका प्रकरण है। पन्द्रहवेंमें भक्तियोगका वर्णन है; सोलहवेंमें दैवी और आसुरी प्रकृतिकी व्याख्या है; सतरहवेंमें श्रद्धा, आहार और यज्ञ, दान, तप आदिका निरूपण है और अठारहवें अध्यायमें गीताका उपसंहार होनेसे उसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों ही योगोंका वर्णन है तथा अन्तमें शरणागतिप्रधान भक्तियोगमें उपदेशका पर्यवसान किया गया है। इतना होनेपर भी यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि ज्ञानयोगका जितना वर्णन इस अन्तिम षट्कमें किया गया है, उतना पहले और दूसरेमें नहीं है। इसीलिये इसको ज्ञानयोगप्रधान बतलाया है।

अध्यायका नाम

परमात्माके निर्गुण निराकार तत्त्वको प्रभाव, माहात्म्य आदिके रहस्यसहित पूर्णरूपसे जान लेनेका नाम 'ज्ञान' और सगुण निराकार एवं साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके पूर्ण ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है। इन ज्ञान और विज्ञानके सहित भगवान्‌के स्वरूपको जानना ही समग्र भगवान्‌को जानना है। इस अध्यायमें इसी समग्र भगवान्‌के स्वरूपका, उसके जाननेवाले अधिकारियोंका और साधनोंका वर्णन है—इसीलिये इस अध्यायका नाम 'ज्ञानविज्ञानयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको समग्ररूपका तत्त्व सुननेके लिये आज्ञा दी है; तथा दूसरेमें विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसकी प्रशंसा करके, तीसरेमें भगवत्स्वरूपके तत्त्वज्ञानकी दुर्लभताका प्रतिपादन किया गया है। चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें अपरा और परा प्रकृतिका स्वरूप बतलाकर, छठेमें उक्त दोनों प्रकृतियोंको

सम्पूर्ण भूतोंका कारण और अपनेको सबका महाकारण बतलाया है। सातवेंमें समस्त जगत्‌को अपना ही स्वरूप बतलाकर साररूपसे मालाका दृष्टान्त देते हुए अपनी व्यापकता बतलायी है, फिर आठवेंसे बारहवें श्लोकतक अपनी सर्वव्यापकताका विस्तारके साथ वर्णन किया है। तेरहवेंमें अपनेको (भगवान्‌को) तत्त्वसे न जाननेके कारणका निरूपण करके चौदहवेंमें अपनी मायाकी अत्यन्त दुस्तरताका वर्णन करते हुए उससे तरनेका उपाय बतलाया है। पन्द्रहवेंमें पापात्मा मूढ़ मनुष्योंद्वारा भजन न होनेकी बात कहकर सोलहवेंमें अपने चार प्रकारके पुण्यात्मा भक्तोंकी बात कही है। सतरहवेंमें ज्ञानी भक्तकी श्रेष्ठताका निरूपण करके, अठारहवेंमें सभी भक्तोंको उदार और ज्ञानीको अपना आत्मा बतलाया है। उन्नीसवेंमें ज्ञानी भक्तकी दुर्लभताका वर्णन किया है। बीसवेंमें अन्यदेवोपासकोंकी बात कहकर इक्कीसवेंमें अन्य देवताओंमें श्रद्धा स्थिर करनेका और बाईसवेंमें उनकी उपासनाके फलका निरूपण किया गया है। तेईसवेंमें अन्य देवताओंकी उपासनाके फलको नाशवान् बतलाकर अपनी उपासनाका अपनी प्राप्तिरूप महान् फल बतलाया है। चौबीसवें और पचीसवेंमें अपने गुण, प्रभाव और स्वरूपके न जाननेके हेतुका वर्णन करके छब्बीसवेंमें यह कहा है कि मैं सबको जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई नहीं जानता। सत्ताईसवेंमें न जाननेका कारण बतलाते हुए अट्ठाईसवें श्लोकमें अपनेको भजनेवाले दृढ़व्रती अनन्य भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन किया है। तदनन्तर उन्तीसवें और तीसवें श्लोकमें अपने समग्र स्वरूपको जाननेकी महिमाका निरूपण करके अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—छठे अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि—'अन्तरात्माको मुझमें लगाकर जो श्रद्धा और प्रेमके साथ मुझको भजता है, वह सब प्रकारके योगियोंकी अपेक्षा उत्तम योगी है।' परन्तु भगवान्‌के स्वरूप, गुण और प्रभावको मनुष्य जबतक नहीं जान पाता, तबतक उसके द्वारा अन्तरात्मासे निरन्तर भजन होना बहुत कठिन है; साथ ही भजनका प्रकार जानना भी आवश्यक है। इसलिये अब भगवान् अपने गुण, प्रभावके सहित समग्र स्वरूपका तथा विविध प्रकारोंसे युक्त भक्तियोगका वर्णन करनेके लिये सातवें अध्यायका आरम्भ करते हैं और सबसे पहले अर्जुनको उसे सावधानीके साथ सुननेके लिये प्रेरणा करके ज्ञान-विज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा, उसको सुन॥ १॥

प्रश्न—'मय्यासक्तमना:' किसके लिये कहा गया है?

उत्तर—इस लोक और परलोकके किसी भी भोगके प्रति जिसके मनमें तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है, तथा जिसका मन सब ओरसे हटकर एकमात्र परम प्रेमास्पद सर्वगुणसम्पन्न परमेश्वरमें इतना अधिक आसक्त हो गया है कि जलके जरा-से वियोगमें परम

व्याकुल हो जानेवाली मछलीके समान जो क्षणभर भी भगवान्‌के वियोग और विस्मरणको सहन नहीं कर सकता, उसे 'मय्यासक्तमनाः' कहते हैं।

प्रश्न–'मदाश्रयः' किसको कहते हैं ?

उत्तर–जो पुरुष संसारके सम्पूर्ण आश्रयोंका त्याग कर, समस्त आशाओं और भरोसोंसे मुँह मोड़कर एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को ही परम आश्रय तथा परम गति जानकर एकमात्र उन्हींके भरोसेपर सदाके लिये निश्चिन्त हो गया है, उसे 'मदाश्रय' कहते हैं।

प्रश्न–'योगं युञ्जन्' से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–यहाँ भक्तियोगका प्रकरण है, अतएव मन और बुद्धिको अचलभावसे भगवान्‌में स्थिर करके नित्य-निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनका चिन्तन करना ही 'योगं युञ्जन्' का अभिप्राय है।

प्रश्न–समग्र भगवान्‌को संशयरहित जाननेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–भगवान् इतने और उतने ही नहीं हैं; अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड सब उन्हींमें ओतप्रोत हैं, सब उनके ही स्वरूप हैं। इन ब्रह्माण्डोंमें और इनके परे जो कुछ भी है, सब उन्हींमें है। वे नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन हैं; वे सर्वगुणसम्पन्न, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्वरूप हैं तथा स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्‌के रूपमें प्रकट होते हैं। वस्तुतः उनके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं, व्यक्त-अव्यक्त और सगुण-निर्गुण सब वे ही हैं। इस प्रकार उन भगवान्‌के स्वरूपको निर्भ्रान्त और असन्दिग्धरूपसे समझ लेना ही समग्र भगवान्‌को संशयरहित जानना है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता॥ २॥

प्रश्न–यहाँ 'ज्ञान' और 'विज्ञान' किसके वाचक हैं ?

उत्तर–भगवान्‌के निर्गुण निराकार तत्त्वका जो प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसहित यथार्थज्ञान है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं और इसी प्रकार उनके सगुण निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है।

प्रश्न–इस ज्ञान-विज्ञानका वर्णन इस अध्यायमें कहाँ किया गया है ?

उत्तर–इस अध्यायमें जो कुछ भी उपदेश दिया गया है, सारा-का-सारा ही ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्तिमें साधनरूप है। इसलिये, जैसे १३वें अध्यायमें ज्ञानके साधनोंको 'ज्ञान' कहा गया है, उसी प्रकार इस समस्त अध्यायको ही ज्ञान-विज्ञानके उपदेशसे पूर्ण होनेके कारण ज्ञान-विज्ञानरूप ही समझना चाहिये।

प्रश्न–आगे कहे जानेवाले विज्ञानसहित ज्ञानको जान लेनेके बाद संसारमें कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता, यह बात कैसे कही ?

उत्तर–ज्ञान और विज्ञानके द्वारा भगवान्‌के समग्र-स्वरूपकी भलीभाँति उपलब्धि हो जाती है। यह विश्व-ब्रह्माण्ड तो समग्ररूपका एक क्षुद्र-सा अंशमात्र है। जब मनुष्य इस समग्ररूपको जान लेता है, तब स्वभावतः ही उसके लिये कुछ भी जानना बाकी नहीं रह

जाता । भगवान्‌ने दसवें अध्यायके अन्तमें स्वयं कहा है कि 'हे अर्जुन ! तुझे बहुत जाननेसे क्या प्रयोजन है, मैं अपने तेजके एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके स्थित हूँ ।'

सम्बन्ध—अपने समग्ररूपके ज्ञान-विज्ञानकी प्रशंसा करके अब भगवान् अपने उस स्वरूपके तत्त्वज्ञानकी दुर्लभताका प्रतिपादन करते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है ॥ ३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'मनुष्य' शब्दके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'मनुष्य' शब्दके प्रयोगसे एक तो यह भाव है कि मनुष्ययोनि बड़ी ही दुर्लभ है, भगवान्‌की बड़ी भारी कृपासे इसकी प्राप्ति होती है; क्योंकि इसमें सभीको भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करनेका जन्मसिद्ध अधिकार है । जाति, वर्ण, आश्रम और देशकी विभिन्नताका कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है । इसके सिवा एक भाव यह भी है कि मनुष्येतर जितनी भी योनियाँ हैं, उनमें नवीन कर्म करनेका अधिकार नहीं है; अतएव उनमें प्राणी भगवत्प्राप्तिके लिये साधन नहीं कर सकता । पशु, पक्षी, कीट-पतंगादि तिर्यक् योनियोंमें तो साधन करनेकी शक्ति और योग्यता ही नहीं है । देवादि योनियोंमें शक्ति होनेपर भी वे भोगोंकी अधिकता और खास करके अधिकार न होनेसे साधन नहीं कर पाते । तिर्यक् या देवादि योनियोंमें किसीको यदि परमात्माका ज्ञान हो जाता है तो उसमें भगवान्‌की या महापुरुषोंकी विशेष दयाका ही प्रभाव और महत्त्व समझना चाहिये ।

प्रश्न—हजारों मनुष्योंमें कोई एक ही भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करते हैं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—भगवत्कृपाके फलस्वरूप मनुष्य-शरीर प्राप्त होनेपर भी जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति और भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेमका अभाव या कमी रहनेके कारण अधिकांश मनुष्य तो इस मार्गकी ओर मुँह ही नहीं करते । जिसके पूर्वसंस्कार शुभ होते हैं, भगवान्, महापुरुष और शास्त्रोंमें जिसकी कुछ श्रद्धा-भक्ति होती है और पूर्वपुण्योंके पुञ्जसे तथा भगवत्कृपासे जिसको सत्पुरुषोंका संग प्राप्त हो जाता है, हजारों मनुष्योंमेंसे ऐसा कोई विरला ही इस मार्गमें प्रवृत्त होकर प्रयत्न करता है ।

प्रश्न—भगवान्‌की प्राप्तिके लिये यत्न करनेवाले मनुष्योंमें कोई एक ही भगवान्‌को तत्त्वसे जानता है, इसका क्या कारण है ? सभी क्यों नहीं जानते ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि पूर्वसंस्कार, श्रद्धा, प्रीति, सत्संग और चेष्टाके तारतम्यसे सबका साधन एक-सा नहीं होता । अहंकार, ममत्व, कामना, आसक्ति और संगदोष आदिके कारण नाना प्रकारके विघ्न भी आते ही रहते हैं । अतएव बहुत थोड़े ही पुरुष ऐसे निकलते हैं जिनकी श्रद्धा-भक्ति और साधना पूर्ण होती है और उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें वे भगवान्‌का साक्षात्कार कर पाते हैं ।

प्रश्न—यत्न करनेवालोंके साथ 'सिद्ध' विशेषण किस अभिप्रायसे दिया गया है ?

उत्तर—इसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धिके लिये जो प्रयत्न करता है, वह भोगोंमें पड़े हुए विषयासक्त मनुष्योंकी अपेक्षासे सिद्ध ही है।

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने अपने समग्र स्वरूपके ज्ञान-विज्ञानकी प्रशंसा और उसे सुनानेकी प्रतिज्ञा की, अब उसीको आरम्भ करते हुए पहले अपनी 'अपरा' और 'परा' प्रकृतियोंका स्वरूप बतलाते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरीको, जिससे कि यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान ॥ ४-५ ॥

प्रश्न—यहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशसे क्या समझना चाहिये ?

उत्तर—स्थूल भूतोंके और शब्दादि पाँचों विषयोंके कारणरूप जो सूक्ष्म पञ्च महाभूत हैं, सांख्य और योग-शास्त्रमें जिन्हें पञ्चतन्मात्रा कहा है, उन्हीं पाँचोंका यहाँ 'पृथ्वी' आदि नामोंसे वर्णन किया गया है।

प्रश्न—यहाँ मन, बुद्धि और अहंकारसे क्या लेना चाहिये ?

उत्तर—मन, बुद्धि और अहंकार—तीनों अन्तःकरणके ही भेद हैं; अतएव इनसे 'समष्टि अन्तःकरण' समझना चाहिये।

प्रश्न—तेरहवें अध्यायके ५ वें श्लोकमें अव्यक्त प्रकृतिके कार्य (भेद) २३ बतलाये गये हैं, उसके अनुसार प्रकृतिको तेईस भेदोंमें विभक्त कहना चाहिये था; फिर यहाँ उसे केवल आठ भेदोंमें विभक्त कैसे कहा ?

उत्तर—शब्दादि पाँच विषय सूक्ष्म पञ्च महाभूतोंके और दस इन्द्रियाँ अन्तःकरणके कार्य हैं। इसलिये उन पन्द्रह भेदोंका इन आठ भेदोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। उस प्रकार उसे तेईस भेदोंमें और इस प्रकार आठ भेदोंमें विभक्त कहना एक ही बात है।

प्रश्न—इस प्रकृतिका नाम 'अपरा' किसलिये रक्खा गया है ?

उत्तर—तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने जिस अव्यक्त मूल प्रकृतिके तेईस कार्य बतलाये हैं, उसीको यहाँ आठ भेदोंमें विभक्त बतलाया है। यह 'अपरा प्रकृति' ज्ञेय तथा जड होनेके कारण, ज्ञाता चेतन जीवरूपा 'परा प्रकृति' से सर्वथा भिन्न और निकृष्ट है; यही संसारकी हेतुरूप है और इसीके द्वारा जीवका बन्धन होता है। इसीलिये इसका नाम 'अपरा' है।

प्रश्न—जीवरूप चेतन तत्त्व तो पुँल्लिङ्ग है, यहाँ 'प्रकृति' नामसे कहकर उसे स्त्रीलिङ्ग क्यों बतलाया गया ?

उत्तर—जीवात्मामें वस्तुतः स्त्रीत्व, पुंस्त्व या नपुंसकत्वका भेद नहीं है—इसी बातको दिखलानेके लिये उस एक ही चेतन तत्त्वको कहीं पुँल्लिङ्ग 'पुरुष' (१५।१६) और 'क्षेत्रज्ञ' (१३।१) तथा कहीं नपुंसक 'अध्यात्म' (७।२९, ८।३) कहा गया है। उसीको यहाँ स्त्रीलिङ्ग 'परा प्रकृति' कहा है।

प्रश्न—यहाँ 'जगत्' शब्द किसका वाचक है? और वह जीवरूपा परा प्रकृतिके द्वारा धारण किया जाता है, ऐसा क्यों कहा गया?

उत्तर—सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका नाम जगत् है। इस जगत्को चेतन जीवात्मा धारण करता है। सम्पूर्ण दृश्य द्रष्टाके आश्रित है और सम्पूर्ण ज्ञान ज्ञाताके आश्रित है। दृश्यमें द्रष्टाको और ज्ञेयमें ज्ञाताको धारण करनेकी शक्ति नहीं है। यदि चेतन जीवात्मरूपा 'परा प्रकृति' से यह जड जगत् नहीं धारण किया जाय तो इसकी स्थिति ही नहीं रह सकती। इसीलिये ऐसा कहा गया है।

सम्बन्ध—परा और अपरा प्रकृतियोंका स्वरूप बतलाकर अब भगवान् यह बतलाते हैं कि ये दोनों प्रकृतियाँ ही चराचर सम्पूर्ण भूतोंका कारण हैं और मैं इन दोनों प्रकृतियोंसहित समस्त जगत्का महाकारण हूँ—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का मूलकारण हूँ॥ ६॥

प्रश्न-यहाँ 'सर्वाणि' इस विशेषणके सहित 'भूतानि' पद किसका वाचक है? तथा अपरा और परा—ये दोनों प्रकृतियाँ उसकी योनि कैसे हैं?

उत्तर—स्थावर और जङ्गम अथवा चर और अचर जितने भी छोटे-बड़े सजीव प्राणी हैं, यहाँ 'भूतानि' पद उन सभीका वाचक है। समस्त सजीव प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि इन 'अपरा' और 'परा' प्रकृतियों-के संयोगसे ही होती हैं। इसलिये उनकी उत्पत्तिमें ये ही दोनों कारण हैं। यही बात तेरहवें अध्यायके २६ वें श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके नामसे कही गयी है।

प्रश्न—'सम्पूर्ण जगत्' किसका वाचक है? तथा भगवान्ने जो अपनेको उसका प्रभव और प्रलय बतलाया है, इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस जड-चेतन अथवा चराचर समस्त विश्व-का वाचक 'जगत्' शब्द है; इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भगवान्से ही और भगवान्में ही होते हैं। जैसे बादल आकाशसे उत्पन्न होते हैं, आकाशमें रहते हैं और आकाशमें ही विलीन हो जाते हैं तथा आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, वैसे ही यह सारा विश्व भगवान्से ही उत्पन्न होता है, भगवान्में ही स्थित है और भगवान्में ही विलीन हो जाता है। भगवान् ही इसके एकमात्र महान् कारण और परम आधार हैं। इसी बातको नवें अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें भी स्पष्ट किया गया है। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिये कि भगवान् आकाशकी भाँति जड या विकारी नहीं हैं। दृष्टान्त तो केवल समझानेके लिये हुआ करते हैं। वस्तुतः भगवान्का इस जगत्में प्रकट होना उनकी एक मनोहर लीलामात्र है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् ही समस्त विश्वके परम कारण और परमाधार हैं, तब स्वभावतः ही यह भगवान्का स्वरूप है और उन्हींसे व्याप्त है। अब इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

हे धनञ्जय ! मेरे सिवा दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मनियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है ॥ ७ ॥

प्रश्न—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अपनेको इस जगत्का कारण और आधार बताया है और यहाँ कहते हैं कि मुझसे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं । इस कथनसे चराचर जगत् भगवान्का स्वरूप सिद्ध होता है; अतएव इन दोनोंमेंसे वस्तुतः कौन-सी बात ठीक है ?

उत्तर—जैसे महाकाश बादलका कारण और आधार है और उसका कार्य बादल उसी महाकाशका स्वरूप भी है, वास्तवमें वह अपने कारणसे कुछ भिन्न वस्तु नहीं है, वैसे ही परमेश्वर इस जगत्के कारण और आधार होनेसे यह जगत् भी उन्हींका स्वरूप है, उनसे भिन्न दूसरी वस्तु नहीं है । अतः भगवान् इस जगत्के कारण और आधार हैं, एवं यह सारा जगत् भगवान्का ही स्वरूप है, भगवान्से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं—ये दोनों ही बातें ठीक हैं ।

प्रश्न—सूत्रमें सूत्रके मनियोंकी भाँति यह जगत् भगवान्में कैसे गुँथा हुआ है ?

उत्तर—जैसे सूतकी डोरीमें उसी सूतकी गाँठें लगाकर उन्हें मनिये मानकर माला बना लेते हैं और जैसे उस डोरीमें और गाँठोंके मनियोंमें सर्वत्र केवल सूत ही व्याप्त रहता है, उसी प्रकार यह समस्त संसार भगवान्में गुँथा हुआ है । मतलब यह कि भगवान् ही सबमें ओतप्रोत हैं ।

सम्बन्ध—सूत और सूतके मनियोंके दृष्टान्तसे भगवान्ने अपनी सर्वरूपता और सर्वव्यापकता सिद्ध की। अब भगवान् अगले चार श्लोकोंद्वारा इसीको भलीभाँति स्पष्ट करनेके लिये उन प्रधान-प्रधान सभी वस्तुओंके नाम लेते हैं, जिनसे इस विश्वकी स्थिति है; और साररूपसे उन सभीको अपनेसे ही ओतप्रोत बतलाते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओङ्कार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ ॥ ८ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका स्पष्टीकरण कीजिये ।

उत्तर—जो तत्त्व जिसका आधार है और जिसमें व्याप्त है, वही उसका जीवन और स्वरूप है तथा उसीको उसका सार कहते हैं । इसीके अनुसार भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन ! जलका सार रस-तत्त्व मैं हूँ, चन्द्रमा और सूर्यका सार प्रकाश-तत्त्व मैं हूँ, समस्त वेदोंका सार प्रणव-तत्त्व 'ॐ' मैं हूँ, आकाशका सार शब्द-तत्त्व मैं हूँ और पुरुषोंका सार पौरुष-तत्त्व भी मैं हूँ ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

भगवान् सर्वमय



मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

मैं पृथ्वीमें पवित्र गन्ध और अग्निमें तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ ॥ ९ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—पिछले श्लोकके अनुसार ही यहाँ भी भगवान् प्रत्येक वस्तुमें साररूपसे अपनी व्यापकता और आधारत्व दिखलाते हुए कहते हैं कि पृथ्वीका सार गन्ध-तत्त्व, अग्निका सार तेज-तत्त्व, समस्त भूतोंका सार जीवन-तत्त्व और तपस्वियोंका सार तप-तत्त्व भी मैं ही हूँ ।

प्रश्न—यहाँ 'गन्धः' के साथ 'पुण्यः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह बात दिखलायी गयी है कि यहाँ 'गन्ध' शब्दसे विषयरूप गन्धका लक्ष्य नहीं है, पृथ्वीकी कारणरूपा गन्धतन्मात्राका लक्ष्य है । इसी प्रकार रस और शब्दमें भी समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—'सर्वभूत' शब्द किसका वाचक है और 'जीवन' शब्दका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'सर्वभूत' शब्द समस्त चराचर सजीव प्राणियोंका वाचक है और जीवन-तत्त्व उस प्राण-शक्तिका नाम है जिससे समस्त सजीव प्राणी अनुप्राणित हैं तथा जिसके प्रभावसे वे निर्जीव पदार्थोंसे विलक्षणताको प्राप्त हैं । इसी तत्त्वको दसवें अध्यायके २२वें और तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'चेतना' कहा गया है ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे अर्जुन ! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जान ! मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ ॥ १० ॥

प्रश्न—यहाँ 'सनातन बीज' किसको कहा गया है ? और भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप किस कारणसे बतलाया ?

उत्तर—जो सदासे हो तथा कभी नष्ट न हो उसे 'सनातन' कहते हैं । भगवान् ही समस्त चराचर भूत-प्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है । अतएव वे ही सबके 'सनातन बीज' हैं और इसीलिये ऐसा कहा है । नवें अध्यायके १८ वें श्लोकमें इसीको 'अविनाशी बीज' और दसवेंके ३९वेंमें 'सब भूतोंका बीज' बतलाया गया है ।

प्रश्न—बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज मैं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सम्पूर्ण पदार्थोंका निश्चय करनेवाली और मन-इन्द्रियोंको अपने शासनमें रखकर उनका सञ्चालन करनेवाली अन्तःकरणकी जो परिशुद्ध बोधमयी शक्ति है, उसे बुद्धि कहते हैं; जिसमें वह बुद्धि अधिक होती है, उसे बुद्धिमान् कहते हैं; यह बुद्धिशक्ति भगवान्‌की अपरा प्रकृतिका ही अंश है, अतएव भगवान् कहते हैं कि बुद्धिमानोंका सार बुद्धि-तत्त्व मैं ही हूँ । और इसी प्रकार सब लोगोंपर प्रभाव डालनेवाली शक्ति-विशेषका नाम तेजस् है; यह तेजस्तत्त्व जिसमें विशेष होता है, उसे लोग 'तेजस्वी' कहते हैं । यह तेज भी भगवान्‌की अपरा प्रकृतिका ही एक अंश है, इसलिये भगवान्‌ने इन दोनोंको अपना स्वरूप बतलाया है ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे भरतश्रेष्ठ ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ ॥ ११ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका स्पष्टीकरण कीजिये ।

उत्तर—जिस बलमें कामना, राग, अहंकार तथा क्रोधादिका संयोग है, वह तो आसुर बल है (१६।१८), अतएव त्याज्य है (१८।५३)। इसी प्रकार धर्मविरुद्ध काम भी आसुरी सम्पदाका प्रधान गुण होनेसे समस्त अनर्थोंका मूल (३।३७), नरकका द्वार और त्याज्य है (१६।२१)। काम-रागयुक्त 'बल' से और धर्मविरुद्ध 'काम' से विलक्षण, विशुद्ध 'बल' और विशुद्ध 'काम' ही उपादेय हैं। भगवान् 'भरतर्षभ' सम्बोधन देकर यह संकेत कर रहे हैं कि 'तू भरतवंशमें श्रेष्ठ है; तेरे अंदर न तो यह आसुर बल है और न वह अधर्ममूलक दूषित 'काम' ही है। तेरे अन्दर तो कामना और आसक्तिसे रहित शुद्ध बल है और धर्मसे अविरुद्ध विशुद्ध 'काम' है।' बलवानोंका ऐसा शुद्ध बल-तत्त्व और भूतप्राणियोंका वह विशुद्ध काम-तत्त्व मैं ही हूँ।

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रधान-प्रधान वस्तुओंमें साररूपसे अपनी व्यापकता बतलाते हुए भगवान्‌ने प्रकारान्तरसे समस्त जगत्‌में अपनी सर्वव्यापकता और सर्वस्वरूपता सिद्ध कर दी, अब अपनेको ही त्रिगुणमय जगत्‌का मूल कारण बतलाकर इस प्रसंगका उपसंहार करते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं, उन सबको तू 'मुझसे ही होनेवाले हैं' ऐसा जान। परन्तु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं ॥ १२ ॥

प्रश्न—सात्त्विक, राजस और तामस भाव किसके वाचक हैं एवं उन सबको 'भगवान्‌से होनेवाले' समझना क्या है ?

उत्तर—मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, तन्मात्राएँ, महाभूत और समस्त गुण-अवगुण, तथा कर्म आदि जितने भी भाव हैं, सभी सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अन्तर्गत हैं। इन समस्त पदार्थोंका विकास और विस्तार भगवान्‌की 'अपरा प्रकृति' से होता है। और वह प्रकृति भगवान्‌की है, भगवान् ही उसके परमाधार हैं, उन्हींके लीलासंकेतसे प्रकृतिके द्वारा सबका सृजन, विस्तार और उपसंहार होता रहता है—इस प्रकार जान लेना ही उन सबको 'भगवान्‌से होनेवाले' समझना है।

प्रश्न—उपर्युक्त समस्त त्रिगुणमय भाव यदि भगवान्‌से

ही होते हैं तो फिर वे मुझमें और मैं उनमें नहीं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–जैसे आकाशमें उत्पन्न होनेवाले बादलोंका आधार आकाश है, परन्तु आकाश उनसे सर्वथा निर्लिप्त है। बादल आकाशमें सदा नहीं रहते और अनित्य होनेसे वस्तुतः उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है; पर आकाश बादलोंके न रहनेपर भी सदा रहता है। जहाँ बादल नहीं है, वहाँ भी आकाश तो है ही; वह बादलोंके आश्रित नहीं है। वस्तुतः बादल भी आकाशसे भिन्न नहीं हैं, उसीमें उससे उत्पन्न होते-से दीखते हैं। अतएव यथार्थमें बादलोंकी भिन्न सत्ता न होनेसे वह किसी समय भी बादलोंमें नहीं है, वह तो सदा अपने-आपमें ही स्थित है। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् भी समस्त त्रिगुणमय भावोंके कारण और आधार हैं, तथापि वास्तवमें वे गुण भगवान्में नहीं हैं और भगवान् उनमें नहीं हैं। भगवान् तो सर्वथा और सर्वदा गुणातीत हैं तथा नित्य अपने-आपमें ही स्थित हैं। इसीलिये वे कहते हैं कि 'उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं।' इसका स्पष्टीकरण नवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें देखना चाहिये।

सम्बन्ध—भगवान्ने यह दिखलाया कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है और मुझसे ही व्याप्त है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि इस प्रकार सर्वत्र परिपूर्ण और अत्यन्त समीप होनेपर भी लोग भगवान्को क्यों नहीं पहचानते ? इसपर भगवान् कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार-प्राणि-समुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता॥१३॥

प्रश्न–गुणोंके कार्यरूप इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार मोहित हो रहा है–इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–पिछले श्लोकमें जिन भावोंका वर्णन किया गया है, यहाँ उन्हीं त्रिविध भावोंसे जगत्के मोहित होनेकी बात कही जा रही है। 'त्रिभिः' और 'गुणमयैः' विशेषणोंसे यही दिखलाया गया है कि वे सब भाव (पदार्थ) तीनों गुणोंके अनुसार तीन भागोंमें विभक्त हैं और गुणोंके ही विकार हैं। एवं 'जगत्' शब्दसे समस्त सजीव प्राणियोंका लक्ष्य कराया गया है, क्योंकि निर्जीव पदार्थोंके मोहित होनेकी बात तो कही ही नहीं जा सकती। अतएव भगवान्के कथनका यहाँ यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि 'जगत्के समस्त देहाभिमानी प्राणी–यहाँतक कि मनुष्य भी–अपने-अपने स्वभाव, प्रकृति और विचारके अनुसार, अनित्य और दुःखपूर्ण इन त्रिगुणमय भावोंको ही नित्य और सुखके हेतु समझकर इनकी कल्पित रमणीयता और सुखरूपताकी केवल ऊपरसे ही दीखनेवाली चमक-दमकमें जीवनके परम लक्ष्यको भूलकर, मेरे (भगवान्के) गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप और रहस्यके चिन्तन और ज्ञानसे विमुख होकर विपरीतभावना और असम्भावना करके मुझमें अश्रद्धा करते हैं। तीनों गुणोंके विकारोंमें रचे-पचे रहनेके कारण उनकी विवेकदृष्टि इतनी स्थूल हो गयी है कि

वे विषयोंके संग्रह और भोगको छोड़कर जीवनका अन्य कोई कर्तव्य या लक्ष्य ही नहीं समझते।'

प्रश्न—तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि उन विषयविमोहित मनुष्योंकी विवेकदृष्टि तीनों गुणोंके विनाशशील राज्यसे आगे जाती नहीं; इसलिये वे इन सबसे सर्वथा अतीत, अविनाशी मुझको नहीं जान सकते।

पन्द्रहवें अध्यायके १८वें श्लोकमें भी भगवान्ने अपनेको क्षर पुरुषसे सर्वथा अतीत बतलाया है। वहाँ 'क्षर' पुरुषके नामसे जिस तत्त्वका वर्णन है, उसीको इस प्रकरणमें 'अपरा प्रकृति' और 'त्रिगुणमय भाव' कहा है। वहाँ जिसको 'अक्षर पुरुष' बतलाया है, यहाँ उसी तत्त्वको 'परा प्रकृति' कहा है और वहाँ जिसको 'पुरुषोत्तमतत्त्व' कहा है, उसीका यहाँ 'माम्' पदसे वर्णन किया गया है।

सम्बन्ध—भगवान्ने सारे जगत्को त्रिगुणमय भावोंसे मोहित बतलाया। इस बातको सुनकर अर्जुनको यह जाननेकी इच्छा हुई कि फिर इससे छूटनेका कोई उपाय है या नहीं ? अन्तर्यामी दयामय भगवान् इस बातको समझकर अब अपनी मायाको दुस्तर बतलाते हुए उससे तरनेका उपाय सूचित कर रहे हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं ॥ १४ ॥

प्रश्न—मायाके साथ 'एषा', 'दैवी', 'गुणमयी' और 'दुरत्यया' विशेषण देनेका और इसे 'मम' (मेरी) कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'एषा' यह पद प्रत्यक्ष वस्तुका निर्देशक है और प्रकृति कार्यरूपमें ही प्रत्यक्ष है। इससे यह समझना चाहिये कि जिस प्रकृतिका पिछले श्लोकमें त्रिगुणमय भावोंके नामसे कार्यरूपमें वर्णन किया गया है, उसीको यहाँ 'माया'के नामसे बतलाया गया है। गुण और गुणोंका कार्यरूप यह सारा जड दृश्यप्रपञ्च इस मायामें ही है, इसीसे इसको 'गुणमयी' कहा गया है। यह माया बाजीगरों या दानवोंकी मायाकी तरह साधारण नहीं है, यह भगवान्की अपनी अनन्यसाधारण अत्यन्त विचित्र शक्ति है; इसीसे इसको 'दैवी' बतलाया गया है। और अन्तमें भगवान्ने इस दैवी मायाको मेरी (मम) कहकर तथा इसे दुरत्यया बताकर यह सूचित किया है कि मैं इसका स्वामी हूँ, मेरे शरण हुए विना कोई भी किसी भी उपायसे इस मायासे सहज ही पार नहीं पा सकता। इसलिये यह अत्यन्त ही दुस्तर है।

प्रश्न—जो केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जो एकमात्र भगवान्को ही अपना परम आश्रय, परम गति, परम प्रिय और परम प्राप्य मानते हैं तथा सब कुछ भगवान्का या भगवान्के ही लिये

है—ऐसा समझकर जो शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, गृह, कीर्ति आदिमें ममत्व और आसक्तिका त्याग करके, उन सबको भगवान्‌की ही पूजाकी सामग्री बनाकर तथा भगवान्‌के रचे हुए विधानमें सदा सन्तुष्ट रहकर, भगवान्‌की आज्ञाके पालनमें तत्पर और भगवान्‌के स्मरणपरायण होकर अपनेको सब प्रकारसे निरन्तर भगवान्‌में ही लगाये रखते हैं, वे ही पुरुष निरन्तर भगवान्‌का भजन करनेवाले समझे जाते हैं। इसीका नाम अनन्य शरणागति है। इस प्रकारके शरणागत भक्त ही मायासे तरते हैं।

प्रश्न—मायासे तरना किसे कहते हैं?

उत्तर—कार्य और कारणरूपा अपरा प्रकृतिका ही नाम माया है। मायापति परमेश्वरके शरणागत होकर उनकी कृपासे इस मायाके रहस्यको पूर्णरूपसे जानकर इसके सम्बन्धसे सर्वथा छूट जाना और मायातीत परमेश्वरको प्राप्त कर लेना ही मायासे तरना है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने मायाकी दुस्तरता दिखलाकर अपने भजनको उससे तरनेका उपाय बतलाया। इसपर यह प्रश्न उठता है कि जब ऐसी बात है तब सब लोग निरन्तर आपका भजन क्यों नहीं करते? इसपर भगवान् कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥१५॥

मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है—ऐसे, आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढ़लोग मुझको नहीं भजते॥१५॥

प्रश्न—इस श्लोकका स्पष्टीकरण कीजिये।

उत्तर—भगवान् कहते हैं कि जो जन्म-जन्मान्तरसे पाप करते आये हैं और इस जन्ममें भी जो जान-बूझकर पापोंमें ही प्रवृत्त हैं, ऐसे दुष्कृती—पापात्मालोग; 'प्रकृति क्या है, पुरुष क्या है, भगवान् क्या है और भगवान्‌के साथ जीवका और जीवके साथ भगवान्‌का क्या सम्बन्ध है?' इन बातोंको जानना तो दूर रहा, जो यह भी नहीं जानते या नहीं जानना चाहते कि मनुष्य-जन्मका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है और भजन ही उसका प्रधान कर्तव्य है, ऐसे विवेकहीन मूढ़ मनुष्य; जिनके विचार और कर्म नीच हैं—विषयासक्ति, प्रमाद तथा आलस्यकी अधिकतासे जो केवल विषयभोगोंमें जीवन नष्ट करते रहते हैं और उन्हींको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे निरन्तर निन्दित नीच कर्मोंमें ही लगे रहते हैं। ऐसे 'नराधम' नीच व्यक्ति; तथा मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है—विपरीत भावना और अश्रद्धाकी अधिकतासे जिनका विवेक भ्रष्ट हो गया है और इसलिये जो वेद, शास्त्र, गुरु-परम्पराके सदुपदेश, ईश्वर, कर्मफल और पुनर्जन्ममें विश्वास न करके मिथ्या कुतर्क एवं नास्तिकवादमें ही उलझे रहकर दूसरोंका अनिष्ट करते हैं, ऐसे अज्ञानी-जन; और इन सब दुर्गुणोंके साथ ही जो दम्भ, दर्प, अभिमान, कठोरता, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आसुर भावोंका आश्रय लिये हुए हैं, ऐसी आसुरी प्रकृतिके लोग मुझको कभी नहीं भजते।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने यह बतलाया कि पापात्मा आसुरी प्रकृतिवाले मेरा भजन नहीं करते। इससे यह जिज्ञासा होती है कि फिर कैसे मनुष्य आपका भजन करते हैं, इसपर भगवान् कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं ॥ १६ ॥

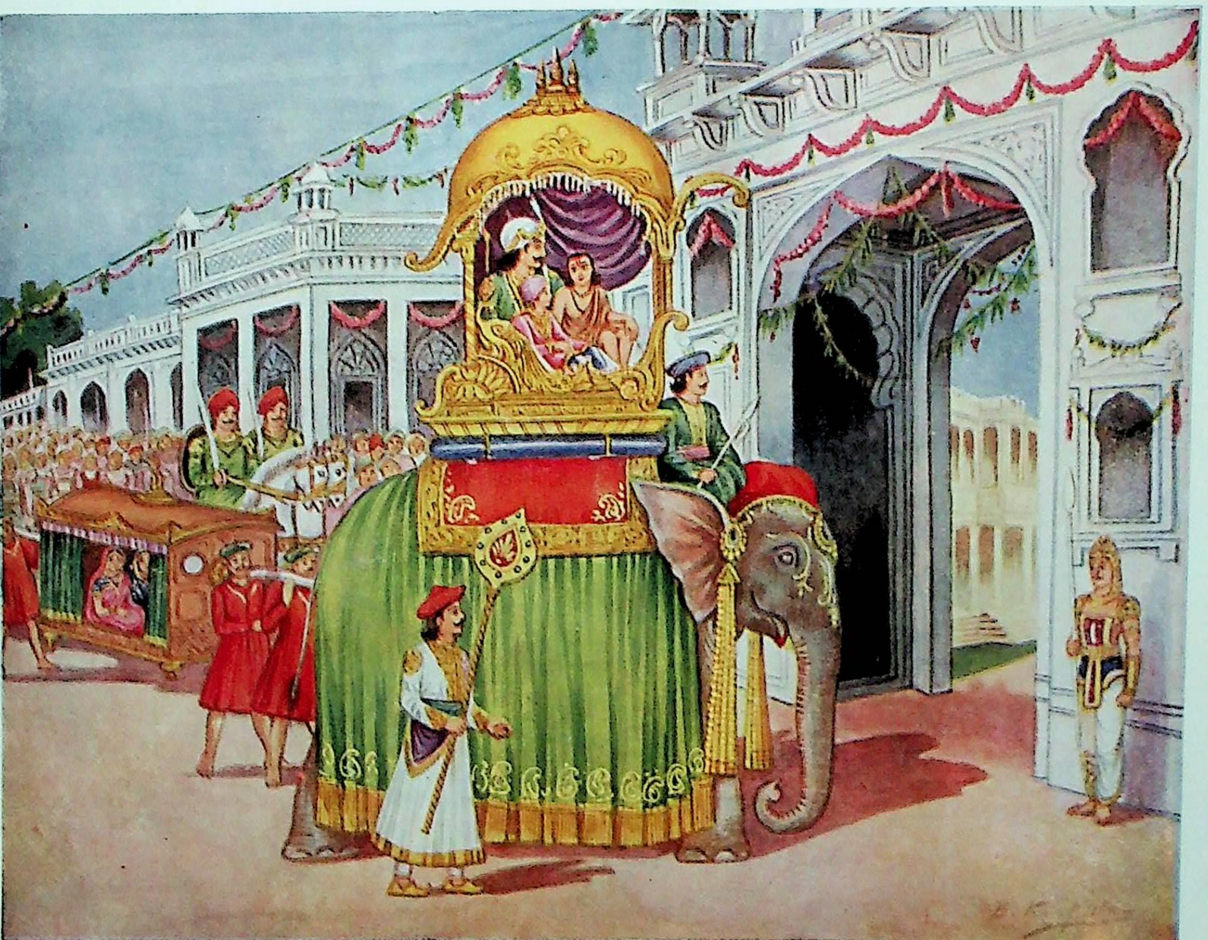
प्रश्न—'सुकृतिनः' पदका क्या अर्थ है और यह किसका विशेषण है ?

उत्तर—जन्म-जन्मान्तरसे शुभकर्म करते-करते जिनका स्वभाव सुधरकर शुभकर्मशील बन गया है और पूर्व-संस्कारोंके बलसे, अथवा महत्सङ्गके प्रभावसे, जो इस जन्ममें भी भगवदाज्ञानुसार शुभकर्म ही करते हैं—उन शुभकर्म करनेवालोंको 'सुकृती' कहते हैं। शुभकर्मोंसे भगवान्‌के प्रभाव और महत्त्वका ज्ञान होकर भगवान्‌में विश्वास बढ़ता है और विश्वास होनेपर भजन होता है। इससे यह सूचित होता है कि 'सुकृतिनः' विशेषणका सम्बन्ध चारों प्रकारके भक्तोंसे है अर्थात् भगवान्‌को विश्वासपूर्वक भजनेवाले सभी भक्त 'सुकृती' ही होते हैं, फिर चाहे वे किसी भी हेतुसे भजें।

प्रश्न—अर्थार्थी भक्तके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके भोगोंमेंसे, जिसके मनमें एककी या बहुतोंकी कामना है, परन्तु कामनापूर्तिके लिये जो केवल भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और इसके लिये जो श्रद्धा और विश्वासके साथ भगवान्‌का भजन करता है, वह अर्थार्थी भक्त है।

सुग्रीव-विभीषणादि भक्त अर्थार्थी माने जाते हैं, इनमें प्रधानतासे ध्रुवका नाम लिया जाता है। स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादके सुनीति और सुरुचिनामक दो रानियाँ थीं। सुनीतिसे ध्रुवका और सुरुचिसे उत्तमका जन्म हुआ था। राजा उत्तानपाद सुरुचिपर अधिक प्रेम करते थे। एक दिन बालक ध्रुव आकर पिताकी गोदमें बैठने लगा, तब सुरुचिने उसका तिरस्कार करके उसे उतार दिया और कहा कि 'तू अभागा है जो तेरा जन्म सुनीतिके गर्भसे हुआ है, राज्यसिंहासनपर बैठना होता तो मेरे गर्भसे जन्म लेता। जा, श्रीहरिकी आराधना कर; तभी तेरा मनोरथ सफल होगा।' विमाताके भर्त्सनापूर्ण व्यवहारसे उसे बड़ा दुःख हुआ, वह रोता हुआ अपनी माँ सुनीतिके पास गया और उससे सब हाल उसने कह सुनाया। सुनीतिने कहा—'बेटा! तेरी माता सुरुचिने ठीक ही कहा है। भगवान्‌की आराधनाके बिना तेरा मनोरथ पूर्ण नहीं होगा।' माताकी बात सुनकर राज्यप्राप्तिके उद्देश्यसे बालक ध्रुव भगवान्‌का भजन करनेके लिये घरसे निकल पड़ा। रास्तेमें नारदजी मिले, उन्होंने उसे लौटानेकी चेष्टा की, राज्य दिलानेकी बात कही; परन्तु वह अपने निश्चयपर डटा ही रहा। तब उन्होंने उसे 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रका और चतुर्भुज भगवान् विष्णुके ध्यानका उपदेश देकर आशीर्वाद दिया। ध्रुव यमुनाजीके तटपर मधुवनमें जाकर तप करने लगे। उन्हें तपसे डिगानेके लिये नाना प्रकारके भय और लोभके कारण सामने आये, परन्तु वे अपने व्रतपर अटल रहे। तब भगवान्‌ने उनकी एकनिष्ठ भक्तिसे प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया। देवर्षि नारदजीके द्वारा संवाद पाकर राजा उत्तानपाद, अपने पुत्र उत्तम तथा दोनों रानियोंके साथ उन्हें लिवाने चले। तपोमूर्ति ध्रुव उन्हें मार्गमें आते हुए मिले। राजाने हथिनीसे उतरकर उनको गले लगा लिया तदनन्तर बड़े उत्सव



अर्थार्थी भक्त ध्रुव



आर्त भक्त द्रौपदी

तथा समारोहके साथ हथिनीपर चढ़ाकर उन्हें नगरमें लाया गया। अन्तमें राजाने ध्रुवको राज्य सौंपकर स्वयं वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया !

प्रश्न—आर्त भक्तके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—जो शारीरिक या मानसिक सन्ताप, विपत्ति, शत्रुभय, रोग, अपमान, चोर, डाकू और आततायियोंके अथवा हिंस्र जानवरोंके आक्रमण आदिसे घबराकर उनसे छूटनेके लिये एकनिष्ठ विश्वासके साथ हृदयकी अडिग श्रद्धासे भगवान्‌का भजन करता है, वह आर्त भक्त है।

आर्त भक्तोंमें गजराज, जरासन्धके बन्दी राजागण आदि बहुत-से माने जाते हैं; परन्तु सती द्रौपदीका नाम मुख्यतया लिया जाता है।

द्रौपदी राजा द्रुपदकी पुत्री थीं; ये यज्ञवेदीसे उत्पन्न हुई थीं। इनके शरीरका रंग बड़ा ही सुन्दर श्यामवर्ण था, इससे इन्हें 'कृष्णा' कहते थे। द्रौपदी अनन्त गुणवती, बड़ी पतिव्रता, आदर्श गृहिणी और भगवान्‌की सच्ची भक्त थीं। द्रौपदी श्रीकृष्णको पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमेश्वर समझती थीं और भगवान् भी उनके सामने अपनी अन्तरङ्ग लीलाओंको भी छिपाकर नहीं रखते थे। जिस वृन्दावनके पवित्र गोपी-प्रेमकी दिव्य बातें गोप-रमणियोंके पति-पुत्रों-तकको मालूम नहीं थीं, उन लीलाओंका भी द्रौपदीको पता था; इसीलिये चीर-हरणके समय द्रौपदीने भगवान्‌को 'गोपी-जन-प्रिय' कहकर पुकारा था।

जब दुष्ट दुःशासन दुर्योधनकी आज्ञासे एकवस्त्रा द्रौपदीको सभामें लाकर बलपूर्वक उनकी साड़ी खींचने लगा और किसीसे भी रक्षा पानेका कोई भी लक्षण न देख द्रौपदीने अपनेको सर्वथा असहाय समझकर अपने परम सहाय, परम बन्धु परमात्मा श्रीकृष्णका स्मरण किया। उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि मेरे स्मरण करते ही भगवान् अवश्य आवेंगे, मेरी कातर पुकार सुननेपर उनसे कभी नहीं रहा जायगा। द्रौपदीने भगवान्‌का स्मरण करके कहा—

गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥
(महा० सभा० ६७)

'हे गोविन्द! हे द्वारिकावासिन्! हे श्रीकृष्ण! हे गोपीजनप्रिय! हे केशव! क्या तुम नहीं जान रहे हो कि कौरव मेरा तिरस्कार कर रहे हैं? हे नाथ! हे लक्ष्मीनाथ! हे व्रजनाथ! हे दुःखनाशन! हे जनार्दन! कौरव-समुद्रमें डूबती हुई मुझको बचाओ! हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महायोगिन्! हे विश्वात्मन्! हे विश्वभावन! हे गोविन्द! कौरवोंके हाथोंमें पड़ी हुई मुझ शरणागत दुःखिनीकी रक्षा करो।'

तब द्रौपदीकी पुकार सुनते ही जगदीश्वर भगवान्‌का हृदय द्रवीभूत हो गया और वे—

त्यक्त्वा शय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात्।

'कृपालु भगवान् कृपापरवश हो शय्या छोड़कर पैदल ही दौड़ पड़े।' कौरवोंकी दानवी सभामें भगवान्‌का वस्त्रावतार हो गया! द्रौपदीके एक वस्त्रसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा—इस प्रकार भिन्न-भिन्न रंगोंके वस्त्र निकलने लगे, वस्त्रोंका वहाँ ढेर लग गया। ठीक समयपर प्रिय बन्धुने पहुँचकर अपनी द्रौपदीकी लाज बचा ली, दुःशासन थककर जमीनपर बैठ गया!

प्रश्न—जिज्ञासु भक्तके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—धन, स्त्री, पुत्र, गृह आदि वस्तुओंकी और रोग-संकटादिकी परवा न करके एकमात्र परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी इच्छासे ही जो एकान्त निष्ठाके साथ भगवान्‌की भक्ति करता है (१४।२६), उस कल्याणकामी भक्तको जिज्ञासु कहते हैं।

जिज्ञासु भक्तोंमें परीक्षित् आदि अनेकों नाम हैं, परन्तु उद्धवजीका नाम विशेष प्रसिद्ध है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें अध्याय ७से ३० तक भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीको बड़ा ही दिव्य उपदेश दिया है, जो 'उद्धवगीता' के नामसे प्रसिद्ध है।

प्रश्न—ज्ञानी भक्तके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—जो परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी दृष्टिमें एक परमात्मा ही रह गये हैं—परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और इस प्रकार परमात्माको प्राप्त कर लेनेसे जिनकी समस्त कामनाएँ निःशेषरूपसे समाप्त हो चुकी हैं; तथा ऐसी स्थितिमें जो सहज भावसे ही परमात्माका भजन करते हैं, वे ज्ञानी हैं।

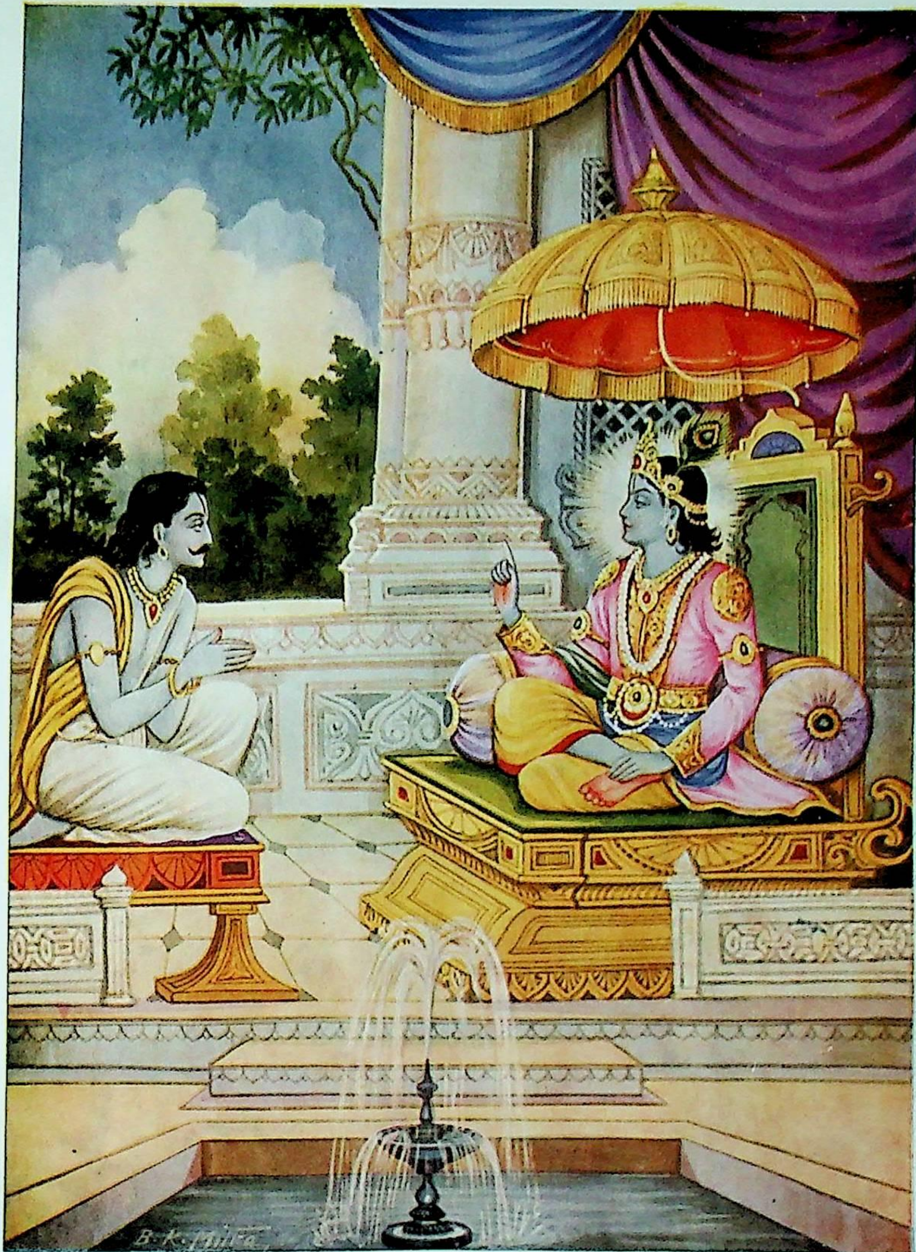
ज्ञानियोंमें शुकदेवजी, सनकादि, नारदजी और भीष्मजी आदि प्रसिद्ध हैं। बालक प्रह्लाद भी ज्ञानी भक्त माने जाते हैं, जिनको माताके गर्भमें ही देवर्षि नारदजीके द्वारा उपदेश प्राप्त हो गया था। ये दैत्यराज हिरण्यकशिपुके पुत्र थे। हिरण्यकशिपु भगवान्‌से द्वेष रखता था और ये भगवान्‌के भक्त थे। इससे हिरण्यकशिपुने इन्हें बहुत ही सताया, साँपोंसे डसाया, हाथियोंसे कुचलवाया, मकानसे गिरवाया, समुद्रमें फेंकवाया, आगमें डलवाया और गुरुओंने इन्हें मारनेकी चेष्टा की; परन्तु भगवान् इन्हें बचाते गये। इनके लिये भगवान्‌ने श्रीनृसिंहदेवके रूपमें प्रकट होकर हिरण्यकशिपुका वध किया। किसी भी भयसे न डरना तो प्रह्लादकी ज्ञानस्थितिका सूचक है ही; पर गुरुगृहमें इन्होंने बालकपनमें ही अपने सहपाठियोंको जो दिव्य उपदेश किया है, उससे भी इनका ज्ञानी होना सिद्ध हो जाता है। भागवत और विष्णुपुराणमें इनकी सुन्दर कथा पढ़नी चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'च' का प्रयोग करके क्या सूचित किया गया है ?

उत्तर—'च' का प्रयोग करके भगवान्‌ने अर्थार्थी, आर्त्त और जिज्ञासु भक्तोंकी अपेक्षा ज्ञानीकी विलक्षणता और श्रेष्ठता सूचित की है। १७वें, १८वें और १९वें श्लोकोंमें जो ज्ञानीकी महिमा कही गयी है, उसीका संकेत 'च' के द्वारा यहाँ सूत्ररूपमें किया गया है।

प्रश्न—चार प्रकारके भक्तोंमें एककी अपेक्षा दूसरे उत्तम कौन हैं और क्यों हैं ?

उत्तर—भगवान्‌पर विशुद्ध विश्वास करके, किसी भी प्रकारसे भगवान्‌का भजन करनेवाले सभी उत्तम हैं। इसीलिये भगवान्‌ने चारोंको ही इस श्लोकमें 'सुकृती' और १८वें श्लोकमें 'उदार' कहा है। परन्तु यहाँके वर्णनके अनुसार अपेक्षाकृत तारतम्यसे देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि 'अर्थार्थी' की अपेक्षा 'आर्त्त' उत्तम हैं, 'आर्त्त' की अपेक्षा 'जिज्ञासु', और 'जिज्ञासु' की अपेक्षा 'ज्ञानी' उत्तम हैं। क्योंकि 'अर्थार्थी' सांसारिक भोगोंको सुखमें हेतु समझकर उनकी कामनासे भगवान्‌को भजते हैं; वे भगवान्‌के प्रभावको पूर्णतया नहीं जानते, इसीसे भगवान्‌में उनका पूर्ण प्रेम नहीं होता और इसीसे वे भोगोंकी आकांक्षा करते हैं। आर्त्त भक्त सुख-भोगके लिये तो भगवान्‌से कभी कुछ नहीं माँगते। इससे यद्यपि यह सिद्ध है कि अर्थार्थीकी अपेक्षा उनका भगवान्‌में अधिक प्रेम है तथापि उनका प्रेम शरीर-सुख और मान-बड़ाई आदिमें कुछ बँटा हुआ अवश्य है; इसीसे वे घोर संकट पड़नेपर या अपमानित



जिज्ञासु भक्त उद्धव

होनेपर उससे बचनेके लिये भगवान्‌को पुकारते हैं। जिज्ञासु भक्त न भोग-सुख चाहते हैं और न लौकिक विपत्तियोंसे घबराते हैं, वे केवल भगवान्‌के तत्त्वको ही जानना चाहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि सांसारिक भोगोंमें तो वे आसक्त नहीं हैं, परन्तु मुक्तिकी कामना उनमें भी बनी ही हुई है; अतएव उनका प्रेम भी 'अर्थार्थी' और 'आर्त्त' की अपेक्षा विलक्षण और अधिक होनेपर भी 'ज्ञानी' की अपेक्षा न्यून ही है। परन्तु 'समग्र भगवान्' के स्वरूपतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी भक्त तो बिना किसी अपेक्षाके स्वाभाविक ही भगवान्‌को निष्काम प्रेम-भावसे नित्य-निरन्तर भजते हैं, अतएव वे सर्वोत्तम हैं।

प्रश्न—यहाँ अर्जुनको भगवान्‌ने 'भरतर्षभ' नामसे सम्बोधित किया है, इसमें क्या हेतु है?

उत्तर—अर्जुनको 'भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ' कहकर भगवान् यह सूचित करते हैं कि तुम सुकृती हो; अतः तुम तो मेरा भजन कर ही रहे हो।

सम्बन्ध—चार प्रकारके भक्तोंकी बात कहकर अब उनमें ज्ञानी भक्तके प्रेमकी प्रशंसा और अन्यान्य भक्तोंकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठताका निरूपण करते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ १७॥

प्रश्न—ज्ञानीके साथ जो 'नित्ययुक्तः' और 'एकभक्तिः' विशेषण दिये गये हैं, इनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—संसार, शरीर और अपने-आपको सर्वथा भूलकर जो अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌में ही स्थित है, उसे 'नित्ययुक्त' कहते हैं; और जो भगवान्‌में ही हेतुरहित और अविरल प्रेम करता है, उसे 'एक-भक्ति' कहते हैं। भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी भक्तमें ये दोनों बातें पूर्णरूपसे होती हैं, इसलिये ये विशेषण दिये गये हैं।

प्रश्न—ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिनको भगवान्‌के यथार्थ तत्त्व और रहस्यकी सम्यक् उपलब्धि हो चुकी है, जिनको सर्वत्र, सब समय और सब कुछ भगवत्स्वरूप ही दीखता है, जिनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं गया है, भगवान्‌को ही एकमात्र परम श्रेष्ठ और परम प्रियतम जान लेनेके कारण जिनके मन-बुद्धि सम्पूर्ण आसक्ति और आकांक्षाओंसे सर्वथा रहित होकर एकमात्र भगवान्‌में ही तल्लीन हो रहे हैं—इस प्रकार अनन्य प्रेमसे जो भगवान्‌की भक्ति करते हैं, उनको भगवान् कितने प्रिय हैं, यह कौन बतला सकता है? जिन्होंने इस लोक और परलोकके अत्यन्त प्रिय, सुखप्रद तथा सांसारिक मनुष्योंकी दृष्टिसे दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले भोगों और सुखोंकी समस्त अभिलाषाओंका भगवान्‌के लिये त्याग कर दिया है, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का कितना महत्त्व है और उनको भगवान् कितने प्यारे हैं—दूसरे किसीके द्वारा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'उनके लिये मैं अत्यन्त प्रिय हूँ'। और जिनको भगवान् अतिशय

प्रिय हैं, वे भगवान्‌को तो अतिशय प्रिय होंगे ही। क्योंकि प्रथम तो भगवान् स्वाभाविक ही स्वयं प्रेम-स्वरूप हैं—* यहाँतक कि उन्हीं प्रेम-रस-समुद्रसे प्रेमकी बूँद पाकर जगत्‌में सब लोग सुखी होते हैं। दूसरे, उनकी यह घोषणा है कि 'जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ।' तब भगवान् उनसे अत्यन्त प्रेम करें, इसमें क्या आश्चर्य है? इसीलिये भगवान् कहते हैं कि वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव और तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले भगवत्प्राप्त प्रेमी भक्तोंके प्रेमकी पराकाष्ठा दिखलाते हुए उनकी प्रशंसा की गयी है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय बतलाया। इसपर यह शंका हो सकती है कि क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ और प्रिय नहीं हैं? इसपर भगवान् कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

ये सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है॥१८॥

प्रश्न—ये सभी उदार हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ जिन चार प्रकारके भक्तोंका प्रसंग है, उनमें ज्ञानीके लिये तो कोई बात ही नहीं है; अर्थार्थी, आर्त्त और जिज्ञासु भक्त भी सर्वथा एकनिष्ठ हैं, उनका भगवान्‌में दृढ़ और परम विश्वास है। वे इस बातका भलीभाँति निश्चय कर चुके हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, परम दयालु हैं और परम सुहृद् हैं; हमारी आशा और आकांक्षाओंकी पूर्ति एकमात्र उन्हींसे हो सकती है। ऐसा मान और जानकर, वे अन्य सब प्रकारके आश्रयोंका त्याग करके अपने जीवनको भगवान्‌के ही भजन-स्मरण, पूजन और सेवा आदिमें लगाये रखते हैं। उनकी एक भी चेष्टा ऐसी नहीं होती, जो भगवान्‌के विश्वासमें जरा भी त्रुटि लानेवाली हो। उनकी कामनाएँ सर्वथा समाप्त नहीं हो गयी हैं, परन्तु वे उनकी पूर्ति कराना चाहते हैं एकमात्र भगवान्‌से ही! जैसे कोई पतिव्रता स्त्री अपने लिये कुछ चाहती तो है, परन्तु चाहती है एकमात्र अपने प्रियतम पतिसे ही; न वह दूसरेकी ओर ताकती है, न विश्वास करती है और न जानती ही है। इसी प्रकार वे भक्त भी एकमात्र भगवान्‌पर ही भरोसा रखते हैं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'वे सभी उदार (श्रेष्ठ) हैं।' इसीलिये तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—'मेरे भक्त चाहे जैसे भी मुझे भजते हों, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।' नवम अध्यायमें भी भगवान्‌की भक्तिका ऐसा ही फल बतलाया गया है (९।२५)।

प्रश्न—यहाँ 'तु' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—चारों ही प्रकारके भक्त उत्तम और भगवान्‌को प्रिय हैं। परन्तु इनमें पहले तीनोंकी अपेक्षा

* 'रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।' (तै० उ० २।७) 'वह रस ही है, यह पुरुष इस रसको पाकर ही आनन्दवाला होता है।'



ज्ञानी भक्त प्रह्लाद

ज्ञानीमें जो विलक्षणता है, उसको व्यक्त करनेके लिये ही 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ भगवान् यह दिखला रहे हैं कि ज्ञानी भक्तमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है। भक्त हैं सो मैं हूँ, और मैं हूँ सो भक्त है।

प्रश्न—'युक्तात्मा' शब्दका क्या अर्थ है और उसका अति उत्तम गतिस्वरूप भगवान्‌में अच्छी प्रकार स्थित होना क्या है?

उत्तर—जिनके मन-बुद्धि भलीभाँति भगवान्‌में तन्मय हो गये हैं, उन्हें 'युक्तात्मा' कहते हैं। और ऐसे पुरुषका, जो एकमात्र भगवान्‌को ही सर्वोत्तम परमगति और परम आश्रय मानकर नित्य-निरन्तर अचलभावसे उनमें स्थित रहना है—यही अति उत्तम गतिस्वरूप भगवान्‌में अच्छी तरह स्थित होना है।

सम्बन्ध—अब उस ज्ञानी भक्तकी दुर्लभता बतलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'बहूनां जन्मनामन्ते' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस जन्ममें मनुष्य भगवान्‌का ज्ञानी भक्त बन जाता है, वही उसके बहुत-से जन्मोंके अन्तका जन्म है। क्योंकि भगवान्‌को इस प्रकार तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् उसका पुनः जन्म नहीं होता; वही उसका अन्तिम जन्म होता है।

प्रश्न—यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि बहुत जन्मोंतक सकामभावसे भगवान्‌की भक्ति करते-करते उसके बाद मनुष्य भगवान्‌का ऐकान्तिक ज्ञानी भक्त होता है, तो क्या हानि है?

उत्तर—ऐसा मान लेनेसे भगवान्‌के अर्थार्थी, आर्त्त और जिज्ञासु भक्तोंके बहुत-से जन्म अनिवार्य हो जाते हैं। परन्तु भगवान्‌ने स्थान-स्थानपर अपने सभी प्रकारके भक्तोंको अपनी प्राप्ति होना बतलाया है (७।२३; ९।२५) और वहाँ कहीं भी बहुत जन्मोंकी शर्त नहीं डाली है। अवश्य ही श्रद्धा और प्रेमकी कमीसे शिथिल-साधन होनेपर अनेक जन्म भी हो सकते हैं, परन्तु यदि श्रद्धा और प्रेमकी मात्रा बढ़ी हुई हो और साधनमें तीव्रता हो तो एक ही जन्ममें भगवत्प्राप्ति हो सकती है। इसमें कालका नियम नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानवान्' शब्दका प्रयोग किसके लिये हुआ है?

उत्तर—भगवान्‌ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें विज्ञानसहित जिस ज्ञानके जाननेकी प्रशंसा की थी, जिस प्रेमी भक्तने उस विज्ञानसहित ज्ञानको प्राप्त कर लिया है तथा तीसरे श्लोकमें जिसके लिये कहा है कि कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है, उसीके लिये यहाँ 'ज्ञानवान्' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसीलिये १८वें श्लोकमें भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार भगवान्‌का भजन करना क्या है?

उत्तर--सम्पूर्ण जगत् भगवान् वासुदेवका ही स्वरूप है, वासुदेवके सिवा और कुछ है ही नहीं, इस तत्त्वका प्रत्यक्ष और अटल अनुभव हो जाना और उसीमें नित्य स्थित रहना–यही सब कुछ वासुदेव है, इस प्रकारसे भगवान्का भजन करना है।

प्रश्न–वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है–इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–इसका यह अभिप्राय है कि जगत्में प्रथम तो लोगोंकी भजनकी ओर रुचि ही नहीं होती, हजारोंमें किसीकी कुछ होती है तो वह अपने स्वभावके वश शिथिलप्रयत्न होकर भजन छोड़ बैठता है। कोई यदि कुछ विशेष प्रयत्न करता भी है तो वह श्रद्धा-भक्तिकी कमीके कारण कामनाओंके प्रवाहमें उसको बहाता रहता है, इस कारण वह भी भगवान्को तत्त्वसे जान ही नहीं पाता। इससे यह सिद्ध है कि जगत्में भगवान्को तत्त्वसे जाननेवाले महापुरुष कोई विरले ही होते हैं। अतएव यही समझना चाहिये कि इस प्रकार-के महात्मा अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। ऐसे महात्मा यदि किसीको प्राप्त हो जायँ तो उसका बहुत बड़ा सौभाग्य समझना चाहिये। देवर्षि नारदजीने कहा है–

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।'

'महापुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

सम्बन्ध---पन्द्रहवें श्लोकमें आसुरी प्रकृतिके दुष्कृती लोगोंके भगवान्को न भजनेकी और १६वेंसे १९वें-तक सुकृती पुरुषोंके द्वारा भगवान्को भजनेकी बात कही गयी। अब भगवान् उनकी बात कहते हैं जो सुकृती होनेपर भी कामनाके वश अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार अन्यान्य देवताओंकी उपासना करते हैं---

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अपने स्वभावसे प्रेरित और उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं ॥२०॥

प्रश्न–'अपना स्वभाव' किसका वाचक है और 'उससे प्रेरित होना' क्या है ?

उत्तर--जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंसे संस्कारोंका सञ्चय होता है और उस संस्कार-समूहसे जो प्रकृति बनती है, उसे 'स्वभाव' कहा जाता है। स्वभाव प्रत्येक जीवका भिन्न होता है। उस स्वभावके अनुसार जो कर्म करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है, उसीको 'उससे प्रेरित होना' कहते हैं।

प्रश्न–यहाँ 'उन' शब्दका दो बार प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है ? और कामनाद्वारा ज्ञानका हरा जाना क्या है ?

उत्तर–'उन' शब्दका दो बार प्रयोग करके यही दिखलाया गया है कि इस प्रकार सबकी कामना एक-सी नहीं होती। उन भोगकामनाओंके मोहसे मनुष्यमें यह विवेक नहीं रहता कि 'मैं कौन हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है, ईश्वर और जीवका क्या सम्बन्ध है, मनुष्य-जन्मकी प्राप्ति किस लिये हुई है, अन्य शरीरोंसे इसमें क्या विशेषता है और भोगोंमें न भूलकर भजन करनेमें ही अपना कल्याण है।' इस प्रकार इस विवेकशक्तिका विमोहित हो जाना ही कामनाके द्वारा ज्ञानका हरा जाना है।

प्रश्न–पन्द्रहवें श्लोकमें जिनको 'माययापहृतज्ञानाः'

कहा गया है, उनमें और यहाँ जिनको 'तैः तैः कामैः अपहृतज्ञानाः' कहा है, उनमें क्या भेद है ?

उत्तर—पन्द्रहवें श्लोकमें जिनका वर्णन है, उनको भगवान्‌ने पापात्मा, मूढ़, नराधम और आसुर स्वभाववाले बतलाया है; वे आसुरी प्रकृतिवाले होनेके कारण तमःप्रधान हैं और नरकके भागी हैं (१६ । १६) । तथा यहाँ भिन्न-भिन्न कामनाओंसे जिनका ज्ञान हरा गया बतलाया है, वे देवताओंकी पूजा करनेवाले भक्त श्रद्धालु एवं देवलोकके भागी (७ । २३), रजोमिश्रित सात्त्विक माने गये हैं; अतः दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है ।

प्रश्न—उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंका भजना क्या है ?

उत्तर—सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, इन्द्र, मरुत्, यमराज और वरुण आदि शास्त्रोक्त देवताओंको भगवान्‌से भिन्न समझकर—जिस देवताकी, जिस उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनामें जप, ध्यान, पूजन, नमस्कार, न्यास, हवन, व्रत, उपवास आदिके जो-जो भिन्न-भिन्न नियम हैं, उन-उन नियमोंको धारण करके बड़ी सावधानीके साथ उनका भलीभाँति पालन करते हुए उन देवताओंकी आराधना करना ही उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजना है । कामना और इष्टदेवकी भिन्नताके अनुसार पूजादिके नियमोंमें भेद होता है, इसीलिये 'उस' शब्दका प्रयोग दो बार किया गया है । साथ ही एक बात और भी है—भगवान्‌से अलग मानकर उनकी पूजा करनेसे ही वह अन्य देवताकी पूजा होती है । यदि देवताओंको भगवान्‌का ही स्वरूप समझकर, भगवान्‌के आज्ञानुसार निष्कामभावसे या भगवत्प्रीत्यर्थ उनकी पूजा की जाय तो वह अन्य देवताओंकी न होकर भगवान्‌की ही पूजा हो जाती है और उसका फल भी भगवत्प्राप्ति ही होता है ।

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें देवोपासनाका तथा देवोपासकोंको कैसे और क्या फल मिलता है, इसका वर्णन करते हैं—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी मैं उसी देवताके प्रति श्रद्धाको स्थिर करता हूँ ॥ २१ ॥

प्रश्न—'भक्तः' पदके साथ 'यः' का और 'तनुम्' के साथ 'याम्' का दुबारा प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'यः' का दो बार प्रयोग करके भक्तोंकी और 'याम्' का दो बार प्रयोग करके देवताओंकी अनेकता दिखलायी है । अभिप्राय यह है कि सकाम भक्त भी बहुत प्रकारके होते हैं और उनकी अपनी-अपनी कामना और प्रकृतिके भेदसे उनके इष्ट देवता भी पृथक्-पृथक् ही होते हैं ।

प्रश्न—देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है—इसका क्या भाव है ?

उत्तर—देवताओंकी सत्तामें, उनके प्रभाव और गुणोंमें तथा पूजन-प्रकार और उसके फलमें पूरा विश्वास करके श्रद्धापूर्वक जिस देवताकी जैसी

मूर्तिका विधान हो, उसकी वैसे ही धातु, काष्ठ, मिट्टी, पाषाण आदिकी मूर्ति या चित्रपटकी विधिपूर्वक स्थापना करके अथवा मनके द्वारा मानसिक मूर्तिका निर्माण करके, जिस मन्त्रकी जितनी संख्याके जप-पूर्वक जिन सामग्रियोंसे जैसी पूजाका विधान हो, उसी मन्त्रकी उतनी ही संख्या जपकर उन्हीं सामग्रियोंसे उसी विधानसे पूजा करना, देवताओंके निमित्त अग्निमें आहुति देकर यज्ञादि करना, उनका ध्यान करना, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रत्यक्ष देवताओंका पूजन करना और इन सबको यथाविधि नमस्कारादि करना—यही 'देवताओंके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना' है।

प्रश्न—'ताम्' इस पदका 'श्रद्धाम्' के साथ सम्बन्ध न करके उसे 'तनुम्' (देवताके स्वरूप) का बोधक क्यों माना गया?

उत्तर—पूर्वार्द्धमें जिन 'यां याम्' पदोंका 'तनुम्' (देवताके स्वरूप) से सम्बन्ध है उन्हींके साथ एकान्वय करनेके लिये 'ताम्' को भी 'तनुम्' का ही बोधक मानना उचित जान पड़ता है। श्रद्धाके साथ उसका सम्बन्ध माननेपर भी भावमें कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि वैसा माननेसे भी उस श्रद्धाको देवता-विषयक मानना पड़ेगा।

प्रश्न—यहाँ 'एव' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'एव' का प्रयोग करके भगवान् यह बात दिखलाते हैं कि जो भक्त जिस देवताका पूजन करना चाहता है उसकी श्रद्धाको मैं उसी इष्ट देवताके प्रति स्थिर कर देता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान्॥२२॥

वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसन्देह प्राप्त करता है॥२२॥

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्के कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि मेरी स्थापित की हुई उस श्रद्धासे युक्त होकर वह यथाविधि उस देवताका पूजन करता है, तब उस उपासनाके फलस्वरूप उक्त देवताके द्वारा उसे वही इच्छित भोग मिलते हैं, जो मेरेद्वारा पहलेसे ही निर्धारित होते हैं। मेरे विधानसे अधिक या कम भोग प्रदान करनेका सामर्थ्य देवताओंमें नहीं है। अभिप्राय यह है कि देवताओंकी कुछ वैसी ही स्थिति समझनी चाहिये जो किसी बड़े राज्यमें कानूनके अनुसार कार्य करनेवाले विभिन्न विभागोंके सरकारी अफसरोंकी होती है। वे किसीको उसके कार्यके बदलेमें कुछ देना चाहते हैं तो उतना ही दे सकते हैं जितना कानूनके अनुसार उसके कार्यके लिये उसको मिलनेका विधान है और जितना देनेका उन्हें अधिकार है।

प्रश्न—इस श्लोकमें 'हितान्' पदको 'कामान्' का विशेषण मानकर यदि अर्थ किया जाय कि वे 'हित-कर' भोगोंको देते हैं तो क्या हानि है?

उत्तर—ऐसा अर्थ करना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'काम' शब्दवाच्य भोगपदार्थ किसीके लिये यथार्थमें हितकर होते ही नहीं।

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त अन्य देवताओंकी उपासनाके फलको विनाशी बतलाकर भगवदुपासनाके फलकी महत्ताका प्रतिपादन करते हैं—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

परन्तु उन अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥२३॥

प्रश्न—पन्द्रहवें श्लोकमें जिनको मूढ बतलाया गया है, उनमें और इन देवताओंकी उपासना करनेवाले 'अल्पबुद्धि' मनुष्योंमें क्या अन्तर है ? और इन्हें 'अल्पबुद्धि' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पन्द्रहवें श्लोकमें भगवान्‌की भक्ति न करके पापाचरण करनेवाले नराधमोंको आसुर स्वभावसे युक्त और मूढ बतलाया गया है । यहाँ ये पापाचरणसे रहित और शास्त्रविधिसे देवताओंकी उपासना करनेवाले होनेके कारण उन लोगोंकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ हैं और आसुर-भावको प्राप्त तथा सर्वथा मूढ भी नहीं हैं; परन्तु कामनाओंके वशमें होकर, अन्य देवताओंको भगवान्‌से पृथक् मानकर, भोगवस्तुओंके लिये उनकी उपासना करते हैं, इसलिये भक्तोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके और 'अल्पबुद्धि' तो हैं ही । यदि उनकी बुद्धि अल्प न होती तो वे इस बातको अवश्य समझते कि सब देवताओंके रूपमें भगवान् ही समस्त पूजाओंको और आहुतियोंको ग्रहण करते हैं तथा भगवान् ही सबके एकमात्र परम अधीश्वर हैं (५ । २९; ९ । २४)। इस बुद्धिकी अल्पताके कारण ही इतने महान् परिश्रमसे किये जानेवाले यज्ञादि विशाल कर्मोंका इन्हें बहुत ही क्षुद्र और विनाशी फल मिलता है । यदि वे बुद्धिमान् होते तो भगवान्‌के प्रभाव-को समझकर भगवान्‌की उपासनाके लिये ही इतना परिश्रम करते, अथवा समस्त देवताओंको भगवान्‌से अभिन्न समझकर भगवत्प्रीतिके लिये उनकी उपासना करते तो, इतने ही परिश्रमसे, वे उस महान् और दुर्लभ फलको प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते । यही भाव दिखलानेके लिये उन्हें अल्पबुद्धि कहा गया है ।

प्रश्न—देवताओंको प्राप्त होना क्या है ? क्या देवताओंका पूजन करनेवाले सभी भक्त उनको प्राप्त होते हैं ? और देवोपासनाके फलको अन्तवत् क्यों बतलाया गया है ?

उत्तर—जिन देवताओंकी उपासना की जाती है, उन देवताओंके लोकमें पहुँचकर देवताओंके सामीप्य, सारूप्य तथा वहाँके भोगोंको पा लेना ही देवताओंको प्राप्त होना है । देवोपासनाका बड़े-से-बड़ा फल यही है, परन्तु सभी देवोपासकोंको यह फल भी नहीं मिलता । बहुत-से लोग तो—जो स्त्री, पुत्र, धन और मान-प्रतिष्ठा आदि तुच्छ और क्षणिक भोगोंके लिये उपासना करते हैं—अपनी-अपनी कामनाके अनुसार उन भोगोंको पाकर ही रह जाते हैं ! कुछ, जो देवतामें विशेष श्रद्धा बढ़ जानेसे भोगोंकी अपेक्षा देवतामें अधिक प्रीति करके उपासना करते हैं तथा मरणकालमें जिन्हें उन देवताओंकी स्मृति होती है, वे देवलोकमें जाते हैं । परन्तु यह खयाल रखना चाहिये कि वे देवता, उनके द्वारा मिलनेवाले भोग तथा उनके लोक—सभी विनाशशील हैं । इसीलिये उस फलको 'अन्तवत्' कहा गया है ।

प्रश्न—भगवान्‌को प्राप्त होना क्या है, भगवान्‌के आर्तादि सभी भक्त भगवान्‌को कैसे प्राप्त हो जाते

हैं, एवं इस वाक्यमें 'अपि' के प्रयोगसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—भगवान्‌के नित्य दिव्य परमधाममें निरन्तर भगवान्‌के समीप निवास करना अथवा अभेदभावसे भगवान्‌में एकत्वको प्राप्त हो जाना, दोनोंहीका नाम 'भगवत्प्राप्ति' है। भगवान्‌के ज्ञानी भक्तोंकी दृष्टिमें तो सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का ही स्वरूप है, अतः उनको तो भगवान् नित्य प्राप्त हैं ही; उनके लिये तो कुछ कहना ही नहीं है। जिज्ञासु भक्त भगवान्‌को तत्त्वसे जानना चाहते हैं, अतः उन्हें भी भगवान्‌का तत्त्वज्ञान होते ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। रहे अर्थार्थी और आर्त्त, सो वे भी भगवान्‌की दयासे भगवान्‌को ही प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् परम दयालु और परम सुहृद् हैं। वे जिस बातमें भक्तका कल्याण होता है, जिस प्रकार वह शीघ्र उनके समीप पहुँचता है, वही काम करते हैं। जिस कामनाकी पूर्तिसे या जिस संकटके निवारण-से भक्तका अनिष्ट होता हो, मोहवश भक्तके याचना करनेपर भी भगवान् उसकी पूर्ति अथवा निवारण नहीं करते; और जिसकी पूर्तिसे उनमें भक्तका विश्वास और प्रेम बढ़ता है, उसीकी पूर्ति करते हैं। अतएव भगवान्‌के भक्त कामनाकी पूर्तिके साथ-साथ आगे चलकर भगवान्‌को भी प्राप्त कर लेते हैं। इसी भावसे इस श्लोकमें 'अपि' का प्रयोग किया गया है।

भगवान्‌का स्वभाव ही ऐसा है कि जो एक बार किसी भी उद्देश्यसे भक्तिके द्वारा भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ लेता है, फिर यदि वह उसे तोड़ना भी चाहता है तो भगवान् उसे नहीं तोड़ने देते। भगवान्‌की भक्तिकी यही महिमा है। वह भक्तको उसकी इच्छित वस्तु प्रदान करके, अथवा उस वस्तुसे परिणाममें हानि होती हो तो उसे न प्रदान करके भी, नष्ट नहीं होती। वह उसके अंदर छिपी रह जाती है और अवकाश पाते ही उसे भगवान्‌की ओर खींच ले जाती है। एक बार किसी भी कारणसे मिली हुई भक्ति अनेक जन्म बीतनेपर भी तबतक उसका पिंड नहीं छोड़ती, जबतक कि उसे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं करा देती। और भगवान्‌की प्राप्ति होनेके पश्चात् तो भक्तिके छूटनेका प्रश्न ही नहीं रहता; फिर तो भक्त, भक्ति और भगवान्‌की एकता ही हो जाती है।

सम्बन्ध—जब भगवान् इतने प्रेमी और दयासागर हैं कि जिस-किसी प्रकारसे भी भजनेवालेको अपने स्वरूपकी प्राप्ति करा ही देते हैं तो फिर सभी लोग उनको क्यों नहीं भजते, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥२४॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको न जानते हुए मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं॥ २४॥

प्रश्न—यहाँ 'अबुद्धयः' पद कैसे मनुष्योंका वाचक है और भगवान्‌के 'अनुत्तम अविनाशी परमभावको न जानना' क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रभाव, स्वरूप और लीला आदिमें जिनका विश्वास नहीं है तथा जिनकी मोहावृत और विषयविमोहित बुद्धि तर्कजालोंसे समाच्छन्न है, वे मनुष्य 'बुद्धिहीन' हैं। उन्हींके लिये 'अबुद्धयः' का प्रयोग किया गया है। ऐसे लोगोंकी बुद्धिमें यह

बात आती ही नहीं कि समस्त जगत् भगवान्की ही द्विविध प्रकृतियोंका विस्तार है और उन दोनों प्रकृतियोंके परमाधार होनेसे भगवान् ही सबसे उत्तम हैं, उनसे उत्तम और कोई है ही नहीं । उनके अचिन्त्य और अकथनीय स्वरूप, स्वभाव, महत्त्व तथा अप्रतिम गुण मन एवं वाणीके द्वारा यथार्थरूपमें समझे और कहे नहीं जा सकते । अपनी अनन्त दयालुता और शरणागतवत्सलताके कारण जगत्के प्राणियोंको अपनी शरणागतिका सहारा देनेके लिये ही भगवान् अपने अजन्मा, अविनाशी और महेश्वर स्वभाव तथा सामर्थ्यके सहित ही नाना स्वरूपोंमें प्रकट होते हैं और अपनी अलौकिक लीलाओंसे जगत्के प्राणियोंको परमानन्दके महान् प्रशान्त महासागरमें निमग्न कर देते हैं। भगवान्का यही नित्य, अनुत्तम और परम भाव है तथा इसको न समझना ही 'उनके अनुत्तम अविनाशी परमभावको नहीं समझना' है।

प्रश्न—'माम् अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्राकृत मन और इन्द्रियोंसे सर्वथा अतीत होनेके कारण भगवान्के सगुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूप वस्तुत: अव्यक्त और अतीन्द्रिय हैं। भगवान् अजन्मा, अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त परमेश्वर अपनी योगमायाकी आड़में छिपकर ही मनुष्यादि रूपोंमें लोगोंके सामने प्रकट होते हैं; इससे उनका यथार्थ स्वरूप तो अव्यक्त ही रह जाता है। इसीलिये उनके तत्त्व, गुण और प्रभावको न जाननेवाले बुद्धिहीन मनुष्य उनको अव्यक्त—मन-इन्द्रियोंसे अतीत, अजन्मा और अविनाशी परमेश्वर न मानकर व्यक्तिभावापन्न साधारण मनुष्य ही मानते हैं। उपर्युक्त कथनका यही अभिप्राय है।

प्रश्न—यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि 'बुद्धिहीन' मनुष्य मुझ अव्यक्तको अर्थात् निर्गुण निराकार परमेश्वरको 'व्यक्तिमापन्न' अर्थात् सगुण साकार मनुष्यरूपमें प्रकट होनेवाला मानते हैं तो क्या हानि है ?

उत्तर—यहाँ यह अर्थ मानना उपयुक्त नहीं जँचता, क्योंकि भगवान्के निर्गुण-सगुण दोनों ही स्वरूप शास्त्रसम्मत हैं। स्वयं भगवान्ने कहा है कि 'मैं अजन्मा अविनाशी परमेश्वर ही अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके साधुओंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश और धर्म-संस्थापनादिके लिये समय-समयपर प्रकट होता हूँ (४।६-७-८)।' अत: वैसा माननेपर भगवान्के इस कथनसे विरोध आता है और अवतारवादका खण्डन होता है, जो गीताको किसी प्रकार भी मान्य नहीं है।

प्रश्न—यदि यहाँ इसका यह अर्थ मान लिया जाय कि 'बुद्धिहीन मनुष्य' मुझ 'व्यक्तिमापन्नम्' अर्थात् मनुष्यरूपमें प्रत्यक्ष प्रकट हुए सगुण साकार परमेश्वरको अव्यक्त अर्थात् निर्गुण निराकार समझते हैं, तो क्या हानि है ?

उत्तर—यह अर्थ भी नहीं जँचता है; क्योंकि जो परमेश्वर सगुण-साकाररूपमें प्रकट हैं, वे निर्गुण निराकार भी हैं। इसीलिये इस यथार्थ तत्त्वको समझनेवाला पुरुष बुद्धिहीन कैसे माना जा सकता है ? भगवान्ने स्वयं कहा है कि मुझ अव्यक्त (निराकार)-स्वरूपसे यह समस्त जगत् व्याप्त है (९।४)। अतएव जो अर्थ किया गया है, वही ठीक मालूम होता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार मनुष्यके रूपमें प्रकट सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको लोग साधारण मनुष्य क्यों समझते हैं ? इसपर कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझे जन्मरहित अविनाशी परमात्मा नहीं जानता है अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है ॥२५॥

प्रश्न—'योगमाया' शब्द किसका वाचक है ? और भगवान्‌का उससे समावृत होना क्या है ?

उत्तर—चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको 'आत्ममाया' कहा है, जिस योगशक्तिसे भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌की रचनादि करते हैं, उसी मायाशक्तिका नाम 'योगमाया' है। भगवान् जब मनुष्यादिरूपमें अवतीर्ण होते हैं तब अपनी उस योगमायाको चारों ओर फैलाकर स्वयं उसमें छिपे रहते हैं; यही उनका योगमायासे आवृत होना है।

प्रश्न—'मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि भगवान् अपनी योगमायासे छिपे रहते हैं, इसलिये अधिकांश मनुष्य उनको अपने-जैसा ही साधारण मनुष्य मानते हैं। अतएव भगवान् सबके प्रत्यक्ष नहीं होते। जो भगवान्‌के प्रेमी भक्त होते हैं तथा उनके गुण, प्रभाव, स्वरूप और लीलामें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखते हैं, केवल उन्हींको वे प्रत्यक्ष होते हैं।

प्रश्न—जीवका तो मायासे आवृत होना ठीक है, परन्तु भगवान्‌का मायासे आवृत होना कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर—जैसे सूर्यका बादलोंसे ढक जाना कहा जाता है; परन्तु वास्तवमें सूर्य नहीं ढक जाता, लोगोंकी दृष्टिपर ही बादलोंका आवरण आता है। यदि सूर्य वास्तवमें ढक जाता तो उसका ब्रह्माण्डमें कहीं प्रकाश नहीं होता। वैसे ही भगवान् वस्तुतः मायासे आवृत नहीं होते, यदि वे आवृत होते तो किसी भी भक्तको उनके यथार्थ दर्शन नहीं होते ! केवल मूढ़ोंके लिये ही उनका आवृत होना कहा जाता है। यथार्थमें सूर्यका उदाहरण भी भगवान्‌के साथ नहीं घटता, क्योंकि अनन्तके साथ किसी भी सान्तकी तुलना हो ही नहीं सकती। लोगोंको समझानेके लिये ही ऐसा कहा जाता है।

प्रश्न—यहाँ 'अयम्' और 'मूढः' विशेषणोंके सहित जो 'लोकः' पद आया है, यह किसका वाचक है—यह पन्द्रहवें श्लोकमें जिन आसुरी प्रकृतिवाले मूढोंका वर्णन है, उनका वाचक है या बीसवें श्लोकमें जिनके ज्ञानको कामनाके द्वारा हरण किया हुआ बतलाया गया है, उन अन्य देवताओंके उपासकोंका ?

उत्तर—यहाँ 'अयम्' विशेषण होनेसे यह प्रतीत होता है कि 'लोकः' पदका प्रयोग केवल भगवान्‌के भक्तोंको छोड़कर शेष पापी, पुण्यात्मा—सभी श्रेणीके साधारण अज्ञानी मनुष्य-समुदायके लिये किया गया है; किसी एक श्रेणी-विशेषके अभिप्रायसे नहीं।

प्रश्न—'अज्ञानी जन-समुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि श्रद्धा और प्रेमके अभावके कारण भगवान्‌के गुण, प्रभाव,

स्वरूप, लीला, रहस्य और महिमाको न जानकर साधारण अज्ञानी मनुष्य इसी भ्रममें पड़े रहते हैं कि—ये श्रीकृष्ण भी हमारे ही-जैसे मनुष्य हैं तथा हमारी ही भाँति जन्मते और मरते हैं। वे इस बातको नहीं समझ पाते कि ये जन्म-मृत्युसे अतीत नित्य, सत्य, विज्ञानानन्दघन साक्षात् परमेश्वर हैं।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने अपनेको योगमायासे आवृत बतलाया। इससे कोई यह न समझ ले कि जैसे मोटे परदेके अंदर रहनेवालेको बाहरवाले नहीं देख सकते और वह बाहरवालोंको नहीं देख सकता, इसी प्रकार जब लोग भगवान्‌को नहीं जानते तब भगवान् भी लोगोंको नहीं जानते होंगे—इसलिये, और साथ ही यह दिखलानेके लिये कि, योगमाया मेरे ही अधीन और मेरी ही शक्तिविशेष है, वह मेरे दिव्य ज्ञानको आवृत नहीं कर सकती, भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥२६॥

हे अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता॥२६॥

प्रश्न—यहाँ 'भूतानि' पद किसका वाचक है? तथा 'पूर्वमें व्यतीत हुए, वर्तमानमें स्थित और आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—देवता, मनुष्य, पशु और कीट-पतङ्गादि जितने भी चराचर प्राणी हैं, उन सबका वाचक 'भूतानि' पद है। भगवान् कहते हैं कि वे सब अबसे पूर्व अनन्त कल्प-कल्पान्तरोंमें कब किन-किन योनियोंमें किस प्रकार उत्पन्न होकर कैसे रहे थे और उन्होंने क्या-क्या किया था? तथा वर्तमान कल्पमें कौन, कहाँ, किस योनिमें किस प्रकार उत्पन्न होकर क्या कर रहे हैं? और भविष्य कल्पोंमें कौन कहाँ किस योनिमें किस प्रकार उत्पन्न होकर क्या-क्या करेंगे?—इन सब बातोंको मैं जानता हूँ।

यह कथन भी लोकदृष्टिसे ही है; क्योंकि भगवान्‌के लिये भूत, भविष्य और वर्तमान कालका भेद नहीं है। उनके अखण्ड ज्ञानस्वरूपमें सभी कुछ सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष है। उनके लिये सभी कुछ सदा वर्तमान है। वस्तुतः समस्त कालोंके आश्रय महाकाल वे ही हैं, इसलिये उनसे कुछ भी छिपा नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'तु' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जीवोंसे भगवान्‌की अत्यन्त विशेषता दिखलानेके लिये 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'कश्चन' पद किसका वाचक है? और अर्थमें उसके साथ 'श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष' यह विशेषण जोड़नेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान् कह चुके हैं 'कोई एक मुझे तत्त्वसे जानता है' और इसी अध्यायके २९वें और ३०वें श्लोकोंमें भी कहा है—'ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञसहित मुझको जानते हैं।' इसके अतिरिक्त ग्यारहवें अध्यायके ५४वें श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है—'अनन्यभक्तिके द्वारा मनुष्य मुझको तत्त्वसे जान सकता है, मुझे देख सकता है

और मुझमें प्रवेश भी कर सकता है ।' इसलिये यहाँ यह समझना चाहिये कि भगवान्‌के भक्तोंके अतिरिक्त जो साधारण मूढ़ मनुष्य हैं, उनमें भगवान्‌को कोई भी नहीं जान पाता । 'कश्चन' पद ऐसे ही मनुष्योंको लक्ष्य करता है और इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये अर्थमें 'श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष' विशेषण लगाया गया है । अगले श्लोकमें राग-द्वेषजनित द्वन्द्व-मोहको ही न जाननेका कारण बतलाया है, इससे भी यही सिद्ध है कि राग-द्वेषरहित भक्तगण भगवान्‌को जान सकते हैं ।

सम्बन्ध—श्रद्धा-भक्तिरहित मूढ मनुष्योंमेंसे कोई भी भगवान्‌को नहीं जानता, इसमें क्या कारण है ? यही बतलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

हे भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २७ ॥

प्रश्न—'इच्छा-द्वेष' शब्द किसके वाचक हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाला द्वन्द्वरूप मोह क्या है ?

उत्तर—जिनको भगवान्‌ने मनुष्यके कल्याणमार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु (परिपन्थी) बतलाया है (३।३४), और काम-क्रोधके नामसे (३।३७) जिनको पापोंमें हेतु तथा मनुष्यका वैरी कहा है—उन्हीं राग-द्वेषका यहाँ 'इच्छा' और 'द्वेष'के नामसे वर्णन किया है । इन 'इच्छा-द्वेष'से जो हर्ष-शोक और सुख-दुःखादि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, वे इस जीवके अज्ञानको दृढ़ करनेमें कारण होते हैं; अतएव उन्हींका नाम 'मोह' है ।

प्रश्न—'सर्वभूतानि' पद किनका वाचक है और उनका मोहित होना क्या है ?

उत्तर—सच्ची श्रद्धा-भक्तिके साथ भगवान्‌का भजन करनेवाले भक्तोंको छोड़कर शेष समस्त जन-समुदायका वाचक यहाँ 'सर्वभूतानि' पद है । उनका जो इच्छा-द्वेषजनित हर्ष-शोक और सुख-दुःखादिरूप मोहके वश होकर अपने जीवनके परम उद्देश्यको भूलकर भगवान्‌के भजन-स्मरणकी जरा भी परवा न करना और दुःख तथा भय उत्पन्न करनेवाले नाशवान् एवं क्षणभङ्गुर भोगोंको ही सुखका हेतु मानकर उन्हींके संग्रह और भोगकी चेष्टा करनेमें अपने अमूल्य जीवनको नष्ट करते रहना है—यही उनका मोहित होना है ।

सम्बन्ध—'भूतानि' के साथ 'सर्व' शब्दका प्रयोग होनेसे ऐसा भ्रम हो सकता है कि सभी प्राणी द्वन्द्व-मोहसे मोहित हो रहे हैं, कोई भी उससे बचा नहीं है; अतएव ऐसे भ्रमकी निवृत्तिके लिये भगवान् कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

परन्तु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढनिश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं ॥ २८ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—साधारण जन-समुदायसे भगवान्‌के श्रेष्ठ भक्तोंकी विशेषता दिखलानेके लिये यहाँ 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है—यह कथन किन पुरुषोंके लिये है ?

उत्तर—जो लोग जन्म-जन्मान्तरसे शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि श्रेष्ठ कर्म तथा भगवान्‌की भक्ति करते आ रहे हैं, तथा पूर्वसंस्कार और उत्तम संगके प्रभावसे जो इस जन्ममें भी निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण तथा भगवान्‌का भजन करते हैं और अपने दुर्गुण-दुराचारादि समस्त दोषोंका सर्वथा नाश हो जानेसे जो पवित्रान्तःकरण हो गये हैं, उन पुरुषोंके लिये उक्त कथन है।

प्रश्न—द्वन्द्वमोहसे मुक्त होना क्या है ?

उत्तर—राग-द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख और हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंके समुदायरूप मोहसे सर्वथा रहित हो जाना, अर्थात् सांसारिक सुख-दुःखादिसे संयोग-वियोग होनेपर कभी, किसी अवस्थामें, चित्तके भीतर किसी प्रकारका भी विकार न होना 'द्वन्द्वमोहसे मुक्त होना' है।

प्रश्न—'दृढव्रताः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो बड़े-से-बड़े प्रलोभनों और विघ्न-बाधाओंके आनेपर भी किसीकी कुछ भी परवा न कर भजनके बलसे सभीको पददलित करते हुए अपने श्रद्धा-भक्तिमय विचारों और नियमोंपर अत्यन्त दृढ़तासे अटल रहते हैं, जरा भी विचलित नहीं होते, उन दृढ़निश्चयी भक्तोंको 'दृढव्रत' कहते हैं।

प्रश्न—भगवान्‌को सब प्रकारसे भजना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌को ही सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके आत्मा और परम पुरुषोत्तम समझकर अपने बाहरी और भीतरी समस्त करणोंको उन्हींकी सेवामें लगा देना अर्थात् बुद्धिसे उनके तत्त्वका निश्चय, मनसे उनके गुण, प्रभाव, स्वरूप और लीला-रहस्यका चिन्तन, वाणीसे उनके नाम और गुणोंका कीर्तन, सिरसे उनको नमस्कार, हाथोंसे उनकी पूजा और दीन-दुःखीके रूपमें उनकी सेवा, नेत्रोंसे उनके विग्रहके दर्शन, चरणोंसे उनके मन्दिर और तीर्थादिमें जाना, तथा अपनी समस्त वस्तुओंको निःशेषरूपसे केवल उनके ही अर्पण करके सब प्रकार केवल उन्हींका हो रहना—यही सब प्रकारसे उनको भजना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार निष्पाप, पुण्यात्मा और दृढ़ निश्चयसे भजनेवाले भक्त क्या चाहते हैं ? और उनको क्या फल मिलता है ? इस जिज्ञासापर दो श्लोकोंमें भगवान् यह बतलाते हैं कि ऐसे दृढ़निश्चयी भक्त मुझ समग्ररूपको भलीभाँति जान लेते हैं अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको, सम्पूर्ण कर्मको और अधिभूत, अधिदैवके सहित एवं अधियज्ञके सहित मुझ समग्रको जानते हैं, और जो युक्त-चित्तवाले पुरुष इस प्रकार अन्तकालमें भी जानते हैं, वे भी मुझको ही जानते हैं ॥२९-३०॥

प्रश्न—जरा-मरणसे छूटनेके लिये भगवान्‌के शरण होकर 'यत्न करना' क्या है ?

उत्तर—जबतक जन्मसे छुटकारा नहीं मिलता, तबतक वृद्धावस्था और मृत्युसे छुटकारा मिलना असम्भव है और जन्मसे छुटकारा तभी मिलता है, जब जीव अज्ञानजनित कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। इस भगवत्प्राप्तिको ही जरा-मरणसे छूटना कहते हैं। भगवान्‌की प्राप्ति सब कामनाओंका त्याग करके दृढ़ निश्चयके साथ भगवान्‌का नित्य-निरन्तर भजन करनेसे ही होती है। और ऐसा भजन मनुष्यसे तभी होता है जब वह सत्संगका आश्रय लेकर पापोंसे छूट जाता है तथा आसुरभावोंका सर्वथा त्याग कर देता है। भगवान्‌ने इसी अध्यायमें कहा है 'आसुर स्वभाववाले नीच और पापी मूढ मनुष्य मुझको नहीं भजते (७। १५);' इसीलिये, २७ वें श्लोकमें भी भगवान्‌को न जाननेका कारण बतलाते हुए कहा गया है कि 'रागद्वेषजनित सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके मोहमें पड़े हुए जीव सर्वथा अज्ञानमें डूबे रहते हैं।' ऐसे मनुष्योंके मन नाना प्रकारकी भोग-कामनाओंसे भरे रहते हैं, उनके मनमें अन्यान्य सब कामनाओंका नाश होकर जन्म-मरणसे छुटकारा पानेकी इच्छा ही नहीं जागती। इसीलिये इसके पूर्वश्लोकमें भगवान्‌को पूर्ण रूपसे जाननेके अधिकारीका निर्णय करते हुए उसे 'पापरहित, पुण्यकर्मा, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त और दृढ़निश्चयी होकर भगवान्‌को भजनेवाला' बतलाया गया है। ऐसे निष्पाप-हृदय पुरुषके मनमें ही यह शुभ कामना जाग्रत् होती है कि मैं जन्म-मरणके चक्करसे छूटकर कैसे शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌को जान लूँ और प्राप्त कर लूँ। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'जो संसारके सब विषयोंके आश्रयको छोड़कर दृढ़ विश्वासके साथ एकमात्र मेरा ही आश्रय करके निरन्तर मुझमें ही मन-बुद्धिको लगाये रखते हैं, वे ही मेरे शरण होकर यत्न करनेवाले हैं।'

इस अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था 'तू मुझमें आसक्तचित्त (मय्यासक्तमनाः) और मेरे परायण (मदाश्रयः) होकर योगमें लगा हुआ (योगं युञ्जन्) मुझ समग्रको जानेगा।' यहाँ उपसंहार-में 'मदाश्रयः' के स्थानमें 'मामाश्रित्य' और 'योगं युञ्जन्' के स्थानमें 'यतन्ति' पद देकर भगवान् उसी बातको दुहरा रहे हैं और कह रहे हैं कि 'पूर्व श्लोकके अनुसार जो दृढ़ निश्चयके साथ मेरा भजन करते हैं, वे मेरे शरणागत होकर यत्न करनेवाले पुरुष मुझ समग्रको जान लेते हैं।'

प्रश्न—'तत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद किसका वाचक है ? 'कृत्स्न' विशेषणके सहित 'अध्यात्म' पद किसका वाचक है ? और 'अखिल' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किसका वाचक है ? एवं इन सबको जानना क्या है ?

उत्तर—'तत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पदसे निर्गुण, निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका निर्देश है। उक्त परब्रह्म परमात्माके तत्त्वको भलीभाँति अनुभव करके उसे साक्षात् कर लेना ही उसको जानना है। इस अध्यायमें जिस तत्त्वका भगवान्‌ने 'परा प्रकृति' के नामसे वर्णन किया है एवं पन्द्रहवें अध्यायमें जिसे 'अक्षर' कहा गया है, उस समस्त 'जीवसमुदाय' का वाचक 'कृत्स्न' विशेषणके सहित 'अध्यात्म' पद है;

और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही जीवोंके रूपमें अनेकाकार दीख रहे हैं। वास्तवमें जीवसमुदायरूप सम्पूर्ण 'अध्यात्म' सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न नहीं है, इस तत्त्वको जान लेना ही उसे जानना है; एवं जिससे समस्त भूतोंकी और सम्पूर्ण चेष्टाओंकी उत्पत्ति होती है, भगवान्‌के उस आदिसंकल्परूप 'विसर्ग'का नाम 'कर्म' है (इसका विशेष विवेचन आठवें अध्यायके तीसरे श्लोककी व्याख्यामें किया जायगा), तथा भगवान्‌का संकल्प होनेसे यह कर्म भगवान्‌से अभिन्न ही है, इस प्रकार जानना ही 'अखिल कर्म' को जानना है।

प्रश्न—'अधिभूत', 'अधिदैव' और 'अधियज्ञ' शब्द किन-किन तत्त्वोंके वाचक हैं और इन सबके सहित समग्र भगवान्‌को जानना क्या है?

उत्तर—इस अध्यायमें जिसको भगवान्‌ने 'अपरा प्रकृति' और पन्द्रहवें अध्यायमें जिसको 'क्षर पुरुष' कहा है, उस विनाशशील समस्त जडवर्गका नाम 'अधिभूत' है। आठवें अध्यायमें जिसे 'ब्रह्मा' कहा है, उस सूत्रात्मा हिरण्यगर्भका नाम 'अधिदैव' है और नवम अध्यायके चौथे, पाँचवें तथा छठे श्लोकमें जिसका वर्णन किया गया है, उस समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे व्याप्त रहनेवाले भगवान्‌के अव्यक्तस्वरूपका नाम 'अधियज्ञ' है।

उपर्युक्त 'ब्रह्म', जीवसमुदायरूप 'अध्यात्म', भगवान्‌का आदिसंकल्परूप 'कर्म', जडवर्गरूप 'अधिभूत', हिरण्यगर्भरूप 'अधिदैव' और अन्तर्यामीरूप 'अधियज्ञ'—सब एक भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। यही भगवान्‌का समग्र रूप है। अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने इसी समग्र रूपको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी। फिर सातवें श्लोकमें 'मेरे सिवा किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है' बारहवेंमें 'सात्त्विक, राजस और तामस भाव सब मुझसे ही होते हैं' और उन्नीसवेंमें 'सब कुछ वासुदेव ही है' कहकर इसी समग्रका वर्णन किया है। तथा यहाँ भी उपर्युक्त शब्दोंसे इसीका वर्णन करके अध्यायका उपसंहार किया गया है। स समग्रको जान लेना अर्थात् जैसे परमाणु, भाप, बादल, धूम, जल और बर्फ, सभी जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—सब कुछ वासुदेव ही हैं—इस प्रकार यथार्थरूपसे अनुभव कर लेना ही समग्र ब्रह्मको या भगवान्‌को जानना है।

प्रश्न—'प्रयाणकाले' के साथ 'अपि' के प्रयोगका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो 'वासुदेवः सर्वमिति'के अनुसार उपर्युक्त प्रकारसे मुझ समग्रको पहले जान लेते हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है; जो अन्तकालमें भी मुझे समग्ररूपसे जान लेते हैं, वे भी मुझे यथार्थ ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं। दूसरे अध्यायके अन्तमें ब्राह्मी स्थितिकी महिमा कहते हुए भी इसी प्रकार 'अपि' का प्रयोग किया गया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अष्टमोऽध्यायः

अध्यायका नाम

'अक्षर' और 'ब्रह्म' दोनों शब्द भगवान्‌के सगुण (८।२१-२४) और निर्गुण (८।३, ११) दोनों ही स्वरूपोंके वाचक हैं तथा भगवान्‌का नाम जो 'ॐ' है, उसे भी 'अक्षर' और 'ब्रह्म' कहते हैं (८।१३)। इस अध्यायमें भगवान्‌के सगुण-निर्गुणरूपका और ओङ्कारका वर्णन है, इसलिये इस अध्यायका नाम 'अक्षरब्रह्मयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें ब्रह्म, अध्यात्म आदिविषयक अर्जुनके सात प्रश्न हैं; फिर तीसरे श्लोकसे पाँचवेंतक भगवान् सातों प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर देकर, छठे श्लोकमें अन्तकालके चिन्तनका महत्त्व दिखलाते हुए सातवें श्लोकमें अर्जुनको निरन्तर अपना चिन्तन करनेकी आज्ञा देते हैं। आठवेंसे दसवें श्लोकतक योगकी विधिसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌के सगुण निराकार स्वरूपका चिन्तन करते हुए प्राणत्याग करनेका प्रकार और उसके फलका वर्णन, तथा ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक योगधारणाकी विधिसे निर्गुण ब्रह्मके जप-ध्यानका प्रकार और उसके फलका वर्णन करके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिका सुगम उपाय अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना बतलाया है। पन्द्रहवें और सोलहवें श्लोकोंमें भगवत्प्राप्तिसे पुनर्जन्मका अभाव और अन्य समस्त लोकोंको पुनरावृत्तिशील बतलाकर सतरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक ब्रह्माके रात-दिनका परिमाण बतलाते हुए समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयका वर्णन किया है। बीसवें श्लोकमें एक अव्यक्तसे परे दूसरे सनातन अव्यक्तका प्रतिपादन करके, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें उसीका 'अक्षर', 'परम गति', 'परम धाम', एवं 'परम पुरुष', इन नामोंसे प्रतिपादन करते हुए अनन्य भक्तिको उस परम पुरुषकी प्राप्तिका उपाय बतलाया गया है। तदनन्तर तेईसवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक शुक्ल और कृष्ण गतिका फलसहित वर्णन करके, सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकोंमें उन दोनों गतियोंको जाननेवाले योगीकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनको योगी बननेके लिये आज्ञा दी गयी है और उसका फल बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—सातवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक भगवान्‌ने अपने समग्ररूपका तत्त्व सुननेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए, उसके कहनेकी प्रतिज्ञा और जाननेवालोंकी प्रशंसा की। फिर २७वें श्लोकतक अनेक प्रकारसे उस तत्त्वको समझाकर न जाननेके कारणको भी भलीभाँति समझाया और अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेवाले भक्तकी महिमाका वर्णन करते हुए उस अध्यायका उपसंहार किया। उन्तीसवें और तीसवें श्लोकोंमें वर्णित ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन छहोंका तथा प्रयाणकालमें भगवान्‌को जाननेकी बातका रहस्य भलीभाँति न समझनेके कारण इस आठवें अध्यायके आरम्भमें पहले दो श्लोकोंमें अर्जुन उपर्युक्त सातों विषयोंके समझनेके लिये भगवान्‌से सात प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत नामसे क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं ? ॥ १ ॥

प्रश्न—'वह ब्रह्म क्या है ?' अर्जुनके इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'ब्रह्म' शब्द वेद, ब्रह्मा, निर्गुण परमात्मा, प्रकृति, ओङ्कार आदि अनेक तत्त्वोंके लिये व्यवहृत होता है; अतः उनमेंसे यहाँ 'ब्रह्म' शब्द किस तत्त्वके लक्ष्यसे कहा गया है, यह जाननेके लिये अर्जुनका प्रश्न है ।

प्रश्न—'अध्यात्म क्या है ?' इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, जीव और परमात्मा आदि अनेक तत्त्वोंको 'अध्यात्म' कहते हैं । उनमेंसे यहाँ 'अध्यात्म' नामसे भगवान् किस तत्त्वकी बात कहते हैं ? यह जाननेके लिये अर्जुनका यह प्रश्न है ।

प्रश्न—'कर्म क्या है ?' इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'कर्म' शब्द यहाँ यज्ञ-दानादि शुभकर्मोंका वाचक है या क्रियामात्रका ? अथवा प्रारब्ध आदि कर्मोंका वाचक है या ईश्वरकी सृष्टि-रचनारूप कर्मका ? इसी बातको स्पष्ट जाननेके लिये यह प्रश्न किया गया है ।

प्रश्न—'अधिभूत नामसे क्या कहा गया है ?' इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अधिभूत' शब्दका अर्थ यहाँ पञ्चमहाभूत है या समस्त प्राणिमात्र है अथवा समस्त दृश्यवर्ग है या यह किसी अन्य तत्त्वका वाचक है ? इसी बातको जाननेके लिये ऐसा प्रश्न किया गया है ।

प्रश्न—'अधिदैव किसको कहते हैं ?' इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अधिदैव' शब्दसे यहाँ किसी अधिष्ठातृ-देवताविशेषका लक्ष्य है या अदृष्ट, हिरण्यगर्भ, जीव अथवा अन्य किसीका ? यही जाननेके लिये प्रश्न किया गया है ।

प्रश्न—यहाँ 'पुरुषोत्तम' सम्बोधन किस अभिप्रायसे दिया गया है ?

उत्तर—'पुरुषोत्तम' सम्बोधनसे अर्जुन यह सूचित करते हैं कि आप समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, सबके अधिष्ठाता और सर्वाधार हैं । इसलिये मेरे इन प्रश्नोंका जैसा यथार्थ उत्तर आप दे सकते हैं, वैसा दूसरा कोई नहीं दे सकता ।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

हे मधुसूदन ! यहाँ अधियज्ञ कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? तथा युक्त चित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्तसमयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं ? ॥ २ ॥

प्रश्न–यहाँ 'अधियज्ञ'के विषयमें अर्जुनके प्रश्नका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–'अधियज्ञ' शब्द यज्ञके किसी अधिष्ठातृ-देवताविशेषका वाचक है या अन्तर्यामी परमेश्वरका अथवा अन्य किसीका ? एवं वह 'अधियज्ञ' नामक तत्त्व मनुष्यादि समस्त प्राणियोंके शरीरमें किस प्रकार रहता है और उसका 'अधियज्ञ' नाम क्यों है ? इन्हीं सब बातोंको जाननेके लिये अर्जुनका यह प्रश्न है ।

प्रश्न–'नियतात्मभिः' का क्या अभिप्राय है तथा अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं ? इस प्रश्नका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–भगवान्‌ने सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें 'युक्तचेतसः' पदका प्रयोग करके जिन पुरुषोंको लक्ष्य किया था, उन्हींके लिये अर्जुन यहाँ 'नियतात्मभिः' पदका प्रयोग करके पूछ रहे हैं कि 'युक्तचेतसः' पदसे जिन पुरुषोंके लिये आप कह रहे हैं, वे पुरुष अन्त-कालमें अपने चित्तको किस प्रकार आपमें लगाकर आपको जानते हैं ? अर्थात् वे प्राणायाम, जप, चिन्तन, ध्यान या समाधि आदि किस साधनसे आपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं ? इसी बातको जाननेके लिये अर्जुनने यह प्रश्न किया है ।

सम्बन्ध—अर्जुनके सात प्रश्नोंमेंसे भगवान् अब पहले ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मविषयक तीन प्रश्नोंका उत्तर अगले श्लोकमें क्रमशः संक्षेपसे देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा–परम अक्षर ब्रह्म है, अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म' नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नामसे कहा गया है ॥ ३ ॥

प्रश्न–परम अक्षर 'ब्रह्म' है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–अक्षरके साथ 'परम' विशेषण देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि सातवें अध्यायके २९ वें श्लोकमें प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माका वाचक है; वेद, ब्रह्मा और प्रकृति आदिका नहीं । जो सबसे श्रेष्ठ और सूक्ष्म होता है उसीको 'परम' कहा जाता है । 'ब्रह्म' और 'अक्षर' के नामसे जिन सब तत्त्वोंका निर्देश किया जाता है, उन सबमें सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ और पर एकमात्र सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है; अतएव 'परम अक्षर' से यहाँ उसी परब्रह्म परमात्माका लक्ष्य है । यह परम ब्रह्म परमात्मा और भगवान् वस्तुतः एक ही तत्त्व है ।

प्रश्न–स्वभाव, 'अध्यात्म' कहा जाता है—इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर–'स्वो भावः स्वभावः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अपने ही भावका नाम स्वभाव है । जीवरूपा भगवान्‌की चेतन परा प्रकृति ही भगवान्‌का अपना भाव है । यह निर्विकार परा प्रकृतिरूप भगवान्‌का भाव जब आत्म-शब्दवाच्य शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्धयादिरूप अपरा प्रकृति-का अधिष्ठाता होकर उन सबमें व्याप्त हो जाता है, तब उसे 'अध्यात्म' कहते हैं । अतएव सातवें अध्यायके

२९वें श्लोकमें भगवान्‌ने 'कृत्स्न' विशेषणके साथ जो 'अध्यात्म' शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ 'चेतन जीवसमुदाय' समझना चाहिये। भगवान्‌की अंशरूपा चेतन परा प्रकृति वस्तुतः भगवान्‌से अभिन्न होनेके कारण, वह 'अध्यात्म' नामक सम्पूर्ण जीवसमुदाय भी यथार्थमें भगवान्‌से अभिन्न और उनका स्वरूप ही है।

प्रश्न—भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला त्याग—विसर्ग ही कर्मके नामसे कहा गया है, इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—'भूत' शब्द चराचर प्राणियोंका वाचक है। इन भूतोंके भावका उद्भव और अभ्युदय जिस त्यागसे होता है, जो सृष्टि-स्थितिका आधार है, उस 'विसर्ग' या 'त्याग' का नाम ही कर्म है। महाप्रलयमें विश्वके समस्त प्राणी अपने-अपने कर्म-संस्कारोंके साथ भगवान्‌में विलीन हो जाते हैं, उनके विभिन्न भाव प्रकृतिमें विलीन-से हो जाते हैं। फिर सृष्टिके आदिमें भगवान् जब यह सङ्कल्प करते हैं कि 'मैं एक ही बहुत हो जाऊँ,' तब पुनः उनकी उत्पत्ति होती है। भगवान्‌का यह 'आदि-संकल्प' ही अचेतन प्रकृतिरूपी योनिमें चेतनरूप बीजकी स्थापना करना है। यही जड-चेतनका संयोग है। यही महान् विसर्जन है और इसी विसर्जन या त्यागका नाम 'विसर्ग' है। इसीसे भूतोंके विभिन्न भावोंका उद्भव होता है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है, 'सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।' (१४।३) 'उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।' यही भूतोंके भावका उद्भव है। अतएव यहाँ यह समझना चाहिये कि भगवान्‌के जिस आदि-सङ्कल्पसे समस्त भूतोंका उद्भव और अभ्युदय होता है, उसका नाम 'विसर्ग' है। और भगवान्‌के इस विसर्गरूप महान् कर्मसे ही जड अक्रिय प्रकृति स्पन्दित होकर क्रियाशीला होती है तथा उससे महाप्रलयतक विश्वमें अनन्त कर्मोंकी अखण्ड धारा बह चलती है। इसलिये इस 'विसर्ग' का नाम ही 'कर्म' है। सातवें अध्यायके २९वें श्लोकमें भगवान्‌ने इसीको 'अखिल कर्म' कहा है। भगवान्‌का यह भूतोंके भावका उद्भव करनेवाला महान् 'विसर्जन' ही एक महान् समष्टि-यज्ञ है। इसी महान् यज्ञसे विविध लौकिक यज्ञोंकी उद्भावना हुई है और उन यज्ञोंमें जो हवि आदिका उत्सर्ग किया जाता है, उसका नाम भी 'विसर्ग' ही रक्खा गया है। उन यज्ञोंसे भी सत्-प्रजाकी उत्पत्ति होती है। मनुस्मृतिमें कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
(३।७६)

अर्थात् 'वेदोक्त विधिसे अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यमें स्थित होती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे प्रजा होती है।'

यह 'कर्म' नामक विसर्ग वस्तुतः भगवान्‌का ही आदि-संकल्प है, इसलिये यह भी भगवान्‌से अभिन्न ही है।

सम्बन्ध—अब भगवान् अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञविषयक प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः देते हैं—

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

उत्पत्ति-विनाशधर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष अधिदैव है और हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इस शरीरमें मैं वासुदेव ही अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ हूँ॥ ४॥

प्रश्न—'क्षरभाव' अधिभूत हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न जो विनाशशील तत्त्व है, जिसका प्रतिक्षण क्षय होता है, उसका नाम 'क्षरभाव' है। इसीको तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' (शरीर) के नामसे और पन्द्रहवें अध्यायमें 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है। यह 'क्षरभाव' शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, भूत तथा विषयोंके रूपमें प्रत्यक्ष हो रहा है और जीवोंके आश्रित है अर्थात् जीवरूपा चेतन परा प्रकृतिने इसे धारण कर रक्खा है; इसका नाम 'अधिभूत' है। सातवें अध्यायमें भगवान् अपरा प्रकृतिको भी अपनी ही प्रकृति बतला चुके हैं। इसलिये यह 'क्षरभाव' भी भगवान्‌का ही है। अतएव यह भी उनसे अभिन्न है। भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है कि 'सत्-असत् सब मैं ही हूँ।' (९। १९)

प्रश्न—'हिरण्यमय पुरुष' किसको कहा गया है और वह अधिदैव कैसे है ?

उत्तर—'पुरुष' शब्द यहाँ 'प्रथम पुरुष' का वाचक है; इसीको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति या ब्रह्मा कहते हैं। जडचेतनात्मक सम्पूर्ण विश्वका यही प्राणपुरुष है, समस्त देवता इसीके अंग हैं, यही सबका अधिष्ठाता, अधिपति और उत्पादक है; इसीसे इसका नाम 'अधिदैव' है। स्वयं भगवान् ही अधिदैवके रूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये यह भी उनसे अभिन्न ही है।

प्रश्न—इस शरीरमें मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—अर्जुनने दो बातें पूछी थीं—'अधियज्ञ' कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? दोनों प्रश्नोंका भगवान्‌ने एक ही साथ उत्तर दे दिया है। भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं (५। २९; ९। २४) और समस्त फलोंका विधान वे ही करते हैं (७। २२), इसलिये वे कहते हैं कि 'अधियज्ञ मैं स्वयं ही हूँ।' यहाँ 'एव' के प्रयोगसे यह भाव समझना चाहिये कि 'अधिभूत' और 'अधिदैव' भी मुझसे भिन्न नहीं हैं। भगवान्‌ने यह तो स्पष्ट कह दिया कि 'अधियज्ञ' मैं हूँ; परन्तु यह अधियज्ञ शरीरमें कैसे है, इसके उत्तरमें भगवान्‌ने 'इस शरीरमें' (अत्र देहे) इतना ही संकेत किया है। अन्तर्यामी व्यापक स्वरूप ही देहमें रहता है, इसीलिये श्लोकके अर्थमें 'अन्तर्यामी' शब्द जोड़कर स्पष्टीकरण कर दिया गया है। भगवान् व्यापक—अन्तर्यामीरूपसे सभीके अंदर हैं, इसीलिये भगवान्‌ने इसी अध्यायके आठवें और दसवें श्लोकोंमें 'दिव्य पुरुष' तथा बीसवें श्लोकमें 'सनातन अव्यक्त' कहकर बाईसवें श्लोकमें उसकी व्यापकता और सर्वाधारताका वर्णन किया है। नवम अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकमें भी अव्यक्तरूपकी व्यापकता दिखलायी गयी है। यहाँ भगवान्‌ने अपने उस अव्यक्त सूक्ष्म और व्यापक स्वरूपको 'अधियज्ञ' कहा है और उसके साथ अपनी अभिन्नता प्रकट करनेके लिये 'अधियज्ञ मैं ही हूँ' यह स्पष्ट घोषणा कर दी है।

प्रश्न—'देहभृतां वर' इस सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको 'देहभृतां वर' (देहधारियोंमें श्रेष्ठ) कहकर यह सूचित किया है कि तुम मेरे भक्त हो, इसलिये मेरी बातोंको संकेतमात्रसे ही समझ सकते हो; अतएव 'अधियज्ञ मैं ही हूँ' इतने संकेतसे तुम्हें यह जान लेना चाहिये कि 'यह सब कुछ मैं ही हूँ।' तुम्हारे लिये यह समझना कोई कठिन बात नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके छः प्रश्नोंका उत्तर देकर अब भगवान् अन्तकालसम्बन्धी सातवें प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥५॥

प्रश्न—यहाँ 'अन्तकाले' इस पदके साथ 'च' के प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'च' 'अपि' (भी) के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । भाव यह है कि जो सदा-सर्वदा भगवान्‌का अनन्य चिन्तन करते हैं उनकी तो बात ही क्या है, जो अन्तकालमें भी चिन्तन करते हुए शरीर त्यागकर जाते हैं उनको भी मेरी प्राप्ति हो जाती है ।

प्रश्न—'माम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जिस समग्ररूपके वर्णनकी भगवान्‌ने सातवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें प्रतिज्ञा की थी, जिसका वर्णन सातवें अध्यायके २९वें और ३०वें श्लोकोंमें व्याख्यासहित किया है, 'माम्' पद यहाँ उसी समग्रका वाचक है । समग्रमें भगवान्‌के सभी स्वरूप आ जाते हैं, इसलिये यदि कोई किसी एक स्वरूपविशेषका भगवद्बुद्धिसे स्मरण करता है तो वह भी उसीका करता है ।

प्रश्न—'एव'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'माम्' और 'स्मरन्'के बीचमें 'एव' पद देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि वह माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, धन-ऐश्वर्य, मान-प्रतिष्ठा और स्वर्ग आदि किसीका भी स्मरण न करके केवल मेरा ही स्मरण करता है । स्मरण चित्तसे होता है और 'एव' पद दूसरे चिन्तनका सर्वथा अभाव दिखलाकर यह सूचित करता है कि उसका चित्त केवल एकमात्र भगवान्‌में ही लगा है ।

प्रश्न—यहाँ मद्भावकी प्राप्तिका क्या अभिप्राय है ? सायुज्यादि मुक्तियोंमेंसे किसी मुक्तिको प्राप्त हो जाना भगवद्भावको प्राप्त होना है या निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होना ?

उत्तर—यह बात साधककी इच्छापर निर्भर है; उसकी जैसी इच्छा होती है, उसीके अनुसार वह भगवद्भावको प्राप्त होता है । प्रश्नकी सभी बातें भगवद्भावके अन्तर्गत हैं ।

प्रश्न—इसमें कुछ भी संशय नहीं है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया गया है कि अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करनेवाला मनुष्य किसी भी देश और किसी भी कालमें क्यों न मरे एवं पहलेके उसके आचरण चाहे जैसे भी क्यों न रहे हों, उसे भगवान्‌की प्राप्ति निःसन्देह हो जाती है । इसमें जरा भी शंका नहीं है ।

सम्बन्ध—यहाँ यह बात कही गयी कि भगवान्का स्मरण करते हुए मरनेवाला भगवान्को ही प्राप्त होता है। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि केवल भगवान्के स्मरणके सम्बन्धमें ही यह विशेष नियम है या सभीके सम्बन्धमें है? इसपर कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है। यह नियम है कि मनुष्य अपने जीवनमें सदा जिस भावका अधिक चिन्तन करता है, अन्तकालमें उसे प्रायः उसीका स्मरण होता है और अन्तकालके स्मरणके अनुसार ही उसकी गति होती है॥ ६॥

प्रश्न—यहाँ 'भाव' शब्द किसका वाचक है? और उसे स्मरण करना क्या है?

उत्तर—ईश्वर, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, मकान, जमीन आदि जितने भी जड और चेतन पदार्थ हैं, उन सबका नाम 'भाव' है। अन्तकालमें किसी भी पदार्थका चिन्तन करना, उसे स्मरण करना है।

प्रश्न—'अन्तकाल' किस समयका वाचक है?

उत्तर—जिस अन्तिम क्षणमें इस स्थूल देहसे प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसहित जीवात्माका वियोग होता है, उस क्षणको अन्तकाल कहते हैं।

प्रश्न—चौदहवें अध्यायके चौदहवें और पन्द्रहवें श्लोकोंमें भगवान्ने सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंको तथा सोलहवें श्लोकमें सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके कर्मोंको अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें हेतु बतलाया है और यहाँ अन्तकालके स्मरणको कारण माना गया है—यह क्या बात है?

उत्तर—मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, वह संस्काररूपसे उसके अन्तःकरणमें अङ्कित हो जाता है। इस प्रकारके असंख्य कर्म-संस्कार अन्तःकरणमें भरे रहते हैं; इन संस्कारोंके अनुसार ही, जिस समय जैसा सहकारी निमित्त मिल जाता है, वैसी ही वृत्ति और स्मृति होती है। जब सात्त्विक कर्मोंकी अधिकतासे सात्त्विक संस्कार बढ़ जाते हैं, उस समय मनुष्य सत्त्वगुणप्रधान हो जाता है और उसीके अनुसार स्मृति भी सात्त्विक होती है। इसी प्रकार राजस-तामस कर्मोंकी अधिकतासे राजस, तामस संस्कारोंके बढ़नेपर वह रजोगुण या तमोगुण-प्रधान हो जाता है और उसके अनुसार स्मृति होती है। इस तरह कर्म, गुण और स्मृति, तीनोंकी एकता होनेके कारण इसमेंसे किसीको भी भावी योनिकी प्राप्तिमें हेतु बतलाया जाय तो कोई दोष नहीं है। क्योंकि वस्तुतः बात एक ही है।

प्रश्न—अन्तसमयमें देव, मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि सजीव पदार्थोंका स्मरण करते हुए मरनेवाला उन-उन योनियोंको प्राप्त हो जाता है, यह बात तो ठीक है; किन्तु जो मनुष्य जमीन, मकान आदि निर्जीव जड पदार्थोंका चिन्तन करता हुआ मरता है, वह उनको कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर—जमीन, मकान आदिका चिन्तन करते-करते मरनेवालेको अपने गुण और कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनि मिलती है और उस योनिमें वह अन्तसमयकी वासनाके अनुसार जमीन, मकान आदि जड पदार्थोंको

प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि वह जिस योनिमें रहेगा, उसी योनिमें जमीन, मकान आदिसे उसका सम्बन्ध हो जायगा। जैसे मकानका मालिक मकानको अपना समझता है, वैसे ही उसमें घोंसला बनाकर रहनेवाले पक्षी और बिल बनाकर रहनेवाले चूहे और चींटी आदि जीव भी उसे अपना ही समझते हैं; अतः यह समझना चाहिये कि प्रत्येक योनिमें प्रत्येक जडवस्तुकी प्राप्ति प्रकारान्तरसे हो सकती है।

प्रश्न—'सदा तद्भावभावितः' से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मनुष्य अन्तकालमें जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह उसी भावको प्राप्त होता है—यह सिद्धान्त ठीक है। परन्तु अन्तकालमें किस भावका स्मरण क्यों होता है, यह बतलानेके लिये ही भगवान् 'सदा तद्भावभावितः' कहते हैं। अर्थात् अन्तकालमें प्रायः उसी भावका स्मरण होता है जिस भावसे चित्त सदा भावित होता है। जैसे वैद्यलोग किसी औषधमें बार-बार किसी रसकी भावना दे-देकर उसको उस रससे भावित कर लेते हैं, वैसे ही पूर्व-संस्कार, संग, वातावरण, आसक्ति, कामना, भय और अध्ययन आदिके प्रभावसे मनुष्य जिस भावका बार-बार चिन्तन करता है, वह उसीसे भावित हो जाता है। 'सदा' शब्दसे भगवान्‌ने निरन्तरताका निर्देश किया है। अभिप्राय यह कि जीवनमें सदा-सर्वदा बार-बार दीर्घकालतक जिस भावका अधिक चिन्तन किया जाता है उसीका दृढ़ अभ्यास हो जाता है। यह दृढ़ अभ्यास ही 'सदा तद्भावसे भावित' होना है और यह नियम है कि जिस भावका दृढ़ अभ्यास होता है उसी भावका अन्तकालमें प्रायः अनायास ही स्मरण होता है।

प्रश्न—क्या सभीको अन्तकालमें जीवनभर अधिक चिन्तन किये हुए भावका ही स्मरण होता है ?

उत्तर—अधिकांशको तो ऐसा ही होता है। परन्तु कहीं-कहीं जडभरतके चित्तमें हरिणके बच्चेकी भावनाकी भाँति मृत्यु-समयके समीपवर्ती कालमें किया हुआ अल्पकालका अनवरत और अनन्य चिन्तन भी पुराने अभ्यासको दबाकर दृढ़रूपमें प्रकट हो जाता है और उसीका स्मरण करा देता है।

प्रश्न—अन्तकालके स्मरणके अनुसार ही भावकी प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर—किसी मनुष्यका छायाचित्र (फोटो) लेते समय, जिस क्षण फोटो (चित्र) खिंचता है, उस क्षणमें वह मनुष्य जिस प्रकारसे स्थित होता है, उसका वैसा ही चित्र उतर जाता है; उसी प्रकार अन्तकालमें मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वह वैसे ही रूपवाला बन जाता है। यहाँ अन्तःकरण ही कैमरेका प्लेट है, उसमें होनेवाला स्मरण ही प्रतिबिम्ब है और अन्य स्थूल शरीरकी प्राप्ति ही चित्र खिंचना है; अतएव जैसे चित्र लेनेवाला सबको सावधान करता है और उसकी बात न मानकर इधर-उधर हिलने-डुलनेसे चित्र बिगड़ जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंका चित्र उतारनेवाले भगवान् मनुष्यको सावधान करते हैं कि 'तुम्हारा फोटो उतरनेका समय अत्यन्त समीप है, पता नहीं वह अन्तिम क्षण कब आ जाय; इसलिये तुम सावधान हो जाओ, नहीं तो चित्र बिगड़ जायगा।' यहाँ निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करना ही सावधान होना है और परमात्माको छोड़कर अन्य वस्तुओंका चिन्तन करना ही अपने चित्रको बिगाड़ना है।

सम्बन्ध—अन्तकालमें जिसका स्मरण करते हुए मनुष्य मरता है, उसीको प्राप्त होता है; और अन्तकालमें प्रायः उसी भावका स्मरण होता है, जिसका जीवनमें सदा अधिक स्मरण किया जाता है। यह निर्णय हो जानेपर भगवत्प्राप्ति चाहनेवालेके लिये अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है और

अन्तकाल अचानक ही कब आ जाय, इसका कुछ पता नहीं है; अतएव अब भगवान् निरन्तर भजन करते हुए ही अन्यान्य सब कार्य करनेके लिये अर्जुनको आदेश करते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तस्मात्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त दो श्लोकोंमें कहे हुए अर्थके साथ इस श्लोकका सम्बन्ध दिखलानेके लिये यहाँ 'तस्मात्' पदका प्रयोग किया गया है । अभिप्राय यह है कि यह मनुष्य-शरीर क्षणभङ्गुर है, कालका कुछ भी भरोसा नहीं है । यदि भगवान्का स्मरण निरन्तर नहीं होगा और विषयभोगोंका स्मरण करते-करते ही शरीरका वियोग हो जायगा तो भगवत्प्राप्तिका द्वाररूप यह मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही चला जायगा । इसलिये निरन्तर भगवान्का स्मरण करना चाहिये ।

प्रश्न—यहाँ भगवान्ने जो अर्जुनको सब कालमें अपना स्मरण करनेके लिये कहा, सो तो ठीक ही है; किन्तु युद्ध करनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुन क्षत्रिय थे, धर्मयुद्ध क्षत्रियके लिये वर्णधर्म है; इसलिये यहाँ 'युद्ध' शब्दको, वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेके लिये की जानेवाली सभी क्रियाओंका उपलक्षण समझना चाहिये । भगवान्की आज्ञा समझकर निष्कामभावसे वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है । इसके सिवा कर्तव्यकर्मके आचरणकी आवश्यकताका प्रतिपादन करनेवाले और भी बहुत-से महत्त्वपूर्ण कारण तीसरे अध्यायके चौथेसे तीसवें श्लोकतक दिखलाये गये हैं, उनपर विचार करनेसे भी यही सिद्ध होता है कि मनुष्यको वर्णाश्रमधर्मके अनुसार कर्तव्य-कर्म अवश्य ही करने चाहिये । यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ युद्ध करनेको कहा गया है ।

प्रश्न—यहाँ 'च' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'च' का प्रयोग करके भगवान्ने स्मरणको प्रधानता दी है कि युद्ध आदि वर्णधर्मके कर्म तो प्रयोजन और विधानके अनुसार नियत समयपर ही किये जाते हैं और वैसे ही करने भी चाहिये, परन्तु भगवान्का स्मरण तो मनुष्यको हर समय हर हालतमें अवश्य करना चाहिये ।

प्रश्न—भगवान्का निरन्तर चिन्तन और युद्ध आदि वर्णधर्मके कर्म, दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—हो सकते हैं; साधकोंकी भावना, रुचि और अधिकारके अनुसार इसकी भिन्न-भिन्न युक्तियाँ हैं । जो भगवान्के गुण और प्रभावको भलीभाँति जाननेवाला अनन्य प्रेमी भक्त है, जो सम्पूर्ण जगत्को भगवान्के द्वारा ही रचित और वास्तवमें भगवान्से अभिन्न तथा भगवान्की क्रीडास्थली समझता है, उसे प्रह्लाद और गोपियोंकी भाँति प्रत्येक परमाणुमें भगवान्के प्रत्यक्षकी भाँति दर्शन होते रहते हैं; अतएव उसके लिये तो निरन्तर भगवत्-स्मरणके साथ-साथ अन्यान्य कर्म करते रहना बहुत आसान बात है । तथा जिसका विषय-भोगोंमें वैराग्य होकर भगवान्में मुख्य प्रेम हो गया है, जो निष्काम-

भावसे केवल भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌के लिये ही वर्णधर्मके अनुसार कर्म करता है, वह भी निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता हुआ अन्यान्य कर्म कर सकता है। जैसे अपने पैरोंका ध्यान रखती हुई नटी बाँसपर चढ़कर अनेक प्रकारके खेल दिखलाती है, अथवा जैसे हैंडलपर पूरा ध्यान रखता हुआ मोटर-ड्राइवर दूसरोंसे बातचीत करता है और विपत्तिसे बचनेके लिये रास्तेकी ओर भी देखता रहता है, उसी प्रकार निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए वर्णाश्रमके सब काम सुचारुरूपसे हो सकते हैं।

प्रश्न—मन-बुद्धिको भगवान्‌में समर्पित कर देना क्या है ?

उत्तर—बुद्धिसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव और तत्त्वको समझकर परम श्रद्धाके साथ अटल निश्चय कर लेना और मनसे अनन्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गुण, प्रभावके सहित भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते रहना—यही मन-बुद्धिको भगवान्‌में समर्पित कर देना है। छठे अध्यायके अन्तमें 'मद्गतेनान्तरात्मना' पदसे यही बात कही गयी है।

सम्बन्ध—पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌का चिन्तन करते-करते मरनेवाले मनुष्योंकी गतिका वर्णन करके अर्जुनके सातवें प्रश्नका संक्षेपमें उत्तर दिया गया, अब उसी प्रश्नका विस्तारपूर्वक उत्तर देनेके लिये अभ्यासयोगके द्वारा मनको वशमें करके भगवान्‌के 'अधियज्ञ' रूपका अर्थात् सगुण निराकार दिव्य अव्यक्त रूपका चिन्तन करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिका तीन श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है॥ ८॥

प्रश्न—यहाँ 'अभ्यासयोग' शब्द किसका वाचक है और चित्तका उस अभ्यासयोगसे युक्त होना क्या है ?

उत्तर—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यानके अभ्यासका नाम 'अभ्यासयोग' है। ऐसे अभ्यासयोगके द्वारा जो चित्त भलीभाँति वशमें होकर निरन्तर अभ्यासमें ही लगा रहता है, उसे अभ्यासयोगयुक्त कहते हैं।

प्रश्न—'नान्यगामी' कैसे चित्तको समझना चाहिये ?

उत्तर—जो चित्त किसी पदार्थविशेषके चिन्तनमें लगा दिये जानेपर क्षणभरके लिये भी उसके चिन्तनको छोड़कर दूसरे पदार्थका चिन्तन नहीं करता—जहाँ लगा है, वहीं लगातार एकनिष्ठ होकर लगा रहता है, उस चित्तको नान्यगामी अर्थात् दूसरी ओर न जानेवाला कहते हैं। यहाँ परमेश्वरका विषय है, इससे यह समझना चाहिये कि वह चित्त परमेश्वरमें ही लगा रहता है।

प्रश्न—अनुचिन्तन करना किसे कहते हैं ?

उत्तर—अभ्यासमें लगे हुए और दूसरी ओर न जानेवाले चित्तके द्वारा परमेश्वरके स्वरूपका जो निरन्तर बार-बार ध्यान करते रहना है, इसीको 'अनुचिन्तन' कहते हैं।

प्रश्न-यहाँ 'परमम्' और 'दिव्यम्' इन विशेषणोंके सहित 'पुरुषम्' इस पदका प्रयोग किसके लिये किया गया है और उसे प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर-इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसको 'अधियज्ञ' कहा है और बाईसवें श्लोकमें जिसको 'परम पुरुष' बतलाया है, भगवान्के उस सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले सगुण निराकार सर्वव्यापी अव्यक्त रूपको यहाँ 'दिव्य परम पुरुष' कहा गया है। उसका चिन्तन करते-करते उसे यथार्थरूपमें जानकर उसके साथ तद्रूप हो जाना ही उसको प्राप्त होना है।

सम्बन्ध—दिव्यपुरुषकी प्राप्ति बतलाकर अब उसका स्वरूप बतलाते हैं—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, ॥ ९ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—परम दिव्य पुरुषके स्वरूपका महत्त्व प्रतिपादन करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि वह परमात्मा सदा सब कुछ जानता है। भूत, वर्तमान और भविष्यकी, स्थूल, सूक्ष्म और कारण—किसी भी जगत्की ऐसी कोई भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बात नहीं, जिसको वह यथार्थरूपमें न जानता हो; इसलिये वह सर्वज्ञ (कविम्) है। वह सबका आदि है; उससे पहले न कोई था, न हुआ और न उसका कोई कारण ही है; वही सबका कारण और सबसे पुरातन है; इसलिये वह सनातन (पुराणम्) है। वह सबका स्वामी है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वान्तर्यामी है; वही सबका नियन्त्रणकर्ता है और वही सबके शुभाशुभ कर्मफलोंका यथायोग्य विभाग करता है; इसीलिये वह सबका नियन्ता (अनुशासितारम्) है। इतना शक्तिमान् होनेपर भी वह अत्यन्त ही सूक्ष्म है, जितने भी महान्-से-महान् सूक्ष्म तत्त्व हैं वह उन सबसे बढ़कर महान् है और सबमें सदा व्याप्त है, इसी कारण सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बुद्धि ही उसका अनुभव करती है; इसीलिये वह सूक्ष्मतम (अणोरणीयांसम्) है। इतना सूक्ष्म होनेपर भी समस्त विश्व-ब्रह्माण्डका आधार वही है, वही सबका धारण, पालन और पोषण करता है; इसलिये वह धाता (सर्वस्य धातारम्) है। सदा सबमें व्याप्त और सबके धारण-पोषणमें लगे रहनेपर भी वह सबसे इतना परे और इतना अतीन्द्रिय है कि मन-बुद्धिके द्वारा उसके यथार्थ स्वरूपका चिन्तन ही नहीं किया जा सकता; मन और बुद्धिमें जो चिन्तन और विचारकी शक्ति आती है, उसका मूल स्रोत वही है—ये उसीकी जीवनधाराको लेकर जीवित और कार्यशील रहते हैं; वह निरन्तर इनको और सबको देखता है तथा इनमें शक्तिसञ्चार करता रहता है, किन्तु ये उसको नहीं देख पाते; इसीलिये वह अचिन्त्यस्वरूप (अचिन्त्यरूपम्) है। अचिन्त्य होनेपर भी वह प्रकाशमय है और सदा-सर्वदा सबको प्रकाश देता रहता है; जैसे सूर्य स्वयंप्रकाशस्वरूप है और अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है, वैसे ही वह स्वयंप्रकाश परम पुरुष अपनी अखण्ड ज्ञानमयी दिव्य ज्योतिसे सदा-सर्वदा सबको प्रकाशित करता है; इसीलिये वह सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप (आदित्य-

वर्णम्) है। और ऐसा दिव्य, नित्य और अनन्त ज्ञानमय प्रकाश ही जिसका स्वरूप है, उसमें अविद्या या अज्ञानरूप अन्धकारकी कल्पना ही नहीं की जा सकती; जैसे सूर्यने कभी अन्धकारको देखा ही नहीं, वैसे ही उसका स्वरूप भी सदा-सर्वदा अज्ञान-तमसे सर्वथा रहित है; बल्कि घोर रात्रिके अत्यन्त अन्धकारको भी जैसे सूर्यका पूर्वाभास ही नष्ट कर देता है, वैसे ही घोर विषयी पुरुषका अज्ञान भी उसके विज्ञानमय प्रकाशकी उज्ज्वल किरणें पाकर नष्ट हो जाता है; इसीलिये वह अविद्यासे अति परे (तमसः परस्तात्) है। ऐसे शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका पुरुषको सदा स्मरण करना चाहिये।*

प्रश्न—जब भगवान्‌का उपर्युक्त स्वरूप अचिन्त्य है, उसका मन-बुद्धिसे चिन्तन ही नहीं किया जा सकता, तब उसके स्मरण करनेकी बात कैसे कही गयी ?

उत्तर—यह सत्य है कि अचिन्त्यस्वरूपकी यथार्थ उपलब्धि मन-बुद्धिको नहीं हो सकती। परन्तु उसके जो लक्षण यहाँ बतलाये गये हैं, इन लक्षणोंसे युक्त समझकर उसका बार-बार स्मरण और मनन तो हो ही सकता है और ऐसा स्मरण-मनन ही स्वरूपकी यथार्थ उपलब्धिमें हेतु होता है। इसीलिये उसके स्मरणकी बात कही गयी है और यह कहना उचित ही है।

सम्बन्ध—परम दिव्य पुरुषका स्वरूप बतलाकर अब साधनकी विधि और फल बतलाते हैं—

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है॥ १०॥

प्रश्न—यहाँ 'भक्त्या युक्तः' इस पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'भक्त्या युक्तः' का अर्थ है भक्तिसे युक्त। भगवान्‌में परम अनुराग†का नाम भक्ति है; जिसमें ऐसी भक्ति होती है, वही भक्तिसे युक्त है। अनुराग या प्रेम किसी-न-किसी प्रेमास्पदमें होता है। इससे यह समझना चाहिये कि यहाँ निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी अहंग्रह उपासनाका अर्थात् ज्ञानयोगका प्रसंग नहीं है, उपास्य-उपासकभावसे की जानेवाली भक्तिका प्रसंग है।

प्रश्न—योगबल क्या है, भृकुटीके मध्यका स्थान कौन-सा है और प्राणोंको वहाँ अच्छी तरह स्थापन करना किसे कहते हैं तथा वह किस प्रकार किया जाता है ?

उत्तर—आठवें श्लोकमें बतलाया हुआ अभ्यासयोग (अष्टाङ्गयोग) ही 'योग' है, योगाभ्याससे उत्पन्न जो यथायोग्य प्राणसञ्चालन और प्राणनिरोधका सामर्थ्य

---

* श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में इससे मिलता-जुलता मन्त्र है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (श्वेता० उ० ३। ८)

'वह पुरुष जो सूर्यके सदृश प्रकाशस्वरूप, महान् और अज्ञानान्धकारसे परे है, इसको मैं जानता हूँ। उसको जानकर ही अधिकारी मृत्युको लाँघता है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये दूसरा मार्ग नहीं है।'

† 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शाण्डिल्यसूत्र सू० २)। 'वह भक्ति ईश्वरमें परम अनुरागरूपा है।'

है, उसका नाम 'योगबल' है। दोनों भौंहोंके बीचमें जहाँ योगशास्त्रके जाननेवाले पुरुष 'आज्ञाचक्र' बतलाया करते हैं, वही भृकुटीके मध्यका स्थान है। कहते हैं कि यह आज्ञाचक्र द्विदल है। इसमें त्रिकोण योनि है। अग्नि, सूर्य और चन्द्र इसी त्रिकोणमें एकत्र होते हैं। जानकार योगी पुरुष महाप्रयाणके समय योगबलसे प्राणोंको यहीं लाकर स्थिररूपसे निरुद्ध कर देते हैं। इसीका नाम अच्छी तरह प्राणोंका स्थापन करना है। इस प्रकार आज्ञाचक्रमें प्राणोंका निरोध करना साधनसापेक्ष है। इस आज्ञाचक्रके समीप सप्त कोश हैं, जिनके नाम हैं—इन्दु, बोधिनी, नाद, अर्धचन्द्रिका, महानाद, (सोमसूर्याग्निरूपिणी) कला और उन्मनी; प्राणोंके द्वारा उन्मनी कोशमें पहुँच जानेपर जीव परम पुरुषको प्राप्त हो जाता है। फिर उसका पराधीन होकर जन्म लेना बन्द हो जाता है। वह या तो जन्म लेता ही नहीं, लेता है तो स्वेच्छासे या भगवदिच्छासे।

इस साधनकी प्रणाली किसी अनुभवी योगी महात्मासे ही जानी जा सकती है। किसीको भी केवल पुस्तक पढ़कर योगसाधना नहीं करनी चाहिये, वैसा करनेसे लाभके बदले हानिकी ही अधिक सम्भावना है।

प्रश्न–'अचल मन' के क्या लक्षण हैं?

उत्तर–आठवें श्लोकमें जिस अर्थमें मनको 'नान्यगामी' कहा है, यहाँ उसी अर्थमें 'अचल' कहा गया है। भाव यह है कि जो मन ध्येय वस्तुमें स्थित होकर वहाँसे जरा भी नहीं हटता, उसे 'अचल' कहते हैं (६।१९)।

प्रश्न–'परम दिव्य पुरुष' के क्या लक्षण हैं?

उत्तर–परम दिव्य पुरुषके लक्षणोंका वर्णन आठवें और नवें श्लोकोंमें देखना चाहिये।

सम्बन्ध—पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌का चिन्तन करते-करते मरनेवाले साधारण मनुष्यकी गतिका संक्षेपमें वर्णन किया गया, फिर आठवेंसे दसवें श्लोकतक भगवान्‌के 'अधियज्ञ'नामक सगुण निराकार दिव्य अव्यक्त स्वरूपका चिन्तन करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिके सम्बन्धमें बतलाया, अब ११ वें श्लोकसे १३वेंतक परम अक्षर निर्गुण निराकार परब्रह्मकी उपासना करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिका वर्णन करते हुए पहले उस अक्षर ब्रह्मकी प्रशंसा करके उसे बतलानेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परम पदको मैं तेरे लिये संक्षेपमें कहूँगा ॥ ११ ॥

प्रश्न–'वेदविदः' पदका क्या भाव है?

उत्तर–जिससे परमात्माका ज्ञान होता है, उसे वेद कहते हैं; यह वेद इस समय चार संहिताओंके रूपमें प्राप्त है। वेदके प्राण और वेदके आधार हैं–परब्रह्म परमात्मा। वे ही वेदके तात्पर्य हैं। उस तात्पर्यको जो जानते हैं और जानकर उसे प्राप्त करनेकी अविरत

साधना करते हैं तथा अन्तमें प्राप्त कर लेते हैं, वे ज्ञानी महात्मा पुरुष ही वेदवित्–वेदके यथार्थ ज्ञाता हैं।

प्रश्न–'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर–'यत्' पदसे सच्चिदानन्दघन परब्रह्मका निर्देश है। यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि वेदके जाननेवाले ज्ञानी महात्मा पुरुष ही उस ब्रह्मके विषयमें कुछ कह सकते हैं, इसमें अन्य लोगोंका अधिकार नहीं है। वे महात्मा कहते हैं कि यह 'अक्षर' है अर्थात् यह एक ऐसा महान् तत्त्व है, जिसका किसी भी अवस्थामें कभी भी किसी भी रूपमें क्षय नहीं होता; यह सदा अविनश्वर, एकरस और एकरूप रहता है। बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस अव्यक्त अक्षरकी उपासनाका वर्णन है, यहाँ भी यह उसीका प्रसंग है।

प्रश्न–'वीतरागाः' विशेषणके साथ 'यतयः' पदसे किनको लक्ष्य किया गया है?

उत्तर–जिनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है वे 'वीतराग' हैं और ऐसे वीतराग, तीव्र वैराग्यवान्, परमात्माकी प्राप्तिके पात्र, ब्रह्ममें स्थित एवं उच्चश्रेणीके साधनोंसे सम्पन्न जो संन्यासी महात्मा हैं, उनका वाचक यहाँ 'यतयः' पद है।

प्रश्न–'यद् विशन्ति' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर–इसका शब्दार्थ है, जिसमें प्रवेश करते हैं। अभिप्राय यह है कि यहाँ 'यत्' पद उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको लक्ष्य करके कहा गया है, जिसमें उपर्युक्त साधन करते-करते साधनकी शेष सीमापर पहुँचकर यतिलोग अभेदभावसे प्रवेश करते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रवेशका अर्थ, 'कोई आदमी बाहरसे किसी घरमें घुस गया' ऐसा नहीं है। परमात्मा तो अपना स्वरूप होनेसे नित्य प्राप्त ही है, इस नित्यप्राप्त तत्त्वमें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है–उस अविद्यारूप भ्रमका मिट जाना ही उसमें प्रवेश करना है।

प्रश्न–'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है?

उत्तर–'यत्' पद उसी ब्रह्मका वाचक है, जिसके सम्बन्धमें वेदविद् लोग उपदेश करते हैं और 'वीतराग यति' जिसमें अभेदभावसे प्रवेश करते हैं। यहाँ इस कथनसे यह भाव समझना चाहिये कि उसी ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हैं। 'ब्रह्मचर्य' का वास्तविक अर्थ है, ब्रह्ममें अथवा ब्रह्मके मार्गमें सञ्चरण करना–जिन साधनोंसे ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हुआ जा सकता है, उनका आचरण करना। ऐसे साधन ही ब्रह्मचारीके व्रत कहलाते हैं, * जो ब्रह्मचर्य आश्रममें आश्रमधर्मके रूपमें अवश्य पालनीय हैं; और साधारणतया तो अवस्थाभेदके अनुसार सभी साधकोंको यथाशक्ति उनका अवश्य पालन करना चाहिये।

ब्रह्मचर्यमें प्रधान तत्त्व है—बिन्दुका संरक्षण और संशोधन। इससे वासनाओंके नाशद्वारा ब्रह्मकी प्राप्तिमें बड़ी सहायता मिलती है। ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंका तो वीर्य किसी भी अवस्थामें अधोमुखी होता ही नहीं, अतएव वे तो ब्रह्मके मार्गमें अनायास ही आगे बढ़ जाते हैं। इनसे निम्न स्तरमें वे हैं जिनका बिन्दु अधोगामी तो होता है परन्तु वे मन, वचन और शरीरसे मैथुनका सर्वथा त्याग करके उसका संरक्षण कर लेते हैं। यह भी एक प्रकारसे ब्रह्मचर्य ही है। इसीके लिये गरुडपुराणमें कहा है—

* छठे अध्यायके १४ वें श्लोककी व्याख्या देखनी चाहिये।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥
(पू० खं० आ० का० अ० २३८ । ६)

आश्रमव्यवस्थाका लक्ष्य भी ब्रह्मकी ही प्राप्ति है । ब्रह्मचर्य सबसे पहला आश्रम है । उसमें विशेष सावधानीके साथ ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करना पड़ता है। इसीलिये कहा गया है कि ब्रह्मकी इच्छा करनेवाले (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं ।

प्रश्न—'तत् पदं ते संग्रहेण प्रवक्ष्ये' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह प्रतिज्ञा की है कि उपर्युक्त वाक्योंमें जिस परब्रह्म परमात्माका निर्देश किया गया है, वह ब्रह्म कौन है और अन्तकालमें किस प्रकार साधन करनेवाला मनुष्य उसको प्राप्त होता है—यह बात मैं तुम्हें संक्षेपसे कहूँगा ।*

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें जिस विषयका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी, अब दो श्लोकोंमें उसीका वर्णन करते हैं—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके, फिर उस जीते हुए मनके द्वारा प्राणको मस्तकमें स्थापित करके, परमात्म-सम्बन्धी योगधारणामें स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १२-१३ ॥

प्रश्न—यहाँ सब द्वारोंको रोकना क्या है ?

उत्तर—श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दसों इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण होता है, इसलिये इनको 'द्वार' कहते हैं । इसके अतिरिक्त इनके रहनेके स्थानों (गोलकों) को भी 'द्वार' कहते हैं । इन इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर अर्थात् देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको बन्द करके, साथ ही इन्द्रियोंके गोलकोंको भी रोककर इन्द्रियोंकी वृत्तिको अन्तर्मुख कर लेना चाहिये । यही सब द्वारोंका संयम करना है । इसीको योगशास्त्रमें 'प्रत्याहार' कहते हैं ।

* कठोपनिषद्‌में भी इस श्लोकसे मिलता-जुलता मन्त्र आया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ (१ । २ । १५)

'सारे वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, समस्त तपोंको जिसकी प्राप्तिके साधन बतलाते हैं तथा जिसकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुम्हें संक्षेपसे बतलाता हूँ, 'ओम्' यही वह पद है ।'

प्रश्न—यहाँ 'हृद्देश' किस स्थानका नाम है और मनको हृद्देशमें स्थिर करना क्या है ?

उत्तर—नाभि और कण्ठ—इन दोनों स्थानोंके बीचका स्थान, जिसे हृदयकमल भी कहते हैं और जो मन तथा प्राणोंका निवासस्थान माना गया है, हृद्देश है; और इधर-उधर भटकनेवाले मनको सङ्कल्प-विकल्पोंसे रहित करके हृदयमें निरुद्ध कर देना ही उसको हृद्देशमें स्थिर करना है।

प्रश्न—प्राणोंको मस्तकमें स्थापित करनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मनको हृदयमें रोकनेके बाद प्राणोंको ऊर्ध्वगामी नाडीके द्वारा हृदयसे ऊपर उठाकर मस्तकमें स्थापित करनेके लिये कहा गया है, ऐसा करनेसे प्राणोंके साथ-साथ मन भी वहीं जाकर स्थित हो जाता है। इसीको योगशास्त्रमें 'धारणा' कहते हैं।

प्रश्न—योग-धारणामें स्थित रहना क्या है ? और 'योगधारणाम्' के साथ 'आत्मनः' पद देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे इन्द्रियोंका संयम और मन तथा प्राणोंका मस्तकमें भलीभाँति निश्चल हो जाना ही योगधारणामें स्थित रहना है। 'आत्मनः' पदसे यह बात दिखलायी गयी है कि यहाँ परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली योगधारणाका विषय है, अन्यदेवतादिविषयक चिन्तनसे या प्रकृतिके चिन्तनसे सम्बन्ध रखनेवाली धारणाका विषय नहीं है।

प्रश्न—यहाँ ओङ्कारको 'एकाक्षर' कैसे कहा ? और इसे 'ब्रह्म' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—दसवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें भी ओङ्कारको 'एक अक्षर' कहा है (गिरामस्म्येकमक्षरम्)। इसके अतिरिक्त यह अद्वितीय अविनाशी परब्रह्म परमात्माका नाम है, और नाम तथा नामीमें वास्तवमें अभेद माना गया है; इसलिये भी, ओङ्कारको 'एक अक्षर' और 'ब्रह्म' कहना उचित ही है। कठोपनिषद्‌में भी कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(कठ० उ० १।२।१६)

'यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही परम है; इसी अक्षरको जानकर ही जो जिसकी इच्छा करता है, उसे वही प्राप्त हो जाता है।'

प्रश्न—वाणी आदि इन्द्रियोंके और मनके रुक जानेपर तथा प्राणोंके मस्तकमें स्थापित हो जानेपर ओङ्कारका उच्चारण कैसे हो सकेगा ?

उत्तर—यहाँ वाणीसे उच्चारण करनेके लिये नहीं कहा गया है। उच्चारण करनेका अर्थ मनके द्वारा ही उच्चारण करना है।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पद किसका वाचक है और उसका स्मरण करना क्या है ?

उत्तर—यहाँ ज्ञानयोगीके अन्तकालका प्रसङ्ग होनेसे 'माम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार ब्रह्मका वाचक है। चौथे श्लोकमें 'इस शरीरमें 'अधियज्ञ' मैं ही हूँ' इस कथनसे भगवान्‌ने जिस प्रकार अधियज्ञके साथ अपनी एकता दिखलायी है, उसी प्रकार यहाँ 'ब्रह्म'के साथ अपनी एकता दिखलानेके लिये 'माम्' पदका प्रयोग किया है।

प्रश्न—मनसे ओङ्कारका उच्चारण और उसके अर्थस्वरूप ब्रह्मका चिन्तन, दोनों काम एक साथ कैसे होते हैं ?

उत्तर—दोनों काम एक साथ अवश्य ही हो सकते हैं। संसारमें यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मनुष्य बाहर दूसरा काम करते हैं और मनमें दूसरा ही चिन्तन

करते रहते हैं। ऐसी स्थिति बहुत ही कम लोगोंकी होती है, जो बाहर किसी कामको करते समय बिना किसी अन्तरायके मनसे भी केवल उसी कामका स्मरण करते हों। यहाँतक होता है कि बाहरसे मनुष्य जो कुछ बोलता या करता है, मनमें ठीक उससे विपरीत वस्तुका स्मरण होता रहता है। जब उसमें कोई आपत्ति नहीं आती, तब एकान्तमें परमात्माके नाम 'ॐ' का उच्चारण करते हुए, मनसे ब्रह्मका चिन्तन करनेमें क्यों आपत्ति आने लगी? नामका उच्चारण तो नामीके चिन्तनमें उल्टा सहायक होता है। महर्षि पतञ्जलिजीने भी कहा है—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्।
(योगदर्शन १।२७-२८)

'उसका नाम प्रणव (ॐ) है।' 'ॐका जप करते हुए उसके अर्थ परमात्माका चिन्तन करना चाहिये।'

प्रश्न—यहाँ परम गतिको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—निर्गुण निराकार ब्रह्मको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना, परम गतिको प्राप्त होना है; इसीको सदाके लिये आवागमनसे मुक्त होना, मुक्तिलाभ कर लेना, मोक्षको प्राप्त होना अथवा 'निर्वाण ब्रह्म' को प्राप्त होना कहते हैं।

प्रश्न—आठवेंसे दसवें श्लोकतक सगुण निराकार ईश्वरकी उपासनाका प्रकरण है और ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक निर्गुण निराकार ब्रह्मकी उपासनाका, इस प्रकार यहाँ भिन्न-भिन्न दो प्रकरण क्यों माने गये? यदि छहों श्लोकोंका एक ही प्रकरण मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—आठवेंसे दसवें श्लोकतकके वर्णनमें उपास्य परम पुरुषको सर्वज्ञ, सबके नियन्ता, सबके धारण-पोषण करनेवाले और सूर्यके सदृश स्वयंप्रकाशरूप बतलाया है। ये सभी सर्वव्यापी भगवान्‌के दिव्य गुण हैं। परन्तु ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक एक भी ऐसा विशेषण नहीं दिया गया है जिससे यहाँ निर्गुण निराकारका प्रसंग माननेमें तनिक भी आपत्ति हो सकती हो। इसके अतिरिक्त, उस प्रकरणमें उपासकको 'भक्तियुक्त' कहा गया है, जो भेदोपासनाका द्योतक है, तथा उसका फल दिव्य परम पुरुष (सगुण परमेश्वर) की प्राप्ति बतलाया गया है। यहाँ अभेदोपासनाका वर्णन होनेसे उपासकके लिये कोई विशेषण नहीं दिया गया है और इसका फल भी परम गति (निर्गुण ब्रह्म) की प्राप्ति बतलाया है। इसके अतिरिक्त ग्यारहवें श्लोकमें नये प्रकरणका आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा भी की गयी है। साथ ही, दोनों प्रकरणोंको एक मान लेनेसे योगविषयक वर्णनकी पुनरुक्तिका भी दोष आता है। इन सब कारणोंसे यही प्रतीत होता है कि इन छहों श्लोकोंमें एक ही प्रकरण नहीं है। दो भिन्न-भिन्न प्रकरण हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार निराकार सगुण परमेश्वरके और निर्गुण निराकार ब्रह्मके उपासक योगियोंकी अन्तकालीन गतिका प्रकार और फल बतलाया गया; किन्तु अन्तकालमें इस प्रकारका साधन वे ही पुरुष कर सकते हैं, जिन्होंने पहलेसे योगका अभ्यास करके मनको अपने अधीन कर लिया है। साधारण मनुष्यके द्वारा अन्तकालमें इस प्रकार सगुण निराकारका और निर्गुण निराकारका साधन किया जाना बहुत ही कठिन है, अतएव सुगमतासे परमेश्वरकी प्राप्तिका उपाय जाननेकी इच्छा होनेपर अब भगवान् अपने नित्य-निरन्तर स्मरणको अपनी प्राप्तिका सुगम उपाय बतलाते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ॥१४॥

प्रश्न—यहाँ 'अनन्यचेताः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसका चित्त अन्य किसी भी वस्तुमें न लगकर निरन्तर अनन्य प्रेमके साथ केवल परम प्रेमी परमेश्वरमें ही लगा रहता हो, उसे 'अनन्यचेताः' कहते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'सततम्' और 'नित्यशः' इन एकार्थ-वाची दो पदोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'सततम्' पदसे यह दिखलाया है कि एक क्षणका भी व्यवधान न पड़कर लगातार स्मरण होता रहे। और 'नित्यशः' पदसे यह सूचित किया है कि ऐसा लगातार स्मरण आजीवन सदा-सर्वदा होता ही रहे, इसमें एक दिनका भी नागा न हो। इस प्रकार दो पदोंका प्रयोग करके भगवान्‌ने जीवनभर नित्य-निरन्तर स्मरणके लिये कहा है। इसका यही भाव समझना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पद किसका वाचक है और उसको स्मरण करना क्या है ?

उत्तर—यह नित्य प्रेमपूर्वक स्मरण करनेका प्रसंग है और इसमें 'तस्य', 'अहम्' आदि भेदोपासनाके सूचक पदोंका प्रयोग हुआ है। अतएव यहाँ 'माम्' पद सगुण साकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है। तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीला आदिका बार-बार चिन्तन करते रहना ही उसका स्मरण करना है।

प्रश्न—ऐसे भक्तके लिये भगवान् 'सुलभ' क्यों हैं ?

उत्तर—अनन्यभावसे भगवान्‌का चिन्तन करनेवाला प्रेमी भक्त जब भगवान्‌के वियोगको नहीं सह सकता, तब 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (४।११) के अनुसार भगवान्‌को भी उसका वियोग असह्य हो जाता है; और जब भगवान् स्वयं मिलनेकी इच्छा करते हैं, तब विलम्बके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इसी हेतुसे भक्तके लिये भगवान्‌को सुलभ बतलाया गया है।

प्रश्न—नित्य-निरन्तर स्मरण करनेवाले भक्तके लिये भगवान् सुलभ हैं, यह तो मान लिया; परन्तु भगवान्‌का नित्य-निरन्तर स्मरण क्या सहज ही हो सकता है ?

उत्तर—जिनकी भगवान्‌में और भगवत्प्राप्त महापुरुषोंमें परम श्रद्धा और प्रेम है, उनके लिये तो भगवत्कृपासे नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण होना सहज ही है। अवश्य ही, जिनमें श्रद्धा-प्रेमका अभाव है, जो भगवान्‌के गुण-प्रभावको नहीं जानते और जिनको महत्संगका सौभाग्य प्राप्त नहीं है, उनके लिये नित्य-निरन्तर भगवच्चिन्तन होना कठिन है।

सम्बन्ध—भगवान्‌के नित्य-निरन्तर चिन्तनसे भगवत्प्राप्तिकी सुलभताका प्रतिपादन करनेपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इससे क्या होता है ? इसपर अब उनके पुनर्जन्म न होनेकी बात कहकर यह दिखलाते हैं कि भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका भगवान्‌से फिर कभी वियोग नहीं होता—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ॥ १५ ॥

प्रश्न—'परम सिद्धि' क्या है और 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किसके लिये किया गया है ?

उत्तर—अतिशय श्रद्धा और प्रेमके साथ नित्य-निरन्तर भजन-ध्यानका साधन करते-करते जब साधनकी वह पराकाष्ठारूप स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेके बाद फिर कुछ भी साधन करना शेष नहीं रह जाता और तत्काल ही उसे भगवान्‌का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है—उस पराकाष्ठाकी स्थितिको 'परम सिद्धि' कहते हैं; और भगवान्‌के जो भक्त इस परम सिद्धिको प्राप्त हैं, उन ज्ञानी भक्तोंके लिये 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—'पुनर्जन्म' क्या है और उसे 'दुःखोंका घर' तथा 'अशाश्वत' (क्षणभङ्गुर) किसलिये बतलाया गया है ?

उत्तर—जीव जबतक भगवान्‌को प्राप्त नहीं हो जाता तबतक कर्मवश उसका एक योनिको छोड़कर दूसरी योनिमें जन्म लेना मिट नहीं सकता । इसलिये मरनेके बाद कर्म-परवश होकर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमेंसे किसी भी योनिमें जन्म लेना ही पुनर्जन्म कहलाता है । और ऐसी कोई भी योनि नहीं है जो दुःखपूर्ण और अनित्य न हो । जीवनकी अनित्यताका प्रमाण तो मृत्यु है ही; परन्तु जीवनमें जिन वस्तुओंसे संयोग होता है, उनमें भी कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो सदा एक-सी रहनेवाली हो; और जिससे सदा संयोग बना रहे । जो वस्तु आज सुख देनेवाली प्रतीत होती है, कल उसीका रूपान्तर हो जानेपर अथवा उसके सम्बन्धमें अपना भाव बदल जानेपर वह दुःखप्रद हो जाती है । जिसको जीवनमें मनुष्य सुखप्रद ही मानता है, ऐसी वस्तुका भी जब नाश होता है, या जब उसको छोड़कर मरना पड़ता है, तब वह भी दुःखदायिनी ही हो जाती है । इसके साथ-साथ प्रत्येक वस्तु या स्थितिमें कमीका बोध और उसके विनाशकी आशंका तो सदा दुःख देनेवाली होती ही है । सुखरूप दीखनेवाली वस्तुओंके संग्रह और भोगमें आसक्तिवश जो पाप किये जाते हैं, उनका परिणाम भी नाना प्रकारके कष्टों और नरकयन्त्रणाओंकी प्राप्ति ही होता है । इस प्रकार पुनर्जन्ममें गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख-ही-दुःख होनेके कारण उसे दुःखोंका घर कहा गया है और किसी भी योनिका तथा उस योनिमें प्राप्त भोगोंका संयोग सदा न रहनेवाला होनेसे उसे अशाश्वत (क्षणभङ्गुर) बतलाया गया है ।

प्रश्न—उपर्युक्त महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म क्यों नहीं होता ?

उत्तर—इसीलिये नहीं होता कि उन अनन्य प्रेमी भक्तोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । यह नियम है कि एक बार जिसको समस्त सुखोंके अनन्त सागर, सबके परमाधार, परम आश्रय, परमात्मा, परमपुरुष भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, उसका फिर कभी किसी भी परिस्थितिमें भगवान्‌से वियोग नहीं होता । इसीलिये भगवत्प्राप्ति हो जानेके बाद फिरसे संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता, ऐसा कहा गया है ।

सम्बन्ध—भगवत्प्राप्त महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता, इस कथनसे यह प्रकट होता है कि दूसरे लोकोंमें गये हुए जीवोंका पुनर्जन्म होता है। यहाँ यह जाननेकी इच्छा होती है कि तो फिर किस लोकतक पहुँचे हुए जीवोंको वापस लौटना पड़ता है। इसपर भगवान् कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता। क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं॥ १६॥

प्रश्न—यहाँ 'ब्रह्मलोक' शब्द किस लोकका वाचक है, मर्यादा-वाचक 'आ' अव्ययके प्रयोगका क्या अभिप्राय है और 'लोकाः' पदसे किन-किन लोकोंका लक्ष्य है?

उत्तर—जो चतुर्मुख ब्रह्मा सृष्टिके आदिमें भगवान्के नाभिकमलसे उत्पन्न होकर सारी सृष्टिकी रचना करते हैं, जिनको प्रजापति, हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मा भी कहते हैं तथा इसी अध्यायमें जिनको 'अधिदैव' कहा गया है (८।४), वे जिस ऊर्ध्वलोकमें निवास करते हैं, उस लोकविशेषका नाम 'ब्रह्मलोक' है। और 'लोकाः' पदसे भिन्न-भिन्न लोकपालोंके स्थानविशेष 'भूः', 'भुवः' 'स्वः' आदि समस्त लोकोंका लक्ष्य है। तथा 'आ' अव्ययके प्रयोगसे उपर्युक्त ब्रह्मलोकके सहित उससे नीचेके जितने भी विभिन्न लोक हैं, उन सबको ले लिया गया है।

प्रश्न—'पुनरावर्ती' किन लोकोंको कहते हैं?

उत्तर—बार-बार नष्ट होना और उत्पन्न होना जिनका स्वभाव हो, एवं जिनमें निवास करनेवाले प्राणियोंका मुक्त होना निश्चित न हो, उन लोकोंको 'पुनरावर्ती' कहते हैं।

सम्बन्ध—ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोकोंको पुनरावर्ती बतलाया, परन्तु वे पुनरावर्ती कैसे हैं—इस जिज्ञासापर अब भगवान् ब्रह्माके दिन-रातकी अवधिका वर्णन करके सब लोकोंकी अनित्यता सिद्ध करते हैं—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

ब्रह्माका जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं॥ १७॥

प्रश्न—'सहस्रयुग' शब्द कितने समयका वाचक है, और उस समयको जो ब्रह्माके दिन-रातका परिमाण बतलाया गया है—इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'युग' शब्द 'दिव्य युग'का वाचक है—जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग चारों युगोंके समयको मिलाकर होता है। यह देवताओंका युग है,

इसलिये इसको 'दिव्य युग' कहते हैं। इस देवताओंके समयका परिमाण हमारे समयके परिमाणसे तीन सौ साठ गुना अधिक माना जाता है। अर्थात् हमारा एक वर्ष देवताओंका चौबीस घण्टेका एक दिन-रात, हमारे तीस वर्ष देवताओंका एक महीना और हमारे तीन सौ साठ वर्ष उनका एक दिव्य वर्ष होता है। ऐसे बारह हजार दिव्य वर्षोंका एक 'दिव्य युग' होता है। इसे 'महायुग' और 'चतुर्युगी' भी कहते हैं। इस संख्याके जोड़नेपर हमारे ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। दिव्य वर्षोंके हिसाबसे बारह सौ दिव्य वर्षोंका हमारा कलियुग, चौबीस सौका द्वापर, छत्तीस सौका त्रेता और अड़तालीस सौ वर्षोंका सत्ययुग होता है। कुल मिलाकर १२,००० वर्ष होते हैं। यह एक दिव्य युग है। ऐसे हजार दिव्य युगोंका ब्रह्माका एक दिन होता है और उतने युगोंकी एक रात्रि होती है। इसे दूसरी तरह समझिये। हमारे युगोंके समयका परिमाण इस प्रकार है—

कलियुग—४,३२,००० वर्ष
द्वापर—८,६४,००० वर्ष (कलियुगसे दुगुना)
त्रेता—१२,९६,००० वर्ष (कलियुगसे तिगुना)
सत्ययुग—१७,२८,००० वर्ष (कलियुगसे चौगुना)
कुल जोड़—४३,२०,००० वर्ष

यह एक दिव्य युग हुआ। ऐसे हजार दिव्य युगोंका अर्थात् हमारे ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष) का ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है।

मनुस्मृति प्रथम अध्यायमें ६४ से ७३ श्लोकतक इस विषयका विशद वर्णन है। ब्रह्माके दिनको 'कल्प' और रात्रिको 'प्रलय' कहते हैं। ऐसे तीस दिन-रातका ब्रह्माका एक महीना, ऐसे बारह महीनोंका एक वर्ष, और ऐसे सौ वर्षोंकी ब्रह्माकी पूर्णायु होती है। ब्रह्माके दिन-रात्रिका परिमाण बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार ब्रह्माका जीवन और उनका लोक भी सीमित तथा कालकी अवधिवाला है, इसलिये वह भी अनित्य ही है और जब वही अनित्य है, तब उसके नीचेके लोक और उनमें रहनेवाले प्राणियोंके शरीर अनित्य हों इसमें तो कहना ही क्या है?

प्रश्न—जो लोग ब्रह्माके दिन-रातका परिमाण जानते हैं, वे कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ब्रह्माके दिन-रात्रिकी अवधि जान लेनेपर मनुष्यको ब्रह्मलोक और उसके अन्तर्वर्ती सभी लोकोंकी अनित्यताका ज्ञान हो जाता है। तब वह इस बातको भलीभाँति समझ लेता है कि जब लोक ही अनित्य हैं, तब वहाँके भोग तो अनित्य और विनाशी होंगे ही। और जो वस्तु अनित्य और विनाशी होती है, वह स्थायी सुख दे नहीं सकती। अतएव इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्त होकर उन्हें प्राप्त करनेकी चेष्टा करना और मनुष्यजीवनको प्रमादमें लगाकर उसे व्यर्थ खो देना बड़ी भारी मूर्खता है। मनुष्यजीवनकी अवधि बहुत ही थोड़ी है, भगवान्‌का प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करके शीघ्र-से-शीघ्र उन्हें प्राप्त कर लेना ही बुद्धिमानी है और इसीमें मनुष्यजन्मकी सफलता है जो इस प्रकार समझते हैं, वे ही दिन-रात्रिरूप कालके तत्त्वको जानकर अपने अमूल्य समयकी सफलताका लाभ उठानेवाले हैं।

सम्बन्ध—ब्रह्माके दिन-रात्रिका परिमाण बतलाकर अब उस दिन और रातके आरम्भमें बार-बार होनेवाली समस्त भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका वर्णन करते हुए उन सबकी अनित्यताका कथन करते हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्तनामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लीन हो जाते हैं ॥१८॥

प्रश्न—यहाँ 'सर्वाः' विशेषणके सहित 'व्यक्तयः' पद किनका वाचक है ?

उत्तर—जो वस्तु मन और इन्द्रियोंके द्वारा जानी जा सके, उसका नाम 'व्यक्ति' है । भूतप्राणी सब जाने जा सकते हैं; अतएव देव, मनुष्य, पितर, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें जितने भी व्यक्तरूपमें स्थित देहधारी प्राणी हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'सर्वाः' विशेषणके सहित 'व्यक्तयः' पद है ।

प्रश्न—'अव्यक्त' शब्दसे किसका लक्ष्य है, और ब्रह्माके दिनके आगममें उस अव्यक्तसे व्यक्तियोंका उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—प्रकृतिका जो सूक्ष्म परिणाम है, जिसको ब्रह्माका सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं, स्थूल पञ्चमहाभूतोंकी, उत्पन्न होनेसे पूर्वकी, जो स्थिति है, उस सूक्ष्म अपरा प्रकृतिका नाम यहाँ 'अव्यक्त' है ।

ब्रह्माके दिनके आगममें अर्थात् जब ब्रह्मा अपनी सुषुप्ति-अवस्थाका त्याग करके जाग्रत्-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, तब उस सूक्ष्म प्रकृतिमें विकार उत्पन्न होता है और वह स्थूलरूपमें परिणत हो जाती है, एवं उस स्थूलरूपमें परिणत प्रकृतिके साथ सब प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न रूपोंमें सम्बद्ध हो जाते हैं । यही अव्यक्तसे व्यक्तियोंका उत्पन्न होना है ।

प्रश्न—रात्रिका आगम क्या है ? और उस समय अव्यक्तसे उत्पन्न सब व्यक्ति पुनः उसीमें लीन हो जाते हैं, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—एक हजार दिव्य युगोंके बीत जानेपर जिस क्षणमें ब्रह्मा जाग्रत्-अवस्थाका त्याग करके सुषुप्ति-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, उस प्रथम क्षणका नाम ब्रह्माकी रात्रिका आगम है ।

उस समय स्थूलरूपमें परिणत प्रकृति सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त हो जाती है और समस्त देहधारी प्राणी भिन्न-भिन्न स्थूल शरीरोंसे रहित होकर प्रकृतिकी सूक्ष्म अवस्थामें स्थित हो जाते हैं । यही उस अव्यक्तमें समस्त व्यक्तियोंका लय होना है । आत्मा अजन्मा और अविनाशी है, इसलिये वास्तवमें उसकी उत्पत्ति और लय नहीं होते । अतएव यहाँ यही समझना चाहिये कि प्रकृतिमें स्थित प्राणियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रकृतिके सूक्ष्म अंशका स्थूलरूपमें परिणत हो जाना ही उनकी उत्पत्ति है और उस स्थूलका पुनः सूक्ष्मरूपमें लय हो जाना ही उन प्राणियोंका लय होना है ।

प्रश्न—यहाँ जिस 'अव्यक्त' को 'सूक्ष्म प्रकृति' कहा गया है उसमें और नवम अध्यायके ७वें तथा ८वें श्लोकोंमें जिस प्रकृतिका वर्णन है, उसमें परस्पर क्या भेद है ?

उत्तर—स्वरूपतः कोई भेद नहीं है, एक ही प्रकृतिका अवस्थाभेदसे दो प्रकारका पृथक्-पृथक् वर्णन है । अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें 'अव्यक्त' नामसे उस अपरा प्रकृतिका वर्णन है, जिसको सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें आठ भेदोंमें विभक्त बतलाया गया है । और नवम अध्यायके सातवें और आठवें श्लोकमें उस मूल प्रकृतिका वर्णन है जो अपने अनिर्वचनीय

रूपमें स्थित है और जिसके आठ भेद नहीं हुए हैं। यह मूल प्रकृति ही जब कारण-अवस्थासे सूक्ष्म-अवस्थामें परिणत होती है, तब यही आठ भेदोंमें विभक्त अपरा प्रकृतिके नामसे कही जाती है।

सम्बन्ध—यद्यपि ब्रह्माकी रात्रिके आरम्भमें समस्त भूत अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं, तथापि जबतक वे परम पुरुष परमेश्वरको प्राप्त नहीं होते, तबतक उनका पुनर्जन्मसे पिंड नहीं छूटता, वे आवागमनके चक्करमें घूमते ही रहते हैं। इसी भावको दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

हे पार्थ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लीन होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'भूतग्रामः' पद किसका वाचक है? और उसके साथ 'सः', 'एव' और 'अयम्' पदोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'भूतग्रामः' पद यहाँ चराचर प्राणिमात्रके समुदायका वाचक है; उसके साथ 'सः', 'एव' और 'अयम्' पदोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो भूत-प्राणी ब्रह्माकी रात्रिके आरम्भमें अव्यक्तमें लीन होते हैं, जिन्हें पूर्व श्लोकमें 'सर्वाः व्यक्तयः' के नामसे कहा गया है, वे ही ब्रह्माके दिनके आरम्भमें पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। अव्यक्तमें लीन हो जानेसे न तो वे मुक्त होते हैं और न उनकी भिन्न सत्ता ही मिटती है। इसीलिये ब्रह्माकी रात्रिका समय समाप्त होते ही वे सब पुनः अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार यथायोग्य शरीरोंको प्राप्त करके प्रकट हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं कि कल्प-कल्पान्तरसे जो इस प्रकार बार-बार अव्यक्तमें लीन और पुनः उसीसे प्रकट होता रहता है, तुम्हें प्रत्यक्ष दीखनेवाला यह स्थावर-जङ्गम भूतसमुदाय वही है; कोई नया उत्पन्न नहीं हुआ है।

प्रश्न—'भूत्वा' पदके दो बार प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार यह भूत-समुदाय अनादिकालसे उत्पन्न हो-होकर लीन होता चला आ रहा है। ब्रह्माकी आयुके सौ वर्ष पूर्ण होनेपर जब ब्रह्माका शरीर भी मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है और उसके साथ-साथ सब भूतसमुदाय भी उसीमें लीन हो जाते हैं, तब भी इनके इस चक्करका अन्त नहीं आता। ये उसके बाद भी उसी तरह पुनः-पुनः उत्पन्न होते रहते हैं (९।८)। जबतक प्राणीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक वह बार-बार इसी प्रकार उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिमें लीन होता रहेगा।

प्रश्न—'अवशः' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अवशः' पद 'भूतग्रामः' का विशेषण है। जो किसी दूसरेके अधीन हो, स्वतन्त्र न हो, उसे अवश या परवश कहते हैं। ये अव्यक्तसे उत्पन्न और पुनः अव्यक्तमें ही लीन होनेवाले समस्त प्राणी अपने-अपने स्वभावके वश हैं अर्थात् अनादिसिद्ध भिन्न-भिन्न गुण और कर्मोंके अनुसार जो इन सबकी भिन्न-भिन्न प्रकृति है, उस प्रकृति या स्वभावके वश होनेके कारण ही इनका बार-बार जन्म और मरण होता है; इसीलिये

तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि 'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिजन्य गुणोंको अर्थात् सुख-दु:खोंको भोगता है एवं प्रकृतिका संग ही इसके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है ।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो जीव प्रकृतिसे उस पार पहुँचकर परमात्माको प्राप्त हो गया है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।

प्रश्न—स्वभावके पराधीन समस्त भूत-प्राणी जो बार-बार उत्पन्न होते हैं, उन्हें उनके अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार ठीक-ठीक व्यवस्थाके साथ उत्पन्न करनेवाला कौन है ? प्रकृति, परमेश्वर, ब्रह्मा अथवा कोई और ही ?

उत्तर—यहाँ ब्रह्माके दिन-रातका प्रसंग होनेसे यही समझना चाहिये कि ब्रह्मा ही समस्त प्राणियोंको उनके गुण-कर्मानुसार शरीरोंसे सम्बद्ध करके बार-बार उत्पन्न करते हैं । महाप्रलयके बाद जिस समय ब्रह्माकी उत्पत्ति नहीं होती, उस समय तो सृष्टिकी रचना स्वयं भगवान् करते हैं; परन्तु ब्रह्माके उत्पन्न होनेके बाद सबकी रचना ब्रह्मा ही करते हैं ।

नवें (श्लोक ७ से १०) और चौदहवें (श्लोक ३,४) अध्यायमें जो सृष्टिरचनाका प्रसंग है, वह महा-प्रलयके बाद महासर्गके आदिकालका है और यहाँका वर्णन ब्रह्माकी रात्रिके (प्रलयके) बाद ब्रह्माके दिनके (कल्पके) आरम्भसमयका है ।

सम्बन्ध—ब्रह्माकी रात्रिके आरम्भमें जिस अव्यक्तमें समस्त भूत लीन होते हैं और दिनका आरम्भ होते ही जिससे उत्पन्न होते हैं, वह अव्यक्त ही सर्वश्रेष्ठ है ? या उससे बढ़कर कोई दूसरा और है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥

प्रश्न—यहाँ 'तस्मात्' विशेषणके साथ 'अव्यक्तात्' पद किस 'अव्यक्त' पदार्थका वाचक है ? उससे भिन्न दूसरा 'अव्यक्तभाव' क्या है ? तथा उसे 'पर:', 'अन्य:' और 'सनातन:' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अठारहवें श्लोकमें जिस 'अव्यक्त' में समस्त व्यक्तियों (भूत-प्राणियों) का लय होना बतलाया गया है, उसी वस्तुका वाचक यहाँ 'तस्मात्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तात्' पद है; उससे भिन्न दूसरा 'अव्यक्तभाव' (तत्त्व) वह है, जिसका इस अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अधि-यज्ञ' नामसे, नवें श्लोकमें 'कवि', 'पुराण' आदि नामोंसे, आठवें और दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्य पुरुष' के नामसे, बाईसवें श्लोकमें 'परम पुरुष' के नामसे और नवम अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अव्यक्तमूर्ति' के नामसे वर्णन किया गया है । पूर्वोक्त 'अव्यक्त' से इस 'अव्यक्त' को 'पर' और 'अन्य' बतलाकर उससे इसकी अत्यन्त श्रेष्ठता और विलक्षणता सिद्ध की गयी है । अभिप्राय यह है कि दोनों वस्तुओंका स्वरूप 'अव्यक्त' होनेपर भी, दोनों एक जातिकी वस्तु नहीं हैं । वह पहला 'अव्यक्त' जड, नाशवान्, दृश्य और ज्ञेय है; परन्तु यह दूसरा चेतन, अविनाशी, द्रष्टा और ज्ञाता है ।

साथ ही यह उसका स्वामी, सञ्चालक और अधिष्ठाता है; अतएव यह उससे अत्यन्त श्रेष्ठ और विलक्षण है। अनादि और अनन्त होनेके कारण इसे 'सनातन' कहा गया है।

प्रश्न—'वह सनातन अव्यक्त सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता'—इस वाक्यमें 'सब भूतों' से किसका लक्ष्य है ? उनका नाश होना और उस समय उस सनातन अव्यक्तका नष्ट न होना वस्तुतः क्या है ?

उत्तर—ब्रह्मासे लेकर ब्रह्माके दिन-रात्रिमें उत्पन्न और विलीन होनेवाले अपने-अपने मन, इन्द्रिय, शरीर, भोग्यवस्तु और वासस्थानोंके सहित जितने भी चराचर प्राणी हैं, 'सब भूतों'से यहाँ उन सभीका लक्ष्य है। महाप्रलयके समय स्थूल और सूक्ष्म शरीरसे रहित होकर जो ये अव्याकृत मायानामक मूलप्रकृतिमें लीन हो जाते हैं, वही इनका नाश है। उस समय भी उस प्रकृतिके अधिष्ठाता सनातन अव्यक्त परम दिव्य पुरुष परमेश्वर प्रकृतिसहित उन समस्त जीवोंको अपनेमें लीन करके अपनी ही महिमामें स्थित रहते हैं, यही उनका समस्त भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट न होना है।

सम्बन्ध—आठवें और दसवें श्लोकोंमें अधियज्ञकी उपासनाका फल परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, तेरहवें श्लोकमें परम अक्षर निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका फल परमगतिकी प्राप्ति और चौदहवें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान् श्रीकृष्णकी उपासनाका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है। इससे तीनोंमें किसी प्रकारके भेदका भ्रम न हो जाय, इस उद्देश्यसे अब सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए उनकी प्राप्तिके बाद पुनर्जन्मका अभाव दिखलाते हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥

जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षरनामक अव्यक्तभावको परम गति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर पुरुष वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है॥२१॥

प्रश्न—यहाँ 'अव्यक्तः' और 'अक्षरः' पद किसके वाचक हैं ?

उत्तर—जिसे पूर्वश्लोकमें 'सनातन अव्यक्तभाव' के नामसे और आठवें तथा दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्य पुरुष' के नामसे कहा है, उसी अधियज्ञ पुरुषके वाचक यहाँ 'अव्यक्तः' और 'अक्षरः' पद हैं।

प्रश्न—'परम गति' शब्द किसका वाचक है ?

उत्तर—यहाँ 'परम' विशेषण होनेसे यह भाव है कि जो मुक्ति सर्वोत्तम प्राप्य वस्तु है, जिसे प्राप्त कर लेनेके बाद और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता एवं जिसके प्राप्त होते ही सम्पूर्ण दुःखोंका सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है, उसका नाम 'परम गति' है। इसलिये जिस निर्गुण-निराकार परमात्माको 'परम अक्षर' और 'ब्रह्म' कहते हैं उसी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक 'परम गति' शब्द है (८।१३)।

प्रश्न—यहाँ 'परम धाम' शब्द किसका वाचक है और उसके साथ अव्यक्त, अक्षर तथा परम गतिकी एकता करनेका और जिसे प्राप्त होकर वापस नहीं आते—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌का जो नित्य धाम है, वह भी सच्चिदानन्दमय, दिव्य, चेतन और भगवान्‌का ही स्वरूप होनेके कारण वास्तवमें भगवान्‌से अभिन्न ही है; अतः यहाँ 'परम धाम' शब्द भगवान्‌के नित्य धाम, उनके स्वरूप एवं भगवद्भाव—इन सभीका वाचक है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के नित्य धामकी, भगवद्भावकी और भगवान्‌के स्वरूपकी प्राप्तिमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। इसी तरह अव्यक्त अक्षरकी प्राप्तिमें तथा परम गतिकी प्राप्तिमें और भगवान्‌की प्राप्तिमें भी वस्तुतः कोई भेद नहीं है। इसी बातको समझानेके लिये यह कहा गया है कि जिसको प्राप्त करके मनुष्य नहीं लौटता, वही मेरा परम धाम है; उसीको अव्यक्त, अक्षर तथा परम गति भी कहते हैं। साधनाके भेदसे साधकोंकी दृष्टिमें फलका भेद है। इसी कारण उसका भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन किया गया है। यथार्थमें वस्तुगत कुछ भी भेद न होनेके कारण यहाँ उन सबकी एकता दिखलायी गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सनातन अव्यक्त पुरुषकी परम गति और परम धामके साथ एकता दिखलाकर, अब उस सनातन अव्यक्त परम पुरुषकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥२२॥

हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है॥२२॥

प्रश्न—'जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं' और 'जिस परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है' इन दोनों वाक्योंका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—प्रथम वाक्यसे यह समझना चाहिये कि जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वी, चारों भूत आकाशके अन्तर्गत हैं, आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, उसी प्रकार समस्त चराचर प्राणी अर्थात् सारा जगत् परमेश्वरके ही अन्तर्गत है, परमेश्वरसे ही उत्पन्न है और परमेश्वरके ही आधारपर स्थित है। दूसरे वाक्यसे यह बात समझनी चाहिये कि जिस प्रकार वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन सबमें आकाश व्याप्त है, उसी प्रकार यह सारा जगत् अव्यक्त परमेश्वरसे व्याप्त है। यही बात नवम अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विस्तारपूर्वक दिखलायी गयी है।

प्रश्न—'परः पुरुषः' किसका वाचक है?

उत्तर—यहाँ 'परः पुरुषः' सर्वव्यापी 'अधियज्ञ' का वाचक है। इसी अध्यायके आठवें, नवें और दसवें श्लोकोंमें जिस सगुण-निराकारकी उपासनाका प्रकरण है तथा बीसवें श्लोकमें जिस अव्यक्त पुरुषकी बात कही गयी है, यह प्रकरण भी उसीकी उपासनाका है। उसी परमेश्वरमें समस्त भूतोंकी स्थिति और उसीकी सबमें व्याप्ति बतलायी गयी है।

प्रश्न—आठवेंसे दसवें श्लोकतक इस अव्यक्त पुरुषकी उपासनाका प्रकरण आ चुका है, फिर उसे यहाँ दुबारा लानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यद्यपि दोनों ही जगह अव्यक्त पुरुषकी ही उपासनाका वर्णन है—इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु इतना भेद है कि वहाँ आठवें, नवें और दसवें श्लोकोंमें तो योगी पुरुषोंद्वारा प्राप्त किये जानेवाले केवल अन्तकालीन साधनका फलसहित वर्णन है और यहाँ

सर्वसाधारणके लिये सदा-सर्वदा की जा सकनेवाली अनन्य-भक्तिका और उसके द्वारा उसी परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन है। तथा इसी अभिप्रायसे उस उपासनाके प्रकरणको यहाँ पुनः लाया गया है।

प्रश्न—'अनन्यभक्ति' किसको कहते हैं और उसके द्वारा परम पुरुषका प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरमें ही सब कुछ समर्पण करके उनके विधानमें सदा परम सन्तुष्ट रहना और सब प्रकारसे अनन्य प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर उनका स्मरण करना ही अनन्य-भक्ति है। इस अनन्यभक्तिके द्वारा साधक अपने उपास्यदेव परमेश्वरके गुण, स्वभाव और तत्त्वको भली-भाँति जानकर उनमें तन्मय हो जाता है और शीघ्र ही उसका साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो जाता है। यही साधकका उस परमेश्वरको प्राप्त कर लेना है।

सम्बन्ध—अर्जुनके सातवें प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने अन्तकालमें किस प्रकार मनुष्य परम धामको प्राप्त होता है, यह बात भलीभाँति समझायी थी। प्रसंगवश यह बात भी कही कि भगवत्प्राप्ति न होनेपर ब्रह्मलोकतक पहुँचकर भी जीव आवागमनके चक्करसे नहीं छूटता। परन्तु वहाँ यह बात नहीं कही गयी कि जो वापस न लौटनेवाले स्थानको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे और कैसे जाते हैं तथा इसी प्रकार जो वापस लौटनेवाले स्थानोंको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे जाते हैं। अतः उन दोनों मार्गोंका वर्णन करनेके लिये भगवान् प्रस्तावना करते हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥२३॥

और हे अर्जुन! जिस कालमें शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन वापस न लौटनेवाली गतिको और जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको ही प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको कहूँगा॥२३॥

प्रश्न—यहाँ 'काल' शब्द किसका वाचक है?

उत्तर—यहाँ 'काल' शब्द उस मार्गका वाचक है जिसमें कालाभिमानी भिन्न-भिन्न देवताओंका अपनी-अपनी सीमातक अधिकार है।

प्रश्न—यहाँ 'काल' शब्दका अर्थ 'समय' मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—२६वें श्लोकमें इसीको 'शुक्ल' और 'कृष्ण' दो प्रकारकी 'गति' के नामसे और २७वें श्लोकमें 'सृति' के नामसे कहा है। वे दोनों ही शब्द मार्ग-वाचक हैं। इसके सिवा 'अग्निः', 'ज्योतिः' और 'धूमः' पद भी समयवाचक नहीं हैं। अतएव २४वें और २५वें श्लोकोंमें आये हुए 'तत्र' पदका अर्थ 'समय' मानना उचित नहीं होगा। इसीलिये यहाँ 'काल' शब्दका अर्थ कालाभिमानी देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाला 'मार्ग' मानना ही ठीक है।

प्रश्न—यदि यही बात है तो संसारमें लोग दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके समय मरना अच्छा क्यों समझते हैं?

उत्तर—लोगोंका समझना भी एक प्रकारसे ठीक ही है, क्योंकि उस समय उस-उस कालाभिमानी देवताओंके साथ तत्काल सम्बन्ध हो जाता है। अतः

उस समय मरनेवाला जीव गन्तव्य स्थानतक शीघ्र और सुगमतासे पहुँच जाता है। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि रात्रिके समय मरनेवाला तथा कृष्णपक्षमें और दक्षिणायनके छः महीनोंमें मरनेवाला अर्चिमार्गसे नहीं जाता। बल्कि यह समझना चाहिये कि चाहे जिस समय मरनेपर भी, वह जिस मार्गसे जानेका अधिकारी होगा, उसी मार्गसे जायगा। इतनी बात अवश्य है कि यदि अर्चिमार्गका अधिकारी रात्रिमें मरेगा तो उसका दिनके अभिमानी देवताके साथ सम्बन्ध दिनके उदय होनेपर ही होगा, इस बीचके समयमें वह 'अग्निर्ज्योतिः' के अभिमानी देवताके अधिकारमें रहेगा। यदि कृष्णपक्षमें मरेगा तो उसका शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे सम्बन्ध शुक्लपक्ष आनेपर ही होगा, इसके बीचके समयमें वह दिनके अभिमानी देवताके अधिकारमें रहेगा। इसी तरह यदि दक्षिणायनमें मरेगा तो उसका उत्तरायणाभिमानी देवतासे सम्बन्ध उत्तरायणका समय आनेपर ही होगा, इसके बीचके समयमें वह शुक्लपक्षाभिमानी देवताके अधिकारमें रहेगा। इसी प्रकार दक्षिणायन मार्गके अधिकारीके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'योगिनः' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'योगिनः' पदके प्रयोगसे यह बात समझनी चाहिये कि जो साधारण मनुष्य इसी लोकमें एक योनिसे दूसरी योनिमें बदलनेवाले हैं या जो नरकादिमें जानेवाले हैं, उनकी गतिका यहाँ वर्णन नहीं है। यहाँ जो 'शुक्ल' और 'कृष्ण' इन दो मार्गोंके वर्णनका प्रकरण है, वह यज्ञ, दान, तप आदि शुभकर्म और उपासना करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी गतिका ही वर्णन है।

प्रश्न—'प्रयाताः' पदका क्या अभिप्राय है? और भगवान्‌ने यहाँ 'वक्ष्यामि' पदसे क्या कहनेकी प्रतिज्ञा की है?

उत्तर—'प्रयाताः' पद जानेवालोंका वाचक है। जो मनुष्य अन्तकालमें शरीरको छोड़कर उच्च लोकोंमें जानेवाले हैं, उनका वर्णन करनेके उद्देश्यसे इसका प्रयोग हुआ है। जिस रास्तेसे गया हुआ मनुष्य वापस नहीं लौटता और जिस रास्तेसे गया हुआ वापस लौटता है, उन दोनों रास्तोंका क्या भेद है, वे दोनों रास्ते कौन-कौन-से हैं, उन तथा रास्तोंपर किन-किनका अधिकार है—'वक्ष्यामि' पदसे भगवान्‌ने इन सब बातोंके कहनेकी प्रतिज्ञा की है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जिन दो मार्गोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की गयी थी, उनमेंसे जिस मार्गसे गये हुए साधक वापस नहीं लौटते, उसका वर्णन पहले किया जाता है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥२४॥

उन दो प्रकारके मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥२४॥

प्रश्न--'ज्योतिः' और 'अग्निः' ये दोनों पद किस देवताके वाचक हैं, तथा उस देवताका स्वरूप क्या है ? उक्त मार्गमें उसका कितना अधिकार है और वह इस विषयमें क्या करता है ?

उत्तर--यहाँ 'ज्योतिः' पद 'अग्निः' का विशेषण है और 'अग्निः' पद अग्नि-अभिमानी देवताका वाचक है। उपनिषदोंमें इसी देवताको 'अर्चिः' कहा गया है। इसका स्वरूप दिव्य प्रकाशमय है, पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित सब देशमें इसका अधिकार है तथा उत्तरायण मार्गमें जानेवाले अधिकारीका दिनके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। उत्तरायण मार्गसे जानेवाला जो उपासक रात्रिमें शरीर त्याग करता है, उसे यह रातभर अपने अधिकारमें रखकर दिनके उदय होनेपर दिनके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है और जो दिनमें मरता है, उसे तुरन्त ही दिनके अभिमानी देवताको सौंप देता है।

प्रश्न--'अहः' पद किस देवताका वाचक है, उसका क्या स्वरूप है, उसका कहाँतक अधिकार है एवं वह इस विषयमें क्या करता है ?

उत्तर--'अहः' पद दिनके अभिमानी देवताका वाचक है, इसका स्वरूप अग्नि-अभिमानी देवताकी अपेक्षा बहुत अधिक दिव्य प्रकाशमय है। जहाँतक पृथ्वी-लोककी सीमा है अर्थात् जितनी दूरतक आकाशमें पृथ्वीके वायुमण्डलका सम्बन्ध है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण मार्गमें जानेवाले उपासकको शुक्लपक्षके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। अभिप्राय यह है कि उपासक यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो शुक्लपक्ष आनेतक उसे यह अपने अधिकारमें रखकर और यदि शुक्लपक्षमें मरता है तो तुरन्त ही अपनी सीमातक ले जाकर उसे शुक्लपक्ष-के अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

प्रश्न--यहाँ 'शुक्लः' पद किस देवताका वाचक है, उसका कैसा स्वरूप है, कहाँतक अधिकार है एवं क्या काम है ?

उत्तर--पहलेकी भाँति 'शुक्लः' पद भी शुक्लपक्षा-भिमानी देवताका ही वाचक है। इसका स्वरूप दिनके अभिमानी देवतासे भी अधिक दिव्य प्रकाशमय है। भूलोककी सीमासे बाहर अन्तरिक्षलोकमें—जिन लोकोंमें पन्द्रह दिनके दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है। और उत्तरायण मार्गसे जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उत्तरायणके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यह भी पहलेवालोंकी भाँति यदि साधक दक्षिणायनमें इसके अधिकारमें आता है तो उत्तरायणका समय आनेतक उसे अपने अधिकारमें रखकर और यदि उत्तरायणमें आता है तो तुरन्त ही अपनी सीमासे पार करके उत्तरायण अभिमानी देवताके अधिकारमें सौंप देता है।

प्रश्न--'षण्मासा उत्तरायणम्' पद किस देवताका वाचक है ? उसका कैसा स्वरूप है, कहाँतक अधिकार है एवं क्या काम है ?

उत्तर--जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको उत्तरायण कहते हैं। उस उत्तरायण-कालाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'षण्मासा उत्तरायणम्' पद है। इसका स्वरूप शुक्ल-पक्षाभिमानी देवतासे भी बढ़कर दिव्य प्रकाशमय है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन लोकोंमें छः महीनोंके दिन एवं उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण मार्गसे परम धामको जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके, उपनिषदोंमें वर्णित—(छा० उ० ४। १५। ५; तथा ५। १०। १, २; बृह० उ० ६। २। १५) संवत्सरके

अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे आगे संवत्सरका अभिमानी देवता उसे सूर्यलोकमें पहुँचाता है। वहाँसे क्रमशः आदित्याभिमानी देवता चन्द्राभिमानी देवताके अधिकारमें और वह विद्युत्-अभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देता है। फिर वहाँपर भगवान्‌के परम धामसे भगवान्‌के पार्षद आकर उसे परम धाममें ले जाते हैं और तब उसका भगवान्‌से मिलन हो जाता है। ध्यान रहे कि इस वर्णनमें आया हुआ 'चन्द्र' शब्द हमें दीखनेवाले चन्द्रलोकका और उसके अभिमानी देवताका वाचक नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'ब्रह्मविदः' पद कौन-से मनुष्योंका वाचक है?

उत्तर—यहाँ 'ब्रह्मविदः' पद निर्गुण ब्रह्मके तत्त्वको या सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपको शास्त्र और आचार्योंके उपदेशानुसार श्रद्धापूर्वक परोक्ष-भावसे जाननेवाले उपासकोंका तथा निष्कामभावसे कर्म करनेवाले कर्मयोगियोंका वाचक है। यहाँका 'ब्रह्मविदः' पद परब्रह्म परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महात्माओंका वाचक नहीं है, क्योंकि उनके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमनका वर्णन उपयुक्त नहीं है। श्रुतिमें भी कहा है—'न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति' (बृह० उ० ४।४।६) 'अत्रैव समवलीयन्ते' (बृह० उ० ३।२।११) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृह० उ० ४।४।६) अर्थात् 'क्योंकि उसके प्राण उत्क्रान्तिको नहीं प्राप्त होते', 'शरीरसे निकलकर अन्यत्र नहीं जाते', 'यहींपर लीन हो जाते हैं', 'वह ब्रह्म हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।' जिसको सगुण परमात्माका साक्षात्कार हो गया है, ऐसा भक्त उपर्युक्त मार्गसे भगवान्‌के परम धामको भी जा सकता है अथवा भगवान्‌के स्वरूपमें लीन भी हो सकता है। यह उसकी रुचिपर निर्भर है।

प्रश्न—यहाँ 'ब्रह्म' शब्द किसका वाचक है? और उसको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'ब्रह्म' शब्द सगुण परमेश्वरका वाचक है। उनके कभी नाश न होनेवाले नित्य धाम, जिसे सत्यलोक, परम धाम, साकेतलोक, गोलोक, वैकुण्ठलोक एवं ब्रह्मलोक भी कहते हैं, वहाँ पहुँचकर भगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेना ही उनको प्राप्त होना है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि यह ब्रह्मलोक इस अध्यायके १६वें श्लोकमें वर्णित पुनरावर्ती ब्रह्मलोक नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार वापस न लौटनेवालोंके मार्गका वर्णन करके अब जिस मार्गसे गये हुए साधक वापस लौटते हैं, उसका वर्णन किया जाता है—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥२५॥

जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है, रात्रि-अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकामकर्म करनेवाला योगी उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर वापस आता है॥२५॥

प्रश्न—'धूमः' पद किस देवताका वाचक है? उसका स्वरूप कैसा होता है, उसका कहाँतक अधिकार है और क्या काम है?

उत्तर—यहाँ 'धूमः' पद धूमाभिमानी देवताका अर्थात् अन्धकारके अभिमानी देवताका वाचक है। उसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। अग्नि-अभिमानी

देवताकी भाँति पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित समस्त देशमें इसका भी अधिकार है। तथा दक्षिणायन मार्गसे जानेवाले साधकोंको रात्रि-अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। दक्षिणायन मार्गसे जानेवाला जो साधक दिनमें मर जाता है, उसे यह दिनभर अपने अधिकारमें रखकर रात्रिका आरम्भ होते ही रात्रि-अभिमानी देवताको सौंप देता है और जो रात्रिमें मरता है, उसे तुरन्त ही रात्रि-अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

प्रश्न—'रात्रिः' पद किसका वाचक है? उसका स्वरूप कैसा है, अधिकार कहाँतक है और क्या काम है?

उत्तर—यहाँ 'रात्रिः' पदको भी रात्रिके अभिमानी देवताका ही वाचक समझना चाहिये। इसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। दिनके अभिमानी देवताकी भाँति इसका अधिकार भी जहाँतक पृथ्वीलोककी सीमा है, वहाँतक है। भेद इतना ही है कि पृथ्वी-लोकमें जिस समय जहाँ दिन रहता है, वहाँ दिनके अभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जिस समय जहाँ रात्रि रहती है, वहाँ रात्रि-अभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन मार्गसे जानेवाले साधकको पृथ्वीलोककी सीमासे पार करके अन्तरिक्षमें कृष्णपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यदि वह साधक शुक्लपक्षमें मरता है, तब तो उसे कृष्णपक्ष आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो तुरन्त ही अपने अधिकारसे पार करके कृष्णपक्षाभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

प्रश्न—यहाँ 'कृष्णः' पद किसका वाचक है? उसका स्वरूप कैसा होता है, कहाँतक अधिकार है और क्या काम है?

उत्तर—कृष्णपक्षाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'कृष्णः' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। पृथ्वीमण्डलकी सीमाके बाहर अन्तरिक्षलोकमें, जहाँतक पन्द्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि जिस समय जहाँ उस लोकमें शुक्लपक्ष रहता है, वहाँ शुक्लपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जहाँ कृष्णपक्ष रहता है, वहाँ कृष्णपक्षाभि-मानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको दक्षिणायनाभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। जो दक्षिणायन मार्गका अधिकारी साधक उत्तरायणके समय इसके अधिकारमें आता है, उसे दक्षिणायनका समय आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और जो दक्षिणायनके समय आता है उसे तुरन्त ही यह अपने अधिकारसे पार करके दक्षिणायनाभिमानी देवताके पास पहुँचा देता है।

प्रश्न—यहाँ 'षण्मासा दक्षिणायनम्' पद किसका वाचक है? उसका स्वरूप कैसा है, कहाँतक अधिकार है और क्या काम है?

उत्तर—जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण दिशाकी ओर चलते रहते हैं उस छमाहीको दक्षिणायन कहते हैं। उसके अभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'दक्षिणा-यनम्' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन लोकोंमें छः महीनोंका दिन और छः महीनोंकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि उत्तरायणके छः महीनोंमें उसके अभिमानी देवताका वहाँ अधिकार रहता है और दक्षिणायनके छः महीनोंमें इसका अधिकार रहता है। दक्षिणायन मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको अपने अधिकारसे पार करके उपनिषदोंमें वर्णित पितृ-लोकाभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देना इसका

काम है । वहाँसे पितृलोकाभिमानी देवता साधकको आकाशाभिमानी देवताके पास और वह आकाशाभिमानी देवता चन्द्रमाके लोकमें पहुँचा देता है (छा० उ० ५।१०।४)। यहाँ चन्द्रमाका लोक उपलक्षणमात्र है; अतः ब्रह्माके लोकतक जितने भी पुनरागमनशील लोक हैं, चन्द्रलोकसे उन सभीको समझ लेना चाहिये। ध्यान रहे कि उपनिषदोंमें वर्णित यह पितृलोक वह पितृलोक नहीं है, जो अन्तरिक्षके अन्तर्गत है और जहाँ पन्द्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है ।

प्रश्न—दक्षिणायन मार्गसे जानेवालेको 'योगी' क्यों कहा ?

उत्तर—स्वर्गादिके लिये पुण्यकर्म करनेवाला पुरुष भी अपनी ऐहिक भोगोंकी प्रवृत्तिका निरोध करता है, इस दृष्टिसे उसे भी 'योगी' कहना उचित है। इसके सिवा योगभ्रष्ट पुरुष भी इस मार्गसे स्वर्गमें जाकर, वहाँ कुछ कालतक निवास करके वापस लौटते हैं। वे भी इसी मार्गसे जानेवालोंमें हैं। अतः उनको 'योगी' कहना उचित ही है। यहाँ 'योगी' शब्दका प्रयोग करके यह बात भी दिखलायी गयी है कि यह मार्ग पापकर्म करनेवाले तामस मनुष्योंके लिये नहीं है, उच्च लोकोंकी प्राप्तिके अधिकारी शास्त्रीय कर्म करनेवाले पुरुषोंके लिये ही है (२।४२, ४३, ४४ तथा ९।२०-२१ आदि)।

प्रश्न—दक्षिणायन मार्गसे जानेवाले साधकोंको प्राप्त होनेवाली चन्द्रमाकी ज्योति क्या है ? और उसे प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—चन्द्रमाके लोकमें उसके अभिमानी देवताका स्वरूप शीतल प्रकाशमय है। उसीके-जैसे प्रकाशमय स्वरूपका नाम 'ज्योति' है, और वैसे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाना—चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होना है। वहाँ जानेवाला साधक उस लोकमें शीतल प्रकाशमय दिव्य देवशरीर पाकर अपने पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप दिव्य भोगोंको भोगता है ।

प्रश्न—उक्त चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर वापस लौटना क्या है और वह साधक वहाँसे किस मार्गसे और किस प्रकार वापस लौटता है ?

उत्तर—वहाँ रहनेका नियत समय समाप्त हो जानेपर इस मृत्युलोकमें वापस आ जाना ही वहाँसे लौटना है। जिन कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और वहाँके भोग प्राप्त होते हैं, उनका भोग समाप्त हो जानेसे जब वे क्षीण हो जाते हैं, तब प्राणीको बाध्य होकर वहाँसे वापस लौटना पड़ता है। वह चन्द्रलोकसे आकाशमें आता है, वहाँसे वायुरूप हो जाता है, फिर धूमके आकारमें परिणत हो जाता है, धूमसे बादलमें आता है, बादलसे मेघ बनता है, इसके अनन्तर जलके रूपमें पृथ्वीपर बरसता है, वहाँ गेहूँ, जौ, तिल, उड़द आदि बीजोंमें या वनस्पतियोंमें प्रविष्ट होता है। उनके द्वारा पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होकर स्त्रीकी योनिमें सींचा जाता है और अपने कर्मानुसार योनिको पाकर जन्म ग्रहण करता है। (छा० उ० ५।१०।५, ६, ७)

सम्बन्ध—इस प्रकार उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों मार्गोंका वर्णन करके अब उन दोनोंको सनातन मार्ग बतलाकर इस विषयका उपसंहार करते हैं—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

क्योंकि जगत्‌के ये दो प्रकारके—शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं । इनमें एकके द्वारा गया हुआ—जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा गया हुआ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है ॥२६॥

प्रश्न—यहाँ 'जगतः' पद किसका वाचक है और दोनों गतियोंके साथ उसका क्या सम्बन्ध है एवं इन दोनों मार्गोंको 'शाश्वत' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'जगतः' पद ऊपर-नीचेके लोकोंमें विचरनेवाले समस्त चराचर प्राणियोंका वाचक है, क्योंकि सभी प्राणी अधिकार प्राप्त होनेपर दोनों मार्गोंके द्वारा गमन कर सकते हैं । चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते कभी-न-कभी भगवान् दया करके जीवमात्रको मनुष्यशरीर देकर अपने तथा देवताओंके लोकोंमें जानेका सुअवसर देते हैं । उस समय यदि वह जीवनका सदुपयोग करे तो दोनोंमेंसे किसी एक मार्गके द्वारा गन्तव्य स्थानको अवश्य प्राप्त कर सकता है । अतएव प्रकारान्तरसे प्राणिमात्रके साथ इन दोनों मार्गोंका सम्बन्ध है । ये मार्ग सदासे ही समस्त प्राणियों-के लिये हैं और सदैव रहेंगे । इसीलिये इनको 'शाश्वत' कहा है । यद्यपि महाप्रलयमें जब समस्त लोक भगवान्‌में लीन हो जाते हैं, उस समय ये मार्ग और इनके देवता भी लीन हो जाते हैं, तथापि जब पुनः सृष्टि होती है, तब पूर्वकी भाँति ही इनका पुनः निर्माण हो जाता है । अतः इनको 'शाश्वत' कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

प्रश्न—इन मार्गोंके 'शुक्ल' और 'कृष्ण' नाम रखनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—परमेश्वरके परम धाममें जानेका जो मार्ग है, वह प्रकाशमय—दिव्य है । उसके अधिष्ठातृदेवता भी सब प्रकाशमय हैं; और उसमें गमन करनेवालोंके अन्तःकरणमें भी सदा ही ज्ञानका प्रकाश रहता है; इसलिये इस मार्गका नाम 'शुक्ल' रक्खा गया है । और जो ब्रह्माके लोकतक समस्त देवलोकोंमें जानेका मार्ग है, वह शुक्लमार्गकी अपेक्षासे अन्धकारयुक्त है । उसके अधिष्ठातृदेवता भी अन्धकारस्वरूप हैं तथा उसमें गमन करनेवाले लोग भी अज्ञानसे मोहित रहते हैं । इसलिये उस मार्गका नाम 'कृष्ण' रक्खा गया है ।

प्रश्न—'अनावृत्ति' शब्द किसका वाचक है और उसके प्रयोगका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जहाँ जाकर साधक वापस नहीं लौटता, जो भगवान्‌का परम धाम है, उसीका वाचक यहाँ 'अनावृत्ति' शब्द है । २४वें श्लोकमें शुक्लमार्गसे जानेवालोंको ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है । वहाँ जानेके बाद मनुष्य पुनर्जन्मको नहीं पाता, अतएव उसे अनावृत्ति भी कहते हैं—यही बात स्पष्ट करनेके लिये यहाँ पुनः 'अनावृत्ति' शब्दका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—'पुनः आवर्तते' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने कृष्णमार्गके द्वारा प्राप्त होनेवाले सभी लोकोंको पुनरावृत्तिशील बतलाया है । भाव यह है कि कृष्णमार्गसे गया हुआ मनुष्य जिन-जिन लोकोंको प्राप्त होता है, वे सब-के-सब लोक विनाशशील हैं । इसलिये इस मार्गसे गये हुए प्राणीको लौटकर मृत्युलोकमें वापस आना पड़ता है ।

सम्बन्ध—अब उन दोनों मार्गोंको जाननेवाले योगीकी प्रशंसा करके अर्जुनको योगी बननेके लिये कहते हैं—

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे पार्थ ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता । इस कारण हे अर्जुन ! तू सब कालमें समत्वबुद्धिरूप योगसे युक्त हो अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो ॥२७॥

प्रश्न—यहाँ 'एते' विशेषणके सहित 'सृती' पद किसका वाचक है और उसको जानना क्या है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकोंमें जिन दो मार्गोंका वर्णन हुआ है, उन्हीं दोनों मार्गोंका वाचक यहाँ 'एते' विशेषणके सहित 'सृती' पद है । सकामभावसे शुभ कर्मोंका आचरण और देवोपासना करनेवाला पुण्यात्मा पुरुष कृष्णमार्गसे जाकर अपने कर्मानुसार देवलोकको प्राप्त होता है और पुण्योंका क्षय होनेपर वहाँसे वापस लौट आता है (९।२०-२१) । निष्कामभावसे कर्मोपासना करनेवाले कर्मयोगी तथा कर्तृत्वाभिमानका त्याग करनेवाले सांख्ययोगी दोनों ही शुक्लमार्गसे भगवान्के परम धामको प्राप्त हो जाते हैं, उन्हें वहाँसे फिर कभी वापस नहीं लौटना पड़ता—इस बातको श्रद्धापूर्वक अच्छी प्रकार समझ लेना ही इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानना है ।

प्रश्न—यहाँ 'योगी' का क्या अभिप्राय है और 'कश्चन' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया गया है एवं उसका मोहित न होना क्या है ?

उत्तर—कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग आदि जितने प्रकारके परमेश्वरकी प्राप्तिके उपायभूत योग बतलाये गये हैं, उनके अनुसार चेष्टा करनेवाले सभी साधक 'योगी' हैं । उनमेंसे जो कोई भी उपर्युक्त दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जान लेता है, वही मोहित नहीं होता—यही बात समझानेके लिये 'कश्चन' का प्रयोग किया गया है । उपर्युक्त योगसाधनामें लगा हुआ भी मनुष्य इन मार्गोंका तत्त्व न जाननेके कारण स्वभाववश इस लोक या परलोकके भोगोंमें आसक्त होकर साधनसे भ्रष्ट हो जाता है, यही उसका मोहित होना है । किन्तु जो इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता है, वह फिर ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोकोंके भोगोंको नाशवान् और तुच्छ समझ लेनेके कारण किसी भी प्रकारके भोगोंमें आसक्त नहीं होता एवं निरन्तर परमेश्वरकी प्राप्तिके ही साधनमें लगा रहता है । यही उसका मोहित न होना है ।

प्रश्न—यहाँ 'तस्मात्' पदसे क्या ध्वनि निकलती है, और अर्जुनको सब समय योगयुक्त होनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'तस्मात्' पदसे भगवान् यह ध्वनित कर रहे हैं कि भगवत्प्राप्तिके साधनरूप योगका इतना महत्त्व है कि उससे युक्त रहनेवाला योगी दोनों मार्गोंका तत्त्व भलीभाँति समझ लेनेके कारण किसी प्रकारके भी भोगोंमें आसक्त होकर मोहित नहीं होता, इसलिये तुम भी सदा-सर्वदा योगयुक्त हो जाओ; केवल मेरी ही प्रीतिके लिये निरन्तर भक्तिप्रधान कर्मयोगमें श्रद्धापूर्वक तत्पर रहो । इस अध्यायके सातवें श्लोकमें भी भगवान्ने ऐसी ही आज्ञा दी है, क्योंकि अर्जुन इसीके अधिकारी थे ।

यहाँ भगवान्ने जो अर्जुनको सब कालमें योगयुक्त होनेके लिये कहा है, इसका यह भाव है कि मनुष्य-

जीवन बहुत थोड़े ही दिनोंका है, मृत्युका कुछ भी भरोसा नहीं है कि कब आ जाय। यदि अपने जीवनके प्रत्येक क्षणको साधनमें लगाये रखनेका प्रयत्न नहीं किया जायगा तो साधन बीच-बीचमें छूटता रहेगा। और यदि कहीं साधनहीन अवस्थामें मृत्यु हो जायगी तो पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। अतएव मनुष्यको भगवत्-प्राप्तिके साधनमें नित्य-निरन्तर लगे ही रहना चाहिये।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने अर्जुनको योगयुक्त होनेके लिये कहा। अब योगयुक्त पुरुषकी महिमा और इस अध्यायमें वर्णित रहस्यको समझकर उसके अनुसार साधन करनेका फल बतलाते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥२८॥

योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निःसन्देह उल्लङ्घन कर जाता है और सनातन परम पदको प्राप्त होता है॥२८॥

प्रश्न—यहाँ 'योगी' किसका वाचक है?

उत्तर—भगवत्प्राप्तिके लिये जितने प्रकारके साधन बतलाये गये हैं, उनमेंसे किसी भी साधनमें श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक निरन्तर लगे रहनेवाले पुरुषका वाचक यहाँ 'योगी' है।

प्रश्न—'इदम्' पद किसका वाचक है और उसको तत्त्वसे जानना क्या है?

उत्तर—इस अध्यायमें वर्णित समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'इदम्' पद है। और इसमें दी हुई शिक्षाको अर्थात् भगवान्‌के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपकी उपासनाको, भगवान्‌के गुण, प्रभाव और माहात्म्यको एवं किस प्रकार साधन करनेसे मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, कहाँ जाकर मनुष्यको लौटना पड़ता है और कहाँ पहुँच जानेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता, इत्यादि जितनी बातें इस अध्यायमें बतलायी गयी हैं, उन सबको भलीभाँति समझ लेना ही उसे तत्त्वसे जानना है।

प्रश्न—यहाँ 'वेद', 'यज्ञ', 'तप' और 'दान' शब्द किनके वाचक हैं? उनका पुण्यफल क्या है और उसे उल्लङ्घन करना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'वेद' शब्द अङ्गोंसहित चारों वेदोंका और उनके अनुकूल समस्त शास्त्रोंका; 'यज्ञ' शास्त्रविहित पूजन, हवन आदि सब प्रकारके यज्ञोंका; 'तप' व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयम, स्वधर्मपालन आदि सभी प्रकारके शास्त्रविहित तपोंका और 'दान' अन्नदान, विद्यादान, क्षेत्रदान आदि सब प्रकारके शास्त्रविहित दान एवं परोपकारका वाचक है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सकामभावसे वेदशास्त्रोंका स्वाध्याय तथा यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे जो पुण्यसञ्चय होता है उस पुण्यका जो ब्रह्मलोकपर्यन्त भिन्न-भिन्न देवलोकोंकी और वहाँके भोगोंकी प्राप्तिरूप फल वेद-शास्त्रोंमें बतलाया

गया है, वही पुण्यफल है। एवं उन सब लोकोंको और उनके भोगोंको क्षणभङ्गुर एवं अनित्य समझकर उनमें आसक्त न होना और उनसे सर्वथा उपरत होकर सब लोकोंका स्वरूपतः पार कर जाना है, यही उनको उल्लङ्घन कर जाना है।

प्रश्न—'आद्यम्' और 'परम्' विशेषणके सहित 'स्थानम्' पद किसका वाचक है और उसे प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—इस अध्यायमें जो भगवान्‌के परम धामके नामसे कहा गया है, जहाँ जाकर मनुष्य पुनः इस संसारचक्रमें नहीं आता, जो सबका आदि, सबसे परे और श्रेष्ठ है, उसीका वाचक यहाँ 'परम्' और 'आद्यम्' विशेषणके सहित 'स्थानम्' पद है; उसे तत्त्वसे जानकर उसमें चले जाना ही उसे प्राप्त हो जाना है। इसीको परम गतिकी प्राप्ति, दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, परम पदकी प्राप्ति और भगवद्भावकी प्राप्ति भी कहते हैं।



ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

नवमोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें भगवान्‌ने जो उपदेश दिया है, उसको उन्होंने सब विद्याओंका और समस्त गुप्त रखने योग्य भावोंका राजा बतलाया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'राजविद्याराजगुह्ययोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें अर्जुनको पुनः विज्ञानसहित ज्ञानका उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा करके उसका माहात्म्य बतलाया है, तीसरे श्लोकमें उस उपदेशमें श्रद्धा न रखनेवालोंके लिये जन्म-मरणरूप संसारचक्रकी प्राप्ति बतलायी गयी है। चौथेसे छठेतक भगवान्‌के निराकाररूपकी व्यापकता और निर्लेपताका वर्णन करते हुए भगवान्‌की ईश्वरीय योगशक्तिका दिग्दर्शन कराकर, उसी स्वरूपमें समस्त भूतोंकी स्थिति बतलायी गयी है। तदनन्तर सातवेंसे दसवें श्लोकोंतक महाप्रलयके समय समस्त प्राणियोंका भगवान्‌की प्रकृतिमें लय होना और कल्पोंके आदिमें पुनः भगवान्‌के सकाशसे प्रकृतिद्वारा उनका रचा जाना एवं इन सब कर्मोंको करते हुए भी भगवान्‌का उनसे निर्लिप्त रहना बतलाया गया है। ग्यारहवें और बारहवें श्लोकोंमें भगवान्‌के प्रभावको न जाननेके कारण उनका तिरस्कार करनेवालोंकी निन्दा करके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें भगवान्‌के प्रभावको जाननेवाले महापुरुषोंके भजनका प्रकार बतलाया गया है। पन्द्रहवें श्लोकमें एकत्वभावसे ज्ञानयज्ञके द्वारा ब्रह्मकी उपासना करनेवाले ज्ञानयोगियोंका और चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, अग्नि आदि अन्यान्य देवताओंके रूपमें स्थित परमेश्वरकी भेदभावसे नानाप्रकार उपासना करनेवालोंका वर्णन किया गया है। तदनन्तर सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव और विभूतिसहित स्वरूपका वर्णन करते हुए कार्य-कारणरूप समस्त जगत्‌को भी अपना स्वरूप बतलाया है। बीसवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें स्वर्गभोगके लिये यज्ञादि कर्म करनेवालोंके आवागमनका वर्णन करके बाईसवें श्लोकमें निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले अपने भक्तोंका योगक्षेम स्वयं वहन करनेकी प्रतिज्ञा की है। तेईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक अन्य देवताओंकी उपासनाको भी प्रकारान्तरसे अविधिपूर्वक अपनी उपासना बतलाकर उसका फल उन-उन देवताओंकी प्राप्ति और अपनी उपासनाका फल अपनी प्राप्ति बतलाया है। छब्बीसवें श्लोकमें भगवद्भक्तिकी सुगमता दिखलाकर सत्ताईसवेंमें अर्जुनको सब कर्म अपनेको अर्पण करनेके लिये कहा है और अट्ठाईसवेंमें उसका फल अपनी प्राप्ति बतलाया है। उन्तीसवें श्लोकमें अपनी समताका वर्णन करके तीसवें और इकतीसवें श्लोकोंमें अपने निरन्तर भजनका महत्त्व दिखलाया है। बत्तीसवें श्लोकमें अपनी शरणागतिसे स्त्री, वैश्य, शूद्र और चाण्डालादिको भी परम गतिरूप फलकी प्राप्ति बतलायी है। तैंतीसवें और चौंतीसवें श्लोकोंमें पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षि भक्तजनोंकी बड़ाई करके शरीरको अनित्य बतलाते हुए अर्जुनको अपनी शरण होनेके लिये कहकर अङ्गोंसहित शरणागतिके स्वरूपका निरूपण किया है।

सम्बन्ध—सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी। उसके अनुसार उस विषयका वर्णन करते हुए, अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्‌को जाननेकी एवं अन्तकालके भगवच्चिन्तनकी बात कही। इसपर आठवें अध्यायमें अर्जुनने उन तत्त्वोंको और अन्तकालकी उपासनाके विषयको समझनेके लिये सात प्रश्न कर दिये। उनमेंसे छः प्रश्नोंका उत्तर तो भगवान्‌ने संक्षेपमें तीसरे और चौथे श्लोकोंमें दे दिया किन्तु सातवें प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने जिस उपदेशका आरम्भ किया, उसमें सारा-का-सारा आठवाँ अध्याय पूरा हो गया। इस प्रकार सातवें अध्यायमें आरम्भ किये हुए विज्ञानसहित ज्ञानका साङ्गोपाङ्ग वर्णन न होनेके कारण उसी विषयको भलीभाँति समझानेके उद्देश्यसे भगवान् इस नवम अध्यायका आरम्भ करते हैं। तथा सातवें अध्यायमें वर्णित उपदेशके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलानेके लिये पहले श्लोकमें पुनः उसी विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा॥ १॥

प्रश्न—'अनसूयवे' पदका क्या अर्थ है और यहाँ अर्जुनको 'अनसूयु' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—गुणवानोंके गुणोंको न मानना, गुणोंमें दोष देखना, उनकी निन्दा करना एवं उनपर मिथ्या दोषोंका आरोपण करना 'असूया' है। जिसमें स्वभावसे ही यह 'असूया' दोष बिल्कुल ही नहीं होता, उसे 'अनसूयु' कहते हैं।* यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको 'अनसूयु' कहकर यह भाव दिखलाया है कि जो मुझमें श्रद्धा रखता है और असूयादोषसे रहित है, वही इस अध्यायमें दिये हुए उपदेशका अधिकारी है। इसके विपरीत मुझमें दोषदृष्टि रखनेवाला अश्रद्धालु मनुष्य इस उपदेशका पात्र नहीं है। अठारहवें अध्यायके ६७ वें श्लोकमें भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि 'जो मुझमें दोषदृष्टि करता है, उसे गीताशास्त्रका उपदेश नहीं सुनाना चाहिये।'

प्रश्न—यहाँ 'इदम्' पद किसका वाचक है? और जिसके कहनेकी प्रतिज्ञा की है, वह विज्ञानसहित ज्ञान क्या है?

उत्तर—सातवें, आठवें और इस नवें अध्यायमें प्रभाव और महत्त्व आदिके रहस्यसहित जो निर्गुण-निराकार तत्त्वका; तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण निराकार और साकार तत्त्वका; एवं उनकी

* न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता॥ (अत्रिस्मृति ३४)

जो गुणवानोंके गुणोंका खण्डन नहीं करता, थोड़े गुणवालोंकी भी प्रशंसा करता है और दूसरेके दोषोंमें प्रीति नहीं करता, उस मनुष्यका वह भाव अनसूया कहलाता है।

उपलब्धि करानेवाले उपदेशोंका वर्णन हुआ है, उन सबका वाचक यहाँ 'इदम्' पद है और वही विज्ञान-सहित ज्ञान है।

प्रश्न—इसे 'गुह्यतमम्' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखने योग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें समग्ररूप भगवान् पुरुषोत्तमके तत्त्व, प्रेम, गुण, प्रभाव, विभूति और महत्त्व आदिके साथ उनकी शरणागतिका स्वरूप सबसे बढ़कर गुप्त रखने योग्य है, यही भाव दिखलानेके लिये इसे 'गुह्यतम' कहा गया है। पन्द्रहवें अध्यायके २०वें और अठारहवें अध्यायके ६४वें श्लोकमें भी इस प्रकारके वर्णनको भगवान्ने 'गुह्यतम' कहा है।

प्रश्न—यहाँ 'अशुभ' शब्द किसका वाचक है और उससे मुक्त होना क्या है?

उत्तर—समस्त दुःखोंका, उनके हेतुभूत कर्मोंका, दुर्गुणोंका, जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनका और इन सबके कारणरूप अज्ञानका वाचक यहाँ 'अशुभ' शब्द है। इन सबसे सदाके लिये सम्पूर्णतया छूट जाना और परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त हो जाना ही 'अशुभसे मुक्त' होना है।

सम्बन्ध—भगवान्ने विज्ञानसहित जिस ज्ञानके उपदेशकी प्रतिज्ञा की, उसके प्रति श्रद्धा, प्रेम, सुननेकी उत्कण्ठा और उस उपदेशके अनुसार आचरण करनेमें अत्यधिक उत्साह उत्पन्न करनेके लिये भगवान् अब उसका यथार्थ माहात्म्य सुनाते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलरूप, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है॥ २॥

प्रश्न—इस श्लोकमें आया हुआ 'इदम्' पद किसका वाचक है? और उसे 'राजविद्या' तथा 'राजगुह्य' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें विज्ञानसहित जिस ज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, उसीका वाचक यहाँ 'इदम्' पद है। संसारमें जितनी भी ज्ञात और अज्ञात विद्याएँ हैं, यह उन सबमें बढ़कर है; जिसने इस विद्याका यथार्थ अनुभव कर लिया है उसके लिये फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। इसलिये इसे राजविद्या अर्थात् सब विद्याओंका राजा कहा गया है। इसमें भगवान्के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और महत्त्वका, उनकी उपासना-विधिका और उसके फलका भलीभाँति निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें भगवान्ने अपना समस्त रहस्य खोलकर यह तत्त्व समझा दिया है कि मैं जो श्रीकृष्णरूपमें तुम्हारे सामने विराजित हूँ, इस समस्त जगत्का कर्ता, हर्ता, सबका आधार, सर्वशक्तिमान्, परमब्रह्म परमेश्वर और साक्षात् पुरुषोत्तम हूँ। तुम सब प्रकारसे मेरी शरण आ जाओ। इस प्रकारके परम गोपनीय रहस्यकी बात अर्जुन-जैसे दोषदृष्टिहीन परम श्रद्धावान् भक्तके सामने ही कही जा सकती है, हरेकके सामने नहीं। इसीलिये इसे राजगुह्य अर्थात् सब गोपनीयोंका राजा बतलाया गया है।

प्रश्न—इसे 'पवित्र' और 'उत्तम' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यह उपदेश इतना पावन करनेवाला है कि जो कोई भी इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन और इसके अनुसार आचरण करता है, यह उसके समस्त पापों और अवगुणोंका समूल नाश करके उसे सदाके लिये परम विशुद्ध बना देता है। इसीलिये इसे 'पवित्र' कहा गया है। और संसारमें जितनी भी उत्तम वस्तुएँ हैं, यह उन सबकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है; इसलिये इसे 'उत्तम' कहा गया है।

प्रश्न—इसके लिये 'प्रत्यक्षावगमम्' और 'धर्म्यम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—विज्ञानसहित इस ज्ञानका फल श्राद्धादि कर्मोंकी भाँति अदृष्ट नहीं है। साधक ज्यों-ज्यों इसकी ओर आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसके दुर्गुणों, दुराचारों और दुःखोंका नाश होकर, उसे परम शान्ति और परम सुखका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है; जिसको इसकी पूर्णरूपसे उपलब्धि हो जाती है, वह तो तुरन्त ही परम सुख और परम शान्तिके समुद्र, परमप्रेमी, परमदयालु और सबके सुहृद्, साक्षात् भगवान्‌को ही प्राप्त हो जाता है। इसीलिये यह 'प्रत्यक्षावगम' है। तथा वर्ण और आश्रम आदिके जितने भी विभिन्न धर्म बतलाये गये हैं, यह उन सबका अविरोधी और स्वाभाविक ही परम धर्ममय होनेके कारण उन सबकी अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ है। इसलिये यह 'धर्म्य' है।

प्रश्न—इसे 'अव्ययम्' और 'कर्तुं सुसुखम्' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जैसे सकामकर्म अपना फल देकर समाप्त हो जाता है और जैसे सांसारिक विद्या एक बार पढ़ लेनेके बाद, यदि उसका बार-बार अभ्यास न किया जाय तो नष्ट हो जाती है—भगवान्‌का यह ज्ञान-विज्ञान वैसे नष्ट नहीं हो सकता। इसे जो पुरुष एक बार भलीभाँति प्राप्त कर लेता है, वह फिर कभी किसी भी अवस्थामें इसे भूल नहीं सकता। इसके अतिरिक्त, इसका फल भी अविनाशी है; इसलिये इसे 'अव्यय' कहा गया है। और कोई यह न समझ बैठे कि जब यह इतने महत्त्वकी बात है तो इसके अनुसार आचरण करके इसे प्राप्त करना बहुत ही कठिन होगा, भगवान् कहते हैं कि इसका साधन बहुत ही सुगम है। इसीलिये यहाँ 'कर्तुं सुसुखम्' इन पदोंका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि इस अध्यायमें किये हुए उपदेशके अनुसार भगवान्‌की शरणागति प्राप्त करना बहुत ही सुगम है। क्योंकि इसमें न तो किसी प्रकारके बाहरी आयोजनकी आवश्यकता है और न कोई आयास ही करना पड़ता है। सिद्ध होनेके बादकी बात तो दूर रही, साधनके आरम्भसे ही इसमें साधकोंको परम शान्ति और सुखका अनुभव होने लगता है।

सम्बन्ध—जब विज्ञानसहित ज्ञानकी इतनी महिमा है और इसका साधन भी इतना सुगम है तो फिर सभी मनुष्य इसे धारण क्यों नहीं करते ? इस जिज्ञासापर अश्रद्धाको ही इसमें प्रधान कारण दिखलानेके लिये भगवान् अब इसपर श्रद्धा न करनेवाले मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परन्तप ! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं ॥३॥

प्रश्न–'अस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद किस धर्मका वाचक है तथा उसमें श्रद्धा न करना क्या है ?

उत्तर–पिछले श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानका माहात्म्य बतलाया गया है और इसके आगे पूरे अध्यायमें जिसका वर्णन है, उसीका वाचक यहाँ 'अस्य' विशेषण-के सहित 'धर्मस्य' पद है। इस प्रसंगमें वर्णन किये हुए भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, गुण और महत्त्वको, उनकी प्राप्तिके उपायको और उसके फलको सत्य न मानकर उसमें असम्भावना और विपरीतभावना करना और उसे केवल रोचक उक्ति समझना आदि जो विश्वासविरोधिनी भावनाएँ हैं—वे ही सब उसमें श्रद्धा न करना है।

प्रश्न–'अश्रद्दधानाः' पद किस श्रेणीके मनुष्योंका वाचक है ?

उत्तर–जो लोग भगवान्‌के स्वरूप, गुण, प्रभाव और महत्त्व आदिमें विश्वास न होनेके कारण भगवान्‌की उपर्युक्त भक्तिका कोई साधन नहीं करते और अपने दुर्लभ मनुष्य-जीवनको भोगोंके भोग और उनकी प्राप्तिके विविध उपायोंमें ही व्यर्थ नष्ट करते हैं, उनका वाचक यहाँ 'अश्रद्दधानाः' पद है।

प्रश्न–श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्यु-रूप संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–यह अभिप्राय है कि चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते कभी भगवान्‌की दयासे जीवको इस संसारचक्रसे छूटकर परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यका शरीर मिलता है। ऐसे दुर्लभ मनुष्यशरीरको पाकर भी जो लोग भगवान्‌के वचनोंमें श्रद्धा न रखनेके कारण भजन-ध्यान आदि साधन नहीं करते, वे भगवान्‌को न पाकर फिर उसी जन्म-मृत्युरूप संसारचक्रमें पड़कर पूर्वकी भाँति भटकने लगते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने जिस विज्ञानसहित ज्ञानका उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा की थी तथा जिसका माहात्म्य वर्णन किया था, अब उसका आरम्भ करते हुए वे सबसे पहले दो श्लोकोंमें प्रभावके साथ अपने अव्यक्त-स्वरूपका वर्णन करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बरफके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥४॥

प्रश्न–'अव्यक्तमूर्तिना' पदसे भगवान्‌के किस स्वरूपका लक्ष्य है ?

उत्तर–आठवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसे 'अधियज्ञ', आठवें और दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्यपुरुष', नवें श्लोकमें 'कवि' 'पुराण' आदि, २०वें और २१-वें श्लोकोंमें 'अव्यक्त अक्षर' और २२वें श्लोकमें

भक्तिद्वारा प्राप्त होनेयोग्य 'परम पुरुष' बतलाया है, उसी सर्वव्यापी सगुण निराकार स्वरूपके लक्ष्यसे यहाँ 'अव्यक्तमूर्तिना' पदका प्रयोग हुआ है।

प्रश्न—'इदम्' और 'सर्वम्' विशेषणोंके सहित 'जगत्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—इन विशेषणोंके सहित 'जगत्' पद यहाँ सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंके सहित इस समस्त ब्रह्माण्डका वाचक है।

प्रश्न-अव्यक्तमूर्ति भगवान्‌से समस्त जगत् किस प्रकार व्याप्त है ?

उत्तर—जैसे आकाशसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सुवर्णसे गहने और मिट्टीसे उसके बने हुए बर्तन व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व इसकी रचना करनेवाले सगुण परमेश्वरके निराकाररूपसे व्याप्त है। श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईश० १)

'इस संसारमें जो कुछ चराचर प्राणिवर्ग है, वह सब ईश्वरसे आच्छादनीय (व्याप्त) है।'

प्रश्न—'सर्वभूतानि' पद किसका वाचक है और इन सब भूतोंको भगवान्‌में स्थित बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'भूतानि' पद समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा उनके विषय और वासस्थानोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंका वाचक है। भगवान् ही अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं; उन्होंने ही इस समस्त जगत्‌को अपने किसी अंशमें धारण कर रक्खा है (१०।४२), और एकमात्र वे ही सबके गति, भर्ता, निवासस्थान, आश्रय, प्रभव, प्रलय, स्थान और निधान हैं (९।१८)। इस प्रकार सबकी स्थिति भगवान्‌के अधीन है। इसीलिये सब भूतोंको भगवान्‌में स्थित बतलाया गया है।

प्रश्न—यदि यह सारा जगत् भगवान्‌से परिपूर्ण है, तब फिर 'मैं उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—बादलोंमें आकाशकी भाँति समस्त जगत्‌के अंदर अणु-अणुमें व्याप्त होनेपर भी भगवान् उससे सर्वथा अतीत और सम्बन्धरहित हैं। समस्त जगत्‌का नाश होनेपर भी बादलोंके नाश होनेपर आकाशकी भाँति भगवान् ज्यों-के-त्यों रहते हैं। जगत्‌के नाशसे भगवान्‌का नाश नहीं होता; जिस जगह इस जगत्‌की गन्ध भी नहीं है, वहाँ भी भगवान् अपनी महिमामें स्थित ही हैं। यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने यह बात कही है कि वास्तवमें मैं उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। अर्थात् मैं अपने-आपमें ही नित्य स्थित हूँ।

प्रश्न—'मैं उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ', भगवान्‌के इस कथनका यदि निम्नलिखित भाव माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

जैसे स्वप्नके वे सब जीव और पदार्थ स्वप्नद्रष्टा पुरुषके अंदर होनेसे वह पुरुष उन्हींके अंदर सीमित होकर स्थित नहीं है, बाहर भी है, वैसे ही सारा जगत् भगवान्‌के एक अंशमें होनेके कारण भगवान् उसके अंदर सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी उसीमें सीमित नहीं हैं। इस प्रकार जगत्‌की अपेक्षा महान् और उसका आधार होनेसे वे उसीमें स्थित नहीं हैं।

दूसरे, जैसे स्वप्न देखनेवाले पुरुषको स्वप्नके सब पदार्थ स्वप्नावस्थामें प्रत्यक्ष दीखनेपर भी स्वप्नकी क्रियासे और पदार्थोंसे वस्तुतः उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वह

स्वप्नकी सृष्टिसे सर्वथा अतीत और सम्बन्धरहित है; वह स्वप्न-से पहले भी था, स्वप्नकालमें भी है और स्वप्नका नाश हो जानेके बाद भी रहेगा—वैसे ही भगवान् सर्वदा रहते हैं, सम्पूर्ण जगत्‌का नाश होनेपर भी उनका नाश नहीं होता। बल्कि जहाँ जगत्‌की गन्ध भी नहीं है, वहाँ भी भगवान् तो अपनी महिमामें आप स्थित हैं ही। इस प्रकार उससे सर्वथा अतीत और निर्लेप होनेसे वे उसमें स्थित नहीं हैं।

तीसरे, जैसे स्वप्नके सब पदार्थ वस्तुतः स्वप्नद्रष्टा पुरुषसे अभिन्न और उसके स्वरूप होनेके कारण वह उनके अंदर नहीं है, बल्कि वह ही वह है, उसी प्रकार समस्त जगत् भी भगवान्‌से अभिन्न उनका स्वरूप ही होनेके कारण वे उसके अंदर स्थित नहीं हैं, बल्कि वे ही वे हैं।

इस तरह जगत्‌के आधार एवं उससे अतीत होनेसे और जगत् उनका स्वरूप ही होनेसे, वे जगत्‌में स्थित नहीं हैं। इसीलिये भगवान्‌ने यहाँ यह भाव दिखलाया है कि मैं जगत्‌के अणु-अणुमें व्याप्त होनेपर भी वस्तुतः उनमें नहीं हूँ—वरं अपनी ही महिमामें अटल स्थित हूँ।

उत्तर—कोई आपत्ति नहीं है। अभेदज्ञानकी दृष्टि-से यह भाव भी बहुत ठीक है।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

और वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं किन्तु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है॥ ५॥

प्रश्न—पूर्वश्लोकमें सब भूतोंको भगवान्‌ने अपनेमें स्थित बतलाया और इस श्लोकमें कहते हैं कि वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं। इस विरुद्ध उक्तिका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ इस विरुद्ध उक्तिका प्रयोग करके और साथ ही अर्जुनको अपनी ईश्वरीय योगशक्ति देखनेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन! तुम मेरी असाधारण योगशक्तिको देखो! यह कैसा आश्चर्य है कि आकाशमें बादलोंकी भाँति समस्त जगत् मुझमें स्थित भी है और नहीं भी है। यह सारा जगत् मेरी ही योगशक्तिसे उत्पन्न है और मैं ही इसका आधार हूँ, इसलिये तो सब भूत मुझमें स्थित हैं और ऐसा होते हुए भी मैं इनसे सर्वथा अतीत हूँ, इसलिये ये मुझमें स्थित नहीं हैं। अतएव जबतक मनुष्यकी दृष्टि-में जगत् है, तबतक सब कुछ मुझमें ही है; मेरे सिवा इस जगत्‌का कोई दूसरा आधार है ही नहीं। जब मेरा साक्षात् हो जाता है तब उसकी दृष्टिमें मुझसे भिन्न कोई वस्तु रह नहीं जाती, उस समय मुझमें यह जगत् नहीं है।

प्रश्न—इस विरुद्ध उक्तिके सम्बन्धमें भगवान्‌का निम्न-लिखित अभिप्राय माना जाय तो क्या दोष है?

इस विरुद्ध उक्तिसे भगवान् अपने पूर्वकथित सिद्धान्त-की ही पुष्टि कर रहे हैं। जब स्वप्नकी सृष्टिकी भाँति सारा जगत् भगवान्‌के सङ्कल्पके आधारपर ही है, वस्तुतः भगवान्‌से भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं, तब यह कहना ठीक ही है कि वे सब भूत भी मुझमें नहीं हैं। फिर यह सारी सृष्टि दीखती कैसे है, इसका रहस्य क्या है, इस शङ्काके निवारणार्थ भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! यह मेरी असाधारण योगशक्तिका चमत्कार है, देखो! कैसा आश्चर्य है। सारा जगत् मुझमें दीखता भी है, और वस्तुतः मेरे सिवा और कुछ है भी नहीं। अभिप्राय यह है कि जबतक मनुष्यकी दृष्टिमें जगत् है तबतक

सब कुछ मुझमें ही स्थित है, मेरे सिवा इस जगत्का कोई अन्य आधार है ही नहीं । और वास्तवमें मैं ही सब कुछ हूँ, मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । जब साधकको मेरा साक्षात् हो जाता है, तब उसे यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है; फिर उसकी दृष्टिमें मुझसे भिन्न और कोई वस्तु रहती ही नहीं । इसलिये वे सब भूत वस्तुतः मुझमें स्थित नहीं हैं ।

उत्तर—कोई दोष नहीं है । अभेदज्ञानकी दृष्टिसे यह भी ठीक ही है ।

प्रश्न—'ऐश्वरम्' और 'योगम्' पद किसके वाचक हैं ? और इनको देखनेके लिये कहकर भगवान्ने इस श्लोकमें कही हुई किस बातको देखनेके लिये कहा है ?

उत्तर—सबके उत्पादक और सबमें व्याप्त रहते हुए तथा सबका धारण-पोषण करते हुए भी सबसे सर्वथा निर्लिप्त रहनेकी जो अद्भुत प्रभावमयी शक्ति है, जो ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीमें हो ही नहीं सकती, उसीका यहाँ 'ऐश्वरम् योगम्' इन पदोंद्वारा प्रतिपादन किया गया है । और इन दो श्लोकोंमें कही हुई सभी बातोंको लक्ष्यमें रखकर भगवान्ने अर्जुनको अपना 'ईश्वरीय योग' देखनेके लिये कहा है ।

प्रश्न—'भूतभृत्' और 'भूतभावनः' इन दोनों पदोंका क्या अभिप्राय है ? 'मम आत्मा' शब्द किसके वाचक हैं और 'भूतस्थः न' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो भूतोंका धारण-पोषण करे, उसे 'भूतभृत्' कहते हैं; और जो भूतोंको उत्पन्न करे, उसे 'भूतभावन' कहते हैं । 'मम आत्मा' से भगवान्के सगुण निराकार स्वरूपका निर्देश है । तात्पर्य यह है भगवान्के इस सगुण निराकार स्वरूपसे ही समस्त जगत्की उत्पत्ति और उसका धारण-पोषण होता है, इसलिये उसे 'भूतभावन' और 'भूतभृत्' कहा गया है । इतना होनेपर भी वास्तवमें भगवान् इस समस्त जगत्से अतीत हैं, यही दिखलानेके लिये 'भूतस्थः न' (वह भूतोंमें स्थित नहीं है) ऐसा कहा गया है ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने समस्त भूतोंको अपने अव्यक्तरूपसे व्याप्त और उसीमें स्थित बतलाया । अतः इस विषयको स्पष्ट जाननेकी इच्छा होनेपर अब दृष्टान्तद्वारा भगवान् उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान ॥६॥

प्रश्न—यहाँ वायुको 'सर्वत्रग' और 'महान्' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भूतप्राणियोंके साथ वायुका सादृश्य दिखलानेके लिये उसे 'सर्वत्रग' और 'महान्' कहा गया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वायु सर्वत्र विचरने-वाला है, उसी प्रकार सब भूत भी नाना योनियोंमें भ्रमण करनेवाले हैं और जिस प्रकार वायु 'महान्' अर्थात् अत्यन्त विस्तृत है, उसी प्रकार भूत-समुदाय भी बहुत विस्तारवाला है ।

प्रश्न—यहाँ 'नित्यम्' पदका प्रयोग करके वायुको

सदा आकाशमें स्थित बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वायु आकाशसे ही उत्पन्न होता है, आकाशमें ही स्थित रहता है और आकाशमें ही लीन हो जाता है—यही भाव दिखलानेके लिये 'नित्यम्' पदका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि सब अवस्थाओंमें और सब समय वायुका आधार आकाश ही है।

प्रश्न—जैसे वायु आकाशमें स्थित है, उसी प्रकार सब भूत मुझमें स्थित हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—आकाशकी भाँति भगवान्‌को सम, निराकार, अकर्ता, अनन्त, असंग और निर्विकार तथा वायुकी भाँति समस्त चराचर भूतोंको भगवान्‌से ही उत्पन्न, उन्हींमें स्थित और उन्हींमें लीन होनेवाले बतलानेके लिये ऐसा कहा गया है। जैसे वायुकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आकाशमें ही होनेके कारण वह कभी किसी भी अवस्थामें आकाशसे अलग नहीं रह सकता, सदा ही आकाशमें स्थित रहता है, एवं ऐसा होनेपर भी आकाशका वायुसे और उसके गमनादि विकारोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वह सदा ही उससे अतीत है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भगवान्‌के संकल्पके आधार होनेके कारण समस्त भूत-समुदाय सदा भगवान्‌में ही स्थित रहता है; तथापि भगवान् उन भूतोंसे सर्वथा अतीत हैं और भगवान्‌में सदा ही सब प्रकारके विकारोंका सर्वथा अभाव है।

सम्बन्ध—विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने यहाँतक प्रभावसहित अपने निराकार स्वरूपका तत्त्व समझानेके लिये उसकी व्यापकता, असङ्गता और निर्विकारताका प्रतिपादन किया। अब अपने भूतभृत् और भूतभावन स्वरूपका स्पष्टीकरण करते हुए सृष्टिरचनादि कर्मोंका तत्त्व समझानेके लिये पहले दो श्लोकोंद्वारा कल्पोंके अन्तमें सब भूतोंका प्रलय और कल्पोंके आदिमें उनकी उत्पत्तिका प्रकार बतलाते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

हे अर्जुन! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ॥ ७॥

प्रश्न—'कल्पक्षय' किस समयका वाचक है ?

उत्तर—ब्रह्माके एक दिनको 'कल्प' कहते हैं और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। इस अहोरात्रके हिसाबसे जब ब्रह्माके सौ वर्ष पूरे होकर ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जाती है, उस कालका वाचक यहाँ 'कल्पक्षय' है; वही कल्पोंका अन्त है। इसीको 'महाप्रलय' भी कहते हैं।

प्रश्न—'सर्वभूतानि' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, समस्त भोगवस्तु और वासस्थानके सहित चराचर प्राणियोंका वाचक 'सर्वभूतानि' पद है।

प्रश्न—'प्रकृतिम्' पद किसका वाचक है ? उसके साथ 'मामिकाम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है और उस प्रकृतिको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—समस्त जगत्‌की कारणभूता जो मूल-प्रकृति है, जिसे चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें 'महद्ब्रह्म' कहा है, तथा जिसे अव्याकृत या प्रधान

भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'प्रकृतिम्' पद है। वह प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है, इसी बातको दिखलानेके लिये उसके साथ 'मामिकाम्' यह विशेषण दिया गया है। कल्पोंके अन्तमें समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और लोकोंके सहित समस्त प्राणियोंका प्रकृतिमें लय हो जाना—अर्थात् उनके गुण-कर्मोंके संस्कार-समुदायरूप कारणशरीरका भी मूल-प्रकृतिमें विलीन हो जाना ही 'सब भूतोंका प्रकृतिको प्राप्त होना' है।

प्रश्न—आठवें अध्यायके १८ वें और १९ वें श्लोकोंमें जिस 'अव्यक्त' से सब भूतोंकी उत्पत्ति बतलायी गयी है, और जिसमें सबका लय होना बतलाया गया है, उस 'अव्यक्त' में और इस प्रकृतिमें क्या भेद है? तथा वहाँके लयमें और यहाँके लयमें क्या अन्तर है?

उत्तर—वहाँ 'अव्यक्त' शब्द प्रकृतिके निराकार—सूक्ष्म स्वरूपका वाचक है, मूलप्रकृतिका नहीं। उसमें समस्त भूत अपने 'सूक्ष्म-शरीर' के सहित लीन होते हैं, और इसमें 'कारण-शरीर' के सहित लीन होते हैं। उसमें ब्रह्मा लीन नहीं होते, वे सोते हैं; और इसमें स्वयं ब्रह्मा भी लीन हो जाते हैं। इस प्रकार वहाँके प्रलयमें और यहाँके प्रलयमें बहुत अन्तर है।

प्रश्न—सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें तो भगवान्‌ने समस्त जगत्‌का 'प्रलय-स्थान' स्वयं अपनेको बतलाया है, और यहाँ सबका प्रकृतिमें लीन होना कहते हैं। इन दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है?

उत्तर—दोनों ही ठीक हैं। वस्तुतः दोनों जगह एक ही बात कही गयी है। पहले कहा जा चुका है कि प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है और शक्ति कभी शक्तिमान्‌से भिन्न नहीं होती। अतएव प्रकृतिमें लय होना भगवान्‌में ही लीन होना है। इसलिये यहाँ प्रकृतिमें लीन होना बतलाया है। और प्रकृति भगवान्‌की है तथा वह भगवान्‌में ही स्थित है, इसलिये भगवान् ही समस्त जगत्‌के प्रलयस्थान हैं। इस प्रकार दोनोंका अभिप्राय एक ही है।

प्रश्न—'कल्पादि' शब्द किस समयका वाचक है और उस समय सब भूतोंको भगवान्‌का रचना क्या है?

उत्तर—कल्पोंका अन्त होनेके बाद ब्रह्माके सौ वर्षके बराबर समय पूरा होनेपर जब पुनः जीवोंके कर्मोंका फल भुगतानेके लिये जगत्‌का विस्तार करनेकी भगवान्‌की इच्छा होती है, उस कालका वाचक 'कल्पादि' शब्द है। इसे महासर्गका आदि भी कहते हैं। उस समय जो भगवान्‌का सब भूतोंकी उत्पत्तिके लिये अपने संकल्पके द्वारा हिरण्यगर्भ ब्रह्माको उनके लोकसहित उत्पन्न कर देना है, यही उनका सब भूतोंको रचना है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

अपनी प्रकृतिको अङ्गीकार करके स्वभावके बलसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ॥ ८॥

प्रश्न—'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद किसका वाचक है? और भगवान्‌का उसको अङ्गीकार करना क्या है?

उत्तर—पिछले श्लोकमें जिस मूल-प्रकृतिमें सब भूतोंका लय होना बतलाया है, उसीका वाचक यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद है। तथा सृष्टिरचनादि कार्यके लिये भगवान्‌का जो शक्तिरूपसे अपने अंदर स्थित प्रकृतिको स्मरण करना है, वही उसे स्वीकार करना है।

प्रश्न--'इमम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषणोंके सहित 'भूतग्रामम्' पद किसका वाचक है और उसका स्वभावके बलसे परतन्त्र होना क्या है ?

उत्तर--पहले 'सर्वभूतानि' के नामसे जिनका वर्णन हो चुका है, उन समस्त चराचर भूतोंके समुदायका वाचक 'इमम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषणोंके सहित 'भूत-ग्रामम्' पद है। उन भिन्न-भिन्न प्राणियोंका जो अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार बना हुआ स्वभाव है, वही उनकी प्रकृति है। भगवान्की प्रकृति समष्टि-प्रकृति है, और जीवोंकी प्रकृति उसीकी एक अंश-भूता व्यष्टि-प्रकृति है। उस व्यष्टि-प्रकृतिके बन्धनमें पड़े रहना ही उसके बलसे परतन्त्र होना है।

जो मनुष्य भगवान्की शरण ग्रहण करके उस प्रकृतिके बन्धनको काट डालते हैं, वे उसके वशमें नहीं रहते; वे प्रकृतिके पार भगवान्के पास पहुँचकर भगवान्को प्राप्त हो जाते हैं (७। १४)।

प्रश्न--यहाँ 'पुनः' पदके दो बार प्रयोग करनेका और 'विसृजामि' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर--'पुनः' पदका दो बार प्रयोग करके तथा 'विसृजामि' पदसे भगवान्ने यह बात दिखलायी है कि जबतक जीव अपनी उस प्रकृतिके वशमें रहते हैं, तबतक मैं उनको बार-बार इसी प्रकार प्रत्येक कल्पके आदिमें उनके भिन्न-भिन्न गुण-कर्मोंके अनुसार नाना योनियोंमें उत्पन्न करता रहता हूँ।

सम्बन्ध--इस प्रकार जगत्-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंके बन्धनमें क्यों नहीं पड़ते, अब यही तत्त्व समझानेके लिये भगवान् कहते हैं--

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

हे अर्जुन ! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित हुए मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते॥ ९॥

प्रश्न--'उन कर्मों' से कौन-से कर्मोंका लक्ष्य है तथा उनमें भगवान्का 'आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित रहना' क्या है ?

उत्तर--सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार आदिके निमित्त भगवान्के द्वारा जितनी भी चेष्टाएँ होती हैं, जिनका पूर्वश्लोकमें संक्षेपमें वर्णन हो चुका है, 'उन कर्मों' से यहाँ उन्हीं सब चेष्टाओंका लक्ष्य है। भगवान्का उन कर्मोंमें या उनके फलमें किसी प्रकार भी आसक्त न होना--'आसक्तिरहित रहना' है; और कर्तृत्वाभिमानसे तथा पक्षपातसे रहित होकर केवल अध्यक्षतामात्रसे प्राणियोंके गुण-कर्मानुसार उनकी उत्पत्ति आदिके लिये चेष्टा करना--'उन कर्मोंमें उदासीनके सदृश स्थित रहना' है।

प्रश्न--भगवान्ने जो अपनेको 'आसक्तिरहित' और 'उदासीनके सदृश स्थित' बतलाया है और यह कहा है कि वे कर्म मुझे नहीं बाँधते, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर--इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि कर्म और उनके फलमें आसक्त न होने एवं उनमें कर्तृत्वाभिमान और पक्षपातसे रहित रहनेके कारण ही वे कर्म मुझे बाँधनेवाले नहीं होते।

अन्य लोगोंके लिये भी जन्म-मरण, हर्ष-शोक और सुख-दुःख आदि कर्मफलरूप बन्धनोंसे छूटनेका यही

सरल उपाय है। जो मनुष्य इस तत्त्वको समझकर इस प्रकार फलासक्ति या कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर कर्म करता है, वह अनायास ही कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

सम्बन्ध—'उदासीनवदासीनम्' इस पदसे भगवान्‌में जो कर्तापनका अभाव दिखलाया गया, अब उसीको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति चराचरसहित सर्वजगत्‌को रचती है और इस हेतुसे ही यह संसारचक्र घूम रहा है ॥ १० ॥

प्रश्न—'मया' पदके साथ 'अध्यक्षेण' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जगत्-रचनादि कार्योंके करनेमें मैं केवल अपनी प्रकृतिको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले अधिष्ठाताके रूपमें स्थित रहता हूँ और मुझ अधिष्ठातासे सत्ता-स्फूर्ति पाकर मेरी प्रकृति ही जगत्-रचनादि समस्त क्रियाएँ करती है।

प्रश्न—भगवान्‌की अध्यक्षतामें प्रकृति सचराचर जगत्‌को किस प्रकार उत्पन्न करती है?

उत्तर—जिस प्रकार किसान अपनी अध्यक्षतामें पृथ्वीके साथ स्वयं बीजका सम्बन्ध कर देता है, फिर पृथ्वी उन बीजोंके अनुसार भिन्न-भिन्न पौधोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार भगवान् अपनी अध्यक्षतामें चेतनसमूहरूप बीजका प्रकृतिरूपी भूमिके साथ सम्बन्ध कर देते हैं (१४।३)। इस प्रकार जड-चेतनका संयोग कर दिये जानेपर यह प्रकृति समस्त चराचर जगत्‌को कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न कर देती है।

यह दृष्टान्त केवल समझनेके लिये ही दिया गया है, वस्तुतः भगवान्‌के साथ ठीक-ठीक नहीं घटता; क्योंकि किसान अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और एकदेशीय है तथा वह अपनी शक्ति देकर जमीनसे कुछ करवा भी नहीं सकता। परन्तु भगवान् तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी हैं तथा उन्हींकी शक्ति तथा सत्ता-स्फूर्ति पाकर प्रकृति सम्पूर्ण जगत्‌को उत्पन्न करती है।

प्रश्न—इसी हेतुसे यह जगत् आवागमनरूप चक्रमें घूम रहा है, इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि मुझ भगवान्‌की अध्यक्षता और प्रकृतिका कर्तृत्व—इन्हीं दोनोंके द्वारा चराचरसहित समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आदि समस्त क्रियाएँ हो रही हैं।

प्रश्न—चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें और इस अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने यह कहा है कि 'मैं उन भूतोंको भिन्न-भिन्न स्वरूपोंमें रचता हूँ' और इस श्लोकमें यह कहते हैं कि 'चराचर प्राणियोंके सहित समस्त जगत्‌को प्रकृति रचती है।' इन दोनों वर्णनोंका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जहाँ भगवान्‌ने अपनेको जगत्‌का रचयिता बतलाया है, वहाँ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि वस्तुतः भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते, वे अपनी शक्ति प्रकृतिको स्वीकार करके उसीके द्वारा जगत्‌की रचना करते हैं और जहाँ प्रकृतिको सृष्टि-रचनादि कार्य

करनेवाली कहा गया है, वहाँ उसीके साथ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि भगवान्की अध्यक्षतामें उनसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति सब कुछ करती है। जबतक उसे भगवान्का सहारा नहीं मिलता तबतक वह कुछ भी नहीं कर सकती। इसीलिये आठवें श्लोकमें यह कहा है कि 'मैं अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके जगत्की रचना करता हूँ' और इस श्लोकमें यह कहते हैं कि 'मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति जगत्की रचना करती है।' वस्तुतः दो तरहकी युक्तियों-से एक ही तत्त्व समझाया गया है।

सम्बन्ध—अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्ने चौथेसे छठे श्लोकतक प्रभावसहित सगुण-निराकार स्वरूपका तत्त्व और प्रभाव समझाया। फिर सातवेंसे दसवें श्लोकतक सृष्टि-रचनादि समस्त कर्मोंमें अपनी असङ्गता और निर्विकारता दिखलाकर उन कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व बतलाया। अब अपने सगुण साकार रूपका महत्त्व, उसकी भक्तिका प्रकार और उसके गुण और प्रभावका तत्त्व समझानेके लिये पहले दो श्लोकोंमें उसके प्रभावको न जाननेवाले असुर-प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥११॥

मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं, अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं॥११॥

प्रश्न—'परम्' विशेषणके सहित 'भावम्' पद किसका वाचक है और उसको न जानना क्या है?

उत्तर—चौथेसे छठे श्लोकतक भगवान्के जिस 'सर्वव्यापकत्व' आदि प्रभावका वर्णन किया गया है, जिसको 'ऐश्वर योग' कहा है, तथा सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें जिस 'पर भाव' को न जाननेकी बात कही है, भगवान्के उस सर्वोत्तम प्रभावका ही वाचक यहाँ 'परम्' विशेषणके सहित 'भावम्' पद है। सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सबके हर्ता-कर्ता परमेश्वर ही सब जीवोंपर अनुग्रह करके सबको अपनी शरण प्रदान करने और धर्म-संस्थापन, भक्त-उद्धार आदि अनेकों लीला-कार्य करनेके लिये अपनी योगमायासे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए हैं (४।६-७-८)—इस रहस्यको न समझना और इसपर विश्वास न करना ही उस परम भावको न जानना है।

प्रश्न—'मूढाः' पद किस श्रेणीके मनुष्योंको लक्ष्य करके कहा गया है और उनके द्वारा मनुष्य-शरीरधारी भूतमहेश्वर भगवान्की अवज्ञा करना क्या है?

उत्तर—अगले श्लोकमें जिनको राक्षसों और असुरों-की प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले कहा है, सातवें अध्यायके १५वें श्लोकमें जिनका वर्णन हुआ है और सोलहवें अध्यायके चौथे तथा ७वेंसे २०वें श्लोकतक जिनके विविध लक्षण बतलाये गये हैं, ऐसे ही आसुरी सम्पदावाले मनुष्योंके लिये 'मूढाः' पदका प्रयोग हुआ है। भगवान्के उपर्युक्त प्रभावको न जाननेके कारण ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त समस्त प्राणियोंके महान् ईश्वर

भगवान्‌को अपने-जैसा ही एक साधारण मनुष्य मानना एवं इसी कारण उनकी आज्ञा आदिका पालन न करना तथा उनपर अनर्गल दोषारोपण करना—यही उनकी अवज्ञा करना है* ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिको ही धारण किये हुए हैं ॥ १२ ॥

प्रश्न—'मोघाशाः' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिनकी आशाएँ (कामनाएँ) व्यर्थ हों, उनको 'मोघाशाः' कहते हैं । भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले आसुर मनुष्य ऐसी निरर्थक आशा करते रहते हैं, जो कभी पूर्ण नहीं होतीं (१६ । १२) । इसीलिये उनको 'मोघाशाः' कहते हैं ।

प्रश्न—'मोघकर्माणः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनके यज्ञ, दान और तप आदि समस्त कर्म व्यर्थ हों, शास्त्रोक्त फल देनेवाले न हों, उनको 'मोघकर्माणः' कहते हैं । भगवान् और शास्त्रोंपर विश्वास न करनेवाले विषयी लोग शास्त्रविधिका त्याग करके अश्रद्धापूर्वक जो मनमाने यज्ञादि कर्म करते हैं, उन कर्मोंका उन्हें इस लोक या परलोकमें कुछ भी फल नहीं मिलता । इसीलिये उनको 'मोघकर्माणः' कहा गया है । (१६ । २३; १७ । २८)

प्रश्न—'मोघज्ञानाः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनका ज्ञान व्यर्थ हो, तात्त्विक अर्थसे शून्य हो और युक्तियुक्त न हो (१८ । २२), उनको 'मोघज्ञानाः' कहते हैं । भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले मनुष्य सांसारिक भोगोंको सत्य और सुखप्रद समझकर

---

* पितामह भीष्मने भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ब्रह्माजीका और देवताओंका एक संवाद सुनाया है । उससे श्रीकृष्णके प्रभावका पता लगता है । ब्रह्माजी देवताओंको सावधान करते हुए कहते हैं—

'सब लोकोंके महान् ईश्वर भगवान् वासुदेव तुम सबके पूजनीय हैं । उन महान् वीर्यवान् शङ्ख-चक्र-गदाधारी वासुदेवको मनुष्य समझकर कभी उनकी अवज्ञा न करना । वे ही परम गुह्य, परम पद, परम ब्रह्म और परम यशःस्वरूप हैं । वे ही अक्षर हैं, अव्यक्त हैं, सनातन हैं, परम तेज हैं, परम सुख हैं, और परम सत्य हैं । देवता, इन्द्र और मनुष्य, किसीको भी उन अमितपराक्रमी प्रभु वासुदेवको मनुष्य मानकर उनका अनादर नहीं करना चाहिये । जो मूढ़मति लोग उन हृषीकेशको मनुष्य बतलाते हैं, वे नराधम हैं । जो मनुष्य इन महात्मा योगेश्वरको मनुष्यदेहधारी मानकर इनका अनादर करते हैं और जो इन चराचरके आत्मा श्रीवत्सके चिह्नवाले महान् तेजस्वी पद्मनाभ भगवान्‌को नहीं पहचानते, वे तामसी प्रकृतिसे युक्त हैं । जो इन कौस्तुभ-किरीटधारी और मित्रोंको अभय करनेवाले भगवान्‌का अपमान करता है, वह अत्यन्त भयानक नरकमें पड़ता है ।

एवं विदित्वा तत्त्वार्थं लोकानामीश्वरेश्वरः ।
वासुदेवो नमस्कार्यः सर्वलोकैः सुरोत्तमाः ॥ (महा० भीष्म० ६६ । २३)

'हे श्रेष्ठ देवताओ ! इस प्रकार उनके तात्त्विक स्वरूपको जानकर सब लोगोंको लोकोंके ईश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् वासुदेवको प्रणाम करना चाहिये ।'

उन्हींके परायण रहते हैं। वे भ्रमवश समझते हैं कि इन भोगोंको भोगना ही परम सुख है, इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है (१६। ११)। इसी कारण वे सच्चे सुखकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं। इसीलिये उन्हें 'मोघज्ञानाः' कहा है। ऐसे लोग अपनी ज्ञान-शक्तिका दुरुपयोग करके उसे व्यर्थ ही नष्ट करते हैं।

प्रश्न–'विचेतसः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–जिनका चित्त विक्षिप्त हो, संसारकी भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें आसक्त रहनेके कारण स्थिर न रहता हो, उन्हें 'विचेतसः' कहते हैं। आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंका मन प्रतिक्षण भाँति-भाँतिकी कल्पनाएँ करता रहता है। इसलिये उन्हें 'विचेतसः' कहा गया है।

प्रश्न–'राक्षसीम्', 'आसुरीम्' और 'मोहिनीम्'–इन विशेषणोंके सहित 'प्रकृतिम्' पदका क्या भाव है ? और उसको धारण किये रहना क्या है ?

उत्तर–राक्षसोंकी भाँति विना ही कारण द्वेष करके जो दूसरोंके अनिष्ट करनेका और उन्हें कष्ट पहुँचानेका स्वभाव है, उसे 'राक्षसी प्रकृति' कहते हैं। काम और लोभके वश होकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरोंको क्लेश पहुँचाने और उनके स्वत्व हरण करनेका जो स्वभाव है, उसे 'आसुरी प्रकृति' कहते हैं। और प्रमाद या मोहके कारण किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचानेका जो स्वभाव है उसे 'मोहिनी प्रकृति' कहते हैं। ऐसे दुष्ट स्वभावका त्याग करनेके लिये चेष्टा न करना वरं उसीको उत्तम समझते रहना ही 'उसे धारण करना' है। भगवान्के प्रभावको न जाननेवाले मनुष्य प्रायः ऐसा ही करते हैं, इसीलिये उनको उक्त प्रकृतियोंके आश्रित बतलाया है।

प्रश्न–यहाँ 'एव'के प्रयोगसे क्या तात्पर्य है ?

उत्तर–'एव' से यह भाव दिखलाया गया है कि वे ऐसे आसुर स्वभावके ही आश्रित रहते हैं, दैवी प्रकृतिका आश्रय नहीं लेते।

सम्बन्ध–भगवान्का प्रभाव न जाननेवाले आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करके अब सगुणरूपकी भक्तिका तत्त्व समझानेके लिये भगवान्के प्रभावको जाननेवाले, दैवी प्रकृतिके आश्रित, उच्च श्रेणीके अनन्य भक्त-साधकोंके लक्षण बतलाते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं ॥ १३ ॥

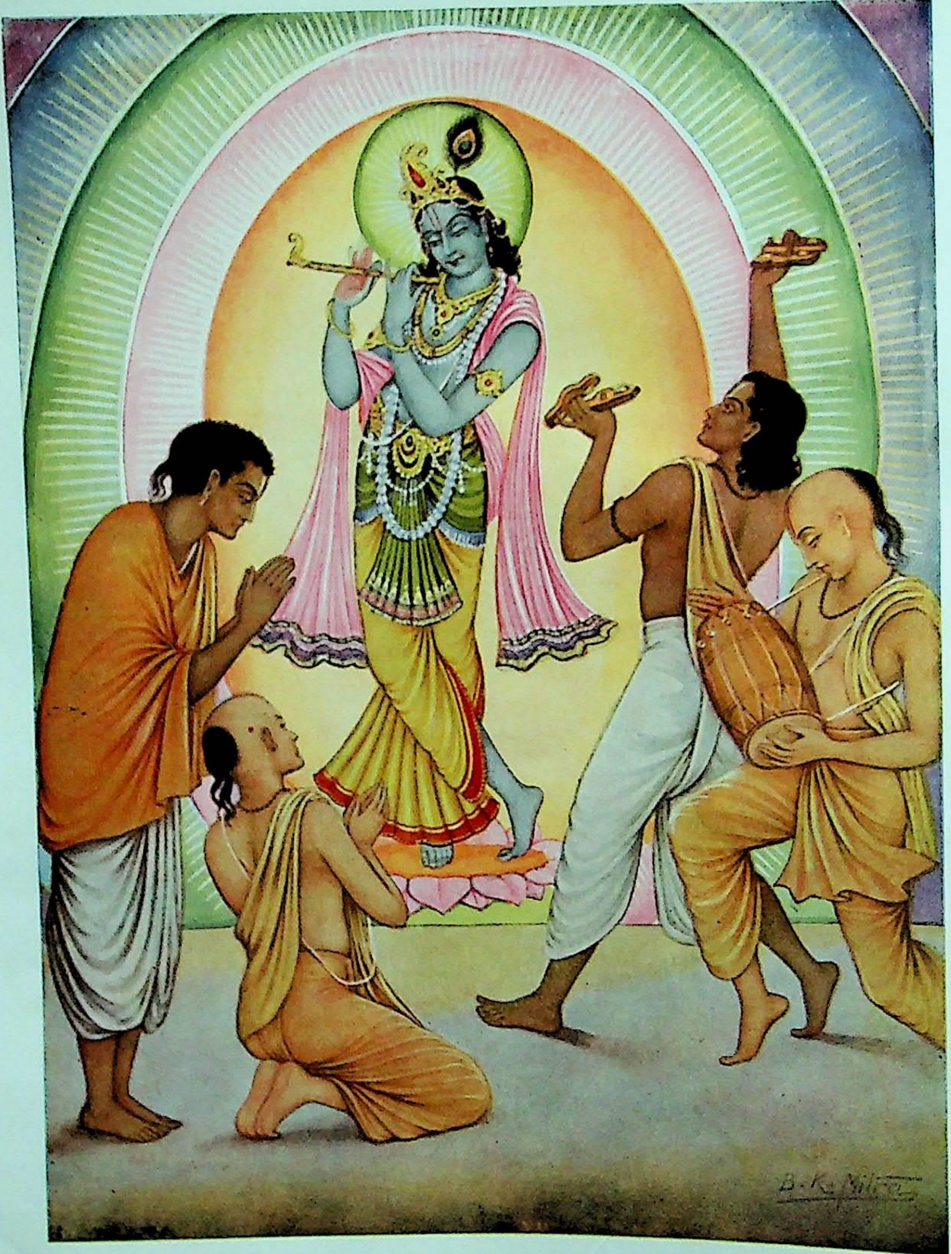
प्रश्न–यहाँ 'तु' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–११वें और १२वें श्लोकोंमें जिन निम्न श्रेणीके मूढ़ और आसुर मनुष्योंका वर्णन किया गया है, उनसे सर्वथा विलक्षण उच्च श्रेणीके पुरुषोंका इस श्लोकमें वर्णन है–यही भाव दिखलानेके लिये 'तु' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न–'दैवीम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद किसका वाचक है और 'उसके आश्रित होना' क्या है ?

उत्तर–देव अर्थात् भगवान्से सम्बन्ध रखनेवाले और उनकी प्राप्ति करा देनेवाले जो सात्त्विक गुण हैं, सोलहवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक जिनका अभय आदि २६ नामोंसे वर्णन किया गया है, उन

भजन करनेवाले भक्त



सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः । नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
(९ । १४)

सद्गुणोंका वाचक यहाँ 'दैवीम्' इस विशेषणके साथ 'प्रकृतिम्' पद है। उन गुणोंको अपने अंदर भलीभाँति धारण कर लेना ही 'दैवी प्रकृतिके आश्रित होना' है।

प्रश्न—'महात्मानः' पदका प्रयोग किस श्रेणीके पुरुषोंके लिये किया गया है?

उत्तर—जिनका आत्मा महान् हो, उन्हें 'महात्मा' कहते हैं। महान् आत्मा वही है जो अपने महान् लक्ष्य भगवान्की प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे भगवान्की ओर लग गया है; अतएव यहाँ 'महात्मानः' पदका प्रयोग उन निष्काम अनन्य प्रेमी भगवद्भक्तोंके लिये किया गया है, जो भगवत्प्रेममें सदा सराबोर रहते हैं और भगवत्प्राप्तिके सर्वथा योग्य हैं।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पद भगवान्के किस रूपका वाचक है तथा उनको 'सब भूतोंका आदि' और 'अविनाशी' समझना क्या है?

उत्तर—'माम्' पद यहाँ भगवान्के सगुण पुरुषोत्तम-रूपका वाचक है। उस सगुण परमेश्वरसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और सम्पूर्ण लोकोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है (७।६; ९।१८; १०।२, ४,५,६,८)—इस तत्त्वको सम्यक् प्रकारसे समझ लेना ही भगवान्को 'सब भूतोंका आदि' समझना है। और वे भगवान् अजन्मा तथा अविनाशी हैं, केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही लीलासे मनुष्य आदि रूपमें प्रकट और अन्तर्धान होते हैं; जिसे अक्षर, अविनाशी परब्रह्म परमात्मा कहते हैं, वह निर्गुण ब्रह्म भी इन भगवान्का ही स्वरूप है (१४।२७) और समस्त भूतोंका नाश होनेपर भी भगवान्का नाश नहीं होता (८।२०)—इस बातको यथार्थतः समझना ही 'भगवान्को अविनाशी समझना' है।

प्रश्न—'अनन्यमनसः' पद किस अवस्थामें पहुँचे हुए भक्तोंका वाचक है और वे भगवान्को कैसे भजते हैं?

उत्तर—जिनका मन भगवान्के सिवा अन्य किसी भी वस्तुमें नहीं रमता और क्षणमात्रका भी भगवान्का वियोग जिनको असह्य प्रतीत होता है, ऐसे भगवान्के अनन्यप्रेमी भक्तोंका वाचक यहाँ 'अनन्यमनसः' पद है। ऐसे भक्त अगले श्लोकमें तथा दसवें अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाये हुए प्रकारसे निरन्तर भगवान्को भजते रहते हैं।

सम्बन्ध—अब पूर्वश्लोकमें वर्णित भगवत्प्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥१४॥

वे दृढ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं॥१४॥

प्रश्न—'दृढव्रताः' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिनका व्रत या निश्चय दृढ होता है, उनको 'दृढव्रताः' कहते हैं। भगवान्के प्रेमी भक्तोंका निश्चय, उनकी श्रद्धा, उनके विचार और नियम—सभी अत्यन्त दृढ होते हैं। बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों और प्रबल विघ्नोंके समूह भी उन्हें अपने साधन और विचारसे विचलित

नहीं कर सकते । इसीलिये उनको 'दृढव्रताः' (दृढ निश्चयवाले) कहा गया है ।

प्रश्न—'सततम्' पदका क्या अभिप्राय है ? इसका सम्बन्ध केवल 'कीर्तयन्तः' के साथ है या 'यतन्तः' और 'नमस्यन्तः' के साथ भी है ?

उत्तर—'सततम्' पद यहाँ 'नित्य-निरन्तर' समयका वाचक है। और इसका खास सम्बन्ध उपासनाके साथ है । कीर्तन-नमस्कारादि सब उपासनाके ही अङ्ग होनेके कारण प्रकारान्तरसे उन सबके साथ भी इसका सम्बन्ध है । अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के प्रेमी भक्त कभी कीर्तन करते हुए, कभी नमस्कार करते हुए, कभी सेवा आदि प्रयत्न करते हुए तथा सदा-सर्वदा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए निरन्तर उनकी उपासना करते रहते हैं ।

प्रश्न—भगवान्‌का कीर्तन करना क्या है ?

उत्तर—कथा, व्याख्यान आदिके द्वारा भक्तोंके सामने भगवान्‌के गुण, प्रभाव, महिमा और चरित्र आदिका वर्णन करना; अकेले अथवा दूसरे बहुत-से लोगोंके साथ मिलकर, भगवान्‌को अपने सम्मुख समझते हुए राम, कृष्ण, गोविन्द, हरि, नारायण, वासुदेव, केशव, माधव, शिव, दुर्गा आदि उनके पवित्र नामोंका जप अथवा उच्चस्वरसे कीर्तन करना; भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक, धीरे-धीरे या जोरसे, खड़े या बैठे, वाद्य-नृत्यके साथ अथवा विना वाद्य-नृत्यके, गायन करना, और दिव्य स्तोत्र तथा सुन्दर पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना आदि भगवन्नाम-गुणगानसम्बन्धी सभी चेष्टाएँ कीर्तनके अन्तर्गत हैं ।

प्रश्न—'यतन्तः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उत्साह और तत्परताके साथ भगवान्‌की पूजा करना, सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी सेवा करना और भगवान्‌के भक्तोंद्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रवण करना आदि भगवान्‌की भक्तिके जिन अंगोंका अन्य पदोंसे कथन नहीं किया गया है, उन सबको 'यतंन्तः' से समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—भगवान्‌को बार-बार प्रणाम करना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अर्चा-विग्रहरूप भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणाम करना; अपने घरमें भगवान्‌की प्रतिमा या चित्रपटको, भगवान्‌के नामोंको, भगवान्‌के चरण और चरण-पादुकाओंको, भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभाव और उनकी मधुर लीलाओंका जिनमें वर्णन हो—ऐसे सब ग्रन्थोंको एवं सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या सबके हृदयमें भगवान् विराजित हैं—ऐसा जानकर सम्पूर्ण प्राणियोंको यथायोग्य विनयपूर्वक श्रद्धा-भक्तिके साथ गद्‌गद होकर मन, वाणी और शरीरके द्वारा नमस्कार करना—'यही भगवान्‌को प्रणाम करना' है ।

प्रश्न—'नित्ययुक्ताः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—जो चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और सब कुछ करते समय तथा एकान्तमें ध्यान करते समय नित्य-निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते रहते हैं उन्हें 'नित्ययुक्ताः' कहते हैं ।

प्रश्न—'भक्त्या' पदका क्या अभिप्राय है और उसके द्वारा भगवान्‌की उपासना करना क्या है ?

उत्तर—श्रद्धायुक्त अनन्य प्रेमका नाम भक्ति है । इसलिये श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ उपर्युक्त साधनोंको निरन्तर करते रहना ही भक्तिद्वारा भगवान्‌की उपासना करना है ।

सम्बन्ध—भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिको जाननेवाले अनन्य प्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर अब भगवान् उनसे भिन्न श्रेणीके उपासकोंकी उपासनाका प्रकार बतलाते हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, और दूसरे मनुष्य भी भिन्न-भिन्न भावसे अर्थात् देवताओंके रूपमें स्थित मुझको भिन्न-भिन्न समझकर नाना प्रकारसे मुझ विराटस्वरूप परमेश्वरकी उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

प्रश्न—'अन्ये' पदका प्रयोग किस अभिप्रायसे किया गया है ?

*उत्तर—*यहाँ 'अन्ये' पदका प्रयोग ज्ञानयोगियोंको पूर्वोक्त भक्तोंकी श्रेणीसे पृथक् करनेके लिये किया गया है । अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त भक्तोंसे भिन्न जो ज्ञानयोगी हैं, वे आगे बतलाये हुए प्रकारसे उपासना किया करते हैं ।

*प्रश्न—*यहाँ 'माम्' पदका अर्थ निर्गुण-निराकार ब्रह्म क्यों किया गया है ?

*उत्तर—*ज्ञानयज्ञसे निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी ही उपासना होती है; यहाँ 'माम्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने सच्चिदानन्दघन निर्गुण ब्रह्मके साथ अपनी अभिन्नताका प्रतिपादन किया है । इसी कारण 'माम्' का अर्थ निर्गुण-निराकार ब्रह्म किया गया है ।

*प्रश्न—*ज्ञानयज्ञका क्या स्वरूप है ? और उसके द्वारा एकत्वभावसे 'माम्' पदवाच्य निर्गुण ब्रह्मका पूजन करते हुए उसकी उपासना करना क्या है ?

*उत्तर—*तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस 'ज्ञानयोग' का वर्णन है, यहाँ भी 'ज्ञानयज्ञ' का वही स्वरूप है । उसके अनुसार शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें, मायामय गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर कर्तापनके अभिमानसे रहित रहना; सम्पूर्ण दृश्यवर्गको मृगतृष्णाके जलके सदृश या स्वप्नके संसारके समान अनित्य समझना; तथा एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी सत्ता न मानकर निरन्तर उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुए उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य अभिन्नभावसे स्थित रहनेका अभ्यास करते रहना—यही ज्ञानयोगके द्वारा पूजन करते हुए उसकी उपासना करना है ।

प्रश्न—'च' के प्रयोगका क्या भाव है ?

*उत्तर—*उपर्युक्त ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए उपासना करनेवालोंसे भिन्न श्रेणीके उपासकोंको पृथक् करनेके लिये ही यहाँ 'च' का प्रयोग किया गया है ।

*प्रश्न—*भगवान्‌के विराट्स्वरूपकी पृथग्भावसे बहुधा उपासना करना क्या है ?

*उत्तर—*भगवान् ही विश्वरूपमें स्थित हैं । इसलिये विश्वरूप भगवान्‌के अङ्गभूत चन्द्र, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और वरुण आदि शास्त्रोक्त विभिन्न देवता वास्तवमें भगवान्‌के ही स्वरूप हैं । इनको पृथक्-पृथक् समझकर उनके विभिन्न नियमों और पूजा-पद्धतियोंके अनुसार उनकी उपासना करना ही—'भगवान्‌के विराट्रूपकी पृथग्भावसे बहुधा उपासना करना' है ।

सम्बन्ध—निर्गुण ब्रह्मकी उपासना और भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासना भी भगवान्‌की ही उपासना कैसे समझी जाती है—यह स्पष्ट समझानेके लिये अब चार श्लोकोंद्वारा भगवान् इस बातका प्रतिपादन करते हैं कि समस्त जगत् और उससे भी परे जो कुछ भी है, सब मेरा ही स्वरूप है—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, ओषधि मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—इस श्लोकमें भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि देवताओं और पितरोंके उद्देश्यसे किये जानेवाले जितने भी श्रौत-स्मार्त कर्म और उनके साधन हैं, सब मैं ही हूँ । श्रौत कर्मको 'क्रतु' कहते हैं। पञ्चमहायज्ञादि स्मार्त कर्म 'यज्ञ' कहलाते हैं और पितरोंके निमित्त प्रदान किया जानेवाला अन्न 'स्वधा' कहलाता है। भगवान् कहते हैं कि ये 'क्रतु', 'यज्ञ' और 'स्वधा' मैं ही हूँ । एवं इन कर्मोंके लिये प्रयोजनीय जितनी भी वनस्पतियाँ, अन्न तथा रोगनाशक जड़ी-बूटियाँ हैं, वे सब भी मैं हूँ । जिन मन्त्रोंके द्वारा ये सब कर्म सम्पन्न होते हैं और जिनका विभिन्न व्यक्तियोंद्वारा विभिन्न भावोंसे जप किया जाता है, वे सब मन्त्र भी मैं हूँ । यज्ञके लिये जिन घृतादि सामग्रियोंकी आवश्यकता होती है, वे सब हवि भी मैं हूँ; गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि आदि सभी प्रकारके अग्नि भी मैं हूँ और जिससे यज्ञकर्म सम्पन्न होता है, वह हवनक्रिया भी मैं ही हूँ । अभिप्राय यह कि यज्ञ, श्राद्ध आदि शास्त्रीय शुभकर्ममें प्रयोजनीय समस्त वस्तुएँ, तत्सम्बन्धी मन्त्र, जिसमें यज्ञादि किये जाते हैं वे अधिष्ठान, तथा मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली तद्विषयक समस्त चेष्टाएँ—ये सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं । इसी बातको सिद्ध करनेके लिये प्रत्येकके साथ 'अहम्' पदका प्रयोग किया गया है और 'एव' का प्रयोग करके इसीकी पुष्टि की गयी है कि भगवान्‌के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है; इस प्रकार विभिन्न रूपोंमें दीखनेवाले सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान्‌का तत्त्व न समझनेके कारण ही सब वस्तुएँ उनसे पृथक् दीखती हैं ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

इस सम्पूर्ण जगत्‌का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला, पिता, माता, पितामह, जाननेयोग्य, पवित्र, 'ओङ्कार' तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ ॥ १७ ॥

प्रश्न—'अस्य' विशेषणके सहित 'जगतः' पद किसका वाचक है तथा भगवान् उसके पिता, माता, धाता और पितामह कैसे हैं ?

उत्तर—यहाँ 'जगतः' पद चराचर प्राणियोंके सहित समस्त विश्वका वाचक है । यह समस्त विश्व भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है, भगवान् ही इसके महाकारण हैं ।

इसलिये भगवान्ने अपनेको इसका पिता-माता कहा है। भगवान् अपने एक अंशमें इस समस्त जगत्को धारण किये हुए हैं (१०।४२) एवं वे ही सब प्रकारके कर्मफलोंका यथायोग्य विधान करते हैं, इसलिये उन्होंने अपनेको इसका 'धाता' कहा है। और जिन ब्रह्मा आदि प्रजापतियोंसे सृष्टिकी रचना होती है, उनको भी उत्पन्न करनेवाले भगवान् ही हैं; इसीलिये उन्होंने अपनेको इसका 'पितामह' बतलाया है।

प्रश्न—'वेद्यम्' पद किसका वाचक है और यहाँ भगवान्का अपनेको 'वेद्य' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जानने योग्य वस्तुको 'वेद्य' कहते हैं। समस्त वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमतत्त्व एकमात्र भगवान् ही हैं (१५।१५), इसलिये भगवान्ने अपनेको 'वेद्य' कहा है।

प्रश्न—'पवित्र' शब्दका क्या अर्थ है ? और भगवान्का अपनेको पवित्र कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो स्वयं विशुद्ध हो और सहज ही दूसरोंके पापोंका नाश करके उन्हें भी विशुद्ध बना दे, उसे 'पवित्र' कहते हैं। भगवान् परम पवित्र हैं और भगवान्के दर्शन, भाषण और स्मरणसे मनुष्य परम पवित्र हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जगत्में जप, तप, व्रत, तीर्थ आदि जितने भी पवित्र करनेवाले पदार्थ हैं, वे सब भगवान्के ही स्वरूप हैं तथा उनमें जो पवित्र करनेकी शक्ति है, वह भी भगवान्की ही है—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको 'पवित्र' कहा है।

प्रश्न—'ओङ्कार' किसे कहते हैं और यहाँ भगवान्ने अपनेको ओङ्कार क्यों बतलाया है ?

उत्तर—'ॐ' भगवान्का नाम है, इसीको प्रणव भी कहते हैं। आठवें अध्यायके १३वें श्लोकमें इसे ब्रह्म बतलाया है तथा इसीका उच्चारण करनेके लिये कहा गया है। यहाँ नाम तथा नामीका अभेद प्रतिपादन करनेके लिये ही भगवान्ने अपनेको ओङ्कार बतलाया है।

प्रश्न—'ऋक्', 'साम' और 'यजुः'—ये तीनों पद किनके लिये आये हैं और भगवान्का इनको अपना स्वरूप बतलानेमें क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ये तीनों पद तीनों वेदोंके वाचक हैं। वेदोंका प्राकट्य भगवान्से हुआ है तथा सारे वेदोंसे भगवान्का ज्ञान होता है, इसलिये सब वेदोंको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ 'च' और 'एव' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'च' शब्दसे इस श्लोकमें वर्णित समस्त पदार्थोंका समाहार किया गया है और 'एव'से भगवान्के सिवा अन्य वस्तुमात्रकी सत्ताका निराकरण किया गया है। अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें वर्णित सभी पदार्थ भगवान्के ही स्वरूप हैं, उनसे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेने योग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, उत्पत्ति-प्रलयरूप, सबकी स्थितिका कारण, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ॥१८॥

प्रश्न—'गतिः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्राप्त करनेकी वस्तुका नाम 'गति' है। सबसे बढ़कर प्राप्त करनेकी वस्तु नित्य धामरूप एकमात्र भगवान् ही हैं, इसीलिये उन्होंने अपनेको 'गति' कहा है। 'परा गति', 'परमा गति', 'अविनाशी पद' आदि नाम भी इसीके हैं।

प्रश्न—'भर्त्ता' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पालन-पोषण करनेवालेको 'भर्त्ता' कहते हैं। सम्पूर्ण जगत्का रक्षण और पालन करनेवाले भगवान् ही हैं, इसीलिये उन्होंने अपनेको 'भर्त्ता' कहा है।

प्रश्न—'प्रभुः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—शासन करनेवाला स्वामी 'प्रभु' कहलाता है। भगवान् ही सबके एकमात्र परम प्रभु हैं। ये ईश्वरोंके महान् ईश्वर, देवताओंके परम दैवत, पतियोंके परम पति, समस्त भुवनोंके स्वामी और परम पूज्य परमदेव हैं (श्वे० उ० ६।७); तथा सूर्य, अग्नि, इन्द्र, वायु और मृत्यु आदि सब इन्हींके भयसे अपनी-अपनी मर्यादामें स्थित हैं (कठ० उ० २।३।३)। इसलिये भगवान्ने अपनेको 'प्रभु' कहा है।

प्रश्न—'साक्षी' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान् समस्त लोकोंको, सब जीवोंको और उनके शुभाशुभ समस्त कर्मोंको जानने और देखनेवाले हैं। भूत, वर्तमान और भविष्यमें कहीं भी, किसी भी प्रकारका ऐसा कोई भी कर्म नहीं है, जिसे भगवान् न देखते हों; उनके-जैसा सर्वज्ञ अन्य कोई भी नहीं है, वे सर्वज्ञताकी सीमा हैं। इसलिये उन्होंने अपनेको 'साक्षी' कहा है।

प्रश्न—'निवासः' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—रहनेके स्थानका नाम 'निवास' है। उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, जन्मते-मरते, समस्त जीव सदा-सर्वदा और सर्वथा केवल भगवान्में ही निवास करते हैं; इसलिये भगवान्ने अपनेको 'निवास' कहा है।

प्रश्न—'शरणम्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसकी शरण ली जाय, उसे 'शरणम्' कहते हैं। भगवान्के समान शरणागतवत्सल, प्रणतपाल और शरणागतके दुःखोंका नाश करनेवाला अन्य कोई भी नहीं है। वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वाल्मीकिरामा० यु० १८।३३)

अर्थात् 'एक बार भी 'मैं तेरा हूँ' यों कहकर मेरी शरणमें आये हुए और मुझसे अभय चाहनेवालेको मैं सभी भूतोंसे अभय कर देता हूँ; यह मेरा व्रत है।' इसीलिये भगवान्ने अपनेको 'शरण' कहा है।

प्रश्न—'सुहृत्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्रत्युपकार न चाहकर बिना ही किसी कारणके स्वाभाविक ही हित चाहने एवं हित करनेवाले दयालु और प्रेमी पुरुषको 'सुहृत्' कहते हैं। भगवान् समस्त प्राणियोंके बिना ही कारण उपकार करनेवाले परम हितैषी और सबके साथ अतिशय प्रेम करनेवाले परम बन्धु हैं, इसलिये उन्होंने अपनेको 'सुहृत्' कहा है। पाँचवें अध्यायके अन्तमें भी भगवान्ने कहा है कि 'मुझे समस्त प्राणियोंका सुहृद् जानकर मनुष्य परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है (५।२९)।'

प्रश्न—'प्रभवः', 'प्रलयः' और 'स्थानम्' इन तीनों पदोंका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त जगत्की उत्पत्तिके कारणको 'प्रभव', स्थितिके कारणको 'स्थान' और प्रलयके

कारणको 'प्रलय' कहते हैं। इस सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भगवान्के ही संकल्प-मात्रसे होते हैं; इसलिये उन्होंने अपनेको 'प्रभव', 'प्रलय' और 'स्थान' कहा है।

प्रश्न—'निधानम्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसमें कोई वस्तु बहुत दिनोंके लिये रक्खी जाती हो, उसे 'निधान' कहते हैं। महाप्रलयमें समस्त प्राणियोंके सहित अव्यक्त प्रकृति भगवान्के ही किसी एक अंशमें धरोहरकी भाँति बहुत समयतक अक्रिय-अवस्थामें स्थित रहती है, इसलिये भगवान्ने अपनेको 'निधान' कहा है।

प्रश्न—'अव्ययम्' विशेषणके सहित 'बीजम्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसका कभी नाश न हो उसे 'अव्यय' कहते हैं। भगवान् समस्त चराचर भूतप्राणियोंके अविनाशी कारण हैं। सबकी उत्पत्ति उन्हींसे होती है, वे ही सबके परम आधार हैं। इसीसे उनको 'अव्यय बीज' कहा है। सातवें अध्यायके १०वें श्लोकमें उन्हींको 'सनातन बीज' और दसवें अध्यायके ३९वें श्लोकमें 'सब भूतोंका बीज' बतलाया गया है।

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्ने एक बार भी 'अहम्' पदका प्रयोग नहीं किया, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—अन्य श्लोकोंमें आये हुए क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध, मन्त्र, घृत, ऋक्, यजु आदि बहुत-से शब्द ऐसे हैं, जो स्वभावतः ही भगवान्से भिन्न वस्तुओंके वाचक हैं। अतएव उन वस्तुओंको अपना रूप बतलानेके लिये भगवान्ने उनके साथ 'अहम्' पदका प्रयोग किया है। परन्तु इस श्लोकमें जितने भी शब्द आये हैं, सब-के-सब भगवान्के विशेषण हैं; इसके अतिरिक्त पिछले श्लोकमें आये हुए 'अहम्'के साथ इस श्लोकका अन्वय होता है। इसलिये इसमें 'अहम्' पदके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाको आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ ॥१९॥

प्रश्न—मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, तथा वर्षाको आकर्षित करता और बरसाता हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि अपनी किरणोंद्वारा समस्त जगत्को उष्णता और प्रकाश प्रदान करनेवाला तथा समुद्र आदि स्थानोंसे जलको उठाकर, लोकहितार्थ उसे मेघोंके द्वारा यथासमय यथायोग्य वितरण करनेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है।

प्रश्न—'अमृतम्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसके पान कर लेनेपर मनुष्य मृत्युके वश न होकर अमर हो जाता है, उसे अमृत कहते हैं। देवलोकके जिस अमृतकी बात कही जाती है उस अमृतके पानसे यद्यपि देवताओंका मरण मृत्युलोकके जीवोंके समान नहीं होता, इनसे अत्यन्त विलक्षण होता है, परन्तु यह बात नहीं

कि उसके पानसे नाश ही न हो। ऐसे परम अमृत तो एक भगवान् ही हैं, जिनकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्य सदाके लिये मृत्युके पाशसे मुक्त हो जाता है। इसीलिये भगवान्ने अपनेको 'अमृत' कहा है और इसीलिये मुक्तिको भी 'अमृत' कहते हैं।

प्रश्न—'मृत्युः' पद किसका वाचक है और भगवान्का उसे अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सबका नाश करनेवाले 'काल' को 'मृत्यु' कहते हैं। सृष्टि-लीलाके सुचारुरूपसे चलते रहनेमें सर्ग और संहार दोनोंकी ही परम आवश्यकता है और ये दोनों ही कार्य लीलामय भगवान् करते हैं; वे ही यथा-समय लोकोंका संहार करनेके लिये महाकाल रूप धारण किये रहते हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है कि 'मैं लोकोंको क्षय करनेके लिये बढ़ा हुआ महाकाल हूँ' (११।३२)। इसीलिये भगवान्ने 'मृत्यु' को अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'सत्' और 'असत्' पद किनके वाचक हैं और उनको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' कहते हैं और नाशवान् अनित्य वस्तुमात्रका नाम 'असत्' है (२।१६); इन्हीं दोनोंको पन्द्रहवें अध्यायमें 'अक्षर' और 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है। ये दोनों ही भगवान्की 'परा' और 'अपरा' प्रकृति हैं और वे प्रकृतियाँ भगवान्से अभिन्न हैं, इसलिये भगवान्ने सत् और असत्को अपना स्वरूप कहा है।

प्रश्न—'च' के प्रयोगसे भगवान्ने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—'च' के प्रयोगसे यहाँ भगवान्का यह भाव है कि सत्-असत्से परे (११।३७) तथा 'सत्' और 'असत्' शब्दोंके द्वारा जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वह निर्गुण ब्रह्म भी मैं ही हूँ।

सम्बन्ध—१३वेंसे १५वें श्लोकतक अपने सगुण और निर्गुण रूपकी विविध उपासनाओंका वर्णन करके भगवान्ने १९वें श्लोकतक समस्त विश्वको अपना स्वरूप बतलाया। समस्त विश्व मेरा ही स्वरूप होनेके कारण इन्द्रादि अन्य देवोंकी उपासना भी प्रकारान्तरसे मेरी ही उपासना है, परन्तु ऐसा न जानकर फलासक्तिपूर्वक पृथक्-पृथक्भावसे उपासना करनेवालोंको मेरी प्राप्ति न होकर विनाशी फल ही मिलता है। इसी बातको दिखलानेके लिये अब दो श्लोकोंमें भगवान् उस उपासनाका फलसहित वर्णन करते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकामकर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापोंके नाशसे पवित्र हुए पुरुष मुझको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्ग-लोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

प्रश्न—'त्रैविद्याः', 'सोमपाः' और 'पूतपापाः' इन तीनों पदोंका क्या अर्थ है तथा ये किस श्रेणीके मनुष्यों-के विशेषण हैं ?

उत्तर—ऋक्, यजु और साम—इन तीनों वेदोंको 'वेदत्रयी' अथवा त्रिविद्या कहते हैं। इन तीनों वेदोंमें वर्णित नाना प्रकारके यज्ञोंकी विधि और उनके फलमें श्रद्धा-प्रेम

रखनेवाले एवं उसके अनुसार कर्म करनेवाले मनुष्यों-को 'त्रैविद्याः' कहते हैं। यज्ञोंमें सोमलताके रसपानकी जो विधि बतलायी गयी है, उस विधिसे सोमलताके रसपान करनेवालोंको 'सोमपा' कहते हैं। उपर्युक्त वेदोक्त कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेसे जिनके स्वर्गप्राप्तिमें प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो गये हैं, उनको 'पूतपाप' कहते हैं। ये तीनों विशेषण ऐसी श्रेणीके मनुष्योंके लिये हैं, जो भगवान्‌की सर्वरूपतासे अनभिज्ञ हैं और वेदोक्त कर्मकाण्डपर प्रेम और श्रद्धा रखकर पापकर्मोंसे बचते हुए सकामभावसे यज्ञादि कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान किया करते हैं।

प्रश्न—'पूतपापाः' से यदि यह अर्थ मान लिया जाय कि जिनके समस्त पाप सर्वथा धुल गये हैं, वे 'पूतपापाः' हैं, तो क्या हानि है ?

उत्तर—अगले श्लोकमें पुण्योंका क्षय होनेपर उनका पुनः मृत्युलोकमें लौट आना बतलाया गया है। यदि उनके सभी पाप सर्वथा नष्ट हो गये होते तो पुण्य-कर्मोंके क्षय होनेपर उसी क्षण उनकी मुक्ति हो जानी चाहिये थी। जब पाप-पुण्य दोनोंहीका अभाव हो गया, तो फिर जन्ममें कोई कारण ही नहीं रह गया; ऐसी अवस्थामें पुनरागमनका प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये था। परन्तु उनका पुनरागमन होता है; इसलिये जैसा अर्थ किया गया है, वही ठीक है।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पद किनका वाचक है और उनको यज्ञोंद्वारा पूजना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'माम्' पद भगवान्‌के अंगभूत इन्द्रादि देवताओंका वाचक है, शास्त्र-विधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक यज्ञ और पूजा आदिके द्वारा भिन्न-भिन्न देवताओंका पूजन करना ही 'मुझको यज्ञोंद्वारा पूजना' है। यहाँ भगवान्‌के इस कथनका यह भाव है कि इन्द्रादि देव मेरे ही अङ्गभूत होनेसे उनका पूजन भी प्रकारान्तरसे मेरा ही पूजन है। किन्तु अज्ञानवश सकाम मनुष्य इस तत्त्वको नहीं समझते। इसलिये उनको मेरी प्राप्ति नहीं होती।

प्रश्न—'स्वर्गतिम्' पद किसका वाचक है ? उसके लिये प्रार्थना करना क्या है ?

उत्तर—स्वर्गकी प्राप्तिको 'स्वर्गति' कहते हैं। उपर्युक्त वेदविहित कर्मोंद्वारा देवताओंका पूजन करके उनसे स्वर्गप्राप्तिकी याचना करना ही उसके लिये प्रार्थना करना है।

प्रश्न—'पुण्यम्' विशेषणके सहित 'सुरेन्द्रलोकम्' पद किस लोकको लक्ष्य करके कहा गया है और वहाँ 'देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगना' क्या है ?

उत्तर—यज्ञादि पुण्यकर्मोंके फलरूपमें प्राप्त होनेवाले इन्द्रलोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने भी लोक हैं, उन सबको लक्ष्य करके यहाँ 'पुण्यम्' विशेषणके सहित 'सुरेन्द्रलोकम्' पदका प्रयोग किया गया है। अतः 'सुरेन्द्रलोकम्' पद इन्द्रलोकका वाचक होते हुए भी उसे उपर्युक्त सभी लोकोंका वाचक समझना चाहिये। अपने-अपने पुण्यकर्मानुसार उन लोकोंमें जाकर—जो मनुष्यलोकमें नहीं मिल सकते, ऐसे तेजोमय और विलक्षण देव-भोगोंका मन और इन्द्रियोंद्वारा भोग करना ही 'देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगना' है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकामकर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं ॥२१॥

प्रश्न—स्वर्गलोकको विशाल कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—स्वर्गादि लोकोंके विस्तारका, वहाँकी भोग्य-वस्तुओंका, भोगप्रकारोंका, भोग्यवस्तुओंकी सुखरूपताका और भोगनेयोग्य शारीरिक तथा मानसिक शक्ति और परमायु आदि सभीका विविध प्रकारका परिमाण मृत्यु-लोककी अपेक्षा कहीं विशद और महान् है। इसीलिये उसको 'विशाल' कहा गया है।

प्रश्न—पुण्योंका क्षय होना और मृत्युलोकको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—जिन पुण्यकर्मोंका फल भोगनेके लिये जीवको स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है, उन पुण्यकर्मोंके फलका भोग समाप्त हो जाना ही 'उनका क्षय हो जाना' है; और उस स्वर्गविषयक पुण्यफलकी समाप्ति होते ही दूसरे बचे हुए पुण्य-पापोंका भोग करनेके लिये पुनः मृत्युलोक-में गिराया जाना ही 'मृत्युलोकको प्राप्त होना' है।

प्रश्न—'त्रयीधर्मम्' पद किस धर्मका वाचक है और उसकी शरण होना क्या है ?

उत्तर—ऋक्, यजुः, साम—इन तीनों वेदोंमें जो स्वर्गकी प्राप्तिके उपायभूत धर्म बतलाये गये हैं, उनका वाचक 'त्रयीधर्मम्' पद है। स्वर्गप्राप्तिके साधनरूप उन धर्मोंका यथाविधि पालन करना और स्वर्ग-सुखको ही सबसे बढ़कर प्राप्त करनेयोग्य वस्तु मानना 'त्रयीधर्म' की शरण होना है।

भगवान्के स्वरूप-तत्त्वको न जाननेवाले सकाम मनुष्य अनन्यचित्तसे भगवान्की शरण ग्रहण नहीं करते, भोगकामनाके वशमें होकर उपर्युक्त धर्मका आश्रय लेते हैं। इसी कारण उनके कर्मोंका फल अनित्य होता है और इसीलिये उन्हें फिर मर्त्यलोकमें लौटना पड़ता है। किन्तु जो पुरुष अठारहवें अध्यायके ६६वें श्लोकके अनुसार स्वर्ग-सुख प्रदान करनेवाले इन धर्मोंका आश्रय छोड़कर एकमात्र भगवान्के ही शरणागत हो जाते हैं, वे साक्षात् भगवान्को प्राप्त करके सब बन्धनोंसे सर्वथा छूट जाते हैं। इसलिये उन कृतकृत्य पुरुषोंका फिरसे जगत्में जन्म नहीं होता।

प्रश्न—'कामकामाः' पदका क्या अर्थ है ? यह किन पुरुषोंका विशेषण है तथा 'गतागत' (आवागमन) को प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—'काम' सांसारिक भोगोंका नाम है, और उन भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्योंको 'कामकामाः' कहते हैं। यह उपर्युक्त स्वर्गप्राप्तिके साधनरूप वेदविहित सकामकर्म और उपासनाका पालन करनेवाले मनुष्योंका विशेषण है, और ऐसे मनुष्योंका जो अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये बार-बार नीचे और ऊँचे लोकोंमें भटकते रहना है, वही 'गतागत' को प्राप्त होना है।

सम्बन्ध—तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें भगवान्ने अपने अविनाशी स्वरूपको जाननेवाले प्रेमी भक्तोंकी भक्तिका प्रकार बतलाया। पन्द्रहवें श्लोकमें ज्ञानयोगके द्वारा निर्गुण उपासनाका तथा अन्यान्य प्रकारसे विश्वरूपके अंशभूत चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि देवताओंकी उपासनाका वर्णन करके कहा कि यह भी

योगक्षेम-वहन



अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (९ । २२)

मेरी ही उपासना है । फिर सोलहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक यह दिखलाया कि समस्त देवता आदिके रूपमें ही मैं हूँ, इतनी ही बात नहीं है; जिन सामग्रियोंसे उनकी उपासना की जाती है वे समस्त सामग्रियाँ भी मैं ही हूँ; तथा मैं ही सबका माता, धाता, पितामह, स्वामी आदि भी हूँ। यहाँतक कि सत्-असत् जो कुछ है सो सब मैं ही हूँ। इस प्रकार अपनी 'सर्वरूपता' दिखलाकर बीसवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें यह बतलाया कि देवताओंको मुझसे भिन्न जानकर सकामभावसे जो लोग उनके रूपमें मेरी उपासना करते हैं, वे पुण्यकर्मा ही हैं; परन्तु उनको स्वर्गके भोग भोगकर फिर मर्त्यलोकमें आना पड़ता है, वे मेरे अविनाशी पदको नहीं पा सकते ! अब, जिन भक्तोंका वर्णन तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें किया गया था और जिनके फलकी बात दूसरा प्रसंग आ जानेसे बीचमें रुक गयी थी उन भक्तोंकी उपासनाका फल भगवान् बतलाते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ॥२२॥

प्रश्न—'अनन्याः' पद कैसे भक्तोंका विशेषण है ?

उत्तर—जिनका संसारके समस्त भोगोंसे प्रेम हटकर केवलमात्र भगवान्में ही अटल और अचल प्रेम हो गया है, भगवान्का वियोग जिनके लिये असह्य है, जिनका भगवान्से भिन्न दूसरा कोई भी उपास्यदेव नहीं है, और जो भगवान्को ही परम आश्रय, परम गति और परम प्रेमास्पद मानते हैं—ऐसे अनन्यप्रेमी एकनिष्ठ भक्तोंका विशेषण 'अनन्याः' पद है ।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पद किसका वाचक है और उनका 'चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजन करना' क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'माम्' पद सगुण भगवान् पुरुषोत्तमका वाचक है । उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और एकान्तमें साधन करते, सब समय निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे उनका चिन्तन करते हुए, उन्हींके आज्ञानुसार निष्कामभावसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये चेष्टा करते रहना—यही उनका 'चिन्तन करते हुए भजन करना' है ।

प्रश्न—नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तोंका योगक्षेम वहन करना क्या है ?

उत्तर—अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है । अतः भगवान्की प्राप्तिके लिये जो-जो आवश्यक वस्तु या साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस वस्तु या साधन आदिकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना—यही उन प्रेमी भक्तोंका योगक्षेम चलाना है । भक्त प्रह्लादका जीवन इसका सुन्दर उदाहरण है । हिरण्यकशिपुद्वारा उसके साधनमें बड़े-बड़े विघ्न उपस्थित किये जानेपर भी सब प्रकारसे भगवान्ने उसकी रक्षा करके अन्तमें उसे अपनी प्राप्ति करवा दी ।

प्रश्न—भगवान् साधनसम्बन्धी योगक्षेमका वहन करते हैं—यह तो ठीक ही है, परन्तु क्या जीवननिर्वाहोपयोगी लौकिक योगक्षेमका भी वे वहन करते हैं ?

उत्तर—जब सम्पूर्ण विश्वके छोटे-बड़े अनन्त जीवोंका भरण-पोषण भगवान् ही करते हैं; कोई भजता है या नहीं—इस बातकी परवा न करके जब स्वाभाविक ही परम सुहृद्भावसे समस्त विश्वके योगक्षेमका सारा भार भगवान्ने उठा रक्खा है, तब अनन्य भक्तका जीवनभार वे उठा लें—इसमें तो कहना ही क्या है ? बात यह है कि जो अनन्य भक्त नित्य-निरन्तर केवल भगवान्के चिन्तनमें ही लगे रहते हैं, भगवान्को छोड़कर दूसरे किसी भी विषयकी कुछ भी परवा नहीं करते—ऐसे नित्याभियुक्त भक्तोंकी सारी देखभाल भगवान् ही करते हैं।

जैसे मातृपरायण छोटा शिशु केवल माताको ही जानता है, उसकी कौन-कौन-सी ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनकी रक्षा होनी चाहिये और उसे कब किन-किन वस्तुओंकी आवश्यकता होगी, इस बातकी वह कभी कोई चिन्ता नहीं करता; माता ही यह ध्यान रखती है कि इसकी कौन-कौन-सी वस्तुएँ सँभालकर रखनी चाहिये, माता ही यह विचार करती है कि इसके लिये कब किस वस्तुकी आवश्यकता होगी और माता ही उन-उन वस्तुओंकी रक्षा करती है, तथा ठीक समयपर उसके लिये आवश्यक वस्तुओंका प्रबन्ध करती है। इसी प्रकार नित्याभियुक्त अनन्य भक्तके जीवनमें लौकिक या पारमार्थिक किस-किस वस्तुकी रक्षा आवश्यक है और किस-किसकी प्राप्ति आवश्यक है, इसका निश्चय भी भगवान् करते हैं और उन-उन प्राप्त वस्तुओंकी रक्षा तथा अप्राप्तकी प्राप्ति भी भगवान् ही करा देते हैं।

जो मातृपरायण बालक माताकी देख-रेखमें होता है, माता जैसे उस बच्चेकी बुद्धिकी ओर ख्याल न देकर उसका जिसमें वास्तविक हित होता है, वही करती है—उससे भी बहुत बढ़कर भगवान् भी अपने भक्तका जिसमें यथार्थ हित होता है, वही करते हैं। ऐसे भक्तोंके लिये कब किस वस्तुकी आवश्यकता होगी और किन-किन वस्तुओंकी रक्षा आवश्यक है, इसका निश्चय भगवान् ही करते हैं और भगवान्का निश्चय कल्याणसे ओतप्रोत होता है। और भगवान् ही रक्षा तथा प्राप्तिका भार वहन करते हैं। लौकिक-पारमार्थिक-का कोई प्रश्न ही नहीं है तथा न अमुक वस्तुकी प्राप्ति-अप्राप्तिका प्रश्न है। जिन वस्तुओंके प्राप्त होनेमें या रहनेमें मनुष्य भगवान्को भूलकर विषयभोगोंमें फँस जाता है, जिससे वस्तुतः उसके योगक्षेमकी हानि होती है, उनका प्राप्त न होना और न रहना ही सच्चे योगक्षेमकी प्राप्ति है; तथा जिन वस्तुओंके न होनेसे, जिनकी रक्षा न होनेसे भगवान्की स्मृतिमें बाधा पहुँचती है और इसलिये उसका वास्तविक कल्याणके साथ योग होनेमें तथा कल्याणकी रक्षा होनेमें बाधा उपस्थित होती है, उनके प्राप्त होने और सुरक्षित रहनेमें ही सचा योगक्षेम है।

अनन्य नित्याभियुक्त भक्तके वास्तविक कल्याणका और सच्चे योगक्षेमका भार भगवान् वहन करते हैं—इसका तात्पर्य यही है कि उसका कल्याणके साथ योग किन वस्तुओंकी प्राप्तिमें और किनके संरक्षणमें है, इस बातपर लक्ष्य रखते हुए भगवान् ही स्वयं उनकी प्राप्ति कराते हैं और भगवान् ही उनकी रक्षा करते हैं, चाहे वे लौकिक हों या साधनसम्बन्धी !

इससे यह निश्चय समझना चाहिये कि जो पुरुष भगवान्के ही परायण होकर अनन्यचित्तसे उनका प्रेम-पूर्वक निरन्तर चिन्तन करते हुए ही सब कार्य करते हैं, अन्य किसी भी विषयकी कामना, अपेक्षा और चिन्ता नहीं करते, उनके जीवननिर्वाहका सारा भार भी भगवान्पर रहता है; वे ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ,

सर्वदर्शी, परम सुहृद् भगवान् अपने भक्तका सब प्रकारका योगक्षेम चलाते हैं; इसलिये उसमें कभी भूल नहीं होती, और उसका विपरीत परिणाम नहीं हो सकता। भगवान्का चलाया हुआ 'योगक्षेम' बहुत ही सुख, शान्ति, प्रेम और आनन्द देनेवाला होता है और भक्त-को बहुत शीघ्र भगवान्के प्रत्यक्ष साक्षात् करानेमें परम सहायक होता है। इसीलिये यहाँ योगका अर्थ—भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति और क्षेमका अर्थ—उस भगवत्-प्राप्तिके लिये किये जानेवाले साधनोंकी रक्षा किया गया है।

सम्बन्ध—अनन्य चित्तसे भजन करनेवाले पुरुषका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ, यह कहकर अब भगवान् जो साधक अपनेसे और भगवान्से पृथक् मानकर इन्द्रादि देवताओंकी सकामभावसे उपासना करते हैं उनकी उपासनाको अविधिपूर्वक बतलाते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है ॥ २३ ॥

प्रश्न—'श्रद्धयान्विताः' का क्या अभिप्राय है? तथा यहाँ इस विशेषणका प्रयोग किसलिये किया गया है?

उत्तर—वेद-शास्त्रोंमें वर्णित देवता, उनकी उपासना और स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप उसके फलपर जिनका आदर-पूर्वक दृढ़ विश्वास हो, उनको यहाँ 'श्रद्धयान्विताः' कहा गया है। और इस विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो विना श्रद्धाके दम्भपूर्वक यज्ञादि कर्मोंद्वारा देवताओंका पूजन करते हैं, वे इस श्रेणीमें नहीं आ सकते; उनकी गणना तो आसुरी-प्रकृतिमें है (१६।१७; १७।१३)।

प्रश्न—ऐसे मनुष्योंका अन्य देवताओंकी पूजा करना क्या है? और वह भगवान्की 'अविधिपूर्वक पूजा' क्यों है?

उत्तर—जिस कामनाकी सिद्धिके लिये जिस देवताकी पूजाका शास्त्रमें विधान है, उस देवताकी शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मोंद्वारा श्रद्धापूर्वक पूजा करना 'अन्य देवताओंकी पूजा करना' है। समस्त देवता भी भगवान्के ही अङ्गभूत हैं, भगवान् ही सबके स्वामी हैं और वस्तुतः भगवान् ही उनके रूपमें प्रकट हैं—इस तत्त्वको न जानकर उन देवताओंको भगवान्से भिन्न समझकर सकाम भावसे जो उनकी पूजा करना है, यही भगवान्की 'अविधिपूर्वक पूजा' है।

प्रश्न—अन्य देवताओंकी पूजाके द्वारा भगवान्की विधिपूर्वक पूजा किस प्रकार की जा सकती है और उसका फल क्या है?

उत्तर—अन्य देवता भी भगवान्के ही अङ्गभूत होनेके कारण सब भगवान्के ही स्वरूप हैं, ऐसा समझकर भगवान्की प्राप्तिके लिये निष्कामभावसे उन देवताओंकी शास्त्रोक्तप्रकारसे श्रद्धापूर्वक पूजा करना उन देवताओंकी पूजाके द्वारा भगवान्की 'विधिपूर्वक पूजा करना' है; और इसका फल भी भगवान्की ही प्राप्ति है। राजा रन्तिदेवने अतिथि एवं अभ्यागतोंको भगवान्का स्वरूप समझकर स्वयं भूखका कष्ट सहन करके अन्नदानद्वारा निष्कामभावसे भगवान्की पूजा की थी।

इसके फलस्वरूप उनको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। इसी प्रकार कोई भी मनुष्य जो देवता, ब्राह्मण, अतिथि, अभ्यागत और समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये उन सबकी सेवा आदिका कार्य करता है, उसकी वह सेवा विधिपूर्वक भगवान्‌की सेवा होती है और उसका फल भगवान्‌की प्राप्ति ही होता है।

इस तत्त्वको समझे विना जो सकामबुद्धिसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अन्य देवताओंकी यथायोग्य सेवा-पूजा आदि की जाती है, वह सेवा-पूजा भी यद्यपि होती तो है भगवान्‌की ही, क्योंकि भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और सबके महेश्वर हैं (५। २९) और भगवान् ही सर्वरूप हैं, तथापि भावकी न्यूनताके कारण वह भगवान्‌की विधिपूर्वक सेवा नहीं समझी जाती। इसीलिये उसका फल भी स्वर्गप्राप्ति ही होता है। भगवत्स्वरूपकी अनभिज्ञताके कारण फलमें इतना महान् भेद हो जाता है!

सम्बन्ध—अन्य देवताओंके पूजन करनेवालोंकी पूजाका अविधिपूर्वकत्व प्रतिपादन करके अब वैसी पूजा करनेवाले मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप फलसे वञ्चित क्यों रहते हैं, इसका स्पष्टरूपसे निरूपण करते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परन्तु वे मुझ अधियज्ञस्वरूप परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

प्रश्न—भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु कैसे हैं?

उत्तर—यह सारा विश्व भगवान्‌का ही विराट्‌रूप होनेके कारण भिन्न-भिन्न यज्ञ-पूजादि कर्मोंके भोक्तारूपमें माने जानेवाले जितने भी देवता हैं, सब भगवान्‌के ही अङ्ग हैं, तथा भगवान् ही उन सबके आत्मा हैं (१०। २०)। अतः उन देवताओंके रूपमें भगवान् ही समस्त यज्ञादि कर्मोंके भोक्ता हैं। भगवान् ही अपनी योगशक्तिके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हुए सबको यथायोग्य नियममें चलाते हैं; वे ही इन्द्र, वरुण, यमराज, प्रजापति आदि जितने भी लोकपाल और देवतागण हैं—उन सबके नियन्ता हैं; इसलिये वही सबके प्रभु अर्थात् महेश्वर हैं (५। २९)।

प्रश्न—यहाँ 'तु' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'तु' यहाँ 'परन्तु' के अर्थमें है। अभिप्राय यह है कि ऐसा होते हुए भी वे भगवान्‌के प्रभावको नहीं जानते, यह उनकी कैसी अज्ञता है!

प्रश्न—यहाँ 'ते' पद किन मनुष्योंको लक्ष्य करता है, तथा उनका भगवान्‌को तत्त्वसे नहीं जानना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'ते' पद पूर्वश्लोकमें वर्णित प्रकारसे अन्य देवताओंकी पूजाद्वारा अविधिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेवाले सकाम मनुष्योंको लक्ष्य करता है तथा १६वेंसे १९वें श्लोकतक भगवान्‌के गुण, प्रभावसहित जिस स्वरूपका वर्णन हुआ है, उसको न जाननेके कारण भगवान्‌को सब यज्ञोंके भोक्ता और समस्त लोकोंके महान् ईश्वर न समझना—यही उनको तत्त्वसे न जानना है।

प्रश्न—'अतः' पदका क्या अभिप्राय है और उसके

भगवत्पूजन



यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् (९।२५)

साथ 'च्यवन्ति' क्रियाका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—'अतः' पद हेतुवाचक है। इसके साथ 'च्यवन्ति' क्रियाके प्रयोगका यहाँ यह अभिप्राय है कि इसी कारण अर्थात् भगवान्‌को तत्त्वसे न जाननेके कारण ही वे मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप अत्यन्त उत्तम फलसे वञ्चित रहकर स्वर्गप्राप्तिरूप अल्प फलके भागी होते हैं और आवागमनके चक्रमें पड़े रहते हैं।

सम्बन्ध—भगवान्‌के भक्त आवागमनको प्राप्त नहीं होते और अन्य देवताओंके उपासक आवागमनको प्राप्त होते हैं, इसका क्या कारण है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ २५ ॥

प्रश्न—'देवव्रताः' पद किन मनुष्योंका वाचक है ? और उनका देवोंको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—देवताओंकी पूजा करना, उनकी पूजाके लिये बतलाये हुए नियमोंका पालन करना, उनके निमित्त यज्ञादिका अनुष्ठान करना, उनके मन्त्रका जप करना, और उनके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराना—इत्यादि सभी बातें 'देवताओंके व्रत' हैं। इनका पालन करनेवाले मनुष्योंका वाचक 'देवव्रताः' पद है। ऐसे मनुष्योंको अपनी उपासनाके फलस्वरूप जो उन देवताओंके लोकोंकी, उनके सदृश भोगोंकी अथवा उनके-जैसे रूपकी प्राप्ति होती है, वही देवोंको प्राप्त होना है।

प्रश्न—तीसरे अध्यायके ११वें श्लोकमें, चौथे अध्यायके २५वेंमें तथा सतरहवें अध्यायके १४वें श्लोकमें तो देवपूजनको कल्याणमें हेतु बतलाया है और यहाँ (२०-२१में) उसका फल अनित्य स्वर्गकी प्राप्ति एवं आवागमनके चक्रमें पड़ना बतलाते हैं। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—तीसरे, चौथे और सतरहवें अध्यायोंमें निष्कामभावसे देवपूजन करनेका विषय है; इस कारण उसका फल परम कल्याण बतलाया गया है; क्योंकि निष्कामभावसे की हुई देवपूजा अन्तःकरणकी शुद्धिमें हेतु होनेसे उसका फल परम कल्याण ही होता है। किन्तु यहाँ सकामभावसे की जानेवाली देवपूजाका प्रकरण है। अतः इसका फल उन देवताओंकी प्राप्तितक ही बतलाया जा सकता है। वे अधिक-से-अधिक उन उपास्य देवताओंकी आयुपर्यन्त स्वर्गादि लोकोंमें रह सकते हैं। अतएव उनका पुनरागमन निश्चित है।

प्रश्न—'पितृव्रताः' पद किन मनुष्योंका वाचक है और उनका पितरोंको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—पितरोंके लिये यथाविधि श्राद्ध-तर्पण करना, उनके निमित्त ब्राह्मणोंको भोजन कराना, हवन करना, जप करना, पाठ-पूजा करना तथा उनके लिये बतलाये हुए व्रत और नियमोंका भलीभाँति पालन करना आदि 'पितरोंके व्रत' हैं और इन सबके पालन करनेवालोंका वाचक 'पितृव्रताः' पद है। जो मनुष्य सकामभावसे इन व्रतोंका पालन करते हैं, वे मरनेके बाद पितृलोकमें जाते हैं और वहाँ जाकर उन पितरोंके-जैसे स्वरूपको प्राप्त

करके उनके-जैसे भोग भोगते हैं। यही पितरोंको प्राप्त होना है। ये भी अधिक-से-अधिक दिव्य पितरोंकी आयुपर्यन्त ही वहाँ रह सकते हैं। अन्तमें इनका भी पुनरागमन होता है।

यहाँ देव और पितरोंकी पूजाका निषेध नहीं समझना चाहिये। देव-पितृ-पूजा तो यथाविधि अपने-अपने वर्णाश्रमके अधिकारानुसार सबको अवश्य ही करनी चाहिये, परन्तु वह पूजा यदि सकामभावसे होती है तो अपना अधिक-से-अधिक फल देकर नष्ट हो जाती है, और यदि कर्तव्यबुद्धिसे भगवत्-आज्ञा मानकर या भगवत्-पूजा समझकर की जाती है तो वह भगवत्-प्राप्तिरूप महान् फलमें कारण होती है। इसलिये यहाँ समझना चाहिये कि देव-पितृकर्म तो अवश्य ही करें परन्तु उनमें निष्कामभाव लानेका प्रयत्न करें।

प्रश्न—'भूतेज्याः' पद किन मनुष्योंका वाचक है और उनका भूतोंको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—जो प्रेत और भूतगणोंकी पूजा करते हैं, उनकी पूजाके नियमोंका पालन करते हैं, उनके लिये हवन या दान आदि जो भी कुछ करते हैं, उनका वाचक 'भूतेज्याः' पद है। ऐसे मनुष्योंका जो उन-उन भूत-प्रेतादिके समान रूप-भोग आदिको प्राप्त होना है, वही उनको प्राप्त होना है। भूत-प्रेतोंकी पूजा तामसी है तथा अनिष्ट फल देनेवाली है, इसलिये उसको नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ 'मद्याजिनः' पद किनका वाचक है और उनका भगवान्‌को प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—जो पुरुष भगवान्‌के सगुण निराकार अथवा साकार—किसी भी रूपका सेवन-पूजन और भजन-ध्यान आदि करते हैं, उनके नामका जप करते हैं, गुणानुवाद सुनते और गाते हैं और इसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति-विषयक विविध भाँतिके साधन करते हैं, उनका वाचक यहाँ 'मद्याजिनः' पद है। और उनका भगवान्‌के दिव्य लोकमें जाकर सगुण भगवान्‌के समीप रहना, उनके-ही-जैसे दिव्य रूपको प्राप्त होना अथवा उनमें लीन हो जाना—यही भगवान्‌को प्राप्त होना है।

प्रश्न—इस वाक्यमें 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'अपि' पदसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे निराकार, साकार, किसी भी रूपकी निष्काम-भावसे उपासना करनेवाला मुझको प्राप्त होता है—इसमें तो कहना ही क्या है, किन्तु सकामभावसे उपासना करनेवाला भी मुझे प्राप्त होता है।

सम्बन्ध—भगवान्‌की भक्तिका भगवत्प्राप्तिरूप महान् फल होनेपर भी उसके साधनमें कोई कठिनता नहीं है, बल्कि उसका साधन बहुत ही सुगम है—यही बात दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ॥ २६ ॥

प्रश्न—'यः' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि किसी भी वर्ण, आश्रम और जातिका कोई भी मनुष्य पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण कर सकता है। बल, रूप, धन, आयु, जाति, गुण और विद्या आदिके कारण मेरी किसीमें भेदबुद्धि नहीं है; अवश्य ही अर्पण करनेवालेका भाव विदुर और शबरी आदि-की भाँति सर्वथा शुद्ध और प्रेमपूर्ण होना चाहिये।

प्रश्न—पूजाकी अनेक सामग्रियोंमेंसे केवल पत्र, पुष्प, फल और जलके ही नाम लेनेका क्या अभिप्राय है ? और इन सबका भक्तिपूर्वक भगवान्को अर्पण करना क्या है ?

उत्तर—यहाँ पत्र, पुष्प, फल और जलका नाम लेकर यह भाव दिखलाया गया है कि जो वस्तु साधारण मनुष्योंको बिना किसी परिश्रम और व्ययके अनायास मिल सकती है—ऐसी कोई भी वस्तु भगवान्-के अर्पण की जा सकती है। भगवान् पूर्णकाम होनेके कारण वस्तुके भूखे नहीं हैं, उनको तो केवल प्रेमकी ही आवश्यकता है। 'मुझ-जैसे साधारण-से-साधारण मनुष्यद्वारा अर्पण की हुई छोटी-से-छोटी वस्तु भी भगवान् सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, यह उनकी कैसी महत्ता है !' इस भावसे भावित होकर प्रेमविह्वल चित्तसे किसी भी वस्तुको भगवान्के समर्पण करना, उसे भक्तिपूर्वक भगवान्के अर्पण करना है।

प्रश्न—'प्रयतात्मनः' पदका क्या अर्थ है ? और इसके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो, उसे 'प्रयतात्मा' कहते हैं। इसका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यदि अर्पण करनेवालेका भाव शुद्ध न हो तो बाहरसे चाहे जितने शिष्टाचारके साथ, चाहे जितनी उत्तम-से-उत्तम सामग्री मुझे अर्पण की जाय, मैं उसे कभी स्वीकार नहीं करता। मैंने दुर्योधनका निमन्त्रण अस्वीकार करके भाव शुद्ध होनेके कारण विदुरके घरपर जाकर प्रेमपूर्वक भोजन किया, सुदामाके चिउरोंका बड़ी रुचिके साथ भोग लगाया, द्रौपदीकी बटलोईमें बचे हुए 'पत्ते' को खाकर विश्वको तृप्त कर दिया, गजेन्द्रद्वारा अर्पण किये हुए 'पुष्प' को स्वयं वहाँ पहुँचकर स्वीकार किया, शबरी-की कुटियापर जाकर उसके दिये हुए फलोंका भोग लगाया, और रन्तिदेवके जलको स्वीकार करके उसे कृतार्थ किया। इसी प्रकार प्रत्येक भक्तकी अर्पण की हुई वस्तुको मैं प्रेमपूर्वक सहर्ष स्वीकार करता हूँ।

इन भक्तोंका विशेषतः इस प्रसंगसे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओंका संक्षिप्त विवरण क्रमशः इस प्रकार है—

विदुर

बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास पूरा करके जब पाण्डवोंने दुर्योधनसे अपने राज्यकी माँग की, तब दुर्योधनने राज्य देनेसे साफ इन्कार कर दिया। इसपर पाण्डवोंकी ओरसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण दूत बनकर कौरवोंके यहाँ गये। बाहरी शिष्टाचार दिखलानेके लिये दुर्योधनने उनके स्वागतकी बड़ी तैयारी की थी। जब भोजनके लिये कहा, तब भगवान्ने अस्वीकार कर दिया। दुर्योधनके कारण पूछनेपर भगवान्ने कहा—'भोजन दो प्रकारसे किया जाता है। या तो जहाँ प्रेम हो, वहाँ जो कुछ भी मिले, बड़े आनन्दसे खाया जाता है। या जब भूखके मारे प्राण जाते हों तब चाहे जहाँ, चाहे जिस भावसे जो कुछ मिले उसीसे उदरपूर्ति करनी पड़ती है। यहाँ दोनों ही बातें नहीं हैं। प्रेम तो आपमें है ही नहीं, और भूखों मैं नहीं मरता।' इतना कहकर भगवान् बिना ही बुलाये भक्त विदुरजीके घर चल दिये। पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बाह्लीक आदि बड़े-बूढ़े लोगोंने

विदुरके घर जाकर श्रीकृष्णसे अपने-अपने घर चलनेके लिये भी अनुरोध किया; परन्तु भगवान् किसीके यहाँ नहीं गये और उन्होंने विदुरजीके घरपर ही उनके अत्यन्त प्रेमसे दिये हुए पदार्थोंका भोग लगाकर उन्हें कृतार्थ किया ! (महाभारत उ० प० ९१) 'दुर्योधनकी मेवा त्यागी, साग बिदुर घर खायो' प्रसिद्ध ही है ।

सुदामा

सुदामाजी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके बाल्यकालके सखा थे । दोनों उज्जैनमें सान्दीपनिजी महाराजके घर एक साथ ही पढ़े थे । सुदामा वेदवेत्ता, विषयोंसे विरक्त, शान्त और जितेन्द्रिय थे । विद्या पढ़ चुकनेपर दोनों सखा अपने-अपने घर चले गये ।

सुदामा बड़े ही गरीब थे । एक समय ऐसा हुआ कि लगातार कई दिनोंतक इस ब्राह्मणपरिवारको अन्नके दर्शन नहीं हुए । भूखके मारे बेचारी ब्राह्मणीका मुख सूख गया, बच्चोंकी दशा देखकर उसकी छाती भर आयी । वह जानती थी कि द्वारकाधीश भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मेरे स्वामीके सखा हैं । उसने डरसे काँपते-काँपते पतिको सब हालत सुनाकर द्वारका जानेके लिये अनुरोध किया । वह पतिके निष्कामभावको भी जानती थी, इससे उसने कहा—'प्रभो ! मैं जानती हूँ कि आपको धनकी रत्तीभर भी चाह नहीं है, परन्तु धन बिना गृहस्थीका निर्वाह होना बड़ा कठिन है । अतएव मेरी समझसे आपका अपने प्रिय मित्रके पास जाना ही आवश्यक और उचित है ।'

सुदामाने सोचा कि ब्राह्मणी दुःखोंसे घबराकर धनके लिये मुझे वहाँ भेजना चाहती है । उन्हें इस कार्यके लिये मित्रके घर जानेमें बड़ा संकोच हुआ । वे कहने लगे—'पगली ! क्या तू धनके लिये मुझे वहाँ भेजती है ? क्या ब्राह्मण कभी धनकी इच्छा किया करते हैं ? अपना तो काम भगवान्‌का भजन ही करना है । भूख लगनेपर भीख माँग ही सकते हैं ।'

ब्राह्मणीने कहा—'यह तो ठीक है, परन्तु यहाँ भीख भी तो नसीब नहीं होती । मेरे फटे चिथड़े और भूखसे छटपटाते बच्चोंके मुँहकी ओर तो देखिये ! मुझे धन नहीं चाहिये । मैं नहीं कहती कि आप उनके पास जाकर राज्य या लक्ष्मी माँगें । अपनी इस दीनदशामें एक बार वहाँ जाकर आप उनसे मिल तो आइये ।' सुदामाने जानेमें बहुत आनाकानी की; परन्तु अन्तमें यह विचारकर कि चलो इसी बहाने श्रीकृष्णचन्द्रके दुर्लभ दर्शनका परम लाभ होगा, सुदामाने जानेका निश्चय कर लिया । परन्तु खाली हाथों कैसे जायँ ? उन्होंने स्त्रीसे कहा—'हे कल्याणि ! यदि कुछ भेंट देनेयोग्य सामग्री घरमें हो तो लाओ ।' पतिकी बात तो ठीक थी, परन्तु वह बेचारी क्या देती ? घरमें अन्नकी कनी भी तो नहीं थी । ब्राह्मणी चुप हो गयी । परन्तु आखिर यह सोचकर कि कुछ दिये बिना सुदामा जायँगे नहीं, वह बड़े संकोचसे पड़ोसिनके पास गयी । आशा तो नहीं थी, परन्तु पड़ोसिनने दया करके चार मुट्ठी चिउरे उसे दे दिये । ब्राह्मणीने उनको एक मैले-कुचैले फटे चिथड़ेमें बाँधकर श्रीकृष्णकी भेंटके लिये पतिको दे दिया !

सुदामाजी द्वारका पहुँचे । पूछते-पूछते भगवान्‌के महलोंके दरवाजेपर गये । यहाँपर कविवर नरोत्तमजीने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है । वे लिखते हैं, द्वारपाल सुदामाजीको आदरसे वहीं बैठाकर संवाद देने प्रभुके पास गया और वहाँ जाकर उसने कहा—

सीस पगा न झगा तन पै प्रभु !
जाने को आहि, बसै केहि गामा ।
धोती फटी-सी, लटी दुपटी,
अरु पायँ उपानह की नहिं सामा ।।

द्वार खड़ो द्विज दुर्बल, देखि
रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा ।
पूछत दीनदयाल को धाम,
बतावत आपनो नाम सुदामा ॥

भगवान् 'सुदामा' शब्द सुनते ही सारी सुध-बुध भूल गये और हड़बड़ाकर उठे। मुकुट वहीं रह गया, पीताम्बर कहीं गिर पड़ा, पादुका भी नहीं पहन पाये और दौड़े द्वारपर! भगवान्ने दूरसे ही सुदामाका बुरा हाल देखकर कहा—

ऐसे बिहाल बिवाइन सों,
पग कंटक जाल गड़े पुनि जोये ।
हाय! महादुख पाये सखा! तुम
आये इतै न, कितै दिन खोये ॥
देखि सुदामा की दीन दसा,
करुना करिके करुनानिधि रोये ।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं,
नैनन के जल सों पग धोये ॥
(नरोत्तम कवि)

परातका पानी छूनेकी भी आवश्यकता नहीं हुई। सरकारने अपने आँसुओंकी धारासे ही सुदामाके पद पखार डाले और उन्हें छातीसे चिपटा लिया! तदनन्तर भगवान् उन्हें आदरसहित महलमें ले गये और वहाँ अपने दिव्य पलंगपर बैठाया; तथा स्वयं अपने हाथोंसे पूजनकी सामग्रीका संग्रह कर, अपने ही हाथोंसे उनके चरणोंको धोकर, उस जलको स्वयं त्रिलोकपावन होते हुए भी अपने मस्तकपर धारण किया। रुक्मिणीजीने कहा कि 'मैं भी चरण पखारूँगी।' भगवान्ने कहा, 'ठीक तो है, सब रानियाँ पखारें और इनके चरणोदकको महलोंमें सब ओर छिड़ककर सब स्थानोंको और अपने तन-मनको पवित्र करें।' रुक्मिणीजी एक हाथमें स्वर्णकी झारी लेकर दूसरे हाथसे चरण धोने लगीं—

'जेहि सुर सदा पुकारते जगदंबा जग तारनी ।
तिन्हैं आज सुर देखते भिच्छुक-चरन पखारनी ॥'

तदनन्तर भगवान्ने प्रिय मित्रके शरीरमें दिव्य गन्धयुक्त चन्दन, अगर, कुङ्कुम लगाया और सुगन्धित धूप, दीप आदिसे पूजन करके उन्हें दिव्य भोजन कराया, पान-सुपारी दी। ब्राह्मण सुदामाका शरीर अत्यन्त मलिन और क्षीण था। देहभरमें स्थान-स्थानपर नसें निकली हुई थीं। वे एक फटा-पुराना कपड़ा पहने हुए थे। परन्तु भगवान्के प्रिय सखा होनेके नाते साक्षात् लक्ष्मीका अवतार रुक्मिणीजी अपनी सखी देवियोंसहित रत्नदण्डयुक्त व्यजन-चामर हाथोंमें लिये परम दरिद्र भिक्षुक ब्राह्मणकी बड़ी चावसे सेवा-पूजा करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्ण सुदामाका हाथ अपने हाथमें लेकर लड़कपनकी मनोहर बातें करने लगे।

कुछ देरके बाद भगवान्ने प्रिय मित्रकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए हँसकर कहा कि 'भाई! तुम मेरे लिये कुछ भेंट भी लाये हो? भक्तोंकी प्रेमपूर्वक दी हुई जरा-सी वस्तुको भी मैं बहुत मानता हूँ, क्योंकि मैं प्रेमका भूखा हूँ। अभक्तके द्वारा दी हुई अपार सामग्री भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती।'

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(श्रीमद्भा० १०।८१।४)

भगवान्के इतना कहनेपर भी सुदामा चिउरोंकी पोटली भगवान्को नहीं दे सके!

भगवान्की अतुल राजसम्पत्ति और वैभव देखकर उन्हें चिउरा देनेमें सुदामाको बड़ी लज्जा हुई।

तब सब प्राणियोंके अन्तरकी बात जाननेवाले

हरिने ब्राह्मणके आनेका कारण समझकर विचार किया कि 'यह मेरा निष्काम भक्त और प्रिय सखा है। इसने धनकी कामनासे पहले भी कभी मेरा भजन नहीं किया और न अब भी इसे किसी तरहकी कामना है, इसीलिये यह चिउरोंकी भेंट देना नहीं चाहता। परन्तु यह अपनी पतिव्रता पत्नीकी प्रार्थनासे मेरे पास आया है; अतएव इसे मैं वह (भोग और मोक्षरूप) सम्पत्ति दूँगा, जो देवताओंको भी दुर्लभ है।'

यों विचारकर भगवान्ने 'यह क्या है?' कहकर जल्दीसे सुदामाकी बगलमें दबी हुई चिउरोंकी पोटली जबरदस्ती खींच ली। पुराना फटा कपड़ा था, पोटली खुल गयी और चिउरे चारों ओर बिखर गये। भगवान् बड़े प्रेमसे कहने लगे—

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः॥
(श्रीमद्भा० १०।८१।९)

'हे सखे! आपके द्वारा लाया हुआ यह चिउरोंका उपहार मुझको अत्यन्त प्रसन्न करनेवाला है। ये चिउरे मुझको और (मेरे साथ ही) समस्त विश्वको तृप्त कर देंगे।' यों कहकर भगवान् उन बिखरे हुए चिउरोंको बीन-बीनकर उन्हें चबाने लगे। भक्तके प्रेमपूर्वक लाये हुए उपहारका इस प्रकार भोग लगाकर भगवान्ने अपने अतुलनीय प्रेमका परिचय दिया।

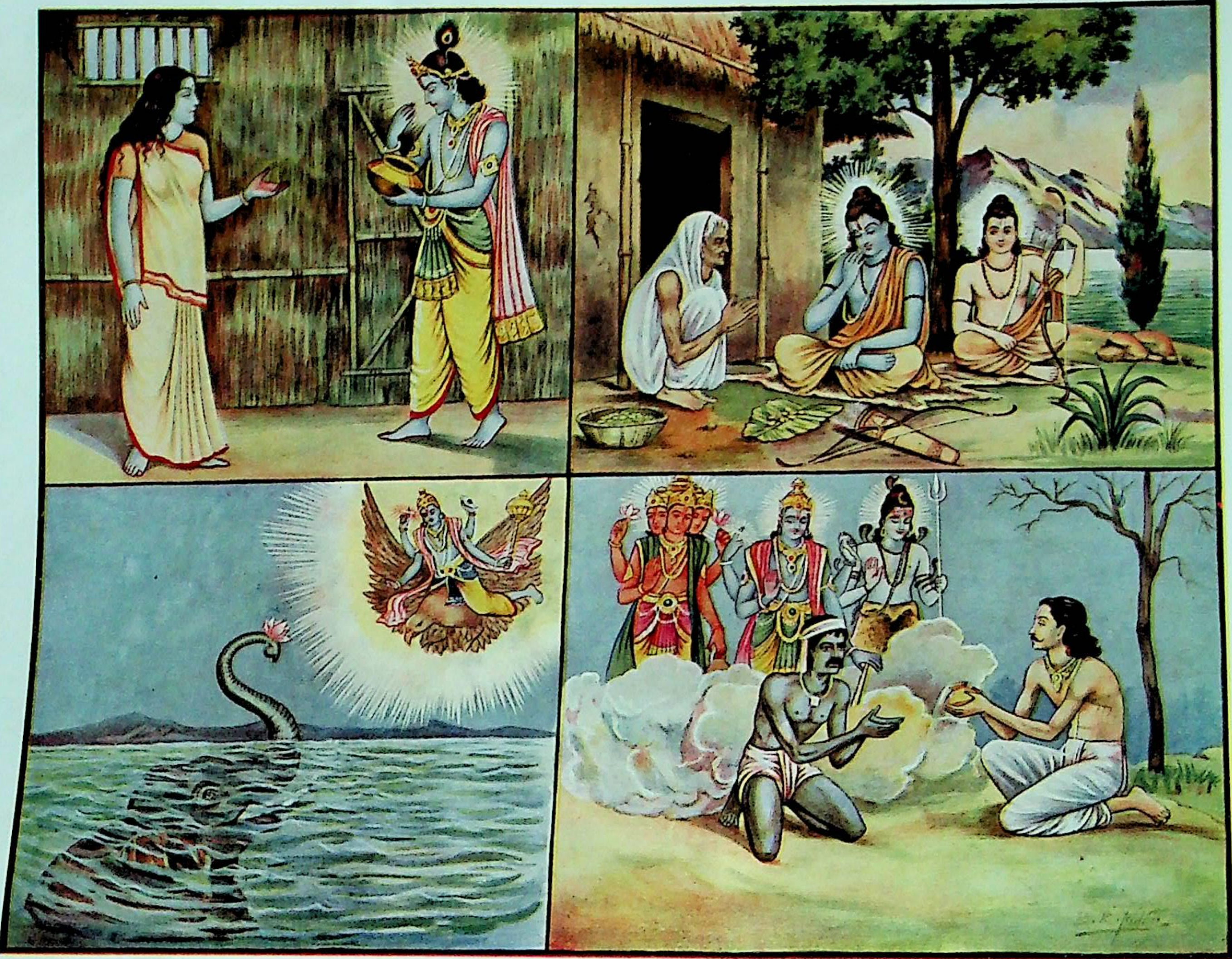
कुछ दिन बड़े आनन्दपूर्वक वहाँ रहकर सुदामा अपने घर लौटे। इधर घरका रूपान्तर हो गया था। भगवान्की लीलासे टूटी मड़ैया स्वर्णमहलके रूपमें परिणत हो चुकी थी। सुदामाने भगवान्की लीला समझकर उसे स्वीकार किया। उन्होंने मन-ही-मन कहा—'धन्य है! मेरे सखा ऐसे हैं कि याचकको विना बताये गुप्तरूपसे सब कुछ देकर उसका मनोरथ पूर्ण करते हैं। परन्तु मुझे धन नहीं चाहिये, मेरी तो बार-बार यही प्रार्थना है कि—जन्म-जन्मान्तरमें वही श्रीकृष्ण मेरे सुहृद्, सखा तथा मित्र हों और मैं उनका अनन्य भक्त रहूँ। मैं इस सम्पत्तिको नहीं चाहता, मुझको तो प्रत्येक जन्ममें उन सर्वगुणसम्पन्न भगवान्की विशुद्ध भक्ति और उनके भक्तोंका पवित्र संग मिलता रहे। वे दया करके ही धन नहीं दिया करते, क्योंकि धनके गर्वसे धनवानोंका अधःपतन हो जाता है। इसलिये वे अपने अदूरदर्शी भक्तको सम्पत्ति, राज्य और ऐश्वर्य नहीं देते।'

सुदामा आजीवन अनासक्तभावसे घरमें रहे और उन्होंने अपना सब समय भगवान्के भजनमें ही बिताया।

द्रौपदी

पाण्डव वनमें रहकर अपने दुःखके दिन काट रहे थे, परन्तु दुर्योधनकी खलमण्डली अपनी दुष्टताके कारण उनके विनाशकी ही बात सोच रही थी। दुर्योधनने एक बार दुर्वासा मुनिको प्रसन्न करके उनसे यह वर माँगा कि—'हमारे धर्मात्मा बड़े भाई महात्मा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित वनमें रहते हैं। एक दिन आप अपने दस हजार शिष्योंसहित उनके यहाँ भी जाकर अतिथि होइये। परन्तु इतनी प्रार्थना है कि वहाँ सब लोगोंके भोजन कर चुकनेपर जब यशस्विनी द्रौपदी खा-पीकर सुखसे आराम कर रही हो, उसी समय जाइयेगा।' दुर्योधनने कुचक्रियोंकी सलाहसे यह सोचा कि द्रौपदीके खा चुकनेपर उस दिनके लिये सूर्यके दिये हुए पात्रसे अन्न मिलेगा नहीं, इससे कोपन-स्वभाव दुर्वासा पाण्डवोंको शाप देकर भस्म कर डालेंगे और इस प्रकार सहज ही अपना काम सध जायगा। सरल-हृदय दुर्वासा दुर्योधनके इस कपटको नहीं समझे, इस-लिये वे उसकी बात मानकर पाण्डवोंके यहाँ काम्यक

द्रौपदी　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　शबरी



गजेन्द्र　　पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ (९ । २६)　　रन्तिदेव

वनमें जा पहुँचे। पाण्डव द्रौपदीसहित भोजनादि कार्योंसे निवृत्त होकर सुखसे बैठे वार्तालाप कर रहे थे। इतनेहीमें दस हजार शिष्योंसहित दुर्वासाजी वहाँ जा पहुँचे। युधिष्ठिरने भाइयोंसहित उठकर ऋषिका स्वागत-सत्कार किया और भोजनके लिये प्रार्थना की। दुर्वासाजीने प्रार्थना स्वीकार की और वे नहानेके लिये नदीतीरपर चले गये। इधर द्रौपदीको बड़ी चिन्ता हुई। परन्तु इस विपत्तिसे प्रियबन्धु श्रीकृष्णके सिवा उनकी प्यारी कृष्णाको और कौन बचाता? उसने भगवान्‌का स्मरण करते हुए कहा—'हे कृष्ण! हे गोपाल! हे अशरण-शरण! हे शरणागतवत्सल! अब इस विपत्तिसे तुम्हीं बचाओ—

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥
(महा० वन० २६३।१६)

'तुमने पहले कौरवोंकी राजसभामें जैसे दुष्ट दुःशासनके हाथसे मुझे छुड़ाया था, वैसे ही तुम्हें इस विपत्तिसे भी मुझे उबारना चाहिये।' इस समय भगवान् द्वारकामें रुक्मिणीजीके पास महलमें थे। द्रौपदीकी स्तुति सुनते ही उसे संकटमें जान भक्तवत्सल भगवान् रुक्मिणीको त्यागकर बड़ी ही तीव्रगतिसे द्रौपदीकी ओर दौड़े! अचिन्त्यगति परमेश्वरको आते क्या देर लगती? वे तुरंत द्रौपदीके पास आ पहुँचे। द्रौपदीके मानो प्राण आ गये! उसने प्रणाम करके सारी विपत्ति भगवान्‌को कह सुनायी। भगवान्‌ने कहा—'यह सब बात पीछे करना। मुझे बड़ी भूख लगी है; मुझे कुछ खानेको दो।' द्रौपदीने कहा—'भगवन्! खानेके फेरमें पड़कर तो मैंने तुम्हें याद ही किया है। मैं भोजन कर चुकी हूँ, अब उस पात्रमें कुछ भी नहीं है।' भगवान् बड़े विनोदी हैं, कहने लगे—

कृष्णे न नर्मकालोऽयं क्षुच्छ्रमेणातुरे मयि।
शीघ्रं गच्छ मम स्थालीमानयित्वा प्रदर्शय॥
(महा० वन० २६३।२३)

'हे द्रौपदी! इस समय मैं भूख और रास्तेकी थकावटसे व्याकुल हो रहा हूँ, यह मेरे साथ विनोदका समय नहीं है। जल्दी जाओ और सूर्यका दिया हुआ बर्तन लाकर मुझे दिखलाओ।'

बेचारी द्रौपदी क्या करती? पात्र लाकर सामने रख दिया। भगवान्‌ने तीक्ष्णदृष्टिसे देखा और एक सागका पत्ता ढूँढ़ निकाला। भगवान् बोले—'तुम कह रही थी न कि कुछ भी नहीं है, इस पत्तेसे तो त्रिभुवन तृप्त हो जायगा।' यज्ञभोक्ता भगवान्‌ने 'पत्ता' उठाया और मुँहमें डालकर कहा—

विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चास्त्विति यज्ञभुक्॥
(महा० वन० २६३।२५)

'इस पत्तेसे सारे विश्वके आत्मा यज्ञभोक्ता भगवान् तृप्त हो जायँ।' साथ ही सहदेवसे कहा कि—'जाओ ऋषियोंको भोजनके लिये बुला लाओ।' उधर नदीतटपर दूसरा ही गुल खिल रहा था, सन्ध्या करते-करते ही ऋषियोंके पेट फूल गये और डकारें आने लगी थीं। शिष्योंने दुर्वासासे कहा—'महाराज! हमारा तो गलेतक पेट भर गया है, वहाँ जाकर हम खायँगे क्या?' दुर्वासाकी भी यही दशा थी, वे बोले—'भैया! भगो यहाँसे जल्दी! ये पाण्डव बड़े ही धर्मात्मा, विद्वान् और सदाचारी हैं तथा भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त हैं; वे चाहें तो हमें वैसे ही भस्म कर सकते हैं जैसे रूईके ढेरको आग! मैं अभी अम्बरीषवाली घटना भूला नहीं हूँ, श्रीकृष्णके शरणागतोंसे मुझे बड़ा भारी डर लगता है।' दुर्वासाके ये वचन सुन शिष्यमण्डली यत्र-तत्र भाग गयी। सहदेवको कहीं कोई न मिला।

अब भगवान्‌ने पाण्डवोंसे और द्रौपदीसे कहा—

'लो, अब तो मुझे द्वारका जाने दो । तुम लोग धर्मात्मा हो, जो कोई निरन्तर धर्म करनेवाले हैं उन्हें कभी दुःख नहीं होता'—

धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदन्ति कर्हिचित् ।
(महा० वन० २६३।४४)

गजराज

गजराज त्रिकूट पर्वतपर रहता था । एक दिन वह गरमीसे व्याकुल होकर अनेकों बड़े-बड़े हाथियों और हथिनियोंके साथ वरुणदेवके ऋतुमान् नामक बगीचेमें अत्यन्त विस्तृत सुन्दर सरोवरके तटपर पहुँचा । तदनन्तर वह सरोवरके अंदर घुस गया और अमृततुल्य जल पीकर हथिनियों और उनके छोटे-छोटे बच्चोंके साथ खेलने लगा । उस सरोवरमें एक महान् बलवान् ग्राह रहता था । ग्राहने गजराजका पैर पकड़ लिया । गजराजने अपना सारा बल लगाकर उससे पैर छुड़ानेकी चेष्टा की, परन्तु वह न छुड़ा सका । इधर ग्राह उसे जलके अंदर खींचने लगा । साथके हाथी और हथिनियाँ सूँड़-से-सूँड़ मिलाकर गजराजको बचानेके लिये बाहर खींचने लगे, परन्तु उनकी एक भी नहीं चली । बहुत समयतक यह लड़ाई चलती रही । अन्तमें वह कातर होकर भगवान्‌की शरण हो गया । उसने कहा—

य: कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम् ।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥
(श्रीमद्भा० ८।२।३३)

'जो बहुत तेजीके साथ इधर-उधर दौड़ते हुए इस प्रचण्ड वेगवाले महाबली कराल कालरूपी सर्पके भयसे भीत होकर शरणमें आये हुए प्राणीकी रक्षा करता है, तथा जिसके भयसे मृत्यु भी [प्राणियोंको मारनेके लिये] इतस्ततः दौड़ता रहता है—ऐसा जो कोई ईश्वर है, उसकी हम शरण जाते हैं ।'

फिर गजराजने मन-ही-मन भगवान्‌की बड़ी ही सुन्दर स्तुति की; भगवान्‌ने भक्तकी पुकार सुनी और सुनते ही वे भक्तको बचानेके लिये अधीर हो उठे । यहाँ एक कविकी बड़ी ही सुन्दर उक्ति है—

पर्यङ्कं विसृजन् गणानगणयन् भूषामणिं विस्मर-
ल्लुत्तानोऽपि गदागदेति निगदन् पद्मामनालोकयन् ।
निर्गच्छन्नपरिच्छदं खगपतिं चारोहमाणोऽत्रतु
ग्राहग्रस्तमतङ्गपुङ्गवसमुद्धाराय नारायणः ॥

'ग्राहके चङ्गुलमें फँसे हुए गजराजको बचानेके लिये पलंगको छोड़ते हुए, पार्षदोंकी परवा न करते हुए, कौस्तुभमणिको भुलाकर, उठते-उठते ही 'गदा, गदा' इस प्रकार चिल्लाते हुए, लक्ष्मीजीको भी न देखते हुए और गरुड़जीपर विना कुछ बिछाये नंगी पीठ ही चढ़कर जाते हुए भगवान् नारायण हमारी रक्षा करें ।'

गरुड़की पीठपर चढ़कर भगवान् वहाँ जा पहुँचे । गजेन्द्रने आकाशमें गरुड़पर स्थित भगवान्‌के दर्शन किये और सूँड़से एक कमलका 'पुष्प' ऊपरको उठाकर अत्यन्त कष्टसे आर्त्त-स्वरसे कहा—'हे नारायण, हे सबके गुरु, आपको नमस्कार है ।'

भगवान्‌ने भक्तके प्रेमपूर्वक दिये हुए कमलके पुष्पको स्वीकार किया । अपने सुदर्शन चक्रसे ग्राहका सिर काटकर गजेन्द्रको महान् संकटसे छुड़ाया ।

शबरी

शबरी भीलनी थी । हीन जातिकी थी । परन्तु थी भगवान्‌की परम भक्त । उसने अपने जीवनका बहुत-सा अंश दण्डकारण्यमें छिप-छिपकर ऋषियोंकी सेवा करनेमें बिताया था । जिधरसे ऋषि स्नान करने जाते, उस रास्तेको झाड़ना, कँकरीली जमीनपर बालू बिछाना,

जंगलसे काट-काटकर ईंधन लाकर उनके आश्रमोंमें रख देना—यही उसका काम था। मतङ्ग मुनिने उसपर कृपा की। भगवान्‌के नामका उपदेश किया और ब्रह्मलोक जाते समय वे उससे कह गये कि 'भगवान् राम तेरी कुटियापर पधारेंगे। उनके दर्शनसे ही तू कृतार्थ हो जायगी। तबतक यहीं रहकर भजन कर।'

शबरीको भजनकी लगन लग गयी और उसका जीवन रामकी बाट जोहनेमें ही बीतने लगा। ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, त्यों-ही-त्यों शबरीकी उत्कण्ठा बढ़ने लगी। यह सोचकर कि—अब प्रभु पधारते ही होंगे, कहीं प्रभुके पैरमें काँटा न गड़ जाय, वह जल्दी-जल्दी जाकर दूरतक रास्ता बुहार आती। पानी छिड़कती। आँगनको गोबरसे लीपती और भगवान्‌के विराजनेके लिये मिट्टी-गोबरकी सुन्दर चौकी बनाकर रखती। जंगलमें जा-जाकर चाख-चाखकर जिस पेड़के फल मीठे होते तोड़-तोड़कर लाती और दोनोंमें भरकर रखती। दिनपर दिन बीतने लगे। उसका रोजका यही काम था। न मालूम वह दिनमें कितनी बार रास्ता बुहारती, कितनी बार चौका लगाती और चौकी बनाती तथा फल चुन-चुनकर लाती। आखिर भगवान् उसकी कुटियापर पधारे। शबरी कृतकृत्य हो गयी! श्रीरामचरितमानसमें गोसाईंजी लिखते हैं—

सबरी देखि राम गृहँ आए। मुनि के बचन समुझि जिय भाए॥
सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा

शबरी आनन्दसागरमें डूब गयी। प्रेमके आवेशमें उसकी वाणी रुक गयी और वह बार-बार भगवान्‌के पावन चरणकमलोंमें मस्तक टेक-टेककर प्रणाम करने लगी। फिर उसने भगवान्‌का पूजन किया। फल सामने रक्खे। भगवान्‌ने उसकी भक्तिकी बड़ाई करते हुए उसकी पूजा स्वीकार की और उसके दिये हुए प्रेमभरे फलोंका भोग लगाकर उसे कृतार्थ कर दिया! उसके फलोंमें भगवान्‌को कितना अपूर्व स्वाद मिला, इसका बखान करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

घर, गुरुगृह, प्रिय-सदन, सासुरें, भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई॥*

रन्तिदेव

महाराज रन्तिदेव संकृतिनामक राजाके पुत्र थे। ये बड़े ही प्रतापी और दयालु थे। रन्तिदेवने गरीबोंको दुखी देखकर अपना सर्वस्व दान कर डाला। इसके बाद वे किसी तरह कठिनतासे अपना निर्वाह करने लगे। पर उन्हें जो कुछ मिलता था, उसे स्वयं भूखे रहनेपर भी वे गरीबोंको बाँट दिया करते थे। इस प्रकार राजा सर्वथा निर्धन होकर सपरिवार अत्यन्त कष्ट सहने लगे!

एक समय पूरे अड़तालीस दिनतक राजाको भोजनकी कौन कहे, जल भी पीनेको नहीं मिला। भूख-प्याससे पीडित बलहीन राजाका शरीर काँपने लगा। अन्तमें उन्चासवें दिन प्रातःकाल राजाको घी, खीर, हलवा और जल मिला! अड़तालीस दिनके लगातार अनशनसे राजा परिवारसहित बड़े ही दुर्बल हो गये थे। सबके शरीर काँप रहे थे।

रन्तिदेव भोजन करना ही चाहते थे कि एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। करोड़ रुपयोंमेंसे नामके लिये लाख रुपये दान करना बड़ा सहज है, परन्तु भूखे पेट अन्नदान करना बड़ा कठिन कार्य है। पर सर्वत्र हरिको व्याप्त देखनेवाले भक्त रन्तिदेवने वह अन्न आदरसे श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणरूप अतिथिनारायणको बाँट दिया। ब्राह्मणदेवता भोजन करके तृप्त होकर चले गये।

* यह इतिहास श्रीरामचरितमानस आदि ग्रन्थोंसे लिया गया है।

उसके बाद राजा बचा हुआ अन्न परिवारको बाँट-कर खाना ही चाहते थे कि एक शूद्र अतिथिने पदार्पण किया। राजाने भगवान् श्रीहरिका स्मरण करते हुए बचा हुआ कुछ अन्न उस दरिद्रनारायणकी भेंट कर दिया। इतनेमें ही कई कुत्तोंको साथ लिये एक और मनुष्य अतिथि होकर वहाँ आया और कहने लगा—'राजन्! मेरे ये कुत्ते और मैं भूखा हूँ, भोजन दीजिये।'

हरिभक्त राजाने उसका भी सत्कार किया और आदरपूर्वक बचा हुआ सारा अन्न कुत्तोंसहित उस अतिथिभगवान्‌के समर्पण कर उसे प्रणाम किया!

अब, एक मनुष्यकी प्यास बुझ सके—केवल इतना-सा जल बच रहा था। राजा उसको पीना ही चाहते थे कि अकस्मात् एक चाण्डालने आकर दीन-स्वरसे कहा—'महाराज! मैं बहुत ही थका हुआ हूँ, मुझ अपवित्र नीचको पीनेके लिये थोड़ा-सा जल दीजिये!'

चाण्डालके दीनवचन सुनकर और उसे थका हुआ जानकर राजाको बड़ी दया आयी और उन्होंने ये अमृतमय वचन कहे—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्त्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे॥
(श्रीमद्भा० ९। २१। १२-१३)

'मैं परमात्मासे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंसे युक्त उत्तम गति या मुक्ति नहीं चाहता; मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख भोग करूँ, जिससे वे लोग दुःखरहित हो जायँ।'

'[इस मनुष्यके प्राण जल बिना निकल रहे हैं, यह प्राणरक्षाके लिये मुझसे दीन होकर जल माँग रहा है] जीनेकी इच्छावाले इस दीन प्राणीको यह जीवनरूप जल अर्पण करनेसे मेरी भूख, प्यास, थकावट, शारीरिक कष्ट, दीनता, क्लान्ति, शोक, विषाद और मोह आदि सब मिट गये।'

इतना कहकर स्वाभाविक दयालु राजा रन्तिदेवने स्वयं प्यासके मारे मृतप्राय रहनेपर भी उस चाण्डालको वह जल आदर और प्रसन्नतापूर्वक दे दिया।

फलकी कामना करनेवालोंको फल देनेवाले त्रिभुवननाथ भगवान् ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही महाराज रन्तिदेवकी परीक्षा लेनेके लिये मायाके द्वारा ब्राह्मणादि रूप धरकर आये थे। राजाका धैर्य और उसकी भक्ति देखकर वे परम प्रसन्न हो गये और उन्होंने अपना-अपना यथार्थ रूप धारणकर राजाको दर्शन दिया। राजाने तीनों देवोंका एक ही साथ प्रत्यक्ष दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया और उनके कहनेपर भी कोई वर नहीं माँगा। क्योंकि राजाने आसक्ति और कामना त्यागकर अपना मन केवल भगवान् वासुदेवमें लगा रक्खा था। यों परमात्माके अनन्य भक्त रन्तिदेवने अपना चित्त पूर्णरूपसे केवल ईश्वरमें लगा दिया और परमात्माके साथ तन्मय हो जानेके कारण त्रिगुणमयी माया उनके सामनेसे स्वप्नके समान लीन हो गयी! रन्तिदेवके परिवारके अन्य सब लोग भी उनके संगके प्रभावसे नारायण-परायण होकर योगियोंकी परम गतिको प्राप्त हुए!

प्रश्न—'भक्त्युपहृतम्' का क्या अर्थ है? और उसके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—उपर्युक्त पत्र, पुष्प आदि कोई भी वस्तु जो प्रेमपूर्वक समर्पण की जाती है, उसे 'भक्त्युपहृत' कहते हैं। इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि बिना प्रेमके दी हुई वस्तुको मैं स्वीकार नहीं करता।

और जहाँ प्रेम होता है तथा जिसको मुझे वस्तु अर्पण करनेमें और मेरेद्वारा उसके स्वीकार हो जानेमें सच्चा आनन्द होता है, वहाँ उस भक्तके द्वारा अर्पण किये जानेपर स्वीकार कर लेनेकी बात ही कौन-सी है ? पुण्यमयी व्रजगोपिकाओंके घरोंकी तरह उन भक्तोंके घरोंमें घुस-घुसकर मैं उनकी सामग्रियोंका भोग लगा जाता हूँ। वस्तुतः मैं प्रेमका भूखा हूँ, वस्तुओंका नहीं!

प्रश्न—'अहम्' और 'अश्नामि' का क्या भाव है ?

उत्तर—इनके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार शुद्ध भावसे प्रेमपूर्वक समर्पण की हुई वस्तुओंको मैं स्वयं उस भक्तके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट होकर खा लेता हूँ अर्थात् जब मनुष्यादिके रूपमें अवतीर्ण होकर संसारमें विचरता हूँ, तब तो उस रूपमें वहाँ पहुँचकर और अन्य समयमें उस भक्तके इच्छानुसार रूपमें प्रकट होकर उसकी दी हुई वस्तुका भोग लगा कर उसे कृतार्थ कर देता हूँ।

सम्बन्ध—यदि ऐसी ही बात है तो मुझे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर भगवान् अर्जुनको उसका कर्तव्य बतलाते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥२७॥

हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर॥ २७॥

प्रश्न—'यत्' पदके साथ-साथ 'करोषि', 'अश्नासि', 'जुहोषि', 'ददासि' और 'तपस्यसि' इन पाँच क्रियाओंके प्रयोगका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने सब प्रकारके कर्तव्य-कर्मोंका समाहार किया है। अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त जीविकानिर्वाह आदिके लिये किये जानेवाले वर्ण, आश्रम और लोकव्यवहारके कर्म तथा भगवान्‌का भजन, ध्यान आदि जितने भी शास्त्रीय कर्म हैं, उन सबका समावेश 'यत्करोषि' में, शरीर-पालनके निमित्त किये जानेवाले खान-पान आदि कर्मोंका 'यदश्नासि' में, पूजन और हवनसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यज्जुहोषि' में, सेवा और दानसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यद्ददासि' में और संयम तथा तपसम्बन्धी समस्त कर्मोंका (१७। १४ से १७) समावेश 'यत्तपस्यसि' में किया गया है।

प्रश्न—उपर्युक्त समस्त कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना किसे कहते हैं ?

उत्तर—साधारण मनुष्यकी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति होती है तथा वह उनमें फलकी कामना रखता है। अतएव समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग कर देना और यह समझना कि समस्त जगत् भगवान्‌का है, मेरे मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रिय भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का हूँ, इसलिये मेरेद्वारा जो कुछ भी यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, वे सब भगवान्‌के ही हैं। कठपुतलीको नचानेवाले सूत्रधारकी भाँति भगवान् ही मुझसे यह सब कुछ करवा रहे हैं और वे ही सब रूपोंमें इन सबके भोक्ता भी हैं; मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—ऐसा समझकर जो भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये निष्कामभावसे उपर्युक्त कर्मोंका करना है, यही उन कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना है।

प्रश्न—पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्को अर्पण करना, कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फल ही भगवान्के अर्पण करना—इस प्रकारका अर्पण, वास्तवमें अर्पण करना है या नहीं?

उत्तर—इस प्रकारसे करना भी भगवान्के ही अर्पण करना है। पहले इसी प्रकार होता है। ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त प्रकारसे पूर्णतया भगवदर्पण होता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार समस्त कर्मोंको आपके अर्पण करनेसे क्या होगा, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

प्रश्न—'एवम्' पदके सहित 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'एवम्' पदके प्रयोगका यह भाव है कि यहाँ 'संन्यासयोग' पद सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगका वाचक नहीं है, किन्तु पूर्वश्लोकके अनुसार समस्त कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर देना ही यहाँ 'संन्यासयोग' है। इसलिये ऐसे संन्यासयोगसे जिसका आत्मा युक्त हो, जिसके मन और बुद्धिमें पूर्वश्लोकके कथनानुसार समस्त कर्म भगवान्के अर्पण करनेका भाव सुदृढ हो गया हो, उसे 'संन्यासयोग-युक्तात्मा' समझना चाहिये।

प्रश्न—शुभाशुभफलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त होना क्या है और उनसे मुक्त होकर भगवान्को प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—भिन्न-भिन्न शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार स्वर्ग, नरक और पशु, पक्षी एवं मनुष्यादि लोकोंके अंदर नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेना तथा सुख-दुःखोंका भोग करना—यही शुभाशुभ फल है, इसीको कर्मबन्धन कहते हैं; क्योंकि कर्मोंका फल भोगना ही कर्मबन्धनमें पड़ना है। उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्म भगवान्के अर्पण कर देनेवाला मनुष्य कर्मफलरूप पुनर्जन्मसे और सुख-दुःखोंके भोगसे मुक्त हो जाता है, यही शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाना है। मरनेके बाद भगवान्के परम धाममें पहुँच जाना या इसी जन्ममें भगवान्को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेना ही उस कर्मबन्धनसे मुक्त होकर भगवान्को प्राप्त होना है।

प्रश्न—पूर्वश्लोकके कथनानुसार भगवदर्पण कर्म करनेवाला मनुष्य अशुभकर्म तो करता ही नहीं, फिर अशुभके फलसे छूटनेकी बात यहाँ कैसे कही गयी?

उत्तर—इस प्रकारके साधनमें लगनेसे पहले, पूर्वके अनेक जन्मोंमें और इस जन्ममें भी उसके द्वारा जितने अशुभ कर्म हुए हैं एवं 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' के अनुसार विहित कर्मोंके करनेमें जो आनुसङ्गिक दोष बन जाते हैं—उन सबसे भी, कर्मोंको भगवदर्पण करनेवाला साधक मुक्त हो जाता है। यही भाव दिखलानेके लिये शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मफलोंसे मुक्त होनेकी बात कही गयी है।

प्रश्न—शुभकर्मोंको बन्धन क्यों बतलाया गया?

उत्तर—पूर्वश्लोकके कथनानुसार जब समस्त शुभकर्म भगवान्‌के अर्पण हो जाते हैं तब तो उनका फल भगवत्प्राप्ति ही होता है। परन्तु सकामभावसे किये हुए शुभकर्म इस लोक और परलोकमें भोगरूप फल देनेवाले होते हैं। जिन कर्मोंका फल भोगप्राप्ति है, वे पुनर्जन्ममें डालनेवाले और भोगेच्छा तथा आसक्तिसे भी बाँधनेवाले होते हैं। इसलिये उनके फलको बन्धनकारक बतलाना ठीक ही है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि शुभ कर्म त्याज्य हैं। शुभ कर्म तो करने ही चाहिये, परन्तु उनका कोई फल न चाहकर उन्हें भगवदर्पण करते रहना चाहिये। ऐसा करनेपर उनका फल बन्धनकारक न होकर भगवत्प्राप्ति ही होगा।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की भक्ति करनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं होती—इस कथनसे भगवान्‌में विषमताके दोषकी आशङ्का हो सकती है। अतएव उसका निवारण करते हुए भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥२९॥

मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ॥२९॥

प्रश्न—'मैं सब भूतोंमें सम हूँ', तथा 'मेरा कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है'—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे समानभावसे व्याप्त हूँ। अतएव मेरा सबमें समभाव है, किसीमें भी मेरा राग-द्वेष नहीं है। इसलिये वास्तवमें मेरा कोई भी अप्रिय या प्रिय नहीं है।

प्रश्न—भक्तिसे भगवान्‌को भजना क्या है तथा 'वे मुझमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान्‌के साकार या निराकार—किसी भी रूपका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, महिमा और लीला-चरित्रोंका श्रवण, मनन और कीर्तन करना; उनको नमस्कार करना; पत्र, पुष्प आदि यथेष्ट सामग्रियोंके द्वारा उनकी प्रेमपूर्वक पूजा करना और अपने समस्त कर्म उनके समर्पण करना आदि सभी क्रियाओंका नाम भक्तिपूर्वक भगवान्‌को भजना है।

जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् भी उनको वैसे ही भजते हैं। वे जैसे भगवान्‌को नहीं भूलते, वैसे ही भगवान् भी उनको नहीं भूल सकते—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने उनको अपनेमें बतलाया है। और उन भक्तोंका विशुद्ध अन्तःकरण भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है, इससे उनके हृदयमें भगवान् सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं। यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको उनमें बतलाया है।

अभिप्राय यह है कि इसी अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंके अनुसार भगवान्‌का निराकार रूप

समस्त चराचर प्राणियोंमें व्याप्त और समस्त चराचर प्राणी उनमें सदा स्थित होनेपर भी भगवान्‌का अपने भक्तोंको अपने हृदयमें विशेषरूपसे धारण करना और उनके हृदयमें स्वयं प्रत्यक्षरूपसे निवास करना भक्तोंकी भक्तिके कारण ही होता है। इसीसे भगवान्‌ने दुर्वासाजीसे कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥
(श्रीमद्भागवत ९।४।६८)

'साधु (भक्त) मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते, तथा मैं उनको छोड़कर और किसीको किञ्चित् भी नहीं जानता।'

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिबिम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता, तथापि उसमें विषमता नहीं है, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंको मिलते हैं, दूसरोंको नहीं मिलते—इसमें उनकी विषमता नहीं है, यह तो भक्तिकी ही महिमा है।

सम्बन्ध—सब भजन करनेवालोंमें अपना समभाव प्रदर्शित करते हुए भगवान् अब अगले दो श्लोकोंमें दुराचारीको भी शाश्वत शान्ति प्राप्त होनेकी घोषणा करके अपनी भक्तिकी विशेष महिमा दिखलाते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ॥ ३०॥

प्रश्न—'अपि' का प्रयोग किस अभिप्रायसे किया गया है ?

उत्तर—'अपि' के द्वारा भगवान्‌ने अपने समभावका प्रतिपादन किया है। अभिप्राय यह है कि सदाचारी और साधारण पापियोंका मेरा भजन करनेसे उद्धार हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है, भजनसे अतिशय दुराचारीका भी उद्धार हो सकता है।

प्रश्न—'चेत्' अव्ययका प्रयोग यहाँ क्यों किया गया ?

उत्तर—'चेत्' अव्यय 'यदि' के अर्थमें है। इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि प्रायः दुराचारी मनुष्योंकी विषयोंमें और पापोंमें आसक्ति रहनेके कारण वे मुझमें प्रेम करके मेरा भजन नहीं करते। तथापि किसी पूर्व शुभ संस्कारकी जागृति, भगवद्भावमय वातावरण, शास्त्रके अध्ययन और महात्मा पुरुषोंके सत्संगसे मेरे गुण, प्रभाव, महत्त्व और रहस्यका श्रवण करनेसे यदि कदाचित् दुराचारी मनुष्यकी मुझमें श्रद्धा-भक्ति हो जाय और वह मेरा भजन करने लगे तो उसका भी उद्धार हो सकता है।

प्रश्न—'सुदुराचारः' पद कैसे मनुष्योंका वाचक है और उसका 'अनन्यभाक्' होकर भगवान्‌को भजना क्या है ?

उत्तर—जिनके आचरण अत्यन्त दूषित हों, खानपान

और चालचलन भ्रष्ट हों, अपने स्वभाव, आसक्ति और बुरी आदतसे विवश होनेके कारण जो दुराचारोंका सर्वथा त्याग न कर सकते हों, ऐसे मनुष्योंका वाचक यहाँ 'सुदुराचारः' पद है। ऐसे मनुष्योंका जो भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिके सुनने और पढ़नेसे या अन्य किसी कारणसे भगवान्‌को सर्वोत्तम समझ लेना और एकमात्र भगवान्‌का ही आश्रय लेकर अतिशय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उन्हींको अपना इष्टदेव मान लेना है—यही उनका 'अनन्यभाक्' होना है। इस प्रकार भगवान्‌का भक्त बनकर जो उनके स्वरूपका चिन्तन करना, नाम, गुण, महिमा और प्रभावका श्रवण, मनन और कीर्तन करना, उनको नमस्कार करना, पत्र-पुष्प आदि यथेष्ट वस्तु उनके अर्पण करके उनका पूजन करना तथा अपने किये हुए शुभ कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करना है—यही अनन्यभाक् होकर भगवान्‌का भजन करना है।

प्रश्न—ऐसे मनुष्यको 'साधु' समझनेके लिये कहकर उसे जो यथार्थ निश्चयवाला बतलाया है, इसमें भगवान्‌का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि मेरा भक्त यदि दुराचारोंके सर्वथा त्यागकी इच्छा और चेष्टा करनेपर भी स्वभाव और अभ्यासकी विवशतासे किसी दुराचारका पूर्णतया त्याग न कर सकता हो, तो भी उसे दुष्ट न समझकर साधु ही समझना चाहिये। क्योंकि उसने जो यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि 'भगवान् पतितपावन, सबके सुहृद्, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु, सर्वज्ञ, सबके स्वामी और सर्वोत्तम हैं एवं उनका भजन करना ही मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य है; इससे समस्त पापों और पापवासनाओंका समूल नाश होकर भगवत्कृपासे मुझको अपने आप ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी।'—यह बहुत ही उत्तम और यथार्थ निश्चय है। जिसका ऐसा निश्चय है, वह मेरा भक्त है; और मेरी भक्तिके प्रतापसे वह शीघ्र ही पूर्ण धर्मात्मा हो जायगा। अतएव उसे पापी या दुष्ट न मानकर साधु ही मानना उचित है।

प्रश्न—सातवें अध्यायके १५वें श्लोकमें तो भगवान्‌ने कहा है कि 'दुष्कृती (दुराचारी) मनुष्य मुझे नहीं भजते' और यहाँ दुराचारीके भजनका फल बतलाते हैं। इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंमें विरोध-सा प्रतीत होता है, इसका क्या समाधान है?

उत्तर—वहाँ जिन दुराचारियोंका वर्णन किया गया है, वे केवल पाप ही नहीं करते। उनका न तो भगवान्‌में विश्वास है, न वे भगवान्‌को जानते हैं और न पाप-कर्मोंसे बचना ही चाहते हैं। इसीलिये उन नास्तिक और मूढ़ पुरुषोंके लिये 'माययापहृतज्ञानाः', 'नराधमाः' और 'आसुरं भावमाश्रिताः' इत्यादि विशेषण दिये गये हैं। परन्तु यहाँ जिनका वर्णन है, इनसे पाप तो बनते हैं पर ये उन पापोंसे छूटनेके लिये व्यग्र हैं। इनकी भगवान्‌के गुण, प्रभाव, स्वरूप और नाममें भक्ति है तथा इन्होंने दृढ़ विश्वासके साथ यह निश्चय कर लिया है कि 'एकमात्र पतितपावन परम दयालु परमेश्वर ही सबकी अपेक्षा परम श्रेष्ठ हैं। वे ही हमारे परम इष्टदेव हैं और उनका भजन करना ही मनुष्यजीवनका परम कर्तव्य है। उन्हींकी कृपासे हमारे पापोंका समूल नाश हो जायगा और हमको उनकी सहज ही प्राप्ति हो जायगी।' इसीलिये इनको 'सम्यग्व्यवसित' और 'अनन्यभाक्' भक्त बतलाया गया है। अतएव इनके द्वारा भजन होना स्वाभाविक ही है। और नास्तिकोंका भगवान्‌में विश्वास नहीं होता, इसलिये उनके द्वारा भजन होना सम्भव नहीं है। अतएव इन दोनोंमें कोई विरोध नहीं है और प्रसङ्गभेदसे दोनों ही कथन ठीक हैं।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ॥३१॥

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌का भजन करनेवाले भक्तका शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाना क्या है ? तथा 'शश्वत् शान्ति' को प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—इसी जन्ममें बहुत ही शीघ्र सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर सोलहवें अध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें वर्णित दैवी-सम्पदासे युक्त हो जाना अर्थात् भगवान्‌की प्राप्तिका पात्र बन जाना ही शीघ्र धर्मात्मा बन जाना है । और जो सदा रहनेवाली शान्ति है, जिसका एक बार प्राप्त हो जानेपर फिर कभी अभाव नहीं होता, जिसे नैष्ठिकी शान्ति (५।१२), निर्वाणपरमा शान्ति (६।१५) और परमा शान्ति (१८।६२) कहते हैं, परमेश्वरकी प्राप्तिरूप उस शान्तिको प्राप्त हो जाना ही 'शश्वत् शान्ति' को प्राप्त होना है ।

प्रश्न—'प्रतिजानीहि' पदका क्या अर्थ है और इसके प्रयोगका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'प्रति' उपसर्गके सहित 'ज्ञा' धातुसे बना हुआ 'प्रतिजानीहि' पद है । इसका अर्थ 'प्रतिज्ञा करो' या 'दृढ़ निश्चय करो' होता है । यहाँ इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन ! मैंने जो तुम्हें अपनी भक्तिका और भक्तका यह महत्त्व बतलाया है, उसमें तुम्हें किञ्चिन्मात्र भी संशय न रखकर उसे सर्वथा सत्य समझना और दृढ़तापूर्वक धारण कर लेना चाहिये ।

प्रश्न—'न मे भक्तः प्रणश्यति' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'प्र' उपसर्गके सहित 'नश्यति' क्रिया-का भावार्थ पतन होना है । अतः यहाँ भगवान्‌के कहनेका यह अभिप्राय है कि मेरे भक्तका क्रमशः उत्थान ही होता रहता है, पतन नहीं होता । अर्थात् वह न तो अपनी स्थितिसे कभी गिरता है और न उसको नीच योनि या नरकादिकी प्राप्तिरूप दुर्गतिकी ही प्राप्ति होती है; वह पूर्व-कथनके अनुसार क्रमशः दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होकर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

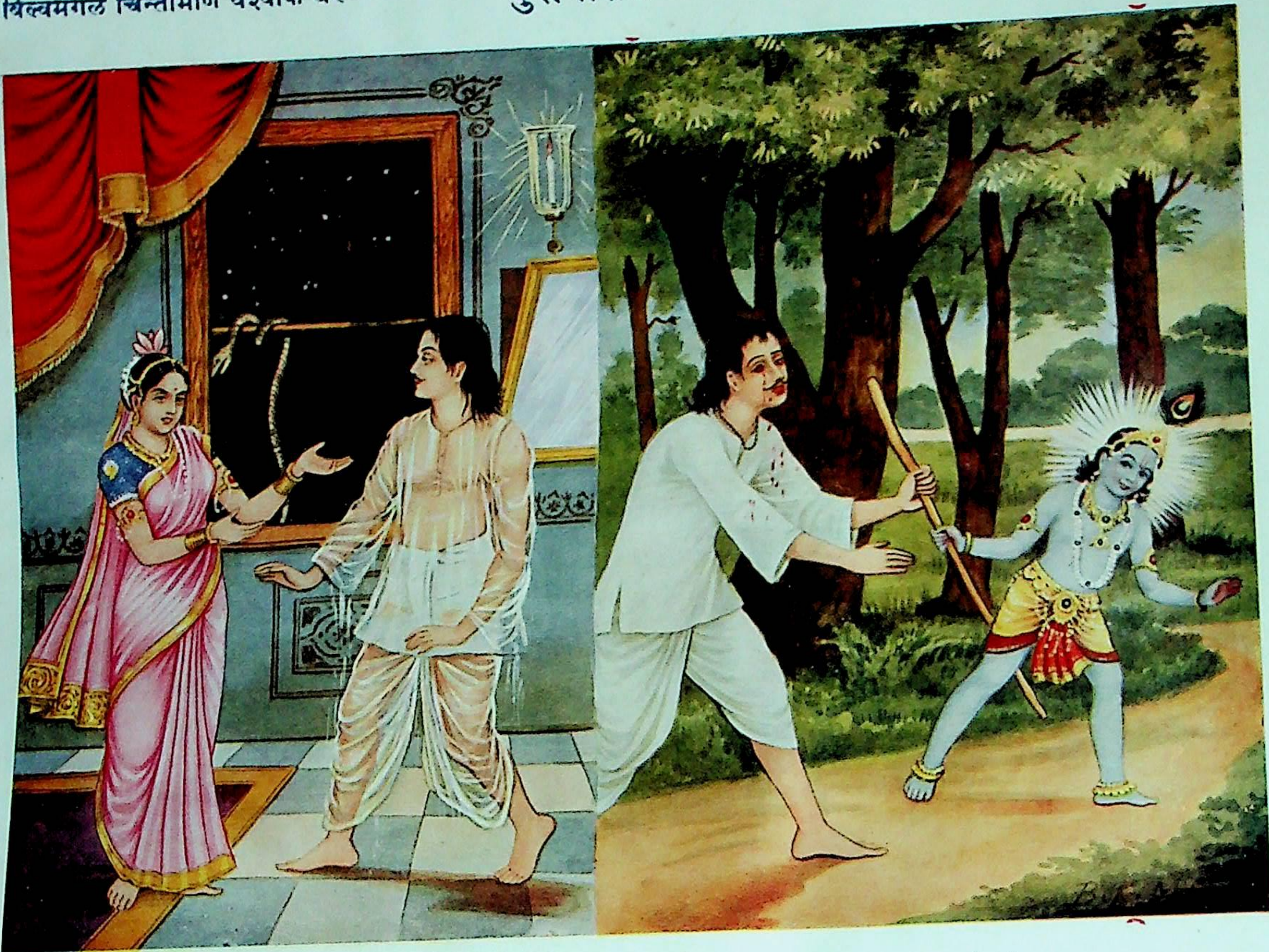
प्रश्न—ऐसे किसी भक्तका उदाहरण भी है ?

बिल्वमङ्गल

उत्तर—अनेकों उदाहरण हैं । अभी हालका उदाहरण भक्ति-रसपूर्ण 'कृष्णकर्णामृत' काव्यके रचयिता श्रीबिल्वमङ्गलजीका है । दक्षिणके कृष्णवीणा नदीके तटपर एक ग्राममें रामदासनामक भक्त ब्राह्मण निवास करते थे, बिल्वमङ्गल उन्हींके पुत्र थे । पढ़े-लिखे थे; शान्त, शिष्ट, साधुस्वभाव थे; परन्तु पिताके मरनेपर कुसङ्गमें पड़कर ये अत्यन्त ही दुराचारी हो गये । वेश्या-के यहाँ पड़े रहना और दिन-रात पापकर्ममें रत रहना ही इनका काम हो गया । चिन्तामणिनामक एक वेश्यापर ये अनुरक्त थे । वेश्या नदीके उस पार रहती थी । पिताका श्राद्ध था, इसलिये ये दिनमें उसके घर नहीं जा सके । तन घरमें था, पर मन वहाँ लगा था । श्राद्धका काम समाप्त होते-होते शाम हो गयी । ये जानेको तैयार हुए । लोगोंने कहा, आज पिताका श्राद्ध है, मत जाओ । परन्तु उनकी कौन सुनता ? दौड़े, नदीतटपर पहुँचे । तूफान आ गया । मूसलधार पानी

—दुराचारीसे भक्त—

बिल्वमंगल चिन्तामणि वेश्याके घर— —बिल्वमंगल भगवान्‌के साथ



अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति । कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ (९ । ३०-३१)

बरसने लगा। केवटोंने डरकर नावोंको किनारे बाँधकर पेड़ोंका आश्रय लिया। बड़ी भयावनी रात हो गयी। इन्होंने केवटोंको समझाया, लालच दिया; परन्तु जान देनेको कौन तैयार होता? इनकी तो लगन ही दूसरी थी। कुछ भी आगा-पीछा न सोचकर ये नदीमें कूद पड़े। किसी स्त्रीकी सड़ी लाश बही जा रही थी, अँधेरेमें कुछ सूझता तो था ही नहीं। फिर ये तो उस समय कामान्ध थे। इन्होंने समझा, लकड़ी है और उसे पकड़ लिया। न मुर्देका खयाल, न दुर्गन्धका; दैवयोगसे पार पहुँच गये और दौड़कर चिन्तामणिके घर पहुँचे। घरका दरवाजा बन्द था, पर इनकी छटपटाहट तो अजीब थी। इन्होंने दीवाल फाँदकर अंदर जाना चाहा। हाथ बढ़ाया। एक रेशमका-सा कोमल रस्सा हाथ लग गया, वह था कालनाग सर्प; फन दीवालपर था, नीचेकी ओर लटक रहा था। ये उसकी पूँछ पकड़कर ऊपर चढ़ गये। भगवान्‌की लीला थी, साँपने इन्हें काटा नहीं। इन्होंने जाकर चिन्तामणिको जगाया। वह इन्हें देखते ही सहमी-सी रह गयी, उसने कहा—'तुम इस भयावनी रातमें नदीपार होकर बन्द घरमें कैसे आये?' बिल्वमङ्गलने काठपर चढ़कर नदीपार होने और रस्सेकी सहायतासे दीवालपर चढ़नेकी कथा सुनायी! वृष्टि थम चुकी थी। चिन्तामणि दीपक हाथमें लेकर बाहर आयी, देखती है तो दीवालपर भयानक काला नाग लटक रहा है और नदीके तीरपर सड़ा मुर्दा पड़ा है। बिल्वमङ्गलने भी देखा और देखते ही वे काँप उठे। चिन्तामणिने भर्त्सना करके कहा कि 'तू ब्राह्मण है? अरे! आज तेरे पिताका श्राद्ध था, परन्तु एक हाड़-मांसकी पुतलीपर तू इतना आसक्त हो गया कि अपने सारे धर्म-कर्मको तिलाञ्जलि देकर इस डरावनी रातमें मुर्दे और साँपकी सहायतासे यहाँ दौड़ा आया! तू आज जिसे परम सुन्दर समझकर इस तरह पागल हो रहा है, उसकी भी एक दिन तो वही दशा होनेवाली है जो तेरे आँखोंके सामने इस सड़े मुर्देकी है! धिक्कार है तेरी इस नीच वृत्तिको! अरे! यदि तू इसी प्रकार उस मनमोहन श्यामसुन्दरपर आसक्त होता—यदि उससे मिलनेके लिये यों छटपटाकर दौड़ता तो अबतक उसको पाकर अवश्य ही कृतार्थ हो चुका होता!'

वेश्याके उपदेशने जादूका काम किया। बिल्वमङ्गलकी हृदयतन्त्री नवीन सुरोंसे बज उठी। विवेककी आग धधकने लगी, उसने सारे कल्मषको जला दिया। अन्तःकरणकी शुद्धि होते ही भगवत्-प्रेमका समुद्र उमड़ा और उनकी आँखोंसे अश्रुओंकी अजस्र-धारा बहने लगी। बिल्वमङ्गलने चिन्तामणिके चरण पकड़ लिये और कहा कि 'माता! तूने आज मुझको दिव्यदृष्टि देकर कृतार्थ कर दिया।' मन-ही-मन चिन्तामणिको गुरु मानकर प्रणाम किया। इसके बाद रातभर चिन्तामणि उनको भगवान् श्रीकृष्णकी लीला गा-गाकर सुनाती रही। बिल्वमङ्गलपर उसका बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे प्रातःकाल होते ही जगच्चिन्तामणि श्रीकृष्णके पवित्र चिन्तनमें निमग्न होकर उन्मत्तकी भाँति चिन्तामणिके घरसे निकल पड़े। बिल्वमङ्गलके जीवन-नाटकका परदा बदल गया।

बिल्वमङ्गल कृष्णवीणा नदीके तटपर रहनेवाले महात्मा सोमगिरिके पास गये और उनसे गोपाल-मन्त्रराजकी दीक्षा पाकर भजनमें लग गये। वे भगवान्‌का नाम-कीर्तन करते हुए विचरण करने लगे। मनमें भगवान्‌के दर्शनकी लालसा जाग उठी; परन्तु अभी दुराचारी स्वभावका सर्वथा नाश नहीं हुआ था। बुरे अभ्यासके विवश होकर उनका मन फिर एक युवतीकी ओर लगा। बिल्वमङ्गल उसके घरके दरवाजेपर जा बैठे। घरके मालिकने बाहर आकर देखा कि एक मलिनमुख ब्राह्मण बाहर बैठा है। उसने कारण पूछा। बिल्वमङ्गलने कपट छोड़कर सारी घटना सुना दी और कहा कि 'मैं एक बार उस युवतीको प्राण भरकर देख लेना चाहता हूँ, तुम उसे यहाँ

बुला दो।' युवती उसी सेठकी धर्मपत्नी थी। सेठने सोचा कि इसमें हानि ही क्या है, यदि उसके देखनेसे ही इसकी तृप्ति होती हो तो अच्छी बात है। साधु-स्वभाव सेठ अपनी पत्नीको बुलानेके लिये अंदर गया। इधर बिल्वमङ्गलके मन-समुद्रमें तरह-तरहकी तरङ्गोंका तूफान उठने लगा।

बिल्वमङ्गल भगवान्के भक्त बन चुके थे, उनका पतन कैसे होता? दीनवत्सल भगवान्ने अज्ञानान्ध बिल्वमङ्गलको विवेकचक्षु प्रदान किये; उनको अपनी अवस्थाका यथार्थ भान हो गया, हृदय शोकसे भर गया और न मालूम क्या सोचकर उन्होंने पासके बेलके पेड़से दो काँटे तोड़ लिये। इतनेमें ही सेठकी धर्मपत्नी वहाँ आ पहुँची, बिल्वमङ्गलने उसे फिर देखा और मन-ही-मन अपनेको धिक्कार देकर कहने लगे कि 'अभागी आँखें! यदि तुम न होतीं तो आज मेरा इतना पतन क्यों होता?' इतना कहकर बिल्वमङ्गलने, चाहे यह उनकी कमजोरी हो या और कुछ, उस समय उन चञ्चल नेत्रोंको दण्ड देना ही उचित समझा और तत्काल उन दोनों काँटोंको दोनों आँखोंमें भोंक लिया! आँखोंसे रुधिरकी धार बहने लगी! बिल्वमङ्गल हँसते और नाचते हुए तुमुल हरिध्वनिसे आकाशको गुँजाने लगे। सेठको और उनकी पत्नीको बड़ा दुःख हुआ, परन्तु वे बेचारे निरुपाय थे। बिल्वमङ्गलका बचा-खुचा चित्त-मल भी आज सारा नष्ट हो गया और अब तो वे उस अनाथके नाथको अति शीघ्र पानेके लिये अत्यन्त ही व्याकुल हो उठे।

परम प्रियतम श्रीकृष्णके वियोगकी दारुण व्यथासे उनकी फूटी आँखोंने चौबीसों घण्टे आँसुओंकी झड़ी लगा दी। न भूखका पता है न प्यासका, न सोनेका ज्ञान है और न जागनेका! 'कृष्ण-कृष्ण' की पुकारसे दिशाओंको गुँजाते हुए बिल्वमङ्गल जङ्गल-जङ्गल और गाँव-गाँवमें घूम रहे हैं। जिस दीनबन्धुके लिये जान-बूझकर आँखें फोड़ीं, जिस प्रियतमको पानेके लिये ऐश-आरामपर लात मारी, वह मिलनेमें इतना विलम्ब करे—यह भला किसीसे कैसे सहन हो? ऐसी दशामें प्रेममय श्रीकृष्ण कैसे निश्चिन्त रह सकते हैं? एक छोटे-से गोप-बालकके वेशमें भगवान् बिल्वमङ्गलके पास आकर अपनी मुनि-मन-मोहिनी मधुरवाणीसे बोले, 'सूरदासजी! आपको बड़ी भूख लगी होगी। मैं कुछ मिठाई लाया हूँ, जल भी लाया हूँ; आप इसे ग्रहण कीजिये।' बिल्वमङ्गलके प्राण तो बालकके उस मधुर स्वरसे ही मोहे जा चुके थे, उसके हाथका दुर्लभ प्रसाद पाकर तो उनका हृदय हर्षके हिलोरोंसे उछल उठा! बिल्वमङ्गलने बालकसे पूछा, 'भैया! तुम्हारा घर कहाँ है? तुम्हारा नाम क्या है? तुम क्या किया करते हो?'

बालकने कहा, 'मेरा घर पास ही है। मेरा कोई खास नाम नहीं; जो मुझे जिस नामसे पुकारता है, मैं उसीसे बोलता हूँ, गायें चराया करता हूँ। मुझसे जो प्रेम करते हैं मैं भी उनसे प्रेम करता हूँ।' बिल्वमङ्गल बालककी वीणाविनिन्दित वाणी सुनकर विमुग्ध हो गये। बालक जाते-जाते कह गया कि 'मैं रोज आकर आपको भोजन करवा जाया करूँगा।' बिल्वमङ्गलने कहा, 'बड़ी अच्छी बात है, तुम रोज आया करो।' बालक चला गया और बिल्वमङ्गलका मन भी साथ लेता गया। बालक रोज आकर भोजन करा जाता।

बिल्वमङ्गलने यह तो नहीं समझा कि मैंने जिसके लिये फकीरीका बाना लिया और आँखोंमें काँटे चुभाये, यह बालक वही है; परन्तु उस गोप-बालकने उनके हृदयपर इतना अधिकार अवश्य जमा लिया कि उनको दूसरी बातका सुनना भी असह्य हो उठा! एक दिन बिल्वमङ्गल मन-ही-मन विचार करने लगे कि 'सारी आफतें छोड़कर यहाँतक आया, यहाँ यह नयी आफत लग गयी। स्त्रीके मोहसे छूटा तो इस बालकके मोहमें फँस गया। यों सोच ही रहे थे कि वह रसिक बालक उनके पास आ बैठा और अपनी दीवाना बना देनेवाली

वाणीसे बोला, 'बाबाजी ! चुपचाप क्या सोचते हो ? वृन्दावन चलोगे ?' वृन्दावनका नाम सुनते ही बिल्वमङ्गलका हृदय हरा हो गया, परन्तु अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए बोले कि 'भैया ! मैं अन्धा वृन्दावन कैसे जाऊँ ?' बालकने कहा, 'यह लो मेरी लाठी, मैं इसे पकड़े-पकड़े तुम्हारे साथ चलता हूँ।' बिल्वमङ्गलका चेहरा खिल उठा, लाठी पकड़कर भगवान् भक्तके आगे-आगे चलने लगे। धन्य दयालुता ! भक्तकी लाठी पकड़कर मार्ग दिखाते हैं। थोड़ी-सी देरमें बालकने कहा, 'लो ! वृन्दावन आ गया, अब मैं जाता हूँ।' बिल्वमङ्गलने बालकका हाथ पकड़ लिया। हाथका स्पर्श होते ही सारे शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी, सात्त्विक प्रकाशसे सारे द्वार प्रकाशित हो उठे; बिल्वमङ्गलने दिव्यदृष्टि पायी और उन्होंने देखा कि बालकके रूपमें साक्षात् मेरे श्यामसुन्दर ही हैं। बिल्वमङ्गलका शरीर पुलकित हो गया, आँखोंसे प्रेमके आँसुओंकी अनवरत धारा बहने लगी, भगवान्‌का हाथ उन्होंने और भी जोरसे पकड़ लिया और कहा कि अब पहचान लिया है, बहुत दिनोंके बाद पकड़ सका हूँ प्रभो ! अब नहीं छोड़नेका ! भगवान्‌ने कहा, 'छोड़ते हो कि नहीं ?' बिल्वमङ्गलने कहा, 'नहीं, कभी नहीं, त्रिकालमें भी नहीं।'

भगवान्‌ने जोरसे झटका देकर हाथ छुड़ा लिया। भला, जिसके बलसे बलान्विता होकर मायाने सारे जगत्‌को पददलित कर रक्खा है, उसके बलके सामने बेचारे अन्धे बिल्वमङ्गल क्या कर सकते थे ? पर उन्होंने एक ऐसी डोरीसे उनको बाँध लिया था कि जिससे छूटकर जाना उनके लिये बड़ी टेढ़ी खीर थी ! हाथ छुड़ाते ही बिल्वमङ्गलने कहा—जाते हो ? पर स्मरण रक्खो !

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

'हे कृष्ण ! तुम बलपूर्वक मुझसे हाथ छुड़ाकर जाते हो, इसमें क्या आश्चर्य है ? मैं तुम्हारी मर्दानगी तो तब समझूँ जब तुम मेरे हृदयसे निकलकर जाओ।'

बिल्वमङ्गल अत्यन्त दुराचारी थे, भक्त बने और पतनका कारण सामने आनेपर भी बच गये तथा अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त करके कृतार्थ हो गये ! वृन्दावन जाते समय इन्होंने रास्तेमें भावावेशके समय जिन मधुर पद्योंकी रचना की है, उन्हींका नाम 'कृष्णकर्णामृत' है। उसके पहले ही श्लोकमें चिन्तामणिको गुरु बताकर उनकी वन्दना की है—

चिन्तामणिर्जयति सोमगिरिर्गुरुर्मे
शिक्षागुरुश्च भगवाञ्छिखिपिच्छमौलिः।
यत्पादकल्पतरुपल्लवशेखरेषु
लीलास्वयंवररसं लभते जयश्रीः॥

'मेरे अज्ञानको दूर करनेवाली चिन्तामणि वेश्या और दीक्षागुरु सोमगिरिकी जय हो ! तथा सिरपर मयूरपिच्छ धारण करनेवाले मेरे शिक्षागुरु भगवान् श्रीकृष्णकी जय हो ! जिनके चरणरूपी कल्पवृक्षके पत्तोंके शिखरोंमें विजयलक्ष्मी लीलासे स्वयंवरसुखका लाभ करती है (अर्थात् भक्तोंकी इच्छाको पूर्ण करनेवाले जिनके चरणोंमें विजयलक्ष्मी सदा अपनी इच्छासे निवास करती है) !'

श्रीशुकदेवजीकी भाँति श्रीबिल्वमङ्गलजीने भी भगवान् श्रीकृष्णकी मधुमयी लीलाका आस्वादन किया था, इसीसे इनका एक नाम 'लीलाशुक' भी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सदाचारिता और दुराचारिताके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें अभाव दिखलाकर अब भगवान् अपनेमें अच्छी-बुरी जातिके कारण होनेवाली विषमताका अभाव दिखलाते हुए दो श्लोकोंमें शरणागतिरूप भक्तिका महत्त्व प्रतिपादन करके अर्जुनको भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं ॥३२॥

प्रश्न—'पापयोनयः' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—पूर्वजन्मोंके पापोंके कारण चाण्डालादि योनियोंमें उत्पन्न प्राणियोंको 'पापयोनि' माना गया है । इनके सिवा शास्त्रोंके अनुसार हूण, भील, खस, यवन आदि म्लेच्छ जातिके मनुष्य भी 'पापयोनि' ही माने जाते हैं । यहाँ 'पापयोनि' पद इन्हीं सबका वाचक है । भगवान्‌की भक्तिके लिये किसी जाति या वर्णके लिये कोई रुकावट नहीं है । वहाँ तो शुद्ध प्रेमकी आवश्यकता है ।* ऐसी जातियोंमें प्राचीन और अर्वाचीन कालमें भगवान्‌के अनेकों ऐसे महान् भक्त हो चुके हैं, जिन्होंने अपनी भक्तिके प्रतापसे भगवान्‌को प्राप्त किया था । इनमें निषादजातीय गुह आदिके नाम तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ।

निषादराज गुह

निषादजातीय गुह शृङ्गवेरपुरमें भीलोंके राजा थे । ये भगवान्‌के बड़े ही भक्त थे । भगवान् श्रीरघुनाथजी जब श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीसहित वन पधारे, तब उन्होंने इनका आतिथ्य स्वीकार किया था । भगवान् इनको अपना सखा मानते थे । इसीसे भरतजीने इनको अपने हृदयसे लगा लिया था—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ ॥

प्रश्न—यदि 'पापयोनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—वैश्योंकी गणना द्विजोंमें की गयी है । उनको वेद पढ़नेका और यज्ञादि वैदिक कर्मोंके करनेका शास्त्रमें पूर्ण अधिकार दिया गया है । अतः द्विज होनेके कारण वैश्योंको 'पापयोनि' कहना नहीं बन सकता । इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद्‌में जहाँ जीवोंकी कर्मानुरूप गतिका वर्णन है, यह स्पष्ट कहा गया है कि—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां

---

* (१) नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः । (नारदभक्ति० ७२)

'भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिका भेद नहीं है ।'

(२) आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् । (शाण्डिल्य० ७८)

'शास्त्रपरम्परासे अहिंसादि सामान्य धर्मोंकी भाँति भक्तिमें भी चाण्डालादि सभी योनिके मनुष्योंका अधिकार है ।'

(३) भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ (श्रीमद्भा० ११ । १४ । २१)

'हे उद्धव ! संतोंका परमप्रिय 'आत्मा'रूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही वशीभूत होता हूँ । मेरी भक्ति जन्मतः चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है ।'

१–समाधि वैश्य

२–सञ्जय



३–यज्ञपत्नी

४–गुह निषाद

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ (९।३२)

योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥
(अध्याय ५ खण्ड १० मं० ७)

'उन जीवोंमें जो इस लोकमें रमणीय आचरणवाले अर्थात् पुण्यात्मा होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तमयोनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं। और जो इस संसारमें कपूय (अधम) आचरणवाले अर्थात् पापकर्मा होते हैं, वे अधम योनि अर्थात् कुत्तेकी, सूअरकी या चाण्डालकी योनिको प्राप्त करते हैं।'

इससे यह सिद्ध है कि वैश्योंकी गणना 'पापयोनि' में नहीं की जा सकती। अब रही स्त्रियोंकी बात—सो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी स्त्रियोंका अपने पतियोंके साथ यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार माना गया है। इस कारणसे उनको भी पापयोनि कहना नहीं बन सकता। सबसे बड़ी अड़चन तो यह पड़ेगी कि भगवान्‌की भक्तिसे चाण्डाल आदिको भी परम गति मिलनेकी बात, जो कि सर्वशास्त्रसम्मत है और जो भक्तिके महत्त्वको प्रकट करती है, * कैसे रहेगी। अतएव 'पापयोनयः' पद स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण न होकर शूद्रोंकी अपेक्षा भी हीनजातिके मनुष्योंका वाचक है—ऐसा मानना ही ठीक प्रतीत होता है।

स्त्री, वैश्य और शूद्रोंमें भी अनेक भक्त हुए हैं, संकेतमात्र बतलानेके लिये यहाँ यज्ञपत्नी, समाधि और सञ्जयकी चर्चा की जाती है—

यज्ञपत्नी

वृन्दावनमें कुछ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमतिसे उनके सखाओंने जाकर उनसे अन्न माँगा। याज्ञिक ऋषियोंने उनको फटकारकर निकाल दिया। तब वे इनकी पत्नियोंके पास गये; वे श्रीकृष्णका नाम सुनते ही प्रसन्न हो गयीं और भोजन-सामग्री लेकर श्रीकृष्णके समीप गयीं। एक ब्राह्मणने अपनी पत्नीको नहीं जाने दिया, जबरदस्ती पकड़कर बन्द कर दिया। उसका प्रेम इतना उमड़ा कि वह भगवान्‌के सुने हुए रूपका ध्यान करती हुई देह छोड़कर सबसे पहले श्रीकृष्णको प्राप्त हो गयी (श्रीमद्भागवत १०। २३)।

समाधि

समाधि द्रुमिणनामक धनी वैश्यके पुत्र थे। इनको इनके स्त्री-पुत्रोंने धनके लोभसे घरसे निकाल दिया था। ये वनमें चले गये, वहाँ सुरथनामक राजासे इनकी भेंट हुई। वे भी मन्त्रियों, सेनापतियों

---

* किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ (श्रीमद्भा० २। ४। १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन और खस आदि अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ॥

'व्याधका कौन-सा (अच्छा) आचरण था? ध्रुवकी आयु ही क्या थी? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन-सी उत्तम जाति थी? यादवपति उग्रसेनका कौन-सा पुरुषार्थ था? कुब्जाका ऐसा क्या विशेष सुन्दर रूप था? सुदामाके पास कौन-सा धन था? माधव तो केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं; क्योंकि उन्हें भक्ति ही प्रिय है।'

और स्वजनोंसे ही धोखा खाकर वनमें भाग आये थे। दोनोंकी एक-सी ही दशा थी। आखिर दोनोंने ही सच्चिदानन्दमयी भगवतीकी शरण ली और वे दोनों विषयोंकी आसक्तिका त्याग करके भगवतीकी आराधना करने लगे। तीन वर्ष आराधना करनेपर उन्हें भगवतीने दर्शन दिये और वर माँगनेको कहा। राजा सुरथके मनमें भोग-वासना शेष थी, इससे उन्होंने भोगोंकी याचना की। परन्तु समाधिका मन वैराग्ययुक्त था, वे संसारकी क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताको जान चुके थे; अतएव उन्होंने भगवत्तत्त्वके ज्ञानकी याचना की। भगवतीकी कृपासे उनका अज्ञान नष्ट हो गया और उनको भगवत्-तत्त्वके ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (मार्कण्डेयपु० अ० ८१।९३; ब्रह्मवैवर्तपु० प्र० ६२।६३)।

सञ्जय

सञ्जय गावल्गणनामक सूतके पुत्र थे। ये बड़े शान्त, शिष्ट, ज्ञानविज्ञानसम्पन्न, सदाचारी, निर्भय, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, स्पष्टभाषी और श्रीकृष्णके परम भक्त तथा उनको तत्त्वसे जाननेवाले थे। अर्जुनके साथ सञ्जयकी लड़कपनसे मित्रता थी, इसीसे अर्जुनके अन्तःपुरमें सञ्जयको चाहे जब प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त था। जिस समय सञ्जय कौरवोंकी ओरसे पाण्डवोंके यहाँ गये, उस समय अर्जुन अन्तःपुरमें थे; वहीं भगवान् श्रीकृष्ण और देवी द्रौपदी तथा सत्यभामा थीं। सञ्जयने वापस लौटकर वहाँका बड़ा सुन्दर स्पष्ट वर्णन किया है (महा० उद्योग० अ० ५९)।

महाभारत-युद्धमें भगवान् वेदव्यासजीने इनको दिव्यदृष्टि दी थी, जिसके प्रभावसे इन्होंने धृतराष्ट्रको युद्धका सारा हाल सुनाया था।

महर्षि व्यास, सञ्जय, विदुर और भीष्म आदि कुछ ही ऐसे महानुभाव थे, जो भगवान् श्रीकृष्णके यथार्थ स्वरूपको पहचानते थे। धृतराष्ट्रके पूछनेपर सञ्जयने कहा था कि 'मैं स्त्री-पुत्रादिके मोहमें पड़कर अविद्याका सेवन नहीं करता, मैं भगवान्के अर्पण किये बिना (वृथा) धर्मका आचरण नहीं करता, मैं शुद्धभाव और भक्तियोगके द्वारा ही जनार्दन श्रीकृष्णके स्वरूपको यथार्थ जानता हूँ। भगवान्का स्वरूप और पराक्रम बतलाते हुए सञ्जयने कहा—'उदारहृदय श्रीवासुदेवके चक्रका मध्यभाग पाँच हाथ विस्तारवाला है, परन्तु भगवान्की इच्छानुकूल वह चाहे जितना बड़ा हो सकता है। वह तेजःपुञ्जसे प्रकाशित चक्र सबके सारासार बलकी थाह लेनेके लिये बना है। वह कौरवोंका संहारक और पाण्डवोंका प्रियतम है। महाबलवान् श्रीकृष्णने लीलासे ही भयानक राक्षस नरकासुर, शम्बरासुर और अभिमानी कंस-शिशुपालका वध कर दिया; परम ऐश्वर्यवान् सुन्दर-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण मनके संकल्पसे ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गको अपने वशमें कर सकते हैं।....एक ओर सारा जगत् हो और दूसरी ओर अकेले श्रीकृष्ण हों तो साररूपमें वही उस सबसे अधिक ठहरेंगे। वे अपनी इच्छामात्रसे ही जगत्को भस्म कर सकते हैं परन्तु उनको भस्म करनेमें सारा विश्व भी समर्थ नहीं है।

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥
(महा० उ० ६८।९)

'जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ ईश्वरविरोधी कार्यमें लज्जा है और जहाँ हृदयकी सरलता होती है, वहीं श्रीकृष्ण रहते हैं; और जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं, वहीं निःसन्देह विजय है।' सर्वभूतात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण लीलासे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गका सञ्चालन किया करते हैं; वे श्रीकृष्ण सब लोगोंको मोहित करते हुए-से पाण्डवोंका बहाना करके तुम्हारे अधर्मी मूर्ख पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रभावसे काल-चक्र,

जगत्-चक्र और युग-चक्रको सदा घुमाया करते हैं। मैं यह सत्य कहता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु और स्थावर-जङ्गमरूप जगत्के एकमात्र अधीश्वर हैं। जैसे किसान अपने ही बोये हुए खेतको (पक जानेपर) काट लेता है, उसी प्रकार महायोगेश्वर श्रीकृष्ण समस्त जगत्के पालनकर्त्ता होनेपर भी स्वयं उसका संहाररूप कर्म भी करते हैं। वे अपनी महामायाके प्रभावसे सबको मोहित करते हैं; परन्तु जो मनुष्य उनकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे मायासे कभी मोहको प्राप्त नहीं होते—

ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः।

(महाभारत, उद्योगपर्व अ० ६८। ६९)

फिर इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके नाम और उनके बड़े सुन्दर अर्थ धृतराष्ट्रको सुनाये। सञ्जयने भी महाभारत-युद्धके न होने देनेकी बहुत चेष्टा की, परन्तु वे उसे रोक नहीं सके। धृतराष्ट्र जब वन जाने लगे तब सञ्जय भी उन्हींके साथ चले गये।

प्रश्न—यहाँ दो बार 'अपि' के प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'अपि' का दो बार प्रयोग करके भगवान्ने ऊँची-नीची जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें सर्वथा अभाव दिखलाया है। भगवान्के कथनका यहाँ यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी अपेक्षा हीन समझे जानेवाले स्त्री, वैश्य और शूद्र एवं उनसे भी हीन समझे जानेवाले चाण्डाल आदि कोई भी हों, मेरी उनमें भेदबुद्धि नहीं है। मेरे शरण होकर जो कोई भी मुझको भजते हैं, उन्हींको परम गति मिल जाती है।

प्रश्न—यहाँ 'मां व्यपाश्रित्य' इन पदोंका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'माम्' पद सगुण परमेश्वरका वाचक है और 'व्यपाश्रित्य' का अर्थ है, सब प्रकारसे सर्वथा उनके आश्रित हो जाना। अतएव भगवान्पर पूर्ण विश्वास करके ३४वें श्लोकके कथनानुसार सब प्रकारसे भगवान्की शरण हो जाना अर्थात् उनके प्रत्येक विधानमें सदा सन्तुष्ट रहना, उनके नाम, रूप, गुण, लीला आदिका निरन्तर श्रवण, कीर्तन और चिन्तन करते रहना, उन्हींको अपनी गति, भर्त्ता, प्रभु आदि मानना, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना, उन्हें नमस्कार करना, उनकी आज्ञाका पालन करना और समस्त कर्म उन्हींके समर्पण कर देना आदि—यहाँ 'मां व्यपाश्रित्य' का यही भाव है।

प्रश्न—इस प्रकार भगवान्की शरण हो जानेवाले भक्तोंका 'परम गति' को प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—साक्षात् परमेश्वरको प्राप्त हो जाना ही परम गतिको प्राप्त होना है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्की शरण ग्रहण करनेवाले स्त्री-पुरुष किसी भी जातिके क्यों न हों, उनको भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

फिर इसमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन परम गतिको प्राप्त होते हैं! इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ॥३३॥

प्रश्न—'किम्' और 'पुनः' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'किम्' और 'पुनः' का प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जब उपर्युक्त अत्यन्त दुराचारी (९।३०) और चाण्डाल आदि नीच जातिके मनुष्य भी (९।३२), मेरा भजन करके परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, तब फिर जिनके आचार-व्यवहार और वर्ण अत्यन्त उत्तम हैं, ऐसे मेरे भक्त पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षिलोग मेरे शरण होकर परम गतिको प्राप्त हो जायँ—इसमें तो कहना ही क्या है !

प्रश्न—'पुण्याः' पदका क्या अर्थ है और यह विशेषण ब्राह्मणोंका है या ब्राह्मण और राजर्षि दोनोंका ?

उत्तर—जिनका स्वभाव और आचरण पवित्र और उत्तम हो, उनको 'पुण्य' कहते हैं। यह विशेषण ब्राह्मणोंका है; क्योंकि जो राजा होकर ऋषियोंके-जैसे शुद्ध स्वभाव और उत्तम आचरणोंवाले हों, उन्हींको 'राजर्षि' कहते हैं। अतः उनके साथ 'पुण्याः' विशेषण देनेकी आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—'भक्ताः' पदका सम्बन्ध किसके साथ है ?

उत्तर—'भक्ताः' पदका सम्बन्ध ब्राह्मण और राजर्षि दोनोंके ही साथ है, क्योंकि यहाँ भक्तिके ही कारण उनको परम गतिकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

ब्राह्मणों और राजर्षियोंमें तो अगणित भक्त हुए हैं। इनकी महिमाका दिग्दर्शन करानेमात्रके लिये यहाँ महर्षि सुतीक्ष्ण और राजर्षि अम्बरीषकी चर्चा की जाती है।

सुतीक्ष्णजी

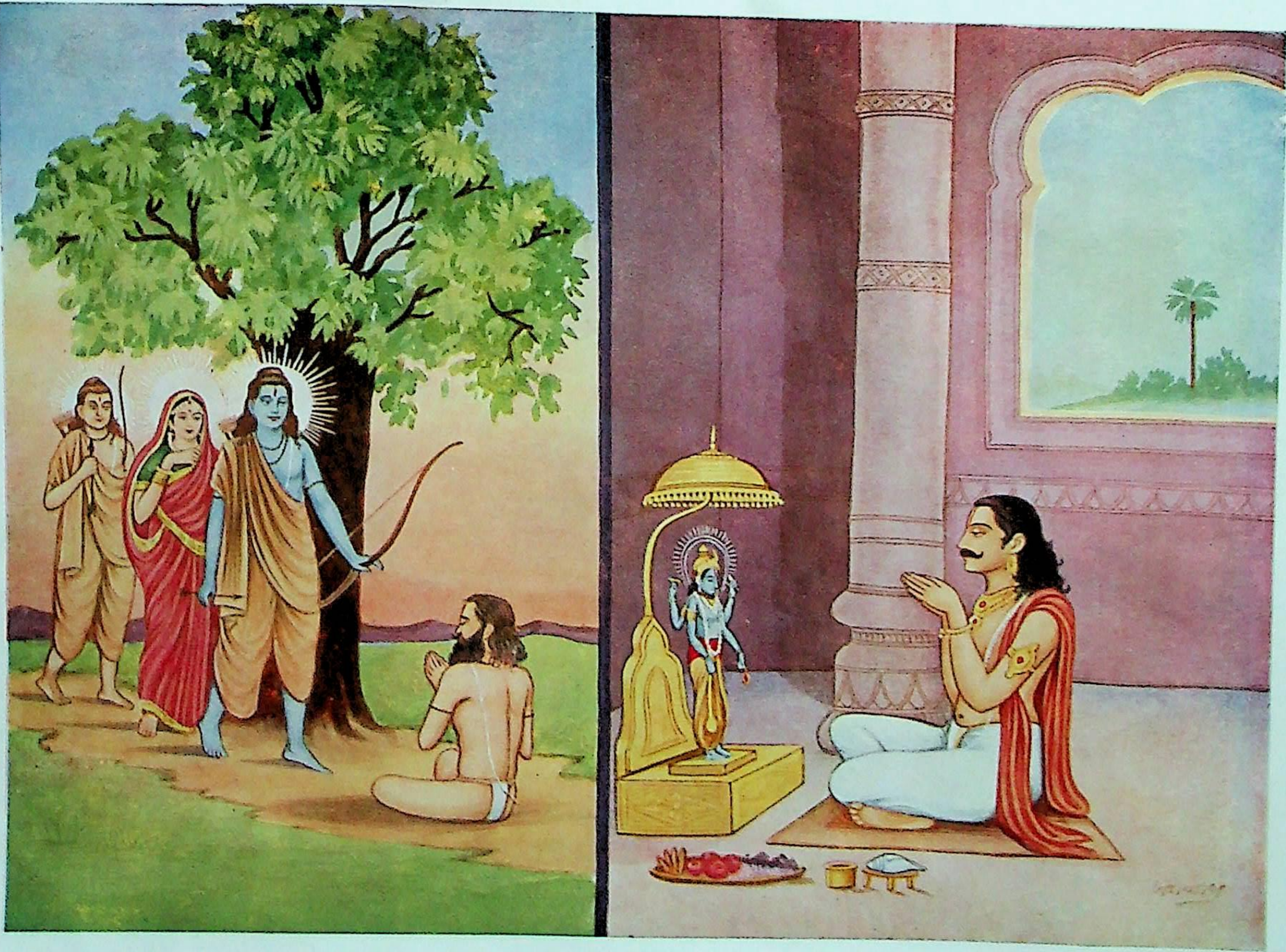
महर्षि सुतीक्ष्ण दण्डकारण्यमें रहते थे, अगस्त्यजीके शिष्य थे। ये बड़े तपस्वी, तेजस्वी और भक्त थे। इन्होंने दुष्पण्यनामक एक वैश्यका, जो अपने पापोंके कारण पिशाच हो गया था, उद्धार किया था। ये भगवान् श्रीरामजीके अनन्य भक्त थे। जब इन्होंने सुना कि भगवान् श्रीरघुनाथजी जगज्जननी श्रीजानकीजीसहित इधर ही पधार रहे हैं, तो इनके आनन्दकी सीमा न रही। ये भाँति-भाँतिके मनोरथ करते हुए सामने चले। प्रेममें बेसुध हो गये। मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, यह कौन दिशा है, रास्ता है कि नहीं, सब भूल गये। कभी पीछे घूमकर फिर आगे चलने लगते, कभी प्रभुके गुण गा-गाकर नाचने लगते! भगवान् श्रीरघुनाथजी पेड़की आड़में छिपकर भक्तकी प्रेमोन्माद-दशाको देख रहे थे। मुनिका अत्यन्त प्रेम देखकर भवभयहारी भगवान् मुनिके हृदयमें प्रकट हो गये। हृदयमें भगवान्‌के दर्शन पाकर सुतीक्ष्णजी रास्तेके बीचमें ही अचल होकर बैठ गये। हर्षके मारे उनका शरीर पुलकित हो गया। तब श्रीरघुनाथजी उनके पास आकर उनकी प्रेमदशा देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए।

श्रीरघुनाथजीने मुनिको बहुत प्रकारसे जगाया; परन्तु मुनि नहीं जागे। उन्हें प्रभुके ध्यानका सुख प्राप्त हो रहा था। जब श्रीरामजीने अपना वह रूप हृदयसे हटा लिया, तब व्याकुल होकर उठे। आँखें खोलते ही उन्होंने अपने सामने श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीसहित श्यामसुन्दर सुखधाम श्रीरामजीको देखा। तपस्याका फल प्राप्त हो गया। वे धन्य हो गये!

(स्कन्द-ब्रह्म० २२; श्रीरामचरितमानस-अरण्यकाण्ड)।

अम्बरीष

राजर्षि अम्बरीष वैवस्वत मनुके पौत्र महाराज नाभागके प्रतापी पुत्र थे। ये चक्रवर्ती सम्राट् थे। परन्तु वे इस बातको जानते थे कि यह सारा ऐश्वर्य स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंकी भाँति असत् है, इसलिये उन्होंने अपना सारा जीवन परमात्माके चरणोंमें अर्पण कर दिया था। उनकी समस्त इन्द्रियाँ मनसहित सदा-सर्वदा भगवान्‌की सेवामें ही लगी रहती थीं।



पुण्यात्मा ब्राह्मण सुतीक्ष्ण

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा । (९ । ३३)

राजर्षि अम्बरीष

एक समय राजाने रानीसमेत श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये एक वर्षकी एकादशियोंके व्रतका नियम लिया। अन्तिम एकादशीके दूसरे दिन विधिवत् भगवान्की पूजा की गयी। राजा पारण करना ही चाहते थे कि ऋषि दुर्वासा अपने शिष्योंसहित पधारे। राजाने सब प्रकारसे दुर्वासाजीका सत्कार कर उनसे भोजन करनेके लिये प्रार्थना की। ऋषिने भोजन करना स्वीकार किया और वे मध्याह्नका नित्यकर्म करनेके लिये यमुनाजीके तटपर चले गये। द्वादशी केवल एक ही घड़ी बाकी थी। द्वादशीमें पारण न होनेसे व्रत-भङ्ग होता है। राजाने ब्राह्मणोंसे व्यवस्था लेकर श्रीहरिके चरणोदकसे पारण कर लिया और भोजन करानेके लिये दुर्वासाजीकी बाट देखने लगे। दुर्वासाजी अपनी नित्यक्रियाओंसे निवृत्त होकर राजमन्दिरमें लौटे और अपने तपोबलसे राजाके पारण कर लेनेकी बातको जानकर अत्यन्त क्रोधसे त्यौरी चढ़ाकर अपराधीकी तरह हाथ जोड़े सामने खड़े हुए राजासे कहने लगे—'अहो! इस धनमदसे अन्ध अधम राजाकी धृष्टता और धर्मके निरादरको तो देखो! अब यह विष्णुका भक्त नहीं है। यह तो अपनेको ही ईश्वर मानता है। मुझ अतिथिको निमन्त्रण देकर इसने मुझे भोजन कराये विना ही स्वयं भोजन कर लिया! इसे अभी इसका फल चखाता हूँ।' यों कहकर दुर्वासाजीने मस्तकसे एक जटा उखाड़कर जोरसे उसे पृथ्वीपर पटका, जिससे तत्काल कालाग्निके समान कृत्यानामक एक भयानक राक्षसी प्रकट हो गयी और वह अपने चरणोंकी चोटसे पृथिवीको कँपाती हुई तलवार हाथमें लिये राजाकी ओर झपटी। परन्तु भगवान्पर दृढ़ भरोसा रखनेवाले अम्बरीष ज्यों-के-त्यों वहाँ खड़े रहे, वे न पीछे हटे और न उन्हें किसी प्रकारका भय ही हुआ। जो समस्त संसारमें परमात्माको व्यापक समझता है वह किससे क्यों डरे और कैसे डरे?

कृत्या अम्बरीषतक पहुँच ही नहीं पायी थी कि भगवान्के सुदर्शनचक्रने कृत्याको उसी क्षण ऐसे भस्म कर दिया जैसे प्रचण्ड दावानल कुपित सर्पको भस्म कर डालता है। अब सुदर्शन ऋषि दुर्वासाकी खबर लेनेके लिये उनके पीछे चला। दुर्वासा बड़े घबराये और प्राण लेकर भागे। चक्र उनके पीछे-पीछे चला। दुर्वासा दसों दिशाओं और चौदहों भुवनोंमें भटके। परन्तु कहीं भी उन्हें ठहरनेको ठौर नहीं मिली। किसीने भी उन्हें आश्रय और अभयदान नहीं दिया। अन्तमें बेचारे वैकुण्ठमें गये और भगवान् श्रीविष्णुके चरणोंमें पड़कर गिड़गिड़ाते हुए बोले—'हे प्रभो! मैंने आपके प्रभावको न जानकर आपके भक्तका अपमान किया है, मुझे इस अपराधसे छुड़ाइये। आपके नामकीर्तनमात्रसे ही नरकके जीव भी नरकके कष्टोंसे छूट जाते हैं, अतएव मेरा अपराध क्षमा कीजिये।'

भगवान्ने कहा—

'हे ब्राह्मण! मैं भक्तके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ। मुझे भक्तजन बड़े प्रिय हैं, मेरे हृदयपर उनका पूर्ण अधिकार है। जिन्होंने मुझको ही अपनी परम गति माना है उन अपने परम भक्त सत्पुरुषोंके सामने मैं अपने आत्मा और सम्पूर्ण श्री (या अपनी लक्ष्मी) को भी कुछ नहीं समझता। जो भक्त (मेरे लिये) स्त्री, पुत्र, घर, परिवार, धन, प्राण, इहलोक और परलोक सबको त्यागकर केवल मेरा ही आश्रय लिये रहते हैं उन्हें मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? जैसे पतिव्रता स्त्री अपने शुद्ध प्रेमसे श्रेष्ठ पतिको वशमें कर लेती है उसी प्रकार मुझमें चित्त लगानेवाले सर्वत्र समदर्शी भक्तजन भी अपनी शुद्ध भक्तिसे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। काल पाकर नष्ट होनेवाले स्वर्गादि लोकोंकी तो गिनती ही क्या है, मेरी सेवा करनेपर उन्हें जो चार प्रकारकी

(सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) मुक्ति मिलती है, उसे भी वे ग्रहण नहीं करते ! मेरे प्रेमके सामने वे सबको तुच्छ समझते हैं ।'

अन्तमें भगवान्ने कहा—'तुम्हें अपनी रक्षा करनी हो तो हे ब्रह्मन् ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम उसी महाभाग राजा अम्बरीषके समीप जाओ और उससे क्षमा माँगो; तभी तुमको शान्ति मिलेगी ।' भगवान्की आज्ञा पाकर दुर्वासाजी लौट चले ।

इधर भक्तशिरोमणि अम्बरीषकी विचित्र अवस्था थी। जबसे दुर्वासाजीके पीछे चक्र चला था तभीसे राजर्षि अम्बरीष ऋषिके सन्तापसे सन्तप्त हो रहे थे । अम्बरीषजीने मनमें सोचा, ब्राह्मण भूखे गये हैं और मेरे ही कारण उन्हें मृत्युभयसे त्रस्त होकर इतना दौड़ना पड़ रहा है; इस अवस्थामें मुझे भोजन करनेका क्या अधिकार है ? यों विचारकर राजाने उसी क्षणसे अन्न त्याग दिया और वे केवल जल पीकर रहने लगे । दुर्वासाजीके लौटकर आनेमें पूरा एक वर्ष बीत गया, परन्तु अम्बरीषजीका व्रत नहीं टला !

दुर्वासाजीने आते ही राजाके चरण पकड़ लिये । राजाको बड़ा संकोच हुआ । उन्होंने बड़ी विनयके साथ सुदर्शनकी स्तुति करते हुए कहा, 'यदि मेरे मनमें दुर्वासाजीके प्रति जरा भी द्वेष न हो और सब प्राणियोंके आत्मा श्रीभगवान् मुझपर प्रसन्न हों तो आप शान्त हो जायँ और ऋषिको संकटसे मुक्त करें !' सुदर्शन शान्त हो गया । दुर्वासाजी भयरूपी अग्निसे जल रहे थे, अब वे स्वस्थ हुए और उनके चेहरेपर हर्ष और कृतज्ञताके चिह्न स्पष्टरूपसे प्रकट हो गये !

(श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अध्याय ४-५)

प्रश्न—इस सुखरहित और क्षणभङ्गुर शरीरको पाकर तू मेरा ही भजन कर—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मनुष्यदेह बहुत ही दुर्लभ है । यह बड़े पुण्यबलसे और खास करके भगवान्की कृपासे मिलता है । और मिलता है केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही । इस शरीरको पाकर जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसीका मनुष्यजीवन सफल होता है । जो इसमें सुख खोजता है, वह तो असली लाभसे वञ्चित ही रह जाता है । क्योंकि यह सर्वथा सुखरहित है, इसमें कहीं सुखका लेश भी नहीं है । जिन विषय-भोगोंके सम्बन्धको मनुष्य सुखरूप समझता है, वह बार-बार जन्म-मृत्युके चक्रमें डालनेवाला होनेके कारण वस्तुतः दुःखरूप ही है । अतएव इसको सुखरूप न समझकर यह जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मिला है, उस उद्देश्यको शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त कर लेना चाहिये । क्योंकि यह शरीर क्षणभङ्गुर है; पता नहीं, किस क्षण इसका नाश हो जाय ! इसलिये सावधान हो जाना चाहिये । न इसे सुखरूप समझकर विषयोंमें फँसना चाहिये और न इसे नित्य समझकर भजनमें देर ही करनी चाहिये । कदाचित् अपनी असावधानीमें यह व्यर्थ ही नष्ट हो गया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ भी उपाय हाथमें नहीं रह जायगा । श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

(केन० उ० ख० २ म० ५)

'यदि इस मनुष्यजन्ममें परमात्माको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें नहीं जाना तब तो बड़ी भारी हानि है ।'

इसीलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसे शरीरको पाकर नित्य-निरन्तर मेरा भजन ही करो । क्षणभर भी मुझे मत भूलो ।

प्रश्न—'माम्' पद किसका वाचक है तथा उसको भजना क्या है और भजनके लिये आज्ञा देनेमें क्या हेतु है?

उत्तर—'माम्' पद यहाँ सगुण परमेश्वरका वाचक है, और अगले श्लोकमें बतलायी हुई विधिसे भगवान्‌के परायण हो जाना अर्थात् अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर आदिको भगवान्‌के ही समर्पण कर देना उनका भजन करना है। और भजनसे ही भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र होती है तथा भगवत्प्राप्तिमें ही मनुष्यजीवन-के उद्देश्यकी सफलता है, इसी हेतुसे भजन करनेके लिये कहा गया है।

सम्बन्ध—पिछले श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने भजनका महत्त्व दिखलाया और अन्तमें अर्जुनको भजन करने-के लिये कहा। अतएव अब भगवान् अपने भजनका अर्थात् शरणागतिका प्रकार बतलाते हुए अध्यायकी समाप्ति करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

प्रश्न—भगवान्‌में मनवाला होना क्या है?

उत्तर—भगवान् ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वातीत, सर्वमय, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यके समुद्र और परम प्रेमस्वरूप हैं—इस प्रकार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका यथार्थ परिचय हो जानेसे जब साधकको यह निश्चय हो जाता है कि एकमात्र भगवान् ही हमारे परम प्रेमास्पद हैं, तब जगत्‌की किसी भी वस्तुमें उसकी जरा भी रमणीयता-बुद्धि नहीं रह जाती। ऐसी अवस्थामें संसारके किसी दुर्लभ-से-दुर्लभ भोगमें भी उसके लिये कोई आकर्षण नहीं रहता। जब इस प्रकारकी स्थिति हो जाती है, तब स्वाभाविक ही इस लोक और परलोककी समस्त वस्तुओंसे उसका मन सर्वथा हट जाता है और वह अनन्य तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करता रहता है। भगवान्‌का यह प्रेमपूर्ण चिन्तन ही उसके प्राणोंका आधार होता है, वह क्षणमात्रकी भी उनकी विस्मृतिको सहन नहीं कर सकता। जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती है, उसीको भगवान्‌में मनवाला कहते हैं।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त होना क्या है?

उत्तर—भगवान् ही परम गति हैं, वे ही एकमात्र भर्ता और स्वामी हैं, वे ही परम आश्रय और परम आत्मीय संरक्षक हैं, ऐसा मानकर उन्हींपर निर्भर हो जाना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही सन्तुष्ट रहना, उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करना और उन्हींकी प्रीतिके लिये प्रत्येक कार्य करना—इसीका नाम भगवान्‌का भक्त बनना है।

प्रश्न—भगवान्‌का पूजन करना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर उनके मङ्गल-विग्रहका यथाविधि पूजन करना, सुविधानुसार अपने-अपने घरोंमें इष्टरूप भगवान्‌की मूर्ति स्थापित करके उसका विधिपूर्वक श्रद्धा और प्रेमके साथ पूजन करना,

अपने हृदयमें या अन्तरिक्षमें अपने सामने भगवान्‌की मानसिक मूर्ति स्थापित करके उसकी मानस-पूजा करना, भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला आदि-के श्रवण, कीर्तन और मनन आदिमें तथा उनकी सेवा-के कार्योंमें अपनेको संलग्न रखना, समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का ही स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे भगवान् सबमें व्याप्त हैं, ऐसा जानकर सबका आदर-सत्कार करना और तन-मन-धनसे सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेकी तथा सबका हित करनेकी यथार्थ चेष्टा करना—ये सभी क्रियाएँ भगवान्‌की पूजा ही कहलाती हैं।

प्रश्न—'माम्' पद किसका वाचक है और उसको नमस्कार करना क्या है ?

उत्तर—जिन परमेश्वरके सगुण, निर्गुण, निराकार, साकार आदि अनेक रूप हैं। जो विष्णुरूपसे सबका पालन करते हैं, ब्रह्मारूपसे सबकी रचना करते हैं और रुद्ररूपसे सबका संहार करते हैं; जो युग-युगमें मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य रूपोंमें अवतीर्ण होकर जगत्‌में विचित्र लीलाएँ करते हैं; जो भक्तोंकी इच्छाके अनुसार विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर उनको अपनी शरण प्रदान करते हैं—उन समस्त जगत्‌के कर्त्ता, हर्त्ता, विधाता, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वगुणसम्पन्न, परम पुरुषोत्तम, समग्र भगवान्‌का वाचक यहाँ 'माम्' पद है। उनके साकार या निराकार रूपको, उनकी मूर्तिको, चित्रपटको, उनके चरण, चरणपादुका या चरणचिह्नोंको, उनके तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभाव और उनकी मधुर लीलाओंका व्याख्यान करनेवाले सत्-शास्त्रोंको, उनके चेतन प्रतीकस्वरूप महापुरुषोंको और विश्वके समस्त प्राणियोंको उन्हींका स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे उनको सबमें व्याप्त जानकर श्रद्धा-भक्तिसहित, मन, वाणी और शरीरके द्वारा यथायोग्य प्रणाम करना—यही भगवान्‌को नमस्कार करना है।

प्रश्न—'आत्मानम्' पद किसका वाचक है और उसे उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌में युक्त करना क्या है ?

उत्तर—मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक यहाँ 'आत्मा' पद है; तथा इन सबको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌में लगा देना ही आत्माको उसमें युक्त करना है।

प्रश्न—भगवान्‌के परायण होना क्या है ?

उत्तर—इस प्रकार सब कुछ भगवान्‌को समर्पण कर देना, और भगवान्‌को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और अपना सर्वस्व समझना, भगवान्‌के परायण होना है।

प्रश्न—'एव' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है तथा भगवान्‌को प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—'एव' पद अवधारणके अर्थमें है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करके तुम मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। तथा इसी मनुष्य-शरीरमें ही भगवान्‌का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाना, भगवान्‌को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रवेश कर जाना अथवा भगवान्‌के दिव्य लोकमें जाकर उनके समीप रहना अथवा उनके-जैसे रूप आदिको प्राप्त कर लेना—ये सभी भगवत्प्राप्ति ही हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥